भाग—२

राजनीतिक-शास्त्र के अध्ययन के विभिन्न मार्ग

(Approaches to Political Theory)

भाग—३

समाज और राज्य के सिद्धान्त

(Theories of State and Society)

भाग—४

आधारभूत धारणाएं
(Basic Concepts)

भाग—५

प्रजातन्त्र एवं अन्य संस्थाएं

(Democracy and other Institutions)

भाग–१

राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति

(NATURE OF POLITICAL THEORY)

1. Role of Political Theory in Political Science : Political Theory and Political Thought.
2. Nature and Scope of Political Science according to Traditional and Contemporary Schools with Special Reference to Lasswell and Easton.

"प्रत्येक समाज का—चाहे उसका निवास सभ्यता के केन्द्रों से कितना ही दूर क्यों न हो और उसकी संस्कृति कितनी ही आदिम क्यों न हो—राजनीतिक संगठन होता है, चाहे वह प्रारम्भिक अवस्था में ही हो। इसके अतिरिक्त, आज संसार के समस्त भागों में समाज के राजनीतिक संगठन के प्रति भक्ति सामान्यतया सर्वग्राही एवं अनिवार्य होती है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह पसन्द करे या न करे, किसी न किसी राज्य का सदस्य होता है। कुछ अवस्थाओं में वह, कम से कम आंशिक रूप में स्वेच्छा से, एक राज्य की सदस्यता का अन्त कर सकता है, किन्तु ऐसा वह किसी दूसरे राज्य की सदस्यता प्राप्त करके ही कर सकता है। वह अपने आचरण द्वारा नागरिकता के कुछ विशेषाधिकारों से वंचित भी हो सकता है, किन्तु ऐसा होने पर भी उसकी नागरिकता तो बनी ही रहती है। राज्य के कामों में चाहे उसकी कोई अभिरुचि न हो किन्तु फिर भी एक ओर वह राज्य की सेवाओं से लाभ उठाता ही है और दूसरी ओर राज्य के सत्ता-प्रयोग के फलस्वरूप उसके सामाजिक सम्बन्धों तथा आचरण एवं व्यवहार में कुछ निश्चित परिवर्तन होते ही हैं। इन विषयों में राज्य अपने ही ढंग का एक अपूर्व संगठन है। दूसरा कोई भी सामाजिक संगठन अपनी सदस्यता की दृष्टि से न इतना व्यापक और न इतना सर्वांग-पूर्ण ही होता है।"

—फ्रांसिस डब्ल्यू कोकर

१

राजनीति शास्त्र में राजनीतिक सिद्धांत की भूमिका

(ROLE OF POLITICAL THEORY IN POLITICAL SCIENCE)

राजनैतिक सिद्धांत और राजनैतिक चिन्तन
(Political Theory and Political Thought)

"राज्य उतना ही पुरातन है जितना कि लिपिबद्ध इतिहास; और राजनीतिक सिद्धान्त भी उतना ही प्राचीन है जितना कि राज्य।"

—फ्रांसिस डब्ल्यू कोकर

राजनीति शास्त्र और राजनीतिक सिद्धांत को पूर्णतः एक समझने का भ्रम हो सकता है, किन्तु राजनीति-शास्त्र यथार्थतः अपेक्षाकृत बहुत अधिक व्यापक क्षेत्र लिये है जिसमे राजनीतिक सिद्धांत, राजनीतिक चिन्तन और व्यावहारिक राजनीति—सभी सम्मिलित हैं। यहां हमें राजनीति शास्त्र में राजनीतिक सिद्धांत की भूमिका देखनी है और राजनीतिक सिद्धांत व राजनीतिक चिन्तन के अन्तर को समझना है।

राजनीतिक सिद्धांत का उदय, विषय-वस्तु और योगदान
(Origin, Subject-matter and Role of Political Theory)

राजनीतिक सिद्धांत राजनीति शास्त्र का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय है जिसकी प्राचीनता उतनी ही है जितनी स्वयं राज्य की। इसकी प्राचीनता अथवा इसके प्रादुर्भाव को इंगित करते हुए श्री एफ. डब्ल्यू. कोकर (F. W. Coker) ने अपने ग्रन्थ 'Recent Political Thought' मे लिखा

है—"राज्य उतना ही पुरातन है जितना कि लिपिबद्ध इतिहास, और राजनीतिक सिद्धांत भी उतना ही प्राचीन है, जितना कि राज्य। कभी-कभी कहा जाता है कि क्रमबद्ध एवं नियमित रूप में राजनीतिक सिद्धान्त का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम ईसा के जन्म से पांच शताब्दी पूर्व यूनानियों में हुआ। एक प्रकार से यह सत्य है। उस युग से पूर्व के जो ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं उनमें उन बातों का जिन्हें हम आज राजनीतिक सिद्धांतों के महान् प्रश्न समझते हैं स्पष्ट विवेचन नहीं है। अतः हम सामान्यतया यह मान लेते हैं कि प्राचीन प्राच्य लेखकों की राजनीतिक प्रश्नों पर व्यवस्थित ढंग से विचार करने की आदतें नहीं थीं। हम कहते हैं कि उनकी प्रवृत्ति अपने समय की राजनीतिक व्यवस्था को धर्म या परम्परा द्वारा स्वीकृत समझकर स्वीकार कर लेने की ओर थी, उनके सैद्धांतिक लेखों एवं पुस्तकों में सामान्यतया मानवात्मा या सत्य की प्रकृति जैसे आध्यात्मिक विषयों पर ही विचार रहता था, अथवा उनके राजनीतिक विवेचनों का सम्बन्ध शासक एवं प्रजा के वैयक्तिक गुणों एवं अवगुणों से ही रहता था। किन्तु सर्वाधिक आदिम जातियों तथा अत्यन्त प्राचीन सभ्यताओं के स्वेच्छाचारी शासनों में भी राजनीतिक सिद्धांत किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान था।"

यदि हम राजनीतिक सिद्धान्त की विषय-सामग्री को लें तो कह सकते हैं कि इसके अन्तर्गत हम राज्य की उत्पत्ति, राज्य के विकास, संगठन, स्वभाव, उद्देश्यों, कार्यों आदि का विवेचनात्मक ढंग से अध्ययन करते हैं। राजनीतिक सिद्धांत का सम्बन्ध प्रधानतः राजनीतिक जीवन के लक्ष्यों, संस्थाओं और प्रक्रियाओं से होता है। इसके अन्तर्गत राजनीतिक जीवन के विशिष्ट तथ्यों का अध्ययन नहीं किया जाता वरन् उन तथ्यों के आधार पर सामान्य नियम निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार राजनीतिक सिद्धांत में तथ्यों के सम्बन्ध में निर्णय करने पर अधिक बल दिया जाता है। कोकर के अनुसार हम विचार करते हैं कि "राज्य का संगठन किस प्रकार का हो और उसे किस मात्रा में तथा किस रूप में अधिकार एवं सत्ता प्रदान की जाय जिससे वह प्रभावकारी एवं समुचित ढंग से अपना कार्य कर सके। हमें राज्य की आवश्यकता क्यों है? ऐसे कौन से कार्य हैं जिन्हें राज्य एक व्यक्ति की अपेक्षा या उन दूसरे छोटे सामाजिक समुदायों की अपेक्षा, जिनमें व्यक्ति अधिक स्वतन्त्रता के साथ शामिल हो सकता है और जिनका त्याग भी कर सकता है, श्रेष्ठतर ढंग से कर सकता है? व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन के किन क्षेत्रों में राज्य प्रवेश नहीं कर सकता? राजनीतिक जीवन का नियंत्रण किसके हाथ में हो? अपने संगठन एवं कार्यों में राज्य का जनता के विचारों एवं भावों या समाज की आर्थिक व्यवस्था के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए? जब हम राजनीतिक

शासन, उनके स्वरूपों एव कार्यों का केवल ऐसे तथ्यों के रूप मे ही अध्ययन नहीं करते जिनका वर्णन करना हो और जिनको तुलना करनी हो या जिनका उनके तात्कालिक एवं अस्थायी प्रभावों के आधार पर निर्णय करना हो वरन् जब हम उनका मनुष्यों की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और विचारों को ध्यान मे रखकर अध्ययन करते है, तब यह अध्ययन राजनीतिक सिद्धांत का होता है।"

इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि राजनीतिक सिद्धात की विषय-सामग्री का निर्माण युगों-युगो के प्रयत्नों का इतिहास है। राजनीतिक सिद्धान्त का उत्कर्ष विभिन्न युगों के विकास और रूप की सीढ़ियां चढ़ता-उतरता रहा है। इसे चित्रित करते हुए कोकर ने सारगर्भित रूप में लिखा है—

"राजनीतिक सिद्धान्त का उत्कर्ष सभी युगो में समान या एकसे रूपो में नही हुआ है। किसी युग के विद्वान जिन व्यावहारिक सामाजिक समस्याओं को अपेक्षाकृत सामान्य एवं स्थाई सत्यो के रूप मे समाधान करने का प्रयत्न करते है, उनकी उत्पत्ति मुख्यकर उस युग के विशिष्ट अनुभवों के कारण ही होती है और उनके समाधानों के रूप तथा सार उन अनुभवों तथा उस युग की सामान्य बौद्धिक अवस्था द्वारा प्रभावित होते है। ईसा से पूर्व पाचवी तथा चौथी शताब्दी मे यूनान के नगर राज्यों के राजनीतिक एव सास्कृतिक जीवन में, महान् विचारकों ने उन राजनीतिक प्रश्नों पर गम्भीरता के साथ विचार किया, जिन्हें हम आज भी अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आधारभूत मानते है और उन्ही अधिकरणों (Categories) में किया, जिन्हें व्यापक रूप मे हम अब भी स्वीकार करते हैं। स्वतन्त्र यूनानी राज्यो के पतन के पश्चात् रोम के आधिपत्य मे लेखकों के विचार शासन की अपेक्षा व्यक्ति पर अधिक केन्द्रित हुए। स्टाइक तथा इपीक्यूरियन दार्शनिकों का यह विचार था कि यदि मनुष्य को अपने सुविवेक, न्यायभावना और व्यापक मानवीय सहानुभूति अथवा विवेकपूर्ण आत्महित के प्रकाश में, जो प्रकृति से उसे प्राप्त हुए है, अपना जीवन यापन करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाय, तो उसके लिए उसके राजनीतिक सम्बन्धो के रूपों का महत्व अपेक्षाकृत बहुत कम रह जायेगा। रोमन प्रजातन्त्र तथा साम्राज्य के लेखकों ने अपने कानून एव प्रशासन की पद्धतियो के विविध तार्किक एवं व्यावहारिक पहलुओं पर विद्वतापूर्ण ढग से विचार किया किन्तु राजनीतिक प्रश्नों के दार्शनिक विवेचन मे उन्होने मुख्यकर यूनानियों के विचारों का ही अनुकरण किया। समस्त मध्य-युग में राज्य ने मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों के नियन्त्रण मे चर्च तथा संगठित व्यावसायिक समुदायों की अपेक्षा कम भाग लिया और बारहवी शताब्दी से पूर्व राजनीतिक प्रश्नों की दार्शनिक समीक्षा नगण्य सी रही। इस काल मे धार्मिक तथा लौकिक शासकों के परस्पर विरोधी दावों के सम्बन्ध में प्रायः वाद-विवाद

हुआ परन्तु उसमें प्रमाण के रूप में बाइबल, पोप या धर्म-गुरुओं (Church Fathers) की या उन पूर्व-प्रमाणों (Precedents) की ही दुहाई दी जाती थी जिन्हें दोनों पक्ष मानते थे परन्तु जिनका अर्थ दोनों भिन्न करते थे। किन्तु मध्य-युग के उत्तर-काल में व्यावहारिक राजनीतिक-जीवन में नवचेतना के प्रादुर्भाव तथा मानववादी हितों के पुनर्जीवन के साथ ही, राजनीतिक संगठन की प्रकृति तथा उसके कार्य पर व्यापक, अधिक बुद्धिपरक तथा अधिक अनुभव-मूलक विचार किया जाने लगा और गत सात शताब्दियों में इस प्रकार का विचार-मंथन अविराम गति से होता रहा है।"

राजनीतिक सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए अर्नेस्ट बार्कर ने लिखा है कि इसका मुख्य रूप से उस उद्देश्य अथवा उन उद्देश्यों से सम्बन्ध है जिनको मनुष्य नैतिक प्राणी के रूप में अन्य नैतिक प्राणियों के साथ रहते हुए पूरा करना चाहता है। "राजनीतिक सिद्धांत इन प्रश्नों को उठाता है कि राजनीतिक संगठन के क्या उद्देश्य है और उनको पूरा करने के सर्वोत्तम साधन क्या हैं? व्यक्ति अपना पूर्ण विकास करना चाहता है और राज्य किस हद तक उसके उस स्वाभाविक प्रयास में सहायक सिद्ध हो सकता है? राज्य की सत्ता का क्या रूप है? उदाहरण स्वरूप क्या राज्य को व्यक्तियों के विचारों और कार्यों को नियमित करने के असीमित अधिकार प्राप्त है अथवा उसके अधिकार सीमित हैं? क्या व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध अधिकार प्राप्त हैं? इस प्रकार राजनीतिक सिद्धान्त की मूल समस्या यथासम्भव विशाल पैमाने पर सामाजिक-कल्याण को बढ़ाने के लिए राज्य की सत्ता तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के बीच सामंजस्य स्थापित करना है और चूंकि व्यक्ति जिस प्रकार के शासन के अन्तर्गत रहता है उसका और उसके राज्य तथा अन्य राज्यों के सम्बन्ध का उसकी स्वतन्त्रता पर प्रभाव पड़ता है, इसलिए राजनीतिक सिद्धात के लिए शासन के रूप और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी बहुत महत्वपूर्ण विषय हैं।"

राजनीतिक सिद्धांत का व्यवहार में महत्व इस बात में निहित है कि यह हमारे समक्ष आदर्श समाज की कल्पना प्रस्तुत करता है। राज्य और समाज के जो भी स्वरूप आज प्रचलित है अथवा अतीत में था, उनमें कोई भी ऐसा आदर्श स्वरूप नहीं मिलता जिससे हमारे राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं अन्य प्रकार की विविध समस्याओं का संतोषजनक हल निकल सके। यही कारण है कि आदर्श राज्य की अथवा विद्यमान राजनैतिक संस्थाओं से अधिक उत्तम और उपयोगी संस्थाओं की खोज सदैव होती रहती है। राजनैतिक सिद्धांत इस खोज में विशेष रूप से सहायक होता है। इसका मुख्य काम यह है कि प्राचीन और आधुनिक राजनैतिक संस्थाओं, राजनैतिक आदर्शों की समीक्षा करके वह ऐसे नये सिद्धान्तों की खोज करे जो हमारी

वर्तमान परिस्थितियों में अधिकाधिक उपयुक्त हो और हमे भावी प्रगति की ओर अग्रसर करें ।

राजनैतिक सिद्धांत मे राजनैतिक विचारों के इतिहास का महत्वपूर्ण स्थान है। संसार के विभिन्न विचारक और दार्शनिक समय-समय पर अपने-अपने दृष्टिकोण से राज्य के आधारभूत गुणों, तत्वों, उद्देश्यों, संगठन तथा राजनैतिक समस्याओ का विवेचन करते रहे है। उनके चिंतन मे तत्कालीन परिस्थितियों और समस्याओं का ही अधिक प्रभाव रहा है लेकिन फिर भी कुछ स्थाई मूल्य के तत्व दिखाई देते है। ये तत्व हमारे वर्तमान और भावी समाज के लिये विशेष मूल्य रखते है। अत. राजनैतिक सिद्धांत का अध्ययन करते समय हम उनकी उपेक्षा नही कर सकते। इस प्रकार राजनैतिक सिद्धात और राजनैतिक विचारों का इतिहास घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

विद्वानो का एक पक्ष राजनीति-शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष को निरर्थक और हानिकारक मानता रहा है। इन विद्वानों का तर्क है कि राजनैतिक सिद्धान्त व्यावहारिक परिणामो से शून्य होता है अत. राजनीति पर उसका घातक प्रभाव पड़ने का भय रहता है। इस सम्बन्ध मे एडमन्ड बर्क, डनिग आदि के मत उल्लेखनीय है। एडमन्ड बर्क ने कहा था कि कुशासित राज्य का एक मुख्य लक्षण यह है कि उसके नागरिक राजनैतिक सिद्धांत में अधिक रुचि लेने लगते है। प्रो० डनिग का मत था कि जब किसी राजनैतिक व्यवस्था को राजनैतिक सिद्धान्त के रूप मे व्यक्त किया जाए तो समझ लेना चाहिए कि उस व्यवस्था का अन्त सन्निकट है। कुछ विद्वान यह आरोप भी लगाते हैं कि राजनैतिक सिद्धान्तो में विवादग्रस्त प्रश्नों का निश्चित उत्तर देने की क्षमता नहीं होती। राजनैतिक चिंतन यथार्थ की उपेक्षा करता है। इसका सम्बन्ध अत्यन्त जटिल समस्याओं से होता है अतः इसकी विवेचना और निष्कर्ष शुद्ध नही होते। लेकिन इस प्रकार के आरोप भ्रामक है। इन आरोपों के मूल में संभवतः यह विचार निहित है कि केवल व्यावहारिक राजनीति *का अध्ययन ही किया जाना चाहिए और उन परिवर्तनों को अंगी*-कार कर लेना चाहिए जो परिस्थितियो के अनुसार शासन प्रणाली में आवश्यक हों। साधारणतः शास्त्रीय ढंग से राजनीति का अध्ययन किया जाना अन-उपयुक्त है। इस प्रकार के विचार निसंदेह एक पक्षीय हैं। राजनीति शास्त्र के सिद्धांत और व्यावहारिक दोनों ही पक्षों का मूल्य है। यह कहना अनुचित न होगा कि व्यवहार के अभाव में सिद्धांत निस्सार है और सिद्धांत के अभाव में व्यवहार अंधा। प्रत्येक राज्य को किसी न किसी प्रकार के राजनैतिक सिद्धान्त की आवश्यकता होती है। ऐसे कुछ न कुछ सामान्य सिद्धान्त होने चाहिए जो राजनीतिज्ञों और नागरिकों का पथ-प्रदर्शन कर सकें। इस

से इन्कार करना सचाई से दूर हटना होगा कि सरकारी संगठन के प्रत्येक हेर-फेर, कार्य और नीति के पीछे किसी निश्चित सामान्य योजना का होना आवश्यक है। राजनैतिक सिद्धांत हमारी राजनैतिक योजना के अभिप्राय और प्रवृत्ति के स्पष्ट रूप को प्रकट करने में हमें सहायता देते है। इसके मूल्यवान निर्देशन के द्वारा हम भावी विकास की दिशा को समझ पाते हैं। हम केवल वर्तमान के लिए ही नही जीते वरन् भावी पीढ़ियों के प्रति भी हमारा उत्तरदायित्व है। राजनैतिक उन्नति के हमारे प्रयत्नों में हम तभी सफल हो सकते है जब हमारे प्रयत्न क्षेत्र और व्यापक राजनैतिक सिद्धान्त पर आधारित हों। ये राजनैतिक सिद्धांत ऐसे हैं जो वर्तमान की परिस्थितियों और भविष्य की दिशा दोनो के अनुकूल हों।

प्रकट है कि राजनीति शास्त्र मे राजनैतिक सिद्धांत की भूमिका निश्चित रूप से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। राजनीति सिद्धांत से विहीन राजनीति शास्त्र अपूर्ण और अपग है।

हम कह चुके है कि राजनैतिक सिद्धांत मे राजनैतिक चिंतन के इतिहास का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि प्राचीन काल से अब तक हुए विभिन्न राजनैतिक दार्शनिको का चिंतन राज्य के वास्तविक स्वरूप, समस्याओं और उनके विकास की दिशा को समझने मे बडा सहायक है। सुकरात और प्लेटो से लेकर आज तक जितने बड़े-बड़े दार्शनिक और विचारक हुए हैं उन सब के राजनैतिक चिंतन का अध्ययन राजनीति-शास्त्र के प्रत्येक विद्वान के लिए अत्यधिक उपयोगी है। राज्य हमारे सामाजिक जीवन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रभावी अंग है। अत राज्य और उसके सम्पूर्ण संस्थानो का मानव चिंतन के शैशव-काल से ही हम विचार करते आ रहे हैं। राज्य एवं उसके संस्थानों का सामाजिक जगत से क्या सम्बन्ध है, राज्य का प्रादुर्भाव कब और क्यों हुआ, राज्य का स्वरूप और उसकी उपयोगिता क्या है, राज्य का लक्ष्य व कार्य-क्षेत्र क्या और कहा तक है, राज्य की प्रभुसत्ता का स्वरूप कैसा हो—आदि प्रश्नों पर शताब्दियो से चिंतन होता रहा है और वर्तमान मे भी हो रहा है। इन सब के कल्प-विकल्प को हम राजनैतिक चिंतन कहते है। राजनैतिक चिंतन और राजनैतिक सिद्धात में मुख्य अन्तर यही है कि राजनैतिक चिंतन अधिक व्यापकता लिये हुए है जिसमे विविध राजनैतिक समस्याओं के बारे में विभिन्न प्रश्नो पर चिंतन किया जाता है और उन प्रश्नो का उत्तर ढूंढने का सामान्य प्रयत्न किया जाता है। इसके विपरीत राजनैतिक सिद्धांत मुख्यतः छात्रों का विषय है जो अधिकांशतः भाषण-कक्षों की सीमा में बना रहता है अथवा

छपे हुए पृष्ठों में उल्लिखित रहता है। राजनैतिक चिंतन के अध्ययन से राजनैतिक सिद्धांतों का स्वरूप हमारे समक्ष अधिक स्पष्ट होता है। दार्शनिकों के चिंतन में हमें मौलिकता, गहराई और व्यापकता देखने को मिलती है। राजनैतिक सिद्धांत ने राजनैतिक चिंतन को जन्म नहीं दिया है वरन् राजनैतिक चिंतन ने राजनैतिक सिद्धांतों का निर्माण किया है। अतीत से आज तक दार्शनिक और विचारक राज्य के जन्म, विकास, स्वरूप और उद्देश्यों पर विचार प्रकट करते रहे हैं और उनके विचारों के मंथन से राजनैतिक सिद्धांत का निर्माण हुआ है।

२

राजनीति शास्त्र की प्रकृति और उसका क्षेत्र

(NATURE AND SCOPE OF POLITICAL SCIENCE)

"मनुष्य स्वभाव से ही एक राजनीतिक प्राणी है और
वह जो संयोगवश ही नहीं वरन् स्वभाव से
समाज अथवा राज्य के बिना रहता है, या
तो मनुष्य से ऊपर है या इससे
नीचे है।" —अरस्तू

'राजनीति शास्त्र' समाज शास्त्रों में दिन प्रतिदिन महत्वपूर्ण स्थान पाता जा रहा है। इसके साथ 'वर्तमान' शब्द का प्रयोग करना अपने आप में महत्व रखता है। इससे यह प्रकट होता है कि राजनीति शास्त्र का एक ऐसा भी रूप है जो पुरातन है तथा वह इसके वर्तमान रूप से पर्याप्त भिन्नतायें रखता है। असल में राजनीति शास्त्र का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि मानवीय ज्ञान का इतिहास है। यूनानी विद्वानों ने विद्या की अन्य श्रेणियों की भांति राजनीति शास्त्र के लिए भी आधारभूमि तैयार की। उन्होंने इसका अर्थ, विषय वस्तु, अध्ययन का तरीका, इसकी शाखायें आदि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये। मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानवीय विद्या की यह शाखा भी अपने स्वरूप एवं विषय-वस्तु में परिवर्तन करती रही। वर्तमान युग के अनेक विकासों ने इस पर जो प्रभाव डाला है, उनके फलस्वरूप इसमें जो परिवर्तन आये हैं उनको क्रांतिकारी माना जाता है। विज्ञान एवं तकनीकी का विकास, औद्योगीकरण, धर्मसुधार आंदोलन, राष्ट्र-राज्य का सिद्धान्त, समाजवाद के क्रांतिकारी एवं शांतिवादी रूप, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद आदि अनेक तत्वों ने मिलकर राज्य से सम्बन्धित पुरानी धारणाओं में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया है और इस प्रकार राजनीति शास्त्र की प्रकृति,

अध्ययन के दृष्टिकोण, इसके मौलिक तत्व, इसकी मान्यतायें आदि का अर्थ आज पर्याप्त बदल चुका है। यही कारण है कि राजनीति शास्त्र के साथ वर्तमान शब्द का प्रयोग किया जाता है। राजनीति शास्त्र का यह वर्तमान रूप तथा इसके विभिन्न सिद्धांत एकदम से ही पैदा नहीं हो गये वरन् इनका धीरे-धीरे विकास हुआ है; यहां तक कि इनके अध्ययन का तरीका भी समय की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के प्रभाव से बदलता रहता है।

प्रस्तुत प्रसंग में हमारे अध्ययन अथवा विवेचन की क्रमश: ये सीढ़ियां होंगी—

(i) सर्वप्रथम हम यह देखेंगे कि राजनीति शास्त्र का परम्परागत सम्प्रदाय (Traditional School) इसे किस रूप में परिभाषित करता रहा है और वर्तमान या अर्वाचीन सम्प्रदाय (Contemporary School) के इस सम्बन्ध में क्या विचार है। इसके साथ ही एव बाद में भी हम अर्वाचीन राजनीति शास्त्र के विकास पर भी प्रकाश डालते चलेंगे ताकि इस शास्त्र का स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट होता चले।

(ii) इतने विवेचन के उपरान्त हम इस शास्त्र की प्रकृति और उसके क्षेत्र को विवेचनात्मक ढंग से लेंगे।

राजनीति शास्त्र की परिभाषायें
(Definitions of Political Science)

राजनीति शास्त्र की परिभाषायें समय-समय पर अलग-अलग प्रकार से की गई हैं जिन्हें हम मोटे तौर पर दो श्रेणियों मे वर्गीकृत कर सकते है—

(१) परम्परागत (Traditional) परिभाषायें, एवं

(२) अर्वाचीन (Contemporary) परिभाषाये

दोनों ही श्रेणियों में आने वाली परिभाषाओं की अलग-अलग कुछ सामान्य विशेषताएं है जिसके कारण उनको एक ही श्रेणी में बद्ध करके रखा जाता है।

परम्परागत परिभाषायें
(Traditional Definitions)

परम्परागत श्रेणी में गिनी जाने वाली परिभाषायें प्राचीन व प्रारम्भिक है। इन परिभाषाओं की कतिपय विशेषतायें इस प्रकार हैं—

पहली विशेषता यह है कि इन परिभाषाओ में मूल रूप से संस्थागत पहलू पर अधिक जोर दिया गया है। अरस्तु एवं मैक्सवेवर आदि द्वारा दी गई परिभाषाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। ये किसी भी एक संस्था (जैसे राज्य या सरकार आदि) को राजनीति शास्त्र के अध्ययन का आधार मानते है।

दूसरी विशेषता यह है कि इन परिभाषाओं में सम्बन्धित संस्था की बनावट का वर्णन किया जाता है। राज्य के तत्वों पर ये परिभाषायें प्रकाश डालती हैं। सम्प्रभुता, सरकार के रूप, सरकार के अंग, शक्ति पृथक्करण, सरकार के स्तर आदि का वर्णन किया जाता है।

तीसरे, इन परिभाषाओं में राज्य के कार्यों पर अधिक जोर नहीं दिया जाता है। उनको गौण विषय माना जाता है।

चौथे, ये परिभाषायें राज्य के लक्ष्य पर भी प्रकाश नहीं डालतीं और न ही इनके द्वारा संस्थाओं एवं उनके कार्यों का मूल्यांकन ही किया जाता है। इस परम्परागत स्कूल के राजनीति शास्त्रियों ने जिन लक्ष्यों एवं मूल्यों को मान्यता दी वे पूर्व निर्धारित (a prior) प्रकृति के थे। उदाहरणार्थ प्लेटो की न्याय सम्बन्धी धारणा को लिया जा सकता है।

पांचवें, मूल्यों तथा लक्ष्यों में इन परिभाषाकारों का सम्बन्ध आदि भौतिक रूप में रहता था। वे इनको अनुभव के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास नहीं करते थे।

छठे, ये परम्परावादी विचार राजनैतिक प्रक्रिया के औपचारिक तथा कानूनी दृष्टिकोणों पर अधिक जोर देते थे। विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, एवं नैतिक शक्तियों तथा राजनैतिक शक्तियों के बीच क्या पारस्परिक सम्बन्ध रहता है और ये एक दूसरे पर क्या प्रभाव डालती हैं, इस सम्बन्ध में उनकी कोई रुचि नहीं थी। वे यह नहीं जानना चाहते थे कि दबाव, समूह, धर्म, जाति आदि तत्वों का राजनैतिक प्रक्रिया पर कैसे और क्या प्रभाव पड़ता है।

सातवें, वे राजनीति शास्त्र का अध्ययन एक व्यापक प्रणाली के रूप में कर रहे थे, उनका झुकाव आज की भांति वैज्ञानिकीकरण की ओर नहीं था।

परम्परावादी विचारकों द्वारा दी गई राजनीति शास्त्र की परिभाषाओं का अवलोकन करने पर उक्त विशेषतायें अधिक स्पष्ट रूप से समझ में आ सकेंगी। लिटर (Littre) महाशय ने राजनीति शास्त्र को 'राज्यों की सरकार के विज्ञान' के रूप में परिभाषित किया है। डा० स्टीफेन लीकॉक (Dr. Stephen Leacock) का मत है कि राजनीति शास्त्र में सरकार का विवेचन किया जाता है। दूसरी ओर फ्रांसीसी विचारक ब्लंशली ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन में केवल राज्य को ही स्थान दिया है; वे सरकार का नाम नहीं लेते। सन् १८२१ में की गई उनकी परिभाषा के अनुसार "राजनीति शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जो राज्य से सम्बन्ध रखता है। यह इस बात को समझने का प्रयास करता है कि राज्य के मूल तत्व क्या हैं, उसका मूल स्वरूप क्या है, यह अपने आपको किन रूपों में अभिव्यक्त करता है तथा उसका विकास किस प्रकार होता है।" गेटेल, गिलक्राइस्ट तथा लास्की आदि

विचारक राज्य एवं सरकार दोनों को ही राजनीति शास्त्र के अध्ययन का केन्द्र बताते हैं।

एक अमरीकी राजनीति शास्त्री हाइनमेन (Hyneman) के मतानुसार राजनीतिशास्त्र में राज्य के कार्यों के उस भाग का अध्ययन किया जाता है जो सरकार से सम्बन्धित है तथा सरकार के भी उस भाग का जो कानून के माध्यम से बोलता है। इस प्रकार ये परम्परागत परिभाषायें राज्य या सरकार को राजनीति शास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय मानती हैं। इस अध्ययन में राज्य या सरकार के विभिन्न अंगों तथा उनके संगठन का अध्ययन किया जाता है। संविधान की दृष्टि से राज्य का जो स्वरूप अपनाया गया है तथा कानूनी रूप से उसका जो संगठन किया गया है केवल वही राजनीति शास्त्र की रुचि का विषय माना गया। ज्ञान के विकास के साथ-साथ राजनीति शास्त्र की ये परिभाषायें अपूर्ण, अपर्याप्त तथा अनुपयोगी प्रतीत होने लगी।

अर्वाचीन परिभाषायें
(Contemporary Definitions)

राजनीति शास्त्र की परम्परागत परिभाषाओं में मोड़ आया। अब उसके संस्थागत, कानूनी तथा संरचना सम्बन्धी पहलुओं पर अधिक जोर नहीं दिया जाने लगा। अर्वाचीन विचारकों ने राजनीति शास्त्र की जो परिभाषा की उसमें राजनीतिक व्यवस्था के सामान्य विश्लेषण तथा उसके विशेष प्रकारों को मुख्य आधार बनाया गया। राबर्ट डहाल (Robert Dahl) ने राजनीति शास्त्र को राजनैतिक सम्बन्धों के रूप में परिभाषित किया। इन आधुनिक परिभाषाओं को प्रक्रिया का अध्ययन कहा जा सकता है। इनमें राज्य की प्रक्रिया पर प्रभाव डालने वाले तत्वों का अध्ययन किया जाता है। अनेक समूहों तथा शक्तियों का उल्लेख किया जाता है जो राजनैतिक क्रिया पर प्रभाव डालते हैं तथा स्वयं प्रभावित होते है। वैसे आधुनिक परिभाषाओं के ध्यान का मुख्य केन्द्र भी राज्य तथा समाज है। ये भी राज्य एवं समाज की अन्तःक्रियाओं को मान कर चलती है। परम्परागत परिभाषाओं से आधुनिक परिभाषायें जिस बात में भिन्न हैं वह यह है कि बाद वाली में कार्यात्मक पहलू पर भी पर्याप्त जोर दिया जाता है व राजनैतिक कार्यों का अध्ययन किया जाता है। विभिन्न संस्थाओं की संख्या एवं संरचना का उल्लेख करके ही ये परिभाषायें सन्तुष्ट नहीं हो जाती वरन् उनकी कार्य-प्रणाली पर भी प्रकाश डालती हैं। इनके अतिरिक्त इनमें नौकरशाही का अध्ययन किया जाता है। अर्वाचीन परिभाषायें मूल्यों तथा लक्ष्यों पर पर्याप्त जोर देती हैं। नीति-निर्माण की प्रक्रिया में प्राथमिकताओं का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है, इस पर प्रकाश डाला

जाता है। मूल्यों एवं लक्ष्यों पर जोर देने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि इनको विषयगत कह दिया जाये। केवल राजनैतिक जांच की दृष्टि से ही इनमें मूल्यों तथा लक्ष्यों को महत्व प्रदान किया जाता है। आधुनिक परिभाषायें राजनैतिक प्रक्रिया के अनुभववादी दृष्टिकोण का पक्ष लेती है जो सिद्धांत अनुभव के आधार पर सत्य सिद्ध हो जाता है केवल वही सत्य एवं मान्य है। पूर्व निर्धारित मूल्यों या लक्ष्यों के द्वारा राजनैतिक क्रियाओं को तय नही किया जा सकता और न किया जाना चाहिए। लासवेल (Lasswel) ने माना है कि राजनैतिक तत्व का अपना पृथक व्यक्तित्व होता है। इन विचारकों के मतानुसार राजनीति शास्त्र विज्ञान एव कला दोनों है। इन्होंने उसके विज्ञान पक्ष पर अधिक जोर दिया है।

अर्वाचीन परिभाषाओं में प्रथम उल्लेखनीय परिभाषा मि० हरमन हीलर (Hermann Heller) की है। इनका मत है कि आज का राजनीति शास्त्र मुख्यत: राजनैतिक शक्ति की प्राप्ति, रक्षा एवं वितरण की समस्या पर विचार करता है। ऐसा विचार करते समय किसी मूर्त राज्य को अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है अथवा मूर्त राज्यो में प्राप्त तत्वों के आधार पर अमूर्त राज्य की कल्पना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त आधुनिक राजनीति शास्त्र जिन विभिन्न तत्वों का अध्ययन करता है वे है— प्रक्रियाओं का वह पारस्परिक सम्बन्ध जिसके द्वारा शक्ति को भौगोलिक एवं जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियों के अनुरूप संस्थागत बनाया जा सकता है; इसके अतिरिक्त जातीय विशेषताओं तथा अन्य प्राकृतिक शक्तियों, जनसंख्या, आर्थिक, सैनिक, नैतिक, धार्मिक, प्राकृतिक तथा अन्य विशेषताओं का प्रभाव; संगठन के नियंत्रण के प्रमुख प्रकारों का वर्णन तथा विश्लेषण; राज्य की महत्वपूर्ण राजनैतिक संस्थाओं (विशेषत: दलों) का संगठन एवं कार्य; राजनैतिक संस्थाओं के जन्म तथा विकास में राजनैतिक विचारों का योगदान, संगठित राजनीतिक शक्तियों के प्रमुख सामाजिक शक्तियों के साथ सम्बन्ध का विश्लेषण; धर्म, लोकमत, प्रेस तथा प्रमुख आर्थिक शक्तियों का प्रभाव; अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों एवं अन्य राज्यों के संदर्भ में एक राज्य की शक्तियों की पुनरीक्षा आदि-आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीति शास्त्र की यह परिभाषा परम्परागत परिभाषा से कई पग आगे है। केटलिन के मतानुसार राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध नियंत्रण के समाज में स्थित कार्यों से है। यह उन कार्यों पर विचार करता है जो नियंत्रण में प्रमाणित होते हैं तथा उन इच्छाओं एवं संरचनाओं से निकलते हैं जो इच्छाओं के नियंत्रण सम्बन्ध के फल होती हैं। मि० वी० ओ० की (V. O. Kea) का कहना है कि 'राजनीति

शास्त्र' प्रभुत्व एवं अधीनस्यता तथा प्रशासक और प्रशासित के मानवीय सम्बन्धों पर विचार करता है।

राजनीति शास्त्र के अर्थ एवं विषय वस्तु के सम्बन्ध में मि० लासवेल (Harold D. Lasswel) द्वारा प्रस्तुत किये गये विचारों को आधुनिक विचारों का प्रतिनिधि माना जा सकता है। उन्होंने शक्ति सिद्धान्त (Power Theory) का विश्लेषण करते हुए उसे राजनीति शास्त्र का मूल माना है। उनका कहना है कि 'एक अनुभववादी व्यवस्था के रूप में राजनीति शास्त्र शक्ति की रूप-रचना एवं उपभोग का अध्ययन है।' वे राजनीति शास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों की तरह से एक नीति विज्ञान मानते हैं। यह प्रभाव एवं शक्ति (Influence and power) का अध्ययन करता है। सामाजिक नीति ऐसी होनी चाहिये जिसके द्वारा वे परिस्थितियां बनायी जा सकें जिनमें कि समाज के मूल्यों को शक्ति के साथ समायोजित किया जा सके। शक्ति सम्बन्धी प्रक्रिया सामाजिक प्रक्रिया से भिन्न कोई भाग नहीं है वरन् यह सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया या राजनैतिक पहलू मात्र है। यह सच है कि राजनीति शास्त्र एक स्वायत्त शास्त्र है और इसको अर्थशास्त्र या मनोविज्ञान का व्यावहारिक रूप मात्र नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसकी स्वतन्त्रता का अर्थ यह नही है कि इसे अन्य सभी सामाजिक विज्ञानों से पूर्णत. पृथक मान लिया जाए। इसकी स्वायत्तता का अर्थ केवल यही है कि यह अन्य सामाजिक विज्ञानों में से किसी का भी एक भाग नही है।

लासवेल का यह स्पष्ट मत है कि राजनीति शास्त्र अमूर्त संस्थाओं या संगठनों का अध्ययन नही करता, यह व्यक्ति को उसके पूर्ण रूप में देखता है तथा अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है। इसमें व्यक्ति की आवश्यकताओं एवं हितों के एक पक्ष मात्र को नही देखा जाता वरन् उसके समस्त पहलुओं के साथ पूर्ण व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाता है। राजनीति शास्त्र में प्रभाव एवं प्रभावी (Influence and Influential) का अध्ययन किया जाता है। यह उन सभी तत्वों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उनका मूल्यांकन करता है जो नीति सम्बन्धी लक्ष्यों के पूर्ण होने में अवरोध का कार्य करते हैं।

राजनीति शास्त्र के रूप में जो परिवर्तन आया है वह वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकासों के प्रभाव का परिणाम है। विज्ञान ने दुनियां के रूप को इतना बदल दिया है कि आज के युग को हम विज्ञान का युग कहते है। हम यह कल्पना भी नही कर सकते कि राजनीति शास्त्र दुनियां के इस बदलते रूप से अप्रभावित रहेगा। राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध राजनैतिक प्रक्रिया से है। यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि सरकार और कानून इतिहास की

गति से बाहर रह जायेंगे। ऐसी स्थिति में राजनीति शास्त्र का सही अध्ययन तभी किया जा सकता है जबकि उस पर प्रभाव डालने वाली विभिन्न शक्तियों को भी अध्ययन का विषय बनाया जाये।

आलोचना

(The Criticism)

राजनीति शास्त्र की परम्परागत एवं आधुनिक परिभाषायें दृष्टिकोण, विषय वस्तु, प्राथमिकता एवं मूल्यांकन की दृष्टि से परस्पर अनेक भिन्नतायें रखती हैं। जब समय के परिवर्तन ने परम्परागत परिभाषाओं को असामयिक बना दिया तो आधुनिक विचार प्रस्तुत किये गये। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आधुनिक परिभाषायें अपने आप में पूर्णतया दोषमुक्त हैं। दोनों श्रेणियों की अपनी कमियां एवं अपूर्णतायें हैं जिनके आधार पर उनको आलोचना का विषय बनाया जाता है।

परम्परागत दृष्टिकोण के आधार पर की गई परिभाषाओं की एक आलोचना तो यह की जाती है कि इनमें अत्यधिक औपचारिकता पर जोर दिया गया है। इनके द्वारा यथार्थता की गहराई तक नहीं पहुँचा जा सकता। ये परिभाषायें राजनीति-शास्त्र की रुचि के अनेक विषयों को अछूता छोड़ देती हैं जैसे राज्य के कार्य, सरकार की प्रक्रियायें, राज्य तथा समाज के बीच पाई जाने वाली अन्तःक्रियायें, निर्णय लेने की प्रक्रिया, नीति रचना का कार्य, नीति निर्धारण के कारण तथा परिणाम आदि। दूसरे, परम्परावादी परिभाषा ने राजनीति शास्त्र को इतना वैज्ञानिक नहीं बनाया जितना कि वह वास्तव में है। इनकी वैज्ञानिकता केवल किताबी स्तर पर ही रही, यह कभी वास्तविक नहीं बन पायी। इसका आधार अनुभव नहीं था। तीसरे, परम्परावादियों ने राज्य को ही सब कुछ माना था। वे राज्य से बाहर किसी तत्व को महत्व नहीं देते थे। आज स्थिति इसके विपरीत है। राज्य से भिन्न वस्तुओं का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। अराजनैतिक तत्वों एवं संस्थाओं का राजनैतिक क्रियाओं पर पड़ने वाला प्रभाव निरन्तर महत्वपूर्ण बनता जा रहा है।

राजनीति शास्त्र की अर्वाचीन परिभाषायें भी आलोचना से परे नहीं हैं। वर्तमान विचारकों ने राजनैतिक व्यवस्था के किसी एक पहलू पर अत्यधिक जोर दिया है और ऐसा करते समय उन्होंने दूसरे पहलूओं की अवहेलना की है। लासवेल ने शक्ति को महत्वपूर्ण माना है जबकि कैटलिन महोदय नियन्त्रण भाग को महत्व देते हैं। डेविड ईस्टन ने मूल्यों के वितरण पर जोर दिया है। इस प्रकार राजनीति शास्त्र को ये विचारक समग्र रूप में नहीं देखते वरन् उनको टुकड़ों में बांट देते हैं। ऐसा करते समय उनका दृष्टिकोण विषयगत बन जाता है। उनके द्वारा दी गई परिभाषायें असतुलन के दोष से दूषित है। इस दृष्टि से हम उनको वैज्ञानिक भी नहीं कह सकते हैं

क्योंकि विज्ञान की तरह उनमें वस्तुगतता का अभाव है। उनके आधार पर विषय की पूरी तस्वीर हमारे सामने नहीं आ पाती और जो तस्वीर आती है वह सत्य के सभी रूपों का अध्ययन नहीं करा पाती। इस प्रकार आधुनिक परिभाषायें भी परम्परागत परिभाषाओं की भांति आलोचनाओं के लिए खुली हुई हैं।

राजनीति शास्त्र एक अनुशासन के रूप में
(Political Science as a Discipline)

राजनीति शास्त्र के भण्डार के अकादमिक अध्ययनों की अपेक्षा बाहर से अधिक योगदान किया गया है। कहने का अर्थ यह है कि राजनीति शास्त्र के प्राध्यापकों ने अपना प्रशिक्षण बहुत कुछ अध्ययन कक्ष से बाहर से लिया है। वे राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय सार्वजनिक अभिकरणों के साथ मिल कर कार्य करते है, राजनैतिक दलों के साथ मिल जाते हैं, गैर-सरकारी नियमों के साथ मिलकर कार्य करते हैं, हित समूह, नागरिक संगठन एव अन्य संस्थाओं के रूप में संगठित होकर कार्य करते हैं। अध्ययन कक्षों मे भी उनका बहुत कुछ ध्यान इस बात पर केन्द्रित रहता है कि भावी राजनीतिज्ञों को तैयार किया जाये। ये अपने विद्यार्थियो में विदेशी मामलों के विशेषज्ञ, राजनैतिक समाचार दाता, वकील, सरकारी अधिकारी, लोक प्रशासक आदि के चरित्र देखते हैं किन्तु कभी भी इस दृष्टि से नही सोचते कि वे भावी प्रोफेसर भी बनाने जा रहे है। राजनीति शास्त्र का अध्ययन केवल विशेष रुचि के कारण ही नहीं किया जाता। समाज शास्त्रों की अन्य शाखाओ के विद्यार्थी भी सरकार का अध्ययन करने में रुचि लेते हैं क्योंकि यह उनकी विषय वस्तु को भी प्रभावित करती है। कुछ लोग केवल रुचि के कारण राजनीति शास्त्र पढ़ते हैं। उनका कोई विशेष उद्देश्य नही होता। ऐसे विद्यार्थियों को विषय की गहनता का परिचय नही कराया जा सकता; उनको केवल आंशिक ज्ञान ही दिया जाता है।

राजनीति शास्त्र का विषय-क्षेत्र इतना है कि वह किसी भी एक व्यक्ति की अध्ययन सीमा में नही समा सकता। यह विषय अनेक शाखाओं में बंटा हुआ है और प्रत्येक शाखा के लिए अलग-अलग अध्ययन कर्त्ताओं की आवश्यकता है। राजनीति शास्त्र का एक पृथक अनुशासन के रूप में अध्ययन करने के मार्ग में कुछ कठिनाइयां आती हैं। इसकी पहली कठिनाई यह है कि राजनीति शास्त्र के पूरे क्षेत्र एवं दिशाओं को स्पष्ट रूप से इंगित नही किया जा सकता। राजनीति शास्त्र के विद्वानों द्वारा जिन विषयों पर विचार किया जाता है उनका क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है तथा उनका अध्ययन करने के लिए भी अनेक तकनीकें अपनाई जाती हैं। समाज-शास्त्रों के विषय

क्षेत्र आपस में इतने मिले हुए हैं कि यह जानकारी नहीं हो पाती कि कहां राजनीति शास्त्र रुक जाता है तथा कहां अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र एवं भूगोल आदि प्रारम्भ हो जाते हैं। दूसरे यदि हम राजनीति शास्त्र की विषय-वस्तु का संक्षेप में परिचय दें तो वे कठिनाइयां समझ में नहीं आ सकतीं जो सामान्यतः राजनीति शास्त्रियों के सामने आती हैं। यदि सरल शब्दों में स्पष्टीकरण कर दिया गया तो कठिन समस्याओं के बारे में विद्यार्थी को भ्रम पैदा हो जायेगा।

सुविधा की दृष्टि से राजनीतिक शास्त्र के विषय क्षेत्र का अध्ययन कर लिया जाना चाहिये। ऐसा करने पर ही अध्ययन के एक क्षेत्र के रूप में इस विषय की प्रमुख विशेषताएं सामने आयेंगी। इसके प्रारम्भिक विश्लेषण से ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि राजनीति शास्त्र को एक अलग से अनुशासन माना जाना चाहिये। मि. रोजमैन, मेयो तथा कूलिङ्ग की मान्यता है कि "राजनीति शास्त्र को अलग ही अनुशासन मानना चाहिये क्योंकि यह अपने विद्यार्थियों के लिए ऐसे मापदण्ड प्रस्तुत कर सकता है और करता है कि वे अपने तथा दूसरों के कार्यों का मूल्यांकन कर सकें। इसके द्वारा विश्लेषण के साधन प्रदान किए जाते हैं जिनके माध्यम से इस क्षेत्र में ज्ञान को बढ़ाया जा सकता है। राजनीति शास्त्र 'राजनीति' के अस्त-व्यस्त अध्ययन से कुछ अधिक है और इसीलिए यह एक अनुशासन होने का दावा करता है।"[1]

पृथक से एक अनुशासन बनने के लिए किसी भी विषय को कुछ शर्तों की पूर्ति करनी होती है। आज यह तो मान लिया गया है कि राजनीतिशास्त्र अर्थशास्त्र, भूगोल, इतिहास, मनोविज्ञान आदि की भांति ही एक सुस्थापित सामाजिक अनुशासन है। इसके अतिरिक्त यह कुछ मापदण्डों को भी पूरा करता है जिनके आधार पर हम इसे पृथक विद्या मान सकते है। रोजमैन तथा अन्य के मतानुसार किसी भी विषय को एक पृथक अनुशासन केवल तभी कहा जा सकता है जबकि उसमें ये विशेषतायें हों—

(१) उसमें अनुशासनात्मक आत्म-चेतना हो अर्थात् वह अपने अध्ययन क्षेत्र के विकास एवं बढ़ोत्तरी की आलोचनात्मक व्याख्या पर विशेष रूप से जोर डाले।

(२) उसका पुराना साहित्य हो जिसे देखकर उसके विकास की सीढ़ियों को पहचाना जा सके।

(३) विभिन्न उपक्षेत्रों में विशेषज्ञता प्राप्त लोग हों।

---

1. Cyril Roseman, Charles G. Mayo and F. H. Collinge, Dimensions of Political Analysis (An Introduction to the study of Politics), Page 3.

(४) विषय-वस्तु इस प्रकार की हो जिसे आसानी से पृथक किया जा सके।

(५) अनेक सामान्यीकरण अथवा अमूर्त विचार हों जिनको समय-समय पर आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित, संशोधित या परिवर्धित किया जा सके। इन सामान्यीकरणों में मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं—कानून, विचार-धाराएं (Theories), सिद्धांत (Principles), परिकल्पनाएं (Hypothesis), तथ्य (Facts), मूल्य (Values), मान्यताएं (Concepts), आदि-आदि।

(६) ऐसी मान्यताएं होनी चाहिए जो कि उसी अध्ययन क्षेत्र के लिए विशेष रूप से हों। यह हो सकता है कि कुछ मान्यताएं अन्य विद्याओं से ग्रहण कर ली जायें किन्तु जब तक विशेषीकृत शब्दकोष एवं अमूर्त विचार नहीं होंगे तब तक पृथक अनुशासन नहीं माना जा सकता।

(७) सामान्य रूप से मान्य तथा प्रमापीकृत विश्लेषण की कुछ प्रणालियां होती है जिनके द्वारा सिद्धान्तों को स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जाता है।

(८) कुछ ऐसे आंकड़े होते हैं जिनको कि अनुभव के आधार पर परखा जा सके।

उक्त आठों विशेषताएं किसी भी विषय को एक पृथक अनुशासन बनाने के लिए पर्याप्त हैं। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि जब तक ये आठों विशेषताएं पूर्ण रूप से प्राप्त न हो जायें तब तक किसी भी विषय को पृथक अनुशासन कहा ही न जाये। ये तो सभी वाञ्छनीय आधार हैं और जिस विषय में जितने प्राप्त हो जायें उतने ही अच्छे हैं। राजनीति शास्त्र पर ये मापदण्ड बहुत कुछ लागू होते है। रोजमेन तथा अन्य का कहना है कि राजनीतिशास्त्र में अनेक अमूर्त विचार हैं जो कि क्रमशः विकास के परिणाम-स्वरूप वर्तमान रूप प्राप्त कर सके हैं। इन अमूर्त विचारों में परिकल्पना, *तथ्य, मूल्य, विभागीकरण की योजनाएं आदि को लिया जा सकता है।* इसने अनेक विश्लेषणात्मक प्रणालियों का विकास किया है। अनेक विशेष मान्यताएं, आंकड़ों के संग्रह आदि तैयार किये गये है। इसमें आंतरिक श्रम विभाजन है, अनुशासनात्मक आत्मचेतना है तथा पर्याप्त पुराना साहित्य प्राप्त होता है, इस सब के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनीति शास्त्र एक पृथक अनुशासन है।[1]

1. Ibid, p. 16

इतना सब होने के बाद भी राजनीति शास्त्र का अनुशासनात्मक स्तर कुछ महत्त्वपूर्ण शर्तों से बद्ध है। इसकी विषय-वस्तु को निश्चय ही इसकी अन्य समाज शास्त्रीय बहिनों से अलग नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त एक बात और भी है। राजनीति शास्त्र के मुख्य उद्देश्य के सम्बन्ध में विचारक एक मत नही हैं। विषय-वस्तु की एकरूपता के कारण ही व्यवहारवादियो ने अन्तर्अनुशासनीय दृष्टिकोण अपनाया था। यह सच है कि 'राजनीति' केवल सरकारी या राजनैतिक संस्थाओं में ही नहीं रहती वरन् यह सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र मे भी पर्याप्त पायी जाती है। इसका ऐतिहासिक विकास होता है। यह व्यक्ति की मानसिक स्थिति, सांस्कृतिक वातावरण, आर्थिक तथा कूटनीतिक परिस्थितियों, सार्वजनिक नीति की आवश्यकताओं आदि पर आधारित रहती है। राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी कानून शास्त्र का अध्ययन करता है, वह सत्ता-स्वतन्त्रता एवं उत्तरदायित्व के दार्शनिक पहलुओं पर ध्यान देता है और इस प्रकार किसी भी सामाजिक विज्ञान के विषय से वह अपने आपको पूर्णतः अलग नहीं कर लेता।

राजनीति में अराजनैतिक तत्व
(The Non-Political Elements in Politics)

राजनैतिक क्रियाओं का व्यवहार जिन समूहों, संस्थाओं एवं व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है उनको हम आवश्यक रूप से राजनीति की सीमाओं में बद्ध करके नही रख सकते। जब किसी संस्था के द्वारा एक राजनैतिक निर्णय लिया जाता है तो उस पर अनेक अराजनैतिक समूहों के प्रभाव पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त राजनैतिक प्रक्रिया हवा में नहीं चलती वरन् उनका भी एक वातावरण होता है और इस वातावरण के प्रभाव की अवहेलना करके वह आगे नही बढ सकती। लिया गया निर्णय अपने समय के अन्य निर्णयो से तथा भावी योजनाओं से पर्याप्त प्रभावित होता है। ऐसी स्थिति में राजनीति शास्त्र की रुचि केवल उस एक निर्णय पर ही केन्द्रित नही रहेगी वरन् वह उस पर प्रभाव डालने वाले समस्त मानवीय व्यवहार का अध्ययन करना चाहेगा।

इस दृष्टि से राजनीति शास्त्र की परिभाषा करते हुए उसे राजनैतिक व्यवहार, प्रक्रियाओं एवं संस्थाओं या राजनैतिक व्यवस्थाओं और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन माना जाता है। राजनीति शास्त्र की यह परिभाषा एक समस्या उत्पन्न कर देती है और वह यह है कि राजनीति और राजनैतिक से हमारा क्या अर्थ है। वैसे परम्परागत रूप से इन शब्दों का अनेक अर्थों मे प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग राजनैतिक दलों तथा उनके अनुयायियो की क्रियाओं को ही राजनैतिक कहते हैं जबकि दूसरे लोग किसी

भी संस्था के कार्यों तथा नीतियों को वहां की राजनीति कह देते है । इनमे से एक भी प्रयोग समुचित एव सही नही है; क्योंकि इसके द्वारा यह समस्या हल नहीं की जाती कि राजनैतिक और अराजनैतिक के बीच अन्तर कैसे स्थापित किया जाये ।

राजनीति को हम अराजनैतिक तत्वो से पूर्णत: पृथक नहीं कर सकते । फ्रांसिस सोरॉफ (Francis J. Sorauf) के मतानुसार प्रत्येक समाज में समाज के लक्ष्यों एव निर्देशों के सम्बन्ध मे भिन्न मत रखने वाले व्यक्ति एवं समूह होते है । दूसरी ओर समाज मे ऐसी अनेक सस्थाएं भी होती है जो कि इन मनमुटावो को दूर कर सके ।[1] उन्होंने ऐसी संस्थाओं मे धार्मिक समूह, वंशगत संस्थाए, व्यापार सघ एव निगम, परिवार तथा रक्त सम्बन्धी समूह तथा भ्रातृत्वपूर्ण सस्थाओ के नाम लिये है जो कि अपने सदस्यो के लक्ष्य एवं व्यवहार का निर्धारण करती हैं। उनका कहना है कि इन सस्थाओ के बीच पदसोपान का सम्बन्ध पाया जाता है। शीर्ष वाली सस्थाएं अपेक्षाकृत व्यापक क्षेत्र एव अधिक शक्ति सम्पन्न होती है। पदसोपान के शीर्ष पर सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था रहती है उसको वे राजनैतिक व्यवस्था कहते है ।[2]

राजनैतिक व्यवस्था की अपनी कुछ विशेषताए होती है जो कि उसको अराजनैतिक से पृथक करती हैं। इसकी पहली विशेषता सर्वव्यापकता (Universality) है । इसका अर्थ यह है कि इसके क्षेत्र मे समाज के सभी लोग आते हैं जबकि धार्मिक या व्यावसायिक संस्थाएं समाज के केवल एक वर्ग विशेष से ही सम्बन्ध रखती है । राजनैतिक व्यवस्था की दूसरी विशेषता यह है कि वह अन्तिम (Final) होती है । समाज मे बाध्यकारी शक्ति का उसके पास एकाधिकार होता है। सारी सशस्त्र सेना, जेल तथा मृत्युदण्ड का अधिकार इसी के हाथों में रहता है । अन्य सस्थाएं भी शक्ति रखती है किन्तु वह राजनैतिक व्यवस्था के अाधीन रहती है । तीसरे, राजनैतिक व्यवस्था में औचित्य (Legitimacy) होता है । समाज के लोग उसको अन्तिम सत्ता मानते है तथा परम्परा, नैतिकता एव वैधानिकता के आधार पर उसका विरोध करना अनुचित समझते है । राजनैतिक व्यवस्था को अपने प्रत्येक निर्णय की क्रियान्विति के लिए शक्ति का प्रयोग नही करना पड़ता क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उनको स्वामीभक्ति के साथ स्वयं ही मान लेता है । यद्यपि मनुष्य अन्य संस्थाओं

---

1. Francis J. Sorauf, Political Science: an informal overview, Charles E. Merrill Books, Inc. Columbus, 1965, p. 3
2. Ibid.

एव समूहो को भी अपनी स्वामिभक्ति सौंपते हैं किन्तु राजनैतिक व्यवस्था को दी गई स्वामीभक्ति अधिक प्रभावशील होती है ।

राजनीति मे अराजनैतिक तत्वो के हस्तक्षेप एव महत्व के प्रति अर्वाचीन विचारक पर्याप्त सजग दिखाई देते हैं । उनके द्वारा दी गई परिभाषाए इस बात की द्योतक है । डेविड ईस्टन (David Easton) के मतानुसार "राजनैतिक व्यवस्था प्रक्रियाओं एवं संस्थाओं की जटिलता है जो कि समाज मे मूल्यों का सत्तापूर्ण निर्धारण करती है ।" यहा सत्तापूर्ण (Authoritative) शब्द का प्रयोग राजनैतिक व्यवस्था को अन्य व्यवस्थाओं से भिन्न बना देता है । मि. ईस्टन ने राजनैतिक व्यवस्था को अन्तर्सम्बन्धों के रूप में देखा है जिसके द्वारा लोग यह निर्णय करते हैं कि किन प्रतिद्वन्दी लक्ष्यों एवं महत्वाकांक्षाओं को लोकनीति का रूप दिया जाय तथा समाज में प्रभावी बनाया जाये । हेरल्ड लासवेल (Harold Lasswell) के मतानुसार राजनैतिक व्यवस्था मे भाग लेने वालो की शक्ति एवं प्रभाव की परीक्षा करनी चाहिए तथा यह देखना चाहिए कि वे व्यवस्था को प्रभावित करने की कितनी क्षमता रखते है तभी राजनैतिक व्यवस्था को समझा जा सकेगा । इन विचारको की परिभाषाओं मे सरकार की ओर सकेत नही किया गया है जबकि 'सरकार' राजनीति शास्त्र का एक मुख्य विषय है । यहा तक कि अमरीका के कुछ कॉलिजो एव विश्वविद्यालयो मे तो राजनीति शास्त्र विभाग अपने आपको सरकार के विभाग कहते है ।

सरकार एव राजनीति को पर्यायवाची न मानने के दो कारण है । इसका प्रथम कारण तो यह है कि कुछ राजनैतिक व्यवस्थाओं मे राजनैतिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए 'सरकार' नाम की विशेष सस्था नही होती । वहां विशेषीकरण के स्थान पर परिवार, कुटुम्ब एव रक्त सम्बन्धी समूहों द्वारा सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करने के अतिरिक्त राजनैतिक कार्य भी सम्पन्न किये जाते है । दूसरे, जहां सरकार ही राजनैतिक कार्य सम्पन्न करने वाली एकमात्र संस्था होती है वहा भी सरकार केवल कुछ ही कार्य सम्पन्न करती है तथा कुछ ही निर्णय लेती है । सरकार की सस्था के अतिरिक्त राजनैतिक दल, हित समूह, व्यक्तिगत-राजनैनिक व्यवहार, शिक्षित समुदाय, व्यक्तियो की राजनैतिक शक्तिया, जन सम्पर्क के साधन आदि भी विकसित हो जाते है । राजनैतिक शक्ति का प्रयोग अन्तिम रूप से उन सस्थाओं द्वारा किया जा सकता है जो कि गैर-सरकारी है, उदाहरण के लिए सोवियत सघ मे साम्यवादी दल । अमरीका में नगर परिषद् या स्कूल-बोर्ड अनेक निर्णयों को केवल स्वीकार मात्र करते है जबकि उनको नागरिक गण द्वारा भोज या स्वल्पाहार के समय की अनौपचारिक बैठकों में लिया जाता है ।

इस प्रकार राजनीति शास्त्र राजनैतिक व्यवस्था का तथा सरकार की संस्थाओं का अध्ययन करता है जिसके चारों ओर राजनैतिक व्यवस्था केन्द्रित रहती है। राजनैतिक व्यवस्था में जो भी महत्त्व निर्णय लिये जाते हैं तथा उनको लेने में जो प्रक्रियाएं एवं क्रियाएं सम्पन्न की जाती हैं, निर्णय लेने के लिए जो व्यक्ति चुने जाते हैं तथा चुने गये व्यक्तियों पर जो प्रभाव डाले जाते हैं उन सभी का अध्ययन राजनीति शास्त्र की रुचि का विषय है। व्यक्ति के राजनैतिक रुचि एवं उदासीनता से लेकर बड़ी राजनैतिक संस्थाओं के जटिल कार्य तक इसकी सीमा में आते हैं। इसके ध्यान का मुख्य केन्द्र राजनैतिक व्यवस्था में निर्णय लेने की प्रक्रिया तथा उनके ऊपर प्रभाव डालने वाले तत्व होते हैं। इन प्रक्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी व्यवहार राजनैतिक कहा जायेगा।

आमन्ड के राजनैतिक व्यवस्था (Political System) एक ऐसी प्रक्रिया होती है जिसमें ऐसे अनेक लोग भाग लेते हैं जिनके राजनैतिक लक्ष्यों एवं मूल्यों की कोई अधिक शक्ति नहीं होती किन्तु वे दूसरे लोगों के साथ मिल कर अपनी कुल शक्ति को इतना बड़ा लेते हैं कि सरकारी नीति को गहन रूप से प्रभावित कर सकते हैं। सरकारी नीति निर्धारित करने वालों पर उनके मित्रों एवं सहयोगियों का, महत्वपूर्ण राजनैतिक दलों का, हित समूहों का, शक्तिशाली व्यक्तियों एवं विद्वान समुदाय का, चापी निर्वाचकों का, सरकार की अन्य शाखाओं का अभिकरणों का, मत-निर्माताओं का तथा स्वयं के राजनैतिक मूल्यों एवं निर्णयों का प्रभाव पड़ता है। राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी को इन सबका अध्ययन करना होता है।

राजनीति शास्त्र से सम्बन्धित क्रियाएं पड़ोसी सामाजिक विज्ञानों से घिरी रहती हैं। वास्तविक दुनिया की सामाजिक प्रक्रियाओं एवं संस्थाओं को विद्या की निश्चित सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। किसी भी मान्यता द्वारा राजनीति शास्त्र के स्वरूप को निश्चित ढंग से परिभाषित नहीं किया जा सकता। राजनीति शास्त्र का अन्य समाज विज्ञानों से घनिष्ठ तथा निकट का सम्बन्ध है। राजनीति शास्त्री एवं समाज शास्त्री दोनों राजनैतिक समाजीकरण की प्रक्रिया में रुचि लेते हैं ताकि युवक-वर्ग के लोग अपने परिवारों, मित्रों, अध्यापकों आदि से राजनैतिक विश्व के सम्बन्ध में दृष्टिकोण प्राप्त कर सकें। मनुष्य शरीर रचना शास्त्र (Anthropology) और राजनीति शास्त्र दोनों ही प्रारम्भिक समाजों एवं विकासशील क्षेत्रों की राजनैतिक व्यवस्थाओं में रुचि लेते हैं। राजनीति-शास्त्री इतिहासज्ञ की भांति अतीत की घटनाओं में रुचि लेते हैं। राजनैतिक भूगोल-शास्त्रियों की भांति वे राष्ट्रीय शक्ति आधार में रुचि लेते हैं। वास्तविकता तो यह है कि राजनीति शास्त्री अपनी विषय वस्तु के बारे में एकमत नहीं हैं।

राजनीति शास्त्र की प्रकृति और उसका क्षेत्र
(Nature and Scope of Political Science)

अब जो विवेचन हम कर चुके है उससे राजनीति शास्त्र की प्रकृति व क्षेत्र पर कुछ प्रकाश पड चुका है। पर विषय की सुस्पष्टता के लिये इस सम्बन्ध मे अधिक विवेचन की आवश्यकता है।

राजनीति शास्त्र की प्रकृति का निर्धारण एक विवादपूर्ण विषय है। समय-समय पर इसके रूप में जो परिवर्तन होते रहे, उन्होंने भी इस समस्या के समाधान को कठिन बना दिया। राजनीति शास्त्र के सम्बन्ध में जो विचार किया जाता था, तर्क दिये जाते थे और वाद-विवाद किया जाता था, उस सब मे राजनीति शास्त्र की प्रकृति झलकती थी। राजनीति शास्त्र एक ऐसा खेल था जो कि महान् खिलाड़ियों द्वारा खेला जाता था। किसी प्रश्न के लिए राजनैतिक तर्क एक प्रकार से सुरक्षा के साधन होते थे और इसलिए इनके द्वारा समाज के भाग्य का निर्धारण किया जाता था। यह सच है कि आज तक जो भी राजनैतिक तर्क प्रदान किये गये, उनमें से अनेक केवल असमर्थित लोकमत थे। उनकी गहराई अधिक नही थी। वे आधे सत्य थे, तथा किसी के प्रति लगाये गये आरोप-प्रत्यारोप एव केवल कल्पना मात्र थे। राजनीति शास्त्र के सम्बन्ध में जो हजारो विचार-विमर्श हुए, उन्होने लोकमत का वातावरण तैयार किया। राजनीति शास्त्र के सम्बन्ध मे लोगों द्वारा जो विचार किया जाता था वह उनके सामान्य मानवीय गुण और उनकी राजनैतिक चेतना का प्रतीक था। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में विचार-विमर्श करना एक महत्वपूर्ण मूल्य माना जाता है। विचार-विमर्श के स्तर को यथासम्भव ऊंचा रखा जाता है।

राजनीति शास्त्र को परिभाषित करते हुए इसे राजनैतिक सम्बन्धो का एक रूप बताया जाता है किन्तु राजनैतिक सम्बन्ध क्या होते है, यह एक मुख्य प्रश्न है जिस पर प्रकाश डालने के लिए उसकी प्रकृति पर प्रकाश डालना अनिवार्य है। राजनैतिक सम्बन्ध अन्य प्रकारो के सम्बन्धो से भिन्न होते है। अरस्तु ने अपनी राजनीति में बताया कि सभी प्रकार की सत्ता (Authority) एक जैसी नही होती। वह एक राजनैतिक सस्था मे राजनैतिक नेता की प्रकृति व अन्य प्रकार की सत्ताओ से भिन्न होती है। एक दास के प्रति स्वामी की, एक पत्नि के प्रति उसके पति की और बालको के प्रति उनके माता-पिता की सत्ता और राज्य की सत्ता के बीच पर्याप्त अन्तर रहता है। अरस्तु ने राजनैतिक संस्था का एक पहलू सत्ता या नियम के अस्तित्व को माना है। अरस्तु ने राज्य या राजनैतिक संस्था को एक सम्प्रभु संस्था कहा है और इसके संविधान मे राज्य के संगठन का वर्णन किया है। अरस्तु द्वारा किये

गये संविधानों के वर्गीकरण का आधार नागरिकों के निकाय का वह भाग है जिसमें कि अन्तिम सत्ता निहित रहती है। इस प्रकार अरस्तु के समय से ही सामान्यतः यह सोचा जा रहा है कि राजनैतिक सम्बन्धों में किसी न किसी प्रकार से सत्ता, नियम, शक्ति कायम रहती है। उदाहरण के लिए मैक्सवेबर को लिया जा सकता है जिनकी मान्यता के अनुसार एक संस्था को राजनैतिक केवल तभी कहा जाएगा जबकि उस संस्था की आज्ञाओं को एक निश्चित प्रदेश में लागू करने के लिए लगातार भौतिक शक्ति की या तो धमकी दी जाएगी अथवा वास्तव में प्रयोग किया जाएगा। इस प्रकार यद्यपि मैक्सवेबर ने प्रादेशिक पहलू पर पर्याप्त जोर दिया है किन्तु अरस्तु की भांति वह भी सत्ता या कानून के सम्बन्ध को राजनैतिक संस्था का मुख्य आधार मानते है। हैरल्ड लासवेल ने राजनीति शास्त्र को परिभाषित करते हुए उसे एक अनुभववादी विद्या कहा है। यह सत्य की रचना और शक्ति के बंटवारे का अध्ययन है। राजनैतिक कार्य उसको कहा जा सकता है जो कि शक्ति से सम्बन्ध रखता हो। अरस्तु, वेबर और लासवेल अलग-अलग युगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये तीनों तथा सम्भवतः सभी राजनीति-शास्त्री इस बात पर सहमत है कि राजनैतिक शास्त्र के सम्बन्ध शक्ति, नियम या सत्तापूर्ण होते है। लासवेल का राजनीति शास्त्र का क्रियाओं की मान्यताओं सम्बन्धित विचार कुछ अधिक व्यापक है। इन्होंने इसमें व्यापारिक संस्थान, मजदूर संगठन आदि को भी सम्मिलित कर लिया है। इस प्रकार उनके द्वारा प्रस्तुत राजनीति शास्त्र की परिभाषा पर्याप्त व्यापक हो गई है। रावर्ट डहाल के शब्दों में "राजनैतिक व्यवस्था, मानवीय सम्बन्धों का ऐसा कोई भी रूप है जिसमें कुछ मात्रा तक शक्ति, नियम और सत्ता रहते है।"[1]

राजनीति शास्त्र के इस अर्थ से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे अनेक संस्थायें, जिन्हे हम राजनैतिक नही कहते, भी राजनैतिक प्रक्रिया को काम मे लेती है। उदाहरण के लिए व्यक्तिगत क्लव, व्यापारिक सस्थायें, मजदूर संगठन, धार्मिक संगठन, नागरिक समूह, आदिकालीन कबीले और यहां तक कि परिवार। इस दृष्टिकोण के अनुसार हम प्रायः प्रत्येक संस्था को एक राजनैतिक संस्था मान सकते है। ऐसा करने का पहला कारण तो यह है कि इन सस्थाओं की अपनी सरकार होती है। इस प्रकार की सरकार तानाशाही, प्रजातन्त्रात्मक, प्रतिनिधित्व पूर्ण, सत्ता पूर्ण आदि विशेषणों से सम्बन्धित की जा सकती है। हम प्रायः यह भी सुनते है कि इन संस्थाओं में राजनीति चलती रहती है। दूसरे, राजनैतिक व्यवस्था एक संस्था का पहलू मात्र होता है।

1. Robert A. Dahl : Modern Political Analysis,

जब यह कहते हैं कि एक व्यक्ति डाक्टर है या वकील है या अध्यापक है या किसान आदि कुछ है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह व्यक्ति केवल डाक्टर, वकील, अध्यापक और किसान ही है। उसके जीवन के अन्य पहलू भी होते है और उनको वह पर्याप्त महत्वपूर्ण मानता है। सम्भवतः कोई भी मानवीय सस्था अपने प्रत्येक रूप मे केवल राजनैतिक नही होती। लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध शक्ति और सत्ता से परे प्रेम, आदर्श, स्वामीभक्ति, विश्वास आदि भावो से भी प्रभावित रहता है। तीसरे, राजनैतिक प्रक्रिया की परिभाषा मे मानवीय प्रेरको के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा गया है किन्तु इसका अर्थ यह नही होता कि प्रत्येक राजनैतिक व्यवस्था मे लोग दूसरों पर शासन करना चाहते है, सत्ता चाहते हैं, शक्ति के लिए सघर्ष करते है अथवा ऐसी ही अन्य बातें। असल मे सत्ता का सम्बन्ध उन लोगो के बीच भी रह सकता है जो कि सत्ता का प्रयोग करने की कोई इच्छा नही करते अथवा जिनके पास सत्ता है, वे भी उसे अधिक महत्व नही देते।

राजनीति शास्त्र की प्रकृति के अध्ययन मे उसके आर्थिक पहलू पर दृष्टिपात करना भी उपयोगी रहेगा। राजनैतिक विश्लेपण का सम्बन्ध शक्ति, नियम या सत्ता से है जबकि अर्थ शास्त्र का सम्बन्ध उत्पादन एवं वितरण से है। राजनीति शास्त्र मानवीय सस्थाओ के विभिन्न प्रकारों का एक पहलू है जबकि अर्थ शास्त्र एक दूसरा पहलू है। ऐसी स्थिति मे यह हो सकता है कि एक अर्थ-शास्त्री और राजनीति-शास्त्री एक जैसी समस्याओ पर विचार करे किन्तु उनके विचार का दृष्टिकोण और लक्ष्य अलग-अलग होगा। अर्थ शास्त्र और राजनीति शास्त्र के विषय क्षेत्र मे कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही खींची जा सकती। प्रजातन्त्र, तानाशाही, पूंजीवाद और समाजवाद आदि इन शब्दो को राजनीति शास्त्र तथा अर्थ शास्त्र दोनों ही विद्याओ मे समान रूप से प्रयुक्त किया जाता है।

राजनैतिक व्यवस्था (Political System) को व्यवस्था कहने के पीछे एक अर्थ है। जब कुछ वास्तविक लक्ष्य मिल कर एक दूसरे के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते है तो उनको एक व्यवस्था कह दिया जाता है। व्यवस्था शब्द का प्रयोग करते समय कुछ बातो का ध्यान रखना जरूरी होता है। किसी चीज को व्यवस्था कहने का अर्थ मूर्त चीजो को एक अमूर्त रूप मे देखना होता है। ऐसी स्थिति मे अमूर्त चीजो एव विश्लेषणात्मक चीजो के बीच भ्रम पैदा नहो करना चाहिए। एक व्यवस्था उन चीजों का पहलू मात्र है जिनको विश्लेपण के उद्देश्य से वास्तविकता से अमूर्त बना दिया है। इस सम्बन्ध मे दूसरी बात यह है कि प्रत्येक व्यवस्था को सीमायें निर्धारित करनी होती है ताकि यह निर्धारित किया जा सके कि क्या चीज उस व्यवस्था के

अन्तर्गत आती है और क्या चीज उसके बाहर रह जाती है। कभी-कभी यह कार्य अत्यन्त सरल होता है और कई बार इसमें जटिलतायें उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए राजनैतिक दलों के बीच सीमायें निर्धारित नहीं की जा सकती। तीसरे, एक व्यवस्था किसी अन्य व्यवस्था का पहलू अथवा उसकी उपव्यवस्था भी हो सकती है। उदाहरण के लिए पृथ्वी को सौर मण्डल की उपव्यवस्या माना जा सकता है। एक उपव्यवस्था के भी आगे उपव्यवस्थाएं हो सकती हैं। चौथे, प्रत्येक उपव्यवस्था का सम्बन्ध अनेक व्यवस्थाओं से हो सकता है। वे उन सभी का एक स्वाभाविक भाग हो सकते है।

व्यवस्थाओं के अर्थ से सम्बन्धित उक्त बातों को देखने के बाद सामाजिक व्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था के मध्य स्थित अन्तर पर विचार करना उपयुक्त रहेगा। यह कार्य अत्यन्त कठिन है क्योंकि समाजशास्त्रियों ने भी समाज और सामाजिक व्यवस्था शब्दों का प्रयोग बड़े व्यापक और अस्थिर अर्थ मे किया है। सामान्य रूप से समाज का एक व्यापक अर्थ है और राजनैतिक तथा आर्थिक सम्बन्धों को सामाजिक सम्बन्धों का ही एक भाग माना जा सकता है। टालकोट पारसन्स ने सामाजिक व्यवस्था को परिभाषित करते हुए यह बताया कि इसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति एक दूसरे के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते है। कार्य करते समय लोग इस बात का ध्यान रखते हैं कि दूसरो के द्वारा क्या कार्य किया जा सकता है। कभी-कभी व्यवस्था के अन्तर्गत सभी लोग सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक साथ मिल कर कार्य करते है। कुल मिला कर सामाजिक व्यवस्था एक अत्यन्त व्यापक व्यवस्था होती है। राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं को सामाजिक व्यवस्था का एक भाग माना जा सकता है। जब प्रजातन्त्रात्मक समाज (Democratic Society) शब्द का प्रयोग किया जाता है तो इसमें न केवल प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक व्यवस्थाओं को सम्मिलित किया जाता है; वरन् अनेक उपव्यवस्थाएं भी शामिल की जाती है। इसी प्रकार एक सत्तावादी समाज में भी अनेक उपव्यवस्थाओं को मिलाया जा सकता है; उदाहरण के लिए परिवार, मन्दिर और स्कूल आदि।

जब कभी राजनैतिक व्यवस्था जटिल और स्थाई होती है तो अनेक राजनैतिक कार्यों का जन्म होता है। सम्भवत: सर्वाधिक स्पष्ट कार्य उन लोगों द्वारा किया जाता है जो कि राजनैतिक व्यवस्था पर लागू होने वाले नियमो को बनाते है, व्याख्या करते है और उन्हें लागू करते है। वे विभिन्न कार्यकर्ता अधिकारी कहलाते है और एक राजनैतिक व्यवस्था के सभी अधिकारियो का योग उस व्यवस्था की सरकार कहलाता है। अधिकांश संस्थाओं मे सरकार होती है किन्तु राजनैतिक संस्था की सरकार का अपना अर्थ और स्थान है, इसके कई कारण है। प्रथम तो यह कि राज्य की सरकार अन्य सरकारों से

अधिक उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास करती है। कुछ लोग इस कथन पर विश्वास नही करते। उनका विचार है कि उच्च क्या है और क्या नही है इसका निश्चय आसानी से नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि उच्चतर उद्देश्यों के लिये कोई मापदण्ड निर्धारित भी किया जाय तो यह कैसे निर्धारित किया जायेगा कि अमुक सरकार जिन उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास कर रही है वे उच्च हैं। कल्याणकारी राज्य की मान्यताओं में विश्वास करने वाले लोग, सरकार को एक अच्छी संस्था मानते हैं जबकि अराजकतावादी उसे हीनता की दृष्टि से देखते है। राज्य की सरकार और अन्य सरकारों के बीच एक अन्तर यह भी है कि राज्य की सरकार मे वे सभी गुण और साधन स्रोत होते है जो कि अच्छे जीवन के लिए आवश्यक है। यह अन्तर भी अधिक उपयुक्त नही है, क्योंकि कोई सरकार ऐसी नही होती जिसमे ये विशेषताएं प्राप्त हो। ऐथन्स सास्कृतिक, आर्थिक और सैनिक रूप से आत्मनिर्भर नही था। बिना मित्रों की सहायता से वह अपने नागरिकों की स्वतन्त्रता और सुरक्षा का भी प्रबन्ध नही कर सकता था। जो बात यूनान के नगर राज्यों के बारे मे सत्य थी वह बात आज भी उतनी ही सत्य है। प्रत्येक सरकार का अपना एक अधिकार क्षेत्र होता है और इस क्षेत्र मे अपने नियमो को लागू करने के लिए वह भौतिक शक्ति का न्यायोचित रूप से प्रयोग करता है।

अर्वाचीन राजनीति शास्त्र की विशेषताएं
(The Characteristics of Contemporary Political Science)

अध्ययन के एक क्षेत्र के रूप मे राजनीति शास्त्र की कुछ अपनी विशेषताएं है। ये विशेषताएं राजनीति शास्त्र की विषय वस्तु, उद्देश्य, अध्ययन-प्रणाली आदि विभिन्न तत्वों से सम्बन्ध रखती है। अपने इतिहास के प्रारम्भ से ही राजनैतिक शास्त्र का स्वरूप पर्याप्त बदलता रहा है। आज उसका जो स्वरूप देखने को आता है वह उसके अतीत से पर्याप्त भिन्न है। राजनीति शास्त्र के पुरातन और अर्वाचीन रूपों मे परिवर्तन के साथ निरन्तरता भी है, किन्तु निरन्तरता की मात्रा अपेक्षाकृत कम है। यद्यपि राजनीति शास्त्र का मुख्य विषय प्रारम्भ से ही राज्य तथा उससे सम्बन्धित समस्याएं रहा है किन्तु फिर भी समय के अनुसार उसके स्वरूप मे परिवर्तन होते रहे। पहले राज्य के औपचारिक सगठन पर अधिक जोर दिया जाता था, किन्तु आज इसके विपरीत व्यक्ति के राजनैतिक व्यवहार और उस पर पड़ने वाले प्रभावों को अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। राजनीति शास्त्र के अर्वाचीन रूप मे जो विशेषताएं प्राप्त होती हैं उनमे से कुछ को निम्न प्रकार वर्णित किया जा सकता है।

वैज्ञानिक स्वरूप

(The Scientific Nature)

वर्तमान युग विज्ञान का युग कहलाता है। विज्ञान ने मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को जिस गहराई के साथ प्रभावित किया है उससे राजनीति शास्त्र अछूता नहीं रहा है। वैज्ञानिक खोज और यान्त्रिक आविष्कारों ने सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए सामाजिक आविष्कारों के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया की है। तकनीकी विकास मे अन्य संस्थाओं के माध्यम से कार्य करते हुए सरकार के रूप में परिवर्तन किये गये हैं। विज्ञान के विकास के कारण सामाजिक जीवन में जिस गति से परिवर्तन आते हैं उन्हें आसानी से नही पहचाना जा सकता। उनकी पहले से कल्पना भी नही की जा सकती। प्राचीन काल में सामाजिक परिवर्तन की गति इतनी नही थी। आज विज्ञान और तकनीकी ने अनेक राजनैतिक संस्थाओं, विश्वासों और व्यवहारों को कल की कहानी बना दिया है। बारूद के आविष्कार ने सामूहिकवाद को समाप्त कर दिया। बीज बोने से सम्बन्धित नवीन आविष्कारों ने शिकारियों की संस्कृति को समाप्त कर उसके स्थान पर एक नये सामाजिक जीवन की रचना की। इसके अतिरिक्त स्वचालित यंत्रों ने समाज को राजधानी प्रदेशों मे परिवर्तित कर दिया। इसी प्रकार के अन्य छोटे-मोटे आविष्कारों ने भी सामाजिक स्वरूप मे अनेक परिवर्तन कर दिए। औद्योगीकरण ने समाज को बेरोजगारी, अशिक्षा, निम्न जीवन स्तर, बीमारी आदि विभिन्न समस्याएँ दी। इनके फलस्वरूप सामाजिक संस्थाओं एवं जनसंख्या पर जो व्यापक प्रभाव पड़ा वह आशा के परे था। इन सबके परिणामस्वरूप राज्य एवं राजनीतिक स्थितियों मे परिवर्तन होना स्वाभाविक था।

तकनीकी विकास ने सरकार के रूप-परिवर्तन में जो योगदान किया उसके अतिरिक्त सामाजिक क्षेत्र में भी अनेक नवीनताओं ने जन्म लिया। उदाहरण के लिए अनुपातिक प्रतिनिधित्व, सामाजिक बीमा, अन्तर्राष्ट्रीय संस्था आदि-आदि। सामाजिक संस्थाओं तथा तकनीकी विकासों के बीच एक गहरा सम्बन्ध था। समाज में एक ओर सामाजिक संस्थाओं एवं रीति रिवाजों और दूसरी ओर तकनीकी एवं विज्ञान के बीच पर्याप्त क्रिया–प्रतिक्रिया होती है। सम्पूर्ण जन समुदाय क्रियाशील बन जाता है। ऐसी स्थिति में यह खोज करना कि किस कार्य का कौनसा कारण है अनुपयुक्त मालूम होता है। तकनीकी विकास के कारण एक राज्य का आर्थिक संगठन बदल जाता है। वहा की पारिवारिक एवं सरकारी संस्थाएँ बदल जाती हैं और इस प्रकार लोगों का सामाजिक दर्शन भी बदल जाता है। मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास की आर्थिक व्याख्या असल में इतिहास की तकनीकी व्याख्या है। यदि हम विशेष संस्थाओं

के प्रसंग में देखें तो हम पायेंगे कि तकनीकी द्वारा अन्य संस्थाओं से सरकार के रूप में परिवर्तन करती है। यह सच है कि सरकार के रूप में परिवर्तन तकनीकी परिवर्तन के बाद आते है। इन दोनों के बीच में कितना अन्तर रहता है इस बात की जानकारी प्राप्त करना अध्ययन की दृष्टि से बहुत. अधिक महत्वपूर्ण है। विलियम ऑगबर्न (William E. Ogburn) ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए बताया है कि अमेरिकी काउन्टी सरकार के इतिहास को देखें तो पाएंगे वहां सरकार में परिवर्तन धीरे-धीरे हुए। सामाजिक रूप मे परिवर्तन के प्रति लोगों मे विरोध की भावना होती है और इसलिए सामाजिक विचारको ने इसे सांस्कृतिक अवरोध का नाम दिया है। कोई भी सरकारी रूप तब तक कायम रहता है जब तक कि वह अपने समस्त कार्यों को भुला न दे और पूरी तरह से नये कार्य न अपना ले।

तकनीकी विकासो ने न केवल स्थानीय सरकार के रूप में परिवर्तन किये बल्कि उनके अतिरिक्त व्यवस्थापिका सभाओ के प्रतिनिधियो को चुनने में भी परिवर्तन किये गये। पहले भौगोलिक प्रतिनिधित्व पर जोर दिया जाता था किन्तु बाद में इसे अपर्याप्त माना गया। परिस्थितियो के अनुसार राजनैतिक संस्थाओं एव प्रक्रियाओं में जो परिवर्तन होते है वे यदि तकनीकी एवं वैज्ञानिक विकास की गति के अनुरूप नहीं हुए तो निश्चय ही उसका मूल्य अधिक चुकाना पड़गा, अकार्यकुशलता बढ़ जायेगी और समायोजन गलत हो जायेगा। तकनीकी आविष्कारों द्वारा समाज को न केवल भौगोलिक वरन् अन्य आधारों पर भी विभाजित किया जाता है। मजदूरों, किसानों, व्यवसाइयों, बैंक वालो आदि के विभिन्न हित समूह बन जाते हैं। इनके होते हुए केवल भौगोलिक प्रतिनिधित्व अपर्याप्त रहता है। अतः व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली आवश्यक बन जाती है। अनेक दबाव समूह बन जाते हैं जो कि व्यवस्थापन की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। आर्थिक व्यवस्था मे परिवर्तन के कारण जनसंख्या के रूप मे भी गहरे परिवर्तन हो जाते हैं। राज्य की जनसंख्या की मात्रा के आधार पर वहां की राजनीतिक सस्थायें भी बदलती रहती हैं।

परिवार की संस्था मे आने वाले परिवर्तनों ने भी राज्य के रूप को बदलने में बहुत कुछ किया। सरकार को पारिवारिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का अधिक से अधिक नियमन करना होता है। तकनीकी विकास के द्वारा परिवार को अनेक उत्तरदायित्वों से स्वतन्त्र कर दिया जाता है। बालकों की देखभाल, स्त्रियों की रक्षा, जनसाधारण का स्वास्थ्य आदि राज्य के उत्तरदायित्व बन जाते हैं। तकनीकी विकासों के कारण सामाजिक जीवन के विभिन्न रूपों को राज्य के आधीन कर लिया जाता है। राज्य के ये कार्य व्यक्तिवादी विचारधारा के लोगों को उपयुक्त नहीं लगते।

तकनीकी परिवर्तनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी एक मोड़ आया। रेडियो, यातायात एवं संचार के साधन तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन दिया तथा विश्व के विभिन्न राज्यों को एक दूसरे के निकट बनाया। वर्तमान समय में सरकार की अनेक संस्थाएं ऐसी बन गई हैं जिनका मुख्य उत्तरदायित्व नये तकनीकी परिवर्तन करना है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि कभी-कभी सरकारी संगठन तकनीकी परिवर्तनों से पहले आ जाते है। तकनीकी परिवर्तनों को अपनाने में सरकार द्वारा कभी-कभी अत्यन्त शीघ्रता की जाती है और कभी-कभी वे पर्याप्त देरी कर देते हैं। उदाहरण के लिये यदि वायुयान को लिया जाए तो हम पायेंगे कि सरकार द्वारा इसे अपनाने में पर्याप्त शीघ्रता की गयी। परिवर्तन का विरोध करने वाली प्रमुख सरकारी क्रिया न्याय से सम्बन्धित होती है। न्यायालय जब एक विशेष कानून की व्याख्या करते है तो वे परम्पराओं के आधार पर कार्य करते हैं। ऑगबर्न के कथनानुसार कानून और तकनीकी एक दूसरे के विरोधी हैं। यही कारण है कि न्यायालय को परम्पराओं की ओर लौटना पड़ता है।[1] न्यायाधीशों को इस बात की शपथ लेनी होती है कि वे कानूनों को निर्धारित करेंगे चाहे तकनीकी परिवर्तन क्यों न कितने भी हो जाएं। एक मशीन भी अपनी प्रकृति के अनुसार कानून की व्यवस्था से प्रेम करता है और उसे बदलना नहीं चाहता। व्यवस्थापिकाएं भी कानून-रचना के कार्य को परिवर्तनों की गति के साथ नहीं मिला सकती। व्यवस्थापिकाओं की सदस्यता इतनी अधिक होती है तथा उनकी प्रक्रिया की परम्पराएं इतनी व्यवस्थित होती हैं कि वे तकनीकी द्वारा किये गये प्रत्येक परिवर्तन के अनुकूल कानून नहीं बना सकती हैं। यद्यपि यह सच है कि परिस्थितियों के साथ-साथ संविधान में संशोधन होते रहते हैं, नयी प्रशासकीय संस्थाएं बनती रहती हैं और व्यवस्थापिका के कार्य में परिवर्तन आते रहते हैं फिर भी इन सब परिवर्तनों में जो देरी होती है वह अनेक समस्याओं को उत्पन्न कर जाती है।

विज्ञान और प्रजातन्त्र
(Science and Democracy)

स्पष्ट हो जाता है कि तानाशाही सरकार वैज्ञानिक ज्ञान एवं मस्तिष्क का दुरुपयोग करके विध्वंस को जन्म दे सकती है। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व प्रजातन्त्रात्मक सरकारों द्वारा भी विज्ञान को उसका उपयुक्त स्थान नहीं दिया जा सका। वर्तमान समय में सरकार के अधिकांश क्षेत्र तकनीकी होते जा रहे हैं। लोक प्रशासन के दिन-प्रतिदिन के कार्यों में भौतिक शास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवाणुशास्त्र, उच्च गणित आदि का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। आज विज्ञान और राजनीति इतने अधिक सम्बद्ध हो गये हैं कि सरकार की छोटी से छोटी समस्या को भी गैर-बुद्धि का उपयोग करके सुलझाया नहीं जा सकता। विभिन्न राजनैतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए तकनीकी योग्यता परम आवश्यक है। तकनीकी विकास ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण को आवश्यक एवं उपयुक्त बना दिया है। आज एक व्यक्ति चाहे वह कितना भी योग्य क्यों न हो तकनीकी ज्ञान के समस्त क्षेत्रों पर अधिकार नहीं कर सकता और इसलिए उसे अपनी सत्ता के लिए अन्य लोगों का सहयोग भी प्राप्त करना होता है। आज की स्थिति में सरकार पर चाहे किसी भी राजनैतिक दल का अधिकार हो वह विज्ञान से प्रभावित रहती है। तानाशाही और प्रजातन्त्र दोनों विज्ञान के सामने समान रूप से झुकते हैं।[1]

विज्ञान राजनैतिक व्यवहार को उसके प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावित करता है। विज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र में अपव्यय को रोका जा सकता है। आज प्रशासन एवं विकास से सम्बन्धित प्रत्येक व्यवस्था विज्ञान से सम्बन्धित होती है। आज के वैज्ञानिक ज्ञान का विकास करने के अतिरिक्त भी कुछ कार्य करते हैं। विज्ञान के सहयोग के बिना आज न तो कुशल प्रशासन संभव है और न ही भली भांति सूचित कूटनीतिज्ञता ही। वैज्ञानिक कार्यकर्त्ताओं को नीति निर्माण के कार्य में भी उपयुक्त स्थान मिलता है। आज सामाजिक एवं प्राकृतिक दोनों ही विज्ञानों के विशेषज्ञों को कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करना है। यदि व्यावसायिक विशेषज्ञों को केवल अधीनस्थ परामर्श-दाताओं का स्तर प्रदान किया गया तो अपर्याप्त होगा। उन्हें केवल परामर्शदाता का कार्य नहीं सौंपा जा सकता।

विज्ञान को प्रजातन्त्र में सरकार के साथ कार्य करने के लिए विशेष रूप से समायोजित किया जाता है। प्रजातन्त्र एक प्रकार से वैज्ञानिक रूप में सरकार की प्रायोगिक विधि है जब कि तानाशाही व्यवस्था सरकार का एक कठोर रूप होती है। प्रजातन्त्र में परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुसार

1. T. Swann Hardings, Science and Democratic Goverment, Ibid, p 414.

परिवर्तन होते रहते हैं। प्रजातन्त्र समय-समय पर तथ्यों का अध्ययन करता है, उन्हें बुद्धिपूर्ण रूप से परीक्षित करता है और उनके आधार पर जो निष्कर्ष निकलते है उन्हें अपनाने का प्रयास करता है। इस प्रकार प्रजातंत्रात्मक सरकार अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली को अपनाते हुए आगे बढ़ती है। नीति निर्माण के कार्य में भी प्रजातंत्र के द्वारा विज्ञान का प्रयोग किया जाता है। अन्य लोगों पर शक्ति प्राप्त करने के लिए तथा मान्य मतों को क्रियान्वित करने के लिए विज्ञान का प्रयोग तानाशाही द्वारा किया जाता है। विज्ञान के द्वारा प्रजातंत्र को शक्ति प्रदान की जाती है और उसे व्यापकता दी जाती है किन्तु तानाशाही के लिए वह केवल स्वेच्छाचारिता सौंपता है। प्रजातंत्र के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक माना जाता है कि वैज्ञानिक विशेषज्ञों को उपयुक्त स्थान दिया जाए।

राजनीति शास्त्र की वैज्ञानिकता को जानने के लिए उस पर पड़ने वाले विज्ञान के प्रभाव का अध्ययन किया गया। वैसे इस सम्बन्ध में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि प्रत्येक नया तकनीकी प्रयोग सरकार के दायित्वों को बढ़ाता है। जब किसी वैज्ञानिक आविष्कार को क्रियान्वित किया जाता है तो इसके लिए राजनैतिक संस्थाओं, प्रक्रियाओं एवं व्यवहारों में कुछ समायोजन करना अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। वैज्ञानिक प्रणाली को अपनाने के कारण राजनीति शास्त्र की विषय वस्तु में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इस सम्बन्ध में मिस्टर स्नाइडर विलसन (Snyder Wilson) का कहना है कि "तकनीकी ने हमारी संस्थाओं, हमारे अर्थशास्त्र, हमारी राजनीति, हमारी नीतिशास्त्र तथा हमारे धर्म को परिवर्तित कर दिया है और इसने हमारी सामाजिक जीवन की समस्याओं को संयुक्त कर दिया है।"[1] तकनीकी एवं वैज्ञानिक विकास सरकारी नियंत्रण के क्षेत्र को बढा देता है, इसके साथ ही सरकार की नयी तकनीकी भी जन्म लेती है। रेडियो प्रसारण एवं टेलीफोन आदि का सरकार और राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। चुनाव के समय राजनीतिज्ञ अधिक से अधिक मतदाताओं को प्रभावित करने के लिए इनका उपयोग करते है। अपनी सार्वजनिक तस्वीर को सुधारने के लिए इनके द्वारा वैज्ञानिक साधनों का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाता है। तकनीकी विकास ने व्यक्ति के हाथों में पर्याप्त शक्ति सौंपी है। इस शक्ति का अधिक से अधिक प्रयोग करने के लिए राजनीति का स्वरूप इस प्रकार का ढालना होता है कि अधिक से अधिक लोग लाभान्वित हो सकें।

कई बार यह कहा जाता है कि विज्ञान ने राजनीति के भाग्य को खतरे में डाल दिया है। यह मत आंशिक सत्यता रखते हुए भी अधिक

1. Snyder Wilson, op cit., Page 397,

प्रभावशील नही कहा जा सकता। असल में विज्ञान अपने आप में न तो अच्छा है न बुरा है। यह ज्ञान प्रणाली और साधन का एक तरीका है जिसे सामाजिक दृष्टि से वांछनीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है अथवा व्यक्ति को नष्ट करने के लिए। इन दोनों विकल्पों में से किसे चुना जाता है यह अन्तिम रूप से एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्रश्न है। विज्ञान की चुनौती मौलिक रूप से सामाजिक प्रगति के नये अवसरों का परिणाम है। किर्टले मार्थर (Kirtley Marthar) के कथनानुसार विज्ञान और तकनीकी ने सामान्य स्वतन्त्रता के अच्छे जीवन की सभी भौतिक बाधाओं को समाप्त कर दिया है। आज प्रजातंत्रात्मक सामाजिक प्रगति को रोकने वाली कोई तकनीकी बाधा नही है।

अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली

(The Scientific Method of Study)

आज प्राय. सभी सामाजिक विज्ञानो मे अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग किया जाने लगा है। राजनीति शास्त्र ने भी अपने अध्ययन को दार्शनिक सामान्यीकरणों से वैज्ञानिक तर्क प्रणाली की ओर मोड दिया है। अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली का कई एक अर्थों मे प्रयोग किया जाता है। अपने विशेष अर्थ मे यह अध्ययन की एक निश्चित प्रणाली की ओर इशारा करती है। वैज्ञानिक प्रणाली के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कई बार अवैज्ञानिक प्रणाली का उल्लेख किया जाता है। वैज्ञानिक प्रणाली मे निश्चितता पाई जाती है। यह सुपरिभाषित होती है। वैज्ञानिक अध्ययन प्रणाली पर जिन सिद्धान्तों एवं विचारधाराओ को प्रतिपादित किया जाता है केवल वे ही वैज्ञानिक कहे जा सकते है। अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली के विभिन्न तत्व होते हैं जिन्हे वैज्ञानिक कार्य, वैज्ञानिक व्यवहार या वैज्ञानिक प्रक्रिया के सोपान कहा जा सकता है। ये है—पर्यवेक्षण (Observation), वर्णन (Description), माप (Measurement), स्वीकृति (Acceptance), आगमनात्मक सामान्यीकरण (Inductive generalisation), स्पष्टीकरण (Explanation), तार्किक निगमनात्मक तर्क प्रक्रिया (Logical Deductive Reasoning), जांच (Testing), शुद्धिकरण (Correcting), भविष्यवाणी (Predicting), अस्वीकृति (Non-Acceptances) आदि-आदि। ये समस्त वैज्ञानिक विधियां मिल कर राजनीति शास्त्र को अध्ययन प्रणाली को रंग देती हैं और उसके निष्कर्ष को निश्चितता प्रदान कर देती हैं। राजनीति शास्त्र को विज्ञान मानने के सम्बन्ध में कई बार यह शक किया जाता है कि क्या हम इसे उसी अर्थ मे विज्ञान कहे जिस अर्थ मे कि रसायन शास्त्र, गणित, भौतिक शास्त्र आदि को विज्ञान कहा जाता है। मि० एडमण्ड

बर्क (Edmund Burke) ने इस विषय पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है। बर्क के राजनैतिक तथ्यों की जटिलता एवं संयोगों पर विचार करते हुए यह बताया था कि "राजनीति शास्त्र की दिशाएं गणित जैसी नहीं हैं वे विस्तृत, गहरी एवं लम्बी हैं। इनमे अपवाद भी होते हैं, इनमें परिवर्तन भी कर सकते हैं। नागरिक या राजनैतिक वुद्धि के लिए कोई निश्चित मार्ग निर्धारित नहीं किया जा सकता, इनकी निश्चित परिभाषा भी नहीं की जा सकती।" बर्क के विचारों को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है, किन्तु फिर भी उसका यह कहना है कि राजनीति शास्त्र में भी अनेक विचार सही होते हैं फिर भी यह कोई नहीं कह सकता कि सही विचार कौन से हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विषय-वस्तु की दृष्टि से राजनीति शास्त्र अपने आपको वैज्ञानिक मानने का दावा नहीं कर सकता है। राजनीति शास्त्र की परिकल्पनाएं सच्चे वैज्ञानिक उद्देश्य से प्रायः कम ही प्रेरित होती हैं। राजनीति शास्त्र का प्रत्येक विचारक या लेखक अपने समय की घटनाओं के प्रभाव से लिखता है और ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि वह पक्षपातपूर्ण नहीं था या उसका कोई दुराग्रह नहीं था अथवा उसमे परिवर्तन के प्रति भय नहीं था। राजनैतिक घटनाओं का अध्ययन प्रायः जल्दबाजी के अनुमानों से और शक्ति की लालसा से प्रभावित होकर किया जाता है। इस कथन के उदाहरण स्वयं राजनीति शास्त्र का इतिहास देता है। थामस हॉब्स ने अपनी रचना इसलिए की क्योंकि वह दैवीय कारणों के अतिरिक्त कारणों से सरकार की पूर्ण सत्ता का समर्थन कर सके। इसी प्रकार जान लॉक ने सन् १६६० में जो अपना ग्रन्थ लिखा उसका उद्देश्य १६८८ की फ्रान्स की क्रान्ति का समर्थन करना था। राजनीति शास्त्र के अध्ययन पर परिस्थितियों के प्रभाव को देखने के लिए इस तथ्य को ध्यान में रखा जा सकता है कि विभिन्न राजनैतिक विचारकों ने समान शब्दावली का प्रयोग करते हुए स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, समानता, सम्प्रभुता, अधिकार और कानून आदि विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु ऐसा बहुत कम होता है कि इन शब्दों का वे एक जैसा अर्थ प्रकट करें। ऐसी स्थिति में यह एक गम्भीर समस्या बन जाती है कि राजनीति शास्त्र को वैज्ञानिक कैसे माना जाये।

अनेक विद्वानों का विचार है कि राजनीति शास्त्र व्यक्ति के विचारों, उसकी आदतों, परम्पराओं एवं संस्थाओं का अध्ययन करता है इसलिए उसमे वैज्ञानिक प्रणाली को प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत अन्य कुछ लोगों का कहना है कि चाहे राजनीति, गणित या रसायनशास्त्र जैसा कोई विज्ञान न हो किन्तु फिर भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे वैज्ञानिक निगमन नहीं किया जा सकता।

मानव समाज मे एक तत्व ऐसा होता है जो कि उसमें सदैव कायम रहता है और व्यावहारिक रूप से वह हमेशा एकसा होता है; यह तत्व स्वयं मानवीय प्रकृति है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि विज्ञान राजनीति के लिए अनुपयोगी नही है। इस सम्बन्ध मे जेम्स ब्राइस (James Bryce) का यह कथन उल्लेखनीय है कि "मानवीय प्रकृति की प्रवृतियां अध्ययन के ऐसे आधार है जो कि राजनीति शास्त्र को वह शब्द दे देते है जो कि उसके वैज्ञानिक होने के लिए जरूरी है।" राजनीति शास्त्र पर मानवीय प्रकृति इतनी अधिक महत्वपूर्ण रूप से छाई हुई रहती है कि इसके आधार पर कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते है। ये सामान्य निष्कर्ष वैज्ञानिक विशेपताओं से पर्याप्त सम्पन्न होते हैं।

इस सम्बन्ध मे यह जानना महत्वपूर्ण है कि मानवीय प्रकृति के कौन से ऐसे गुण है कि जिन पर राजनैतिक व्यवहार के नियमों को आधारित किया जा सके तथा जो सामान्य निष्कर्षों के आधार बन सकें। प्रत्येक मनुष्य में एक सामान्य प्रकृति होती है जिसके अनुसार वह दूसरों पर अधिकार रखता है। यह अधिकार शक्ति (Force) के माध्यम से रखा जा सकता है। शक्ति के विभिन्न रूप है जैसे मस्तिष्क की शक्ति, धन शक्ति, शारीरिक शक्ति आदि। इस प्रकार की विचारधारा, शक्ति की इच्छा को मानवीय प्रकृति की एक प्रमुख विशेपता कहा जा सकता है। यह शक्ति प्राप्त करने की इच्छा अन्तर्निहित गुण है जो कि मानवीय प्रकृति मे रहता है। ऐसा होने पर स्वाभाविक है कि मनुष्यों के बीच संघर्ष होगा, व्यक्तियों एवं व्यक्तियों के समूहों के बीच झगड़े होंगे। मनुष्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि शक्ति के लिए संघर्ष, राजनीति का एक मूल तत्व रहा है। हॉब्स ने तो प्रसन्नता की परिभाषा ही इस प्रकार की थी कि 'यह शक्ति प्राप्त करने की निरन्तर और अविरल इच्छा है जो कि केवल मृत्यु मे जाकर ही समाप्त होती है।' प्रत्येक व्यक्ति बचपन से लेकर मृत्यु तक अपनी मस्तिष्क की शक्ति को सोचने में लिए, जानने के लिए, और दूसरो को प्रभावित करने के लिए प्रयोग करता है। वह शारीरिक शक्ति का प्रयोग करता है ताकि कार्य करे, दूसरों को आकर्षित करे और दूसरो की शारीरिक शक्ति में अवरोध डाल सके। वह धन की शक्ति का प्रयोग करता है ताकि वह दूसरो की शक्ति पर नियंत्रण रख सके। शक्ति के इन विभिन्न रूपों मे से किस रूप का महत्व अधिक होता है इस सम्बन्ध में विचारक एक मत नही हैं। किसी ने सामाजिक शक्ति को अधिक महत्व दिया है जब कि कोई सैनिक शक्ति को अधिक मानते हैं। जे. एस. मिल ने लोकमत, विश्वास और सुभाव की शक्ति को अधिक प्रभावपूर्ण माना था। उनका कहना था कि विश्वास के साथ एक व्यक्ति एक ऐसी सामाजिक

शक्ति है जिसे उन ११ के बराबर माना जा सकता है जो केवल रुचि रखते हैं। शारीरिक या आर्थिक शक्ति को सामाजिक शक्ति नहीं कहा जा सकता। प्रायः सभी सभ्यताओं का इतिहास इस कथन को प्रमाणित करता है; उदाहरण के तौर पर भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन का जिक्र किया जा सकता है जिसमें कि महात्मा गांधी ने किसी प्रकार की सैनिक शक्ति का प्रयोग नहीं किया था वरन् जनता की सामूहिक इच्छा को उन्होंने अपने आन्दोलन का आधार बनाया। संयुक्त राज्य अमेरिका में नीग्रो लोगो की दासता न तो शारीरिक शक्ति से और न ही आर्थिक शक्ति से कम हुई, वरन् इसके पीछे एक सामूहिक जनमत था। अनेक विद्वान मि० मिल के इस विचार में पूर्णतः विश्वास नहीं करते। इनमें से कुछ का कहना है कि राज्य में केवल आर्थिक शक्ति ही मूल होती है। अलेक्जेंडर हेमिलटन (Alexander Hamilton) के कथनानुसार एक व्यक्ति के जेब पर अधिकार करने का अर्थ है उसके मस्तिष्क पर अधिकार करना। अनेक राजनीति शास्त्र के पण्डितों ने राजनीति शास्त्र पर अर्थ शास्त्र के महत्व को स्वीकार किया है। आर्थिक शक्ति के अतिरिक्त शारीरिक शक्ति, हिंसा अथवा सैनिक शक्ति के प्रयोग को मानवीय इतिहास में एक लम्बे समय तक राजनीति का मूल माना गया। कुछ विचारकों का तो यहां तक कहना है कि शक्ति के आधार पर ही नागरिक समाज का जन्म हुआ।

शक्ति के रूपों की प्रमुखता के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार होते हुए भी यह एक सामान्य मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों पर अधिकार रखना चाहता है और वह कुछ सीमा तक रखता भी है। वह सुरक्षापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए एवं अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए शक्ति को प्राप्त करना चाहता है। राजनीति शास्त्र में शक्ति प्राप्ति के उपायों को एक औपचारिक रूप दे दिया गया है। राजनीति शास्त्र के अध्ययन का विषय केवल राज्य ही नहीं है वरन् अन्य ऐसे समुदाय भी है जो कि शक्ति का प्रयोग करते है। इन समूहों का संगठन तथा कार्य प्रणाली राज्य के समरूप होती है। यह आवश्यक नहीं कि राज्य की सरकार द्वारा ही इन अराजनैतिक समूहों पर नियंत्रण रखा जाय। कुछ महत्वपूर्ण समूह तो ऐसे होते है जो राजनैतिक सरकार से अधिक सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहते और न ही वहां कोई अपना प्रतिनिधि भेजते है। ये समूह अपने मित्रों को पुरस्कृत करके शत्रुओं को दण्ड देकर राज्य की संस्थाओं पर नियंत्रण रखते है। इनके सत्ता और अधिकार पर्याप्त वास्तविक होते है।

शक्ति प्राप्ति की दृष्टि से किसी भी देश को सामान्यतः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में ऐसे लोग आते हैं जिन्होंने

कुछ समय के लिए शक्ति प्राप्त कर ली है। दूसरे भाग में हारे हुए लोग आते हैं जो कि अभी तक शक्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। तीसरा समूह उन लोगों का होता है जो कि उदासीन हैं और राजनीति में या तो सक्रिय भाग नहीं लेते अथवा बहुत कम भाग लेते हैं। राजनीति की कला इन उदासीन लोगों को भी प्रत्येक प्रकार से नियन्त्रित करने का प्रयास करती है। अध्ययन क्षेत्र के इन विभिन्न तथ्यों के आधार पर राजनीति शास्त्र के विचारकों ने इसे कला तथा विज्ञान सिद्ध करने का प्रयास किया है। ए० थामस मेसन (Alpheus Thomas Mason) के शब्दों में—"निष्कर्ष यह है कि राजनीति केवल एक अत्यन्त सीमित अर्थ में ही विज्ञान है।"[1]

राजनैतिक प्रक्रिया परिस्थितियों पर नियन्त्रण करने का कोई साधन नहीं होता किन्तु वैज्ञानिक निष्कर्षों पर पहुंचने के लिए इस प्रकार का नियंत्रण परमावश्यक है। यदि परिस्थितियां निश्चित भी कर दी जायें तो भी यह आशा नहीं की जा सकती कि मनुष्य अणुओं की तरह आशान्वित तरीके से व्यवहार करेंगे। ऐसी स्थिति में कोई विशेष भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, सिवाय इसके कि शक्ति का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। इस शक्ति के संघर्ष के सम्बन्ध में भी ब्राइस की भांति हम केवल यह कह सकते हैं कि यह अतीत से भिन्न होगा। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि "राजनीति शास्त्र एक विज्ञान की अपेक्षा कला है। यह एक ऐसी कला है जिसे कभी भी अभिलिखित नहीं किया गया और न ही पूरी तरह से स्पष्ट किया गया। जिन लोगों में राजनैतिक भाव नहीं होता वे इसे समझ भी नहीं सकते। एक मूर्त राजनैतिक स्थिति चाहे वह कितनी भी स्पष्ट दिखाई दे रही हो, किन्तु उस पर केवल बुद्धि से प्रचार नहीं किया जा सकता; इसे समझने के लिए एक कलात्मक प्रक्रिया अपनानी होगी। इनमें मूल प्रवृत्तियां एवं अनुभव पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होते हैं; बुद्धि यहां पर बहुत कम कार्य करती है अथवा बिल्कुल ही काम नहीं करती।"

पर्यवेक्षण—राजनीति शास्त्र की विषय वस्तु को जिस प्रणाली से ज्ञान की परिधि तक पहुंचाया जाता है वह सामान्यतः वैज्ञानिक प्रणाली कही जाती है। इस वैज्ञानिक प्रणाली में सर्वप्रथम तथ्यों का पर्यवेक्षण किया जाता है। यह कार्य अत्यन्त कठिन है क्योंकि ऐसा करते समय मस्तिष्क केवल प्राप्ति कर्त्ता साधन मात्र ही नहीं रहता वरन् यह विभिन्न प्रकार से सहयोग करता है।

---

1. "The conclusion is that Politics is only a very limited sense Science."—A. Thomas Mason, Politics: Art or Science? Ibid, Page 118.

पर्यवेक्षण के विषय और लक्ष्यों के बीच समायोजन किया जाता है। पर्यवेक्षण-कर्त्ता की मान्यतायें, पूर्व विचार एवं अनुभव, पर्यवेक्षण की गई वस्तु के रूप को निर्धारित करते है और कई वार उसे भ्रष्ट भी कर देते है। वैज्ञानिक प्रक्रिया में सबसे पहले सामान्य ज्ञान का प्रयोग किया जाता है। सामान्य ज्ञान के आधार पर जो पर्यवेक्षण किया जाता है वह बहुत कुछ सीमा तक सीमित होता है। इसकी निश्चितता कई बातो से तय होती है; उदाहरण के लिए जिन तथ्यों का पर्यवेक्षण किया जा रहा है वे अध्ययन की दृष्टि से कितने उपयुक्त हैं, उनको कितनी निष्पक्षता के साथ देखा गया है तथा ये पर्यवेक्षण वास्तविकता के कितने अनुरूप है। इन विभिन्न परिस्थितियो के न होने पर व्यावहारिक पर्यवेक्षण को भी चुनौती दी जा सकती है। वैज्ञानिक इसे निश्चित मान भी सकते है और नही भी। किसी तथ्य को सही मानने के लिए कौनसी परिस्थितिया होती है इस सम्बन्ध मे कोई पूर्ण नियम निर्धारित नही किया जा सकता।

पर्यवेक्षण करने के हमारे साधन मानव प्रकृति द्वारा सीमित रहते है। यह हो सकता है कि जो पर्यवेक्षण योग्य तथ्य है उनको पर्यवेक्षण का विषय ही न बनाया जाय। कई वार तो जो अनुमान लगाये जाते है वे भी मानवीय कमजोरियों एव व्यक्तिगत भावनाओ से इतने प्रभावित होते है कि वास्तविकता से बहुत दूर पड़ जाते हैं।

व्याख्या एवं प्रतिवेदन—जिन परिस्थितियो का पर्यवेक्षण किया जाता है उनकी पहले व्याख्या की जाती है और उसके बाद अध्ययन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया जाता है। व्याख्या के अतिरिक्त सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर ढूंढा जाता है अथवा तत्सम्बन्धी साक्षात्कार किये जाते है। पर्यवेक्षित की हुई परिस्थिति के सम्बन्ध मे पर्यवेक्षण कर्त्ता एक प्रतिवेदन तैयार करता है। यह प्रतिवेदन आगे के अध्ययन का एक मूल आधार होता है। इस प्रतिवेदन मे दिये गये शब्द के अर्थ को अन्य सम्बन्धित आंकड़ो के आधार पर देखा जाता है। राजनीति-शास्त्र मे किये गये पर्यवेक्षण विभिन्न समस्याओं के लिए निश्चित रूप से उत्तर नही दे पाते। पर्यवेक्षणकर्त्ता ने जो भी देखा, उससे पहले इस तत्व का प्रभाव अधिक होगा कि उसने क्या सोचा था। एक राजनीति शास्त्री द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रतिवेदन को अन्य राजनीति शास्त्री स्वीकार भी कर सकता है और अस्वीकार भी। कई वार शब्दो के कई एक अर्थ निकल आते है, हो सकता है कि लेखक ने शब्दो को जिस अर्थ मे प्रयुक्त किया है उन्हें उसी अर्थ में न समझा जाय।

स्वयं जो पर्यवेक्षण किया जाता है उसमें भी निश्चितता एव पर्याप्तता की अनेक समस्याएं उठती हैं। जिस तरह दूसरे के द्वारा प्रतिवेदित सामग्री को निश्चित कहना खतरे से पूर्ण है उसी प्रकार कई वार आंखो देखी और कानों

सुनी बातें भी पर्यवेक्षणकर्त्ता को धोखे में डाल देती हैं। यह हो सकता है कि एक बार अध्ययन करने पर पर्यवेक्षणकर्त्ता ने जो अनुभव किया, वह दूसरी बार पर्यवेक्षण करने पर झूंठा प्रतीत होने लगे। आजकल बहुत से लोगों का पर्यवेक्षण करने के लिए साक्षात्कार एवं नियोजित प्रश्नावलियों का प्रयोग किया जाता है ताकि तथ्यो अथवा मतों की जानकारी प्राप्त की जा सके। इस प्रक्रिया मे कई स्थानो पर गलती होने की संभावना रहती है। हो सकता है कि साक्षात्कार करने वाले की उपस्थिति में सूचना देने वाला व्यक्ति स्वयं का सही अध्ययन न कर सके अथवा वह जो सूचना प्रदान करे वह अपर्याप्त हो।

एक अच्छे साक्षात्कार के लिए साक्षात्कार करने वाले को सम्बन्धित व्यक्ति के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने होंगे। इसके अतिरिक्त दी गई सूचना का मूल्यांकन एवं ग्रहण साक्षात्कारकर्त्ता के व्यक्तिगत विचारो पर भी निर्भर करता है। प्रश्नावली की प्रक्रिया भी त्रुटियों से अछूती नहीं है चाहे कितना ही सोच-समझकर इसे तैयार किया जावे इसमें अनेक ऐसे छिद्रों की गुंजाइश रहती है जो कि अध्ययन को असत्य बना सकें।

माप एवं वर्गीकरण—पर्यवेक्षण की गई सामग्री की उपयुक्त व्याख्या करने के बाद माप और वर्गीकरण किया जाता है। पर्यवेक्षण मे प्राप्त विभिन्न तथ्यो का मूल्यो के मापदण्डो के आधार पर स्तरीकरण किया जाता है, उनकी उपयोगिता, निश्चितता, सत्यता आदि की जाच की जाती है। अध्ययन की सामग्री को वर्गीकृत करते समय उन्हे विभिन्न वर्गों मे सवार कर रखा जाता है और उन्हे व्यवस्थित रूप से प्रबन्धित किया जाता है ताकि वह एक दूसरे के साथ मिलकर अध्ययन को असत्य या अवैज्ञानिक न बना सके। जिस किसी सामग्री की हम व्याख्या नही कर सकते उसे भी कम से कम वर्गीकृत कर सकते है। आदिकालीन व्यक्ति ने अपने बौद्धिक विकास के निम्न स्तर पर भी प्रकृति की वस्तुओं को वर्गीकृत कर लिया था। अरस्तु के समय से वर्गीकरण अध्ययन का एक मुख्य तरीका था। आज सामाजिक विज्ञान के क्षेत्रों में जिन सामूहिक स्थितियों का अध्ययन किया जाता है उनमें वर्गीकरण का अपना महत्व है। जब अध्ययन की विषय वस्तु में गुणो के आधार पर अन्तर होते है तो वर्गीकरण का साधन उपयोगी बन जाता है। इस सम्बन्ध मे एक बात ध्यान मे रखने योग्य यह है कि वर्गीकरण से सपूर्ण पर्यवेक्षण को उचित रूप से रखने के लिए समस्त श्रेणियो को स्पष्ट और भ्रम विहीन होना चाहिये। जहा कही प्राथमिकता का प्रश्न उठता है वहा वर्गीकरण करते समय उपयोगिता को भी ध्यान मे रखा जा सकता है। परिणामों की दृष्टि से प्राथमिकता का निश्चय करते हुए विभिन्न तथ्यों की एक सूची बनाई जाती है। यद्यपि इस प्रकार की सूची बनाना अत्यन्त कठिन होता है किन्तु फिर भी इसकी उपयोगिता

के पीछे इस कठिनता को भुलाना बुरा नहीं है। कहा गया है कि विभिन्न श्रेणियों का वर्गीकरण सम्भवतः पर्यवेक्षण का भाग नही है किन्तु फिर भी यह एक सैद्धान्तिक प्रक्रिया है।

विश्लेषण—गुणों के आधार पर किये गये वर्गीकरण के अतिरिक्त सख्या के आधार पर भी विषयवस्तु का विश्लेषण किया जा सकता है। केवल विषयगत प्रभावों पर आधारित न रहकर वस्तु स्थिति का गहराई से अध्ययन करना चाहिए। राजनैतिक वातावरण सरकार की प्रक्रिया, जनता का व्यवहार आदि पर आधारित विभिन्नताओं को जानने के लिए समाचार-पत्रों, सार्वजनिक भाषणों, राज्य के अभिलेखों, रेडियो के प्रसारणो, व्यक्तिगत पत्रों एव संचार के अन्य साधनो की गहरी छानवीन करना आवश्यक होता है। इस प्रकार का मात्रात्मक विश्लेषण केवल तभी सम्भव है जबकि पहले कुछ परिकल्पनाएं बना ली जाएं। कई बार इस प्रकार का विश्लेषण केवल स्पष्ट बात को प्रमाणित करने मात्र के लिये किया जाता है और इस प्रकार यह अनावश्यक तथा महंगा सिद्ध होता है, किन्तु अनेक बार यह अध्ययनकर्ता का ध्यान अनेक उपयोगी तथ्यों की ओर आकर्षित करता है।

तथ्यों की स्वीकृति—वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया का अगला कदम तथ्यो की स्वीकृति एव सत्य तथा वास्तविकता का प्रमाणीकरण है। जब एक पर्यवेक्षण को निश्चित रूप से निर्मित और पर्याप्त रूप मे संचारित मान लिया जाता है तो यह निर्णय करना होता है कि जिस वातावरण को विषयगत रूप से पर्यवेक्षित किया जाता है वह वास्तविक तथ्यो के साथ वस्तुगत रूप से समरूपता रखता है अथवा नहीं। पर्यवेक्षणकर्ता अपने प्रतिवेदन मे यह कह सकता है कि उसने किसी निश्चित स्थान और निश्चित समय पर ऐसी वस्तु देखी जो कि एक कुर्सी या सितारे या हवाई जहाज या अन्य किसी भी प्रकार की थी। इस प्रतिवेदन की निश्चितता पर तथा पर्यवेक्षण की सत्यता पर कोई वैज्ञानिक अविश्वास नहीं कर सकता किन्तु फिर भी उसे यह देखना पड़ेगा कि वह पर्यवेक्षणकर्त्ता के निष्कर्षों को स्वीकार करे अथवा न करे। उसे यह देखना पड़ेगा कि क्या वास्तविक तथ्य भी वही कहते हैं जो कि पर्यवेक्षणकर्त्ता के प्रतिवेदन में कहा गया है। ऐसा करते समय वैज्ञानिक द्वारा यह देखा जायेगा कि पर्यवेक्षण मे कितना समय दिया गया था, उसमे कौन-कौन से साधन प्रयुक्त किये गये थे, पर्यवेक्षण पर प्रभाव डालने वाली कौन सी परिस्थितियां उस समय कायम थीं, वातावरण की स्थिति कैसी थी, क्या किसी प्रकार का धोखा होने की संभावना थी, आदि-आदि।

किन्हीं पर्यवेक्षित तथ्यों को वस्तुगत तथ्य स्वीकार किया जाए अथवा नही, इसका निर्णय करने के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित नियम नही है

कुछ ऐसे निषेधात्मक प्रकृति के नियम हैं जो कि उन तथ्यों को ग्रहण करने से इन्कार करते हैं जो कि पहले या इसी समय प्राप्त किये गये तथ्यों से विपरीत हैं। तथ्य गत सामान्यीकरण अथवा सैद्धान्तिक स्पष्टीकरणों की कसौटी भी कई बार तथ्यों की सत्यता को जांचने का आधार बन जाती हैं। इस सम्बन्ध में कोई सकारात्मक नियम ऐसा नही है जिसके आधार पर कहा जा सके कि एक संभावित तथ्य को वास्तविक रूप में स्वीकार कर लिया जावे। इस प्रकार पर्यवेक्षण द्वारा प्राप्त सत्यता केवल पर्यवेक्षण, व्याख्या और माप पर ही निर्भर नही करती। इसके लिए पर्यवेक्षित की गई सामग्री को तथ्यों के अनुरूप मिलना अत्यन्त आवश्यक होता है।

अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली मे तर्कपूर्ण बौद्धीकरण (Logical Reasoning) का भी अपना स्थान है। इसे वैज्ञानिक प्रणाली का आवश्यक भाग केवल तभी माना जाता है जब कि इसका रूप विश्लेषणात्मक हो। विश्लेषणात्मक रूप होने के लिए दिये हुए शब्दो को कोई नया अर्थ नही दिया जाता किन्तु अन्तर्निहित अर्थ को स्पष्ट कर दिया जाता है। इस विश्लेषणात्मक कथन के उदाहरण के रूप मे कहा जा सकता है कि यदि सभी मनुष्य मरणशील है और राम एक मनुष्य है तो राम भी मरणशील है। इस प्रकार की तर्क प्रक्रिया मे कुछ बातो को मान कर चलना होता है और उनकी सत्यता मे अविश्वास नही किया जाता। यदि वे असत्य होगी तो निश्चय ही निष्कर्ष भी असत्य होगा। इस तर्क प्रक्रिया में यह नही कहा जा सकता कि सभी मनुष्य मरणशील हैं या राम एक मनुष्य है। इसमें इन दोनो बातों को तो मान कर ही चला गया है और इनको निष्कर्ष का आधार बनाया गया है। तर्क की प्रक्रिया मे जब एक दिए हुए शब्द के साथ कोई नया अर्थ जोड़ दिया जाता है तो यह विश्लेषणात्मक न रहकर संश्लेषणात्मक बन जाती है। विश्लेषणात्मक तर्क प्रक्रिया के निष्कर्ष प्रणाली की दृष्टि से हमेशा सत्य सिद्ध होते हैं किन्तु सश्लेषणात्मक प्रणाली मे निश्चय के साथ यह नही कहा जा सकता। समान निष्कर्ष को ही जब सश्लेषणात्मक बना लिया जाता है तो असत्य बन सकता है। सभी हंसों को सफेद केवल तभी कहा जा सकता है जबकि सफेद होना हंसों का विशेष गुण माना जाए। यदि ऐसा नही किया गया तो निष्कर्ष गलत हो जायेगा। गणित सम्बन्धी कथनो को विश्लेषणात्मक माना जाए अथवा सश्लेषणात्मक यह एक महत्वपूर्ण विषय है। कान्ट ने उसे संश्लेषणात्मक माना था, उनके कथनानुसार सात और पाच बारह होते है यह कहना ऐसा है जो कि न तो पाच मे है और न ही सात मे है। अंक गणित और बीज गणित मुख्य रूप से विश्लेषणात्मक होते है ये सश्लेषणात्मक नहीं होते। मान्यताओं का चयन इनमें इस बात पर निर्भर करता है कि स्वयं

सिद्ध सत्य या वास्तविकताएं किसको माना गया था। यदि ऐसा है तो जो विश्वास कहावतों के अनुसार स्थापित किया गया था वह सही हो भी सकता है और नहीं भी।

तार्किक रूप से जो बुद्धिकरण किया जाता है उसमें आगमनात्मक एवं निगमनात्मक दोनों ही पद्धतियां अपनाई जा सकती है। कई बार केवल निगमनात्मक, विश्लेषणात्मक तर्क प्रक्रिया सत्य का पता लगाने के लिए पर्याप्त नहीं होती और इसलिए अन्य तरीके को अपनाना पड़ता है। इस तरीके की वैज्ञानिकता को चुनौती दी जा सकती है। कान्ट का कहना था कि कुछ स्थितियों में संश्लेषणात्मक निर्णय भी प्राय पूर्ण रूप से सत्य होते है। उनकी सत्यता पूर्व आधारित सत्य पर नही होती। उन्होंने गणितीय कथनों की जिस पूर्ण सत्यता में विश्वास किया था उसकी आधारभूत प्रकृति विश्लेषणात्मक थी न कि संश्लेषणात्मक। वर्तमान विज्ञान के पण्डितो ने जैसे बेकन, गैलेलियो, कैपलर और न्यूटन आदि ने, एवं समाज शास्त्रियों जैसे मैकियावेली आदि ने अपने निष्कर्षों पर पहुंचने के लिए बुद्धि से पूर्व की मान्यताओं मे विश्वास नही किया वरन् पर्यवेक्षित व्यक्तिगत तथ्यों के आधार पर उन्हें निकाला। इस प्रक्रिया मे अध्ययन की आधुनिक समय मे प्रचलित आगमनात्मक प्रणाली को प्रारम्भ किया गया। जब कभी किसी संश्लेषणात्मक कथन का सामान्यीकरण किया जाता है तो उसके समर्थन के लिए विभिन्न प्रमाणों की आवश्यकता होती है जो कि निष्कर्ष के विपरीत न हो। जब हमने यह देखा कि सभी प्रकार की शक्ति लोगों को भ्रष्ट बना देती है तो हम इस निष्कर्ष पर आये कि शक्ति का कार्य व्यक्ति को भ्रष्ट बनाना है। इस प्रकार की तर्क-प्रक्रिया को न्यायोचित ठहराना और न्यायोचित ठहराने की परिस्थितियों का निर्धारण करना एक मुख्य समस्या बन गया है।

इस तर्क प्रक्रिया को हम जिन आधारों पर सत्य मानते है उनमे से एक आधार यह है कि एक बार जिस वस्तु अथवा कार्य का पर्यवेक्षण किया गया है उसका समान परिस्थितियो मे कभी भी पर्यवेक्षण किया जा सकता है। इस दृष्टि से जब हम प्रत्येक पत्थर को निरपवाद रूप से पृथ्वी पर गिरते हुए पाते है तो इस निष्कर्ष पर आते हैं कि सभी पत्थर ऐसा करेगे। इस निष्कर्ष की आधार-भूत मान्यता यही है कि एक बार जैसा होता है वैसा ही बार-बार होगा। इस तर्क प्रक्रिया की एक अन्य मान्यता यह है कि सृष्टि की सभी घटनायें सामान्य कानूनों का अनुकरण करती है। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए जो तरीका अपनाया जाता है वह सम्भवतः यह होगा कि हमने अनेकों उदाहरणों में बिना किसी अपवादों के एकता देखी है और इसलिए उन्हें सत्य मानना चाहिए। सृष्टि की एकरूपता को सिद्ध नही किया जा सकता—

तो केवल धार्मिक आचरण के रूप में और अन्तिम मान्यता या कहावत के रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए। आगमनात्मक तर्क प्रक्रिया के प्रति सृष्टि की एकरूपता के अतिरिक्त दूसरा दृष्टिकोण वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वीकृत नियम होते है। प्रकृति में सामान्य रूप से कुछ नियमितताओं को देख कर यह निष्कर्ष ले लिया जाता है कि इसको प्रशासित करने वाले कुछ नियम होते होगे। इन नियमो से निष्कर्षों को वैज्ञानिकता प्राप्त होती है। जॉन डीवे का मत था कि आगमनात्मक तर्क प्रक्रिया के लिए विश्लेषणात्मक औचित्य आवश्यक नही है। उसके लिए विज्ञान में तर्क शास्त्र का इतना अधिक महत्वपूर्ण स्थान नही था वरन् वैज्ञानिक प्रणाली का यह एक अनिवार्य भाग था। तर्क शास्त्र के नियमों का औचित्य उनकी उपयोगिता होता था। उसके अतिरिक्त जांच के दौरान निगमनात्मक और आगमनात्मक तर्क प्रक्रियाओं का साथ-साथ उपयोग किया जाता है। आज के प्राय: सभी अनुभववादी वैज्ञानिक दोनों प्रकार की तर्क प्रक्रियाओं के बीच एक सम्बन्ध देखते है। आगमनात्मक सामान्यीकरणों का सिद्धात सम्भावनाओं के गणितीय सिद्धांत से पर्याप्त लाभान्वित हुआ है। गणितीय आधार पर सांख्यिकीय अनुमान विकसित किये जाते है और इनको तर्क प्रणाली का आधार बनाया जाता है।

एक तर्क शास्त्री की दृष्टि से सभी संश्लेषणात्मक कथनो को दो भागो मे विभाजित किया जाता है—स्वीकृत और अस्वीकृत। एक वैज्ञानिक प्रणाली के अन्तर्गत प्रक्रिया के नियमों के अनुसार कथनों को इन दोनों वर्गों मे रखा जाता है। किसी भी कथन को सत्य स्वीकार करने के लिए कुछ सकारात्मक नियम होते है तथा कुछ निषेधात्मक नियम होते है। इसके निषेधात्मक नियम के अनुसार किसी भी नियम को ऐसी स्थिति मे न स्वीकार किया जाए जबकि वह अपने समकालीन तथा पूर्व कथनो से मेल नही खाता। सामाजिक विज्ञानों मे कथनों की स्वीकृति की समस्या पर्याप्त विवादपूर्ण होती है और इसीलिए स्वीकृत तथा अस्वीकृत का वर्गीकरण करना यहा खतरे से खाली नही है।

किसी विषय को वैज्ञानिक रूप से विश्लेषित करने के लिए विभिन्न कार्य करने होते हैं। यह स्पष्ट करना होता है कि सम्बन्धित विषय का अर्थ क्या है, वह सत्य या असत्य क्यो है अथवा कुछ नियमो तथा मापदण्डों के अनुकूल या विपरीत क्यों है अथवा जिन चीजों का अस्तित्व है उनका अस्तित्व क्यों है और उसका क्या परिणाम है। इस प्रकार ये विभिन्न स्पष्टीकरण अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली के लिए परमावश्यक है। वस्तु स्थिति के बीच ये कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित करना इस दृष्टि से परम आवश्यक होता है। एक प्रस्तुत तथ्य का अर्थ स्वयं तथ्य से सदैव भिन्न होता है। प्रत्येक तथ्य

को निश्चित अर्थ से प्रयुक्त माना जाता है। किसी तथ्य से जो अर्थ ग्रहण किया जाता है वह सही भी हो सकता है और गलत भी।

कारण–कार्य का सम्बन्ध स्थापित करना, दो निकटवर्ती घटनाओं के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का एक परम्परागत नाम है। वैज्ञानिकों मे भी इस बात पर मतभेद है कि क्या कारण–कार्य का सम्बन्ध संसार में कायम रहता है तथा इस सम्बन्ध का वास्तविक अर्थ क्या है। मि० ह्यूम (*Hume*) *का कहना था कि हम केवल तर्क के आधार पर यह कभी सिद्ध* नही कर सकते कि प्रत्येक घटना दूसरी घटनाओं का परिणाम होनी चाहिए और प्रत्येक घटना अन्य घटनाओं को उत्पन्न करती है। व्यक्ति केवल अनुभव के आधार पर ही इस निष्कर्ष पर पहुंचता है। कान्ट ने ह्यूम के मत को पर्याप्त महत्वपूर्ण माना। उन्होंने कारण कार्य की समस्या के सुझाव के लिए एक भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। कान्ट का कहना था कि शुद्ध बुद्धि और अनुभव, वास्तविकता तथा कारण-कार्य सम्बन्धों को प्रकट नही कर सकते। मनुष्य का मस्तिष्क सामान्यीकृत व्यावहारिक ज्ञान को प्राप्त नही कर सकता इसलिए यह विचार प्रदान किया जाना चाहिए कि वातावरण में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन अपना एक कारण रखता है। कारण–कार्य सम्बन्ध के आधार पर तथ्यों का अध्ययन करते समय निश्चितता एव स्पष्टता को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। कारणों का अध्ययन करने के बाद कार्यों का अनुमान निश्चित रूप से लगाया जा सकता है। इस आधार पर जब हम कुछ निश्चित परिस्थितियों को देखते है तो उनसे उत्पन्न होने वाले कार्यों का अनुमान बड़ी शीघ्रता से लगा लेते है। बादलों को उमडते देख कर वर्षा के होने का अनुमान कारण–कार्य के सम्बन्ध पर आधारित है। कारण–कार्य मे सम्बन्धित ज्ञान वस्तुगत होता है।

कई विचारक मानव मस्तिष्क की रचना को कुछ इस प्रकार का मानते हैं जिसमें कारण-कार्य के सम्बन्ध को समझना मुश्किल है। परिवर्तन किसी निश्चित कारण के बिना भी होते रहते हैं। सांख्यिकीय सम्भावनाओं के आधार पर भी घटनाओं का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। कान्ट, ह्यूम तथा डीवे आदि ने कारण–कार्य के सिद्धांत की वास्तविकता के सम्बन्ध में दार्शनिक सन्देह प्रकट किये हैं। जब कारण–कार्य के सिद्धांत को राजनीति शास्त्र के अध्ययन पर लागू किया जाता है तो हम यह मानकर चलते हैं कि मानवीय व्यवहार अनेक तत्वों से प्रभावित होता है। इन तत्वों का व्यवस्थित रूप से वर्गीकरण करना पर्याप्त कठिन होता है। वैज्ञानिक प्रणाली की दृष्टि से प्रेरक को कारण–कार्य का एक विशेष प्रकार माना जाता है। प्रत्येक कार्य किसी न किसी प्रेरणा के द्वारा प्रतिफलित होता है। यह प्रेरणा उसकी चेतन तथा अचेतन दोनों ही प्रकार की प्रवृतियों में निहित रह सकती है।

व्यक्ति जो कार्य करता है उसमें स्वेच्छा का कितना महत्व है और आवश्यकता का कितना, यह एक विवाद पूर्ण प्रश्न है। वैज्ञानिक प्रणाली इस प्रश्न पर विशेष रूप से विचार नही करती। इस सम्बन्ध में अनेक बातें स्पष्ट होने पर भी यह बात पर्याप्त स्पष्ट है कि मानवीय इच्छा इतनी स्वतन्त्र कभी नही होती कि यह बाहरी प्रभावों से अपने आप को अछूता बना ले। प्रेरकों को कई बार इच्छानुसार पैदा भी किया जा सकता है। राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे इसका एक विशेष महत्व है। इस दृष्टि से मनोवैज्ञानिक समाज-शास्त्री एवं राजनीति शास्त्रियों को साथ-साथ मिल कर कार्य करना होता है।

कारण-कार्य सम्बन्धों के बारे में एक मुख्य बात यह जाननी होती है कि यदि कारणों की व्यवस्था मे अन्तर किया जाए तो क्या उसके परिणामों में अन्तर हो जायगा; क्या लक्ष्य अपने कारणों को बदल सकते हैं तथा क्या भविष्य अपने अनुकूल अतीत का निर्माण कर सकता है। इन विभिन्न प्रश्नों के सम्बन्ध में प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों के विशेषज्ञों ने अलग-अलग मत प्रगट किये है। वैज्ञानिक विधि का एक कार्य अलग-अलग तथ्यों की जांच करना एवं उनका शुद्धिकरण करना होता है। ऐसा करने के लिए अतिरिक्त पर्यवेक्षण किये जाते हैं। जब इस प्रकार की जांच के लिये किये गये पर्यवेक्षण के द्वारा वस्तु स्थिति असत्य सिद्ध हो जाती है तो सम्भावित निष्कर्ष को रोक लिया जाता है अथवा बदल दिया जाता है। वैज्ञानिक प्रणाली में सावधानी-पूर्वक की गई जाच कई कारणों से आवश्यक होती है। इससे विचारकों को अपने पर्यवेक्षणों एवं निष्कर्षों के लिए एक आधार प्राप्त होता है और इसके अतिरिक्त वे वैज्ञानिक रूप से प्राप्त ज्ञान को अन्तर्विषयी बना सकते हैं। इस प्रकार की जांच करते समय परिकल्पनाएं की जाती है और उनको तथ्यों के सहारे सही सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। कई बार यह कहा जाता है कि वैज्ञानिकों के द्वारा वस्तुओं की नही वरन् परिकल्पनाओं की जांच की जाती है। इसमे सत्यता होते हुए भी यह पूर्ण सत्य नही है। यह ठीक है कि प्रत्येक जांच किसी न किसी उद्देश्य के लिए की जाती है और इन उद्देश्यों के सम्बन्ध में परिकल्पनाएं करना पर्याप्त वैज्ञानिक है। जब एक अध्ययन-कर्ता अपने पर्यवेक्षित तथ्यों पर वैज्ञानिक रूप से दृष्टिपात करता है तो वह उसके सम्बन्ध मे अपने कुछ विचार कायम कर लेता है। जाच के समय भी पर्यवेक्षण, व्याख्या, माप, तार्किक बौद्धीकरण एवं स्पष्टीकरण आदि प्रक्रियाओं को काम मे लिया जाता है।

पर्यवेक्षित तथ्यो की जाच की जाती है। इसके एक प्रकार मे दो ऐसी स्थितियों की तुलना की जाती है जो कि प्रत्येक बात मे समान होती हैं और

केवल एक बात में उनमें भिन्नता होती है। इस तुलना के परिणाम पर विशेष ध्यान दिया जाता है और इसे उस अन्तर का परिणाम माना जाता है। इस प्रकार के प्रयोग सामाजिक विज्ञानों में कम किये जा सकते है। प्रयोग करते समय बाहरी परिस्थितियों को चाहे कितना ही प्रबन्धित कर दिया जाये किन्तु फिर भी मानवीय तत्व के अस्तित्व के कारण अनेक विभिन्नताएं उपस्थित हो जाती हैं। कोई भी दो व्यक्ति कभी पूर्ण रूप से समान नही हो सकते। एक दूसरे प्रकार की प्रायोगिक जांच उन तत्वों के बीच तुलना करते हुए की जाती है जिनमें कि विभिन्नताएं बहुत कम होती है। स्थानीय स्तर पर, राज्य स्तर पर एवं राष्ट्रीय स्तर पर अनेक संस्थाओं एवं प्रशासनीय प्रक्रियाओं मे नये-नये परिवर्तन करके प्रयोग किये जाते है। सरकार एवं संस्थाओं का सम्पूर्ण इतिहास जांच की गई परिकल्पनाओ का एक विस्तृत स्रोत है। सरकार एवं संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा अनेक नयी बातें सामने आती है। आजकल नियंत्रित प्रयोग जैसे अनेक नव-विकसित प्रयोगों के द्वारा प्रायोगिक जांचों का स्थान लिया गया है। राजनीति शास्त्र में आज भी तुलनात्मक सरकार एवं तुलनात्मक शासन प्रयोगशाला में की गई जांच के सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकल्प हैं। इस सम्बन्ध मे कोई सामान्यीकरण नही किया जा सकता। एक जैसी संस्थाओं का विभिन्न स्थानों या समयों पर अध्ययन करने से भिन्न प्रकार के परिणाम प्राप्त हो सकते है। ऐसी स्थिति मे परिस्थितियो के अन्तरों को भी ध्यान में रखना पड़ता है वरना की गई भविष्यवाणियां बेकार होंगी।

भविष्यवाणी—अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली मे भविष्यवाणी करने का अपना एक महत्व है। भविष्य की घटनाओ के बारे में जब तक वैज्ञानिक रूप से कुछ भविष्यवाणी नही की जाती तब तक अध्ययन अधिक उपयोगी नही बन पाता। भविष्य-वाणियां प्रायः प्रत्येक जाच के बाद की जाती हैं। इसका अर्थ यह नही होता कि जांच केवल वैज्ञानिक भविष्य-वाणियों के लिए ही की जाती है। प्रत्येक भविष्यवाणी को कई आधारों पर चुनौती दी जाती है। यह हो सकता है कि जिन घटनाओं एवं तथ्यों पर भविष्यवाणी आधारित है वे कभी न हुए हो अथवा भविष्य में न हों। दूसरे, कार्यों के अन्य विकल्प भी हो सकते हैं। तीसरे, परिकल्पनात्मक रूप के जो कारण-कार्य सम्बन्धों का नियम स्वीकार कर लिया जाता है उसे उचित नही माना जा सकता। चौथे, अतिरिक्त तत्व भी भविष्यवाणी की गयी घटनाओं में हस्तक्षेप कर सकते हैं और इस प्रकार उनको बदल सकते हैं।

जब यह कहा जाता है कि सामाजिक विज्ञानों में मानवीय व्यवहार एक निर्णयात्मक योगदान करता है तथा मानवीय व्यवहार में निहित स्वतन्त्रता

उसके सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं बनाने देती तो यह प्रतीत होता है कि भावी मानवीय व्यवहार के बारे में कुछ भी कहना अर्थ-हीन है। कुछ विचारकों के मतानुसार यह निष्कर्ष भ्रमपूर्ण है। यह सच है कि अनेक कारणों से सच्ची और निश्चित भविष्यवाणियां राजनीति शास्त्र में सम्भव नहीं होती, किन्तु फिर भी जब अनेक लोगों के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है तो मानवीय व्यवहार के आधार पर निश्चय के साथ भविष्यवाणियां की जा सकती है। उदाहरण के लिए प्राप्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रायः सामान्य व्यवस्थापक की यह इच्छा होती है कि इसको दुबारा चुना जाए। राजनीति शास्त्र में कुछ अन्य क्षेत्र भी ऐसे हैं जिनमें लोगों के व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ सीमाओं तक भविष्यवाणियां की जाती हैं।

राजनीति शास्त्र में अन्य सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों की भांति अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ लोगों का कहना है कि केवल वैज्ञानिक प्रणाली को ही वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता उसके लिए जिन अन्य विधियों का प्रयोग किया जाता है वे भी प्रायः उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इतने पर भी सामान्य धारणा यह है कि वैज्ञानिक अध्ययन प्रणाली का प्रयोग करने पर ही सत्य निष्कर्षों तक पहुंचा जा सकता है। वैज्ञानिक प्रणाली के अनेक समर्थकों ने यह दावा किया है कि इस प्रणाली को प्रत्येक समस्या के अध्ययन पर लागू किया जा सकता है। अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली का एक प्रमुख लाभ यह बताया जाता है कि इसके द्वारा ज्ञान को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक आसानी से पहुंचाया जा सकता है। वैज्ञानिक प्रणाली में प्रायः उन प्रमाणों को स्थान नहीं दिया जाता जिनको दूसरों तक न पहुंचाया जा सकता हो।

एक नीति-निर्माता
(A Policy Formulator)

राजनीति शास्त्र के वैज्ञानिक स्वरूप एवं अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली का सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से पर्याप्त अध्ययन कर लेने के बाद उसकी एक अन्य विशेषता पर प्रकाश डालना उपयुक्त रहेगा, जो कि उसे एक नीति-निर्माता बना देती है। राजनीति शास्त्र का एक भाग ऐसा है जो कि नीति-निर्माण के कार्य से सम्बन्धित है। राजनीति शास्त्र में उन अनेक अभिकरणों एवं साधनों का अध्ययन किया जाता है जो कि नीति स्थापित करते हैं। इस दृष्टि से राजनीति शास्त्र व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के सभी प्रशासकीय कार्यों तथा मतदाताओं का अध्ययन करता है। इसमें राजनैतिक दलों के संगठन एवं प्रक्रियां पर विचार किया जाता है। राजनीति-शास्त्र सरकारी

क्रियाओं के विभिन्न परिणामो से भी सम्बन्ध रखता है । यह सार्वजनिक लक्ष्यों एवं प्रशासन को प्रक्रिया के साथ एक रूप बना देता है । राज्य की विभिन्न संस्थाएं क्या नीति अपनायें और उन नीतियों को किस प्रकार से क्रियान्वित किया जावे, इस सम्बन्ध में राजनीति शास्त्र विस्तार के साथ विवेचना करता है ।

प्रक्रियाओं का अध्ययन

(A Study of Processes)

राजनीति शास्त्र में उन विभिन्न प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जो सार्वजनिक शक्तियों को नियन्त्रित करने के लिए व्यक्तियों या लोगों के समूहों द्वारा अपनायी जाती है अथवा जो उन लोगों को प्रभावित करने के लिए महत्वपूर्ण होती हैं, जिनके द्वारा अस्थाई या नियमित रूप से सार्वजनिक शक्ति का प्रयोग किया जाता है । राजनीति शास्त्र उन प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है जो कि कुछ कार्यों की सम्पन्नता के लिए और कुछ को होने से रोकने के लिए प्रयत्नशील होती हैं । ये विभिन्न प्रक्रियाएं एक कानूनी संरचना में रह कर कार्य करती हैं । इन विभिन्न प्रक्रियाओं से सम्बन्धित होने के कारण राजनीति शास्त्र गृह स्तर पर होने वाली विभिन्न राजनैतिक क्रियाओं का अध्ययन करता है । राजनैतिक प्रक्रिया हमेशा एक कानूनी तरीके से की जाती है । इसका कारण यह है यह प्रायः हमेशा खेल के नियमों के अनुसार संचालित होती है, सरकार का रूप चाहे प्रजातन्त्रात्मक हो चाहे तानाशाही ।

इस दृष्टि से देखने पर हम यह कह सकते है कि राजनैतिक विश्लेषण का प्रारम्भ समाज से किया जाता है । प्रत्येक समाज व्यक्तियों और समूहों से मिल कर बनता है । ये व्यक्ति और समूह विभिन्न प्रेरणाओं से कार्य करते हैं, उदाहरण के लिए लालच शक्ति, सुरक्षा, कल्याण, व्यक्तिगत लाभ इत्यादि । अनेक वार ऐसी स्थितियाँ भी आ जाती हैं जबकि व्यक्ति का व्यवहार अनेक प्रेरणाओं से संचालित होता है । अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों एवं समूहों के पास व्यक्तिगत शक्ति मताधिकार, सुभाव, दवाव और आर्थिक प्रभाव आदि के रूप में रहती है । सरकारी स्तर पर कार्यपालिकायें निर्वाचित राजनैतिक नेता, व्यवस्थापक, प्रशासक, एवं न्यायाधीश आदि सरकारी शक्ति को विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त करते है । राजनैतिक नीतियों के निर्माताओं के पास भी रीतिरिवाज, कानून, नेतृत्व, स्वीकृति एवं प्रतीक आदि के रूप मे शक्ति रहती है । इस प्रकार राजनैतिक प्रक्रिया उसे कहा गया जिसमें कि व्यक्ति अथवा समूह की सामाजिक आवश्यकतायें सामाजिक कार्य अर्थात स-

जनिक नीति में परिवर्तित होती है। दूसरे शब्दों में जब किसी के द्वारा किसी ऐसी चीज की मांग की जाती है जिसे समाज के केवल राजनैतिक बाहुओं के माध्यम से ही प्राप्त किया जाता है तो उसे राजनैतिक प्रक्रिया कहते हैं।

इस प्रकार राजनैतिक प्रक्रिया में मुख्य रूप से दो पहलू होते हैं—एक ओर तो व्यक्ति, उनकी प्रेरणाएं, उनकी तकनीकी और उनके लक्ष्य होते हैं तथा दूसरी ओर सार्वजनिक शक्ति और उसको प्रयुक्त करने वाले होते हैं। राजनीति का जिन प्रश्नो से सम्बन्ध रहता है लोगों के लक्ष्य क्या और क्यों होते हैं इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये क्या साधन उपलब्ध होते हैं। इन लक्ष्यों या हितों को किसके द्वारा सार्वजनिक नीति में प्रयुक्त किया जाता है तथा राजनैतिक शक्ति इन लक्ष्यों की प्राप्ति किस प्रकार करती है। इस दृष्टि से देखने पर हम पायेंगे कि प्रत्येक देश में राजनीति प्राय. एक जैसी होती है। उनके बीच का मुख्य अन्तर खेल के नियमो और संघर्ष को समायोजित करने के तरीकों में निहित रहता है। इस दृष्टि से देखने पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी एक ऐसी प्रक्रिया है जो साध्यों के लिए साधनों को प्रयुक्त करती है। संसार के राष्ट्रों की अनेक आवश्यकताएं और हित होते हैं जिन्हें प्राप्त करना एवं सन्तुष्ट करना जरूरी बन जाता है। अन्तर्देशीय क्षेत्र की भांति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी शक्ति के प्रयोग द्वारा ही उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है। यहां शक्ति के सैनिक, आर्थिक और प्रचारात्मक रूपों का प्रयोग किया जाता है।

शक्ति का अध्ययन
(The Study of Power)

राजनीति शास्त्र मे मुख्य रूप से शक्ति का अध्ययन होता है। राजनीति में कुछ न कुछ होता ही रहता है और कुछ साधनों द्वारा इस स्थिति को बनाये रखा जाता है। नागरिक अपनी मांगों को शक्ति के बिना प्रभावशील नही बना सकते, इसके विपरीत शक्ति के अभाव में स्वयं राज्य भी अपने लिए सौंपे गये कार्यों को पूरा नही कर सकता। शक्ति को अनेक विचारकों द्वारा अपने अध्ययन का विषय बनाया गया है और तदनुसार उसको परिभाषित किया गया है। कुछ विचारकों ने शक्ति को इतने व्यापक रूप में परिभाषित किया है कि उसका कोई अर्थ भी नही रह जाता। शक्ति की संकीर्ण मान्यता, सम्पूर्ण राजनीति को शक्ति या शक्ति की धमकी पर आधारित बना लेती है। किन्तु असल में यह शक्ति का एक रूप मात्र है।

मैकाईवर के मतानुसार शक्ति के विभिन्न रूप होते हैं। यह परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। शक्ति एक साधन होती है, जब इस साधन को सरकार के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है अथवा राजनैतिक लक्ष्यों

की प्राप्ति के लिए इसे गैरसरकारी संस्थाएं प्रयुक्त करती हैं तो वह राजनैतिक शक्ति कहलाती है। शक्ति को केवल विशेष परिस्थितियों में ही राजनैतिक कहा जा सकता है। यहां एक बात उल्लेखनीय यह है कि समस्त राजनैतिक वातावरण ऐसा नही होता जिसमें कि आधिपत्य एवं अधीनस्थता का सम्बन्ध हो अर्थात् कुछ व्यक्ति कुछ व्यक्तियों की शक्ति के सामने झुकें। ये सम्बन्ध, सहयोग या पारस्परिक समायोजन के भी हो सकते है। ऐसे होने पर प्रभाव-शक्ति पर्याप्त महत्वपूर्ण बन जाती है क्योंकि जो जिस पर जितना अधिक प्रभाव डाल पाता है वह उतनी ही शक्ति का प्रयोग कर सकता है। राजनैतिक शक्ति की जिस मान्यता में प्रत्येक चीज की शक्तिशाली द्वारा कमजोरों पर आधिपत्य जमाने के परिणाम के रूप में व्याख्या की जाती है उसे अनावृत्त मान्यता कहा गया है। राजनैतिक प्रक्रिया की सही धारणा वह होती है जो शक्ति को राजनीति का मूल माना जाता है। शक्ति अपने आप में निरपेक्ष होती है। वह न तो अच्छी होती है न बुरी होती है। इसकी अच्छाई और बुराई इस बात पर निर्भर करती है कि लोग उसका प्रयोग किस प्रकार करते है। व्यक्तिगत जीवन मे शक्ति का प्रभाव अच्छा नही होता। लार्ड एक्टन ने माना था कि शक्ति व्यक्ति को भ्रष्ट बना देती है और पूर्ण शक्ति उसे पूर्ण रूप से भ्रष्ट बना देती है।

वर्तमान राजनीति में शक्ति या शक्ति राजनीति का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण विषय बन चुका है। शक्ति के उत्तरदायित्व पूर्ण प्रयोग एवं अनुत्तरदायित्व पूर्ण प्रयोग के बीच पर्याप्त अन्तर होता है। शक्ति का दुरुपयोग राजनीति के लिए इतना साधारण बन चुका है कि इन दोनों शब्दों को परस्पर पर्यायवाची मान लिया गया है। राजनीतिज्ञ प्रायः उस व्यक्ति को कहा जाता है जो अपने उद्देश्यों एवं साधनों की दृष्टि से पूरी तरह से स्वार्थ पूर्ण होता है। श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ वही है जो शक्ति को अधिक से अधिक हानिप्रद तरीके से प्रयुक्त कर सके। इसी प्रकार जब एक राष्ट्र को शक्ति-राजनीति में संलग्न कहा जाता है तो यह समझा जाता है कि वह दूसरे राष्ट्रों के विपरीत अपनी शक्ति को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहता है।

राजनैतिक शक्ति पर प्रायः सम्भावित सीमायें रहती हैं। इस शक्ति का प्रयोग सरकार की इच्छाओं को क्रियान्वित करने के लिए किया जाए अथवा सरकार को एक विशेष कार्य के लिए प्रभावित करने के लिए किया जाय। यह हमेशा कुछ सीमाओं के अन्तर्गत रह कर कार्य करती है। शक्ति के ये दो रूप (सरकार को प्रभावित करने वाली और सरकार द्वारा प्रभावित होने वाली) परस्पर प्रतिबन्ध लगाये रहते हैं। सरकारी शक्ति

व्यक्तिगत शक्ति से भिन्न होती है और किसी भी समय व्यक्तिगत शक्ति के द्वारा सरकारी शक्ति पर हस्तक्षेप किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में सरकारी शक्ति के प्रयोग को रोका जा सकता है। उदाहरण के लिए पिछले युद्ध के अन्तरवर्षों में विभिन्न देशों में अनेक ऐसे व्यवस्थापन किए गए अथवा करने से रोके गये जिनको व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा ऐसा करने को बाध्य किया गया था।

सरकार की शक्ति का प्रयोग सामान्य रूप से कुछ नियमों के प्राधीन किया जाता है। संविधान द्वारा सरकारी शक्ति की सामान्य सीमाओं की व्याख्या की जाती है और वह उद्देश्य स्पष्ट कर दिया जाता है जिसके लिए इसका प्रयोग किया जा सके या न किया जा सके। शक्ति का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता। यह अलग से रहकर प्रयुक्त होने की प्रतीक्षा नहीं करती जब तक इसे पैदा नहीं किया जाता तब तक इसका अस्तित्व नहीं रहता। शक्ति को पैदा करने का अर्थ यह है कि एक आज्ञा को क्रिया के रूप में परिणत करने के लिए कानूनी सत्ता से अधिक कुछ चाहिए। इसके पीछे सामान्य जनता की स्वीकृति होनी चाहिए तथा उन लोगों द्वारा मान्यता प्रदान की जानी चाहिये जो इसे चुनौती दे सकते हैं। इसे दूसरे रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है कि कई बार सरकारी अधिकारी बिना किसी कानूनी अधिकार के राजनैतिक लक्ष्यों को प्राप्त कर लेते हैं। शक्ति के साथ - साथ एक व्यक्ति और संस्था का प्रभाव भी अपना महत्व रखता है। कार्य को सम्पन्न करने के लिए कानूनी शक्ति के अतिरिक्त अनेक व्यक्तिगत सम्बन्धों एवं तत्वों पर नियंत्रण रखना होता है। राजनीति दृष्टि से शक्तिशाली व्यक्ति उसे कहा जा सकता है जो कि प्रभावशील नियन्त्रण रखता है। शक्ति के प्रभावशील होने से पूर्व परिस्थितियां उपयुक्त होनी चाहिए। इस प्रकार राजनैतिक शक्ति पर अनेक बाहरी तत्वों एवं मानवीय सम्बन्धों का नियंत्रण रहता है। आज के समाज में व्यक्तिगत शक्ति के अनेक रूप बन चुके हैं। यह विभिन्न समूहों एवं उपसमूहों में विभाजित हो चुकी है जो परस्पर इस रूप में क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं कि राजनैतिक शक्ति के रूप निर्धारण में इनका प्रभावशील योगदान हो सके। प्रत्येक राज्य में अनेक हित समूह सक्रिय रूप से वहां के राजनैतिक भविष्य को प्रभावित करने में प्रयत्नशील रहते हैं। वर्तमान राजनीति शास्त्र इनके अध्ययन पर ध्यान देता है।

मूल्यों से स्वतन्त्र अध्ययन
(A Value-free Study)

अर्वाचीन राजनीति शास्त्र अपने अध्ययन के दृष्टिकोण में मूल्यों को अधिक महत्व नहीं देता। प्रारम्भ में राजनैतिक संस्थाओं तथा उनकी प्रक्रिया

का अध्ययन करते समय उनके औचित्य-अनौचित्य पर अधिक जोर दिया जाता था, किन्तु वर्तमान समय मे उनकी मूल्य-रहित व्याख्या पर अधिक जोर दिया जाता है ताकि उनके अध्ययन को वैज्ञानिक बनाया जा सके। बुद्धिवाद के वर्तमान युग में तथ्यो को जितना महत्व दिया जाता है उतना मूल्यों को नहीं दिया जाता। प्रारम्भ में जिन राजनैतिक मूल्यो पर जोर दिया जाता था उनके लिए अनेक आधार वर्णित किये गये है; यह कहा गया कि राजनैतिक मूल्यों को अन्तिम रूप से ईश्वर की इच्छा पर आधारित होना चाहिए। ईश्वर की इच्छा उसके किसी पैगम्बर के माध्यम से ज्ञात की जाती है अथवा बुद्धि, अन्तरात्मा या अनुभव उसका आभास करा सकता है। इस दृष्टिकोण का समर्थन अनेक ईसाई धर्म शास्त्रियो ने, या दार्शनिको ने और राजनैतिक विश्लेषणकर्त्ताओ ने किया। बाद मे चल कर यह माना गया कि राजनैतिक मूल्यो को अन्तिम रूप से प्राकृतिक कानूनो पर आश्रित रहना चाहिए। ये प्राकृतिक कानून ईश्वर द्वारा निर्धारित हो भी सकते है और नही भी। कान्ट आदि विचारको ने यह माना था कि प्राकृतिक कानूनों का ज्ञान बुद्धि के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। फ्रास के दार्शनिक जेक्स मारिटेन (Jacques Maritain) ने अन्तरात्मा को प्राकृतिक कानून का आश्रय बनाया।

समय के अनुसार मूल्यो का आधार बदला और अन्य मूल्यो की भाति राजनैतिक मूल्यों को भी व्यावहारिक विज्ञानों की प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त करने पर जोर दिया गया। अमेरिकी दार्शनिक जॉन डीवे ने भी इस मान्यता मे विश्वास किया। एक अन्य मत के अनुसार राजनैतिक मूल्य अन्य मूल्यों की भाति प्राथमिकताओं पर आधारित रहते है। तार्किक सकारात्मवादी (Logical Positivist) इस मत का समर्थन करते है। इनके मतानुसार मूल्य सम्बन्धी निर्णय केवल प्राथमिकताओं की अभिव्यक्ति करते है इसलिए वे अर्थ हीन है। आज यद्यपि अनेक तार्किक सकारात्मवादी यह मानते है कि मूल्यो को अन्तिम औचित्य प्रदान करने का कोई तरीका नही है किन्तु फिर भी उनके मतानुसार इसका यह अर्थ नही होता कि मूल्य सम्बन्धी निर्णय अर्थहीन होते है। इन विचारको के अतिरिक्त ऐसे अनेक आधुनिक लेखक है जो विज्ञान और तर्क-शास्त्र मे कोई रुचि नही लेते किन्तु वर्तमान मनुष्य के नैतिक और राजनैतिक जीवन से सम्बन्ध रखते है। उदाहरण के लिए अनेक अस्तित्ववादियों (Existentialists) का नाम लिया जा सकता है।

जिन विचारकों ने मूल्यों के प्रथम तीन आधारो मे विश्वास किया उनके अनुसार मूल्य सर्वव्यापी होते हैं। अन्तरात्मा या अन्य माध्यम से सदिच्छा वाले प्राय. सभी व्यक्ति अन्त मे एक मत हो

चौथी स्थिति को मानने वाले लोग इस बात को अस्वीकार करते हैं कि मूल्य आवश्यक रूप से सर्वव्यापी होंगे। यहां तक कि सद्इच्छा वाले लोगों के मूल्य भी विरोधी एवं संघर्षपूर्ण हो सकते हैं। मूल्यों के आधारों से सम्बन्धित एक अन्य मान्यता भी है जो प्रथम तीन एवं अन्तिम मान्यता के बीच एक पुल का कार्य करती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार यद्यपि मूल्य साधारण रूप से प्राथमिकताओं पर आधारित होते हैं किन्तु फिर भी कुछ प्रकार की प्राथमिकतायें सम्भवत सर्वव्यापी होती हैं। इन सर्वव्यापी प्राथमिकताओं को खोजा जा सकता है और राजनैतिक व्यवस्थाओं को उनके अनुरूप बनाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मि० आरनोल्ड ब्रेक्ट (Arnold Brecht) का कहना है कि सबल प्रमाणों के आधार पर यह माना जा सकता है कि नैतिक मूल्यों के बारे मे सोचने और अनुभव करने के मानवीय तरीकों में अनेक सामान्य तत्व होते हैं।

राजनीति शास्त्र का अध्ययन क्या मूल्यों से स्वतन्त्र रह सकता है इस सम्बन्ध मे विचारकों ने अलग-अलग मत प्रकट किए हैं। इस प्रश्न का सबंध राजनीति शास्त्र की वस्तुगतता से है। प्रो० रावर्ट डहाल का मत है कि सम्भवतः अन्य कोई दार्शनिक प्रश्न राजनीति के विद्यार्थियों के बीच इतनी गहरी भावनाओं को नही उकसाता। कुछ विचारकों का कहना है कि जब तक राजनैतिक अध्ययन वस्तुगत नही होता तब तक वह वैज्ञानिक तो हो ही नही सकता; ऐसी स्थिति में हर संभव प्रयास द्वारा उसे वस्तुगतता की ओर मोड़ना चाहिए। दूसरी ओर वे विचारक है जो इस विश्वास से युक्त है कि राजनीति शास्त्र का अध्ययन मूल्यों से पृथक हो ही नहीं सकता। इनका कहना है कि एक अध्ययनकर्ता अपने हितों, मूल्यो एवं उत्सुकता के आधार पर ही अध्ययन के विषयों का चयन करता है। इस चयन में वह उन्ही बातों को स्थान देता है जो कि उसकी दृष्टि मे रुचिकर, महत्वपूर्ण एव परीक्षा के उपयुक्तता हैं। यह बात प्राकृतिक विज्ञानों के सम्बन्ध में जितनी सच होती है उतनी ही सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध मे भी सच है। दूसरे, इन विचारकों का यह कहना है कि केवल व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर महत्व एवं उपयुक्तता के माप-दण्ड स्थापित करना असभव है। कुछ ऐसे मूल्य अवश्य होने चाहिए जिनके आधार पर उन परिस्थितियों के बीच भेद किया जा सके जो कि प्रजातन्त्र और तानाशाही मे स्थायित्व पैदा करने के लिए उत्तरदायी है। तीसरे, इन विचारकों का एक मनोरंजक तर्क यह है कि वस्तुगत विश्लेपण को महत्वपूर्ण मानने वाले लोग भी सत्य के मूल्य की उपयुक्तता मे विश्वास करते है। जब तक एक व्यक्ति असत्य की अपेक्षा सत्य को अधिक उपयुक्त नही मानता तब तक वह वस्तुगत अध्ययन पर अधिक जोर

नहीं देगा। यह कहा जाता है कि वस्तुगतता, तटस्थता एवं वैज्ञानिक विकास के लिए क्षमता एव अवसर कुछ राजनैतिक एवं सामाजिक पूर्व आवश्यकताओ के बिना असंभव होते है। राबर्ट डहाल का कहना है कि एक वैज्ञानिक को व्यावहारिक विश्व की अपनी समझ के अनुसार व्याख्या करने के लिए यह पूर्व आवश्यकता होगी कि सम्बन्धित शासक उसकी परीक्षा की स्वतन्त्रता को सहन करे या कम से कम उसे समर्थित करें। यहां तक कि शासकों के भी अपने सिद्धान्त होते हैं और जो विचारक इन सिद्धान्तो के विपरीत व्यवहार करते हैं उनको उसका प्रभाव भुगतना होता है; उदाहरण के लिए हिटलर और स्तालिन दोनो के जीव शास्त्र के सम्बन्ध में अपने कुछ निश्चित दृष्टिकोण थे; यदि कोई जीव शास्त्री इनका विरोध करता तो उनके द्वारा यह सहन नही किया जा सकता था। स्तालिन के समय में जीव शास्त्रियों ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि वातावरण का जैविक रचना पर बहुत प्रभाव डाला जाता है। यह मान्यता मार्क्सवादी सिद्धांतों के अनुरूप थी। सामाजिक एव राजनीतिक वातावरण का प्रभाव प्राकृतिक विज्ञानों की अपेक्षा सामाजिक विज्ञानों पर अधिक पडता है। व्यवहारवादी एवं अनेक आलोचक समान रूप से इन सभी बातों को स्वीकार करते है। उनके बीच जो अन्तर है यह यह कि अधिकांश व्यवहारवादी विचारक (Empirical Thinkers) यह मानते है कि राजनीति से सम्बन्धित हमारे विश्वासो के व्यावहारिक पहलुओ को अलग करना तथा उसे जांचना संभव है। व्यावहारिक निश्चय सच होते हैं या गलत, यह हमारे मूल्यों से पूर्णतया भिन्न चीज है। इन पर मूल्यों का प्रभाव नही होना चाहिए। 'जो है' उसके बारे मे सही निर्णय जो होना चाहिए उससे सम्बन्धित सही निर्णय से पृथक होता है। हम अपने मन में कल्पनायें करें कि 'ऐसा होना चाहिए' किन्तु यह कल्पना 'जो होता है' उसके वास्तविक तथ्यों पर बहुत कम प्रभाव डालती है। मूल्यो के द्वारा प्रेरित हो कर विचारक एक आदर्श के सम्बन्ध में कल्पना करते है किन्तु यह आदर्श परिस्थितियो के व्यावहारिक सत्य को नही बदल सकता। ऐसी स्थिति मे किसी भी व्यावहारिक प्रस्ताव की सत्यता इस बात पर निर्भर नही करती कि हम 'जो होना चाहिए' के बारे में क्या सोचते है वरन् 'जो वास्तव में है वह क्या है' यह अधिक महत्वपूर्ण है।

व्यवहारवादी विचारों के अनेक आलोचक इस बात से सहमत हैं कि तथ्य और मूल्य तार्किक रूप से भिन्न-भिन्न होते है। जो है का ज्ञान जो होना चाहिए के ज्ञान से अनेक प्रकार से भिन्न है। कुछ लोगों का तर्क है कि क्या है के ज्ञान में मनुष्य के प्राकृतिक लक्ष्यों का ज्ञान भी सम्मिलित चाहिए। इन लक्ष्यो की ओर व्यक्ति स्वाभाविक रूप से प्रेरि.

वास्तविकता यह है कि सभी व्यक्ति हर समय अपने प्राकृतिक लक्ष्यों की प्राप्ति मे लगे रहते है और इसके अतिरिक्त वे कुछ नही कर पाते। ऐसी स्थिति में यह तर्क करना बेकार है कि वे जो कुछ भी करते है उससे भिन्न उनको कुछ करना चाहिए। व्यवहारवादियो के आलोचक इस मान्यता में विश्वास नही करते, क्योंकि उनके मतानुसार राजनीति मे महत्वपूर्ण नैतिक स्वेच्छा होती है। उन विचारको के अनुसार चाहे प्राकृतिक विज्ञानो मे कुछ भी होता हो किन्तु राजनीति शास्त्र मे तथ्य और मूल्य एक दूसरे के साथ इतने गुंथे हुए होते है कि उनको कुछ महत्वपूर्ण विषयो को छोड़कर अलग-अलग नही किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति हर समय मूल्य सम्बन्धी निर्णय देता रहता है। तटस्थता और वस्तुगतता के आवरण में व्यवहारवादी विचारक अपने मूल्यो को पहचान नही पाते। इनके विरोधियो का मत है कि राजनीति शास्त्र की भाषा मूल्य से ढकी रहती है। राजनीति शास्त्र का कोई भी पूर्ण सिद्धान्त न केवल तथ्यगत रूप से सत्य होना चाहिए वरन् उसमे राजनैतिक घटनाओं प्रक्रियाओं तथा सिद्धान्त मे वर्णित व्यवस्थाओं के प्रति नैतिक गुण भी होने चाहिए। रावर्ट डहाल के कथनानुसार यह सोचना भ्रम है कि राजनीति का पूर्ण रूप से वस्तुगत कोई सिद्धान्त बनाया जा सकता है। यदि हमने ऐसा सिद्धान्त बनाया भी तो यह इतना महत्वहीन होगा कि इसका कोई उपयोग नही हो सकता।[1]

इस मत का यह अर्थ नहीं है कि राजनीति का विद्यार्थी अपने व्यावहारिक विश्लेषणों मे कोई तटस्थता अथवा वस्तुगतता प्राप्त नही कर सकता। आलोचकों तथा व्यवहारवादियो के बीच मुख्य मतभेद तार्किक मसलों पर नही है वरन् मनोवैज्ञानिक मसलो पर है। वे इस बात पर मतभेद नही रखते कि तथ्य और मूल्य तार्किक दृष्टि से पृथक-पृथक है; वरन् वे इस बात मे भिन्नता रखते है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राजनीतिक विषयो मे तथ्य और मूल्य अलग अलग किये जा सकते है। इस प्रकार उनके बीच का झगड़ा इस बात पर नही है कि क्या हम तथ्य और मूल्यो को अलग अलग कर सकते है; वरन् इस बात पर है क्या राजनैतिक विश्लेषण में उनको अलग-अलग करना चाहिए।

व्यवहारवादी विचारकों का तर्क है कि एक तटस्थ राजनीति शास्त्र वाछनीय ही नही है। हम राजनीति शास्त्र का अध्ययन इसलिए नही करते कि उसमें केवल सौन्दर्य है अथवा केवल इसलिए नही करते कि वह हमारे आनन्द को पूर्ण बनाता है वरन् राजनीति शास्त्र का अध्ययन इसलिये करते है ताकि हम कार्य सही तरह से कर सकें; सर्वश्रेष्ठ को चुन सकें, तथा इस सम्बन्ध मे निर्णय ले सकें कि साथी मनुष्यो के साथ किस

1 Robert A. Dahl, op. cit, page 104.

प्रकार सबसे अच्छे तरीके के साथ रह सकते हैं। इन सबका हमको मूल्याकन करना होता है। ऐसी स्थिति मे ऐसा करना बेकार रहेगा कि हम अपने तथ्यों से सम्बन्धित ज्ञान को एक ओर रख दें तथा उसे साफ-सुथरा बना कर उस पर मोहर लगा दें और दूसरी ओर मूल्यों को रखे जहां कि वे वास्तविकता पर कोई प्रभाव नही डाल सकें। ऐसा करना न तो सभव है न ही वांछनीय है। राजनीति शास्त्र का अध्ययन तथ्यों की प्राप्ति तथा उनका मूल्यांकन उनकी पारस्परिक सम्बन्धों को प्रक्रिया है। राजनीति शास्त्र के अतीतकालीन महा-पण्डितो ने राजनीति शास्त्र की व्याख्या मात्र ही नही की थी; वरन् उन्होंने व्यक्ति को एक अच्छे जीवन की प्राप्ति के लिए निर्देश किया था।

व्यवहारवादियों के आलोचक व्यवहारवादी विचारकों के विरुद्ध कई प्रकार के दोषारोपण करते हैं। उनका कहना है कि ये औचित्य ,के मापदण्ड नही रखते क्योंकि ऐसे मापदण्ड केवल व्यावहारिक अध्ययन से प्राप्त नही किये जा सकते। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक राजनीति शास्त्री ऐसी छोटी-छोटी परीक्षाओं मे उलझे रहते है जो मानवीय उद्देश्यों के लिए कोई महत्व नही रखती। तटस्थता एवं वस्तुगतता की प्राप्ति के लिए व्यवहारवादी विचारकों को एक नया जटिल और बेकार का शब्द-जाल रचना होता है। व्यवहारवादी विचारक मूल्याकन के सभी आधारो को अस्वीकार करते है और इस प्रकार वे सभी मूल्यों को एक समान मानते है। इस सम्बन्ध मे प्रो० लियोस्ट्रास ने लिखा है कि व्यवहारवादी विचारक सभी मूल्यों की समानता का पाठ पढ़ाकर, यह अस्वीकार करके कि कुछ वस्तुये आन्तरिक रूप से उच्च होती है और कुछ वस्तुयें आन्तरिक रूप से निम्न होती हैं, यह ठुकराकर कि मनुष्य तथा जंगली पशु के बीच मूल अन्तर होता है, ये व्यवहारवादी विचारक निकृष्टता की विजय में योगदान करते है। जब व्यवहारवादी विचारको द्वारा तटस्थता का समर्थन किया जाता है तो ये लोग उदार प्रजातन्त्र के प्रति पक्ष-पातपूर्ण हो जाते है। उनके तटस्थ सिद्धान्त उदार प्रजातन्त्र के मूल्यों एवं व्यवहारों के प्रति औचित्य सिद्ध करने वाले होते है।

इन आलोचनाओं का व्यवहारवादियों द्वारा उत्तर दिया गया है उनका कहना है कि उन्होंने अपने आपको उन अनेक प्रश्नों से सम्बन्धित रखा है जिन पर कि बहुत पहले से ही राजनीति शास्त्री विचार करते आ रहे है। उदाहरण के लिए राजनैतिक व्यवस्थाओं के प्रकार, स्थायित्व की समस्या, परिवर्तन और क्रान्ति, प्रजातन्त्र और तानाशाही की शर्तें, युद्ध और शान्ति, समानता एवं असमानता एवं स्वतन्त्रता और दासता। जहां तक शब्द-जाल बनाने का सम्बन्ध है उसके बारे में व्यवहारवादी विचारकों का कहना है कि राजनीति की

साधारण भाषा अनेक गम्भीर समस्याओं को उत्पन्न करती है क्योंकि अनेक राजनैतिक पद विभिन्न अर्थ रखते हैं।

लासवेल की भांति कुछ व्यवहारवादी विचारक यथासंभव एक छोटा शब्दकोष तैयार करने का प्रयास करते है। ऐसा करते समय उन्होंने अन्य सामाजिक विज्ञानो से शब्द ग्रहण किये है और पुराने पदों को पर्याप्त स्वतंत्रता के साथ पुनः परिभाषित किया है। कुछ व्यवहारवादी विचारको ने बिना किसी शब्द जाल के ही लिखने का प्रयास किया है। व्यवहारवादी विचारकों का कहना है कि उन पर सभी मूल्यों को एक जैसा मानने का जो आरोप लगाया गया है वह पूरी तरह से गलत नहीं है किन्तु उनकी मान्यताओ एवं लेखों को गलत रूप से पढ़ने का परिणाम है।

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो व्यवहारवादी विचारकों के तटस्थता एवं व्यक्तिगत स्पष्टीकरणों तथा मूल्यो के बीच आवश्यक रूप से कोई असमानता नही है, अधिकाश व्यवहारवादी विचारक यह तर्क करते है कि बुद्धिपूर्ण नैतिक चयन के लिए व्यावहारिक चेतना एक आवश्यक शब्द है। यह ठीक है कि एक व्यक्ति को सही और गलत के सम्बन्ध मे शक्तिशाली मापदंड रखना चाहिए किन्तु इन्हे राजनैतिक विकल्पो पर लागू करने के लिए पहले यह जानना चाहिये कि एक विकल्प को अपनाने से क्या परिणाम प्राप्त होगा। नैतिकता को शून्य मे लागू नही किया जा सकता। केवल घटनाओं की दुनियां मे ही हम अपने नैतिक मापदण्डो को लागू कर सकते है। जहां तक सम्भव हो सके हमे यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि घटनाओ की दुनियां मे क्या हो रहा है। व्यवहारवादी विचारकों पर उदार प्रजातन्त्रवादी होने का जो आरोप लगाया गया था, उसके बारे में इनका कहना है कि निश्चय ही ये प्रजातन्त्र का समर्थन करते है क्योकि केवल लोकप्रिय सरकार ही व्यावहारिक सिद्धान्त के लिए आवश्यक अध्ययन की स्वतन्त्रता प्रदान कर सकती है। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक अनुसन्धान अन्य व्यवस्थाओ की अपेक्षा प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्थाओं मे अच्छी प्रकार से किये जा सकते है। इसके अतिरिक्त अपनी प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्थाओ के अनेक पहलू ऐसे है जिनका अध्ययन करने के लिए आधुनिक तरीकों की आवश्यकता है। लोकमत और मतदान प्रक्रिया की व्याख्या पुराने तरीको से नही की जाती। कई बार यह यह कहा जाता है कि राजनीति शास्त्र मे मूल्यों का अपना महत्व है। मूल्यो के प्रभाव से विभिन्न नीतियों एवं व्याख्याओ के विकल्पों की जांच की जा सकती है। राजनीति शास्त्र के व्यवहारवादी पहलुओं का वस्तुगत मूल्यांकन करने के प्रयास की प्रत्येक असफलता व्यवहारवादी सिद्धान्त के तटस्थ और वस्तुगत निकाय की रचना का आधार बनती है।

मानवीय व्यवहार का अध्ययन
(A Study of Human Behaviour)

अर्वाचीन राजनीति शास्त्र की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उसने राजनैतिक संस्थाओं के औपचारिक रूप एवं संगठन का अध्ययन करने की अपेक्षा मानवीय व्यवहार का अध्ययन करने की ओर विशेष ध्यान लगाया है। राजनैतिक क्षेत्र में व्यक्ति जो कुछ भी करता है उसके पीछे कौनसी प्रेरणाएं कार्य करती है और इन प्रेरणाओं के निर्धारण में कौनसे तत्व प्रभाव डालते है। असल में राजनीति मानवीय व्यवहार के अतिरिक्त कुछ भी नही है। मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन होने के नाते राजनीति शास्त्र को मनोविज्ञान, अर्थ शास्त्र एवं समाज शास्त्र आदि विषयों से बहुत कुछ ग्रहण करना होता है। बरट्रांड डी जोवनेल (Bertrand De Jouvenel) ने राजनैतिक क्रिया को खतरनाक माना है। इसके द्वारा लोग दूसरों को प्रभावित करते है। उन्हे संयुक्त प्रयास के लाभ सौंप सकते हैं। ये क्रियायें सामाजिक रचना का आवश्यक स्रोत होती हैं। एक ओर जहां ये आवश्यक हैं वहां इनके द्वारा बड़ा नुकसान भी किया जा सकता है। मानवीय मनोविज्ञान व्यक्ति को दूसरो को कष्ट देने के लिए या स्वयं को समाप्त करने के लिए भी प्रेरित कर सकता है।

एक सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति अकेला नही रह सकता। सामाजिक जीवन को सही रूप से सचालित करने के लिए यह जरूरी बन जाता है कि एक व्यक्ति अपने साथियों से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त करे। साथियों का व्यवहार जीवन में इतना महत्वपूर्ण होता है कि उसकी जानकारी प्राप्त करना उपयोगी ही नही आवश्यक भी है। एक मनुष्य के रूप में व्यक्ति दूसरों के साथ रहता है और काम करता है इसलिए वह उनके व्यवहार का पर्यवेक्षण करता है। राजनीति मूलरूप से और कुछ नही वरन् मानवीय व्यवहार है। इसका ज्ञान केवल तभी प्राप्त हो सकता है जबकि मनुष्य के व्यवहार का व्यवस्थित रूप से अध्ययन किया जावे। यदि राजनीति को केवल उन लोगों का व्यवहार समझा जाय जो शक्तिपूर्ण पद पर स्थित है तो यह एक प्रकार से राजनीति का सीमित अर्थ होगा। इस सम्बन्ध मे बरट्रान्ड डी जोवनेल का दृष्टिकोण उल्लेखनीय है। इनके मतानुसार उस प्रत्येक व्यवस्थित प्रयास को राजनैतिक माना गया है जो सामाजिक क्षेत्र में किसी भी स्थान पर इसीलिए सम्पन्न किया जाता है ताकि दूसरे व्यक्तियों को उधर मोड़ा जा सके जिधर कि मोड़ने वाला चाहता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार हम पाते है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ कार्य करता है व दूसरो के द्वारा सचालित होता है और दूसरों को संचालित करता है।[1]

---

1. Bertrand D. Jouvenel, the Pure theory of Politics, Ca-bridge University Press, 1963, Page 30.

व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन कोई सरल कार्य नहीं है, वह बौद्धिक भावनात्मक एवं संवेगात्मक अनेक जटिलताओं से परिपूर्ण रहता है और इसलिए उसका सही रूप समझना यदि असंभव नही तो कठिन अवश्य है। कुछ विचारक जो व्यक्ति को बुद्धिपूर्ण प्राणी मानते हैं और बुद्धि को ही उसके कार्यों का मुख्य आधार कहते है उनके अनुसार यह कहा जाता है कि मनुष्य के सभी कार्य मुख्य रूप से बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा नियन्त्रित किये जाते हैं। यह प्रक्रिया पहले तो एक लक्ष्य छांटती है और उसके बाद उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधनो की तलाश करती है। दूसरे विचारकों को यह मत अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है उनका कहना है, कि यदि हम व्यक्ति को पूर्ण रूप से बुद्धिवादी मान लें तो उस व्यवहार की व्याख्या नही कर सकते जो मुख्य रूप से अबुद्धिपूर्ण होता है। आधुनिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेपरण ने यह बहुत कुछ प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य का अधिकांश व्यवहार अबौद्धिक शक्तियों एवं आदतवश प्रक्रियाओं पर निर्भर करता है। ऐसी स्थिति में राजनैतिक आचरण का स्रोत व्यक्ति के भावनात्मक जीवन मे प्राप्त हो सकता है।

राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी की रुचि उस सामान्य दृष्टिकोण में रहती है जो व्यक्ति के कार्यों एवं प्रतिक्रियाओं के लिए एक 'अन्तर्दृष्टि' प्रदान कर सके। ऐसी स्थिति मे अनिश्चितता बढती है क्योंकि बौद्धिक कार्यों का ज्ञान एवं उसकी कल्पना जितनी सरल एवं निश्चित होती है, उतनी भावनात्मक एवं आदतों के फलस्वरूप किये गये कार्यों की नहीं होती। अनिश्चय के द्वारा अध्ययन मे अवैज्ञानिकता आ जाती है। वर्तमान युग नवीनताओं एवं परिवर्तनो का युग है और दूसरी ओर व्यक्ति का स्वभाव परिवर्तनो के प्रति प्राय. रूखा होता है। वह अपनी आदतो एवं परम्परागत सस्थात्मक प्रबन्धो के प्रति बहुत कुछ प्रेम रखता है। इस प्रेम तथा युग के परिवर्तनों के बीच समायोजना करना वर्तमान युग की एक प्रमुख समस्या है। राजनीति शास्त्र वर्तमान परिस्थितियो की चुनौतियों और मानव प्रकृति की मूल विशेषताओं को ध्यान में रखकर आगे बढ़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध मे अपनी मान्यता रखता है और वह मान्यता उसके सम्पूर्ण राजनैतिक, सामाजिक दर्शन को रंग देती है। उसके विशेष सामाजिक दृष्टिकोण को उचित ठहराने के लिए विचारक मानव प्रकृति की वैसे ही व्याख्या करते है। जब कभी राजनैतिक क्षेत्र मे कोई नवीन प्रयोग प्रारम्भ किया जाता है तो उसके समर्थक लोग उसे मानव प्रकृति के अनुकूल ठहराकर लोकप्रिय बनाते हैं, जबकि आलोचकों द्वारा मानवीय प्रकृति की व्याख्या करके उसका विरोध किया जाता है। कुल मिलाकर यह दृष्टिकोण

संस्थागत समायोजनाओं को रोकने तथा उनमे देरी करने का कार्य करता है। कोई भी राजनीति शास्त्री मानवीय व्यवहार के अध्ययन को ठुकरा नहीं सकता। असल में उसके विचार मानव प्रकृति की व्याख्या से प्रारम्भ होते हैं और व्यवहार के वास्तविक विश्लेषण तक पहुंचते है।

मानवीय प्रकृति में दो पहलू होते हैं। उसके एक भाग में कुछ जीव शास्त्रीय रूप से निर्धारित तत्व होते है और दूसरे भाग में वे विशेषताएं होती हैं जो सांस्कृतिक तत्वों द्वारा निर्धारित की जाती है। मानवीय प्रकृति के प्रथम पहलू में यह माना जाता है कि मनुष्य एक भौतिक सावयवी है। इसमे कुछ मूल इच्छाएं तथा आवश्यकताएं होती हैं जैसे भोजन, रक्षा, कपडे पहनना आदि आदि। इसके अतिरिक्त व्यक्ति मे कुछ विशेष क्षमताए भी होती है। उसका व्यक्तिगत स्वभाव एवं कुशलताएं होती है जो जीवन के विभिन्न पहलुओं में उसकी सफलताओं को निर्धारित करती है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशेष विश्वास मूल्य, रुचि एव आचरण का मानदण्ड होता है। ये विशेषताएं व्यक्ति में जन्मजात नही होती वरन् प्राप्त की हुई होती है। ये सांस्कृतिक वातावरण के अनुसार निर्धारित होती हैं। ऐसा होने के कारण ये सांस्कृतिक रूप में होने वाले परिवर्तनों के रूप में अपने आपको समायोजित करती रहती है तथा स्थाई नही होती। उन प्राप्त विशेषताओं का अस्तित्व राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि वह विभिन्न राजनैतिक संघर्षों को समाप्त करने के लिए तकनीकों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन करते समय इनसे सहायता ले सकता है।

व्यक्ति की स्वाभाविक एवं अन्तर्निहित जीव शास्त्रीय विशेषताओं को भी सांस्कृतिक वातावरण द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है। राजनीति शास्त्री को मानव व्यक्तित्व के इन दोनों पहलुओं के बीच स्पष्ट अन्तर करना होता है। सुरक्षा की इच्छा व्यक्ति में अन्तर्निहित होती है; किन्तु लालच की भावना उसमें जन्मजात या जीवशास्त्रीय नही होती वरन् यह एक विशेष सामाजिक परिस्थिति का परिणाम है। सामूहिक स्वामि-भक्ति व्यक्ति मे अन्तर्निहित होती है, क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है, किन्तु दूसरी ओर राष्ट्रवाद की भावना विशेष, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक वातावरण का परिणाम है। मनुष्य की भूख, प्यास आदि से सम्बन्धित सभी मूल आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति को संस्कृति के द्वारा परिवर्तित कर दिया जाता है। मनुष्य की अन्तर्निहित प्रतिक्रियाओं को भी दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में वे आते हैं जो सामयिक सन्तुष्टि की माग करते हैं तथा अपने आप ही जाग्रत होते हैं चाहे बाहरी परिस्थितियां कुछ भी क्यों न हों। दूसरी ओर वे होती हैं जो किसी बाहरी प्रेरक की

प्रेरणास्वरूप उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए निराशा की प्रतिक्रिया के रूप में आक्रमण करना, यदि आक्रमण किया जाए तो लड़ाई करना आदि। यदि संस्कृति और सभ्यता का विकास ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दे कि दूसरे प्रकार की अन्तर्निहित प्रतिक्रियाओं के प्रेरक समाप्त हो जाएं या कम कर दिये जावें तो निश्चय ही ये प्रतिक्रियाएं भी उसी मात्रा में समाप्त या कम हो जाएंगी।

मानवीय प्रकृति के मुख्य अवयवों जैसे विश्वासों, मापदण्डों मूल्यों आदि को यदि परिवर्तित वातावरण के प्रभाव से बदला जा सकता है तो व्यक्ति के हाथ मे उसके भाग्य को निर्देशित करने की शक्ति आ जाती है। हमारे विचार और हमारे दृष्टिकोण एक विशेष संस्कृति की संस्थाओं एवं व्यवहारों के प्रति हमारे समायोजन द्वारा बनते और अभिव्यक्त होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम दूसरे राष्ट्रों, समाजों की ओर पूर्ण वस्तुगतता के साथ नहीं देख सकते, वरन् इसके लिए एक मापदण्ड अपनाते है जो सांस्कृतिक रूप से निर्धारित हमारी परम्पराओं, संस्थाओं एवं मूल्यों द्वारा प्रदान किया जाता है। अचेतन रूप से हम यह निश्चित रूप से मान लेते हैं कि हमारे कार्य मानवीय प्रकृति की सच्चे रूप मे अभिव्यक्ति कर रहे हैं और इसलिए अनिवार्य रूप से सही है। जिस समाज मे प्रतियोगिता होती है उसके सदस्य यह मानकर चलते है कि प्रतियोगिता सभी व्यक्तियों का एक स्वाभाविक गुण है और इसको मिटाने के लिए कोई भी आन्दोलन, जो सहयोग बढ़ाने के उद्देश्य से किया जायेगा, यह अस्वाभाविक होगा। प्रत्येक संस्कृति के द्वारा एक मूल व्यक्तित्व सरचना (The Basic Personality Structure) की स्थापना की जाती है। यह उन विशेष रीति रिवाजों एवं संस्थाओं की उपज होती है जिनके अनुसार एक व्यक्ति समाज मे कार्य करता है। किसी भी विशेष परिस्थिति के प्रति व्यक्ति क्या प्रतिक्रिया करेगा यह बहुत कुछ उसकी संस्कृति के द्वारा निर्धारित किया जायेगा।

उक्त व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ज्यों–ज्यों तकनीकी आविष्कारों के द्वारा संस्थाओं एवं सांस्कृतिक रूपों को परिवर्तित किया जायेगा, त्यों-त्यों हमारे विचार और दृष्टिकोण बदलते रहेंगे। राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी व्यक्ति की प्रकृति के इन दोनों पहलुओं पर विचार करते हुए मानवीय व्यवहार के राजनैतिक पहलू का अध्ययन करता है। इतिहास, अनुभव एवं मनोविज्ञान के आधार पर वह इस बात पर विश्लेषण करता है कि कोई भी सामूहिक या व्यक्तिगत व्यवहार क्यों किया गया और व्यक्ति किन परिस्थितियों में क्या व्यवहार करेंगे। मानवीय व्यवहार के अध्ययन से राजनीति शास्त्र अपने आपको वैज्ञानिकता की ओर ले जाता है।

इतिहास के अध्ययन से इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि व्यक्ति में विरोधी प्रवृत्तियां भी साथ-साथ प्रभावशील रूप से कार्य करती रहती है उदाहरण के लिए आक्रमण और शांतिपूर्ण सहयोग ने बहुत पहले से ही मानवीय व्यवहार को प्रभावित किया है। इन दोनों में से किसी भी एक तत्व को अधिक महत्व देना अवास्तविक तथा अनैतिहासिक रहेगा। यदि व्यक्ति को हम केवल झगड़ालू, प्रतिद्वन्द्वी तथा शक्ति की खोज करने वाला पशु मानें तो उसके सहयोग, आत्म बलिदान और भक्तिपूर्ण कार्यों का स्पष्टीकरण करना कठिन बन जायेगा। मानवीय व्यवहार का समुचित रूप से अध्ययन करने के बाद राजनीति शास्त्र उन साधनों एवं प्रक्रियाओं की खोज करता है जिनके द्वारा व्यक्ति की संघर्ष पूर्ण प्रवृत्तियों को रोका जा सके और उसमें शान्तिपूर्ण सहयोग की प्रवृत्तियां अधिक से अधिक विकसित की जा सकें। सभ्यता के विकास ने व्यक्ति की अमर्यादित स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया है। सभ्य और सुसंस्कृत कहलाने के लिए एक व्यक्ति को अपने तत्कालीन सुखों का बलिदान करके अन्य व्यक्तियों के साथ सहयोग करना होता है। ऐसा करते समय यह आशा की जाती है कि सहयोगपूर्ण प्रयासों के द्वारा उसे अन्तिम रूप से अधिक सहयोग प्राप्त होगा। विचारकों ने उन तरीकों को खोजने का प्रयास किया है जिनके द्वारा व्यक्ति स्वेच्छापूर्ण सहयोग के लिए प्रेरित हो सकें। जान बालबे (John Bowlby) ने मानवीय प्रेरकों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से प्राप्त अनुभवों के आधार पर कुछ निश्चित सिद्धांतों का उल्लेख किया है, जिनके आधार पर स्वेच्छापूर्ण सहयोग को विकसित किया जा सके। उनके मतानुसार समूह के लक्ष्यों को निर्धारित करने में जनता का योगदान होना चाहिए। सम्भवतः यही कारण है कि प्रजातन्त्र को मानवीय समाज के संगठन का एक सशक्त आधार माना जाता है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में अपनायी गई नीतियां बहुमत की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है अतः इनको मूल सिद्धांत के अनुरूप कहा जा सकता है। दूसरे लोकप्रिय नेता के प्रति हमारी भावनात्मक प्रतिक्रिया होनी चाहिए। जिस प्रकार एक सेना के सिपाही अपने नेता के प्रति भावना रखते हैं तथा उसकी आज्ञा के पालन में तत्परता दिखाते हैं अथवा जिस प्रकार एक अध्यापक के प्रति उसके विद्यार्थियों की भावनायें रहती हैं उसी प्रकार राजनैतिक नेता के प्रति जनता की भावनायें होनी चाहिए। तीसरे प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में दीर्घकालीन योजनाओं एवं कार्यक्रमों के प्रति भक्ति रहनी चाहिए। इन योजनाओं की सिद्धि के लिए दूरदर्शिता एवं सूझबूझ की आवश्यकता रहती है जो सम्बन्धित नेता में होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही अधिकांश भागीदार उस नेता को अपना प्रतीक मान सकते हैं। प्रजातन्त्रात्मक समाज में नेता एवं कार्यक्रम को मिल,

दिया जाता है ताकि यह खतरा न रहे कि नेता की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षायें सामूहिक कार्यक्रम से अधिक महत्वपूर्ण बन जायेगी।

इस प्रकार विभिन्न तकनीकें अपना कर समूह को शांतिपूर्ण सहयोग की ओर प्रेरित किया जाता है। मानवीय व्यवहार को आवश्यकता के अनुसार मोड़ देना तथा उससे सम्बन्धित कल्पनायें करना राजनीति शास्त्र के आधुनिक विचारकों की रुचि का मुख्य केन्द्र है। व्यक्ति के सामूहिक जीवन तथा व्यक्ति-जीवन की गहराई के साथ छानबीन की जाती है ताकि यह देखा जा सके कि किस राजनैतिक प्रयोग का क्या परिणाम होगा तथा एक प्रयोग की सफलता के लिए क्या परिस्थितियां पैदा करनी चाहिये।

मनोविश्लेषण का महत्व
(The Importance of Psycho-analysis)

आधुनिक राजनीति में मनोविश्लेषण का पर्याप्त महत्व हो गया है। मनोविश्लेषण का सम्बन्ध व्यक्तियों से होता है और इन्हीं व्यक्तियों के व्यवहार तथा विचारों में राजनीति शास्त्र की रुचि है। मनोविश्लेषण से सम्बन्धित अनेक अध्ययन हमारे आधुनिक संसार की अनेक विशेषताओं को भलिभांति समझते है। इन अध्ययनों में से कुछ का लक्ष्य यह पता लगाना है कि लोगों का सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन अबौद्धिक भावनात्मक शक्तियों से किस प्रकार प्रभावित होता है। व्यक्ति एवं समूह के अधिकांश कार्य इस प्रकार से संचालित किये जाते है कि कर्त्ताओं को इस बात का भान नहीं होने पाता कि वे किसी भावना या प्रवृत्ति से प्रभावित है। प्रत्येक मानवीय व्यवहार को किसी न किसी आदर्श के रूप में रंग दिया जाता है। जिन कार्यों को उच्च नैतिक उद्देश्यों का साधन बताया जाता है वे कार्य हो सकता है कि आक्रमण करने की प्रवृत्ति से प्रभावित हो।

जब हम समाज पर प्रभाव डालने वाली भावनात्मक शक्तियों का अध्ययन करने लगते हैं तो इससे राजनैतिक घटनाओं को अधिक स्पष्ट रूप से समझने का अवसर प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में राजनीति-शास्त्र का अध्ययन केवल औपचारिक मात्र नहीं रह जायेगा तथा उसमें ऐतिहासिक ज्ञान को वैज्ञानिक रूप में प्रयुक्त किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त राजनैतिक संस्थाओं एवं राजनैतिक नीति शास्त्र के बीच जो अन्तर पाया जाता है उसे भी दूर किया जा सकेगा। वर्तमान काल में ऐसे राजनीति शास्त्र की आवश्यकता का अनुभव किया जाता है जो समाज के सम्बन्ध में हमारे वर्तमान ज्ञान को बढ़ा दें। समाज में विभिन्न व्यक्तियों के व्यवहार से सम्बन्धित सामान्य नियम बनाये जा सकते हैं। ऐसा करने से राजनैतिक एवं सामाजिक

संरचना के व्यावहारिक पहलुओं को पर्याप्त सुविधा प्राप्त हो जायेगी। इस प्रकार मनोविश्लेषण से सम्बन्धित अध्ययन राजनीति शास्त्र के लिए पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हो सकते है और आधुनिक विचारक इनका अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

अर्वाचीन राजनीति शास्त्र की सीमायें
(The Limitations of Contemporary Political Science)

अर्वाचीन राजनीति-शास्त्र ने अपने आपको पर्याप्त विकसित कर लिया है। उसकी अनेक शाखायें बन गई हैं। वह स्थानीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक की अनेक संस्थाओं का अध्ययन करता है। इन संस्थाओं के संगठन तथा कार्यों के अध्ययन के साथ वह इनका तुलनात्मक मूल्यांकन करता है। जहां राजनीति-शास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र बढ़ा है वहां उसकी अनेक समस्यायें भी उसी अनुपात में बढ़ गई हैं। अपने नये दायित्वों का निर्वाह करने में यह शास्त्र अनेक कठिनाइयों एवं सीमाओं का अनुभव कर रहा है। जब राजनीति शास्त्री विभिन्न विषयों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने का प्रयास करता है तो वह पाता है कि उसके हाथ कई तरफ से बंधे हुए है। उसका मार्ग अनेक सीमाओं से अवरुद्ध रहता है जो उसके निष्कर्षों को गलत साबित करने के लिए पर्याप्त होते है। इन सीमाओं की जानकारी रहने से अध्ययन सुविधा-जनक बन जाता है तथा अनेक भ्रमों की सम्भावना समाप्त हो जाती है।

राजनीति शास्त्र स्वयं एक पृथक अनुशासन का रूप धारण कर चुका है। यह व्यक्ति के राजनैतिक व्यवहार को उसके अन्य व्यवहारों से अलग करके देखता है। इस अर्थ में राजनीति शास्त्री भी उसी प्रकार से एक वैज्ञानिक होता है जिस प्रकार कि हम एक रसायन-शास्त्री को, इतिहासकार को तथा भौतिकविज्ञान के शास्त्री को वैज्ञानिक कहते है। इन सभी विज्ञानों की भांति राजनीति शास्त्र भी अपने क्षेत्र का स्पष्टीकरण करने के बाद अपनी सभ्यता को भी समझने की चेष्टा करता है जिसका वह एक भाग है। राजनीति शास्त्र का अध्ययन उसके व्यावहारिक स्वरूप पर बहुत कुछ निर्भरता करता है। राजनीतिज्ञों द्वारा विचारकों को जितनी सुविधायें प्रदान की जाती हैं तथा वे उन्हें जितनी स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं उसके आधार पर ही उनके अध्ययन का क्षेत्र निर्धारित होता है एवं अनेक राजनैतिक क्रियाओं को समझना भी कठिन हो जाता है। अतः राजनीति-शास्त्री उनको अपने अध्ययन का विषय नहीं बना सकता।

आज राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत स्थित समस्याओं एवं उन समस्याओं को सुलझाने के उपायों की विस्तार के साथ व्याख्या की जाती है। प्रोफेसर

बेलफ (Beloff) का कहना था कि यदि विश्वविद्यालयों द्वारा वर्तमान विश्व की समस्याओं को सुलझाने के उपायों का वर्णन न किया गया तो यह परामर्श अन्य कहीं से प्राप्त करने का प्रयास किया जायेगा और यह प्रवृत्ति राजनीति शास्त्र के हित में न होगी ।[1] पाश्चात्य देशों में विश्वविद्यालय इस दिशा में महत्वपूर्ण रूप से योगदान करते हैं । विभिन्न राजनैतिक समस्याओं का स्पष्टीकरण एवं विश्लेषण करते समय राजनीति-शास्त्री को कई बार ऐसी बातें भी कहनी होती हैं जो राजनैतिक शक्ति का प्रयोग करने वालों के हितों में नहीं होती हैं। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उनके अध्ययन की स्वतन्त्रता पर सीमायें भी लगाई जा सकती हैं । कभी-कभी राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी प्रत्यक्ष रूप से राजनैतिक शक्ति का प्रयोग करने का प्रयास करते हैं, किन्तु ऐसा करने पर उनका स्पष्टीकरण का कार्य समाप्त हो जाता है । जिन देशों में सरकार अस्थाई होती है तथा राजनैतिक परम्पराएं प्रभावपूर्ण नहीं होती हैं वहां राजनैतिक आलोचना निश्चय ही खतरनाक बन जाती है । इस सम्बन्ध में मॉरिस कावलिंग का यह कथन महत्वपूर्ण है कि "विषयवस्तु का स्पष्टीकरण करना विद्यार्थी का एक मात्र व्यावसायिक कार्य है । यदि वर्तमान व्यवहार को स्पष्ट करने के प्रयास में अकादमिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगते हैं तो विश्वविद्यालय और सरकार के बीच संघर्ष पैदा हो जायेगा ।"[2]

राजनैतिक स्पष्टीकरण कुछ कार्य करने के लिये भी किया जा सकता है और आगे स्पष्टीकरण की सुविधा के लिए भी । इन दोनों के बीच बहुत थोड़ा अन्तर रहता है । सामान्य धारणा यही है कि राजनैतिक व्यवहार में सक्रियता एवं शैक्षणिक स्वतन्त्रता दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते हैं ।

राजनीति शास्त्र का अध्ययन मुक्त आकाश में नहीं किया जाता; वह समाज की धार्मिक तथा नैतिक परिस्थितियों से पर्याप्त प्रभावित होता है। धार्मिक विश्वास एवं मान्यतायें राजनैतिक विश्लेषण को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं । धार्मिक विश्वासों का रूप चाहे कुछ भी हो किन्तु वे राजनीति शास्त्र के अध्ययन को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकते । ऐसे भी अवसर आते हैं जबकि उसके धार्मिक विश्वासों एवं अध्ययन की वैज्ञानिक

1. M. Beloff, the Tasks of Government Inaugural Lecture, Oxford, 1958, P. 7.
2. Maurice Cowling, Political Science : The Nature and Limits, 1963, P. 6.

प्रणाली के बीच संघर्ष पैदा हो जाये। ऐसी स्थिति में दोनों के बीच समायोजन करना अत्यंत कठिन बन जाता है। विज्ञान हमेशा ही विश्वासों के स्थान पर बुद्धि को प्रतिष्ठित करना चाहता है तथा दूसरी ओर 'धर्म' विश्वास की नीव पर आधारित रहता है। राजनीति शास्त्र द्वारा वैज्ञानिक रूप में जब कभी कोई सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया जाता है तो धार्मिक विश्वास से युक्त विद्यार्थी को यह अखर जाता है, वह भ्रम में पड़ जाता है। इस प्रकार के धार्मिक भ्रम को तभी दूर किया जा सकता है जबकि विज्ञान की सीमाएं स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दी जायें, यह केवल विचाराधीन विषय का ही स्पष्टीकरण करें तथा राजनैतिक या नैतिक शास्त्रों को धर्म से ऊपर का दर्जा न दिया जाये। इस प्रकार धर्म के द्वारा राजनीति शास्त्र के अध्ययन पर सीमा लगाई जाती हैं जिसके अनुसार धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं का कटु विरोध नहीं किया जाता। यदि राजनीति-शास्त्री ऐसा करने का प्रयास करता है तो वह भ्रम उत्पन्न करने का कारण बनता है।

धर्म का मध्य युग एवं प्राचीन युग में राजनीति पर बहुत अधिक प्रभाव था किन्तु बुद्धिवाद के उदय के कारण प्रत्येक उस बात को तर्कों के आधार पर सिद्ध किया जाने लगा जिसे पहले विश्वास के आधार पर ही मान लिया जाता था। धर्म का प्रभाव अब घट गया। किसी भी विश्वास को केवल तभी मान्यता दी जा सकती है जबकि अन्य लोगों के विश्वास के साथ उसको समायोजित कर दिया जाये।

जब राजनीति शास्त्र बुद्धिवाद की ओर अग्रसर हो रहा था तो विचारकों द्वारा जिन मतों का प्रतिपादन किया गया उनकी प्रकृति उदारवादी थी। इस उदारवाद की भूमिका प्रत्येक प्रश्न का भौतिक स्तर पर उत्तर प्रदान करके तैयार की गई। जो भी कार्य किया जाता था उसके लिए पहले तर्क संगत कारण बनाना अनिवार्य होता था। धर्म पर आधारित अतार्किक निश्चितताओं एवं तर्कविहीन मान्यताओं को चुनौती दी जाने लगी और इस प्रकार इस विश्वास का प्रभाव बढ़ा कि प्रत्येक व्यक्ति सोचने की स्वतन्त्रता रखता है तथा इसलिये वह जिस रूप में चाहे सोच सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना कार्य करने के लिए बुद्धिपूर्ण नैतिक सिद्धान्त स्वयं ही निर्धारित करने होते थे। इस प्रवृत्ति ने राजनीति शास्त्र पर एक दूसरी सीमा लगा दी। वह थी परिणामों के बारे मे आशावाद और लक्ष्यों के सम्बन्ध मे बौद्धिक सहमति का भ्रम। इस सीमा के कारण राजनैतिक विचार को मोड़ लेना पड़ा। अनेक प्रतिक्रियावादी विचारकों ने नवीन प्रवृत्तियों का विरो किया। किन्तु इन विरोधियों के प्रयास अधिक सफल नहीं हुए। [illegible]
प्रयास किया कि अपने दुराग्रहों को सिद्धांत का रूप दें, [illegible]

तर्क मानें तथा सामान्य कानून की बौद्धिक अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में स्वेच्छाचारी मत ग्रहण करे। ये सब बातें राजनीति शास्त्र के अर्वाचीन रूप के द्वारा प्रदान नही की जा सकती थी।

इस स्थिति को दूसरे शब्दों में वर्णित करते हुए यह कहा जा सकता है कि राजनैतिक दर्शन का स्थान राजनैतिक विज्ञान ने ले लिया। प्रतिक्रियावादी विचारक अभी भी राजनीति के दर्शन को ही मान्यता दे रहे थे। उनका यह तरीका राजनैतिक घटनाओं को समझने की दृष्टि से उपयोगी था। इसे न तो गैर कानूनी समझा जा सकता है और न ही अवांछनीय ही। यह राजनैतिक दर्शन मूल रूप से समाज शास्त्र एवं राजनीति शास्त्र के संयोग का परिणाम था। यहा दर्शन से अर्थ आध्यात्मिकता (Metaphysics) से है। इस विद्या के द्वारा संसार को धर्म के माध्यम से एक विशेष रूप में देखा जाता है।

आध्यात्म विद्या के सहारे राजनीति शास्त्र यह जान पाता है कि अभिप्राय और परिणाम, महत्वाकांक्षा और पूर्णता, औचित्य एवं क्षमता का ज्ञान आदि के बीच अन्तर रहता है। मानवीय अनुभव इस अन्तर को प्रमाणित करता है। कुछ विचारक आध्यात्मिक विद्या सम्बन्धी इस बात पर जोर देते हैं कि एक विशेष प्रकार का स्पष्टीकरण विशेष प्रकार के कार्य की मांग करता है; किन्तु इसका कुछ उचित कारण नही बताया जाता है। आध्यात्मिक विद्या की दृष्टि से जो भी स्पष्टीकरण दिया जाता है इसका अर्थ यह नहीं है कि वह कर्तव्यों की प्रेरणा देता है वरन् केवल यह है कि इसे समझा जा सकता है तथा इसके आधार पर यह जाना जा सकता है कि दार्शनिक का मस्तिष्क कठिनाइयों में रहते हुए भी किस प्रकार विकसित होता है। नैतिक एवं राजनैतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में उठने वाली कठिनाइयों को हाब्स, प्लाटो, अरस्तु एवं हीगल आदि के द्वारा वर्णित किया गया है।

राजनैतिक विचार के क्षेत्र में आनी वाली कठिनाइयों को देख कर अनेक विचारकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि राजनैतिक सिद्धांत नामक चीज समाप्त हो चुकी है। दार्शनिक विश्लेषण को राजनैतिक सिद्धांतों के विपरीत माना गया। अन्य विचारकों का कहना है कि राजनैतिक सिद्धांत का अर्थ बौद्धिक कार्य की सिद्धि के लिए प्रावधान है और इसलिए राजनैतिक सिद्धांतों का अन्त मानने का कोई प्रश्न नहीं उठता। अपने पक्ष के समर्थन में इनका कहना है कि ऐसे साहित्य की कमी नही है जिसमें किसी विशेष राजनैतिक कार्य को सम्पन्न करने के लिए विभिन्न तर्क दिए गए हैं ताकि वह अधिक बुद्धिपूर्ण तथा तर्कपूर्ण बन सके। वास्तविकता तो यह है कि राजनीति शास्त्र

के साहित्य में राजनैतिक समस्याओं को संचालित करने वाले अनेक सामान्य सिद्धांत उपलब्ध होते है। आज यह कहना कि राजनैतिक सिद्धान्त समाप्त हो चुके हैं केवल उसी अर्थ में सही है कि उन्होंने अपने पुराने दायित्व को पूरा करना छोड़ दिया है।

प्रारम्भिक राजनैतिक दार्शनिको द्वारा मुख्य रूप से समाज की प्रकृति का दार्शनिक स्पष्टीकरण किया गया और उसकी व्यावहारिक आवश्यकताओं का उल्लेख किया गया। इनके राजनैतिक विश्वासो का आधार दार्शनिक था। इस दृष्टि से यदि हम देखें तो पायेंगे कि दर्शन का महत्व राजनीति से पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए हम विभिन्न देशों की विदेश नीतियों को ले सकते हैं। जिस देश के पास कट्टर रूप से अपनाने के लिए विश्वास नही होते, वह देश उस देश की अपेक्षा अधिक नुकसान में रहता है जिस देश के पास कोई व्यवस्थित विचारधारा है। साम्यवादी देशों की प्रगति एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनका सम्मान संभवतः इस कथन का प्रमाण है। ऐसी स्थिति में यह नही कहा जा सकता कि राजनैतिक दर्शन अतीत की कहानी बन चुका है। विचारकों का कहना है कि दर्शन का अत्यधिक महत्व तो प्राचीन काल मे भी नही था क्योंकि सिद्धान्तो का महत्व होते हुए भी व्यक्ति अथवा समाजों को ऐतिहासिक विकास की घटनाओं से वंचित नही किया गया था।

राजनीति शास्त्र के साहित्य में जो भी ग्रन्थ प्राप्त होते है, उनमे से कुछ तो दर्शन से प्रभावित है, जबकि अन्य में बुद्धि का प्रयोग किया गया है। कुछ ग्रन्थ केवल परिस्थितियों की व्याख्या करते है, कुछ के द्वारा राजनैतिक परिस्थितियों तथा उनके व्यवहारो का स्पष्टीकरण मात्र किया गया है; जब कि अन्य उनका आलोचनात्मक मूल्यांकन करते है। यह कहा जाता है कि आज स्पष्टीकरण करने वाली राजनैतिक रचनाओं की कमी होती चली जा रही है। इस दिशा में राजनीति शास्त्रियों का योगदान अत्यन्त सोचनीय है।

राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे जिन विभिन्न प्रणालियों को अपनाया जाता है वे भी कई बार उस पर सीमाओं का कार्य करती हैं। यदि ग्रन्थ का रचनाकार विषयवस्तु की अभिव्यक्ति ऐतिहासिक रूप से करता है तो उसे आवश्यक रूप से विभिन्न राजनैतिक संगठनों तथा उनके व्यवहार के रूपों का वर्णन करते समय व्याख्यात्मक शैली अपनानी पडेगी। सर आइवर जैनिंग्स (Sir Ivor Jennings) की रचना 'The Law and the Constitution' राजनीति शास्त्र का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है किन्तु ग्रन्थकार ने इसमें पूर्णतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाया है इसलिए बहुत समय तक इसको महत्व

नही दिया गया। अनेक ग्रन्थ अपनी रचना के दौरान व्यवस्था को इतना महत्व देते है कि उनकी विषयवस्तु की आत्मा झलक ही नही पाती। इस प्रकार के अध्ययन की प्रणाली के द्वारा राजनीति शास्त्र पर सीमा लगा दी जाती है। आज हमे राजनैतिक संस्थायें, राजनैतिक समाज शास्त्र, तुलनात्मक सरकार, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक शीर्षकों के आधीन अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इन ग्रन्थों में राजनैतिक व्याख्याएं की गई है। इनमें से अधिकांश महत्व की दृष्टि से पर्याप्त नीचे हैं। वे या तो दूषित इतिहास हैं अथवा वे व्यावहारिक पहलू पर इतना अधिक जोर देते हैं कि उनको कोई उच्च स्तर प्रदान नहीं किया जा सकता।

दार्शनिक विश्लेषण ने राजनैतिक अध्ययनों मे दार्शनिक के ध्यान को ऐसे विषयों पर केन्द्रित नही किया है जिन पर विचार करने की उसमें योग्यता होती है। राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे अनेक सिद्धान्तों की अवहेलना की जाती रही है तथा उसमें वांछनीय स्पष्टता नही रहती है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि राजनीति शास्त्र अनेक प्रकार के भ्रमो से घिरा हुआ है और जब तक इनको दूर नही किया जाता है तब तक यह विषय उतना प्रभावशील नही बन पायेगा। इन भ्रमों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(१) सबसे पहला भ्रम तब पैदा होता है जबकि अध्ययन कर्त्ता यह भूल जाता है कि परिणाम भी उतने ही महत्वपूर्ण है जितने महत्वपूर्ण कि अभिप्राय होते है। अत्यन्त सीमित अभिप्रायो के परिणाम भी अनेक तत्वों की दया पर निर्भर रहते हैं, जिन पर कि कोई भी एक इच्छा नियन्त्रण नही रख सकती। राजनीति की दुनिया में यह प्रायः होता ही रहता है कि व्यक्ति जो चाहता है उसे कर नही पाता और जो करता है उसे वह इच्छा से नहीं अनेक तत्वों के प्रभाव के कारण करता है। हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण आते हैं जबकि शक्ति प्राप्त करने की गरज से राजनैतिक नेताओं के द्वारा ऊंचे-ऊंचे वायदे किये जाते है तथा प्रभावशील नारे लगवाये जाते है। किन्तु राजनैतिक उत्तरदायित्व सम्भालने के बाद उनके द्वारा जो नीतियां अपनायी जाती है वे इन आश्वासनों एवं नारो से पूर्णतः भिन्न होती है। इसके लिए यदि राजनीतिज्ञों की आलोचना की जाये तो उचित नहीं होगा। इससे केवल वे ही लोग प्रसन्न हो सकते है जो स्वयं राजनीति मे भाग नहीं ले रहे हैं। फिर भी यह आलोचना राजनैतिक क्रिया को समझने मे सहायता करती है।

राजनैतिक परिस्थितियां कुछ इस प्रकार की होती हैं कि एक राज-नीतिज्ञ चाहते हुए भी जो कहता है उसे कर नहीं पाता। इसके अतिरिक्त किसी भी कार्य की सफलता अनेक तत्वों के प्रभाव पर निर्भर करती है। ऐसी

स्थिति में गलत परिणाम को देख कर यह नहीं कहा: जा सकता कि वास्तव में कर्त्ता का उद्देश्य यही रहा होगा। अनेक बार अच्छे लक्ष्यों से किये गये कार्य का बुरा परिणाम तथा बुरे उद्देश्य से किये गये कार्य का अच्छा परिणाम भी प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति मे यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि अच्छे व्यक्तियों को पुरस्कार दिया जायेगा और बुरे व्यक्तियों को दण्ड दिया जायेगा अथवा जो लोग अपने उद्देश्य को गोल भाषा में प्रकट करते हैं वे सफलता प्राप्त कर लेंगे।

(२) दूसरा भ्रम उस समय पैदा होता है जबकि हम यह भूल जाये कि अभिप्राय भी उतने ही महत्वपूर्ण होते है जितने महत्वपूर्ण कि परिणाम होते है। किसी भी कर्त्ता के उद्देश्य का पता लगाना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। उसके कार्यों के परिणामो के आधार पर कुछ निष्कर्षों पर पहुंचना तथा उसके अभिप्राय के बारे मे कल्पना करना अत्यन्त भ्रामक होगा। किसी भी कार्य की अच्छाई केवल उसके परिणामों मे ही निहित नही रहती वरन् अभिप्राय मे भी रहती है। परिणाम एवं अभिप्राय के बीच का सम्बन्ध पर्याप्त अस्पष्ट होता है। किसी भी राजनैतिक निर्णय का अवांछनीय परिणाम प्राप्त हो सकता है। कानूनों का ऐसा प्रभाव हो सकता है जो व्यवस्थापको का उद्देश्य नही था वरन् उन प्रशासको का था जो उसे क्रियान्वित कर रहे हैं। यदि अन्य घटनायें अनुकूल न हो तो अपनाये गये लक्ष्यों का वाछनीय परिणाम प्राप्त नहीं हो पाता किन्तु इसके कारण लक्ष्यों के महत्व को कम नही आंका जा सकता।

सफलता को मापने के लिए केवल अभिप्राय पर ही विचार नही किया जाता वरन् इसके लिए यह देखना होता है कि अभिप्रायो के द्वारा क्या योगदान किया गया था, कार्य किस प्रकार का था तथा उसके परिणाम कैसे हुए आदि। अवांछनीय परिणाम भी उतना ही योगदान करते है जितना कि वांछनीय परिणामों द्वारा किया जाता है। अभिप्राय चाहे कुछ भी रहा हो *किन्तु यदि परिणाम अच्छा है तो उसे नैतिक दृष्टि से उचित माना जा सकता है*। प्रोफ़ेसर हर्ट (Prof Hart) का विचार है कि बाध्यकारी होने पर नैतिकता मूल्य हीन बन जाती है। यदि लोग केवल दण्ड के भय से ही रति-सम्बन्ध करने से वचें तो उसे नैतिक रूप से मूल्यवान कैसे माना जा सकता है। अन्य विचारक इस मत को सत्य नही मानते। उनका कहना है कि किसी कार्य की अच्छाई या बुराई एक व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा ही क्यों तय की जायें। सच तो यह है कि व्यक्ति अच्छाई की प्रेरणा से या सद्‌गुणों के साथ प्रेम से प्रेरित होकर प्रायः उतने अच्छे कार्य नही करता जितने कि

यह दण्ड के भय से करता है । प्रत्येक व्यक्ति को व्यवहार के क्षेत्र में स्वेच्छा-चारिता का अवसर देने की अपेक्षा उस पर समाज की नैतिक मान्यताओं का प्रभाव भी होना चाहिए जिसका वह स्वयं भी एक भाग है ।

(३) इस सम्बन्ध में एक तीसरा भ्रम तब उत्पन्न हो जाता है जबकि यह मान लिया जाए कि वर्तमान सरकार की संरचना का अध्ययन करके सरकार की कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डाला जा सकता है । इस मान्यता के पीछे यह धारणा निहित है कि प्रशासकों द्वारा लिए गए निर्णयों पर जो तत्व प्रभाव डालते है, उनको जनता में प्रकाशित कर दिया जाएगा । यह धारणा पूरी तरह से गलत है । केवल यह ही नहीं कि उनके द्वारा किए गए स्पष्टीकरण उनके अभिप्रायों को स्पष्ट न कर सकेंगे, वरन् इसके विपरीत वे उनको छुपायेंगे । छिपाने की यह प्रक्रिया न केवल छोटे और महत्वहीन विषयों में ही रहेगी वरन् अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयों में भी कार्य करेगी । उदाहरण के लिए ग्रेट ब्रिटेन की राजनैतिक परम्पराओं के अनुसार वहां की सरकार जिन नीतियों का पालन करती है उन सब बातों को स्पष्ट करने के लिए बाध्य नहीं । जिनके हाथ में शासन कार्य है, वे कई बार ऐसे कार्य करते हैं जिनके कारण नहीं दिए जा सकते । जो कारण दिए भी जाते हैं वे सही न होकर केवल अध्ययनकर्ता को बहकाने मात्र के लिए होते हैं । राज-नीतिज्ञों के भाषण, मन्त्रियों के वक्तव्य और सरकारी विभागों के प्रकाशन, ये सब न केवल सूचनार्थ होते हैं वरन् श्रोताओं को प्रभावित करने वाले भी होते हैं । यदि उनको इस प्रकाश में नहीं पढ़ा गया तो वे समझ में नहीं आ सकेंगे । इस सम्बन्ध में मोरिस काउलिंग (Maurice Cowling) का कहना है कि दुर्भाग्य से अर्वाचीन राजनैतिक वक्तव्य इस प्रकाश में कदाचित ही पढ़े जा सकते है, क्योंकि उनके कारणों से सम्बन्धित सामग्री का अभाव रहता है । अध्ययन का समय जितना अधिक आधुनिक होगा उतनी ही अधिक यह बात उस पर लागू होगी ।

इस प्रकार यह जानकारी प्राप्त की जा सकती है कि 'क्या हुआ' किन्तु यह जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती कि 'कैसे हुआ' । जब कभी कोई निर्णय लिया जाता है तो निर्णायक के सम्मुख अनेक वैकल्पिक नीतियां रहती है, जिनमें से वह एक को चुनता है । सही अध्ययन वह माना जाएगा जिसमें कि न केवल अपनाई गई नीतियों का अध्ययन किया जाता है वरन् अस्वीकार की गई नीतियों का भी किया जाता है । वास्तविक चाहे कुछ भी हो किन्तु इसे उस समय तक स्पष्ट नहीं किया जा सकता जब तक कि सम्बन्धित सूचना प्राप्त न हो । जब तक राजनीति शास्त्री इस सूचना को प्राप्त करने का

वाली संस्था की आलोचना की जाती है। किसी भी कार्य पर जिन परिस्थितियों और तत्वों का प्रभाव पड़ता है वे महत्वपूर्ण होते हुए भी अध्ययन का विषय नही बन पाते। अध्ययन की सामग्री का चयन करते समय भी कोई निश्चय नही किया जाता। कोई भी चयन केवल अस्थायी होता है। कई बार जिस विषय का स्पष्टीकरण किया जा रहा है वह केवल इस दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है कि उससे भावी स्पष्टीकरण में सहायता मिल सके। इस प्रकार के स्पष्टीकरण व्यवहार के दृष्टिकोण से कोई सहायता नही कर सकते। यदि सरकार को स्पष्टीकरण की प्रतीक्षा करनी पड़े तो कार्य कभी नहीं किया जा सकता।

एक अन्य भ्रम इस प्रवृत्ति से पैदा होता है जिसके अनुसार यह मान लिया जाता है कि राजनैतिक विचारो का इतिहास अन्य प्रकार की ऐतिहासिक रचनाओं की अपेक्षा सामान्य राजनैनिक प्रक्रिया पर अधिक प्रकाश डालता है। यह मान्यता वास्तविकता से बहुत दूर है क्योंकि यह जरूरी नही है कि एक राजनैतिक विचारक अपनी परिस्थितियों से पूर्ण रूप से प्रभावित हो। जब विचारो के इतिहासकारों के द्वारा, विभिन्न राजनैतिक विचारों में होने वाले परिवर्तनो का उल्लेख किया जाता है तो वे उनके प्रतिपादकों के महत्वपूर्ण योगदान को भुला देते हैं और अनेक पहलू स्पष्ट नही हो पाते। जब हम प्रारम्भिक राजनैतिक दार्शनिकों के ग्रन्थों का अध्ययन, उस समाज और परंपरा को ध्यान मे रखकर करते हैं, जिसमें कि वे रहते थे, केवल तभी अध्ययन को ऐतिहासिक कहा जाएगा। सच तो यह है कि राजनैतिक विचारों का इतिहास लिखने वाले ग्रन्थकार राजनैतिक दार्शनिक पर अत्यधिक जोर देते हैं और समाज के इतिहास तथा राजनैतिक विचारों के बीच स्थित सम्बन्ध को कोई महत्व नही देते। मि० पार्किन (Parkin) ने बर्क के राजनैतिक विचारों का नैतिक आधार (The Moral Basis of Burke's Political Thought) नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ तब अधिक उपयोगी होता जब कि इस बात का भी अध्ययन किया जाता कि बर्क इङ्गलैंड के इतिहास में क्या स्थान रखता है और जो कुछ भी उसने कहा वह तत्कालीन परिस्थितियों मे कितना उपयुक्त था।

यद्यपि सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियो की अवहेलना करने वाले साहित्य की दार्शनिक योग्यता में अविश्वास नही किया जाता किन्तु फिर भी उसके परिणाम प्रायः अच्छे नही होते। केवल राजनैतिक विचारकों का उल्लेख मात्र कर देना पर्याप्त नही माना जा सकता। इन विचारकों को ढालने वाली परिस्थितियों का वर्णन जब तक नही किया जाता तब तक

अध्ययन को अधूरा ही समझा जाएगा। इस सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य बात यह है कि पूर्ण रूप से ऐतिहासिक स्पष्टीकरण किया जाना अत्यन्त कठिन है। यह केवल अत्यन्त सीमित विषय एवं सीमित समय के बारे मे ही किया जा सकता है। मार्क्स, प्लेटो या हीगल आदि ने जो कुछ भी कहा उसे समझने के अतिरिक्त यदि यह भी जानने का प्रयास किया जाए कि इन विचारकों ने किन ग्रन्थों की सहायता ली तो यह एक कठिन कार्य होगा। इसके लिए इन विचारकों की जीवनी का गहन अध्ययन करना होगा। इसी प्रक्रिया को अपनाते हुए अनेक ग्रन्थ ऐसे लिखे गये है जिनमें कि ऐतिहासिक एवं दार्शनिक तत्वों पर जोर डाला गया है। इस प्रकार के ग्रन्थों का मूल्य एवं औचित्य अधिक होता है किन्तु ऐसे ग्रन्थों में ऐसा खतरा रहता है कि वे दार्शनिक विचारों का वर्णन करने के कारण केवल दार्शनिक बन सकते है और दार्शनिक के विचारों का ये ऐतिहासिक प्रसंग मे समायोजन नही कर पाते इसलिए केवल इतिहास मात्र रह जाते हैं। इस सम्बन्ध मे मौरिस कार्वलिंग का यह कहना है कि दार्शनिक बौद्धिक परम्पराओ के साथ-साथ व्यक्तिगत परिस्थितियों में भी रहते है। राजनैतिक दार्शनिक उन विशेष राजनैतिक समाजो में भी रहे जिनका अपना इतिहास था और जो अपने कुछ जटिल सम्बन्ध रखते थे। राजनैतिक दर्शन के इतिहास मे अधिक से अधिक दार्शनिकों की राजनैतिक परिस्थितियों पर विचार किया है किन्तु उनके व्यक्तिगत जीवन की विभिन्न समस्याओं पर विचार नही किया।

किसी भी समय के राजनैतिक विचार न केवल उस समय मे वरन् भविष्य में भी व्यवहार को प्रेरित करते हैं। ऐतिहासिक नीति शास्त्रियों मे एक समूह ऐसा है जिसके अनुसार राजनैतिक विचार के कुछ तरीके और राजनीतिक अभिव्यक्ति के कुछ रूप बुरे होते है क्योंकि व्यवहार में उनके द्वारा पैदा किये गये परिणाम अच्छे नही होते। जो लोग राजनैतिक क्रिया के परिणामों के सम्बन्ध मे अतिशयोक्ति पूर्ण आशाए लगाते है वे सम्पूर्ण सामाजिक संरचना के लिए नुकसान करते हैं। इस प्रकार वे राजनैतिक अध्ययन और उसके स्रोतों पर सीमा निर्धारित कर देते है।

राजनीति शास्त्र मे आशावादी तत्व की भी कुछ सीमायें होती है। जब अनेक कल्पनावादी विचारक यह सोचने लगते है कि यदि क्रान्तिकारी परिस्थितियां, अच्छे उद्देश्यों तथा पर्याप्त सिद्धान्तों का मिश्रण कर दिया जाय तो सभी राजनैतिक कठिनाइयां समाप्त की जा सकेंगी तो वे एक प्रकार मे कल्पना में मस्त रहते है। इतिहास से चाहें हम कोई भी सबक न सीखें किन्तु यह इतना तो स्पष्ट रूप मे कहता है कि हम कुछ भी चाहे किन्तु इस प्रकार का आशावाद आगे चलकर गम्भीर निराशावाद बन जाता है।

राजनीति शास्त्र के अध्ययन में एक पाचवें प्रकार का भ्रम इसलिए पैदा हो जाता है क्योंकि इसमें स्वतन्त्रता, सामाजिक न्याय, राष्ट्रीय हित मूल्य और इसी प्रकार के अन्य ऊंचे-ऊंचे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इनका प्रयोग करते समय यह मान लिया जाता है कि इनका अर्थ स्पष्ट है और जिन परिस्थितियों में इनको लागू किया जा रहा है उनका इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि इन शब्दों को किसी विशेष परिस्थिति में लागू किया गया तो ये वैसे के वैसे ही बने रहेंगे। दूसरी ओर वास्तविकता यह है कि इन शब्दों का अर्थ अधिक स्पष्ट नहीं है और जिन विभिन्न अर्थों में ये प्रयुक्त किये जा सकते हैं वे कई बार परस्पर विरोधी होते हैं। उदाहरण के लिए जिसे अच्छाई माना जाता है वह कई बार ऐसे कार्यों से प्राप्त की जाती है जिन्हें कि लोग बुरा समझते हैं। इसी प्रकार एक समूह के लोगों को जो स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है वह दूसरे समूहों के लोगों पर केवल प्रतिबन्ध लगा कर ही की जा सकती है।

मताधिकार की स्वतन्त्रता देने का अर्थ है कि जिन लोगों को पहले से ही मताधिकार प्राप्त है वे भविष्य में अपने इस अधिकार का प्रयोग कम प्रभावपूर्ण रूप से कर सकेंगे। सभी को मत प्रकट करने की स्वतन्त्रता देने का अर्थ है कि सार्वजनिक पदों पर कार्य करने वाले लोगों की आलोचना की जा सकती है। सामाजिक न्याय के अन्तर्गत समाज के एक समूह पर इतना कर लगाया जाता है ताकि दूसरे लोगों को लाभ प्रदान किया जा सके। इसी प्रकार राष्ट्रीय हित का अर्थ, राष्ट्र के ऐसे हितों से हो सकता है जिनके हाथ में निर्णय लेने की सत्ता है। ये लोग अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए भी राष्ट्रीय हित शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। राष्ट्रीय हित शब्द इतना अस्पष्ट और अनेकार्थक है कि इसका प्रयोग कई बार मनमाने ढंग से कर लिया जाता है। इन विभिन्न शब्दों की अनेक रूपता राजनीति शास्त्र के अध्ययन में विभिन्न भ्रम उत्पन्न कर देती है और उसके मार्ग में अनेक सीमायें उत्पन्न कर देती है।

राजनैतिक अध्ययन में समय-समय पर इस बात का उल्लेख किया जाता है कि अच्छे कार्य किये जाने चाहिए किन्तु अच्छे कार्य क्या होते हैं इस सम्बन्ध में प्रत्येक विचारक सहमत नहीं होता। किसी के द्वारा उपयोगिता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, कोई इतिहास के आधार पर अच्छे कार्यों का निर्धारण करने का प्रयास करता है, जबकि किसी के द्वारा प्राकृतिक कानून को अच्छे कार्यों का मापदण्ड माना गया है।

अच्छाई की भांति अर्थ की अनेक रूपता बुद्धि (Reason) के सम्बन्ध में भी लागू होती है। लार्ड रसैल (Lord Russell) ने राजनीति में बुद्धि के

प्रयोग का समर्थन करते हुए बताया है कि इसका अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है। उनके कथनानुसार यह उन उद्देश्यों के लिए उचित साधनों का चुनाव है, जिन्हें आप पसन्द करना चाहते हैं। यदि मैं हवाई जहाज से दिल्ली जाना चाहूं तो बुद्धि मुझ से यह कहेगी कि मुझे वह हवाई जहाज पकड़ना चाहिए जो देहली जा रहा है न कि वह जो कि कलकत्ता जायेगा। राजनीति मे बुद्धि पूर्ण व्यक्तियों का अपना महत्व है। बुद्धि का प्रयोग जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में उचित होता है उसी प्रकार सामूहिक जीवन में भी उपयोगी है। इस सम्बन्ध में एक कठिनाई यह उपस्थित होती है कि वाञ्छनीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उचित साधनो का निर्वाचन किस प्रकार किया जावे, किसी भी कार्य को करते समय कर्त्ता के सम्मुख अनेक विकल्प रहते है और इन विकल्पों की उपयोगिता तथा प्रभावशीलता अनेक बार स्पष्ट नही होती।

राजनीति शास्त्र में प्रयोग किये जाने वाले उन विभिन्न शब्दों से सम्बन्धित कठिनाई के बारे में जो लोग परिचित होते है वे भी उनको सफलता-पूर्वक दूर नही कर सकते। राज्य के अधिकार एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता, उपयोगिकता एवं सुविधा आदि के बीच स्थित सम्बन्धों के बारे में भी विचारक एक मत नही हैं। नैतिकता और फौजदारी कानून के मध्य क्या सम्बन्ध है, इस बारे में भी विचारकों के अलग-अलग मत हैं। कहीं-कहीं पर तो यह जरूरी हो जाता है कि राज्य का कानून नागरिको के जीवन में हस्तक्षेप करे। इस सम्बन्ध में जे. एस. मिल ने बताया था कि एक सभ्य समाज के किसी सदस्य पर शक्ति का उचित प्रयोग एक मात्र इस उद्देश्य के लिए किया जाना चाहिए कि वह अपनी इच्छा के विपरीत दूसरों को नुकसान पहुंचाने से रुक जाए। कार्य का औचित्य कभी-कभी तो बुद्धि के द्वारा सिद्ध किया जाता है और कभी-कभी यह नैतिकता के आधार पर निर्धारित किया जाता है। नैतिक विचारों को कई बार बौद्धिक तर्कों द्वारा असत्य सिद्ध कर दिया जाता है और अन्य उदाहरणों में नैतिक तत्व को ही बुद्धि पूर्ण समझा जाता है।

इस सम्बन्ध में एक अगला भ्रम राजनैतिक स्पष्टीकरण की प्रकृति-विषयक है। यह विश्वास किया जाता है कि राजनीति शास्त्र लोगों को सिद्धान्तों के अनुसार उनके कार्यों का उल्लेख कर के उनके दुराग्रहों के प्रभाव को रोक देता है। यह कहना सही नहीं होगा कि व्यक्ति सिद्धान्तों के इरादे में अपनी पूर्व मान्यताओं एवं विश्वासों को परे हटा देते हैं। राजनीति विचार-विमर्श की सामान्य मान्यताओं का निर्धारण करके

परिणामों का निर्धारण किया जाता है। एक दार्शनिक का कार्य केवल विश्लेषण और स्पष्टीकरण ही होता है वह परिणामों का समीकरण या नीति का निर्धारण नहीं करता। राजनैतिक दर्शन एवं राजनैतिक इतिहास के दृष्टिकोणों में पर्याप्त भिन्नता रहती है। दर्शन केवल स्पष्टीकरण करता है वह कार्य की प्रेरणा नहीं बनता उसी प्रकार इतिहास भी अतीत का औचित्य सिद्ध न कर के केवल स्पष्टीकरण सिद्ध करता है। समस्त प्रकार के स्पष्टीकरण की प्रतिक्रियाओं एवं राजनैतिक व्यवहार के बीच एक अन्तर रहता है। प्रो. रीज (Rees) के कथनानुसार एक राजनैतिक दर्शन एक राजनैतिक कार्य क्रम भी है। मि० बर्लिन (Berlin) के कथनानुसार राजनैतिक सिद्धान्त नैतिक दर्शन की एक शाखा है जो नैतिक मान्यताओं के राजनैतिक सम्बन्धो मे प्रयोग से प्रारम्भ होती है।

राजनीति शास्त्र एक पृथक अनुशासन के रूप में मानव जाति की राजनैतिक एवं सरकारी समस्याओं का अध्ययन करने का प्रयास करता है किन्तु फिर भी राजनीति शास्त्र के महत्व के बारे में अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिए।

समय की बदलती हुई परिस्थितियों ने प्रत्येक विज्ञान की विषय वस्तु एव अध्ययन प्रणाली में अन्तर कर लिया है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठ सकता है कि राजनैतिक विचारो के इतिहास में क्यों न परिवर्तन किये जायें। प्राचीन राजतंत्र का स्थान प्रजातन्त्र ने ले लिया और एक व्यक्ति के शासन के स्थान पर सामूहिक इच्छा द्वारा शासन किया जाने लगा तो यह जरूरी बन गया कि राजनैतिक घटनाओं एवं संस्थाओं का अध्ययन करने के लिए भी एक नये दृष्टिकोण का विकास किया जाता। बदलती हुई सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियो में स्थापित नियमों का महत्व इतना अधिक नही होता जितना कि सोचा जाता है। इन नियमों का औचित्य समय एवं परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। विभिन्न नवीनतायें राजनीति शास्त्र के अध्ययन को प्रतिबंधित करती है।

राजनीति शास्त्र के सम्बन्ध में इन विभिन्न अर्थों के अस्तित्व के कारण एक अत्यन्त दयनीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक क्रिया की अपनी सीमायें होती हैं और इन सीमाओ की जानकारी रखना अपने आप में बुरा नहीं है; वरन् इससे विषय वस्तु को समझने में सहायता मिलती है। अकादमिक स्पष्टीकरण की सीमा यह है कि इसके द्वारा केवल विषय वस्तु को स्पष्ट किया जाता है और इसके अतिरिक्त कुछ भी नही किया जाता है। अन्य बातें इसके परिणाम के रूप में आती हैं। जब राजनैतिक दार्शनिक राजनैतिक व्यवहार के सम्बन्ध में परामर्श देने लगते हैं तो ऐसा करने के लिए उनके पास

कोई सत्ता नहीं होती, वे केवल एक नागरिक के रूप में ही व्यवहार करते हैं। जिन लोगों के हाथ में राजनैतिक शक्ति का प्रयोग करने की सत्ता रहती है, उनसे इनका स्तर नीचा होता है। प्रो० मैक्रे (Macrae) ने बताया है कि एक व्यक्ति समाज शास्त्री इसीलिए बनता है क्योंकि वह समाज को न केवल समझना चाहता है वरन् उसे बदलना चाहता है। सुधार करना या समाज में परिवर्तन लाना कोई सरल कार्य नहीं है। ऐसा करने के लिए विचारकों के पास कोई औपचारिक सत्ता भी नहीं होती।

राजनैतिक विचार विमर्श में एक अन्य कठिनाई भी कई बार समस्याप्रद बन जाती है। इसके अनुसार घटनाओं और स्थितियों का अध्ययन करते समय विषयगतता अधिक रहती है और इसलिए निष्कर्ष तथ्यगत एवं वास्तविक होने की अपेक्षा पक्षपातपूर्ण अधिक होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की भांति एक राजनैतिक विचारक भी अपने कुछ मूल्य, कुछ प्राथमिकतायें तथा कुछ महत्वाकांक्षायें रखता है और इनका प्रभाव उसकी विचारों की प्रक्रिया पर पड़े बिना नहीं रह सकता है।

राजनैतिक दर्शन के प्रभाव एवं योगदान की अपनी सीमायें हैं। वास्तविक सत्ता का अभाव होने के कारण कोई भी राजनैतिक विचारक अपने विश्लेषण का व्यावहारिक रूप में अधिक से अधिक उपयोग नहीं कर सकता। संसार में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जहां कि शक्तिधारियों ने सुकरात जैसे दार्शनिकों को जहर दे दिया। असल में राजनैतिक दार्शनिकों के विचारों के प्रभाव को बहुत समय बाद अनुभव किया जाता है। जन साधारण के द्वारा राजनीतिज्ञों के वक्तव्यों एवं शब्दों को पर्याप्त महत्व प्रदान किया जाता है किन्तु उनके द्वारा समर्थित विचार असल में उनकी स्वयं की प्राथमिकताओं को ही व्यक्त करते हैं। ऐसा करते समय वे मौलिक विचारों एवं सिद्धान्तों को पर्याप्त बदल देते हैं। उनके समर्थन के लिए वे अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं। ऐसा उनके द्वारा इसलिए किया जाता है क्योंकि वे बौद्धिक वर्ग की गलतियों को दूर करना चाहते हैं, उनमें स्थित विषयगतता को दूर करना चाहते है तथा वस्तुगतता के विशेषणों से युक्त करना चाहते हैं। सच तो यह है कि साधारण लोग इन शब्दों को प्रसंशा की दृष्टि से प्रयोग इसलिए नहीं करते क्योंकि वे विचारपूर्ण है, निष्पक्ष हैं अथवा उनमें कोई दुराग्रह नहीं है वरन् इसलिए करते है क्योंकि वे उनमें बुद्धिवादियों के द्वारा किये गये दोषों की झलक पाते हैं और उनको सरल बना कर सैद्धान्तिक कठोरता पैदा करना चाहते हैं ताकि उनका पालन कराया जा सके। साधारण लोग जब इन विचारों की प्रशंसा करते हैं तो यह स्वीकार नहीं करते कि वे केवल अपनी ही व्यक्तिगत प्राथमिकताओं को प्रतिवेदित कर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त साधारण लोग यह आशा करते हैं कि दार्शनिक को उनके द्वारा यह किया गया मूल्यांकन मानना चाहिए क्योंकि उन्होंने ऐसा करने में अपनी बुद्धि का पर्याप्त प्रयोग किया है। इस प्रकार जन साधारण का दृष्टिकोण भी राजनैतिक विचारों पर सीमायें लगाने का कार्य करता है।

मानवीय प्रकृति भी अपने आप में एक सीमा का कार्य करती है और राजनीति शास्त्र के अध्ययन एवं उनके परिणामों को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण योगदान करती है। विचारकों के मतानुसार मानवीय जीवन एवं भाग्य की समस्याओं की यह एक विशेषता है कि हम किसी भी प्रश्न के सभी समाधानों से परिचित नहीं हो सकते। यदि कोई संस्था या व्यक्ति ऐसा करने का दावा करता है तो उस पर सन्देह किया जाना चाहिए।

वैसे जितने भी राजनैतिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाते हैं उन सब का आधार मानव प्रकृति को बनाया जाता है और उसी के अनुसार उनकी व्याख्या की जाती है। कोई सिद्धान्त चाहे वह तार्किक दृष्टि से कितना भी पूर्ण क्यों न हो यदि वह मानव प्रकृति के विभिन्न पहलुओं को ध्यान में नहीं रखता तो निश्चय ही असफलता प्राप्त करेगा। अनेक ऐसे सिद्धान्त आज केवल इतिहास की चीज बन गये हैं जिनके पीछे पर्याप्त तर्क और बुद्धि कार्य कर रही थी। इन सिद्धान्तों ने मनुष्य की प्रकृति की कमजोरियों का ध्यान न रखा। प्लैटो का आदर्श राज्य व दार्शनिक राजा का सिद्धान्त इसी कारण असफल रहा। किसी भी सिद्धान्त को जब व्यावहारिक रूप से न्यायोचित ठहराने का प्रयास किया जाता है तो उसे मानवीय प्रकृति के मापदण्डों पर रख कर देखा जाना है। यहां एक समस्या यह है कि प्रत्येक विचारक यह मान कर चलता है कि उसने मानव प्रकृति को पूरी तरह पहचान लिया है और वह क्या चाहती है, उसने भली प्रकार से समझ लिया है।

विभिन्न विचारकों ने राजनीति शास्त्र की समस्याओं एवं सीमाओं के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं वे पर्याप्त महत्व रखते हैं। विभिन्न आधुनिक राजनीति-शास्त्रियों के ग्रन्थों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीति शास्त्र और राजनीतिक व्यवहार के बीच एक गहरा सम्बन्ध है; यद्यपि इन विचारकों की भाषा अलग अलग होती है किन्तु वे प्रायः सामान्य स्थिति का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। विचारकों का यह मत है कि राजनीति विज्ञान और राजनैतिक समाज शास्त्र को केवल स्पष्टीकरण का कार्य ही नहीं करना चाहिए किन्तु राजनैतिक व्यवहार में उपयोगिता की सम्भावनाओं से भी अपने आपको सम्बद्ध रखना चाहिए।

वास्तविक स्थिति का अवलोकन करने के बाद कुछ विचारकों ने तो यह मत भी प्रकट किया है कि राजनीतिक विज्ञान जैसे शास्त्र का तो कोई अस्तित्व ही नहीं है। प्रो० मानहीम (Mannheim) ने इस सम्बन्ध में विचार प्रकट किया है कि ऐसा पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान है जिसे कि राजनीतिज्ञों द्वारा व्यवहार में लाभप्रद रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है किन्तु इस ज्ञान को विज्ञान का नाम नहीं दिया जा सकता। मानहीम ने उन कार्यों को आचरण और राजनीति के क्षेत्र से बाहर रखा है जो सामाजिक क्षेत्र में अधिकारियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है और जिन्हें सम्पन्न करते समय नियमित नियम कार्य करते हैं। यह सच है कि सिद्धान्त और व्यवहार के बीच स्थित सम्बन्धों में अनेक कठिनाइयां रहती हैं किन्तु फिर भी राजनैतिक क्षेत्र कहां से प्रारम्भ होता है यह जानना उपयुक्त एवं आवश्यक है। प्रत्येक राजनीति शास्त्र एक विशेष प्रकार की सामाजिक स्थिति मे कार्य करता है और इस सामाजिक स्थिति की सीमायें कुछ हद तक उसके विचारों में अभिव्यक्त होती हैं। उसके विचार पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं होते। सामाजिक स्थिति के अतिरिक्त तत्कालीन बौद्धिक स्थिति का इतिहास भी विचारकों की मान्यताओं को निर्धारित करने में अपना योगदान करता है। कार्ल मार्क्स के जो विशेष गुण उसे लेनिन, ट्राट्सकी आदि से भिन्न करते हैं उनका आधार समाज की वे परिस्थितियां नहीं थीं जिनमें कि वे रहे वरन् उस समय का बौद्धिक इतिहास था। यदि हम मान लें कि राजनैतिक विचार हमेशा सामाजिक इतिहास की एक स्थिति के साथ बंधा रहता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि पूर्ण संश्लेषण की दिशा में अग्रसर होने वाली प्रकृति किसी सामाजिक समूह की इच्छा पर निर्भर रहेगी। इसके विपरीत यदि इस इच्छा का अर्थ किसी समूह के व्यावहारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक लेखों से है तो यह निश्चय ही स्पष्टीकरण में संश्लेषण की उपयोगिता को कम कर देगी।

मानहीम ने उचित संश्लेषण (Valid Synthesis) शब्द का प्रयोग एक ऐसी राजनैतिक स्थिति के लिए किया है जो पूर्वकालीन सामाजिक शक्तियों एवं सांस्कृतिक प्राप्तियो मे से अधिकांश का प्रयोग करती है। यह स्थिति सामाजिक जीवन के व्यापक क्षेत्रों को सम्भव बनाती है तथा शक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए समाज में स्वाभाविक जड़ें प्राप्त करती है। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि इसमें संश्लेषण की पद्धति को अपनाया गया है। नौकरशाही, रूढ़िवादिता, रूढ़िवादी ऐतिहासिकता, उदार प्रजातन्त्रात्मक बुर्जुवा विचार, समाजवादी-साम्यवादी मान्यता और फासीवाद आदि को हम संश्लेषणात्मक दृष्टि का उदाहरण माना जा सकता है। राजनीति शास्त्र के अध्ययन में जिन विभिन्न भ्रमों का वर्णन किया गया है वे इस विश्वास का

कारण बनते हैं कि राजनीतिक क्रिया स्वचेतन उद्देश्य के लिए कितनी भविष्य-वाणी पूर्ण प्रतिक्रिया कर सकती है। जब राजनीति शास्त्र के अध्ययन की अर्वाचीन कठिनाइयों के लिए उपचार प्रस्तावित किये जाते हैं तो उनको उससे अधिक मूल एवं महत्वपूर्ण मान लिया जाता है जितने कि वे वास्तव में होते है। राजनीति शास्त्र की विभिन्न सीमायें प्रायः सभी समाजों में कार्य करती हैं और इस सम्बन्ध में सरकार के विभिन्न रूपों से कोई अन्तर नहीं होता।

भाग–२

राजनीतिक शास्त्र के अध्ययन के विभिन्न मार्ग

(APPROACHES TO POLITICAL THEORY)

3. **Different Approaches to Political Theory :**
   - (i) Historical
   - (ii) Sociological
   - (iii) Philosophical
   - (iv) Scientific
   - (v) Behavioural
   - (vi) The Contribution of various Thinkers *(Easton,* Lasswell, Repoport, Dahl, *Bentley, Graham* Wallas etc.)

"राजनीति शास्त्र के अध्ययन में सिद्धांत का प्रयोग सामान्यतः परिवर्तन की सिफारिश के लिए, आदर्शों की स्थापना के लिए अथवा माप-दण्ड निश्चित करने के लिए किया जाता है ताकि उनके आधार पर कार्यों की जांच की जा सके। इस प्रकार की परम्परा को वैज्ञानिक अध्ययन में सिद्धांत के योगदान के साथ समायोजित करना कठिन होता है।"

—रोजमेन

"अपने व्यापक अर्थ में राजनीति लोगों में हानि और लाभ के वितरण से सम्बन्ध रखती है।"

—लेविस फ्रोमैन

३

राजनीति शास्त्र के अध्ययन के मार्ग

(APPROACHES TO POLITICAL THEORY)

"परम्परावाद में आलोचना करने के लिये बहुत कुछ है और अधिकांश परम्परावादी इसे जानते हैं। इसी प्रकार प्रारम्भिक व्यवहारवाद में आलोचना करने के लिये बहुत कुछ था और व्यवहारवादियों ने इसमें से अधिकांश को स्वीकार कर लिया।"

—रोजमन एवं अन्य

राजनीति शास्त्र का अध्ययन जिस रूप में आज किया जाता है वह एक लम्बे विकास का परिणाम है। राज्य नीति शास्त्री इस विषय के अध्ययन के लिए अधिक सावधानी पूर्ण तकनीकों एवं तरीकों का प्रयोग करके इसको कठोर सैद्धान्तिक रूप देने की दिशा में बढ़ते रहे हैं। इस प्रयास के फलस्वरूप जब राजनीति शास्त्र अन्य व्यावहारिक विज्ञानों जैसे—समाज शास्त्र, जीवरचना शास्त्र एवं मनोविज्ञान आदि के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध रखने लगा तो इसे भी व्यवहारवाद (Behaviourism or Behaviouralism) कहा जाने लगा। इस स्तर पर आकर राजनीति शास्त्र अपने उद्देश्यों एवं प्राथमिकताओं तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों की तकनीकों एवं प्रणालियों के बारे में सचेत हो गया।

राजनीति शास्त्र के अध्ययन के विभिन्न मार्ग राजनीति शास्त्र के स्वरूप में होने वाले परिवर्तनों के साथ बदलते रहे। ज्यों-ज्यों इस विषय में नवीनताओं को समाहित किया गया त्यों-त्यों उनका अध्ययन करने के लिए नयी तकनीकों एवं प्रणालियों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

राजनीति शास्त्र का इतिहास तेईस सौ वर्ष पूर्व यूनानी विचारक प्लेटो के साथ ही प्रारम्भ होता है। उस समय से विचारकों का ध्यान एवं

रुचि इसकी ओर पर्याप्त आकर्षित होते रहे हैं। इसके अध्ययन में एक ऐसी निरन्तरता रही है जिसको संक्षेप में उल्लेखित नहीं किया जा सकता। बाद मे इसके अध्ययन ने नवीन दिशायें ग्रहण की। इन दिशाओं का समुचित ज्ञान पूर्वकालीन विकासों का अध्ययन किये बिना नही हो सकता। आधुनिक राजनीति में अध्ययन के जो विभिन्न मार्ग अपनाये गये हैं वे पुरातन परम्पराओं से पर्याप्त प्रभावित है अथवा यों कह सकते हैं कि परम्पराओं की प्रतिक्रिया के स्वरूप ही इनका जन्म एवं विकास हुआ। बीसवीं शताब्दी से पूर्व तो राजनीति शास्त्र अध्ययन के एक पृथक विषय के रूप में विकसित नहीं हो पाया था। सन् १६०३ में अमरीकी राजनीति शास्त्र संघ (American Political Science Association) का जन्म हुआ। इस संस्था ने सन् १६०६. मे एक पत्रिका (American Political Science Review) निकालना प्रारम्भ किया। राजनीति शास्त्र के अध्ययन के प्रति जो विभिन्न दृष्टिकोण अथवा मार्ग क्रमशः विकसित हुए उनका अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में एक बात यह उल्लेखनीय है कि ये विभिन्न दृष्टिकोण क्रमिक होते हुए भी अतीत में अपनी पृष्ठभूमि और भविष्य में अपने अवशेष रखते है। दूसरे शब्दों मे जब एक दृष्टिकोण का प्रभाव हुआ तो वह रातो रात नही हो गया वरन् पूर्ववर्ती दृष्टिकोण के साथ ही लम्बे समय तक वह विकसित होता रहा और एक दिन प्रभावपूर्ण बन गया। साथ ही नवीन दृष्टिकोण के विकास ने पूर्ववर्ती को पूर्ण रूप से समाप्त नहीं कर दिया वरन् उसके साथ-साथ वह भी चलता रहा।

दार्शनिक मार्ग
(The Philsophical Approach)

राजनीति शास्त्र के परम्परागत रूप की एक प्रमुख विशेषता यह मानी जाती है कि उस समय राजनीति शास्त्र को नैतिक दर्शन या सामाजिक नीति शास्त्र का एक भाग माना गया था। इस विषय पर प्राप्त प्राचीन साहित्य दर्शन से पूर्णतः प्रभावित है। उसकी विषय वस्तु, वर्णन की शैली, उद्देश्य, प्रक्रिया आदि सभी कुछ दार्शनिकता के रंग मे रंगे हुए हैं। सुकरात, प्लेटो या अरस्तु आदि प्राचीन राजनीति के पण्डित दर्शन शास्त्र के भी प्रारम्भिक एवं प्रखर विद्वान थे। परम्परावादी विचारकों ने दर्शन एवं राजनीति को परस्पर इतना मिला दिया कि प्लेटो तो दार्शनिक को राजपद सौंपने के लिए तैयार हो गये। उनके आदर्श राज्य की यह मुख्य एवं प्रथम विशेषता थी कि उनका संचालन दार्शनिक राजा (Philosopher King) के नेतृत्व मे किया जाता था। राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों में मुख्य रूप से राजनीति

के मूल्यों, विचारों एवं नियमों का अध्ययन किया जाता था। सद्धर्म, न्याय, औचित्य, जीवन का लक्ष्य आदि को मापदण्ड बनाकर राज्य की उपयोगिता को परखा जाता था। राजनीतिक सिद्धांत शास्त्रियों ने प्लेटो तथा अरस्तु से लेकर आज तक के पुरानपंथी राजनैतिक साहित्य का अध्ययन एवं परीक्षण करने के बाद अच्छे जीवन के मूल तत्वों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। साथ ही उन राजनैतिक प्रबन्धों का उल्लेख किया गया है जो उन तत्वों की प्राप्ति में सहायता कर सकें। अरस्तु ने माना था कि राज्य अच्छे जीवन की स्थापना के लिए कायम है। प्लेटो भी यह मानते थे कि यदि उनके द्वारा वर्णित रूप में राज्य को अपनाया गया तो समाज में न्याय की स्थापना हो जायेगी तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव हो सकेगा।

राजनैतिक सिद्धान्त के रूप में महान दार्शनिको के राजनैतिक विचारों का अध्ययन आज तक भी किया जाता है। इमेन्युअल कान्ट, जॉन लॉक, सन्त ऑगस्टाइन, थॉमस, एक्वीनास, कार्लमार्क्स आदि ने राजनीति शास्त्र की ओर पर्याप्त ध्यान दिया था। निकोलो मेक्यावेली, बोदां, हॉब्स, रूसो आदि का इस विषय मे पर्याप्त योगदान है। अनेक प्रमुख सामाजिक समालोचकों ने भी अपना ध्यान राजनैतिक विषयों की ओर मोड़ा है। इनमें थॉमस जैफरसन, डी० टॉकविल तथा जेम्स ब्राइस का नाम लिया जा सकता है। राजनीति शास्त्र के अलग विषय बनने से पूर्व ही उसमें नैतिक दर्शन एवं सामाजिक आलोचना पर जो जोर दिया गया, उसने बीसवीं शताब्दी के राजनीति शास्त्र मे मूल्यों का समावेश कर दिया। एक प्रकार से राजनीति शास्त्र के विकास का इतिहास पश्चिम में ही आगे बढ़ता है। बाद में राजनीति शास्त्र की इस दार्शनिक परम्परा को ही जारी रखते हुए आज के राजनीति शास्त्री मूल राजनैतिक मूल्यों, लक्ष्यो एवं विचारधाराओ पर पर्याप्त जोर देते है।

अध्ययन का यह दार्शनिक दृष्टिकोण मूलतः ऐतिहासिक है। इसमे प्रयोग, तुलना एवं निरीक्षण का भी कही-कही प्रयोग किया जाता है। इनके बाद कुछ निष्कर्षों पर पहुंचा जाता है। इस प्रकार यह विधि निगमनात्मक (Deductive) है जो तर्क पर आधारित होती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत मानवी प्रकृति के बारे मे कुछ अमूर्त मान्यतायें बना ली जाती है और उनके आधार पर राज्य के उद्देश्य, प्रकृति एवं कार्यों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार जिन निष्कर्षों पर पहुंचा जाता है उनको इतिहास के तथ्यों के साथ समन्वित करने का प्रयास किया जाता है।

दार्शनिक विधि मे कल्पना के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। इसमें अनिश्चितता एवं अविश्वासनीयता रहती है। चिन्तन की प्रक्रिया में अतिशय

कल्पना होने के कारण अधिकतर आदर्शों की रचना की जाती है। जो होना चाहिए उसे सोचने पर इतना जोर दिया जाता है कि जो सम्भव है उसको नही सोचा जाता।

ऐतिहासिक मार्ग
(The Historical Approach)

दार्शनिक प्रणाली में अमूर्त विचारों एवं समाजीकरण पर अधिक जोर दिया गया था। इसके विपरीत ऐतिहासिक पद्धति में जांच एवं विश्लेषण का व्याख्यात्मक तरीका अपनाया गया। इस पद्धति को अपनाते समय राजनैतिक संस्थाओं के अध्ययन पर अधिक जोर दिया जाता था। उनकी बनावट, उनके विभिन्न अङ्ग तथा उन अङ्गो का ऐतिहासिक विश्लेषण करने के बाद कुछ निष्कर्षों पर पहुंचा जाता था। संरचना सम्बन्धी एवं संस्थागत अध्ययन इस प्रणाली की दो विशेषतायें थीं। ऐतिहासिक तरीके का अर्थ केवल अतीत का अध्ययन अथवा प्राचीन आकड़ो का प्रयोग ही नही था। इसका अर्थ ऐसे अध्ययन से है जिसमे आकड़ो को संगठित किया जाता है, उनकी व्याख्या की जाती है अथवा ऐतिहासिक क्रम मे उनकी व्याख्या की जाती है।

परम्परागत रूप से राजनीतिक शास्त्र मे ऐतिहासिक अध्ययनों को पर्याप्त महत्व दिया जाता है, वह भी विशेषकर उस क्षेत्र में जो पर्याप्त समय तक विकसित होता रहा था। एक सिद्धांत को समझने के लिए इतिहास में उसके उदाहरणों की खोज की गई और तुलनात्मक व्याख्या के द्वारा सत्य का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा की गई। पाश्चात्य राजनैतिक विचारो के अधिकाश अध्ययन मे ऐतिहासिक पद्धति को ही अपनाया गया है। एक सिद्धात की महानता को सिद्ध करने के लिए यह सिद्ध करने की चेष्ट की जाती थी कि महान् विचारको ने भी उनको मान्यता दी है या वे अतीत के बौद्धिक विकास का परिणाम है या वे समाज मे होने वाले परिवर्तनों को अभिव्यक्त करते है अथवा राजनैतिक विचारों के इतिहास मे एक क्रमबद्धता है आदि आदि। यह कहा जाता है कि अमरीकी सविधान निर्माताओं पर लॉक का प्रभाव था। इसी प्रकार प्राकृतिक कानून (Natural Law) के विकास को स्टोइक जैसे विचारको से आधुनिक चर्च पादरियों तक माना जाता है। यह कहा जाता है कि कार्लमार्क्स ने उपयोगितावादियों के आर्थिक सिद्धातो तथा हीगल के द्वन्द्ववाद का प्रयोग किया था। इतिहास के माध्यम से कानूनी सिद्धातो के विकास को भी चित्रित किया जाता है।

ऐतिहासिक प्रणाली का महत्व पहले बहुत अधिक था किन्तु जैसा कि फ्रासिस गोराफ का कहना है, जब से राजनैतिक शास्त्र सामाजिक एव

विज्ञानों के क्षेत्रों में भी भारी परिवर्तन हो रहे थे। समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और यहां तक कि इतिहास और भूगोल ने भी अपने विद्यार्थियों के ध्यान को वैज्ञानिक क्रान्ति के प्रकाश में आलोचनात्मक परीक्षा की तरफ मोड़ दिया। वर्तमान काल में एक नये दृष्टिकोण का विकास हुआ है जिसे हम अन्तर्शास्त्रीय दृष्टिकोण कह सकते हैं। मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न पर विचार करने पर प्रत्येक शास्त्र को अपना ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है, क्योकि मानवीय व्यवहार न तो केवल आर्थिक है न राजनैतिक और न ही सास्कृतिक, वरन् वह इन सभी का सयोग है। मानवीय व्यवहार के पूर्ण चित्र का अवलोकन करने के लिए उसके विभिन्न पहलुओं को देखना अत्यन्त आवश्यक है। जब राजनीति शास्त्र ने अन्य समाज शास्त्रों में वैज्ञानिक तरीके, अनुभववादी जांच, व्यवस्थित सिद्धान्त, आदि नवीनताएं देखी तो स्वयं भी इस बात पर विचार किया कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन में क्या परिवर्तन किये जा सकते हैं। इस प्रकार राजनीति शास्त्र मे व्यवहारवाद उसका अपना आविष्कार नही था। मि० रोजमेन तथा अन्य के कथनानुसार "राजनीति शास्त्र में व्यवहारवाद एक बड़े आन्दोलन का केवल एक भाग मात्र था। यह आन्दोलन बहुत समय पहले से ही प्राय. सभी सामाजिक विज्ञानों में चल रहा था।"

तीसरे शोध कार्यो मे तकनीकी नवीनताओ ने विचारको को एक नवीन प्रेरणा दी जिसके प्रभाव से उसमे व्यवहारवादी तत्व पनपे। वे अनेक गणितीय तकनीकों को काम मे लाने लगे तथा आकड़े एकत्रित करने की प्रक्रिया मे अनेक परिवर्तन किये गये। कम्प्यूटर आदि के आविष्कार ने राजनीति शास्त्रियों को इस बात के लिये प्रभावित किया कि वे अपने शोध कार्यों में इस सब का प्रयोग करें। इस प्रकार दर्शन मे परिवर्तन, समाज शास्त्रों मे परिवर्तन एवं शोध कार्यो मे तकनीकी आविष्कारो ने राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में भी व्यवहारवाद को जन्म दिया।

आज प्राय: सभी राजनीति शास्त्री इस बात पर सहमत है कि राजनीति शास्त्र मे व्यवहारवादी विभिन्न तत्वो का उपयोग किया जाना चाहिये। उनका मत है कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन में नवीन आकड़े एकत्रित किये जाएं, अध्ययन की नयी प्रणाली अपनाई जाएं, नवीन मान्यताएं स्वीकार की जाएं और नये सैद्धान्तिक लक्ष्य बनाये जाएं। ये व्यवहारवादी विचारक राजनैतिक संस्थाओ में व्यक्ति एवं समूह के व्यवहार का अध्ययन करने के लिए नये तरीके अपनायेंगे। वे राजनैतिक नेतृत्व एव शिक्षित वर्ग के योगदान का अध्ययन करेंगे। वे राजनीति शास्त्र को औपचारिक संस्थाओं की सीमाओं से बाहर निकाल कर राजनैतिक अभिनेताओ एवं प्रक्रियाओं के अध्ययन की

व्याख्या करते थे। वास्तविक घटनाओं की जानकारी में उनकी रुचि कम रहती थी। बाद में आर्थर बेन्टले (Arthor Betlley) तथा चार्ल्स मैरियम (Charles Merriam) ने उन तरीकों एवं मान्यताओं के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जो एक व्यवस्थित राजनीति विज्ञान के विकास को प्रोत्साहन दे सके।

राजनीति शास्त्र मे व्यवहारवादी तत्व थोड़ी बहुत मात्रा में यद्यपि प्रत्येक काल मे रहे है किन्तु बीसवी शताब्दी की तीसरी शताब्दी में इस प्रक्रिया ने एक आन्दोलन का रूप ले लिया। चार्ल्स मैरियम के ग्रन्थ 'New Aspects of Politics' में उन मान्यताओं एवं तकनीकों को स्थान दिया गया जो पहले से ही मनोविज्ञान एवं समाज शास्त्र में कार्य कर रही थी। मि० सोरॉफ के कथनानुसार "मैरियम और उनके विद्यार्थियो ने राजनीति शास्त्र को एक अपूर्व अन्तर्दृष्टि प्रदान की व्याख्या एवं विशेषरण की नवीन साख्यिकीय तकनीकें प्रदान की और व्यक्तिगत एवं समूहों के व्यवहार के लिए एक नया दृष्टिकोण दिया।" अगले वर्षों में मिस्टर मैरियम के कार्यों को हैरल्ड लॉसवेल (Harold Lasswell) द्वारा आगे बढ़ाया गया।

वर्तमान काल मे राजनीति शास्त्र व्यवहारवादी तत्वों से इतना प्रभावित है कि इसका स्वरूप ही पर्याप्त बदल चुका है। राजनीति शास्त्र में व्यवहारवाद का हस्तक्षेप क्यो हुआ, इसके लिए उत्तरदायी अनेक परिस्थितिया एव कारण थे। वर्तमान युग को विज्ञान का युग कहा जाता है। इसमें सभी अध्ययनों का रूप वैज्ञानिक बन गया। यहा तक कि दर्शन शास्त्र मे भी विज्ञान का हस्तक्षेप हुआ। विज्ञान दर्शन, भाषा का अध्ययन, ज्ञान के सिद्धान्त प्रतीकवाद आदि ने विचारों के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति ला दी। वर्तमान दर्शनशास्त्र, अनुभववाद से इतना अधिक प्रभावित है कि अब वह एक आदर्श दुनिया की खोज को अधिक श्रेष्ठ लक्ष्य नही मानता जैसा कि वह पहले मानता था। इसका कारण यह था कि इस प्रकार की दुनियां किसी भी सम्भव अनुभव एवं अनुभववादी प्रमाण के क्षेत्र से बाहर रहती थी अतः उसे अनुपयोगी माना गया। एक दार्शनिक के विषयगत स्वप्न ही इस प्रकार की दुनिया का प्रमाण दे सकते थे, किन्तु वैज्ञानिक कभी स्वप्नों पर विचार नहीं करते। इस परिवर्तन ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन की परम्परागत प्रणाली पर पर्याप्त असर डाला। अब न्याय और आदर्श राज्य आदि पर विचार किया जाना बन्द हुआ; यहां तक की परम्परागत मूल्यों को भी चुनौती दी जाने लगी।

दर्शन शास्त्र के इस परिवर्तित दृष्टिकोण के अतिरिक्त व्यवहारवाद के जन्म का एक दूसरा कारण यह भी था कि कुछ समय से अन्य सामाजिक

विज्ञानों के क्षेत्रों में भी भारी परिवर्तन हो रहे थे। समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और यहां तक कि इतिहास और भूगोल ने भी अपने विद्यार्थियों के ध्यान को वैज्ञानिक क्रान्ति के प्रकाश में आलोचनात्मक परीक्षा की तरफ मोड़ दिया। वर्तमान काल में एक नये दृष्टिकोण का विकास हुआ है जिसे हम अन्तर्शास्त्रीय दृष्टिकोण कह सकते है। मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न पर विचार करने पर प्रत्येक शास्त्र को अपना ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है, क्योंकि मानवीय व्यवहार न तो केवल आर्थिक है न राजनैतिक और न ही सांस्कृतिक, वरन् यह इन सभी का संयोग है। मानवीय व्यवहार के पूर्ण चित्र का अवलोकन करने के लिए उसके विभिन्न पहलुओं को देखना अत्यन्त आवश्यक है। जब राजनीति शास्त्र ने अन्य समाज शास्त्रों में वैज्ञानिक तरीके, अनुभववादी जाच, व्यवस्थित सिद्धान्त, आदि नवीनताए देखी तो स्वयं भी इस बात पर विचार किया कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन में क्या परिवर्तन किये जा सकते हैं। इस प्रकार राजनीति शास्त्र मे व्यवहारवाद उसका अपना आविष्कार नही था। मि० रोजमेन तथा अन्य के कथनानुसार "राजनीति शास्त्र में व्यवहारवाद एक बड़े आन्दोलन का केवल एक भाग मात्र था। यह आन्दोलन बहुत समय पहले से ही प्राय. सभी सामाजिक विज्ञानों में चल रहा था।"

तीसरे शोध कार्यों में तकनीकी नवीनताओं ने विचारकों को एक नवीन प्रेरणा दी जिसके प्रभाव से उसमे व्यवहारवादी तत्व पनपे। वे अनेक गणितीय तकनीको को काम में लाने लगे तथा आकड़े एकत्रित करने की प्रक्रिया में अनेक परिवर्तन किये गये। कम्प्यूटर आदि के आविष्कार ने राजनीति शास्त्रियों को इस बात के लिये प्रभावित किया कि वे अपने शोध कार्यों में इस सब का प्रयोग करें। इस प्रकार दर्शन मे परिवर्तन, समाज शास्त्रों मे परिवर्तन एवं शोध कार्यों में तकनीकी आविष्कारो ने राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में भी व्यवहारवाद को जन्म दिया।

आज प्राय: सभी राजनीति शास्त्री इस बात पर सहमत है कि राजनीति शास्त्र मे व्यवहारवादी विभिन्न तत्वो का उपयोग किया जाना चाहिये। उनका मत है कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे नवीन आकड़े एकत्रित किये जाए, अध्ययन की नयी प्रणाली अपनाई जाए, नवीन मान्यताए स्वीकार की जाए और नये सैद्धान्तिक लक्ष्य बनाये जाए। ये व्यवहारवादी विचारक राजनैतिक संस्थाओ मे व्यक्ति एवं समूह के व्यवहार का अध्ययन करने के लिए नये तरीके अपनायेंगे। वे राजनैतिक नेतृत्व एव शिक्षित वर्ग के योगदान का अध्ययन करेंगे। ये राजनीति शास्त्र को औपचारिक संस्थाओं की सीमाओ से बाहर निकाल कर राजनैतिक अभिनेताओ एव प्रक्रियाओं के अध्ययन की

ओर मोड़ना चाहते हैं। इन व्यवहारवादियों के द्वारा अधिक कठोर और व्यवस्थित अनुभववाद (Empiricism) का समर्थन किया जाता है। वे अब नक्शे, सूची पत्र, ग्राफ, आंकड़े, गणितीय मॉडल, आदि का प्रयोग करने लगे हैं। यथास्थान अध्ययन तो आज उनके जीवन का तरीका बन गया है।

आज के राजनीति–शास्त्र ने अपनी नयी मान्यताओं और श्रेणियों के लिए अन्य सामाजिक शास्त्रों से स्वतन्त्रतापूर्वक विश्लेषणात्मक शब्द ज्ञान को ग्रहण किया है। ऐसा करते हुए वे अधिक अमूर्त विचारों को विश्लेषण का विषय बनाना चाहते हैं। इस प्रकार राजनीति शास्त्रियों ने शक्ति, योगदान एवं वुद्धि वर्ग के लिए नये शब्दों का प्रयोग करना प्रारम्भ किया है। इस बदते हुए दृष्टिकोण ने राजनीति शास्त्र को उस सामान्यीकरण की ओर मोड़ा है जो राजनीतिक व्यवस्था में सम्बन्धों को स्पष्ट कर सकें।

व्यवहारवादी आन्दोलन ने राजनीति शास्त्र के रूप को पूरी तरह से बदल दिया है। इसके द्वारा लाए गए परिवर्तनों में प्रथम यह है कि इसने राज्य को केन्द्रीय सगठनात्मक मान्यता स्वीकार करने से इन्कार किया है। व्यवहारवादियों ने राज्य जैसी बड़ी इकाई का अध्ययन करने की अपेक्षा छोटी इकाई को अध्ययन का आधार बनाना उपयुक्त समझा है ताकि वह उसका प्रबन्ध आसानी से कर सकें। पहले ये इकाई शक्ति (Power) थी और अब यह निर्णय (Decision) बन गयी है। पहले इस बात का अध्ययन किया जाता था कि एक व्यक्ति अपनी इच्छाओं के अनुसार कैसे और कितना दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है, किन्तु हाल मे ही यह देखा जाने लगा है कि व्यक्ति या समूह निर्णय कैसे लेते हैं। वे एक या अनेक विकल्पों में से एक को क्यों और कैसे चुनते है। दूसरे विचारकों ने अन्य इकाइयों का भी प्रयोग किया है। इन सबको देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि इन्होंने अपने ध्यान का मुख्य केन्द्र राज्य की अपेक्षा 'राजनीति' को बनाया। इस सम्बन्ध मे एक बात ध्यान मे रखने की यह है कि राजनीति को पहली बार राजनीति विज्ञान का तत्व माना गया हो ऐसी बात नही है, फिर भी नवीनता यह है कि अब जिस राजनीति को राजनीति शास्त्र केन्द्रीय महत्व प्रदान करता है वह आवश्यक रूप से एव प्रत्यक्ष रूप से सरकार से सम्बन्ध नही रखती।

परम्परागत रूप से राजनीति को राज शास्त्र या राजनैतिक व्यवस्था माना जाता था। यह एक ऐसी क्रिया थी, जिसे सरकार और उसके नेताओं के समर्थन, प्रोत्साहन या प्रतिक्रिया स्वरूप सम्पन्न किया जाता था। व्यवहारवादी दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति शास्त्र को नये रूप मे परिभाषित

करते हुए एक ऐसा तरीका माना जा सकता है जिसमें सन्तोष अथवा सन्तोष प्राप्ति के अवसर लोगों में वितरित किए जाते हैं। मिस्टर लेविस फ्रोमेन (Lavis Froman) की परिभाषा इससे पर्याप्त मिलती हैं। उनके कथनानुसार "अपने व्यापक अर्थ में राजनीति लोगों में हानि और लाभ के वितरण से सम्बन्ध रखती है।" राजनीति को इस परिभाषा के अनुसार आज का राजनीतिज्ञ सामाजिक जीवन के किसी भी पहलू का अध्ययन कर सकता है, चाहे वह परम्परागत अर्थ में कितना ही अराजनीतिक क्यों न कहा जाए। इस प्रकार राजनीति शास्त्र ने अपना ध्यान लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों का अनुभववादी अध्ययन करने की ओर लगाया है।

आज राजनीति शास्त्र विभिन्न संस्थाओं का विश्लेषण करने की अपेक्षा प्रक्रियाओं के रूपों का विश्लेषण करता है। इसमें व्यक्तियों या समूहों के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है न कि संरचना, संस्था, विचारधारा एवं घटनाओं का। अध्ययन के विषय का यह परिवर्तन राजनीति मे रुचियों के परिवर्तन की अभिव्यक्ति है।

व्यवहारवादी विचारक मान्यता सम्बन्धी स्पष्टता पर एवं अनुभववादी परिकल्पनाओं की जांच पर अधिक जोर देते हैं। इसके परिणामस्वरूप राजनीति शास्त्र में व्यवस्था, विश्लेषण, दृष्टिकोण (Systems, Analysis, Approach) का विकास हुआ है। इसके अनुसार सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को एक व्यवस्था के रूप में वर्णित करने का प्रयास किया जाता है। इस व्यवस्था में सभी अंश नियमित एवं कार्यात्मक रूप से सम्बन्धित रहते हैं। इस दृष्टिकोण के द्वारा हाल ही मे अनुभववादी प्रमाणों की अपेक्षा पूर्व निर्धारित निर्णयों पर अधिक जोर दिया जाने लगा है और यही कारण है कि इसके अनुयायियों को विषयगतता के उसी दोष से दूषित किया जाता है जो परम्परावादियों के प्रति लगाया जाता था।

व्यवहारवादियों की एक दूसरी विशेषता यह है कि वे सिद्धांत एवं अनुभववादी शोध के पारस्परिक सम्बन्धो पर जोर देते हैं। यह विकास एक प्रकार से व्यापक सिद्धांत की कमियों की प्रतिक्रिया थी। इसको दर्शन शास्त्र में प्रमाण एकत्रित करने के प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों में विशेष रुचि का परिणाम माना जाता है। इसकी तीसरी विशेषता यह थी कि सांख्यिकीय एवं मात्रा के निर्धारण पर अधिक जोर दिया जाने लगा। किसी भी आंकड़े की विषयगत रूप से व्याख्या करने के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में इस विशेषता का महत्व है।

व्यवहारवादियों ने राजनीति शास्त्र में जिन नवीन परम्पराओं एवं प्रक्रियाओं को जन्म दिया वे व्यवहारवादी दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया के रूप

में सामने आई। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि परम्परावादी विचारकों द्वारा इनकी कटु आलोचना की जाती। इस आलोचना को स्वाभाविक मानते हुए मि० रोजमेन तथा अन्य ने बताया है कि परम्परावादी हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठ सकते थे और अपनी आंखों के सामने ही अपने शास्त्र में परिवर्तन होते हुए नहीं देख सकते थे। परम्परावादियों ने व्यवहारवादियों की अनेक नवीनताओं को सार्वजनिक रूप से आलोचना का विषय बनाया। इस आलोचना की कटुता आलोचक के परम्पराओं के प्रति प्रेम की मात्रा पर निर्भर थी।

इस प्रकार पर्याप्त समय तक राजनीति शास्त्रियों के बीच एक युद्ध की सी स्थिति रही। व्यवहारवादियों के आलोचकों में वे लोग मुख्य थे जो राजनीतिक व्यक्ति एवं संस्थाओं की जानकारी के लिए अनुभववादी प्रणाली की क्षमता में अविश्वास करते थे। उन्होंने मानवीय व्यवहार की जटिलताओं का उल्लेख किया और बताया कि मनुष्य के दृष्टिकोण और प्रेरणा को जानना कितना कठिन है। उनके कथनानुसार नियन्त्रित प्रयोगों के लिए राजनीतिक वातावरण को विषय बनाना उतना ही कठिन और असंभव था, जितना कि चूहों अथवा गिलहरियों के व्यवहार को बनाना होता है। उनका कहना था कि—यह सच है कि जब व्यक्तियों का अध्ययन किया जाता है तो उनका ज्ञान बढ़ता है और वे अपने व्यवहार को उसके अनुसार समायोजित करने का प्रयास करते है। जब एक मतदाता से चुनाव प्रचार के दौरान लगातार प्रश्न किये जाते हैं तो उसकी राजनैतिक जानकारी बढती है और उसका प्रभाव उसके मतो पर पड़ सकता है। आलोचकों ने बताया कि मानवीय व्यवहार का अध्ययन करते समय भी अध्ययनकर्त्ता इतना वस्तुगत एवं निष्पक्ष नहीं रह सकता। इस प्रकार व्यवहारवाद के आलोचकों ने अपने तर्कों को मानवीय व्यवहार के अध्ययन के वैज्ञानिक साधनों की ओर रखा।

व्यवहारवादियों की एक दूसरी आलोचना यह की जाती है कि नये राजनीति शास्त्री सैद्धांतिक प्रारम्भिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपना इतना समय और साधन खर्च करते है कि उनको अगर अन्य सार्वजनिक प्रश्नों पर व्यय किया जाता तो अधिक लाभ हो सकता था। राजनैतिक विचारक मान्य, स्पष्ट छोटी-छोटी बातों पर अपना श्रम लगाते हैं। ऐसी स्थिति में न्याय और समता की प्रकृति, आणविक शक्तियों का संघर्ष एवं जनसंख्या की वृद्धि के खतरे और शक्तिशाली विचारधाराओं के संघर्ष का अध्ययन आदि कौन करेगा। नये राजनीति शास्त्री वैज्ञानिक शक्तियों की खोज में लगे रहते हैं एवं आधुनिक व्यक्ति की महत्वपूर्ण संस्थाएं अपरीक्षित रह जाती*।

जिस तरह परम्परावादियों की आलोचना करके विचारकों ने व्यवहारवाद को जन्म दिया, उसी प्रकार व्यवहारवादियों की आलोचना करके उसमें अनेक संशोधन किये गये। असल में यह दोनों विचारधाराएं अपने कुछ उपयोगी तत्व रखती हैं और दोनों की ही अपनी कमियां है। मि० रोजमेन तथा अन्य का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि "परम्परावाद में आलोचना करने के लिए बहुत कुछ है और अधिकांश परम्परावादी इसे जानते हैं। इसी प्रकार प्रारम्भिक व्यवहारवाद में आलोचना करने के लिए बहुत कुछ था और व्यवहारवादियों ने इसमें से अधिकांश को स्वीकार कर लिया।"

राजनीति शास्त्र के दो सशस्त्र गुट
(Two Armed Camps of Political Science)

राजनीति शास्त्र में व्यवहारवादियों का प्रभाव बढ़ने के बाद इसका स्वरूप बहुत कुछ बदल गया। इसके अध्ययन की सीमायें पर्याप्त व्यापक हो गईं। इसके अध्ययन क्षेत्र में व्यक्तियों एवं छोटे समूहों का राजनैतिक व्यवहार, मतदान व्यवहार, राजनैतिक समाजीकरण, नेतृत्व आदि को सम्मिलित किया गया। सरकार की संस्थाओं में व्यक्तियों एवं समूहों की अन्तःक्रियाओं से इसका सम्बन्ध स्थापित हो गया। अन्य विषयों से राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध था उसे भी अध्ययन का विषय बनाया गया। राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया।

राजनीतिशास्त्र के ज्ञान की व्यवस्था अनुभववादी बन गई। यद्यपि अनुभववादी तत्व इसमें पहले भी थे किन्तु अब वे अधिक कठोर, निश्चित एवं वास्तविक बन गये। पहले तथ्यों को स्वयं सिद्ध मानने की जो परम्परा थी वह अब समाप्त हो गई। अब सत्य की खोज के लिए सिद्धान्त एवं परिकल्पना के महत्व को स्वीकार किया गया तथा तथ्यों को अर्थपूर्ण सम्बन्धों में संगठित करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।

राजनीति शास्त्र में प्राथमिकताओं के सम्बन्ध में संघर्ष होने लगा। राजनीति शास्त्र में एक सिद्धान्त होना चाहिए अथवा अनेक सिद्धान्त होने चाहिए अथवा इसे व्यक्तिगत मूल्यों अथवा सामाजिक लक्ष्यों का स्पष्टीकरण करना चाहिए ? ये दोनों लक्ष्य परम्परागत राजनीति शास्त्र में माने गये थे। क्रियावादिता एवं सुधार का तीसरा लक्ष्य भी बना रहा किन्तु अब इसका रूप परिवर्तित हो गया। राजनीति के निम्न स्तर पर सक्रियता को आवश्यक तथा उपयोगी माना गया। भावी राजनीति शास्त्री अब यह समझने लगे कि उनके राजनैतिक लक्ष्य केवल तभी साकार हो सकते हैं जब कि वे स्वयं राजनीति के आंगन में उतर आयें। दूसरे शब्दों में वे राजनैतिक कार्यों में रुच

डर से भाग लेने लगे कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो कोई उनकी आवाज को नही सुनेगा। प्रजातन्त्र में विशेषज्ञ की आवाज केवल इसलिए नही सुनी जाती कि वह विशेषज्ञ है वरन् इसलिए कि उसके हाथ में शक्ति है।

व्यवहारवाद के जन्म के बाद राजनीति शास्त्र मुख्य रूप से दो सशस्त्र गुटों में विभाजित हो गया। दोनों की मान्यतायें एवं विश्वास एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न थे। परम्परावादियों द्वारा परिकल्पना का बहुत कम प्रयोग किया जाता था क्योंकि उनके अधिकाश कार्यों को वैज्ञानिक परीक्षण या जांच के आधार पर नही देखा जाता था। व्यवहारवादियो का कहना था कि परम्परावाद राजनीतिज्ञ प्राप्त तथ्यों की अवहेलना करते हैं। राजनैतिक अध्ययन मे मूल्यों के महत्व के सम्बन्ध में भी दोनों का मत अलग-अलग था। व्यवहारवादियो पर परम्परावादियों द्वारा यह आरोप लगाया गया कि वे अपनी मान्यता सम्बन्धी संरचना को ही एक मात्र सिद्धान्त मानते है। दूसरी ओर व्यवहारवादियों का यह कहना था कि परम्परावादियो के विश्लेषण का चाहे सैद्धान्तिक मूल्य कुछ भी क्यों न हो किन्तु स्पष्ट एवं निश्चित मान्यताओं के अभाव में इसका मूल्य समाप्त हो जाता है। परम्परावादी कहते है कि व्यवहारवादियो द्वारा प्रयुक्त कठिन शब्द केवल भ्रम पैदा करते हैं जबकि परम्परावादियों पर व्यवहारवादी यह आरोप लगाते हैं कि उन्होने राजनैतिक संदर्भ के वर्गीकरण को अत्यधिक सरल बना दिया है।

दोनो मतानुयायियों के बीच अध्ययन की प्रणाली के सम्बन्ध में भी पर्याप्त वाद-विवाद है। सामान्य रूप से परम्परावादी विचारको ने अपने इस पहलू पर विशेष ध्यान नही दिया है। वे यह नही बता पाते कि किन्ही निष्कर्षों पर वे किस प्रकार पहुंचे हैं। व्यवहारवादी विचारक प्रणाली पर पर्याप्त ध्यान देते है। उनका मत है कि अध्ययन की प्रणाली का प्राप्त निष्कर्षों पर पर्याप्त प्रभाव पडता है। भिन्न-भिन्न प्रणालियां अपनाने पर भिन्न-भिन्न परिणाम प्राप्त किये जा सकते है। किस विषय का अध्ययन करने के लिए कौनसी प्रणाली उपयुक्त रहेगी इस सम्बन्ध मे व्यवहारवादी विचारक एक दूसरे से भिन्न विचार रखते हैं। सामान्य रूप से व्यवहारवादी एक प्रणाली नहीं वरन् अनेक प्रणालियों में विश्वास करते हैं। परम्परावादियों का कहना है कि व्यवहारवादी विश्लेषण मे वैज्ञानिक विधि के सामान्य रूप से स्वीकृत सिद्धान्त नहीं होते इसलिए उनका वैज्ञानिक आधार सदिग्ध बन जाता है। इससे वस्तुगतता समाप्त हो जाती है तथा राजनीति शास्त्र के विज्ञान का विकास नहीं हो पाता।

व्यवहारवादियों ने राजनैतिक विश्लेषण के लिए विशेषीकृत शब्दावली का विकास किया है। परम्परावादी विचारक इसका विरोध करते हैं क्योंकि

मानवीय दृष्टिकोण पर आधारित उनके विचारों में इस प्रकार के विशेषीकरण के लिए कम स्थान रहता है। अनेक परम्परावादियों का यह दावा है कि वे हर प्रकार के व्यक्ति के साथ विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं तथा अध्ययन के सभी क्षेत्रों में उनकी पहुंच है। इसके अतिरिक्त उनका विचार है कि व्यवहारवादी विश्लेषणों की पदावली से कोई अधिक लाभ नहीं हुआ है। शब्दावली को विशेषीकृत करने के बाद राजनीतिक विचारक स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने विचारों का आदान-प्रदान नहीं कर पाते। मतभेदों के कारण विचारों में भ्रम के लिए पर्याप्त अवकाश हो जाता है।

इस प्रकार परम्परावादी एवं व्यवहारवादी राजनीति शास्त्र के दो ऐसे दृष्टिकोण हैं जो परस्पर अनेक भिन्नतायें रखते हैं। दोनों के पारस्परिक विरोध को देख कर इनको राजनीति शास्त्र के दो [illegible] कह दिया जाता है। इनमें से दोनों में ही आन्तरिक [illegible] नहीं होते। इतने पर भी इन दृष्टिकोणों को राजनीति शास्त्र के विचारों का कोई ठोस स्कूल नहीं कहा जा सकता। कई बार तो यह पहचानना भी कठिन हो जाता है कि एक विशेष राजनीतिज्ञ अथवा उसकी रचना व्यवहारवादी है अथवा परम्परावादी है क्योंकि उनको पहचानने के लिए कोई स्पष्ट आधार नहीं होता। इसके अतिरिक्त राजनीति शास्त्रियों के अन्तर्गत इस प्रकार की भिन्नता होती हैं कि किसको किस समूह में रखा जाए, यह तय करना कठिन बन जाता है। अर्वाचीन राजनीति शास्त्र का [illegible] को ही स्पष्ट किया जाना चाहिए।

अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली
(The Scientific Approach of Study)

वर्तमान समय में राजनीति शास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र पर्याप्त व्यापक हो गया है। वह स्थानीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय तक और अतीत से लेकर भविष्य तक की समस्त घटनाओं तथा उन पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करता है। अध्ययन क्षेत्र की व्यापकता के अतिरिक्त वैज्ञानिक एवं तकनीकी आविष्कारों ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन को इतना प्रभावित किया है कि अतीत की तुलना में उसका स्वरूप पर्याप्त बदल चुका है। राजनीति शास्त्र ने भी अन्य सामाजिक शास्त्रो की भाति अपने अध्ययन की प्रणाली को यथासंभव वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया है। अनुभववादी दृष्टिकोण के आधार पर राजनीति शास्त्र मे अनेक सामान्यीकरण किये जाते हैं जो विशेष अवसरों और घटनाओं के निरीक्षण पर आधारित होते हैं। राजनीति शास्त्र के विद्वान मौलिक रूप से इस बात पर सहमत है कि घटनाओं के संसार में तथ्य क्या होते हैं और उनके आधार पर एक व्यक्ति किस प्रकार सामान्यीकरण कर सकता है। उनके मतानुसार प्रमाण वह है जिसका निरीक्षण किया जा सके, और बिना पर्याप्त प्रमाण के वे किसी तथ्य को स्वीकार नही करना चाहते। वैज्ञानिकों की भांति वे परिकल्पनाओं एव पूर्व विचारो को कठोर प्रणालियों के आधार पर जांचना चाहते हैं। वह किसी भी बात को स्वाभाविक, बुद्धिपूर्ण अथवा तर्कपूर्ण कह कर स्वीकार नही करना चाहते।

विभिन्न अवरोध
(Different Obstacles)

राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे वैज्ञानिक प्रणाली को पूरी तरह नही अपनाया जा सकता। मि० रोबर्ट ए० डहाल (Robert A. Dahl) के कथनानुसार "राजनीति शास्त्र का अध्ययन न तो शुद्ध रूप से वैज्ञानिक हो सकता है और न होना चाहिए।" राजनीति शास्त्र का वैज्ञानिक विधि से अध्ययन करने के मार्ग में अनेक कठिनाइयां है। इन बाधाओं एवं कठिनाइयो का अध्ययन करने के बाद ही उन प्रयासो को समझा जा सकता है जो राजनीति को विज्ञान बनाने की दिशा मे किये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में पहला अवरोध यह है कि विज्ञान तथ्यों के प्रतिवेदन एवं विश्लेषण मे वस्तुगतता की माग करता है किन्तु सामाजिक विज्ञान में यह माग पूरी करना सरल नही है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति मानवीय व्यवहार को अपने जीवन के सदर्भ में रख कर देखता है। ऐसी स्थिति के तथ्यो का अध्ययन पूर्व निर्धारित विचारो के अनुसार किया जाएगा। ऐसा करने पर तथ्य ऐसे नही दिखाई देंगे

जैसे कि वे हैं, वरन् ऐसे दिखाई देंगे जैसे कि वे होने चाहिए। कभी-कभी तो यह प्रक्रिया जानबूझ कर की जाती है और कभी यह अनजाने में ही होती है, जिसके अस्तित्व को स्वयं कर्ता भी नहीं जान पाता। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान ने इस समस्या का अनुभव किया है और इसे सुलझाने के लिए विभिन्न प्रणालियों का उल्लेख किया है। इतने पर भी यह सामान्य रूप से माना जाता है कि तथ्यों के अध्ययन में विषयगतता को पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता, और इस प्रकार अनुभववादी शोध में वस्तुगतता एक वांछनीय आदर्श बन कर रह जाती है।

राजनीति शास्त्र के शोध कर्ता के सामने एक विशेष कठिनाई उपस्थित होती है। यहां वह मूल्यों से सम्बन्धित विचारों को हटाने में अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा अधिक कठिनाई का अनुभव करता है। इस कठिनाई के अनेक कारण हैं। प्रथम यह कि राजनीति शास्त्र के आकड़े विशेष रूप से मूल्यों से ढके होते हैं, क्योंकि राजनैतिक वातावरण के अध्ययन में अध्ययनकर्ता की प्राथमिकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है। दूसरे, राजनैतिक विश्लेषण में प्रायः उन सम्भावित लक्ष्यों का अध्ययन किया जाता है जो व्यवहार को संचालित करने में कारण बनते हैं। यदि इन लक्ष्यों का अध्ययन न किया जाए तो विश्लेषण उथला बन जाएगा। दूसरी ओर जब लक्ष्यों का अध्ययन किया जाता है तो उनके साथ जुड़े हुए मूल्यों की व्याख्या एवं निश्चय भी करना होता है। इस प्रयास को वैज्ञानिक कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। तीसरे, यह कहा जाता है कि राजनीति शास्त्री एक नागरिक तथा मतदाता के रूप में व्यक्तिगत योगदान करते समय मूल्यों को महत्व दें, किन्तु जब राजनीतिक शोध कार्यों में विश्लेषण और पर्यवेक्षण करें तो अपने आपको मूल्यों से अलग हटा लें, यह सम्भव नहीं है। दोनों कार्य एक साथ नहीं हो पाते, या तो ये उदासीन नागरिक बन जाते हैं अथवा शोध कार्यों में पक्षपातपूर्ण हो जाते हैं।

राजनीति शास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन का दूसरा अवरोध सिद्धान्तों की स्थापना एवं विकास से सम्बन्ध रखता है। वैज्ञानिक सिद्धान्त को घटनायें स्पष्ट करनी होती हैं तथा उनके बारे में भविष्यवाणी करनी होती है। यह समय-समय पर अनुभववादी जांच के आधार पर इनमें परिवर्तन एवं सुधार करता है। कोई सिद्धान्त चाहे वह कितना ही सीमित एवं संकीर्ण क्यों न हो, उसे अन्तिम या पूर्ण नहीं माना जा सकता। वैज्ञानिक सिद्धान्त की समय-समय पर जांच की जानी चाहिए। वैज्ञानिक सिद्धान्त को बनाते समय यह नहीं हो सकता है कि कुछ चुने हुए सामान्यीकरणों को ही मनमाने ढंग से लिया जाए और निर्विवाद तथ्यों अथवा स्थापित सिद्धान्तों को

मनमाने ढंग से अस्वीकार कर दिया जाए । असल में वैज्ञानिक सिद्धान्त ऐसा होना चाहिए जिसके ऊपर तर्क न किया जा सके। राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त इस प्रकार के नहीं होते । उन्हें कई बार उन विचारों एवं कथनों के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता है जो वातावरण का न तो स्पष्टीकरण कर सकते हैं और न ही भविष्यवाणी कर सकते हैं । राजनीति शास्त्र ने एक परम्परा का विकास किया है, जिसके अनुसार जानबूझ कर इसके सिद्धान्तों में मूल्यों को स्थान दिया जाता है । अनेक राजनीति शास्त्री मूल्यों से प्रभावित प्रस्तावों पर जानबूझ कर प्रकाश डालने का प्रयास करते हैं । मि० रोजमैन (Roseman) तथा अन्य के कथनानुसार "संक्षेप में, राजनीति शास्त्र के अध्ययन में सिद्धान्त का प्रयोग सामान्यरूप से परिवर्तन की सिफारिश के लिए, आदर्शों की स्थापना के लिए या मापदण्ड निश्चित करने के लिए किया जाता है ताकि उनके आधार पर कार्यों की जाच की जा सके। इस प्रकार की परम्परा को वैज्ञानिक अध्ययन में सिद्धान्त के योगदान के साथ समायोजित करना कठिन होता है ।"

राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त घटनाओं की पूरी व्याख्या नहीं कर पाते। परम्परागत मूल्यवादी विचारधारा आगमन विधि की अपेक्षा निगमन विधि से प्राप्त की जाती है । इसकी सत्यता की जांच नहीं की जा सकती । असल में राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों में वैज्ञानिकता अभी प्रारम्भिक अवस्था में है । इसे प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयास करने होंगे ।

वैज्ञानिक अध्ययन की तीसरी माग यह है कि तथ्यों एवं सिद्धान्तों में परस्पर ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए कि सिद्धान्तों के द्वारा तथ्यों को स्पष्ट किया जाय और तथ्यों को आवश्यक सिद्धान्तों की जाच के लिए प्रयुक्त किया जाए। प्रभावशाली तथ्यों के द्वारा सिद्धान्तों को बनाया जाता है, परिवर्तित किया जाता है तथा नष्ट भी किया जाता है । दूसरी ओर सिद्धान्तों के द्वारा आकड़ों के संचय एवं विश्लेषण को बदला जा सकता है। इस प्रकार का सम्बन्ध सिद्धान्त शास्त्रियों एवं अनुभववादी शोधकर्ताओं के लिए एक चुनौती के समान है, क्योंकि इसके लिए वांछनीय कुशलता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होता है ।

वैज्ञानिक अध्ययन की चौथी आवश्यकता भविष्यवाणी करने वाले कानूनों के संग्रह की है । सिद्धान्तों के द्वारा तथ्यों को तभी स्पष्ट किया जा सकता है और तथ्यों के द्वारा सिद्धान्तों को तभी सही किया जा सकता है जबकि तथ्यों को उनकी समानता के आधार पर संचित एव पर्यवेक्षित किया जाए । एकरूपता एवं समानता से सम्बन्धित कथनों को प्रायः कानून कहा जाता है । उनकी प्रकृति स्पष्टीकरण की होती है, इसलिए उनको

भविष्यवाणी कर्त्ता भी कहते हैं। एक कानून के लिए वातावरण को मापने की आवश्यकता होती है, जब तक वातावरण को मापा नही जायेगा, उस समय तक कानून के द्वारा विशेष विकासो को न तो स्पष्ट किया जा सकता है और न ही उनके सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है। राजनीति शास्त्र ने वैज्ञानिक दृष्टि से उपयोगी कानूनों का कभी विकास नही किया। सम्भवतः इसका कारण यह है कि राजनीति शास्त्री अनेक तत्वों को मापने के साधन विकसित नहीं कर सके। उदाहरण के लिये शक्ति, स्वामिभक्ति और वैमनस्य आदि। सम्भवतः ये ऐसे तत्व हैं जिनको मापा नही जा सकता। इसी आधार पर अनुभववाद के विरोधी राजनीति शास्त्र को विज्ञान के रूप में विकसित करना न तो वांछनीय मानते हैं और न सम्भव ही।

वैज्ञानिक विधि का विकास

यद्यपि राजनीति शास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन के मार्ग में अनेक बाधाएं एवं समस्यायें है, किन्तु फिर भी इसे वैज्ञानिक बनाना इतना उपयोगी है कि बाधाओं को दूर करना जरूरी हो जाता है। इस दिशा मे प्रयास बहुत पहले ही आरम्भ हो गये थे, इन प्रयासो के परिणाम भी पर्याप्त महत्वपूर्ण हुए हैं। सिद्धान्तों की रचना एव शोध कार्यो को सम्पन्न करने के क्षेत्र मे अनेक प्रयास किये गये है। राजनैतिक विश्लेषण मे अध्ययन की वैज्ञानिक विधि अपनाने का प्रारम्भिक प्रयास, तुलनात्मक दृष्टिकोण के माध्यम से, अरस्तु ने किया। बीसवी शताब्दी के राजनीति शास्त्र द्वारा इस तुलनात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग विभिन्न परिकल्पनाओं को जाचने के लिए किया गया। जब सेमर मार्टन लिपसैट (Seymour Martin Lipset) ने इस परिकल्पना को प्रमाणित किया कि आर्थिक विकास प्रजातन्त्र की पूर्व आवश्यकता है तो उन्होंने अनेक लेटिन अमरीकी, यूरोपीय एवं एशियाई प्रजातन्त्रों का अध्ययन किया जो स्थाई और अस्थाई तथा तानाशाही प्रवृत्तियो से पूर्ण थी। लिपसैट ने अपने अध्ययन मे पाया कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न प्रजातन्त्र, आर्थिक दृष्टि से कमजोर प्रजातन्त्रों की अपेक्षा अधिक अच्छे थे। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में सांख्यिकी का प्रयोग किया जाता है ताकि निष्कर्षो को प्रभावित करने वाले आकस्मिक तत्वो का निषेध किया जा सके। राजनैतिक क्रियाओ का स्पष्टीकरण एवं उनसे सम्बन्धित भविष्यवाणी जितनी तुलनात्मक दृष्टिकोणों पर अवलम्बित है उतनी ही यह सिद्धान्तों पर आश्रित है। वर्तमान समय में सिद्धांतों की रचना करते समय माडलों का प्रयोग किया जाता है और मान्यता सम्बन्धी रूप रचना की जाती है। इस प्रकार राजनीतिक शास्त्र के क्षेत्र में अनेक सिद्धान्त सामने आते हैं—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त, निर्णय लेने के सिद्धान्त, मतदाताओं के व्यवहार से सम्बन्धित

सिद्धान्त, संयुक्त सरकार बनाने से सम्बन्धित सिद्धान्त आदि-आदि । सिद्धांतों की रचना के सम्बन्ध में कई एक दृष्टिकोण विकसित किये गये । एक ऐसा ही सुस्थापित एवं व्यवस्थित मान्यता सम्बन्धी दृष्टिकोण संरचना एवं कार्यात्मक दृष्टिकोण है । इस दृष्टिकोण का विकास मूल रूप से टालकोट पारसन्स (Talcott Parsons) ने किया था । उसने इस दृष्टिकोण को जीव विज्ञान के कार्यवाद के विचारों पर आधारित किया । राजनीति शास्त्र को विज्ञान बनाने के लिए इस प्रकार की मान्यताओं के अतिरिक्त एक शब्दावली, विभिन्न परिभाषाओं और सम्बन्धों की व्यवस्था करना भी आवश्यक था ताकि अनुभववादी शोध एव सिद्धान्त रचना के कार्य मे सहायता की जा सके ।

कुछ समाज विज्ञान के विद्वानों के मतानुसार वैज्ञानिक प्रकृति की पहली एव प्रमुख विशेषता 'प्रयोग' है । यह मान्यता अन्य विद्वानों द्वारा स्वीकार नही की जाती । उनका कहना है कि राजनीति शास्त्र में प्रयोग सही रूप में किये नही जा सकते । यहा जिस प्रकार के प्रयोग किये जा सकते है वे पर्याप्त सीमित प्रकृति के होते है । मि० रोजमेन तथा अन्य का कहना है कि निकट भविष्य मे सम्भवतः प्रयोग राजनीति शास्त्र की सीमा से बाहर रहेंगे । मनुष्यों एवं उनकी राजनैतिक संस्थाओं से सम्बन्धित होने के कारण राजनीति शास्त्र में प्रयोग नही किये जा सकते । लेविस (Lewis) का यह कहना सही था कि हम "राजनीति शास्त्र मे वह कुछ नही कर सकते जो एक प्रयोग कर्त्ता रसायन शास्त्र मे करता है ।" समाज के किसी भी भाग को अपने हाथ मे लेकर हम उस पर मनमाने प्रयोग नही कर सकते । भिन्न-भिन्न स्थितियों मे रख कर सामाजिक समस्याओं के निराकरण के उपाय नही खोज सकते । भौतिक जगत में सारी स्थिति प्रयोग कर्त्ता के हाथ मे रहती है । वह किसी भी स्थिति की पुनरावृत्ति कर सकता है, किन्तु राजनीति शास्त्र के प्रयोगों को दोहराना असम्भव होता है । किसी भी देश में मनचाही संस्था स्थापित नही की जा सकती क्योंकि राजनैतिक संस्थायें प्रायः उस देश के निवासियों की इच्छाओं का दर्पण होती है । यदि जबरदस्ती किसी संस्था को एक प्रदेश मे प्रारम्भ कर भी दिया गया तो सम्भावित परिणाम प्राप्त नहीं हो सकेंगे ।

विभिन्न विचारकों का योगदान
(The Contribution of Various Thinkers)

राजनीति शास्त्र के सिद्धात वर्तमान काल मे बहुत कुछ अनिश्चितता एवं विनाश की स्थिति में पहुंच चुके हैं । विचारकों का कहना है कि पिछले ५० वर्षों मे इन सिद्धान्तों के क्षेत्र में कोई मौलिक रचना नही हुई । इन्होंने राजनीति शास्त्र के विज्ञान के विकास में बहुत कम योगदान किया । सिद्धांतों

के विभिन्न व्याख्याकारों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। ये हैं—व्यवस्था पूर्ण स्कूल (Systematic School), विश्लेषणात्मक स्कूल (Analytical School) तथा व्यवहारवादी स्कूल (Behaviourlists School)। इन सभी के अनुयायियों की एक सामान्य मान्यता यह है कि इतिहास के एक पहलू के रूप में राजनैतिक सिद्धान्त का अध्ययन बेकार है। इन लोगों की प्रक्रिया एवं निष्कर्ष अलग-अलग है। इन तीनों श्रेणियों के प्रमुख विचारकों का अध्ययन करना उपयुक्त रहेगा।

(१) डेविड ईस्टन
(David Easton)

व्यवस्थापूर्ण स्कूल के विचारकों में डेविड ईस्टन का नाम उल्लेखनीय है। उनके मतानुसार इतिहासवाद (Historicism) का विषय आधुनिक राजनैतिक सिद्धांत के ह्रास का मुख्य कारण है। इतिहासवाद से उनका अर्थ इस मान्यता से है कि समस्त विचार ऐतिहासिक रूप से निर्धारित किये जाते हैं। विचारों की प्रकृति, कारण एवं प्रभाव इतिहास में जैसे दिखाई देते हैं वैसे ही वे राजनैतिक विचार के मूल बन जाते हैं। मि० ईस्टन के मतानुसार डनिङ्ग तथा सेबाइन आदि इतिहासवाद के विचारक है। उन्होंने अनेक विचारों की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि का उल्लेख किया और उनके प्रभाव को बताया। ईस्टन का प्रमुख उद्देश्य यह था कि बौद्धिक इतिहास से राजनैतिक सिद्धांत (Theory) को समाप्त कर दिया जाए और उनके स्थान पर मूल्यों की खोज की जाय तथा महान सिद्धान्तों (Principles) की स्थापना की जाये जो राजनीति शास्त्र को जीवन तथा अर्थ प्रदान कर सकें। उन्होंने इस बात पर दुख प्रकट किया कि राजनीति शास्त्र अर्थ शास्त्र और समाज शास्त्र से पिछड़ चुका है और सामान्य सिद्धांत को प्राप्त नही कर पाया है। उनका विचार था कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन को किसी महान विचारक के अधीन लाया जाये जिस प्रकार कि भौतिक शास्त्र मे आइन्स्टीन की विचारधारा है और जीव शास्त्र मे डारविन का सिद्धान्त है। ईस्टन के मतानुसार एक व्यापक सैद्धान्तिक योजना तैयार की जाए जो राजनीति शास्त्र के अध्ययन और शोध को निर्देशित कर सके, माप सके और प्रोत्साहित कर सके। यह व्यवस्था कठोर नही होनी चाहिए वरन् लचीली और लगातार समायोजित होने वाली होनी चाहिए। कुल मिला कर इस व्यवस्था मे कुछ काम चलाऊ परिकल्पनाएं होंगी, जिनको इस प्रकार प्रयुक्त किया जायेगा कि वे अनुभववादी शोध में इस तरह सहायता कर सकें कि सामाजिक रूप से उपयोगी समस्याओं को अच्छी तरह से समझा जा सके। राजनीति शास्त्र का सामाजिक सिद्धान्त कुछ मान्यताओं से युक्त होगा और

इसी से संहीतएं सामान्यीकरण निकाले जायेंगे। इन सामान्यीकरणों से कुछ ऐसे विशेष सामान्यीकरण निकाले जायेंगे जो अनुभववादी प्रमाण का काम कर सकें। यह व्यवस्था निगमनात्मक तर्क प्रणाली से मिलती है।

मि० ईस्टन के मतानुसार राजनैतिक सिद्धान्त के प्रति निगमनात्मक दृष्टिकोण का एक प्रमुख लाभ यह होगा कि इसके द्वारा मूल्यों का विकास और रक्षा की जा सकेगी। ईस्टन इस बात में विश्वास नहीं करते कि राजनीति शास्त्री को मूल्यों पर विचार नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत उनके मतानुसार राजनीति के सिद्धान्त शास्त्री का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि मूल्य से युक्त निर्णय का वह समर्थन करे। उनके मतानुसार ऐसे सिद्धांत का कोई महत्व नही है जो निर्णय का मापदण्ड न दे सके। नैतिक निर्णय व्यक्ति के भावनात्मक जीवन मे जमे रहते हैं और इसीलिए वे शोधकर्त्ता की परीक्षा को प्रभावित करेंगे। मूल्य कहावतों की तरह से नही होने, जिन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाये॥ इनकी अनुभववादी आंकड़ों के आधार पर परीक्षा की जानी चाहिए। इन्हे उन नियमों एव परिकल्पनाओ के संदर्भ में देखा जाए जिन्हे शोधकर्त्ता ने अपना मॉडल बनाया है। अध्ययन को प्रभावित करने वाले ये मॉडल ही सामान्य सिद्धान्त होते हैं। जान लॉक का प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धान्त, मिस्टर बैन्थम का अधिकतम सुख का सिद्धान्त और मार्क्स का वर्ग सघर्ष का सिद्धान्त इस प्रकार के सिद्धांतों के उदाहरण हैं।

(२) अनेटोल रैपोपोर्ट
(Anatol Repoport)

निगमनात्मक या व्यवस्थापूर्ण राजनैतिक सिद्धान्त का एक प्रमुख समर्थक मिस्टर रैपोपोर्ट था। उसके विचारों पर मिस्टर ईस्टन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। असल मे यह कोई राजनैतिक विचारक नही था वरन् मूल रूप से एक जीव शास्त्री और गणितज्ञ था। प्रायः सभी सामाजिक विज्ञानों में उसकी गहरी रुचि थी और उनको वह निश्चित विज्ञान बनाना चाहते थे। रैपोपोर्ट ने सिद्धान्त को आंकड़ों से पृथक कर दिया। उसके मतानुसार वातावरण को सही रूप से समझने के लिए अनुभववादी पर्यवेक्षण कोई मदद नही करता। यदि कोई वर्षों तक समुद्रों की लहरों को देखता रहे तो भी उसे लहरों की गति के सम्बन्ध मे कोई ज्ञान नही होगा। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलीलियो ने तथ्यो को अधिक महत्व नही दिया था, उसका विश्वास था कि सिद्धान्तो की रचना करते समय यह देखना चाहिए कि आदर्श परिस्थितियों में क्या होना चाहिए। तथ्यों की दृष्टि से अलग होते हुए भी

यदि एक सिद्धान्त आदर्श रूप से सही है तो ज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण माना जायेगा।

रेपोपोर्ट यह मानने को तैयार नहीं है कि भौतिक एवं सामाजिक विज्ञानों के बीच असमानता की गहरी खाई है। इन वैज्ञानिकों के लक्ष्य मौलिक रूप से न तो भिन्न होते न होने चाहिए। इसलिए दोनों द्वारा एक सी ही प्रकार की प्रक्रियाओं को काम में लाया जा सकता है। कुछ समय के लिए इनकी समस्याएं भिन्न दिखलाई देती है, क्योंकि इनकी प्रगति के स्तर अलग-अलग हैं। भौतिक वैज्ञानिक के लिए परिभाषा, मान्यता एवं निश्चित वर्गीकरण की समस्या का एक प्रकार से समाधान हो चुका है जब कि सामाजिक विज्ञान वालों के लिए ये समस्याएं अभी तक महत्वपूर्ण है। अभी यह नहीं माना जा सकता कि सभी लोग प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता या सम्प्रभुता का अर्थ निश्चित रूप से जान लेंगे अथवा यदि राज्य या सरकार का वर्गीकरण किया जाय तो वे उसको मान लेंगे। यदि इन प्रारम्भिक समस्याओं को सुलझा लिया जाय तो राजनीति शास्त्र का लक्ष्य एवं प्रक्रिया भौतिक शास्त्र से मिल जायेंगे। इस प्रकार रेपोपोर्ट ने एक शुद्ध सिद्धान्त का समर्थन किया जिसका सभी तथ्यों के साथ अनुरूप होना जरूरी नहीं था किन्तु तार्किक रूप से इसे एकरूप होना चाहिए था।

रेपोपोर्ट ने शुद्ध सिद्धान्त को मूल्यांकन करने का कार्य भी सौंपा। वह इस मत का विरोध करता था कि राजनीति शास्त्र को केवल 'क्या है' पर ही विचार करना चाहिये और 'क्या होना चाहिए' पर विचार नहीं करना चाहिए। एक शुद्ध सिद्धान्त को यह बताना चाहिए कि कुछ निश्चित परिस्थितियों में क्या होना वाछनीय है। इस प्रकार के सिद्धान्त के द्वारा कुछ मौलिक सत्यों की स्थापना होती है। एक शुद्ध सिद्धान्त के द्वारा राजनीति शास्त्र में भौतिक शास्त्र की भांति भविष्यवाणी करने की क्षमता भी होनी चाहिये किन्तु यह क्षमता उसमें इतनी जल्दी नहीं आ सकती।

(३) राबर्ट ए. डहाल
(Robert A. Dahl)

ये विश्लेषणवादी स्कूल के एक प्रमुख विचारक हैं। इस स्कूल के प्रायः सभी विचारक रचनात्मक की अपेक्षा आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाते हैं। इनके मतानुसार राजनीति शास्त्री का कोई यह काम नहीं है कि वह किसी ऐसे सिद्धान्त की खोज करे जो सम्पूर्ण राजनीतिक शास्त्र को एकीकृत कर सके, यद्यपि इस स्कूल के विचारक सिद्धान्त का विरोध नहीं करते है, किन्तु वे एक सिद्धान्त की अपेक्षा अनेक सिद्धान्तों के अस्तित्व को मानते हैं। ये

विचारक इतिहासवादियो की इस मान्यता का विरोध करते है कि एक राजनैतिक सिद्धान्त इतना ही अच्छा है जितना कि दूसरा अथवा विभिन्न सिद्धांतों के बीच केवल यही अन्तर है कि उनका प्रभाव अलग-अलग होता है। इसके विपरीत विश्लेषणवादी विचारक यह मानते हैं कि प्रत्येक सिद्धान्त का तर्किक विश्लेपण या अनुभववादी जाच अथवा दोनों के आधार पर परीक्षा की जानी चाहिए। वे राजनीतिक विचारों के विकास की पूरी तरह से अवहेलना करते हैं और इसके प्रभाव पर बहुत कम ध्यान देते है। किसी विचार का चाहे कभी भी विकास हुआ हो, इसको अधिक महत्व देने की अपेक्षा यह लोग उन विचारो की सत्यता को देखना चाहते है। व्यवस्थावादी स्कूल की भांति इन्होने निगमनात्मक विधि का पर्याप्त उपयोग किया है। वे तर्क शास्त्र का उपयोग अपने तथ्यों के समर्थन मे करते है, उनके अनेक लेख, सांख्यिकी एवं बीज गणित के सूत्रो से पूर्ण होते हैं। विश्लेषणात्मक राजनैतिक सिद्धान्त का विकास सम्भवत. दर्शन शास्त्र के एक नये आन्दोलन से प्रेरित हुआ था, जिसको तार्किक सकारात्मकवाद (Logical Positivism) कहा जाता है।

रावर्ट डहाल ने अपने विचार १९५६ मे प्रकाशित राजनीतिक सिद्धान्त की भूमिका (Preface to Democratic Theory) मे प्रकट किये हैं। मिस्टर डहाल ने मैडीसन के प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तो को दस परिकल्पनाओ मे विभाजित किया है। उनके मतानुसार मेडीसन व्यवस्था के दो लक्ष्य थे। एक ओर तो यह कहा गया था कि प्रत्येक व्यस्क नागरिक को समानाधिकार होना चाहिए। यहा तक कि उसे सरकारी नीति को सामान्य निर्देशन को निर्धारित करने का अधिकार भी होना चाहिये। किन्तु दूसरी ओर इसका लक्ष्य यह था कि शिक्षित और धनवान वर्ग के कुछ अल्प सख्यकों को कुछ ऐसी शक्तियां और अधिकार सौप दिए जाएं जो सामान्य जनता को नही दिये जाते है। इन अधिकारो एव विशेष अधिकारो को सवैधानिक व्यवस्थाओं द्वारा संरक्षित किया जाना चाहिये। मेडीसन की व्यवस्था (Madisonian System) में कुछ अन्य कमजोरिया भी थी। इसकी परिभाषाएं अस्पष्ट थी। इसमे कई बातों को स्वय सिद्ध मान लिया था जो ऐसी नही थीं। इसमे ऐसे अनेक तर्क किए गये जो पूरी तरह से असत्य थे। इस सब के अतिरिक्त इसमे अनेक अन्तर्विरोध थे। इसकी अनेक परिकल्पनाएं इस प्रकार की परिभाषा पर आधारित थी जिनको उचित नही माना जा सकता। कुल मिला कर यह व्यवस्था तार्किक दृष्टि से उपयुक्त नही थी।

५ चार्ल्स ई० लिन्ड ब्लाम (Charles E. Lind Blom) के साथ मिल कर प्रोफेसर डहाल ने एक पुस्तक की रचना की जिसमे उन्होंने राजनैतिक दर्शन की परम्परावादी विषयवस्तु में विशेष रुचि दिखाई। यद्यपि इस पुस्तक

के अधिकाश भाग में प्रक्रियाओ एवं तकनीकों का विश्लेषण किया गया है किन्तु फिर भी कुछ मौलिक समस्याओ पर भी विचार किया गया है जो शताब्दियों से विचारकों की राजनैतिक विद्वता को परखती रही है। इसके अतिरिक्त प्रो० डहाल मूल्यों को भी पर्याप्त महत्व देते हैं। मूल्यो को उन्होने लक्ष्य (Goal) कहना अधिक उपयुक्त समझा है। उन्होने स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र, समानता, सुरक्षा और प्रगति आदि मूल्यों का उल्लेख किया है। उन्होने एक उदार प्रजातन्त्रात्मक समाज को प्राथमिकता दी है और सम्पूर्णतावादी समाज का विरोध किया है। इसके साथ ही वे कल्पनावाद को अस्वीकार करते है। उनका विचार था कि वर्तमान समाज मे तकनीकों की दृष्टि से क्रान्ति हो रही है। सामाजिक क्रियाओं के तरीके बदल रहे हैं। किन्तु इसके साथ ही राजनैतिक एवं सामाजिक पुनर्गठन नही हो रहा है। राबर्ट डहाल का मत था कि समाजवाद व पूंजीवाद दोनो ही मर चुके है। पूंजीवाद तो इसलिए मरा क्योकि उसमे अनेक अन्तर्विरोध थे, किन्तु समाजवाद अपने अन्तर्विरोधो के कारण नही, वरन् अपनी सफलताओ के कारण समाप्त हो गया। राबर्ट डहाल ने राजनीति शास्त्र के प्राचीन साहित्य को उपयोगी माना है किन्तु वे इसे पर्याप्त नही मानते। उनका कहना है कि प्लैटो, अरस्तु, मार्क्स या अन्य कोई भी विचारक सारे विचार अन्तिम रूप से नही रख सकते। लोगो की यह प्रवृत्ति होती है कि वे प्राचीनता को गौरव देते है। उनका विश्वास होता है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण बात को अतीतकाल के महान् ग्रन्थों मे कह दिया गया है। ऐसा लगता है कि वे बुद्धि की श्रेष्ठता के लिए शराब की श्रेष्ठता की भांति प्राचीनता को आवश्यक मानते है किन्तु यह विश्वास उपयुक्त नही है।

प्राचीन ग्रन्थों में वे अनेक बातें नही हैं जो आधुनिक ग्रन्थों में पाई जाती हैं। इसका कारण यह है कि राजनैतिक संस्थायें बदलती रहती है। आधुनिक प्रजातन्त्र एथेंस की राज्य व्यवस्था अथवा रोमन गणराज्य के समतुल्य नही है। ऐसी स्थिति में उस समय प्रगट किए गए विचार आज भी उतने महत्वपूर्ण नहीं हो सकते। राजनीति शास्त्र के कुछ विषय तो ऐसे होते है जिनका रूप प्रतिवर्ष बदलता रहता है। राजनैतिक दृष्टिकोण, मतदान एवं निर्वाचन राजनैतिक योगदान आदि के अध्ययन ने आज राजनैतिक व्यवहार के अध्ययन के तरीकों मे क्रान्तिकारी रूप से परिवर्तन कर दिया है। प्रोफेसर डहाल का सुझाव है कि राजनीति शास्त्र का अध्ययन अर्वाचीन ग्रन्थों से शुरू करना चाहिए और उसके बाद प्राचीन ग्रन्थों की ओर बढना चाहिए। आज के राजनैतिक व्यवहार को समझने मे सुकरात, प्लैटो, अरस्तु या रूसो बहुत कम मदद कर सकते है।[1]

---

1. Robert A. Dahl—Modern Political Analysis, page VIII.

(४) आर्थर एफ० बेन्टले
(Arthur F. Bentley)

आर्थर बेन्टले को व्यवहारवादी सिद्धान्त का जन्मदाता एवं प्रेरक माना जाता है। यद्यपि बहुत समय तक एक विचारक के रूप में आर्थर बेन्टले की अवहेलना की गई और उनको गलत समझा गया, किन्तु आज उनको बीसवीं शताब्दी का महान् विचारक माना जाता है। बेन्टले का जन्म १८७० में हुआ। इन्होंने अपने आगे का अध्ययन जर्मनी में सम्पन्न किया किन्तु Ph. D. की डिग्री सन् १८६५ में संयुक्त राज्य अमेरिका में ली। एक शिक्षा शास्त्री के रूप में उनके जीवन का केवल अल्प समय ही व्यतीत हुआ। शिकागो विश्वविद्यालय में एक वर्ष प्रवक्ता रहने के बाद वे पत्रकार बन गये। अपने इस नये कार्य में उन्हें पुस्तकालयों के निरीक्षण का पर्याप्त समय और अवसर मिला। इन अवसरों का लाभ उठाते हुए इन्होंने राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति की। सन् १६०८ में उनकी एक पुस्तक (The Process of Government) प्रकाशित हुई। लगभग २० वर्ष तक इसकी ओर किसी का ध्यान न गया। सन् १६३० में इसे खोजा गया और इसके बाद से उसे महान् ग्रन्थ माना जाता है। सन् १६४१ में उनको कोलम्बिया विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के आचार्य पद पर आमन्त्रित किया गया।

यद्यपि बेन्टले के विचारों का राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों के लिए पर्याप्त महत्व है किन्तु फिर भी उसे हम परम्परागत अर्थ में एक राजनैतिक दार्शनिक नहीं कह सकते। बेन्टले का विचार था कि "सामान्य विचार और कुछ नहीं है वरन् समूहों के हितों की अभिव्यक्ति है। उनकी यह मान्यता राज्य और सम्प्रभुता के प्रति उसके दृष्टिकोण से चित्रित की जाती है। उन्होंने इस मान्यता को अस्वीकार किया कि 'राज्य' सरकार के पीछे स्थित कोई आदि भौतिक तत्व है। इसके विपरीत उनका यह विश्वास था कि सरकार ही सब कुछ है। सरकार का अर्थ है समूह की क्रियायें तथा उसके अन्तर्गत अभिव्यक्त समूह के हित। बेन्टले ने सम्प्रभुता शब्द को भी राज्य की तरह अर्थहीन माना है। सम्प्रभुता का केवल इतना ही महत्व है कि वह एक स्थित सरकार की रक्षा के लिए तर्क का काम कर सके अथवा सरकार की नीतियों एवं कार्यों को कानूनी औचित्य प्रदान कर सके, 'किन्तु ज्यों ही यह कानून की पुस्तकों या राजनैतिक परिपत्रों के पृष्ठों से बाहर निकलती है, यह एक मजाक बन कर रह जाती है।"

एक व्यवहारवादी के रूप में बेन्टले ने अपना ध्यान सरकार के संगठन अथवा कानूनी शक्तियों पर न लगा कर सक्रिय व्यक्तियों एवं समूहों के राजनैतिक व्यवहार पर लगाया। यद्यपि व्यवहारवादी विचारक विश्लेषण-

वादी विचारकों की भांति अध्ययन की प्रणाली पर अधिक जोर देते हैं किन्तु उनका दृष्टिकोण मुख्य रूप से निगमनात्मक नही होता। असल मे ये विचारक ऐसी मान्यताओं एवं सूत्रों की खोज मे रहते है जिनके माध्यम से राजनैतिक क्रिया के समस्त रहस्यों को खोला जा सके। ये विचारक अनुभववादी होते हैं और तथ्यगत शोध के प्रति उनकी रुचि होती है। अपने पर्यवेक्षण को अर्थ प्रदान करने के लिए सिद्धान्तो या सूत्रो के महत्व को ये भी महसूस करते हैं। इनका दृष्टिकोण मूल रूप से सकारात्मक होता है। ये राजनीति शास्त्र के किसी सामान्य सिद्धान्त की खोज नही करना चाहते, क्योकि राजनीति शास्त्र मे पहले ही अनेक प्रणालिया मौजूद है। सामान्य सिद्धान्त की स्थापना करके उनके क्षेत्र को बढ़ाना उपयुक्त नही है।

बेन्टले के राजनैतिक सिद्धान्त मे दो तत्वो को मुख्य अङ्ग माना जा सकता है। प्रथम, उन्होने सरकार की प्रक्रिया दो दबावो (Pressures), सघर्षों (Conflicts), वैमनस्यो (Rivalries) और समूहो तथा उनके हितों की सफलताओं तक घटा दिया। उन्होने समूहों को कार्य के ऐसे तरीके के रूप में परिभाषित किया है, जिसमे कि अनेक लोग भाग लेते हैं। उनके अनुसार 'हित' एक ऐसी सामूहिक क्रिया थी जो समूह के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सम्पन्न की जाती है। 'समूह' और 'हित' एक ही बात को दो दृष्टियों से देखता था। इसलिए उन्होने इन दोनो को मिला कर समूह-हित (Group-Interests) का नाम दिया। बेन्टले के कथनानुसार सरकार एक ऐसा वातावरण है जिसमें समूह-हित बनते है, जुड़ते हैं, एक-दूसरे पर दबाव डालते हैं, प्रतिद्वन्द्विता करते है अपने संघर्षो को दूर करने के लिए समायोजन करते है। दूसरे शब्दों में सरकार व्यावहारिक समझौतो का सघर्ष मात्र है। सरकार की प्रत्येक क्रिया मे लेन-देन और सौदेबाजी होती है। बेन्टले का मत था कि व्यवस्थापिका मे कार्यों की प्रक्रिया एक जैसी होती है। यह सभी कार्य समूह के हितो की अभिव्यक्ति करते है। कानून भी उसी प्रकार से क्रिया है जैसे कि सरकार होती है। वह सरकार की तरह सामूहिक क्रिया है। सरकार की भांति ही इसमे समूहो के हितो को व्यवस्थित एव समायोजित किया जाता है। इस प्रकार बेन्टले ने सरकार को एक नयी परिभाषा प्रदान की।

बेन्टले के राजनैतिक सिद्धान्त का दूसरा प्रमुख तत्व उनकी यह मान्यता है कि सरकार एक क्रिया (Activity) है। इसी मान्यता ने बेन्टले को राजनैतिक सिद्धान्त के व्यवहारवादी स्कूल का वास्तविक जन्मदाता बना दिया। उनका मत था कि सरकार कुछ पदाधिकारियों या मुख्य

न्यायालय और संसद की सर्वैधानिक रचना को नहीं कहते, वरन् यह अनेक क्रियाओं का योग है। इन क्रियाओं का क्षेत्र और प्रकृति सरकार की शक्ति को निर्धारित करती है। कोई भी तानाशाह अपने पद और प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के कारण पूर्ण शक्तियां अपने हाथ में नहीं रख सकता, वरन् वास्तविक व्यवहार में हमेशा तानाशाह और सेना या तानाशाह या भू-स्वामी अथवा तानाशाह और अन्य कोई वर्ग मिल कर शासन करते हैं। तानाशाह तो केवल एक वर्ग का नेता होता है। शक्तियां उस वर्ग के हाथ में होती हैं। बेन्टले के इन विचारों की तुलना मार्क्स द्वारा वर्णित वर्ग संघर्ष से की जा सकती है। बेन्टले का कहना था कि मार्क्स ने वर्ग-व्यवस्था को अत्यन्त कठोर माना, उसे एक अमूर्त रूप दे दिया और आर्थिक प्रेरणाओं पर अत्यधिक जोर दिया।

बेन्टले की पुस्तक ने राजनीति और सरकार के कार्य में हित समूहों के योगदान का पर्याप्त विश्लेषण किया। उनकी पुस्तक में वर्णित विभिन्न विचारों को निम्न शीर्षकों में रख कर देखा जा सकता है—

समूह की क्रियाओं का विश्लेषण (The Analysis of Group Activities)—जब कभी एक जनसंख्या के तत्वों का वर्गीकरण किया जाता है तो उसे विभिन्न समूहों में रख कर देखा जाता है। जब समाज को वर्गीकृत किया जाता है तो ध्यान रखा जाता है कि समूह के बीच असीमित रूप से संघर्ष न हो। असल में वर्ग भेद, जिसका वर्णन समाजवाद करता है, एक भावनात्मक तत्व है और यह कोई कठोर नहीं होता। मि० बेन्टले का कहना था कि सामाजिक जीवन के किसी भी रूप का अध्ययन करने के लिए उसके विभिन्न समूहों का अध्ययन करना जरूरी है। जब समूहों का वर्गीकरण किया जाता है तो उनको केवल एक दूसरे से अलग ही नहीं किया जाता वरन् उनकी समस्त विशेषताओं को भी उल्लेखित किया जाता है। राजनीति शास्त्र को अपने अध्ययन में समूह के सभी तत्वों को समाहित करना होता। बेन्टले ने राजनीतिक समूहों की प्रक्रिया का विस्तार के साथ उल्लेख किया है। उनका यह स्पष्ट मत है कि राजनीतिक प्रक्रिया को उस समय तक नहीं पढा जा सकता, जब तक कि उसके पीछे वाले समूहों की क्रिया का अध्ययन न किया जाए, क्योंकि राजनीतिक समूह अन्य समूहों पर आधारित रहते हैं।

राजनीतिक समूह अपने आप में कुछ विशेष प्रकृति के होते हैं। ये कई बार अन्य समूहों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अन्य समूहों को बेन्टले ने समाज के मूल समूह कहा है। राजनीतिक समूह के अध्ययन में एक सुविधा रहती है क्योंकि वे प्रतिनिधित्व पूर्ण प्रकृति के होते हैं। अन्य समूहों की अपेक्षा उनका

विचारों, आदर्शों, भावनाओं, नीतियों एवं लोकमत आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। राजनैतिक समूहों की सीमायें अन्य समूहों से भिन्न होती है यद्यपि इनके सदस्य वे ही व्यक्ति हो सकते है जो अन्य समूहों के है किन्तु उन व्यक्तियों की प्रतिक्रिया का तरीका एवं कार्य भिन्न प्रकार के होंगे क्योंकि मूल रूप से क्रियाओं को ही समूह कहा जाता है।

बेन्टले के मतानुसार विभिन्न राजनैतिक दल यद्यपि राजनैतिक समूह होते हैं किन्तु उनका महत्व इतना नही है जितना कि उन छोटे समूहों का जो इनके आधार का काम करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य राजनैतिक संस्थाओं, व्यवस्थापिकाओं, न्यायालयों एवं कार्यपालिका अधिकारियों को भी समूह कहा गया है। आर्थर बेन्टले ने समूह शब्द का प्रयोग एक विशेष तकनीकी अर्थ में किया है। उनके मतानुसार 'समूह समाज का एक भाग होता है जो समाज के अन्य लोगों से केवल भौतिक रूप से अलग नही रहता किन्तु क्रिया के आधार पर भी भिन्न होता है। इसके लोगों की क्रियाएँ उन लोगों से भिन्न होती है जो दूसरे समूहों के सदस्य है। प्रत्येक समूह का अपना हित होता है, हित और समूह दोनों को मि० बेन्टले ने समानार्थक शब्द माना है। हित समूह या सामूहिक हित आदि शब्दों का प्रयोग केवल अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए किया जाता है। समूह तथा हित को अलग-अलग नही किया जा सकता। इस संसार मे जो भी वास्तव में हमको मिलता है तथा जिसका हम पर्यवेक्षण एवं अध्ययन कर सकते है वह रुचियुक्त व्यक्ति है, न तो इससे कुछ भी कम है और न कुछ भी अधिक है। इस बात को ध्यान मे रखकर ही अध्ययन करना चाहिए। सामाजिक ज्ञान मे हित शब्द को केवल आर्थिक हित तक ही सीमित कर दिया जाता है। मि० बेन्टले ने हित को व्यापक अर्थ मे लेते हुए उन विभिन्न हितों का वर्णन किया है जो राजनैतिक प्रक्रिया के माध्यम से कार्य करते है।

सामूहिक क्रिया के रूप में लोकमत (Public Opinion as Group Activity)—आर्थर बेन्टले ने लोकमत को सामूहिक प्रक्रिया से युक्त माना है। उनके मतानुसार ऐसा कोई भी लोकमत नही होता जो एक समूह अथवा अनेक समूहों की क्रियाओं का प्रतिनिधित्व न करे अथवा उनको अभिव्यक्त न करे। ऐसा कोई लोकमत नहीं होता जो सब का मत हो। लोकमत, लोक भावना एवं लोक इच्छा-तीन पद है जिनके बीच अन्तर होते हुए भी ये समान रूप से समूह की क्रिया को इंगित करते हैं।

'लोकमत' एक समूह के लोगों की इच्छा की उन्ही के द्वारा अभिव्यक्ति होता है। एक समूह जब अपने हित की अभिव्यक्ति करने लगता है तो हम

उसको लोकमत कहने लगते हैं। लोकमत का सम्बन्ध समूह के लोगों की क्रियाओं से होता है। क्रियाओं के बिना हम यह नही जान सकते कि किसी समूह का लोकमत आखिर क्या है।

सामूहिक क्रिया के रूप में कानून (Law as Group Activity)—सरकार के कार्य प्रारम्भ से लेकर अन्त तक शक्ति या दवाव के कार्य होते हैं। यह दवाव (Force) शब्द पर्याप्त आपत्तिपूर्ण है। इसीलिए मि० बेन्टले ने इसके स्थान पर अन्य शब्द (Pressure) का प्रयोग करना उचित समझा है। दवाव (Pressure) सदैव ही समूह में डाला जाता है। यह शब्द समूहो के बीच स्थित दवावों एव विरोधों को इंगित करता है। वर्तमान समाज मे जो स्थिति है उसको दवावों के सतुलन की स्थिति कहा जा सकता है।

बेन्टले ने सरकार एवं कानून को भी अभिन्न माना है। सरकार का प्रत्येक कार्य कानून के अनुसार ही होता है। ये दोनों दो भिन्न चीजें नही हैं वरन् एक ही चीज है। कानून को सरकार की रचना या परिणाम नहीं कहा जा सकता। असल मे 'कानून दूसरी तरह से देखी गई 'सरकार' ही है। कानून भी उसी प्रकार से एक क्रिया है जिस प्रकार सरकार होती है। यह भी सरकार की भांति समूह की क्रियाओं की रचना, व्यवस्था, झगड़ा, एव समायोजन है। कानून एक पर्याप्त निश्चित चीज होती है। इसके द्वारा यह बताया जाता है कि हमको क्या कहां मिलेगा। कानून आवश्यक रूप से कोई मौखिक या लिखित तर्क नही होता जिसे कि प्रशासकीय निकाय में कार्य करने वाले लोगो द्वारा दिया जाये। कानून मुख्य रूप से वह नही है जो प्रशासक, न्यायाधीश, वकील, अपराधी आदि से सम्बन्ध रखता है। मूल रूप से कानून केवल वही हो सकता है जो वास्तव मे समाज के अधिकाश लोगों द्वारा व्यवहृत किया जाता है अथवा सरकारी अभिकरणो के माध्यम से दूसरे लोगो से कराया जाता है। इस प्रकार कानून समूह मे व्यक्तियों की एक विशेष क्रिया है जिसे समूह के प्रायः सभी व्यक्ति सम्पन्न करते है। इस क्रिया को सम्पन्न करने वाले लोग बहुमत में होते है अथवा अल्पमत मे होते है यह प्रश्न अधिक महत्व नही रखता है। वास्तविक कानून तो अपना पालन सभी लोगो द्वारा सामान्यतः इस सरल ढंग से कराता है कि उनमे अल्पमत या बहुमत की विभाजक रेखा खिंच ही नही पाती।

न्यायपालिका में हितों का प्रभाव (The Pressure of Interests in the Judiciary)—बेन्टले का कहना था कि अमरीकी न्यायालयो के विशेष कार्यों ने सांवैधानिक प्रश्नों पर व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के

महत्व को कम कर दिया। इसके परिणामस्वरूप 'न्यायपालिका' व्यवस्थापिकाओं एवं कार्यपालिकाओं तथा संवैधानिक परम्पराओं के बीच का अभिकरण बन गई। ऐसे उदाहरण कम मिलते है जबकि विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली कार्यपालिका ने न्यायपालिका पर प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप किया हो। किन्तु यह तथ्य है कि जो हित समूह व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका पर प्रभाव डालते हैं वे ही न्यायपालिका की कानूनी या सांविधानिक कार्यवाही पर भी प्रभाव डालते है।

जब कभी एक मामला न्यायालय के सामने आता है तो न्यायालय उस पर अपना विचार प्रस्तुत करता है। इस विचार के आधार पर सारी जनसंख्या समूहों में बंट जाती है। कई बार ऐसे समूह 'वाद-विवाद समूह' के द्वारा अपना प्रतिनिधित्व कराते हैं। जब लोकमत विभाजित होता है तो वाद-विवाद समूह दो बन जाते हैं। प्रायः वाद-विवाद को समूह बनाना जरूरी नहीं होता और जनसंख्या के समूहों का प्रतिनिधित्व बहुत कुछ पर्याप्त मात्रा में सरकार के संगठित न्यायिक अभिकरणों द्वारा किया जाता है।

न्यायालय पर प्रभाव डालने वाले हित समूहों का प्रभाव प्रश्न के महत्व के आधार पर बदलता रहता है। कुछ उद्देश्यों के लिए हो सकता है कि अनेक हित समूह मिलकर एक बड़ा संगठन बना लें। यह संगठन अनेक हितों का प्रतिनिधित्व करता है तथा इसके द्वारा जो तर्क दिये जाते हैं वे ऐसे सिद्धांत होते हैं जो कि प्रायः सभी हितों का प्रतिनिधित्व कर सकें। मि० बेन्टले ने सिद्धांत का कार्य हितों की व्यवस्था को एक साथ मिलाना बताया है। सिद्धांतों के माध्यम से ही हितों के बीच संतुलन बना रहता है और जब कभी समायोजन को चुनौती दी जाती है तो यह सिद्धान्त सन्तुलन की रक्षा करते हैं।

(५) ग्राहम वालास
(Graham Wallas)

ग्राहम वालास को राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उन्होंने अपने राजनैतिक सिद्धान्तों को मनोविज्ञान पर आश्रित किया। मनोविज्ञान के आधार पर उन्होंने मानवीय व्यवहार का वस्तुगत अध्ययन किया। राजनैतिक व्यवहार के प्रति वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण बीसवी शताब्दी की ही देन है। राजनीति शास्त्र में मानवीय प्रकृति (Human Nature in Politics) मि० वालास के अध्ययन का मुख्य विषय था। उनका मत था कि जो संसार हमारी बुद्धि के सामने है वह वही है जो कि हमारी भावनाओं एवं प्रकृतियों को लगता है। विश्व को समझने के लिए मनुष्य को अपनी बुद्धि के लिए कुछ सामग्री एकत्रित करनी पड़ती है ताकि

उसके अनुमानों को प्रेरित किया जा सके। निश्चित तर्क करने के लिए निश्चित तुलना करना आवश्यक है। प्राचीन काल में व्यक्ति के पास बहुत कम ऐसी चीजें थीं, जिनकी कि वह तुलना कर सके। जंगल में जीवन व्यतीत करते हुए उसे केवल चांद-सितारे दिखाई देते थे, जिनके बारे में वह केवल गति और स्थिति का ज्ञान रखता था। बाद में यह समझा जाने लगा कि कुछ अमूर्त गुण ऐसे होते हैं जो कि प्रत्येक चीज में पाए जाते हैं और इनकी तुलना निश्चित रूप से की जाती है। इसके अतिरिक्त यह माना जाने लगा कि कृत्रिम रूप से भी ऐसी चीजों की रचना की जा सकती है जिनकी तुलना की जा सके। प्रत्येक विषय इस प्रकार की मान्यताओं पर ही विकास बना। मि० वालास के मतानुसार यह प्रक्रिया राजनीति शास्त्र में संभव नहीं है। *राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी मनुष्य में कृत्रिम एकरूपता नहीं ला सकता।* अनेक संततियों की शिक्षा के बाद भी कोई दो व्यक्ति ऐसे नहीं बनाये जा सके जो कि एक दूसरे से समानता रखते हों या जिनके बारे में यह निश्चय पूर्ण भविष्यवाणी कर सके कि वे समान परिस्थिति में समान व्यवहार करेंगे।

मि० वालास का मत था कि हमें मानव प्रकृति के सम्बन्ध में इतने सम्बन्धित एवं मापने योग्य तथ्य एकत्रित करने चाहिए, जितने कि हम कर सकें। इन सभी तथ्यों को राजनैतिक तर्क के काम में लेना चाहिए। राजनीति शास्त्र के लिए अध्ययन की सामग्री एकत्रित करते समय हमें जीव शास्त्री के तरीके अपनाने चाहिए जो कि यह देखता है कि एक जैसे जीवों में कितने सामान्य गुण देखे और मापे जा सकते हैं। एकत्रित तथ्य अनेक होते हैं इसलिए उनको प्रबन्धित किया जाना चाहिए। इन्हें तीन प्रकार से प्रबन्धित किया जा सकता है—वर्णनात्मक तथ्य, मात्रात्मक तथ्य और वर्णनात्मक। *जिस विद्यार्थी को राजनैतिक सिद्धान्त के सुप्रसिद्ध ग्रन्थों के अध्ययन के* आधार पर प्रशिक्षित किया जाता है, उसकी तुलना मि० वालास ने उस मेडिकल के विद्यार्थी से की है जिसे हिप्पोक्रेट्स अथवा गैलन का अध्ययन करा कर प्रशिक्षित किया गया हो। उसे मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध में केवल कुछ तथ्य बताये जाते हैं। उसे सुख और दुख तथा विचारों के योग अथवा आदतों के प्रभाव का अध्ययन कराया जाता है। उसे बताया जाता है कि यह सामग्री मानव प्रकृति के अन्य तथ्यों से एकत्रित की गई है। ऐसी स्थिति में वह यह परिकल्पना करने लगता है कि सम्भवतः अन्य तथ्य नहीं होते; यदि होते भी होंगे तो उन पर वैज्ञानिक रूप से विचार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी का अध्ययन क्षेत्र सीमित रह जाता है।

मनुष्य के कार्यों पर वातावरण का जो प्रभाव पड़ता है उसे भी राजनैतिक अध्ययन के लिए प्रबन्धित किया जाना चाहिए ताकि यह देखा जा सके

कि वातावरण उसके चरित्र एवं क्रियाओं को किस प्रकार प्रभावित करेगा। इस तत्व की अस्थिरता एवं अनिश्चितता राजनीति शास्त्र में विशेष कठिनाई उत्पन्न कर देती है। मनुष्य का वातावरण शीघ्रता के साथ बदलता रहता है। मनुष्य को वंश परम्परागत रूप से जो स्वभाव प्राप्त होता है वह अन्य से भिन्न होता है; किन्तु फिर भी एक पीढी के लोगों के बारे में सामान्य रूप से कुछ कहा जा सकता है। व्यक्ति के वातावरण और उसके प्रभाव के संबंध में निश्चय के साथ कुछ कहना अत्यन्त कठिन है।

मि० वालास के कथनानुसार वातावरण की अनिश्चितता एवं अस्थिरता के बाद भी एक राष्ट्र या वर्ग के किसी समय से वातावरण में कुछ तथ्य ऐसे देखे जा सकते हैं जो कि उसके सभी सदस्यों के सामान्य अनुभव होते हैं और इस प्रकार उन पर सामान्य प्रभाव डालते है। ऐसी स्थिति में राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी को इतिहास का अध्ययन करना चाहिए, उसे अपने समय से पूर्व की उन घटनाओं तथा आदतों को पढ़ना चाहिए जो कि वर्तमान संतति को प्रभावित कर सकें। किन्तु ऐसा करते समय उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए यह अध्ययन उसको कोई निश्चित भविष्यवाणी करने की क्षमता नहीं देता। जब इतिहास का अध्ययन उसे यह बताये कि अतीत काल मे अमुक प्रयोग सफल रहा अथवा असफल रहा तो विद्यार्थी को यह देखना चाहिए कि यह सफलता अथवा असफलता उन मानवीय तत्वों पर कहां तक आधारित थी, जो कि अब तक कायम है और तत्कालीन वातावरण से यह कहां तक प्रभावित थी।

मि० वालास ने राजनैतिक तर्क की प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार राजनैतिक तर्क का परम्परावादी तरीका विषयवस्तु की भांति दोषपूर्ण था। जब हम न्याय, स्वतन्त्रता, राज्य आदि राजनैतिक अमूर्तताओं पर विचार करने लगते है तो ऐसा सोचते हैं कि मानो यह चीजें वास्तव मे अस्तित्व रखती हैं। जब कभी एक देश के लोगो, विभिन्न सरकारों या लोगों के अधिकारों का नाम लिया जाता है तो लगता है कि जैसे एक शीर्षक के आधीन आने वाले सभी तत्व परस्पर सम्बद्ध होते हैं किन्तु राज-नीति शास्त्र में इस प्रकार की कल्पना उचित नही है। राजनीति शास्त्र में यदि यह कहा जाए कि सभी 'क' 'ख' होते है तो इसका अर्थ उनके बीच निश्चित एकरूपता नही है वरन् उनमें उतने ही अन्तर प्राप्त होंगे जितने कि वे व्यक्ति हैं। दूसरे शब्दो मे प्रत्येक मनुष्य का अपना व्यक्तित्व होता है और उसकी अपनी विशेषताएं होती हैं। यह अन्तर केवल मानव प्रकृति में ही प्राप्त नही होता वरन् भौतिक जगत में भी इस प्रकार का मिलता है। अन्तर को स्वीकार करना अवैज्ञानिकता नहीं है, [illegible]

ही अवैज्ञानिकता है। आज कोई भी वैज्ञानिक यह तर्क नहीं करता कि सभी ग्रह पूर्ण है और उनका घेरा पूर्ण होता है, इसलिए वे सभी एक घेरे में घूमते है। किन्तु हमे ऐसे प्रजातन्त्रवादी मिल जायेंगे जो यह तर्क करें, कि सभी व्यक्ति बराबर हैं, इसलिए राजनैतिक पद क्रमानुसार प्रत्येक व्यक्ति को मिलना चाहिए। प्राकृतिक विज्ञान में यह सिद्ध हो चुका है कि प्रत्येक कार्य के अनेक कारण होते है और प्रत्येक कारण अनेक कार्य उत्पन्न करता है किन्तु फिर भी राजनीति शास्त्र में विद्वान एवं सामान्य जन अभी भी यह कहते सुने जा सकते हैं कि प्रत्येक कार्य का केवल एक कारण होता है।

ऐसे राजनैतिक प्रश्नो को उठाना अत्यन्त सरल होता है जिन्हें मात्रात्मक प्रणालियों द्वारा स्पष्ट रूप द्वारा देखा जा सके। उदाहरण के लिए संसद के लिए वाद-विवाद के हेतु किस आकार का हॉल होना चाहिए, यह तय करना कोई कठिन कार्य नही है। यह इसलिए कि संसद का आकार पहले ही निश्चित हो चुका है और यह मान लिया गया है कि हॉल इतना छोटा न हो जिसमें सदस्य बैठ भी न पायें और इतना बड़ा भी न हो कि सदस्य एक दूसरे की बात भी न सुन सकें।

मि० वालास के मतानुसार मानवीय प्रकृति का इतिहास कला के स्थान पर विज्ञान का क्रमिक एवं आंशिक प्रभाव है। इस दृष्टि से ही नई पीढ़ी को शिक्षित किया जाता है। प्रत्येक पीढ़ी में हजारों युवक तथा युवतियां राजनीति के अध्ययन की ओर इसलिए आकर्षित होते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि अधिक तीव्र होती है और उनकी सहानुभूति उनके साथियों की अपेक्षा अधिक व्यापक होती है। वे उदारवाद या साम्राज्यवाद अथवा वैज्ञानिक समाजवाद या स्त्री पुरुषों के अधिकारों के समर्थक बन जाते हैं। उनकी दृष्टि से ये सारी चीजें वास्तविक एवं सरल होती हैं। वे उदारवाद एवं साम्राज्य अधिकार और सिद्धान्त आदि के सम्बन्ध में पुराने तरीकों से तर्क करते है किन्तु कुछ समय बाद उन्हें अपने ज्ञान की अवास्तविकता ज्ञात होती है। जटिल एवं कठिन संसार का ज्ञान उनके मस्तिष्क पर प्रभाव डालता है। मि० वालास ने यह माना था कि राजनीति शास्त्र में केवल कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जो कि इसे अपना व्यवसाय बना लें। अधिकाश लोग तो प्रथम बार ही निराश होने पर विश्वास खो देते हैं। वे अपने पड़ौसियों की भावनाओं और विचारों का अध्ययन करना भी उपयुक्त नही मानते।

(६) हैरल्ड लासवेल
(Harold Lasswell)

हैरल्ड लासवेल राजनीति शास्त्र के व्यवहारवादी विचारकों में अपना मुख्य स्थान रखते हैं। इन्होने राजनीतिक क्रियाओं पर मानवीय भावनाओं,

प्रवृत्तियों एवं संवेगों के प्रभाव पर विचार किया। इन्होंने राजनैतिक सिद्धांत की सत्यता सिद्ध करने के लिए मनोवैज्ञानिक आंकड़ों का प्रयोग किया। शक्ति से संबंधित उनके विचार राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में अपना अपूर्व स्थान रखते हैं। प्रजातंत्रात्मक विचारों से प्रभावित होते हुए भी उन्होने राजनैतिक शक्तियों को पर्याप्त महत्व दिया। ये शक्ति की राजनीति के घरेलू पहलू पर अधिक जोर देते थे। इन्होने राजनीति के खेल मे शक्ति की लालसा एवं शक्ति प्राप्ति के वास्तविक प्रभाव का वर्णन किया। उनका मत था कि राजनैतिक खेल में यदि शक्ति को सर्वोच्च स्थान न भी दिया जाए तो कम से कम उसे उच्च स्थान तो दिया जाए। शक्ति का होना अच्छी सरकार के लिए परम आवश्यक है और राजनीति शास्त्र की यह एक मुख्य समस्या है कि शक्ति ऐसे लोगों के हाथ में रहे जो सही प्रकार के लोग हों और उसका दुरुपयोग न करें। इसी कारण उन्होने शक्ति को राजनैतिक एव सामाजिक संगठनों की मूल इकाई माना।

शक्ति शब्द के अनेक अर्थ और व्याख्यायें होती है। प्रायः इसे एक व्यक्ति की इच्छापूर्ति की योग्यता और विरोधी इच्छाओ के विरोध की क्षमता माना जाता है। शक्ति के इस अर्थ मे यह नही बताया गया कि यह किस प्रकार प्राप्त होती है और किस लिए प्राप्त होती है।

मि० लासवेल ने सन् १६३६ में अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'Politics . who gets what, when, how' प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ मे इन्होने वैज्ञानिक प्रणाली का निष्पक्ष रूप से प्रयोग किया। उन्होने राजनीति शास्त्रियो को नीति निर्धारित करते समय मूल्यों को महत्व देने की बात कही। उन्होने प्रजातन्त्र के नीति विज्ञानों पर विशेष जोर दिया ताकि सिद्धान्त एवं व्यवहार में मानवीय सम्मान को प्राप्त किया जा सके।

राजनीति शास्त्र और मनोविज्ञान
(Psychology and Political Science)

वर्तमान समय मे मनोविज्ञान और राजनीति शास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ता जा रहा है। जब से राजनीति शास्त्र मे व्यवहारवादियों का प्रभाव बढ़ा है तब से यह प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट एव महत्वपूर्ण बन गया है। मनोविज्ञान विभिन्न मानसिक अवस्थाओं में व्यक्ति के आचरण का अध्ययन करता है। ऐसी स्थिति में राजनीति शास्त्र उसकी अवहेलना नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी रुचि मानव प्राणी के राजनैतिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालना होता है। राज्य एवं उसकी अन्य संस्थाये मनुष्य के मस्तिष्क की उपज है और इसलिए उन्हें भली प्रकार से तभी समझा जा सकता है जब कि मानव मस्तिष्क की जानकारी करली जाए। मिस्टर बार्कर का कहना है कि "मानवीय क्रियाओ

की पहेलियों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुलझाना आज का एक चलन बन गया है। यदि हमारे पूर्वजों ने जीव शास्त्री की दृष्टि से सोचा था तो हम मनोविज्ञान की दृष्टि से सोचते हैं।" मि० लावां, टार्ड, वालास और बाल्डविन आदि विद्वानों ने प्रायः सभी राजनैतिक समस्याओं के लिए मनोवैज्ञानिक हल प्रस्तुत किये हैं। उनका कहना है कि राजनैतिक संस्थाएं और उनकी कार्य प्रणाली मनुष्य की मानसिक स्थिति पर निर्भर है। जिस देश की संस्थाएं वहां के लोगों की अभिरुचि, आदत और मानसिक स्थिति के अनुरूप नही होती हैं वे शीघ्र ही असफल हो जाती हैं। गार्नर ने यह माना था कि सरकार का स्थायित्व एवं लोकप्रियता इस बात पर निर्भर करती है कि इसमें सम्बन्धित लोगो के विचार और नैतिक भावनाएं परिलक्षित हों। राजनीति शास्त्र के निष्कर्ष उसी समय सही और प्रामाणिक हो सकते है जबकि यह जानने का प्रयास किया जाए कि मनुष्य विभिन्न परिस्थितियों मे सामुहिक एव व्यक्तिगत रूप से किस प्रकार व्यवहार करते हैं।

वैसे ऊपरी तौर से देखने से मनोविज्ञान और राजनीति शास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध अधिक गहरा प्रतीत नही होता। किन्तु फिर भी मनोविज्ञान की विषय वस्तु ऐसी है कि वह व्यक्ति के राजनैतिक पहलू की अवहेलना नही कर सकता। मनोवैज्ञानिक मानवीय प्रकृति से सम्बन्ध रखते है। इसमें मनुष्य के व्यक्तिगत व्यवहार के रूप, सामाजिक जीवन में किये जाने वाले समायोजन, अपराधों की समाप्ति एव वंश परम्परा तथा वातावरण के प्रभाव का सापेक्षिक महत्व आदि का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन के दौरान आने वाले निष्कर्ष अनेक सामाजिक समस्याओं के सुझाव प्रस्तुत करते हैं। यहां एक बात उल्लेखनीय यह है कि वर्तमान प्रवृति के अनुसार इन समस्याओं का स्रोत समाज की संस्थागत बनावट की अपेक्षा स्वयं व्यक्ति में ही देखा जाता है। आज अधिकांश मनोवैज्ञानिक किसी आदर्श की प्राप्ति के लिए सरकार के सुधारों और समाज की पुन. रचना में बहुत कम विश्वास करते है। उनका विचार है कि व्यक्तिगत अप्रसन्नता एव अपराध की प्रवृति किसी पारिवारिक अथवा सामाजिक स्थिति के विरुद्ध निराशा और विरोध की भावना से पैदा होती है। ऐसी स्थिति मे इन्हें रोकने के लिए सामाजिक सुधारों की अपेक्षा व्यक्तिगत समायोजनों का अधिक महत्व है।

फ्राइड का सिद्धांत

(The Theory of Sigmund Freud)

मि० फ्राइड मनोविज्ञान के महत्वपूर्ण विचारक रहे है। डारविन, मार्क्स, बेन्थम, मिल आदि की मान्यताओं पर इनके सिद्धातो की छाप थी। मिस्टर



परम्परागत काम-नैतिकता का विरोध किया; इसके अतिरिक्त किसी सुधार के लिए सुझाव नहीं दिया। प्राय. उसने इस बात पर जोर दिया कि स्थापित नियमों के प्रति समायोजन किया जाए। मानवीय प्रकृति को वे कुछ भली नहीं मानते थे। उनके कथनानुसार मनुष्य सज्जन और मैत्रिपूर्ण नहीं होते जो कि प्यार करने के इच्छुक हों। वे इतने सरल नहीं होते कि केवल आक्रमण होने की दशा में ही अपनी रक्षा करें किन्तु उनमे आक्रमण करने की एक शक्तिशाली प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार एक व्यक्ति का पड़ोसी केवल एक सहायक अथवा केवल प्यार का विषय नहीं है वरन् शोषण, दमन, चोरी, कष्ट और यहां तक कि हत्या का भी सम्भावित उद्देश्य बन सकता है।

फ्राइड का मत था कि संस्कृति और धर्म के प्रभाव से मानवीय पशु में से जङ्गली प्रवृत्तियों को नहीं निकाल सकते। यद्यपि संस्कृति के द्वारा बड़े-बड़े आदर्श रखे जाते हैं और बुद्धिपूर्ण सुखद व्यवहार का समर्थन किया जाता है किन्तु फिर भी समाज की समस्याएं आज भी वैसी हैं जैसी कि पहले कभी थी। धर्म के द्वारा अपने अनुयायियो मे जो परस्पर प्रेम उत्पन्न किया जाता है उसका आधार विधर्मियो के प्रति घृणा और द्वेष होता है। फ्राइड का विचार था कि यदि मार्क्स के कथनानुसार व्यक्तिगत सम्पति को समाप्त किया गया तो भी समाज से संघर्ष समाप्त नहीं होंगे; क्योंकि संघर्षों का कारण सम्पत्ति नहीं है। प्रारम्भ मे मनुष्यो के पास सम्पत्ति नहीं थी तो भी वे आपस में संघर्ष करते थे।

फ्राइड की यह आलोचना की जाती है कि उसने एक बुद्धि-विरोधी के रूप में मनुष्य को उसकी भावना का दास बना दिया जो कि अपनी मूल प्रवृतियों एवं भावनाओं के स्तर से कभी-कभी ही ऊपर उठता है। यह आलोचना अधिक सार्थक नहीं प्रतीत होती, क्योंकि फ्राइड का यह दृढ़ विश्वास था कि व्यक्ति मे बुद्धिपूर्ण कार्य करने की सामर्थ्य है। संस्कृति के विकास द्वारा मनुष्य की मूल प्रकृति में से जङ्गली प्रवृत्तियों को कम किया जा सकता है। फ्राइड का विचार था कि यदि विश्व में सैनिक शक्ति से युक्त कोई सत्ता स्थापित की जा सके तो युद्ध समाप्त हो सकते हैं। इस पर भी वे कहते थे कि यदि दुनिया के सभी राज्य मिल कर ऐसी सत्ता बनाने का प्रयास करें तो भी यह सम्भव नहीं है। हो सकता है कि व्यक्ति मे ज्ञान का विकास और घातक हथियारों का जन्म युद्ध को रोक दे। संस्कृति के विकास के लिए जो कुछ भी किया जाता है, फ्राइड ने उसे युद्ध के विरुद्ध किया गया एक प्रयास माना।

फ्राइड की सामाजिक एवं राजनीतिक मान्यताएं निराशावाद तथा बुद्धि के विरोध का आधार थी। फ्राइड ने प्रारम्भिक विकास की कहानी का उल्लेख करते हुए बताया है कि प्रारम्भ में एक बड़ी उम्र वाले पुरुष ने

अपने नेतृत्व में समूह की समस्त स्त्रियों पर एकाधिकार कर लिया। जब युवकों को इन स्त्रियों तक जाने के लिए मना किया गया तो उन्होंने उस वृद्ध की हत्या कर दी। उसकी शक्ति प्राप्त करने के लिए वे उसके शरीर को खा गये। कुछ समय बाद ही उन्होंने अपने आप को अपराधी महसूस किया और सम्बन्धित महिला को अपने अपराध का जुर्माना दिया। मरे हुए मुखिया को देवताओं का राजा कहा गया और उसे एक पशु का रूप प्रदान किया गया जिसके मांस को कभी नहीं खाया जा सकता। इस कहानी से फ्राइड के अनुसार प्रारम्भिक मनुष्य ने दो परम्पराएं प्रचलित की। प्रथम के अनुसार उस पवित्र पशु को खाया नहीं जाता था, द्वितीय के अनुसार कबीले के अन्दर शादियां नहीं हो सकती थी। फ्राइड की अनेक मनोवैज्ञानिक मान्यताएं राजनीति शास्त्र में यद्यपि स्वयं उसके द्वारा प्रविष्ट नहीं हुई किन्तु बाद में उसके अनुयायियों एवं समालोचकों ने इन्हें पर्याप्त महत्वपूर्ण बना दिया। उन्होंने जिस मनोविश्लेषण की विधि को प्रारम्भ किया, उसने सामाजिक परिवर्तन का एक अधिक व्यापक तरीका सामने रखा। उसने प्रक्रिया की द्वन्द्वात्मक प्रणाली को पूरा बनाया। लासवेल *(Laswell)* के कथनानुसार "मनोविश्लेषण ने प्रतीकों के मध्य स्थित द्वन्द्ववादी सम्बन्धों के हमारे ज्ञान को पर्याप्त बढ़ा दिया है। आर्थिक स्थिति में होने वाले परिवर्तन श्रम विभाजन को बदल देते है, अनेक लोगों के ध्यान को बदल देते है और इस प्रकार उनके अहकार में होने वाले परिवर्तनों को तीव्र बना देते है, इनसे उसके आर्थिक सम्बन्धों का निर्धारण होता है।" लासवेल फ्राइड का एक स्वामी भक्त अनुयायी था, जिसने मनोविश्लेषण को राजनीति में प्रयुक्त किया। लासवेल ने अपने आपको राजनीति शास्त्री माना और फ्राइड के मनोवैज्ञानिक साधनों को केवल राजनैतिक स्थितियों का विश्लेषण करने के लिए प्रयोग में लिया।

लासवेल का राजनैतिक मनोविज्ञान
(The Political Psychology of Losswell)

लासवेल उन राजनीति शास्त्रियों में अग्रगण्य है जिन्होंने राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में मनोविज्ञान के तत्वों का महत्व बढ़ाया। मनोविज्ञान पर आधारित लासवेल के राजनैतिक सिद्धान्त का मुख्य विचार यह है कि राजनैतिक आन्दोलन अपनी व्यापकता, व्यक्तिगत कारणों से ग्रहण करते है। व्यक्ति सामाजिक लक्ष्यों के सम्बन्ध में जो सोचता है उसी के परिणामस्वरूप राजनैतिक आन्दोलन बढ़ते और विकसित होते है। उदाहरण के लिए जो व्यक्ति अपने बचपन या युवावस्था में अपने पिता से घृणा करते है वे बाद में समस्त सत्ता के विरुद्ध विद्रोही बन जाते हैं, वे अराजकतावादी बन जाते हैं।

उनकी मनोस्थिति के आधार पर नेताओं को लासवेल ने कई भागों में विभाजित किया है। अपने भाइयो के साथ विद्वेष रखने वाले और माता पिता के प्यार से वंचित होने से भयभीत लोग असुरक्षा की भावना रखते हैं और इस प्रकार के आन्दोलनकारी बन जाते हैं। राजनैतिक कार्यकर्ता किन कारणों से कैसे बनते हैं इनका विस्तार के साथ विवेचन लासवेल द्वारा किया गया है। उन्होंने इतिहास के अनेक ऐसे नेताओं का उल्लेख किया है जिनके व्यक्तित्व का आधार उनकी विशेष मनःस्थिति थी। कहा जाता है कि रूसो अपने पागलपन से, सिकन्दर महान् अपनी नशेबाजी से तथा बिस्मार्क अपने हिस्टीरिया से व्यथित थे। लासवेल के अध्ययन की रुचि इन सभी मानसिक स्थितियों की व्याख्या अथवा विचार करने मे नही थी वरन् उन्होंने मानवीय प्रेरकों के समझने के लिए इनके मूल्यों को पहचाना।

लासवेल का प्रमुख उद्देश्य 'अवरोध की राजनीति' को प्रस्तुत करना था। उन्होंने प्राय. सभी मनोवैज्ञानिक असाधारणताओं को राजनैतिक दृष्टि से खतरनाक माना। हीनता की भावना, पिता के प्रति घृणा, काम भावना का अतिशय, अत्यधिक आत्म-प्रेम तथा अपराध की भावना आदि के फलस्वरूप विभिन्न राजनैतिक विकृतिया पैदा हो सकती थी। इन्हीं से तानाशाही, आततायी एवं पागलपन से पूर्ण राजनैतिक नेता पैदा होते है। राजनीति में इन पर अवरोध लगाने के लिए पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए। अवरोध की राजनीति निश्चय ही उपयुक्त उपचार पर निर्भर करती है। मनुष्य की आत्मा में खिचाव उत्पन्न करने वाले तत्वों को समझना जरूरी है किन्तु इन खिचावों से राहत प्रदान करना और उन्हें संघर्ष पूर्ण या हिंसात्मक बनने से रोकना और भी जरूरी है। अवरोध की राजनीति मे सार्वजनिक विचार-विमर्श या वाद-विवाद नही होते, न व्यवस्थापन किया जाता है और न ही सरकारी संगठन में अधिक परिवर्तन किये जाते है। इसमें यह भी जरूरी नही होता कि अधिक से अधिक लोग सरकारी कार्यों में भाग लें अथवा सामान्य जनता के हाथ में शक्ति सौंपी जाए। प्रशासन का कार्य उचित ज्ञान पर निर्भर करता है और इस ज्ञान की खोज के लिए विशेषीकृत शोध कार्य आवश्यक है। लासवेल का कहना था कि हमें यह समझ लेना चाहिए कि एक अच्छे सामाजिक वैज्ञानिक को प्रशिक्षित करने में उससे भी अधिक समय लगेगा, जितना कि एक भौतिक वैज्ञानिक को प्रशिक्षित करने मे लगता है। ऐसा मानने पर ही खिचाव और संघर्ष को समस्या को सुलझाया जा सकेगा।

सन् १९३० के दौरान मि० लासवेल ने यह दिखाने का प्रयास किया कि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष और व्यक्तिगत असुरक्षा के बीच एक निरन्तर सम्बन्ध रहता है। व्यक्तियों का भय और ऐसी ही अन्य भावनाये अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का

कारण बन जाती है। अनेक मनोविश्लेषणों का अध्ययन करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर आये कि प्रायः प्रत्येक बालक अपने बारे मे और दूसरो के साथ अपने सम्बन्धों में अनेक डरों की रचना कर लेता है। ये भय कालान्तर मे चल कर अपरिचितो एवं अनभिज्ञों के प्रति सन्देह के साथ मिल कर बड़े भय बन जाते हैं।

लासवेल का विश्वास था कि तथाकथित नपुंसकत्व की भावना (Castration Complex) समस्त अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के पीछे एक महत्वपूर्ण कारण के रूप में रहा है। उनके अनुसार यद्यपि व्यापारिक संघर्ष, शस्त्रों की दौड़ एवं शक्ति संतुलन के लिए चुनौती आदि का अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो मे महत्वपूर्ण योग होता है, किन्तु ये निश्चय ही उस समय तक खुले रूप मे नही आते, जब तक कि दोनो ओर की जनता के मस्तिष्क मनोवैज्ञानिक खिचाव से प्रभावित नही होते। लासवेल के मतानुसार सामान्य व्यक्ति अधिकतर शांतिप्रिय होते है और प्रशासकीय वर्ग के लोग ही उनको युद्ध मे लगाते है।

लासवेल द्वारा प्रस्तुत अवरोध की राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षो को रोकने में बहुत कम सहायक होती है। उनका कहना था कि व्यक्तिगत सुरक्षा की भावना कई बार अराजनैतिक भागों मे भी अभिव्यक्त होती है अर्थात् एक व्यक्ति इस भावना से प्रेरित होकर दूसरो पर आक्रमण करने की अपेक्षा अपने ऊपर ही आक्रमण कर लेता है; यहा तक कि वह आत्म हत्या भी कर सकता है।

लासवेल ने मनुष्य की समाज विरोधी समस्या पर विचार करने का एक दूसरा तरीका भी अपनाया है जिसके अनुसार उन्होंने उन मूल्यों पर जोर दिया है जिन्हें प्राप्त करने के लिए मानवीय व्यवहार संचालित किया जाता है। उनके राजनीतिकृत मनोविज्ञान मे मानवीय जीवन का जो स्तर दिखाई देता है वह फ्राइड के सिद्धान्तों की गहराई से पर्याप्त भिन्न है। लासवेल ने अपनी "कौन, कब, क्या और कैसे प्राप्त करता है" मे उन मूल्यों के वितरण पर विचार किया है जो कि मानव जाति के लक्ष्य हैं। प्रत्येक चीज तथा कोई चीज जिसे लोग चाहते है, उसे लासवेल ने मूल्य कहा है। अपने ग्रन्थ 'राजनीति' (Politics) के प्रारम्भ में उन्होने लिखा है कि "राजनीति शास्त्र का अध्ययन, प्रभाव और प्रभावी का अध्ययन है। प्रभावी वे होते हैं जो कि प्राप्त किये जाने योग्य में से अधिकाश को प्राप्त कर लेते हैं। प्राप्त मूल्यों को आदर, आय और सुरक्षा के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। इनमें से जो अधिकांश को प्राप्त कर लेते हैं वे सर्वोत्तम (Elite) कहलाते हैं और बाकी के लोग जनसमूह (Mass)।"

मि० लासवेल विभिन्न मूल्यों का विस्तार के साथ वर्णन करते हैं और साथ ही उनकी विभिन्न श्रेणियों का भी उल्लेख करते हैं। उनका मूल विचार यही था कि व्यक्ति सुरक्षा, आय तथा आदर के लिए खुले रूप से तथा सक्रिय रूप से लड़ते रहते हैं। लासवेल के कथनानुसार आदर के मूल्य मे शक्ति, सम्मान, लगाव आदि विभिन्न तत्वों को लिया जा सकता है।

जब व्यक्तियों के बीच सुरक्षा, सम्पत्ति एवं आदर के लिए संघर्ष होता है तो इससे एक अकथनीय विध्वंसात्मक स्थिति पैदा हो जाती है। इस स्थिति पर नियंत्रण रखने के लिए ही एक सामान्य शक्ति की आवश्यकता होती है जो कि प्रत्येक व्यक्ति के विरुद्ध प्रत्येक व्यक्ति को रोक सके। लॉसवेल ने हॉब्स की भांति पूर्ण सम्प्रभु को मान्यता नही दी है। "कौन, क्या, कब और कैसे प्राप्त करता है" का विश्लेषण एक प्रकार से मूल्यों के सम्बन्ध मे व्यक्ति के बीच होने वाला संघर्ष है। समाज विज्ञानों के अध्ययन-कर्ता को आवश्यक रूप से इस पर ध्यान देना होता है। यह जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि मनुष्य किन मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है, इन मूल्यों से उसे क्या मिलता है तथा विशेष समय एव स्थान पर उनको कैसे वितरित किया जाता है। लासवेल का कहना था कि हॉब्स का पूर्ण सम्प्रभु राजनैतिक समस्याओं का राजनैतिक समाधान प्रस्तुत नही कर सकता।

लासवेल के मतानुसार एक व्यक्ति को तभी स्वतन्त्र कहा जा सकता है जब कि वह सामाजिक चिन्ताओं से स्वतन्त्र हो जाए। यदि कोई आततायी शासक बन जाता है तो यह इस बात का प्रतीक है कि सामान्य जनता की अप-दस्य आत्मा किसी दूसरे पर आश्रित रहना चाहती है। जब तक यह आश्रय की माग जनता में रहेगी तब तक ये आततायी कायम रहेगे। यद्यपि लगता तो ऐसा है कि मानों आततायी सामान्य जनता पर अपने आपको थोप रहा हो किन्तु यह वास्तविकता नही है। तानाशाही शासन व्यवस्था मे शासक और शासित दोनों ही मानसिक रूप से बीमार रहते है। दोनों मे ही पराश्रय की माग रहती है। इस मांग का जन्म बालक के अपर्याप्त प्रशिक्षण से होता है।

जो व्यक्ति मनोवैज्ञानिक रूप से स्वस्थ है उसी को एक स्वतन्त्र मनुष्य माना जा सकता है। लासवेल ने स्वतन्त्रता के मनोवैज्ञानिक और राजनैतिक अर्थ तथा शक्ति के मनोवैज्ञानिक एवं राजनैतिक अर्थ को परस्पर मिला दिया। वे एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें कोई विध्वसात्मक शक्ति-सम्बन्ध न हो। अतीत-कालीन अस्वस्थ और शक्ति पर आधारित राज्यों ने जो भौतिक समस्यायें उत्पन्न की उनको मनोविश्लेषण द्वारा इतनी जल्दी ठीक नही किया जा सकता। मानवीय स्वतन्त्रता की दिशा मे विभिन्न समाजों का दीर्घगामी उद्देश्य शक्ति से छुटकारा पाना एवं स्वतन्त्र

व्यक्तियों का एक गणराज्य स्थापित करना है जिसमें दबाव के लिए न तो धमकी दी जाए, न इच्छा की जाए। इस उद्देश्य को परम्परागत राजनैतिक तरीकों से प्राप्त नही किया जा सकता था।

लासवेल के कथनानुसार वह समय आ गया है जब कि इस मान्यता को ठुकरा दिया जाय कि राजनीति शास्त्र की समस्या एक निश्चित समस्या के सम्बन्ध में सभी सम्बन्धित हितो के बीच विचार-विमर्श को प्रोत्साहन देना है। उन्होने राजनीति शास्त्र की जो परिभाषा दी उसे अवरोधक राजनीति **(Preventive Politics)** का नाम दिया। लासवेल की यह मान्यता उसके सामाजिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का मूल भाग है। यह परम्परागत राजनीति के दृष्टिकोण एवं प्रणालियों से पर्याप्त भिन्नता का प्रतिनिधित्व करती है। प्राचीनकाल में दमन एवं विचार-विमर्श आदि के द्वारा सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया जाता था, किन्तु यह प्रयास न केवल असफल रहे वरन् उन्होने सामाजिक खिचाव को बढाने में सहायता की। परम्परागत तकलीफों में सामाजिक परम्पराओं को मिला दिया था, दूसरी ओर उन पर विचार-विमर्श करने के लिए जो परम्परागत शब्द प्रयुक्त किए गए, उन्होंने वास्तविक समस्या को छुपा लिया। बहुत समय तक राजनीतिज्ञों के विचार प्रजातन्त्र बनाम तानाशाही तथा प्रजातन्त्र बनाम कुलीनतन्त्र जैसी समस्याओं के इर्द-गिर्द चक्कर काटते रहे जब कि लासवेल के अनुसार हमारी वास्तविक समस्या यह है कि सत्य की खोज की जाए और सहयोगपूर्ण मानवीय सम्बन्धों की परिस्थितियों पर सत्य का शासन हो। सत्य की खोज करना जनता के रूप में जनता का और शासक के रूप में शासक का ही कार्य करना था। लासवेल का मत था कि सामाजिक पुनर्रचना की सबसे प्रमुख समस्या उन संस्थाओ एवं अन्य प्रबन्धों का पुनर्गठन करना है जोकि शक्ति के असमान वितरण पर आधारित हैं। शक्ति के प्रयोग से भौतिक खिचाव पैदा होता है। इस खिचाव से उत्पन्न दुःख शक्ति के प्रयोग को बढा देता है। लासवेल का तर्क था कि विध्वंसात्मक प्रवृत्ति को रोकने के लिए शक्ति के प्रयोग को कम से कम किया जाए। शक्ति के प्रयोग की समाप्ति हमारा अन्तिम उद्देश्य है।

लासवेल ने प्रचार (Propaganda) के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किए हैं। उनका मत है कि उचित मानवीय व्यवहार तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि व्यक्ति के मस्तिष्क को कुशलता के साथ प्रेरित किया जाए। किन्तु लोगों के मस्तिष्क को सुविधापूर्वक किस प्रकार निर्देशित किया जावे यह एक समस्या है। लासवेल ने इस समस्या को शक्ति की अपेक्षा अधिक महत्व दिया। इस प्रकार सकारात्मक उदारवाद के सकारात्मक भाग से लासवेल का अधिक सम्बन्ध था। लासवेल के लेखों में एक सोचशीलता है

जिसके कारण उसे विभिन्न श्रोताओं के अनुसार बदला जा सकता है। लासवेल ने न केवल राजनीति-शास्त्री, समाज-शास्त्री, मनोवैज्ञानिक आदि शिक्षा शास्त्रियों को ही अपनी मान्यताओं का परिचय कराया वरन् व्यापारी, राजनीतिज्ञ, पत्रकार, मनोविश्लेषणकर्ता आदि को भी अपने विचारों से परिचित करवाया।

आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक वैज्ञानिक ससार मे प्रचार का विशेष महत्व है। जब कभी एक आततायी के द्वारा किसी सामाजिक व्यवस्था को तोड़ा जाता है तो वह प्रचार के साधन को अपनाता है। अनेक तकनीकी परिवर्तनों के कारण जो सामाजिक असमठन पैदा हुआ है उसने प्रचार कार्य के महत्व को बढा दिया है। लासवेल का कहना था कि मनुष्य जाति के साथ विचार करने का केवल एक ही मार्ग है और वह है उसकी भावनाओं पर विचार करना। सभी राज्यों तथा धर्मों के संस्थापकों ने सदैव यही किया है। मनुष्य की भावनाओं को इच्छा अनुसार रूप देना शांति और युद्ध दोनो कालों में आवश्यक होता है। सरकारी साधारण कार्य भी प्रचार के माध्यम से किये जाते हैं। नियन्त्रण की वर्तमान क्रिया प्रचार की सहायता के बिना सम्पन्न हो ही नही सकती। प्रचार की परिभाषा करते हुए लासवेल ने इसे विवादपूर्ण दृष्टिकोणों को प्रभावित करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग माना है। इस प्रकार शांति को युद्ध की नीति के चार प्रमुख साधनो मे से एक प्रमुख साधन माना गया। अन्य थे—कूटनीति, शस्त्र और अर्थशास्त्र।

नवीन–फ्राइडवादियों के विचार

फ्राइड के विचारों का प्रभाव सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्रों मे पर्याप्त महत्वपूर्ण रहा। इतने पर भी यह एक तथ्य है कि फाइड तथा उसके कुछ अनुयायियों के बीच सघर्ष पैदा हो गया था। वियना में आलफ्रेड एडलर ने यह माना कि फ्राइड ने काम प्रवृत्तियों पर अत्यधिक जोर दिया है। इनकी अपेक्षा मनुष्य के अवचेतन व्यवहार मे हीनता की भावना मूल शक्ति के रूप में कार्य करती है। स्विट्जरलैण्ड में कार्लजंग (Carljung) ने सब लोगों के लिए सामान्य सामूहिक अवचेतना (Collective Unconscious) का विचार रखा। उन्होंने धर्म को भी पर्याप्त महत्वपूर्ण तत्व माना। इनके अतिरिक्त नवीन फ्राइडवादी विचारकों ने भी नये प्रकार के विचार प्रस्तुत किये। यद्यपि इन विचारकों ने फ्राइड के योगदान को सराहा किन्तु उन्होंने फ्राइड की अनेक मूल मान्यताओं को ठुकरा दिया। उन्होंने वश परम्परा की अपेक्षा वातावरण के योगदान को अधिक महत्व दिया। उनके मतानुसार-मानसिक खिचाव से व्यक्ति को स्वतन्त्र करने में शिक्षा एवं भावनाओं का परिवर्तन महत्वपूर्ण कार्य करता है। इन विचारकों में कारेन हार्नी (Karen Horney), हैरी स्टैक

सुलीवान (Harry Steck Sullivan) और ऐरिक फ्राम (Arich Fromm) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

व्यवहारवाद का प्रभाव

व्यवहारवादी विचारकों ने राजनीति-शास्त्र और मनोविज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रदर्शित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। केवल मनोविश्लेषण ही एक मात्र साधन नही था जिससे कि राजनैतिक सिद्धांत के अनुमान निकाले जाते थे। सन् १६०५ के लगभग मनोवैज्ञानिक व्याख्या का एक नया स्कूल प्रारम्भ हुआ जिसे व्यवहारवाद कहा जाता है। ये व्यवहारवादी विचारक मनोविज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान का स्तर देना चाहते हैं। यही कारण है कि उन्होंने मानवीय व्यवहार के समस्त विषयों को प्रेरक और प्रतिक्रियाओं तक मर्यादित कर दिया। इनको प्रकाश और ताप की भांति ही देखा जाता था, पर्यवेक्षित किया जा सकता था और मापा जा सकता था। व्यवहारवाद के अतिशयवादी विचारक उन सब चीजों पर विचार नहीं करते जो कि मानव मस्तिष्क से आने वाले विचारो, भावनाओं, प्रतीकों आदि से सम्बन्ध रखती हैं। ये विचारक मस्तिष्क जैसी किसी चीज में विश्वास नहीं करते और न ही यह मानते हैं कि मस्तिष्क का कोई वस्तुगत अध्ययन किया जाता है। व्यवहारवादियो के लिए मनुष्य मूल रूप से एक जानवर है। यद्यपि उसकी प्रक्रियाएं अनेक परिस्थितियों एवं परिवर्तनो से प्रभावित होती हैं, किन्तु मौलिक रूप से वे उतनी ही आन्तरिक हैं जितनी कि एक बन्दर या कंगारू की क्रियाएं होती हैं।

मनोविज्ञान को एक वस्तुगत विज्ञान मानने वालों में इवान पावलोव (Ivan Pavlov) प्रमुख है। यद्यपि उनका प्रशिक्षण एवं अनुभव एक मनोवैज्ञानिक का था, किन्तु उसके अनुसंधानों ने मनोवैज्ञानिको के प्रति नये दृष्टिकोण की नीव रखी। इनसे पूर्व मनोविज्ञान का मुख्य सम्बन्ध मन की स्थिति, भावना, संवेग, स्मृति एवं तर्क आदि से रहता था, किन्तु अब यह एक प्रायोगिक विज्ञान बनता चला गया, जिसका उद्देश्य मस्तिष्क के भीतर की स्थिति को जानने की अपेक्षा वस्तुगत व्यवहार का अध्ययन करना बन गया।

फ्राइड की भांति पावलोव भी राजनीति शास्त्र में कम रुचि रखते थे। कई बार उन्होंने रूस सरकार की शक्तिहीनता और भ्रष्टाचार के प्रति भारी असन्तोष प्रकट किया। पावलोव के सिद्धांत को शारीरिक मनोवैज्ञानिक (Physiological) सिद्धात कहा जाता है। इनके अनुयायी जान बी० वाटसन (John B. Watson) थे। सामान्य रूप से इन्हीं को व्यवहारवाद का जनक कहा जाता है। मिस्टर वाटसन का कहना था कि समस्त मानवीय एवं पाशविक व्यवहार शारीरिक स्थिति के प्रति

प्रतिक्रिया के रूप में होते हैं। शारीरिक प्रतिक्रियाओं में उस सबको सम्मिलित किया जाता है जो व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त होते हैं जैसे भूख, संघर्ष, स्वांस लेना, खासना, चिल्लाना, छींकना, पचाना आदि के प्रति शारीरिक प्रतिक्रियाएं और डर तथा प्रेम आदि की मूल भावनाएं। व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति जो कुछ भी करता है उस सबको सीखे हुए व्यवहार के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। इसमें हम आदतों, अधिकांश मूल प्रवृतियों जैसे जलन, ईर्ष्या, उत्सुकता, दृष्टिकोण, कुशलता, योग्यता, प्रवृति आदि को सम्मिलित कर सकते हैं।

सामान्य रूप से मि० वाटसन की यह धारणा थी कि कोई भी चीज जिसकी परीक्षा न की जा सके और जिसे मापा न जा सके उसके अस्तित्व को नहीं मानना चाहिए। उसके मतानुसार क्रियाएं अथवा शारीरिक प्रभाव ही व्यवहार का सब कुछ है। उन्होने भय की भावना का वर्णन करते हुए यह माना है कि यह और कुछ नहीं वरन् चेहरे पर खून उतर आना, होठों का फड़फड़ाना, दिल का जोर-जोर से धड़कना, छोटे सास लेना, तथा ऐसी ही अन्य प्रतिक्रियाएं होती हैं। इन सबको उन्होंने भावना की अभिव्यक्ति न मान कर स्वयं भावना माना है। उसके कथनानुसार विचार करना कोई ऐसी रहस्यपूर्ण प्रक्रिया नही है जो कि तथाकथित मस्तिष्क में संचालित होती हो, वरन् यह अपने आपसे बातें करने का एक रूप है। कोई भी व्यक्ति विचारों को अभिव्यक्त करने वाले शब्दों अथवा प्रतीकों से परे कुछ भी नहीं सोच सकता। इस दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञान, शारीरिक शास्त्र सम्बन्धी कुशलता प्राप्त करना है। यह ठीक उसी प्रकार से है जिस प्रकार एक व्यक्ति साइकिल पर चढ़ना सीखता है। दोनों के बीच केवल यही अन्तर है कि सक्रिय होने वाले शारीरिक अंग अलग-अलग होते हैं। दोनो स्थितियों में मस्तिष्क का काम एक सा होता है।

मि० वाटसन ने राजनैतिक एवं सामाजिक प्रकृति के कुछ सिद्धांत भी प्रतिपादित किये हैं। ये सब उसके वातावरणवाद पर आधारित हैं। उनके मतानुसार स्वभाव, प्रवृतियां, योग्यता और बुद्धि आदि सभी शारीरिक बनावट पर आधारित होते हैं वे प्राप्त नहीं किये जा सकते। उनका यह दावा था कि यदि उनको एक दर्जन स्वस्थ्य अनाथ बालक दे दिये जाएं जिनकी शारीरिक रचना अच्छी है तो वे उन्हें किसी भी प्रकार का विशेषज्ञ बना सकते हैं। उन बालकों की प्रवृत्तियां, योग्यताएं, व्यवसाय तथा पूर्वजों की जाति चाहे कुछ भी रही हो उनमें से किसी को भी डाक्टर, कलाकार, वकील या व्यापारी और यहां तक कि भिखारी या चोर तक बनाया जा सकता है।

उनका यह मत था कि बौद्धिक दृष्टि से जन्म के समय सभी व्यक्ति एक जैसे होते हैं। बाद में किसको क्या मिलता है यह उनके वातावरण पर निर्भर करता है। वाटसन के सिद्धान्त का शिक्षा, नैतिकता, अपराध और सामाजिक प्रगति में पर्याप्त महत्व है। उनका यह मत था कि सामाजिक व्यवस्था की प्रत्येक समस्या को प्रशिक्षण और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों द्वारा सुलझाया जा सकता है। वे कहते है कि पागलो और सामाजिक रूप से अप्रशिक्षितों के अतिरिक्त कोई भी अपराध नही करता। ऐसी स्थिति में फौजदारी कानून और दंड आदि चीजें जरूरी नहो है।

एक अन्य मनोवैज्ञानिक मि० थार्न डाइक (Thorn Dike) ने भी पावलोव और वाटसन की भांति प्रायोगिक विधि को अपनाया है। इन्होने भी आन्तरिक विचारों, अवचेतन इच्छाओ तथा अन्य किसी चीज को सैद्धान्तिक बनाने में कोई रुचि नहीं दिखाई। इनकी मान्यता के अनुसार मनुष्य और जानवरों के बीच केवल जटिलताओं की मात्राओं का अन्तर है। मानव व्यक्तित्व वातावरण के तत्वों का मिश्रण है जो कि उस पर प्रभाव डालते रहते हैं। थोर्न डाइक ने वंश परम्परा के प्रभाव को इतनी कठोरता के साथ सीमित नहीं किया है जितना कि वाटसन ने किया है। राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र मे उनका विश्वास था कि मनोविज्ञान की खोजों द्वारा समस्त मानवीय समस्याओं को समाप्त किया जा सकता है। राजनीति शास्त्र मे इन समस्याओं को समाप्त करने की विशेष रूप से आवश्यकता है। राजनीति शास्त्री मनुष्य की प्रकृति के सम्बन्ध में धर्मशास्त्र के दुराग्रह से प्रभावित रहे और इसलिए उन्होंने शक्ति के महत्व तथा समाज में दण्ड की प्रभावशीलता के सम्बन्ध मे अतिशयोक्तिया की। थार्न डाइक का विचार था कि इस विज्ञान के युग में भी सरकार का संचालन यदि वकीलो, व्यापारियों और किसानों के द्वारा किया जाता है तो यह एक अनुपयुक्त बात है क्योंकि ये लोग राजनीतिक क्रिया के आधार के रूप में प्रायोगिक विधि का महत्व नहीं समझते। इसके अतिरिक्त ये शोध के परिणामों की प्रतीक्षा करने की अपेक्षा समूह के दबावों या प्राकृतिक कानून अथवा प्राकृतिक अधिकारो से संबधित प्रसिद्ध सिद्धान्तों के अनुरूप कार्य करते है। उनका सुझाव था कि नगरों, राज्यों और राष्ट्रो के लिए न्याय मण्डल स्थापित किये जावें जो कि प्रशासन के वास्तविक कार्य के लिए विशेषज्ञों को चुन सकें। उन्होंने राज्य के संगठन के लिए एक अमेरिकी कालेज या विश्वविद्यालय के सगठन को आदर्श माना है। इन मण्डलो का चुनाव किस प्रकार किया जावेगा इस सम्बन्ध मे वे अधिक चिन्तित नहीं दिखाई देते। वे इस बात को अधिक महत्व देते हैं कि सार्वजनिक नीतियां ऐसे लोगो द्वारा निर्धारित एवं क्रियान्वित की जावें जो कि मानव प्रकृति का

ध्यान रखते हैं और सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में वैज्ञानिक विधि को मूल्य देते हैं। वे यह मानते थे कि वैज्ञानिक द्वारा भी गलतियां की जा सकती हैं किन्तु फिर भी उनका कहना था कि एक अज्ञानी से दवा लेने की अपेक्षा उन्हीं की दवा लेना अधिक अच्छा है।

मनोवैज्ञानिक विचारधारा का प्रभाव

राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों की मनोवैज्ञानिक आधार पर जो व्याख्याएं की गयी उनका परवर्ती विचारकों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव केवल समर्थन का ही नहीं था वरन् विरोध का अधिक था। प्रत्येक नये विचार या नये वैज्ञानिक सिद्धान्त को कड़े विरोध का सामना करना होता है चाहे उसका विकास एक लम्बे समय के बाद हुआ हो। इसका विरोध करने वाले लोग रूढ़िवादी प्रकृति के होते हैं। इनमें से अधिकांश वे होते हैं जिनके हितों को नये विचारों द्वारा चुनौती दी गई होती है। उदाहरण के लिए कॉपरनीकस के सिद्धान्त को लिया जा सकता है। इसने मध्ययुग की दुनियां के दृष्टिकोण को बदल दिया और व्यक्ति को सृष्टि के केन्द्रीय सिंहासन से उतार कर धूल के कण जैसा स्तर प्रदान किया। यही कारण है कि इस मान्यता को चर्च के नेताओं द्वारा ईश्वर का अपमान और मानव जाति के सम्मान के प्रति एक धक्का माना गया। इसी प्रकार डार्विन ने भी अपनी मान्यताओं द्वारा अनेक पूर्व स्थित विश्वासों को धक्का पहुंचाया; फलतः उन्हें आलोचना का शिकार बनना पड़ा। यही बात राजनीति के मनोवैज्ञानिक व्याख्याकारों पर लागू होती है। इन्होंने मनुष्य जाति को विशेष मानने वालों के विश्वासों को धक्का पहुंचाया।

मनोवैज्ञानिकों की अधिकांश आलोचना उन कारणों से की जाती है जिन पर कि उन्होंने जोर नहीं दिया था। मनोविश्लेषणकारों एवं व्यवहार-वादियों ने राजनैतिक तथा सामाजिक सिद्धान्त पर पड़ने वाले अपने निष्कर्षों के प्रभाव को नहीं पहचाना था। मनोविश्लेषणकारों के निष्कर्षों से ऐसा प्रतीत होता है कि महान् धर्मों और दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित स्वार्थहीनता, प्रेम और सामान्य भाईचारे के आदर्श मानव प्रकृति की वास्तविकताओं के विपरीत होते हैं और इसलिए उनको प्राप्त करना असंभव है। मनोवैज्ञानिकों का विचार था कि जब तक ऐसे आदर्श मानवता के सामने रहेंगे तब तक असंख्य लोग इन आदर्शों की प्राप्ति के लिए प्रयास करते रहेंगे और उनके न प्राप्त होने पर निराश होते रहेंगे। शिक्षा के सम्बन्ध में भी इन मनोवैज्ञा-निकों के विचार कुछ अधिक स्पष्ट नहीं थे। यह सच है कि भय तथा ऐसी अन्य भावनाएं बालकों के दिल में असन्तोष पैदा कर देती हैं। जब विचारहीन और अज्ञानी माता-पिता द्वारा इनकी परवाह नहीं की जाती तो ऐसे बालक

क्रान्तिकारी, आक्रमणकारी एवं अपराधी बन जाते हैं। इन प्रवृतियों को बचपन में ही दबाना ठीक रहेगा । यह ठीक है कि अधिकांश बालकों के मस्तिष्क को नहीं बदला जा सकता, किन्तु उनको ऐसा तो बनाया जा सकता है कि आने वाली पीढ़ी की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखरेख करें । मनोविश्लेषणवादियों ने अवरोध की राजनीति की दिशा मे बहुत कम योगदान दिया । वे ये कह सकते थे कि खिंचाव और संघर्ष को समाप्त करना वाछनीय है, किन्तु यह किस प्रकार हो इस सम्बन्ध में उन्होंने व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत नहीं किये । उन्होंने लोगों को यह सिखाने का प्रयास किया कि भावी हिटलरों को किस प्रकार पहचाना जावे । मनोविश्लेषण द्वारा युद्ध समाप्त करने और अपराध रोकने की दिशा मे भी न के बराबर योगदान किया गया । असल में मनोविज्ञान ने विकृत व्यक्ति के मस्तिष्क को सुधारने के लिए सुझाव दिये, किन्तु विकृत समाजों को सुधारने के लिए अधिक कुछ नही दिया ।

मनोविश्लेषणवादियों की अपेक्षा व्यवहारवादियों एवं मनोविज्ञान के अन्य वातावरणवादी स्कूलों की कम आलोचना की जा सकती है । इन्होंने प्रायोगिक दृष्टिकोण अपनाने के कारण युग के वैज्ञानिक वातावरण से अपने आपको अनुरूप पाया । इसके अतिरिक्त उनके अध्ययन के प्रभाव अत्यन्त क्रान्तिकारी थे । उन्होने व्यक्ति की जो तस्वीर प्रस्तुत की, उससे व्यक्ति को पूर्ण रूप से वातावरण की उपज माना गया । उनके मतानुसार वंश परम्परागत रूप से मानव प्रकृति के जिन गुणों को हस्तांतरित किया जा सकता है वे बहुत कम होते हैं । इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि मानव प्रकृति पर्याप्त लोचशील होती है । वह एक पापी से सन्त महात्मा बन सकता है और अपने वातावरण की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उन्हें बदल सकता है । इस दृष्टि से अध्यापको और माता-पिता का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है । वे उपयुक्त निर्देशन एवं प्रशिक्षण के द्वारा समाज को शांति पूर्ण, सहयोग पूर्ण एवं सहकारिता पूर्ण बना सकते है । अपराध और बाल अपराधों को रोका जा सकता है । व्यवहारवादी दुनिया मे राजनीतिक और सामाजिक नीतियों को अनेक वास्तविक परिणामों के आधार पर देखा जाता है ।

राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र
(Political Science & Sociology)

समाज शास्त्र और राजनीति शास्त्र दोनो ही दो प्रमुख सामाजिक विज्ञान हैं । इनमें से समाज शास्त्र के अन्तर्गत व्यक्तियों की सामूहिक प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है । यह विभिन्न युगों और स्थानों में सामाजिक विकास द्वारा लिये गये मोड़ों का अध्ययन करता है । समाज के स्वरूप का अध्ययन करते समय विभिन्न समुदायो की उत्पत्ति, विकास, रचना एवं कार्य

तथा विभिन्न कानूनों और रीति-रिवाजों आदि की व्याख्या करता है। समाज-शास्त्र में समस्त सामाजिक परिस्थितियों एवं सम्बन्धों का अध्ययन करते हुए उन नियमों का उल्लेख किया जाता है जो कि सामाजिक विकास और परिवर्तन को संचालित करते हैं। मनुष्य जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित होने के कारण समाज शास्त्र प्रायः सभी सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध रखता है; राजनीति शास्त्र भी उन्हीं में से एक है। दोनों शास्त्रों की पारस्परिक घनिष्ठता को गार्नर ने बहुत सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया। उनके कथनानुसार "राजनीति सामाजिकता में निहित है। यदि राजनीति शास्त्र को समाजशास्त्र से अलग किया जाता है तो यह केवल इसलिए कि इसके क्षेत्र का विकास विशेषज्ञों की मांग करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि राजनीति शास्त्र को समाजशास्त्र से अलग करने वाली कुछ सुपरिभाषित सीमाएं हैं।"

असल में राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। प्रारम्भ में राज्य का स्वरूप सामाजिक अधिक था और इसलिए राज्य का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने के लिए समाज शास्त्र से पर्याप्त सहायता ली जा सकती है। प्रो० गिडिंग्स (Giddings) का तो यहां तक कहना है कि जिस व्यक्ति को समाज शास्त्र के प्राथमिक नियमों का ज्ञान नहीं है उसे राज्य के सिद्धान्तों की शिक्षा देना, ठीक इसी प्रकार होगा जैसे कि उन व्यक्तियों को खगोल विद्या और यन्त्र ताप शास्त्र की शिक्षा दी जाए जो कि न्यूटन के गति सम्बन्धी नियमों से अपरिचित हैं। समाज शास्त्र या राजनीति शास्त्र में से किसी भी विषय का गहन अध्ययन करने के लिए दोनों शास्त्रों का अध्ययन करना जरूरी है।

समाज शास्त्र और राजनीति शास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध अरस्तु की आंखों से ओझल नहीं था। उन्होंने व्यक्ति को जहां एक ओर राजनैतिक प्राणी माना है वहां उसे सामाजिक प्राणी भी कहा है। कई बार उन्होंने समाज और राज्य शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया है मानो ये दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची हों यद्यपि यह बात सही नहीं थी। अरस्तु ने राज्य को समाज से प्रथम और उच्च संस्था माना है, क्योंकि इसके द्वारा जो कानून और न्याय प्रदान किया जाता है, उसमें व्यक्ति अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। राजनीति के बिना व्यक्ति पशु और जंगलियों से भी गया-बीता बन जायेगा। अनेक आधुनिक समाज-शास्त्री राज्य को अरस्तु की तरह महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके मतानुसार राजनैतिक संगठन संगठित समाज का एक भाग मात्र है। इसके अतिरिक्त परिवार, धर्म और आर्थिक संस्थायें भी महत्वपूर्ण होती हैं।

अनेक समाज शास्त्रियों ने राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में जो योगदान दिया है वह अविस्मरणीय है। आधुनिक समाज शास्त्री राज्य के महत्व को पहचानते हैं और मनुष्य जाति को सभ्य बनाने में उसे महत्वपूर्ण मानते हैं। मानवशास्त्र (Anthropology) समाज-शास्त्र की एक शाखा है। इसने राजनीति शास्त्र को बहुत कुछ दिया और स्वयं भी उससे पर्याप्त प्रभावित हुआ। प्रारम्भ मे यह सोचा जाता था कि आदिकालीन व्यक्ति अराजकता की स्थिति में जीवन व्यतीत करता था और राजनैतिक दृष्टि से संगठित समाज केवल तभी उत्पन्न हुआ जबकि मानव सभ्यता आगे बढ़ने लगी थी किन्तु मानव शास्त्र (Anthropology) के अनुसधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि राज्य प्राचीनतम सस्थाओं मे से एक है। यह आदिकालीन व्यक्तियों में भी पर्याप्त जटिल रूप मे अस्तित्व रखता था।

बीसवी शताब्दी के मानव शास्त्रियों मे फ्रेन्ज बॉस (Franz Boas) का नाम उल्लेखनीय है। ये नागरिक स्वतन्त्रताओं पर प्रत्येक प्रतिबन्ध का कटु विरोध करते थे। गणित और भौतिक शास्त्र का अध्ययन करने के बाद मि० बॉस इस निष्कर्ष पर आये कि सामाजिक विज्ञान में अध्ययन की वैज्ञानिक विधि पर्याप्त महत्वपूर्ण है। उनका मत था कि अनेक समस्याओं के लिए तात्कालिक अध्ययन आवश्यक होता है, उन्हें स्थित ज्ञान के आधार पर नही सुलझाया जा सकता। बॉस के विचार बहुत कुछ वातावरणवादियों (Environmentalist) से मिलते-जुलते है। उनके कथनानुसार शारीरिक बनावट आदि के अतिरिक्त वंश परम्परागत रूप से बहुत कम गुण हस्तांतरित होते हैं। यद्यपि उन्होंने व्यवहारवादियो के इस मत को अस्वीकार किया कि व्यक्ति की मानसिक क्रियाए पूर्ण रूप से उसके बाहरी वातावरण का परिणाम है, फिर भी उन्होंने यह माना कि वातावरण मानसिक प्राप्तियों पर गहरा प्रकाश डाल सकता है। इसके प्रभाव से शारीरिक विशेषताओं का प्रभाव भी महत्व-हीन बनाया जा सकता है। उनका कहना था कि यद्यपि एक क्षेत्र के निवासियो के मुंह का आकार, जबान की मोटाई तथा गले की रचना अलग-अलग होती है किन्तु फिर भी वे प्रायः एक ही तरह से बातचीत करते है। जिसे हम संस्कृति कहते है, वह भौगोलिक, सामाजिक एव आर्थिक प्रभाव का परिणाम है। आदिकालीन मनुष्य भी आज के व्यक्ति से कम बुद्धिमान नही था। वह अमूर्त बातो के सम्बन्ध मे उतना ही तर्क कर सकता था जितना कि आज के विचारक कर सकते है। उसमे समस्याओं को सुलझाने की कुशलता नही थी, वह केवल इसीलिए कि उसके पास शताब्दियो के संचित ज्ञान का अभाव था। प्रारम्भिक मनुष्य अनेक बातों पर आज के व्यक्ति से भिन्न रूप मे विचार केवल इसलिए करता था, क्योंकि उसका अनुभव और रुचि सीमित थी। यद्यपि उसके मस्तिष्क मे सभी मौलिक विशेषताएं वर्तमान थी।

बॉस का मत था कि प्रत्येक व्यक्ति यथासंभव विस्तृत क्षेत्र चाहता है जिसमे कि वह अपने विचारों के तरीके और आन्तरिक भावनाओं के अनुसार रह सके और कार्य कर सके, इसके लिए यह जरूरी है कि मनुष्य जाति का यह संघ बना लिया जाए। विश्व संघ गणराज्य मानव जाति की आवश्यकताओं एवं रुचियों के अनुकूल होगा। इस गणराज्य मे स्थानीय इकाइयों की विशेष प्रकृतियों के विकास के लिए पर्याप्त अवसर होंगे। उन्होंने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि मानवीय संस्था का प्रगतिशील विस्तार एक सामान्य नियम है। प्रारम्भ मे कबीले थे, उसके बाद नगर राज्य, काउन्टीज, डचीज, प्रन्सीपैलेटीज और सामन्तवाद आदि का जन्म हुआ। उसके बाद राष्ट्र राज्यों तथा आधुनिक साम्राज्यों का युग आया। आर्थिक क्षेत्रों में बढ़ती हुई जटिलता इस प्रगति की दिशा को गति देती है। जब एक समाज अपने क्षेत्र पर नियंत्रण करके आत्म विश्वास और शक्ति का अनुभव करता है तो वह अन्य कमजोर और कम विकसित लोगों को भी अपने में मिलाने का प्रयास करता है। अब तो मानव जाति के विकास का अगला कदम राष्ट्रों का संघ होगा।

बॉस के बाद जिस अन्य मानव-शास्त्री (Anthropologist) का नाम लिया जा सकता है वह ब्रोनिसला मालिनोस्की (Bronislaw Malinowski) है। इनको मानव शास्त्र (Anthropology) के तथाकथित व्यावहारिक स्कूल का प्रतिपादक माना जाता है। इस स्कूल के विचारक मानव संस्कृति को व्यावहारिक दृष्टि से सम्बन्धित पूर्ण के रूप मे मानते है। वे संस्थाओं को सम्पूर्ण के एक भाग के रूप में देखते है। मालिनोस्की ने इस प्रणाली को राजनैतिक संस्थाओं पर लागू किया। उनका मत था कि कानून और रीति-रिवाज हमेशा मौलिक रूप से सम्बन्धित रहते है। ऐसा कोई समय नहीं रहा जबकि कानून रीति-रिवाजों की अवहेलना करके आगे बढ़ा हो। उन्होंने आदि-कालीन अराजकता की मान्यता का विरोध किया और माना कि सरकार किसी न किसी रूप मे सदैव मानव के साथ रही है। उन्होंने दूसरी कई मान्यताओं का भी विरोध किया। मालिनोस्की ने प्रारम्भिक राजनैतिक संस्थाओं की जो तस्वीर प्रस्तुत की है वह सभ्य मनुष्यों की संस्थाओं से मिलती है। उन्होंने प्रारम्भिक मनुष्य के राजनैतिक जीवन की व्याख्या करते समय अज्ञानता और भोलेपन के स्वर्ण युग का खाका खींचने का प्रयास नहीं किया है।

राजनैतिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में प्रसिद्ध मानव शास्त्री रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benidict) का नाम भी उल्लेखनीय है। इनका यह मत था कि व्यक्तियों में शारीरिक बनावट एवं अङ्गों की समानता होते हुए भी उनके

कार्यों में भारी अन्तर होते है। ये अन्तर उस वातावरण की विभिन्नता के कारण होते है जो कि अलग-अलग अनुभव और आदत बनाता है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों की कुशलताओं एव विशेष योग्यताओं को आश्चर्य की दृष्टि से देखता है। वातावरणों के प्रभावों की अतिरिक्त जन्मजात बुद्धिमत्ता के अस्तित्व में इनका विश्वास नहीं था। इनके मतानुसार अगर यह होती भी होगी तो यह निश्चय ही एक जाति का एकाधिकार नहीं है।

मानवशास्त्र (Anthropology) से सम्बन्धित उक्त विचारकों की राजनैतिक मान्यताओं का अध्ययन करने के बाद हम उन समाज शास्त्रियों का उल्लेख करना उपयुक्त समझेंगे, जिन्होंने राजनैतिक सिद्धांत के क्षेत्र में अपना योगदान किया। इस समाज शास्त्रियों में मौरिस गिन्सबर्ग (Morris Ginsverg) प्रथम उल्लेखनीय है। इन्होंने समाज शास्त्र को समाज का अध्ययन माना जो कि मानवीय क्रिया-प्रतिक्रियाओं एवं पारस्परिक सम्बन्धों की लहर होती है। उनकी समाज शास्त्र की परिभाषा मे मानव इतिहास से लेकर अब तक के विश्वास, विचार, रीति-रिवाज, सस्थायें, परम्परामें आदि समाहित हो जाते है। गिन्सबर्ग के मतानुसार समाज शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्यो की प्रत्येक घटना से होता है क्योंकि व्यक्ति पारस्परिक रूप से सम्बन्धित रहते है। ऐसी स्थिति मे राजनैतिक सिद्धात से समाज शास्त्र का सम्बन्ध स्वत. ही सिद्ध हो जाता है। १६वी शताब्दी मे समाजशास्त्र के जो महान विचारक हुए, जैसे—आगस्ट कोम्टे, हरबर्ट स्पेन्सर, लेस्टरवार्ड तथा विलियम ग्राम समर आदि, उन सभी ने राज्य की प्रकृति और उद्देश्यों मे इतनी रुचि दिखाई जैसे कि वे समाज की मुख्य समस्याए हो।

समाज शास्त्री सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक जर्मनी के मि० मैक्स वेबर (Max Weber) थे। उन्होंने मार्क्सवाद को इसलिए स्वीकार किया क्योंकि ऐतिहासिक प्रक्रिया मे विचारों के महत्व पर उनका विश्वास था। मैक्स वेबर ने आधुनिक राजनैतिक समस्याओं को समझने के लिए एक व्यवस्थित सिद्धात की स्थापना की। उनका यह मत था कि समाज मे व्यवस्था रखने के लिए यदि दमनकारी तरीके अपनाने पडे तो भी बुरा नही है क्योंकि मनुष्य वास्तव मे ऐसे जगली होते है जिनका कोई अधिकार नही होता और जिन्हें कोई आदर नही मिलना चाहिए। वेबर का यह स्पष्ट मत था कि प्रतिद्वन्दी पून्जीवाद के विकास ने आधुनिक व्यक्ति मे भारी असन्तोष पैदा कर दिया है। उसने व्यक्ति को धनवान जरूर बनाया है किन्तु उसकी असुरक्षा को भी बढ़ा दिया है। स्थिति यह है कि 'या तो अच्छी तरह खा-पी लीजिए अथवा अच्छी प्रकार सो लीजिए।'

वेबर ने अपने ग्रन्थ सामाजिक और आर्थिक संगठन के सिद्धांत (The theory of Social and Economic Organisation) में सत्ता के विषय में विचार किया है। उन्होंने नौकरशाही के पक्ष में लिखा तथा इसकी कुशलता के लिए इसकी सराहना की। उन्होंने विशेषज्ञों द्वारा सरकार के सचालन को अच्छा माना। उनके मतानुसार नौकरशाही 'ज्ञान के आधार पर नियंत्रण का प्रयोग' है। उन्होंने शुद्ध सत्ता के तीन रूप बताये। ये थे— बौद्धिक (Rational), परम्परागत (Traditional) और प्रतिभाशाली (Charismatic)। प्रतिभाशाली सत्ता का अर्थ ऐसी सत्ता से था जो कि किसी दैवीय स्रोत पर आधारित रहती है अथवा आदि भौतिक शक्तियों या अद्वितीय चरित्र से पूर्ण होती है। इस प्रकार की सत्ता में न कोई कुशलता होती है और न कोई ज्ञान। यह किसी नियम, रीति-रिवाज अथवा परम्परा को भी नही अपनाती। इस प्रकार की सत्ता का आधार धन नही होता। एक सच्चा प्रतिभाशाली नेता केवल जिन्दा रहने के लिए कार्य नही करता। ऐसे नेता के लिए सारी चीजों का सहयोग उसके अनुयायियों द्वारा दिया जाता है व उसकी आवश्यकतायें स्वर्ग से पूरी की जाती है। प्रतिभाशाली नेता न तो प्रतिक्रियावादी होता है और न ही रूढ़िवादी होता है वरन् एक नया धर्म जन्म ले सकता है। इस प्रकार के नेताओं में वेबर ने ईसामसी, मोहम्मद, पोप और दोनों नेपोलियनों का नाम लिया है।

एक अन्य समाज-शास्त्री ओपेनहीम (Oppenhieme) ने भी राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये। उनके विचार उन अनेक लेखकों से मिलते-जुलते हैं जो कि अपने आपको राजनैतिक यथार्थवादी कहते है। उनका विचार था कि राज्य का आधार शक्ति ▌ और प्रारम्भ में इसकी स्थापना घुमक्कड़ो द्वारा की गई थी। ये घुमक्कड़ पहाड़ियों से उतरकर उपजाऊ घाटियों में आए और इन्होने शान्तिप्रिय किसानों पर अपनी इच्छा थोपी। उन लोगों की सम्पत्ति को जब्त कर लिया और उनके श्रम का लाभ उठाने लगे। ऐसी स्थिति मे उन्हे क्रांति का डर होने लगा। अपनी सुरक्षा के लिए उन्होंने हिंसा या क्रांतिपूर्ण कार्यों के लिए गम्भीर दण्डों की व्यवस्था की। उनको प्रदेश के कानूनो में अभिलिखित कर लिया गया। उन्होने अपने मे से ही एक को राजा चुना और उसे पर्याप्त सम्मान प्रदान किया। धीरे-धीरे इन घुमक्कड़ो की संख्या बढ़ने लगी और इन्होने अपने प्रदेश का विस्तार करना प्रारम्भ किया। अपने मत के समर्थन मे ओपेनहीम ने अनेक ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किये है। उनके मतानुसार कई एक महान साम्राज्य विजेता घुमक्कड़ जातियों द्वारा स्थापित किये गये थे।

डेविड राइजमेन (David Riseman) और सी० राइटमिल्स

(C. Wright Mills) ने भी राजनैतिक सिद्धांतों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। राइजमैन ने अपनी सामाजिक विचारधारा को जनसंख्या सम्बन्धी परिकल्पनाओं के आधार पर विकसित किया। कोलम्बिया के समाज-शास्त्री मि० मिल्स ने वर्तमान समाज में नेतृत्व और शक्ति का पर्याप्त भिन्न सिद्धांत प्रस्तुत किया। इनका मत था कि संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यवस्थापिका महत्वहीन बनती जा रही है यहां तक कि कार्यपालिका का नेतृत्व भी बाहर वाले लोगों के हाथ में आता जा रहा है। इन्होंने न्यायपालिका की शक्तियों के बारे में कुछ नहीं कहा। जब व्यवस्थापिका और कार्यपालिका कमजोर होती है तो न्यायपालिका की शक्तियां अपने आप बढ़ जाती हैं। मि० मिल्स ने बताया कि सन् १९४० से ही कूटनीतिज्ञ अपना महत्व खोते जा रहे हैं। जब शान्तिपूर्ण समझौतों को तुष्टिकरण की नीति कहा जाता है तो कूटनीति, का स्थान महत्वहीन बन जाता है। आधुनिक युग में कूटनीतिज्ञों ने ही नहीं वरन् सैनिक व्यक्तित्वों ने राष्ट्रों के बीच समझौते कराये। इन समाज शास्त्रियों ने राजनैतिक सिद्धांत को वातावरण सम्बन्धी परिस्थितियों पर आश्रित किया। इनके अनुसार व्यक्ति के सारे कर्म उसकी मानसिक स्थिति पर निर्भर करते है और व्यक्ति की मानसिक स्थिति का स्वरूप उसके वातावरण द्वारा निर्धारित होता है।

उपसंहार

राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों से सम्बन्धित इस अध्ययन के बाद कुछेक बातों का उल्लेख करना महत्वपूर्ण रहेगा। राजनीति शास्त्रियों एवं अन्य विचारकों ने सिद्धांतों के महत्व को बहुत पहले ही पहचान लिया था। वे जानते थे कि राज्य का स्वरूप, उसके कार्य एवं संगठन आदि सिद्धांतों के आधार पर अपना स्वरूप धारण करते है। ये सिद्धांत राजनैतिक वातावरण के परिणाम है। राजनैतिक वातावरण का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। इनमें निर्णय लेने वाला दृष्टिकोण (Decision making Approach), सामूहिक दृष्टिकोण (Group Approach), अनुभववादी दृष्टिकोण (Empirical Approach), व्यवस्थापूर्ण दृष्टिकोण (Systematic Approach), वैज्ञानिक दृष्टिकोण (Scientific Approach), मूल्य निरपेक्ष दृष्टिकोण (The Value-Free Approach) आदि प्रमुख हैं। राजनैतिक सिद्धांत के रूप निर्धारण पर अन्य सामाजिक विज्ञानों ने पर्याप्त प्रभाव डाला। इनमें से मनोविज्ञान और समाज शास्त्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दर्शन शास्त्र और विज्ञान के विकास ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन की प्रणालियों को पर्याप्त प्रभावित किया है।

दर्शन शास्त्र, विज्ञान और सिद्धांत का पारस्परिक सम्बन्ध गहरा किन्तु

अस्पष्ट है। सिद्धांत का प्रयोग प्रायः जिस वातावरण को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है वह अमूर्त और सामान्य होता है। सिद्धान्त में वैज्ञानिक नियमों का प्रयोग किया भी जा सकता है और नहीं भी किया जा सकता है। इस प्रकार सिद्धांत वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक दो श्रेणियों में बंट जाते है। आज राजनैतिक शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से वैज्ञानिक सिद्धान्त के लिए ही किया जाता है। राजनैतिक सिद्धान्त, राजनैतिक दर्शन और राजनीति शास्त्र प्रारम्भ में ही पर्यायवाची थे किन्तु आज वे वैसे नहीं है। राजनैतिक सिद्धान्त मे वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया जाता है किन्तु राजनीति दर्शन में ऐसा नहीं होता।

राजनीति शास्त्र में सिद्धान्तों का महत्व अधिक व्यापक है। सिद्धातों और व्यवहार के बीच के सम्बन्ध को 'भूल और सुधार' की प्रसिद्ध कहावत से स्पष्ट किया जाता है। 'प्रयास' व्यवहार को माना गया है जब कि सिद्धांत को 'भूल' से इङ्गित किया जाता है। जब एक सिद्धात की व्यावहारिक जाच की जाती है तो उसकी गलतियों को दूर किया जा सकता है। जब एक बार किसी सिद्धात को सत्य सिद्ध कर लिया जाता है तो ठीक उसी सिद्धांत को प्राय. पुनः व्यवहार में नही लिया जाता। जो विषय अधिक महत्वपूर्ण नहो होते, उनमें किये गए प्रयास आवश्यक रूप से सिद्धातों को प्रोत्साहित नही करते। किन्तु जहा तक एक व्यक्ति या राष्ट्र का भाग्य दाव पर लगा रहता है, वहा सिद्धातो की आवश्यकता रहती है। कई बार यह कहा जाता है कि सैद्धातिक विचार विमर्श एक फालतू का काम है। यह एकात मे बैठ कर उस समय किया जाता है जब कि आरामदायक परिस्थितिया हों। देश के राजनैतिक शत्रुओ को इस बात की बहुत कम परवाह रहती है कि कौनसा सिद्धात विकसित किया जा रहा है।

सिद्धात के महत्व को लेनिन के शब्दों मे समझा जा सकता है। उन्होने कहा था कि बिना क्रातिकारी सिद्धातो के कोई क्रातिकारी आदोलन नही हो सकता। वे इस सम्बन्ध मे स्पष्ट थे कि एक प्रगतिशील सिद्धात के निर्देशन मे ही कोई दल सघर्ष के समय सरक्षक बन सकता है। स्वयं लेनिन ने ही अनेक सामान्यीकरण किये और सिद्धातों की रचना की। बाद मे स्टालिन ने अपने सिद्धातो को अवसरवादी कहा। उसका विचार था कि किसी भी कार्य को लोगो की प्रतिक्रिया पर छोड देना चाहिए उसके पीछे कोई पूर्व निर्धारित सिद्धान्त न हों। यह एक प्रकार से उन लोगो का सिद्धात था जो कि सोचने के तत्व को कम आकते है। इस प्रकार कुल मिलाकर मार्क्स, लेनिन और स्तालिन आदि साम्यवादी नेता अपने-अपने सिद्धात मे विश्वास करते थे; यहा तक कि हिटलर और मुसोलिनी जैसे तानाशाहो ने भी सिद्धांतों की रचना की। बात अलग है कि उनके सिद्धात सही थे या गलत

कुछ लोग सिद्धांतो को इस आधार पर महत्वहीन बताते हैं कि वे अव्यावहारिक होते हैं किन्तु यह मत केवल प्रचारवादी विचारधाराओं के सबंध में ही सही हो सकता है, वैज्ञानिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध मे नही । किसी भी सिद्धात को केवल प्रचारवादी सिद्धात कहने से पहले उसकी वैज्ञानिकता की परीक्षा करना जरूरी होता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि लेनिन और स्तालिन के सिद्धात वैज्ञानिक सिद्धातो और प्रचारात्मक विचारधाराओं का योग थे।

राजनैतिक सिद्धांत शास्त्री का यह कर्त्तव्य होता है कि वह समाज के राजनैतिक जीवन की सम्भावित समस्याओं को दूसरे से पहले देखे; दूसरो की अपेक्षा अधिक गहराई से उनका विश्लेषण करे और उनसे निष्कर्ष निकाले। सिद्धात के द्वारा व्यावहारिक राजनीतिज्ञो के लिए पहले से ही कार्यो के सभावित विकल्प प्रस्तुत किए जाते है। इन कार्यो के परिणामो को पहले से ही भली भांति देख लिया जाता है। मानवता की प्रगति के लिए यह जरूरी है कि राजनैतिक सिद्धात अपने कार्य भली प्रकार सम्पन्न करे। सही सिद्धातो के द्वारा लोगों को बुद्धिपूर्ण ढग से अपना रास्ता बनाने और चुनने के लिए कहा जा सकता है ताकि वे कोई गलत रास्ता न चुन लें और निराशा के भागीदार न बने।

राजनीति शास्त्र के सम्बन्ध मे आधुनिक नवीनताएं इतनी अधिक हैं कि वे वर्तमान राजनीति शास्त्र को पुराने राजनीति शास्त्र से पूरी तरह अलग कर देती है। राजनैतिक अध्ययन के लिए जिन नये दृष्टिकोणों का विकास हुआ वे प्रथम विश्व युद्ध के पहले ही विकसित हो चुके थे और द्वितीय विश्व युद्ध के काल में वे प्रभावशाली बन गये । बीसवी शताब्दी में संसार मे जो अनेक परिवर्तन हुए उनसे राजनीति शास्त्र अछूता न रहा क्योंकि राजनीति शास्त्र भी मनुष्यों एवं उनके कार्यों से सम्बन्ध रखता है। नवीन राजनीति शास्त्र की अपनी कुछ विशेषताएं है। इसका सम्बन्ध प्रजातन्त्र मे सत्ता के व्यवहार से है इसलिए प्रशासक और प्रशासित दोनो को देखना इसका कार्य है। राजनीति शास्त्र चाहे कितना ही नवीन क्यो न हो किन्तु उसे परिपक्व दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रारम्भिक दृष्टिकोणों के अनुभव और असफलताओं को ध्यान मे रखना होगा। नवीन राजनीति शास्त्र चाहे कितना भी नवीन क्यो न हो, इसके अध्ययन का विषय वही पुराना इन्सान है जिसमें कि प्रादत, भावना, बुद्धि, संवेग, मूल प्रवृत्तिया आदि होते है।

राजनीति शास्त्र मे जो परिवर्तन हुए उनकी तुलना अन्य सामाजिक विज्ञानो मे हुए परिवर्तनो से की जाती है। राजनीति शास्त्र के परिवर्तन अपेक्षाकृत अधिक सीमित हैं। इसका कारण सम्भवत: यह है कि राजनीति

शास्त्र सामाजिक विज्ञानों में प्राचीनतम है। यह किसी प्रकार से पुरानी परम्पराओं को चलाये जा रहा है और नवीनताओं का विरोध करता है।

वर्तमान राजनीति शास्त्र का स्वरूप बहुरंगी है-इसमें सार्वजनिक कानून, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राजनैतिक दल, संविधान, लोकप्रशासन आदि अनेक विषय हैं। राजनीति शास्त्रियों में हमको अनेक दक्षिणपंथी मिलेंगे और अनेक व्यवहारवादी मिल जायेंगे। इनमें ऐसे वामपंथी लोग भी है जो कि नये राजनीति शास्त्र की जड़ और शाखाओं को भी स्वीकार करते हैं। कुछ पुरातन पंथी राजनीति शास्त्री 'प्रणाली' से सम्बन्धित प्रश्नों को महत्व दिये बिना ही राजनैतिक विषयों को समझना चाहते हैं। इस प्रकार वर्तमान राजनीति शास्त्र के अनेक रूप है। राजनीति शास्त्र के नवीन रूप को समझने के लिए यदि अरस्तु की राजनीति से उसका अन्तर दिखाया जाए तो अधिक उपयुक्त रहेगा। अरस्तु ने दर्शन और विज्ञान को एक ही माना था इसलिए उनके मतानुसार राजनीति शास्त्र और राजनैतिक दर्शन भी समान थे। विज्ञान अथवा दर्शन को उन्होंने दो भागों में विभाजित किया-सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। सैद्धान्तिक विज्ञानों को गणित तथा अन्य प्राकृतिक विज्ञानों में विभाजित किया गया। व्यावहारिक विज्ञानों में नीति शास्त्र, अर्थ शास्त्र और राजनीति शास्त्र को लिया गया। विज्ञान और दर्शन के बीच विभाजन १७वीं शताब्दी की क्रान्ति के बाद होने लगा। यह नये दर्शन या विज्ञान की अरस्तु के दर्शन या विज्ञान पर विजय थी। यह विजय विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में इतनी सफल नहीं थी। अरस्तु ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विज्ञान के बीच जो अन्तर किया था वह अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ता, क्योंकि प्रत्येक सैद्धान्तिक विज्ञान का अपना एक व्यावहारिक पक्ष होता है और प्रत्येक व्यावहारिक विज्ञान के सैद्धान्तिक आधार होते है। व्यावहारिक विज्ञानों को प्रायोगिक विज्ञान (Applied Science) कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह विज्ञान मनोविज्ञान आदि सैद्धान्तिक विज्ञानों पर आधारित होते है।

अरस्तु की राजनीति से नये राजनीति शास्त्र का अन्तर कई दृष्टियों से दिखाया जा सकता है। इसमें प्रथम यह है कि नया राजनीति शास्त्र केवल राजनैतिक अनुभव पर आधारित नहीं है वरन् यह वैज्ञानिक मनोविज्ञान पर आधारित है। दूसरे, अरस्तु के राजनीति शास्त्र ने राजनैतिक चीजों को नागरिकों की दृष्टि से देखा था। नवीन राजनीति शास्त्र राजनैतिक चीजों को ठीक ऐसे ही नहीं देखता जैसे कि मछलियों को [illegible] द्वारा [illegible]
है। वह एक इंजीनियर के समान होता है और [illegible]
है जैसे कि पुल बनाने से पहले एक इंजीनियर [illegible]
देखा जाता है। तीसरे, सामान्य जन से सम्बन्धित

राजनीति शास्त्र साधारण भाषा का प्रयोग करता था। इसमें ऐसे किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया जिसे कि साधारण व्यक्ति न समझ सके। इसके विपरीत नवीन राजनीति शास्त्र स्पष्ट एवं विस्तृत तकनीकी शब्दावली के बिना प्रारम्भ नहीं हो सकता। चौथे, अरस्तु का राजनीति शास्त्र, राजनीतिक चीजों का मूल्यांकन करता था। दूसरी ओर नया राजनीति शास्त्र कार्यों के सिद्धान्तों को ही मूल्य मानता है। इसके ज्ञान में भविष्यवाणियां होती है। पांचवें, अरस्तु के अनुसार मनुष्य का अपना सम्मान होता है। वह एक बुद्धि-पूर्ण राजनैतिक प्राणी है। मनुष्य ही एक मात्र ऐसा जीव है जिसमें आत्म-सम्मान होता है। व्यक्ति का सम्मान उसके इस ज्ञान पर आधारित है कि उसे क्या होना चाहिए और किस प्रकार रहना चाहिए। नैतिकता और कानून के बीच आवश्यक सम्बन्ध होने के कारण ही व्यक्ति के सम्मान और सार्वजनिक व्यवस्था के सम्मान के बीच सम्बन्ध रहता है। अरस्तु के मनुष्य को जंगली जानवरों और देवताओं से पृथक माना है। उनका व्यक्ति अपना अलग ही व्यक्तित्व रखता था। आधुनिक राजनीति शास्त्र इस मूल विचार पर आधारित है कि पशुओं और मनुष्यों के बीच कोई मौलिक अन्तर नहीं होता बल्कि केवल मात्रा का ही अन्तर होता है।

नये राजनीति शास्त्र के जन्म से पूर्व ही राजनीति शास्त्र अरस्तु के राजनीति शास्त्र से बढ़कर नयी दिशाओं की ओर चल चुका था। इस समय में यह कानून अथवा 'जो होना चाहिए' के प्रति 'जो है' की अपेक्षा अत्यधिक ध्यान देता था। मनुष्य के वास्तविक व्यवहार को कम महत्व दिया जाता था। उदाहरण के लिए सार्वजनिक मताधिकार की कानूनी व्यवस्थाओं एवं उनके औचित्य पर विचार करता था, किन्तु यह देखता था कि इस सार्वजनिक मताधिकार का प्रयोग किस प्रकार किया जावेगा। नवीन राजनीति शास्त्र ने इस कानूनी दृष्टिकोण की आलोचना की और व्यवहार पर अधिक जोर दिया जाने लगा। वर्तमान राजनीति शास्त्र द्वारा कानूनी दृष्टिकोण को अस्वीकार नहीं किया जाता वरन् उसको कम महत्व दिया जाता है।

परम्परावादी राजनीति शास्त्र के विरुद्ध में एक क्रांति हुई थी उसका कारण विचारकों का यह विश्वास था कि नये युग की समस्याएँ पुरानी मान्यताओं द्वारा नहीं सुलझाई जा सकती हैं। परम्पराविहीन राजनैतिक स्थिति के लिए परम्पराविहीन राजनैतिक शास्त्र ही आवश्यक था। लियो स्ट्रॉस (Leo Strauss) के अनुसार "जिस प्रकार [illegible] में [illegible] के [illegible] बनने के लिए पुराने भौतिक शास्त्र का स्थान आधुनिक भौतिक शास्त्र ने ले लिया उसी प्रकार [illegible] पुराने राजनीति शास्त्र के स्थान पर एक नये आधुनिक राजनीति शास्त्र का जन्म हुआ।"

आज की परिस्थितियां इतनी बदल चुकी हैं कि हमारी राजनैतिक स्थितियां पुरानी राजनैतिक स्थितियों से केवल यही समानता रखती हैं कि वे राजनैतिक हैं। आज व्यक्ति का भाग्य विज्ञान और तकनीकी पर आश्रित है। कब क्या हो जायेगा इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कोई कल्पना नहीं की जा सकती, न ही भविष्यवाणी की जा सकती है। आज की परम्पराविहीन राजनैतिक स्थिति एक ऐसी स्थिति होती है जिसका कोई राजनैतिक हित नहीं होता अर्थात् अराजनैतिक होती है। वर्तमान राजनैतिक परिस्थितियों को समझने में पुराना राजनीति शास्त्र भी पर्याप्त सहायक बन सकता है। अतः अनेक विचारकों की यह राय है कि उसकी अवहेलना करने की अपेक्षा उसका यथासम्भव उपयोग करना चाहिए। राजनीति शास्त्र की इन पुरातन परम्पराओं का एक लम्बे समय तक व्यापक प्रभाव रहा था। इनको वर्तमान के परिवर्तन के संदर्भों में इस प्रकार देखा जा सकता है कि ये भी उपयोगी साबित हो सकें।

आज राजनीति शास्त्र राज्य के संगठन, उसके अंगों की रचना तथा अमूर्त विचारों का अध्ययन करने की अपेक्षा इन संस्थाओं में व्यक्ति के राजनैतिक व्यवहार तथा इस व्यवहार पर प्रभाव डालने वाले तत्वों का अध्ययन करता है। मानवीय व्यवहार पर उसकी मानसिक प्रवृतियों एवं वातावरण का प्रभाव पड़ता है परन्तु मानसिक प्रवृतियां प्रायः वातावरण के अनुसार ही रूप धारण करती तथा अभिव्यक्त होती रहती हैं। ऐसी स्थिति मे राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी को इन्हें अपने अध्ययन का केन्द्र बनाना होता है। इस अध्ययन में वह वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग करता है जिसके अनुसार सम्बन्धित तथ्यों का पर्यवेक्षण एवं संग्रह किया जाता है, वर्गीकरण किया जाता है, विश्लेषण किया जाता है, प्रयोग किये जाते है और इन सब के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। राजनीति शास्त्र के निष्कर्षों को समय-समय पर बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार बदल दिया जाता है।

भाग–३

समाज और राज्य के सिद्धांत

(THEORIES OF STATE AND SOCIETY)

"राज्य विश्वव्यापी नैतिक संगठन का अंश न होकर समस्त नैतिक संसार का अभिभावक है।"

—बोसांके

"एक संतुष्ट सूकर बनने की अपेक्षा एक असंतुष्ट सुकरात बनना कहीं अधिक अच्छा है।"

—मिल

"फासीवाद वास्तविकता पर आधारित है, हम निश्चित तथा वास्तविक उद्देश्यों की प्राप्ति करना चाहते हैं, उसका कार्यक्रम कार्य करना है, केवल बातें करना नहीं।"

"गांधीवादी दर्शन विश्व के प्रत्येक कोने के साधुजनों की शिक्षाओं का सम्मिश्रण है। उन्होंने (गांधीजी ने) विचार और विवेक के विभिन्न स्रोतों से प्रेरणा ली और एक बिल्कुल नये तथा विशिष्ट दर्शन का सृजन किया।"

—बिसारिया

४

आदर्शवाद
(IDEALISM)

"राज्य विश्वव्यापी नैतिक संगठन का अंश न होकर समस्त नैतिक संसार का अभिभावक है।"

—बोसांके

राज्य की प्रकृति एवं उसके विभिन्न लक्ष्यों से सम्बन्धित सामान्य विचारों का अध्ययन करने के बाद यह उपयुक्त रहेगा कि कुछ विचारधाराओं का व्यक्तिगत रूप से अध्ययन किया जाय। इनमें आदर्शवादी, मार्क्सवादी, व्यक्तिवादी, फासीवादी, राष्ट्रवादी, गान्धीवादी आदि विचारधाराएं प्रमुख हैं। इन विचारधाराओं ने समाज व राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में अपने अलग-अलग विचार प्रस्तुत किये हैं और राज्य के विभिन्न लक्ष्यों का वर्णन किया है। प्रस्तुत अध्याय में हम आदर्शवादी विचारधारा को लेंगे और तत्पश्चात् अन्य विचारधाराओं को अलग-अलग अध्यायों में।

आदर्शवादी विचारधारा
(The Idealist Theory)

आदर्शवादी सिद्धांत उपयोगितावादी विचारों की प्रतिक्रिया थी। उपयोगितावादी मान्यताओं ने व्यवहार में राज्य को लगातार चुनौती दी। इसके द्वारा वर्णित आज्ञाकारिता का सिद्धान्त दूषित था। आदर्शवादी विचारधारा ने इस दोष को दूर करने का प्रयास किया। प्रो० लास्की के कथनानुसार आदर्शवादी विचारधारा ने जो दृष्टिकोण अपनाया वह कई बातों पर आधारित था। इसने यह नहीं माना कि स्वतन्त्रता में प्रतिबन्ध का अभाव है। आदर्शवादी विचारकों के अनुसार यह मत अत्यन्त निषेधात्मक है। प्रतिबन्धों का आधार स्वतन्त्रता की एक शर्त हो सकता है किन्तु यह स्वतन्त्रता मूल सार नहीं है। इसका अर्थ है आत्म निर्णय। 'मुझे अपना शासन स्वयं करना चाहिए, यदि मैं अपनी दासता से बचने के लिए दूसरों की आज्ञा का पालन नहीं करता तो मुझे स्वयं की आज्ञा का पालन करना चाहिए ताकि

स्वतन्त्रता में एक रचनात्मक उद्देश्य आ सके।' इसका अर्थ यह नहीं होता कि व्यक्ति मस्तिष्क में अचानक आने वाली किसी भी अवसरगत इच्छा का आज्ञाकारी बन जाए। तात्कालिक प्रवृत्तियों का दास होना बन्धन का सबसे बुरा रूप है। स्वशासन का अर्थ तो केवल यह है 'कि मेरे ऊपर मेरी सच्ची आत्मा का नियंत्रण रहे।'

आदर्शवादी सिद्धान्त ने यह माना था कि राज्य अपने आप में एक महत्वपूर्ण निकाय है, इसका महत्व व्यक्ति की अपेक्षा अधिक है। व्यक्ति केवल राज्य की सदस्यता में रह कर ही अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। काण्ट (Kant), हीगल (Hegal), ग्रीन (Green), बोसान्के (Bosanquet) आदि आदर्शवादी विचारकों ने राज्य की प्रकृति एवं लक्ष्यों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये है। इन विचारकों के बीच विभिन्न प्रश्नों पर अनेक अन्तर रहते हुए भी इनकी राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ सामान्य मान्यताएं हैं। वे निम्न प्रकार हैं.—

१. **राज्य अनिवार्य है**—प्रायः सभी आदर्शवादी यह मानते है कि राज्य व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक संस्था है। व्यक्ति राज्य से पृथक नहीं रह सकता। वह न केवल उसके अस्तित्व के लिए ही वरन् उसके समुचित विकास के लिए भी परम आवश्यक है। राज्य के बिना व्यक्ति की सभ्यता, संस्कृति, नैतिकता आदि का विकास नही हो पाता।

२. **राज्य एक नैतिक संस्था**—आदर्शवादियों की यह मान्यता थी कि राज्य का मूल उद्देश्य व्यक्ति के सुख को बढाना नहीं है वरन् ऐसी परिस्थितियां तैयार करना है जिनमे रहकर वह अपना पूर्ण नैतिक विकास कर सकें। बोसांके ने माना था कि राज्य के नैतिक विचार का मूर्त रूप ग्राह्य है। आदर्शवादियों की भी यह मान्यता है कि राज्य का जन्म कहीं बाहर से नहीं होता वरन् हमारे नैतिक विचारों का ही यह एक प्रत्यक्षीकरण है। राज्य के द्वारा सामाजिक सदाचार की वृद्धि की जाती है; यह विवेक का सर्वोच्च रूप है।

३. **सर्वशक्तिशाली राज्य**—आदर्शवादियों ने राज्य की शक्ति पर कोई सीमा नही मानी थी। हीगल तो राज्य को स्वयं ईश्वर कहते हैं। यह धरती पर ईश्वर का अवतार है। इन्होंने माना कि राज्य एक ऐसी ईश्वरीय इच्छा है जो कि विश्वव्यापी व्यवस्था में प्रकट होती है। आदर्शवादियों ने राज्य की सत्ता को निरंकुशता और असीमितता के चौराहे पर लाकर उसे सर्वाधिकारवादी राज्य की भूमिका प्रदान की। राज्य के विरुद्ध किसी व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं दिया गया।

४. राज्य व व्यक्ति के हितों की एकता—आदर्शवादियों की मान्यता थी कि व्यक्ति और राज्य के हितो के बीच कोई विरोध नही है। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के पूर्ण तथा स्वतंत्र विकास के लिए प्रयास करना है। उसके विरुद्ध व्यक्ति को कोई अधिकार देने का अर्थ है इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधा डालना। राज्य ने व्यक्ति को असभ्यता, बर्बरता, मूर्खता और पशुता से निकाल कर सभ्यता और संस्कृति के प्रांगण में लाकर खड़ा किया, अतः वह उसका सच्चा मित्र है।

५. राज्य का पृथक व्यक्तित्व—प्रायः सभी आदर्शवादी मानते है कि राज्य का व्यक्तित्व उसके सदस्यों से पृथक और स्वतन्त्र होता है। राज्य के सदस्यों की इच्छा राज्य की इच्छा से भिन्न होती है किन्तु वह सदैव ही राज्य की इच्छा के अनुकूल होती है। हीगल ने राज्य को एक ऐसा व्यक्ति माना जिसमें आत्म-चैतन्य नैतिक तत्व होता है; वह एक आत्म-ज्ञानी और आत्मानुभवी व्यक्ति है।

६. राज्य सामान्य इच्छा का प्रतीक—राज्य के द्वारा व्यक्ति की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व किया जाता है। आदर्शवादी विचारकों ने रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धात को अपने दर्शन का केन्द्र बिन्दु बनाया। इनका मत था कि राज्य के माध्यम से व्यक्ति की वास्तविक इच्छा और उसकी अन्तर्चेतना अभिव्यक्त होती है। राज्य के द्वारा किये जाने वाले समस्त कार्य वे होते हैं जिनको व्यक्ति का पवित्र एवं निस्वार्थ अन्तःकरण चाहता है।

७. राज्य का आधार इच्छा है—आदर्शवादी सिद्धात ने यह माना था कि राज्य का आधार इच्छा है, वह किसी शक्ति या बल पर आधारित नही है। राज्य यद्यपि बल का प्रयोग करता है किन्तु यह उसका मौलिक गुण नहीं है। जो राज्य भय दिखाकर अपनी आज्ञाओं का पालन करवाता है, उसमे स्थायित्व नही रहेगा। व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन केवल इसलिए करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि राज्य उनकी सच्ची और उच्चतर आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है तथा राज्य के माध्यम से ही वह अपने सामान्य हितों को प्राप्त कर सकता है।

८. राज्य की आज्ञापालन में स्वतन्त्रता—आदर्शवादी विचारकों ने स्वतन्त्रता का एक सकारात्मक अर्थ प्रस्तुत किया। उनके अनुसार राज्य के कानून का पालन करने में ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता है क्योकि इन कानूनों का निर्माण व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने के लिए होता है। राज्य की आज्ञाओं का पालन व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विरुद्ध नहीं है वरन् यही सच्ची स्वतन्त्रता है। असल मे राज्य का जन्म व्यक्ति की स्वतन्त्रता के खातिर ही

हुआ है। इन विचारकों ने माना था कि मानवीय चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, स्वतन्त्रता के लिए अधिकारों का होना जरूरी है और इन अधिकारों की रक्षा के हेतु राज्य आवश्यक है।

६. राज्य अधिकारों का आधार—राज्य के विरुद्ध अथवा उसके बिना व्यक्ति का कोई अधिकार नही होता। व्यक्ति के समस्त अधिकार राज्य में ही जन्म लेते हैं। आदर्शवादी विचारकों ने प्राकृतिक अधिकारों अथवा राज्य से पूर्व के अधिकारों की किसी मान्यता में विश्वास नही किया था। इनकी मान्यता थी कि अधिकार कुछ ऐसी बाह्य परिस्थितियां हैं जो व्यक्ति के आन्तरिक विकास के लिए आवश्यक हैं। राज्य इन परिस्थितियों को उत्पन्न करने वाली सस्था है और इस रूप में वह व्यक्ति के अधिकारों का जन्मदाता है।

१०. राज्य समाज से अलग नहीं—आदर्शवादी विचारकों ने राज्य को सब कुछ माना है; राज्य से अलग या विरुद्ध कुछ भी नही है। समाज राज्य से पृथक कोई संस्था नहीं है। यह एक ही संस्था के दो नाम हो सकते हैं। सामाजिक अस्तित्व राज्य पर निर्भर है। सामाजिक और राजनैतिक समस्याएं अभिन्न होती हैं। ये दोनों व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रयत्नशील रहती हैं।

राज्य की प्रकृति से सम्बन्धित आदर्शवादियों की उक्त धारणाओं को कटु आलोचना का विषय बनाया गया। स्वयं आदर्शवादी विचारधारा में ही उग्र और नर्म दो गुट बन गये। उग्र गुट के मतानुयायी राज्य को पूर्ण शक्ति सौंपते हैं; जबकि नम्र गुट वाले उसे नैतिकता से पृथक रखते हैं। इन्होंने राज्य को एक ही साथ शासक और शासित माना। यदि राज्य सामान्य इच्छा की अवहेलना करके अपने कर्तव्यों को पूरा न करे तो व्यक्ति उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकता है। आदर्शवादी विचारकों ने स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन के लिए आधार तैयार किया और इसलिए उसकी आलोचना की गई।

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न आदर्शवादी विचारकों ने अलग-अलग मत प्रकट किए हैं। कान्ट ने यद्यपि राज्य को सर्वशक्तिमान और अपरिहार्य माना है किन्तु फिर भी असीमित कार्य नहीं सौंपे। कान्ट की मान्यता थी कि प्रत्यक्ष रूप से राज्य व्यक्ति की नैतिक स्वाधीनता के विकास और प्रसार में कुछ भी नहीं कर सकता। राज्य का कार्य स्वाधीनता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना था। नैतिक विकास व्यक्ति की अन्तः-प्रेरणा से ही हो सकता है। इसके लिए राज्य की सहायता जरूरी नहीं है वरन् व्यक्ति की आत्मप्रेरणा आवश्यक है। कान्ट के अनुसार राज्य एक

जरूरी संस्था है, यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पोषक है जो कि नैतिकता के लिए परम आवश्यक है। राज्य जनता की इच्छा पर आधारित है। जनता ने स्वेच्छा से ही राज्य को यह अधिकार सौपा कि वह उनको नियंत्रित और व्यवस्थित करे। जनता की इच्छा एकीकृत नही होती वरन् वह विभिन्नतापूर्ण होती है और इसलिए राज्य की इच्छा उच्च है क्योंकि उसमें ये दोनों विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। राज्य नैतिक जीवन की एक आवश्यक शर्त है। नैतिक जीवन को नियमित करने वाले सर्वव्यापी कानून केवल राज्य के द्वारा ही मनवाये जा सकते है। राज्य एक आवश्यक बुराई नहीं है वरन् वह एक सकारात्मक अच्छाई है।

एक अन्य आदर्शवादी विचारक मि० हीगल के मतानुसार राज्य व्यक्ति की आत्मा की वाह्य अभिव्यक्ति है। राज्य के द्वारा ही परिवार तथा समाज की सुरक्षा एवं पूर्णता की प्राप्ति का प्रबन्ध किया जाता है। राज्य स्वतंत्रता का वास्तविक रूप है, यह विवेक की अभिव्यक्ति है तथा यह परिपूर्ण ज्ञान की साकार प्रतिमा है। व्यक्ति एवं राज्य को हीगल ने एक रूप माना है। दोनों के हित एक जैसे होते हैं। मि० स्टेस के शब्दों में "हीगल के लिए राज्य स्वयं व्यक्ति ही है। केवल राज्य में ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की अनुभूति करता है।"[1]

हीगल का राज्य आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ही जगत का केन्द्र था। कहने का अर्थ यह है कि व्यक्ति के आध्यात्मिक गुणों की परिपूर्णता एवं व्यक्ति के अन्तर मे उसका एक आध्यात्मिक स्वरूप होता है। इसके समुचित विकास के लिए ही राज्य को वाह्य कार्य करने होते है। राज्य व्यक्ति की अपूर्णताओं एवं स्वेच्छाचारिताओं का दमन करके उसके आध्यात्मिक विकास को सम्भव बनाता है। इसी अर्थ मे राज्य व्यक्ति से श्रेष्ठ एवं उच्च है। हीगल की मान्यता थी कि राज्य सदैव ही व्यक्ति की असली इच्छा की अभिव्यक्ति करता है। जब कभी एक व्यक्ति को राज्य द्वारा दण्ड दिया जाता है तो वह भी उसकी वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति ही होती है। हीगल ने राज्य को नैतिकता से ऊपर माना था। गार्नर के कथनानुसार यह एक ईश्वरीय राज्य है जो कभी कोई गलती नही कर सकता। मैक्गवर्न के कथनानुसार "हीगल ने यह घोषणा की थी कि राज्य स्वयं एक साध्य है तथा व्यक्ति एक साधन मात्र है। इसका साध्य उस राज्य का ऐश्वर्य है जिसका कि वह सदस्य है।" इस प्रकार हीगल के मतानुसार राज्य व्यक्ति की सुरक्षा तथा भलाई का साधन मात्र न होकर अपने आप मे एक साध्य होता है। व्यक्ति की समस्त

1. Stace : The Philosophy of Hegal, P. 415.

आकांक्षायें एवं आवश्यकतायें राज्य में रह कर ही पूरी होती हैं । राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई संस्था ऐसी नहीं है जिससे व्यक्ति सहायता की आशा कर सके । राज्य द्वारा व्यक्ति की सारी आवश्यकतायें पूरी की जाती हैं इसलिए वह उससे पूर्ण भक्ति की मांग कर सकता है । देखने में तो लगता है कि इससे व्यक्ति को हानि होगी किन्तु यह वास्तविकता नहीं है । कुल मिलाकर व्यक्ति लाभ में ही रहता है । केवल राज्य को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, उसी में वह नैतिकता प्राप्त करता है तथा यही उसे अधिकार प्राप्त होते हैं ।

आदर्शवादी सिद्धात के एक अन्य प्रमुख विचारक टामस हिल ग्रीन ने राज्य के लक्ष्य एवं कार्यों के बारे मे अपने मौलिक विचार प्रकट किये हैं । ग्रीन का यह स्पष्ट मत है कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास है । अतः उसके कार्य इसी लक्ष्य को ध्यान मे रख कर होने चाहिए । ग्रीन ने किसी पूर्ण राज्य का चित्र नही खीचा था । उसके राज्य पर बाह्य एव आन्तरिक दोनों ही प्रकार की सीमायें है । उनका कहना था कि राज्य को निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनो ही प्रकार के कार्य करने चाहिए । राज्य को चाहिये कि व्यक्ति को ऐसे कार्य करने के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान करे जिनको कि वह कर सकता है । ऐसे कार्यों के मार्ग में आने वाले अवरोधों को राज्य के द्वारा दूर किया जा सकता है । राज्य जहा नैतिक विकास के लिए उपयुक्त समझे वहा उसे व्यक्ति के कार्यों मे हस्तक्षेप करना चाहिए । उपयुक्त अवसरों पर वह बल का प्रयोग भी कर सकता है । ये लोग सामाजिक प्रगति के मार्ग मे बाधक बनते है उसके लिए राज्य द्वारा दण्ड की व्यवस्था की जाती है ।

ग्रीन ने यह माना था कि राज्य नैतिकता को लागू नही कर सकता है । यह उसकी शक्ति की सीमा है । बलपूर्वक किसी व्यक्ति को नैतिक नही बनाया जा सकता है । हो सकता है कि राज्य दण्ड के माध्यम से चोरों को चोरी करने से रोक दे किन्तु वह ऐसा नही कर सकता कि लोग चोरी का विचार ही छोड़ दें । यह तो व्यक्ति की अन्तःप्रेरणा द्वारा ही हो सकता है । राज्य के द्वारा केवल यही किया जा सकता है कि वह श्रेष्ठ जीवन बिताने के लिए अनुकूल वातावरण एवं परिस्थितियां पैदा कर दे । इससे अधिक वह कुछ भी नही कर सकता और न ही उसे करना चाहिए । राज्य किसी भी व्यक्ति को बाध्य नही कर सकता कि वह रहन-सहन के निकृष्ट की अपेक्षा श्रेष्ठ तरीको को पसन्द करे ।

ग्रीन का कहना था कि "निषेधात्मक रूप से राज्य को बर्बरता, पशुता एव अज्ञानता आदि का निराकरण करके व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए

शिक्षा का उचित प्रबन्ध करना चाहिए। उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति की देखभाल करनी चाहिए मद्यपान को रोकना चाहिए तथा भिक्षावृत्ति को समाप्त कर देना चाहिये।" ये सभी कार्य आदि राज्य द्वारा न किये गये तो मनुष्य के विकास में बाधा आ सकती है। ग्रीन द्वारा वर्णित इन कार्यों के आधार पर बार्कर ने यह मत प्रकट किया है कि ग्रीन की धारणा के अनुसार राज्य का कार्य आवश्यक रूप से नकारात्मक है; वह उन बाधाओं को हटाने तक ही सीमित है जो कि मानवीय क्षमता को वह कार्य करने से रोकती हैं जो कि उसे करना चाहिये।

ग्रीन द्वारा वर्णित राज्य के कार्यों को बार्कर ने दो अर्थों में सकारात्मक माना है। प्रथम राज्य द्वारा निषेधात्मक कार्यों को सम्पन्न करने में सक्रिय होना पड़ता है। वह शक्ति का प्रयोग करके भी स्वतन्त्रता विरोधी शक्तियों का प्रतिकार करता है। दूसरे, राज्य का सर्वोपरि लक्ष्य भी सकारात्मक प्रकृति का होता है। इसके अनुसार वह सामान्य हित की प्रगति के लिए आत्म-निर्णय करने के हेतु मानव प्रतिभा को स्वतन्त्र करने का प्रयास करता है। ग्रीन ने राज्य का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य यह माना था कि इसके द्वारा विभिन्न संघो के पारस्परिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित किया जाता है। इसके द्वारा प्रत्येक समूह की आन्तरिक अधिकार व्यवस्था का सन्तुलन किया जाता है। एक समन्वयकारी सस्था के रूप में राज्य अन्य संस्थाओं से उच्च होती है।

ग्रीन के अनुसार राज्य समाजो का समाज होता है। यद्यपि विभिन्न समाज राज्य के द्वारा बनाये जाते हैं किन्तु वह उनके बीच समन्वय का महत्वपूर्ण कार्य करता है। ग्रीन ने माना कि राज्य और समाज यद्यपि परस्पर विरोधी नही है किन्तु फिर भी एक दूसरे से भिन्न है।

अन्य आदर्शवादी विचारक मि० बोसांके ने राज्य के सम्बन्ध मे अपना दार्शनिक सिद्धांत प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार राज्य का अपना निजी व्यक्तित्व होता है। राज्य के जन्म तथा इतिहास के अन्वेषण का राज्य के दार्शनिक स्वरूप से कोई सम्बंध नही है। बोसांके ने भी राज्य को एक नैतिक एवं प्राकृतिक संस्था माना। राज्य एक सर्वोच्च संस्था एव नैतिक कल्पना का प्रतीक है। उनके शब्दों में राज्य एक नैतिक विचार है क्योंकि यह सम्पूर्ण जीवन को अन्तिम कार्यवाहक मान्यता है।[1] बोसान्के ने प्रत्येक संस्था का एक निश्चित विचार अथवा उद्देश्य माना था। यह विचार उसकी सामान्य भावना होती है। राज्य का व्यक्तित्व अपने आपमें एक विचार है।

1. Bosanquet : The Philosophical-Theory of the State, P. 298.

बोसांके के कथनानुसार राज्य समस्त नागरिकों के समस्त मस्तिष्क का समन्वय रूप है। वैसे तो प्रत्येक संस्था सामूहिक मस्तिष्क के विचारों पर आधारित होती है, किन्तु राज्य एक बड़ी संस्था है और इसलिये उसके सामूहिक मस्तिष्क का क्षेत्र भी दूसरी संस्थाओं की अपेक्षा बड़ा होता है। अपने संकुचित अर्थ में राज्य शक्ति का प्रयोग करने वाला राजनैतिक संगठन मात्र है, इसके द्वारा समाज के लिये आवश्यक सभी प्रयत्नों को मान्यता प्रदान की जाती है। अपने व्यापक अर्थ की दृष्टि से राज्य एक सामान्य संगठन तथा जीवन का सम्वाद है जिसमें परिवार से लेकर व्यापार तक और व्यापार से लेकर चर्च तथा विश्वविद्यालय तक की संस्थाओं का समस्त पदसोपान सम्मिलित होता है। इन संस्थाओं के द्वारा जीवन निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार बोसांके ने सम्पूर्ण मानव जीवन को राज्य के अन्तर्गत माना। राज्य में मनुष्य-जीवन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। स्वयं बोसान्के के कथनानुसार राज्य से हमारा अर्थ एक इकाई के रूप में उस समाज से है जो कि निरंकुश भौतिक शक्ति से अपने सदस्यों पर नियन्त्रण रखती है।

बोसांके ने माना था कि राज्य समुदायों का समुदाय, संस्थाओं की संस्था और संघों का संघ है और इसलिये वह बल प्रयोग भी कर सकता है। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान करना है। ऐसा करने के लिये वह बल प्रयोग भी कर सकता है। राज्य का कार्य क्षेत्र सर्वव्यापी है। सच्ची स्वतन्त्रता केवल राज्य में ही रह सकती है। बोसान्के ने राज्य को सर्वोच्च नैतिकता का मूर्तिमान रूप मानकर उसकी तुलना में व्यक्ति को कम महत्व दिया। बोसान्के के राज्य सम्बन्धी विचार बहुत कुछ हीगल से मिलते हैं। इसने राज्य को नैतिकता से ऊपर माना। राज्य स्वयं एक अन्तिम नैतिक शक्ति है और इससे नागरिकों के अन्तःकरण का सरक्षण किया जाता है। व्यक्ति को राज्य के प्रति भक्ति भाव रखना चाहिए।

बोसांके ने ग्रीन की भांति यह माना था कि राज्य को अच्छे जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाना चाहिए। असल में राज्य शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए विधेयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कर सकता वरन् वह ऐसे जीवन की बाधाओं को हटा सकता है। बोसांके ने माना था कि यद्यपि राज्य के कार्यों का स्वरूप नकारात्मक सा प्रतीत होता है किन्तु अपनी वास्तविक क्रिया या अन्तिम उद्देश्यों की दृष्टि से वह विधेयात्मक बन जाता है। इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जाता है कि शिक्षा के प्रसार द्वारा अज्ञान को दूर करना और शराब के क्रय-विक्रय पर रोक लगा कर नशाबन्दी करना आदि कार्य नैतिक होने के कारण विधेयात्मक है। इनके द्वारा चरित्र के गुणों को स्वतन्त्र किया जाता है और इसलिए वे केवल निषेधात्मक नहीं कहे जा

सकते । इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि बोसाके द्वारा वर्णित राज्य के कार्यों का सिद्धान्त ग्रीन से मिलता-जुलता है । राज्य के कार्यों का महत्व एवं मूल्य केवल तभी होता है जबकि वे स्वतन्त्र इच्छा द्वारा निर्धारित किये जायें । राज्य व्यक्ति के अन्तःकरण को प्रभावित कर के उसे प्रत्यक्ष रूप से नैतिक नही बना सकता किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वह नैनिकता की वृद्धि के लिए कार्य कर सकता है ।

बोसांके एक अर्थ में ग्रीन से भिन्न है कि इन्होंने राज्य के कार्यों पर नैतिकता की सीमा नही लगाई । उनका विश्वास था कि राज्य से पृथक कोई नैतिक व्यवस्था नही होती । राज्य ही सम्पूर्ण नैतिक जगत का संरक्षक है । बोसांके के मतानुसार नैतिक सम्बन्धों के लिए एक संगठित जीवन आवश्यक है और ऐसा जीवन केवल राज्य मे ही संभव है ।

बोसांके ने व्यक्तिगत और सार्वजनिक कार्यों के बीच अन्तर स्पष्ट किया । उनका कहना था कि यदि एक व्यक्ति दूसरे की हत्या करता है तो यह एक व्यक्तिगत कार्य है और यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध युद्ध छेड़ दे तो इसे सार्वजनिक कार्य माना जायेगा । कार्यों के इन दोनों प्रकारों मे नैतिकता का स्तर अलग अलग होता है । बोसाके का कहना था कि व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर नीच कार्य कर सकता है किन्तु राज्य व्यक्तियों के नैतिक हित के उच्च आदर्श को ध्यान मे रख कर ही कार्य करता है । ऐसी स्थिति में यदि राज्य युद्ध भी छेड़ दे तो बुरा नही होगा । इसी आधार पर बोसाके ने युद्ध का समर्थन किया है । जहां तक व्यक्तिगत अपराधो का संबंध है उनमें समाज की कोई रुचि नहीं हो सकती ।

व्यक्ति इन कार्यों का उत्तरदायित्व राज्य के ऊपर नही डाल सकता । राज्य के द्वारा सार्वजनिक कार्य किये जाते है क्योकि वह जनता का रक्षक है । व्यक्तिगत आधार पर राज्य के कार्यों की आलोचना करना अनुचित है । उसे व्यक्तिगत अनैतिकता का अपराधी नही कहा जा सकता । राज्य की आलोचना केवल उन्ही कार्यो की दृष्टि से की जाती है जो कि वह अपने दायित्वो को पूर्ण करने के लिए करता है । राज्य यदि समाज के सक्रिय समर्थन से अनैतिक कार्य करता है तो वे निन्दा के योग्य है और मानवता तथा इतिहास के न्यायालय के सम्मुख उनका निर्णय किया जावेगा । व्यक्तिगत न्यायालय राज्य के कार्यों का निर्णय करने के लिए अनुपयुक्त है । राज्य के कार्य आलोचना के विषय बन सकते है किन्तु यह जरूरी नही कि उनका निर्णय व्यक्तिगत नागरिकों की भांति किया जाए । राज्य के अधिकारियो या विभिन्न अभिकरणों के द्वारा यदि कोई अनैतिक कार्य किया जावे तो उसके लिए राज्य को दोषी नही ठहराया जावेगा ।

आदर्शवाद के विभिन्न विचारकों द्वारा वर्णित राज्य के कार्यों एवं उद्देश्यों से सम्बन्धित विचारों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि आदर्शवादियों ने राज्य का मूल उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास एवं उसके व्यक्तित्व की पूर्णता को माना। यद्यपि इन विचारकों ने राज्य के कार्यों के भौतिक पहलू की अवहेलना नहीं की किन्तु फिर भी उसको अधिक महत्व नहीं दिया। राज्य के द्वारा ही व्यक्ति को नैतिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है, वही उसमें विभिन्न गुणों का सन्तुलित विकास करता है।

५

मार्क्सवाद

(MARXISM)

"ज्यों ही स्वाधीनता की सम्भावना होगी, राज्य अपने अस्तित्व का अन्त कर देगा।"

—ऐंजिल्स

आधुनिक साम्यवादी दर्शन के आदि प्रणेता, संस्थापक और व्याख्या-कर्त्ता कार्ल मार्क्स ने जो सिद्धात प्रकट किए उन्हें हम मार्क्सवाद की संज्ञा देते हैं। कालांतर मे मार्क्सवाद ने लेनिन, स्टालिन आदि ने अपने युग की आवश्यकताओं के अनुरूप मार्क्सवाद में संशोधन किए और उसे कुछ-कुछ एक नया जामा पहनाया। आधुनिक मार्क्सवाद या साम्यवाद-काल मार्क्स से अब तक के सिद्धांतों और संशोधनों का सयुक्त रूप है। प्रस्तुत अध्याय मे हम कार्ल मार्क्स के उन सिद्धांतों की संक्षिप्त विवेचना करेंगे जो उन्होने राज्य और समाज के बारे में प्रतिपादित किए और तत्पश्चात् यह संकेत देंगे कि मार्क्स के बाद उनके अनुयायियो ने मार्क्सवादी धारणा मे क्या परिवर्तन किये।

मानव इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या—एक घोर यथार्थवादी मार्क्स ने यह दृढ धारणा प्रकट की कि मानव जीवन जितना आर्थिक विचारों से प्रभावित होता है उतना अन्य किसी सामाजिक, नैतिक अथवा सांस्कृतिक समस्याओं से नही होता। मार्क्स के ही शब्दो मे—"मनुष्य जाति की प्रगति विचारों द्वारा न होकर आर्थिक परिवर्तनो द्वारा ही हुई है।" यदि हमें किसी भी ऐतिहासिक क्रांति का कारण ढूंढ़ना है तो उस देश अथवा राष्ट्र के राजा-महाराजाओं के इतिहास को पढने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि वहां की आर्थिक व्यवस्था का विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक है। मार्क्स के मत से समस्त मानवीय क्रियाकलापों की आधारशिला उत्पादन प्रणाली है। "इतिहास के प्रत्येक काल मे आर्थिक उत्पादन और विनिमय की प्रचलित प्रणाली सामाजिक संगठन वह आधार बनाते है जिसके ऊपर [illegible]

और केवल जिसके द्वारा ही उस युग के राजनैतिक और बौद्धिक जीवन की व्याख्या की जा सकती है।" मार्क्स ने निश्चित शब्दों में बताया कि जीवन के भौतिक साधनों की उत्पादित पद्धति, सामाजिक, राजनैतिक तथा भौतिक जीवन की सम्पूर्ण क्रिया निर्धारित करती है। मार्क्स ने विश्वास प्रकट किया कि उत्पादन और उत्पादन शक्तियों का विकास समानान्तर चलता रहता है तथा कृत्रिम साधनों द्वारा इस विकास को रोकने का प्रयत्न करने पर स्वाभाविक रूप से संकट उत्पन्न हो जाने का भय रहता है। इस प्रकार का संकट पूंजीवाद में उत्पन्न होता रहता है, किन्तु समाजवादी व्यवस्था में ऐसा संकट उत्पन्न नहीं होता क्योंकि तब उत्पादन लाभ के लिए नहीं बल्कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है।

यद्यपि मार्क्स की ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या अनेक कमियों की शिकार है किंतु यह मानना पड़ेगा कि मार्क्स ने सामाजिक संस्थाओं में आर्थिक कारकों पर बल देकर मानव समाज की महान् सेवा की है और इस तथ्य को प्रकट किया है कि इतिहास को बदलने में आर्थिक शक्तियों का योग सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा है। सेबाइन ने मार्क्स के इस चिंतन का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि मार्क्स के द्वारा की हुई इतिहास की आर्थिक व्याख्या के महत्व में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि उसने टेक्नोलाजी, आवागमन के साधन, कच्ची सामग्री के वितरण, सम्पत्ति के वितरण, सामाजिक वर्गों के निर्माण, प्राचीन और वर्तमान राजनीति, विधि और नैतिकता तथा सामाजिक आदर्शों के निर्माण में, आर्थिक शक्तियों के प्रबल प्रभाव पर प्रकाश डाला है।

समाज में वर्ग संघर्ष—इतिहास के भौतिकवादी अध्ययन द्वारा मार्क्स ने यह निर्णय किया कि समाज में आर्थिक विषमता के कारण सदैव से दो वर्ग रहे हैं—एक धनिक वर्ग और दूसरा श्रमिक अथवा सपत्तिहीन वर्ग। ये दोनों वर्ग आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं और परस्पर एक दूसरे को अपना शत्रु समझते हैं। मार्क्स ने यह भी कहा कि संघर्ष के द्वारा ही समाज का विकास होता है चूंकि संघर्ष से समाज की एक व्यवस्था समाप्त हो जाती है और दूसरी व्यवस्था उसका स्थान ग्रहण कर लेती है। पूंजीवादी युग में वर्ग संघर्ष बहुत ही स्पष्ट और तीव्र हो गया है तथा श्रमिक अपनी दशा सुधारने के लिए पूंजीपतियों के विरुद्ध क्रांति की गर्जना करते हैं। इस क्रांति के परिणामस्वरूप पूंजीवाद का विनाश हो जाना अवश्यम्भावी है। मार्क्स ने कहा कि पूंजीवाद अपने अन्दर ही विनाश के बीज छिपाए हुए है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत—दो वर्गों में चलने वाले सतत् संघर्ष का मूल कारण मार्क्स ने अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत (Theory of Surplus

Value) में व्यक्त किया। मार्क्स के अनुसार किसी वस्तु का अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों का अन्तर है जिन्हें एक मजदूर पैदा करता है और पाता है। मार्क्स ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन यह दिखाने के लिए किया कि पूंजीवादी प्रणाली में पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों का किस प्रकार शोषण किया जाता है। अतिरिक्त मूल्य की मुख्य बात यह है कि मानव श्रम जितना विनिमय मूल्य उत्पन्न करता है, श्रमिक उसके अनुपात में कम पारिश्रमिक प्राप्त करता है। मार्क्स के ही शब्दों में "श्रमिक के पास उत्पादन के साधन न होने से, उसके पास इस बात के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं होता कि वह अपने एक मात्र श्रम को पूंजीपति के हाथों बेच दे। पूंजीपति उसको केवल जीविका योग्य मजदूरी देकर सारा लाभ स्वयं ही हड़प कर लेता है।"

मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त पर प्रो० कोकर ने टिप्पणी करते हुए कहा है कि मार्क्स का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि इन अवस्थाओं (श्रमिकों का शोषण आदि) को समाप्त करने का एकमात्र उपाय है—व्यक्तिगत भाड़े, ब्याज तथा मुनाफे के सभी सुयोगों का सर्वनाश, और यह परिणाम केवल समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है जिसमें व्यक्तिगत पूंजी का स्थान सामूहिक पूंजी ले लेगी, न कोई पूंजीपति रहेगा और न मजदूर—सब व्यक्ति सहकारी उत्पादक बन जायेंगे।

जनतन्त्र का विरोध—मार्क्सवादी दर्शन का जनतन्त्र में कोई विश्वास नहीं है। उनके अनुसार जनतन्त्रीय संस्थाएं पूंजीपतियों की संस्थाएं हैं जिनसे श्रमिकों को कोई लाभ नहीं होता। मार्क्सवादी या साम्यवादी वर्तमान जनतन्त्रीय संस्थाओं को नष्ट करने के पक्ष में हैं। उनके मतानुसार जनतन्त्र में आम चुनाव, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, भाषण एवं प्रेस की स्वतन्त्रता आदि सब व्यर्थ हैं क्योंकि जनता को धोका देने के लिये ये पूंजीपतियों के यन्त्र हैं। वे जनतन्त्र को व्यापारिक सरकार कहकर पुकारते हैं जो वर्ग व्यवस्था को उत्साहित करती है और जिसमें उत्पादन के साधनों का प्रयोग सार्वजनिक कल्याण की अपेक्षा व्यक्तिगत लाभ के लिए होता है। मजदूरों की तानाशाही स्थापित करते समय भी वे जनतन्त्रीय संस्थायें प्रारम्भ नहीं करना चाहते। जो श्रमिक शासन कार्य में भाग ले रहे हैं, उनके अतिरिक्त समस्त श्रमिकों को वे शासन कार्य के बाहर रखना चाहते हैं। उन समस्त मनुष्यों को भी जिनका पूंजीपतियों से जरा भी सम्बन्ध होता है, वे शासन-कार्य से वंचित रखते हैं। मत देने का अधिकार भी वे केवल श्रमिक और शोषित वर्ग को देना चाहते हैं। वे एकमात्र श्रमिकों की तानाशाही में आस्था रखते हैं और उनके शासन का विरोध करने वालों को देशद्रोही समझते हैं। शासन का समस्त शक्ति साम्यवादी दल के हाथों में केन्द्रित होती है, अन्य

बताता है कि राज्य एक निगमात्मक समह (A corporate group) है जिसमें विभिन्न समूह अथवा वर्ग सबके कल्याण के लिए परस्पर सहयोग करते हैं। अरस्तु के शब्दों मे, "राज्य का जन्म ही जीवन के लिए हुआ है और सुखी जीवन के लिए ही उसका अस्तित्व है।"

लेकिन मार्क्सवादी सिद्धात राज्य के उक्त परम्परावादी सिद्धांत से सहमत नहीं है। मार्क्स का मत है कि राज्य सामान्य कल्याण या सर्व-कल्याण को अपना उद्देश्य समझने वाला समुदाय न कभी रहा है और न कभी हो सकता है। राज्य तो सदैव एक ऐसा सगठन रहा है और रहेगा जिसके द्वारा प्रधान आर्थिक वर्ग अन्य आर्थिक वर्गों के ऊपर शासन करता है और उनका शोषण करता है। मार्क्सवादी मान्यता यह है कि पूंजीवादी युग के आरम्भ से ही पूंजीवादी वर्ग का वर्तमान प्रतिनिधि राज्य की राजनीतिक शक्ति पर अपना अनन्य अधिकार जमा रखा है। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में कहा गया है कि आधुनिक राज्य की कार्यपालिका सभी पूंजीवादियों के एक सामान्य मामलो के प्रबन्ध के लिए एक समिति मात्र है। ऐन्जिल्स के अनुसार राज्य 'एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के दमन के लिए एक यन्त्र मात्र है।' मार्क्स और एन्जिल्स राज्य को प्लेटो तथा अरस्तू के समान स्वाभाविक समुदाय नहीं मानते है; उनके अनुसार राज्य का जन्म इतिहास की प्रक्रिया में उस समय होता है जब समाज दो गुटों में विभक्त हो जाता है जिनके हितों में कोई सामंजस्य स्थापित नही हो सकता। दूसरे शब्दों मे राज्य वर्ग संघर्ष की उत्पत्ति है, "यह आधार-भूत आर्थिक ढांचे अर्थात् उत्पादन के संबन्धों पर उत्पादन के भौतिक साधनों के स्वामियों द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए खड़ा किया हुआ ऊपरी ढांचा है।" मार्क्स और एन्जिल्स की यह दृढ़ मान्यता है कि राज्य का उद्देश्य, "प्रधान वर्ग को अधीनस्थ वर्गों का शोषण करने, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने और उसे चुनौती देने वाले समस्त विचारों को कुचलने की शक्ति प्रदान करता है। कानून और पुलिस की सारी मशीन और अंत मे राज्य सैनिक शक्ति पूंजीवादी वर्ग के उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण को सुरक्षित रखने के लिये ही है।"

मार्क्स ने यह विश्वास व्यक्त किया कि भविष्य में राज्य नही रहेगा और एक वर्गहीन तथा राज्य विहीन समाज की स्थापना होगी। श्रमजीवी वर्ग की विजय के फलस्वरूप जब पूंजीवादी संस्था के रूप में राज्य का विनाश हो जाएगा तो सार्वजनिक कार्यों का राजनैतिक स्वरूप जाता रहेगा और वे सच्चे सार्वजनिक हितों की देखभाल करने के लिये साधारण प्रशासकीय अभिकरण बन जायेंगे।

मार्क्स ने राज्य एवं पूंजीवादी समाज, वर्ग संघर्ष व श्रमिकों के शोषण का शीघ्रातिशीघ्र अंत करने के लिए क्रांति को सबसे अधिक उपयुक्त

किसी दल को साम्यवादी देश में रहने का अधिकार नहीं है। रूस में, जहां मार्क्सवादी दर्शन को सर्वप्रथम नियान्वित किया गया, आज भी केवल एक साम्यवादी दल की तानाशाही है और प्रजातन्त्र केवल एक दिखावा मात्र है।

धर्म में अविश्वास—मार्क्सवाद धर्म को प्रगतिशील विचारों के मार्ग में सबसे अधिक बाधक मानता है। उसके अनुसार धर्म ने सदा गरीब को अधिक गरीब और धनी को अधिक धनी होना सिखाया है, मनुष्य को भाग्य-वाद का प्रमाणपत्र देकर उसे निष्क्रिय तथा दासवृत्ति का बनाया है। शोषक वर्ग ने सदैव अपनी सामन्त-शाही को जीवित रखने के लिये धर्म का आश्रय लिया है। धर्म एक भाग्यवादी दर्शन है जिसने इतिहास और सभ्यता के स्वाभाविक विकास को रोका है। मार्क्स "धर्म को जनता की अफीम कहता है जिसे खाकर जनता ऊंघती रहती है।" मार्क्सवाद या साम्यवाद की स्पष्ट मान्यता है कि धर्म का नाम लेकर जनता का आर्थिक तथा राजनैतिक शोषण किया जाता है। राजनीति के क्षेत्र में साम्यवादी धार्मिक महन्तों और पादरियों आदि को एक भार-वर्ग या परजीवी वर्ग (Parasite class) मानते हैं जो दूसरों के श्रम पर जीता है इसीलिये मतदान का अधिकारी नहीं है। साम्यवादी रूस में इस धार्मिक वर्ग का अन्त कर दिया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद में विश्वास—मार्क्सवाद-साम्यवादी दर्शन अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद में विश्वास रखता है लेकिन यह अन्तर्राष्ट्रीयता पूंजीवादी अन्तर्राष्ट्रीयता से भिन्न है। पूंजीवादी अन्तर्राष्ट्रीयता का तात्पर्य है विश्व का संगठित शोषण जबकि साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीयता का उद्देश्य है विश्व के शोषितवर्ग को पूंजीवादी वर्ग से पददलित न होने देना। साम्यवादी मानते हैं कि श्रमिकों का कोई राष्ट्र या घर नहीं होता। विश्व के श्रमिकों के हित सामान्य हैं। समस्त संसार के श्रमिक वर्ग को एक मानकर उन्हें उपदेश देते हुए मार्क्स ने लिखा है, "संसार के श्रमिक वर्ग, तुम्हारी साम्यवादी क्रांति के सम्मुख शासक वर्ग हिलने लगेगा। इस क्रांति में तुम्हारे पास खोने के लिए कुछ नहीं है—केवल अपनी बेड़ियां हैं। प्राप्ति के लिए तुम्हें एक विशाल संसार है। समस्त देशों के मजदूरों एक हो जाओ।" इस अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा को बहुत कुछ राष्ट्रीय विचारधारा बनाने का श्रेय स्टालिन को है। उसने यह मत प्रकट किया कि साम्यवाद को पहले एक देश में पूर्णतः स्थापित हो जाना चाहिये और तब सम्पूर्ण देश में फैलना चाहिये।

राज्य सम्बन्धी धारणा—मार्क्स और एंजिल्स ने राज्य के परम्परा-गत अथवा प्राचीन सिद्धांत को अमान्य ठहराया। राज्य का परम्परागत सिद्धांत

बताता है कि राज्य-एक निगमात्मक समूह (A corporate group) है जिसमें विभिन्न समूह अथवा वर्ग सबके कल्याण के लिए परस्पर सहयोग करते हैं। अरस्तु के शब्दों में, "राज्य का जन्म ही जीवन के लिए हुआ है और सुखी जीवन के लिए ही उसका अस्तित्व है।"

लेकिन मार्क्सवादी सिद्धांत राज्य के उक्त परम्परावादी सिद्धांत से सहमत नही है। मार्क्स का मत है कि राज्य सामान्य कल्याण या सर्व-कल्याण को अपना उद्देश्य समझने वाला समुदाय न कभी रहा है और न कभी हो सकता है। राज्य तो सदैव एक ऐसा संगठन रहा है और रहेगा जिसके द्वारा प्रधान आर्थिक वर्ग अन्य आर्थिक वर्गों के ऊपर शासन करता है और उनका शोषण करता है। मार्क्सवादी मान्यता यह है कि पूंजीवादी युग के आरम्भ से ही पूंजीवादी वर्ग का वर्तमान प्रतिनिधि राज्य की राजनीतिक शक्ति पर अपना अनन्य अधिकार जमा रखा है। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में कहा गया है कि आधुनिक राज्य की कार्यपालिका सभी पूंजीवादियों के एक सामान्य मामलो के प्रबन्ध के लिए एक समिति मात्र है। ऐन्जिल्स के अनुसार राज्य 'एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के दमन के लिए एक यंत्र मात्र है।' मार्क्स और एन्जिल्स राज्य को प्लेटो तथा अरस्तू के समान स्वाभाविक समुदाय नहीं मानते हैं; उनके अनुसार राज्य का जन्म इतिहास की प्रक्रिया में उस समय होता है जब समाज दो गुटों में विभक्त हो जाता है जिनके हितो मे कोई सामजस्य स्थापित नहीं हो सकता। दूसरे शब्दो मे राज्य वर्ग सघर्ष की उत्पत्ति है, "यह आधार-भूत आर्थिक ढाचे अर्थात् उत्पादन के संबन्धों पर उत्पादन के भौतिक साधनों के स्वामियों द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए खड़ा किया हुआ ऊपरी ढांचा है।" मार्क्स और एन्जिल्स की यह दृढ़ मान्यता है कि राज्य का उद्देश्य, "प्रधान वर्ग को अधीनस्थ वर्गों का शोषण करने, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने और उसे चुनौती देने वाले समस्त विचारो को कुचलने की शक्ति प्रदान करता है। कानून और पुलिस की सारी मशीन और अंत में राज्य सैनिक शक्ति पूंजीवादी वर्ग के उत्पादन के साधनो पर नियंत्रण को सुरक्षित रखने के लिये ही है।"

मार्क्स ने यह विश्वास व्यक्त किया कि भविष्य में राज्य नहीं रहेगा और एक वर्गहीन तथा राज्य विहीन समाज की स्थापना होगी। श्रमजीवी वर्ग की विजय के फलस्वरूप जब पूंजीवादी सस्था के रूप में राज्य का विनाश हो जाएगा तो सार्वजनिक कार्यों का राजनैतिक स्वरूप जाता रहेगा और वे सच्चे सार्वजनिक हितों की देखभाल करने के लिये साधारण प्रशासकीय अभिकरण बन जायेंगे।

मार्क्स ने राज्य एवं पूंजीवादी समाज, वर्ग संघर्ष व श्रमिकों के शोषण का शीघ्रातिशीघ्र अंत करने के लिए क्रांति को सबसे अधिक उपयुक्त

मार्ग बताया। उसने कहा कि राज्य पूंजीवादी व्यवस्था में शोषक वर्ग की सहायता करता है और इस सहायता के लिए वह पूरी शक्ति तथा बल का प्रयोग करता है। अतः शक्ति और बल पर आधारित ऐसे राज्य का अंत तभी किया जा सकता है जब हम उससे अधिक शक्ति और बल का प्रयोग करें। मार्क्स ने कहा कि राज्य को समाप्त करने के लिए सबसे पहले उस पर पूंजीपतियों का आधिपत्य क्रांति के द्वारा समाप्त किया जाए और फिर जब तक पूंजीवादी तत्वों का पूर्णतया विनाश न हो जाय तब तक राज्य पर श्रमिकों का अधिनायकत्व (Dictatorship of the Proletariat) बना रहे क्योंकि उस शक्ति को प्राप्त करने से कोई फायदा नही जिसके छिन जाने का भय हो। मार्क्स ने यह भी बताया कि श्रमिको का अधिनायकत्व वर्गहीन समाज की स्थापना से पूर्व की संक्रांतिकालीन (Transitional) अवस्था है। उसने लिखा है कि "पूंजीवादी और साम्यवादी समाज के बीच एक का दूसरे में परिवर्तित होना क्रांतिकारी काल रहा है। इसके अनुरूप एक राजनैतिक संक्रांतिकाल भी होता है जो केवल क्रांतिकारी श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही हो सकता है।" मार्क्स ने यह निश्चित धारणा प्रकट की कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत राज्य मे वर्ग संघर्ष का अंत हो जाएगा और समाज मे सभी के स्वतन्त्र विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति का स्वतंत्र विकास आवश्यक शर्त होगी। जब राज्य वास्तव मे सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधि बन जाएगा और किसी प्रकार का वर्गभेद न रहेगा तो ऐसी अवस्था में राज्य की कोई आवश्यकता न रहेगी।

मार्क्स की राज्य सम्बन्धी धारणा की कुछ सामान्य विशेषताओं को वर्गीकृत करते हुए सर्व प्रथम यह कहा जा सकता है कि राज्य वर्ग संघर्ष की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति है। जब तक समाज मे दो वर्ग रहेंगे उस समय तक राज्य नाम की संस्था कायम रहेगी। राज्य सामाजिक वर्गों के पारस्परिक विरोधों में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकता वरन् वह इनको और बढ़ावा देता है। राज्य का अस्तित्व इस बात का प्रमाण है कि समाज में अभी वर्ग-भेद कायम है। दूसरे, राज्य की विभिन्न संस्थाएं केवल दिखावे के लिए ही सामान्य कल्याण के कार्य करती हैं, वास्तव में वे पूंजीवादियों के हितों की रक्षा के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती हैं। मजदूर वर्ग तो केवल इतना ही कर सकता है कि वह राज्य का निरन्तर विरोध करता रहे। तीसरे, राज्य वास्तव में एक दमनकारी समुदाय है। वह वर्ग-भेदों को बनाए रखता है और सामर्थ्यवान वर्ग के विशेष अधिकारों का समर्थन करता है।

राज्य के द्वारा यातायात, संचार व्यवस्था एवं ऐसे ही अन्य क्षेत्रों में जो कार्य किये जाते हैं वे देखने पर ऐसे लगते हैं मानो जनहित के लिए किये गये

हों, किन्तु वास्तव में उनका उद्देश्य धनहीन वर्ग का शोषण करना होता है। राज्य का वास्तविक स्वरूप उस समय ज्ञात होता है, जब कि वह श्रमिकों की हड़तालों तथा अन्य कार्यों को राज्यद्रोह के नाम पर कुचल देता है। चौथे, द्वन्दवाद के सिद्धान्त को अपनाते हुए मार्क्स ने यह मत प्रकट किया है कि भविष्य में राज्य नही रहेगा और एक राज्य विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी। जब समाज से वर्ग-भेद समाप्त हो जायेंगे तो राज्य की संस्था का कोई महत्व ही नही रहेगा क्योंकि उसका आधार वर्गहीन है। पांचवें, मार्क्सवादी सिद्धान्त प्रारम्भ में राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने को कहता है क्योंकि केवल तभी पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त किया जा सकता है। शत्रु को पूरी तरह से नष्ट करने के लिए यह जरूरी है कि पहले उसकी शक्ति के विभिन्न स्रोतों को समाप्त किया जाए और फिर स्वय उसको नष्ट कर दिया जावे। जब तक राज्य रहेगा तब तक वह पूंजीवाद के विरोध के लिए किये गये प्रत्येक प्रयास को अपनी शक्ति के माध्यम से कुचल देगा। ऐसी स्थिति में मार्क्सवादी विचारधारा का यह सुझाव है कि पहले मजदूर वर्ग को राज्य शक्ति पर नियन्त्रण कर लेना चाहिए। उसके बाद इस शक्ति का प्रयोग पूंजीपतियों को समूल नष्ट करने के लिए किया जाना चाहिए। पूंजीवादी राज्य के स्थान पर श्रमिकों की तानाशाही स्थापित होगी। यह श्रमिकों का राज्य केवल उस वर्ग के लिए तानाशाही होगा जो प्रतिक्रियावादी और बुर्जुआवादी विचारों से प्रभावित हैं। अन्य लोगों के लिए यह एक सच्चा प्रजातंत्र होगा। जब समाज से वर्ग भेद पूरी तरह समाप्त हो जायेगा तो वर्ग भेद पर आधारित राज्य नाम की संस्था अनुपयोगी बन जायेगी और उसे समाप्त कर दिया जावेगा।

प्रकट है कि राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे मार्क्सवादी विचार अनेक नवीनताओं से पूर्ण हैं। जब से राज्य बना तभी से वह एक वर्गीय संस्था रहा है और वर्गभेद मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही प्रचलित है, इसलिए राज्य का जन्म मानव सभ्यता के आदिकाल मे ही हुआ। इतने पर भी राज्य व्यक्ति के लिए स्वाभाविक नही है, क्योंकि व्यक्ति उसके बिना भी रह सकता है और रहेगा। लेकिन इससे पूर्व मानव सभ्यता का विकास उस स्तर तक पहुंच जाना चाहिए जहा किसी प्रकार का वर्ग भेद नही होता।

मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार राज्य का कार्य यह है कि वह जल्दी से जल्दी अपनी समाप्ति के लिए वातावरण तैयार करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो भी यह होकर रहेगा, क्योंकि इतिहास की गति को वह रोक नही सकता। मानव सभ्यता का विकास वर्ग भेद की समाप्ति की दिशा में अग्रसर हो रहा है जो कि राज्य की समाप्ति की दिशा है। यदि स्वय राज्य ने इस

गति को तेज बनाने में सहयोग न दिया अथवा मार्ग में बाधायें उत्पन्न की तो विकास की गति धीमी अवश्य हो जायेगी पर रुकेगी नही।

मार्क्स के राज्य विषयक विचारों की कटु आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि राज्य को एक वर्गीय संस्था मानना पक्षपातपूर्ण एवं तथ्यों के विपरीत है। मार्क्सवादी सिद्धान्त ने राज्य के पूर्ण तथा सच्चे स्वरूप पर विचार न करते हुए केवल रोगग्रस्त राज्य का ही अध्ययन किया। इतिहास में ऐसे उदाहरण खोजे जा सकते हैं जिनमें कि राज्य अथवा उसके विभिन्न पदाधिकारियों ने अपना व्यवहार संकुचित स्वार्थों के आधार पर संचालित किया। राज्य द्वारा कई बार वर्ग विशेष के हितों की पूर्ति के लिए भी प्रयत्न किया गया किन्तु इसके आधार पर एक सामान्य निष्कर्ष निकाल देना स्पष्टतः अवैज्ञानिक और दुराग्रह पूर्ण है। यह ठीक उसी प्रकार होगा जैसे कि यदि कोई पर्यवेक्षक चोरों तथा डाकुओं को देखकर यह निष्कर्ष दे कि मानव प्रकृति इसी प्रकार की होती है। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जहां शासकों ने न्यायप्रिय एवं उदार व्यवहार द्वारा जनता की सेवा करते हुए अपना सब कुछ बलिदान कर दिया।

मार्क्सवाद और लेनिन—मार्क्स के बाद भी साम्यवादी विचारधारा की गति जारी रही। सन् १६१७ की बोलशेविक क्रांति के बाद रूस ने लेनिन के नेतृत्व मे मार्क्सवाद को एक व्यावहारिक दर्शन का रूप देने का प्रयत्न किया। अन्यायपूर्ण जारशाही को समाप्त कर रूस में सर्वप्रथम एक सर्वहारा सरकार *(Proletariat Govt.) की स्थापना हुई। यद्यपि लेनिन के राजनीतिक विचार* बहुत कुछ मार्क्स जैसे ही रहे, लेकिन उसने उन विचारों में कहीं-कही पर आवश्यकतानुकूल संशोधन किये। दूसरे शब्दों में तत्कालीन रूस की परिस्थितियों को देखते हुए लेनिन ने अपने गुरू मार्क्स के सिद्धांतों को मूल रूप मे स्वीकार कर उन्हें परिस्थितियों के अनुकूल ढालने का प्रयत्न किया। वह युग समाजवाद का युग था, इसलिए कुछ लोग लेनिनवाद को साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति के युग के अनुकूल बनाया गया मार्क्सवाद कहते हैं।

लेनिनवाद भौतिकवाद है जो मार्क्स की ही भांति विचारों को पदार्थ का प्रतिबिम्ब मानता है और भौतिक सत्यता को वास्तविक सत्यता स्वीकार करता है। लेनिन का भौतिकवाद आध्यात्मिक भौतिकवाद नही है। उसके भौतिकवादी दार्शनिक भौतिकवाद से दूर हैं। लेनिन की मान्यता है कि जितनी भी वस्तुओं को हम देखते हैं उन सबका आधार पदार्थ है। पदार्थ के परिवर्तन के साथ हमारा आन्तरिक जीवन भी परिवर्तित होता है। लेनिनवाद के अन्य विचारों का सारांश निम्न है—

१. लेनिनवाद साम्यवाद की स्थापना के लिए प्रचन्ड और रक्तपात

पूर्ण क्रान्तियों का समर्थक है। पूंजीवाद से साम्यवाद की ओर जाने के लिए वह संवैधानिक तथा शान्तिपूर्ण साधनों को अनुपयुक्त मानता है। स्वयं लेनिन के शब्दों में 'क्रांति निस्सन्देह विश्व में सबसे अधिक शक्तिशाली वस्तु है। क्रान्ति वह कार्य है जिससे जनसंख्या का एक वर्ग अपनी इच्छा को दूसरे वर्ग पर राइफलों, संगीनो, बन्दूकों तथा अन्य इस प्रकार प्रतिरंजित शक्तिशाली साधनों से थोपता है।' स्पष्ट है कि लेनिनवाद साम्यवाद के हिंसात्मक पक्ष पर मार्क्सवाद से अधिक बल देता है।

२ लेनिनवाद के अनुसार प्रजातंत्र एक प्रपंचना मात्र है। प्रजातंत्र वर्ग व्यवस्था का परिणाम है। श्रमिको का लोकतन्त्र प्रचलित लोकतन्त्रों की अपेक्षा सैंकड़ों गुना अच्छा है। लेनिन ही के कथनानुसार 'पूंजीवादी समाज में हम ऐसा प्रजातन्त्र देखते है जो विकलांग है, निम्न कोटि का है और झूठा है। वह एक ऐसा प्रजातन्त्र है जो केवल धनिक वर्ग और एक अल्प समुदाय के लिए है।'

३. लेनिनवाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का प्रबल समर्थक है।

४. लेनिनवाद का उद्देश्य एक वर्गहीन और राज्यहीन समाज स्थापित करना है। लेनिन के अनुसार उस समाज मे कोई शोपक तथा शोपित नहीं हो सकता।

५. लेनिनवाद प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार वस्तुएं न मिलने के पक्ष में न होकर वस्तुओं का आवश्यकतानुसार वितरण चाहता है।

६. लेनिनवाद दर्शन मे धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है। धर्म श्रमिक वर्ग के हितों के विरुद्ध है। एक स्थल पर लेनिन ने लिखा था—"नैतिकता श्रमिकवादी वर्ग संघर्ष के हित के अधीन है। धर्म शोपक वर्ग को गरीबों का शोपण करने के लिए प्रोत्साहन देता है।" पुनश्च "धर्म की वास्तविक जड़ वह शक्ति है जो प्रत्येक कदम पर श्रमिकों और छोटे व्यापारियों के अचानक तथा असम्भावित विनाश और भूख के कारण मृत्यु का भय दिखा कर लोगों को भिक्षा, गरीबी वैश्यावृति कार्य स्वीकार करने के लिए वाध्य करती है।"

७. लेनिनवाद समाजवाद को पूंजीवाद की एकाधिकारी स्थिति मानता है। वित्त-निर्यात और उपनिवेशवाद को श्रमिकवाद से वह महत्वपूर्ण कारण बताता है। लेनिनवाद की मान्यता है कि पूंजीपतियो के विदेशों मे धन लगाने से निर्धनता और गुलामी पनपती है। लेनिन के आलोचक यद्यपि उसके साम्राज्यवादी सिद्धांत की कटु आलोचना करते हैं, परन्तु उसमें वस्तुतः काफी सत्यता है।

इस तरह हम देखते हैं कि लेनिनवाद की प्रधानतः ३ बातें इसे मार्क्सवाद से भिन्न करती हैं—

१. लेनिनवाद साम्यवाद के क्रांतिकारी पक्ष पर अधिक बल देता है।

२. लेनिनवाद मार्क्सवाद को रूस की परिस्थितियों में ढालता है।

३. लेनिनवादी मार्क्सवाद को एक समीचीन विचारधारा बताते हैं।

बीसवीं शताब्दी के क्रान्तिकारी विचारों में लेनिन का नाम सबसे ऊपर आता है। आज का साम्यवादी दल लेनिन को साम्यवाद का मूल पथ-प्रदर्शक मानता है। स्वर्गीय श्री नेहरू ने लेनिन की प्रशंसा में अपने ग्रन्थ "विश्व इतिहास की झलक" में लिखा है कि—"लेनिन को मरे हुए बहुत वर्ष नहीं हुए। लेनिन एक शक्तिशाली परम्परा के रूप में केवल अपने देश रूस में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व में उदय हो चुका है। लेनिन भव्य इमारतों तथा चित्रों में निवास नहीं करता, वह उन शक्तिशाली कार्यों में निवास करता है जो उसने किये हैं।" सेबाइन के शब्दों में "लेनिन किसी सुनिश्चित और सुसगठित राजनीतिक अथवा सामाजिक विचारधारा का प्रवर्तक नहीं था आधुनिक रूस का जन्मदाता है।"

मार्क्सवाद और स्टालिन

१६२४ में लेनिन की मृत्यु के बाद स्टालिन ने साम्यवादी रूस का नेतृत्व संभाला। उसके काल में साम्यवादी विचारधारा के विकास का क्रम जारी रहा। स्टालिन का देहावसान १६५३ में हो गया, लेकिन तब तक उसने रूस को संसार का द्वितीय श्रेणी का राष्ट्र बना दिया और विश्व के सभी देश शक्ति और समृद्धि के पथ पर बढ़ते हुए साम्यवादी रूस का लोहा मानने लगे। स्टालिन के समय में रूस ने सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व व्यक्तिगत अधिनायकत्व में परिवर्तित हो गया। स्टालिन ने साम्यवादी दल में नौकरशाही की मनोवृत्ति को अधिक विकसित किया और साम्यवादी दल के सगठन में अनेक नये परिवर्तन किये। रूस मे केन्द्रीयकरण को इसके द्वारा और अधिक बल प्राप्त हुआ। वर्तमान १६३६ का सोवियत सविधान स्टालिन की ही देन है। मार्क्सवाद और लेनिनवाद को उसकी सबसे बड़ी देन है—"एक देश मे साम्यवाद" का सिद्धांत है। यह सिद्धांत लेनिन और मार्क्स की अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी क्रान्ति के विपरीत है। स्टालिन ने यह विचार प्रतिपादित किया कि यदि साम्यवादी क्रांति को पहले रूस मे सफल बना लिया जायेगा तो अन्य देश भी इससे प्रेरित होकर इसे अपना लेंगे। स्टालिन ने यह दृढ़ विश्वास व्यक्त किया कि रूस की आर्थिक स्थिति को बिना दृढ़ किये हुए कोई भी

साम्यवादी विचारधारा अथवा व्यवस्था नहीं पनप सकती। सम्पूर्ण विश्व में एक साथ साम्यवादी क्रांति कभी भी सम्भव नहीं हो सकती। वास्तव में स्टालिन एक दृढ राष्ट्रीयतावादी था और इसीलिए यह मानता था कि साम्यवाद को सफल बनाने के लिए अथवा क्रियान्वित करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसे विश्व क्रांति अथवा विश्वव्यापी विचारधारा का रूप दिया जावे। इसीलिए उसका अपने प्रतिस्पर्धी ट्राट्सकी से विरोध हो गया था जो प्रकट रूप में साम्यवाद की जड़े मजबूत बनाने से पहले उसे विश्वव्यापी विचारधारा के रूप में देखना चाहता था। स्टालिन का मत था कि साम्यवाद की असली उन्नति तभी होगी जब रूसी साम्यवादी कुछ समय के लिए विश्व के रंग-मंच से अपनी दृष्टि हटाकर रूस पर ही केन्द्रित रखेंगे। यह उल्लेखनीय है कि बाद में स्टालिन भी अन्तर्राष्ट्रीयवादी बन गया और "साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय" (Communist International) द्वारा उसने मार्क्सवाद को एक विश्वव्यापी सिद्धान्त बनाने के लिए यत्न भी किये।

ख्रुश्चेव तथा बाद के रूसी नेता

स्टालिन की मृत्यु के बाद साम्यवादी विचारधारा ने एक नया मोड़ लिया। साम्यवादी दल का नियन्त्रण निकिता ख्रुश्चेव के हाथो में आ गया। उसके नेतृत्व में साम्यवाद का "सशोधनवाद" (Revisionism) प्रारम्भ हुआ। ख्रुश्चेव ने उदारवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए सार्वजनिक रूप से सहअस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया और अमेरिका के साथ सहयोग की नीति अपनायी। विश्व की राजनीति पर ख्रुश्चेव के संशोधनवाद और सहअस्तित्व की नीति का गहरा प्रभाव पड़ा। इस नीति के कारण एक ओर तो अमेरिका और रूस आपस में कुछ निकट आये तथा दूसरी ओर साम्यवादी खेमे में फूट पड़ गई एवं साम्यवादी चीन रूस का प्रबल विरोधी बनकर सामने आया। यह विश्वास किया जाता है कि रूस में ख्रुश्चेव का पतन साम्यवादी खेमे के इन दो महान् राष्ट्रों के मतभेद के कारण ही हुआ।

ख्रुश्चेव के बाद रूस के वर्तमान प्रधानमन्त्री कोसीजिन ने "सामूहिक नेतृत्व" (Collective Leadership) का आरम्भ किया। यद्यपि रूस के वर्तमान नेता भी सहअस्तित्व के प्रति विश्वास व्यक्त करते रहे है और ख्रुश्चेव के समय की उदारवादी नीति पर चलते रहे है, लेकिन यह भविष्य ही बतायेगा कि ख्रुश्चेव द्वारा प्रारम्भ किया हुआ 'सशोधनवाद' कहा तक ठीक पाया था। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि रूस का वर्तमान नेतृत्व स्टालिन को फिर से महत्व देने लगा है। साम्यवाद के प्रसार और प्रचार मे रूस और चीन की मित्रता अथवा दोनों के पारस्परिक मतभेद एक निर्णायक भूमिका अदा कर सकते है।

मार्क्सवाद और माओत्सेतुंग

सन् १९४९ तक साम्यवादी जगत में सोवियत रूस की ही सर्वोपरिता थी और आज भी है लेकिन फिर भी १९४८ के बाद साम्यवादी चीन के रूप में एक नये प्रबल साम्यवादी राष्ट्र का जन्म हुआ है जो सैद्धान्तिक सघर्ष और अपना प्रभाव विस्तार में सोवियत रूस से खुलकर प्रतिस्पर्धा करने लगा है। चीन की साम्यवादी विचारधारा का सूत्रपात और चीनी साम्यवादी दल का कर्णधार माओत्सेतुंग है जिन्होंने मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों को चीन की परिस्थितियों के अनुसार सशोधित किया है। जिस प्रकार लेनिनवाद मार्क्सवाद का रूसी सस्करण था, उसी प्रकार माओवाद भी मार्क्सवाद का प्रकारान्तर है। माओ भी इस परिवर्तन को मार्क्स के सिद्धांतों के अनुकूल ही समझता है क्योंकि उसके अनुसार 'यदि हम चीन की परिस्थितियों के अनुकूल एक सिद्धात का निर्माण नही करेंगे—एक ऐसे सिद्धांत का जो हमारी आवश्यकताओं और निश्चित प्रकृति के अनुरूप न होगा, तो हमे अपने आपको मार्क्सवादी विचारक कहना एक उत्तरदायित्व हीनता होगी।' माओ ने भी लेनिन की भांति क्रांति के लिये साम्यवादी दल और विशेष रूप से उसके बुद्धिजीवी वर्ग को महत्व दिया है। माओ ने सामन्तवाद, पूंजीवाद और साम्यवाद पर कठोर प्रहार किये है, परन्तु उसकी मुख्य-मुख्य सफलता किसानों की दशा मे महत्वपूर्ण सुधार लाना है। माओ ने मार्क्स के इतिहास की आर्थिक व्याख्या और वर्ग सघर्ष के सिद्धातो को स्वीकार करते हुए कृषक वर्ग को महत्व दिया है, रूस की भांति श्रमिक वर्ग को नही। उसने कृषकों की दशा सुधारने के लिए सामूहिक फार्मो की व्यवस्था की है। कम्यून (Commune) और सांस्कृतिक क्रांति (Cultural Revolution) माओ की मुख्य देन है। कम्यून उद्योगों मे मजदूरों के सामूहिक सगठन है। इनमें रहने वालों को सामूहिक जीवन बिताना पड़ता है। सांस्कृतिक क्रांति द्वारा देश में नये सिरे से साम्यवाद का प्रचार किया जाता है। चीन में विचारों की यांत्रिक एकरूपता कायम करने के लिये 'मस्तिष्क शुद्धि' (Brain washing) का तरीका अपनाया गया है। माओ ने देश के विभिन्न वर्गों को साम्यवादी दल में शामिल कर सर्वहारा वर्ग की प्रभुता के पुराने विचार की प्रभुता को 'वर्गों के सहयोग की दिशा' में सशोधित कर दिया है।

मार्क्सवादी विचारधारा की तरह माओ यह मानता है कि राज्य शासन वर्ग के हाथ में एक दमन यन्त्र है। उसके अनुसार भी साम्यवादी दल शक्ति प्राप्त करने के बाद राज्य की शक्तियों का प्रयोग पूंजीपतियो का नाश करने के लिये करेगा। राज्य केवल साम्यवादियों को ही यह अधिकार देगा,

गैर साम्यवादियो को नही । इसीलिए माओवाद साम्यवादियों के प्रजातन्त्र तथा गैर साम्यवादियो के लिये अधिनायकतन्त्र कहा जाता है। माओ के नेतृत्व में चीनी सरकार ने विरोधियो का अन्त करने के लिये कठिन तरीके अपनाये है, फिर भी वहा पर विरोधियो को अपने में मिलाने की नीति अपनाई गई है। साम्यवादी दल में मजदूरो और किसानो के अतिरिक्त माध्यम वर्ग तथा देश भक्ति सम्पन्न व्यक्तियो को सम्मिलित किया गया है और इस तरह 'वर्गों के सहयोग' को प्रोत्साहन दिया गया है।

माओ के अनुसार पूंजीवादी और समाजवादी दोनों ही प्रकार की व्यवस्थाओं में अन्तर्विरोध (Inter-contradiction) है, किन्तु इनके अन्तर्विरोधों मे एक आधारभूत अन्तर है। वह यह है कि पूंजीवाद के अन्तर्विरोध का अन्त तो केवल युद्ध और क्रांति द्वारा ही हो सकता है, किन्तु समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोध शांतिपूर्वक दूर किए जा सकते है। माओ की यह मान्यता है कि चीन मे मजदूर वर्ग और राष्ट्रीय मध्यम वर्ग मे सघर्ष चल रहा है, लेकिन इसका शांतिपूर्ण ढंग से हल निकल सकता है।

माओ का विश्वास है कि सेना को असैनिक सत्ता के अधीन होना चाहिए। माओ के नेतृत्व मे चीनी साम्यवादी अपने आपको आदिम मार्क्सवादी लेनिनवादी मानते है। वे अपने दल को "ऐतिहासिक मुक्ति का ऐजेंट" और सर्वाधिकारवाद को "लेनिनवादी धारणा की निहित प्रवृत्ति" मानते है। माओवाद युद्ध और क्रांति द्वारा पूंजीवाद के विनाश में विश्वास करता है। उसने विस्तार की नीति को अपनाया है। भारत पर चीनी आक्रमण माओ की इसी विस्तारवादी नीति का द्योतक है।

यद्यपि चीन और रूस दोनों साम्यवादी राष्ट्र है किन्तु दोनों ही आज मैत्री-पथ से दूर हैं। दोनो के मध्य सैद्धांतिक समानता होने के कारण प्रारम्भ में सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ थे, लेकिन ख्रुश्चेव के उदय के बाद दोनों देशों के मध्य सैद्धांतिक सघर्ष निरन्तर उग्र होता गया है। सोवियत रूस का विचार है कि आज की विश्व राजनीति मे साम्यवाद को प्रजातन्त्रात्मक तरीकों से लाने का प्रयास किया जाना चाहिए। रूस मे यह विचार पनप रहा है कि भिन्न विचारधारा, भिन्न राजनीति प्रणाली तथा भिन्न सामाजिक और आर्थिक ढाचा होते हुए भी वह दूसरे देशों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रख सकता है। किन्तु साम्यवादी चीन रूस को वर्तमान सहअस्तित्व और सहिष्णुता की नीति को कायरता का नाम देता है और इसके मार्क्सवाद लेनिनवाद के प्रति गद्दारी मानता है। साम्यवादी चीन परम्परागत और पुराने साम्यवादी तरीकों में विश्वास करता है तथा आन्दोलन को सफल बनाने के लिए संघर्ष की निरंतरता पर जोर देता है।

आज ऐसा लगता है कि माओ-त्से-तुङ्ग की शक्ति चीन में ह्रास की ओर है। उसकी कम्यून और सांस्कृतिक क्रांति की योजना असफलता के मार्ग पर अग्रसर हो रही है। चीन में चल रहे आन्तरिक झगड़ों ने माओ की स्थिति को डांवाडोल बना दिया है।

आलोचना व मूल्यांकन

मार्क्सवाद की आज के युग मे शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से कठोर आलोचना हुई है। यद्यपि आलोचक स्वीकार करते हैं कि वह पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध एक शक्तिशाली प्रतिक्रिया है, यह श्रमिकों के अस्तित्व को महत्वपूर्ण बनाने वाला एक क्रांतिकारी आंदोलन है तथा इसने भौतिकवाद को अपनाकर धार्मिक पाखण्डों और आध्यात्मिक विश्वासों को एक अच्छा प्रत्युत्तर दिया है, तथापि वे इसे एक हीन और अत्यन्त दोषपूर्ण विचारधारा मानते है। वे एक सर्वाधिकारवादी दर्शन कहकर इसकी भर्त्सना करते है। इसके आलोचक इसे एक अमानवीय, एकाकी और अव्यावहारिक दर्शन कह कर अस्वीकार करते है।

(१) आलोचकों का आक्षेप है कि मार्क्सवाद-साम्यवाद जीवन के आर्थिक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल देकर मनुष्य को केवल आर्थिक प्राणी के स्तर पर ले आता है। यद्यपि आधुनिक जीवन में आर्थिक तत्व का बहुत मूल्य है, लेकिन उसे जीवन का एक मात्र तत्व स्वीकार नही किया जा सकता। मानव जीवन का अर्थ और मूल्य केवल रोजी-रोटी कमाने तक सीमित करना किसी भी दृष्टि से उचित नही कहा जा सकता। मानव जीवन में आर्थिक तत्व के समान ही मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि तत्व भी महत्वपूर्ण है, बल्कि ये तत्व आर्थिक प्रभाव से भी अधिक शक्तिशाली है। यदि ऐसा न होता तो प्रेम और देश के नाम सर्वस्व होम कर देने वालो की कहानिया ससार भर के इतिहास मे ढूढे न मिलती।

(२) मार्क्सवाद वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्धात है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति पूरे समाज का दास बन जाता है, उसके प्रत्येक कार्य पर राज्य का अंकुश रहता है। व्यक्ति को वही कहना और करना पड़ता है जो साम्यवादी दल अथवा शासन उसे कहने व करने को कहे।

(३) इतिहास ऐसे कोई ठोस एवं स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत नही करता जिससे यह प्रमाणित हो सके कि समाज मे निरन्तर वर्ग-युद्ध चलता रहा हो। शाश्वत वर्ग-युद्ध का यह सिद्धात यथार्थ की अपेक्षा काल्पनिक अधिक होने के साथ-साथ एक निराशावादी विचार है जो समाज मे पारस्परिक स्नेह एवं विश्वास के भावों को नष्ट बनाता है।

(४) मार्क्सवाद राज्य को एक वर्ग संगठन बना देता है जिसका प्रयोग हिंसक उपायों द्वारा पूंजीपतियों का विनाश करना है। राज्य को इस प्रकार केवल एक शोषण का यन्त्र मान लेना अथवा बना देना बुद्धि का दिवालियापन है। राज्य एक लोक कल्याणकारी संस्था है जो वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्ग-सहयोग की प्रतीक है। राज्य एक नैतिक संगठन है और मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का महत्वपूर्ण माध्यम है। यह स्वतन्त्रता का पोषक है और मानवीय अधिकारों का रक्षक।

(५) मार्क्सवाद राज्य को एक अस्थाई संस्था मानता है जो समाज में से विशेष हितों की समाप्ति के उपरांत स्वयं समाप्त हो जायेगा। लेकिन राज्य विहीन समाज की कल्पना केवल कल्पना है। सोवियत रूस का अनुभव स्वयं यह प्रमाणित करता है कि वहां राज्य निरन्तर पराभव (अवनति) की ओर नहीं अपितु विकास की ओर जा रहा है। राज्य की शक्ति वहां नित्य प्रति बढ़ती जा रही है। आलोचकों का कहना है कि वर्ग भेद तो मानव-प्रकृति में अङ्कित है जिसे मिटा पाना असंभव है।

(६) मार्क्सवाद का यह विश्वास गलत है कि प्रत्येक समाज का विकास द्वन्द्वात्मक रूप से हुआ है। मार्क्स का यह कथन इतिहास द्वारा असत्य सिद्ध होता है कि समाज के विकास में सामन्तवाद के बाद पूंजीवाद और पूंजीवाद के बाद साम्यवाद का आविर्भाव होता है। स्वयं रूस के इतिहास से भी यह घटित नहीं होता। रूस एक कृषि प्रधान देश था जहां पूंजीवादी व्यवस्था के स्थान पर सामन्तवादी प्रथा थी और बिना पूंजीवाद के आगमन के ही वहां साम्यवाद आ टपका। चीन में भी साम्यवाद की स्थापना मार्क्स की मान्यता के प्रतिकूल है।

(७) मार्क्सवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व और स्वतन्त्रता को समाज के हित के समक्ष कोई मूल्य नहीं देता। साम्यवादी व्यवस्था में व्यक्ति की लघुतम क्रियाओं पर भी राज्य का बन्धन है। व्यक्ति की स्थिति इस व्यवस्था में उस मशीन की भांति हो जाती है जो अपने दिल और दिमाग का स्वेच्छानुकूल प्रयोग नहीं कर सकती। इस तरह साम्यवादी समाज एक सार्वाधिकारवादी समाज है।

(८) मार्क्सवाद अथवा साम्यवाद अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये क्रांतिकारी, हिंसक एवं सर्वथा अमानवीय साधनों का आश्रय लेता है। आदर्श की प्राप्ति के लिये साधनों की उत्तमता में इस दर्शन का विश्वास नहीं है। इसलिये यह दर्शन स्वतः हीन एवं मानवीय स्तर से गिरा हुआ है। पुनः साम्यवाद यह भूल जाता है कि हिंसा और क्रांति से मानव-इतिहास में न कभी

चिरस्थाई शांति स्थापित हुई है और न कभी हो सकती है। साम्यवाद यह भी भूल जाता है कि 'पवित्र से पवित्र उद्देश्य भी घृणित तरीकों द्वारा पाये जाने पर भ्रष्ट हो जाता है।' हिंसा और क्रांति का पाठ पढ़ने वाला श्रमिक वर्ग अपने जीवनकाल में सीखे हुए पाठ को भुला सकेगा—यह विचार हास्यप्रद है।

(६) साम्यवादियो के इस विश्वास को आलोचक उपहास की दृष्टि से देखते है कि पूंजीवादी व्यवस्था मे अनिवार्यतः पूंजी का केन्द्रीकरण होता है और समाज के विकास मे बड़े पूंजीपति छोटे पूंजीपतियो को उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जिस प्रकार बडी मछली छोटी मछलियों को खा जाती है। आज तक का इतिहास यही सिद्ध करता है कि बड़े पूंजीपतियों के साथ-साथ छोटे पूंजीपति भी सुगमता से पनप सकते है। अनुभव बताता है कि बड़े पूंजीपति, छोटे पूंजीपति और मध्यम वर्ग सब साथ-साथ रहते हैं। आधुनिक समाज की मांग शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व है। पुनः साम्यवादियों का यह कहना भी गलत है कि पूंजीवाद की वृद्धि के साथ गरीब अधिक गरीब होता है और धनिक अधिक धनी। अमेरिका, कनाडा, पश्चिम जर्मनी आदि पूंजीवादी देशों में श्रमिकों की आर्थिक दशा किसी भी दृष्टि से हीन नही कही जा सकती जबकि उनकी तुलना मे साम्यवादी देशों के श्रमिको की आर्थिक दशा कई गुनी खराब है।

(१०) मार्क्सवाद का यह नारा कि 'श्रमिक पूंजीवाद के विरुद्ध निश्चित रूप से जीतेंगे' भ्रामक है। पूंजीवाद की नींव इतनी कमजोर नहीं है जितनी साम्यवाद बताता है। फिर यह आवश्यक नही है कि अन्तिम जीत श्रमिको की ही हो। साथ ही यह भी निश्चित नही है कि जीतने पर सत्ता श्रमिक-प्रतिनिधियों को ही मिले। इटली मे श्रमिको की जीत होते हुए भी सत्ता ऐसे व्यक्तियों के हाथ मे गई थी जो पूंजीवाद को जीवित रखना चाहते थे। मुसोलिनी की विजय के परिणामों पर साम्यवादी पर्दा नही डाल सकते।

(११) मार्क्स का धर्म को जनता की अफीम कहना धर्म के महत्व को भुलाना है। यदि धर्म और आध्यात्मिकता निरा-पाखण्ड ही हो तो इसके द्वारा मनुष्यों को तृप्ति का अनुभव क्यों होता है?

मूल्यांकन

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद भी इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि मार्क्सवादी दर्शन मूल्यहीन नहीं है बल्कि आधुनिक युग की महत्तम प्रभावशाली विचारधारा है। असन्तुलित एवं असहिष्णु होते हुए भी मार्क्सवाद-साम्यवाद आज पूंजीवाद द्वारा पीड़ित मानवता के लिए एक बड़ा आकर्षण है और पूंजीवादी व्यवस्था के मुकाबले अनेक दृष्टियों से अधिक अच्छा है।

मार्क्सवादी दर्शन के उपयोगी एवं आकर्षक होने का सर्वाधिक ज्वलंत एवं सत्य प्रमाण यही है कि आज आधे से अधिक विश्व उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर चुका है और दिन प्रतिदिन यह एक सक्रामक रोग की भांति फैलता जा रहा है। मार्क्सवाद एक आर्थिक राजनैतिक दर्शन है जो राजनैतिक समस्याओं को उनकी जड से पकड़ता है। आधुनिक जीवन की अधिकाश समस्याए प्रधानतः आर्थिक है और उन्हें हल करने का दृष्टिकोण भी आर्थिक ही होना चाहिये। साम्यवाद आर्थिक समस्याओं को आर्थिक ढांचे के प्रकाश मे देखने का प्रयत्न करके यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। मार्क्सवादी दर्शन बदनाम इसलिये अधिक किया जाता है कि यह आज की पू जीवादी व्यवस्था के दुर्गुणों पर ठीक-ठीक प्रकाश डालता है। पू जीवाद स्वतन्त्रता के नाम पर असमानता और शोषण का पोषक है-इसमे कोई भी विवेकशील व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। हम इस तथ्य से भी नही मुकर सकते कि आज समाज में एक वर्ग-युद्ध विद्यमान है। हमे निरन्तर दो वर्गो में संघर्ष की कहानियाँ और घटनाएं पढ़ने, सुनने व देखने को मिलती हैं—इनमे से एक वर्ग है विलासिता में मस्त विशाल पू जी एव ऐश्वर्य साधनों का स्वामी पू जीपति वर्ग और दूसरा है जीर्ण-शीर्ण चिथड़ो मे अपनी काया समेटे अधभूखा मिल मजदूर या रिक्शे वाला या अन्य कोई कारीगर वर्ग। यदि यह असमानता नहीं है तो क्या है? यदि यह मानवीय मूल्यों का उपहास नहीं है तो क्या है? यदि यह वर्ग-भेद नहीं है तो साम्यवाद के आलोचक यह बताने का कष्ट करें कि फिर यह है क्या? साम्यवाद इन्ही कटु सत्यों का उद्‌घाटन करता है और पूंजीवाद की इन बुराइयों से निर्दयता पूर्वक जूझना चाहता है, इसलिए यह अप्रिय है, आलोचना का पात्र है। रोग को मिटाने वाली कड़वी दवा से भी लोग आखिर घृणा ही करते है! यदि हम इन सब बातो पर गम्भीरता से सोचें तो मार्क्सवादी या साम्यवादी दर्शन पू जीवादी दर्शन से निश्चय ही कही अधिक श्रेयस्कर है। साम्यवादी देश अल्पकाल में ही अपने समाज की काया पलट करके विकास के किस छोर तक पहुंच सकता है, यह सोवियत रूस को देख कर स्पष्ट ही मालूम हो सकता है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त वास्तव में एक गम्भीर और नग्न सत्य है जिसे हमे न चाहते हुए भी स्वीकार करना पड़ता है। यह सिद्धान्त चुनौती से परे है।

६

व्यक्तिवाद
(INDIVIDUALISM)

राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों में व्यक्तिवादी सिद्धान्त परम महत्वपूर्ण है। यह एक राजनीतिक दर्शन है जो १८वीं शताब्दी में यूरोप की राजनीतिक विचार-धारा का केन्द्र-विन्दु था। "समाज अथवा राज्य व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति राज्य के लिए"—इस नारे को लेकर आगे बढ़ने वाले व्यक्तिवादियों ने राज्य की महत्ता का खण्डन किया। उन्होने आदर्शवादियो के सर्वाधिकारवादी राज्य मे एक कोने मे पडे हुए व्यक्ति के महत्व एवं माग की समाज मे फिर से प्रतिष्ठा की।

ऐतिहासिक दृष्टि से व्यक्तिवाद का उदय १८वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुआ था। प्राचीन काल की व्यवस्था के वन्धनों के कारण इसकी उत्पत्ति हुई, क्योंकि प्राचीनकाल का व्यक्ति जाति–पाति, धर्म, समाज आदि के नाना प्रकार के बन्धनो से बधा हुआ था। उस काल में बन्धन श्रेयस्कर समझे जाते थे किन्तु समय की गति के साथ-साथ व्यक्तियों की आस्थाओ में परिवर्तन आया और उन्होंने अपनी उस प्राचीन स्थिति से छुटकारा पाने का यत्न किया। इन प्रयत्नों को सफल बनाने में बुद्धिवादी आन्दोलन, औद्योगिक क्रान्ति एव धार्मिक–सुधार–आन्दोलनो ने बड़ी सहायता की। बुद्धिवादी आन्दोलनो ने व्यक्ति को तर्क के आधार पर सत्य को मानने को वाध्य किया और उन सस्थाओ की कटु आलोचना की जिनके बन्धन व्यक्ति के विकास मे वाधक थे। औद्योगिक क्रान्ति, प्राचीन आर्थिक व्यवस्था मे परिवर्तन लाई। इस क्रान्ति के फलस्वरूप कार्य करने की भावना का उदय हुआ और यह मान्यता स्थापित हुई कि व्यक्ति के कार्यों मे हस्तक्षेप न किया जाय। धार्मिक सुधार आन्दोलन ने व्यक्ति के ऊपर से धार्मिक बन्धनों को उतार फेंका।

इन सबके फलस्वरूप व्यक्तिवाद पनपता गया और राजनीति-शास्त्र का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त बन गया। जॉन स्टुअर्ट मिल, एड्मस्मिथ, रेकार्डो,

स्पेंसर आदि नेताओं और विचारकों का समर्थन पाकर यह १८वीं शताब्दी का एक प्रसिद्ध राजनीतिक दर्शन बन गया।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की व्याख्या

व्यक्तिवादी सिद्धान्त समाज और राज्य के कार्यक्षेत्र का सिद्धान्त है। व्यक्तिवादी सिद्धान्त का मौलिक आधार यह धारणा है कि "राज्य एक आवश्यक बुराई है।" स्पेंसर के मत मे—"राज्यों की सत्ता इसलिए आवश्यक है कि समाज मे अपराध की भावना विद्यमान है। अत राज्य का मुख्य कर्तव्य रक्षा करना तथा मर्यादित करना है, न कि पोषण करना और समुन्नत करना।" प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता फ्रीमेन के अनुसार किसी रूप में भी आदर्श राज्य मनुष्य की अपूर्णता का चिह्न है। अत. शासन का सर्वोत्तम रूप उसका अभाव है। अपराधी को दंड देने के अतिरिक्त राज्य की और कोई आवश्यकता नही है। अत राज्य का कार्यक्षेत्र यथा-सम्भव सीमित होना चाहिये। समाज की सत्ता के लिये हिंसा, धोखेबाजी आदि अपराधों को दंडित करना आवश्यक है, इसलिये राज्य का कर्तव्य व्यक्ति की जान और माल की रक्षा तक ही सीमित होना चाहिये। फ्रीमेन के शब्दो में—"वह सरकार सबसे अच्छी है जो कम से कम शासन करे।" स्पेंसर के मतानुसार "व्यक्ति का केवल एक अधिकार है और वह अधिकार है—अन्य व्यक्तियों के साथ समान स्वतन्त्रता का अधिकार, और राज्य का केवल एक कर्त्तव्य है और वह कर्तव्य है—उस अधिकार की हिंसा और कपट से रक्षा करना।" Withalm Humboldt के शब्दों में "सरकार को यथासम्भव न्यूनातिन्यून शासन-कार्य करना चाहिये। वह शासन-प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है जो सबसे कम शासन करती है।" इसी सिद्धान्त को फ्रान्सीसी भाषा मे "Laissez faire—Let alone" कहते हैं जिसका अर्थ "यद्भाव्यनीति" अथवा "स्वतन्त्रता से कार्य करने दो" की नीति है।

व्यक्तिवादियों के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य के कार्यक्षेत्र में स्वाभाविक विरोध है। एक की वृद्धि से दूसरा कम हो जाता है। राज्य का कार्यक्षेत्र जितना विस्तृत होगा, व्यक्ति की स्वतन्त्रता उतनी ही कम होगी। इसीलिये व्यक्तिवाद एक ऐसी शासन-व्यवस्था की कामना करता है जिसमें सरकार का काम केवल बाहरी आक्रमण से रक्षा, राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था और समझौते का पालन कराने तक ही सीमित हो। इसके अतिरिक्त जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अधिकार हो। व्यक्ति और देश के हितो का सर्वोत्तम सम्पादन तभी होता है जब सरकारी हस्तक्षेप के भय से उन्मुक्त होकर मनुष्य अपने हित का यथेष्ट रूप से सम्पादन करता है। रस्किन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक— "Unto this

Last" में लिखता है—"जो देश अत्यधिक श्रेष्ठ और सुखी व्यक्तियों का पालन-पोषण करता है वही देश अत्यधिक धनी है," और व्यक्तिवादी मत के अनुसार ऐसा तभी हो सकता है जब "व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अधिक से अधिक अवसर प्राप्त हो अर्थात् राज्य कम से कम शासन करे।" इसलिए प्रसिद्ध फ्रान्सीसी विद्वान जुलाज साइमन का कथन है कि—" राज्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि वह अनुपयोगी हो जाय और अपनी मृत्यु के लिये स्वय तैयारी करे।"

राज्य का विरोध करते हुए भी व्यक्तिवाद राज्य का उन्मूलन नहीं चाहता वह राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है। व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य एक बुराई है क्योंकि राज्य का जन्म बल तथा अपराध के कारण हुआ है और यह बुराई आवश्यक इसलिए है ताकि व्यक्तियों की रक्षा करे और स्वतंत्रता को उच्छृंखलता में परिणत होने से रोके। व्यक्तिवाद राज्य के क्षेत्र को एक "पुलिस-राज्य" तक सीमित कर देना चाहता है और कल्याणकारी राज्य की कल्पना को छूना भी नहीं चाहता। वह राज्य से केवल ऐसी शासन-व्यवस्था की कामना करता है जिसमें शान्ति हो तथा बाह्य आक्रमणों का भय न हो। इस प्रकार व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य को ही शान्ति स्थापित करने के लिये सेना और पुलिस की व्यवस्था करनी चाहिये और न्याय के लिए न्यायालयों का प्रबन्ध करना चाहिये, किन्तु शिक्षालय, औषधालय, यातायात के साधन एवं आर्थिक उन्नति आदि के प्रयत्न करना राज्य के कार्य नहीं हैं, यह तो व्यक्तियों पर ही छोड़ देना चाहिये, जिससे उनकी स्वतन्त्रता स्थापित रहे। स्पेंसर ने कहा है—"राज्य का अस्तित्व केवल इसलिये है कि अपराध का अस्तित्व है, और इसलिए इसका प्रधान कृत्य रक्षा और मर्यादित करना है, न कि पोषण और विस्तार करना।" राज्य का अस्तित्व केवल मनुष्य की अपूर्णता के कारण है।

जान स्टुअर्ट मिल के शब्दों से व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का सार इस प्रकार है—

"मनुष्य जाति का अपने किसी सदस्य की आचरण की स्वतन्त्रता में वैयक्तिक अथवा सामूहिक रूप से हस्तक्षेप करना केवल आत्मरक्षा के आधार पर ही उचित ठहराया जा सकता है। किसी सभ्य समाज के किसी सदस्य के विरुद्ध उसकी इच्छा के खिलाफ शक्ति का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब कि वह दूसरों को हानि पहुचाता है। उसके स्वयं के भौतिक अथवा नैतिक कल्याण के लिए उसके जीवन में हस्तक्षेप करना उचित नहीं है, क्योंकि व्यक्ति अपने आचरण के केवल उसी अंग के लिए समाज के प्रति उत्तरदायी ठहराया जा सकता है जिसका सम्बन्ध दूसरों से है। जिस अंग

का सम्बन्ध केवल उसके स्वयं के जीवन से है उसके विषय में उसकी स्वतन्त्रता का अधिकार निरपेक्ष है। अपने ऊपर, अपने शरीर व मस्तिष्क से ऊपर व्यक्ति स्वयं प्रभु है।"

उल्लेखनीय है कि राज्य के कार्यों के सम्बन्व में सभी व्यक्तिवादी एक मत नहीं है। हरबर्ट स्पेन्सर ने राज्य के तीन काम सुझाये हैं—

१. व्यक्ति की बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना।
२. व्यक्ति की आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा करना।
३. विधिवत् सम्पादित सविदाओं का पालन करवाना।

लेकिन अन्य व्यक्तिवादी राज्य को कुछ और भी कार्य देने को तैयार हैं। उनके अनुसार राज्य के अधिक-से-अधिक कार्य निम्नलिखित है—

१. राज्य एवं नागरिकों की बाह्य आक्रमण से रक्षा करना।
२. नागरिकों की आपसी सुरक्षा अर्थात् व्यक्तियों को शारीरिक क्षति, बदनामी आदि से बचाना।
३. सम्पत्ति की लूट-मार एवं क्षति से रक्षा करना।
४. व्यक्तियों की झूठी सविदाओं को भग करने वालों से रक्षा करना।
५. अपाहिजों अथवा अशक्तों की रक्षा करना।
६. संक्रामक रोगों को रोकना और उनके फैल जाने पर व्यक्तियों की समुचित सहायता करना।

अन्तिम दो कार्यों को सब व्यक्तिवादी स्वीकार नहीं करते।

व्यक्तिवादियों द्वारा अपने सिद्धान्त के समर्थन में दिये जाने वाले तर्क

अपने उपरोक्त दृष्टिकोण का औचित्य सिद्ध करने के लिये व्यक्तिवादी अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं जिनमे से प्रमुख निम्न है—

(१) **नैतिक**—इस तर्क के आधार पर कहा गया है कि व्यक्ति अपने हितो का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है। यदि राज्य उसे अकेला छोड़ देगा तो वह अपनी सहायता आप करना, अपने पैरों पर खड़े होना और अपना सर्वांगीण विकास करना सीखेगा किन्तु इसके विपरीत यदि राज्य उसके जीवन पर नियन्त्रण करेगा तो उसकी आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बनता को चोट पहुंचेगी तथा उसके व्यक्तित्व का विकास रुक जायेगा। इस प्रकार व्यक्तिवाद की नैतिक आधार पर यह मान्यता है कि व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए शासन का कम से कम हस्तक्षेप होना चाहिए। व्यक्ति का उसी समाज एवं राज्य मे विकास सम्भव है जिसमें उसे स्वतन्त्र-प्रतियोगिता

करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो। राज्य किसी भी व्यक्ति की उन्नति का ठेका नही ले सकता, यह कार्य व्यक्ति का है।

(२) आर्थिक—इसका आशय यह है कि व्यापार, उद्योग आदि की सर्वाधिक उन्नति उसी समय हो सकती है जब प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पूंजी लगाने, सम्पत्ति भाड़े पर लगाने और श्रम बेचने की पूरी स्वतन्त्रता हो। व्यक्तिवादियों का कहना है कि प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से कुछ स्वार्थी होता है और वह अपने हित सम्पादन को अधिक महत्त्व देता है। यदि राज्य आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति की गतिविधि मे हस्तक्षेप न करे और उसको अपने व्यक्तिगत हित के सम्पादन के लिए इच्छानुसार कार्य करने दे तो इससे न केवल उस व्यक्ति का, वरन् समस्त समाज का लाभ होगा। स्वार्थ के वशीभूत उपभोक्ता, सदा ही मंदे से मंदे बाजारों मे आवश्यक सामग्री का क्रय करेंगे, पूंजीवादी ऐसे व्यवसायो में पूंजी लगायेंगे जिससे अधिकतम लाभ हो, मजदूर लोग इच्छानुसार ऐसे व्यवसायो और व्यावसायिक केन्द्रों मे जाकर कार्य करेंगे जहां उनको अधिक से अधिक पारिश्रमिक मिल सके। परिणामस्वरूप उत्पादन अधिक से अधिक और मूल्य कम से कम होगा। मूल्य का निर्धारण मांग और पूर्ति के आर्थिक नियम के अनुसार होगा। व्यापारिक क्षेत्र मे भी प्राकृतिक नियम के अनुसार आयात करने वाले जहा कम से कम मूल्य होगा, वहा से आयात करेंगे, और निर्यात करने वाले उन देशों को अपना सामान भेजेंगे जहां अधिकतम मूल्य प्राप्त हो सके। इस प्रकार समस्त समाज को लाभ होगा। किन्तु इसके विपरीत मूल्य, पारिश्रमिक, बाजार आदि के भाव सरकार द्वारा नियन्त्रित किये जाने पर व्यक्ति और समाज दोनों का लाभ होने के स्थान पर हानि ही होगी। इस प्रकार व्यक्तिवादी आर्थिक क्षेत्र में पूर्णतः Laissez faire के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है जो व्यक्तिवाद का मेरुदण्ड है।

(३) वैज्ञानिक—स्पेन्सर जैसे कतिपय लेखक व्यक्तिवाद के समर्थन मे वैज्ञानिक तर्क उपस्थित करते है तथा बताते है कि 'Laissez faire' प्राकृतिक कानून के अनुकूल है। जो व्यक्ति योग्यतम है, वही जीवित रहेगा, दुर्बल व्यक्ति को जीवन सग्राम मे टिके रहने का कोई अधिकार नहीं है—यह इस तर्क का मूल-मन्त्र है। राज्य को चाहिए कि वह इन प्राकृतिक कानूनो को स्वतन्त्रापूर्वक कार्य करने दे। राज्य को अपनी सहायता के बल पर दीन, दुर्बल, अपाहिज आदि को जीवित रखना अवैज्ञानिक, अप्राकृतिक और अन्याययुक्त है। इससे समाज की हानि होती है।

(४) ऐतिहासिक—इतिहास द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि राज्य का सामाजिक या आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप सदैव हानि–

कारक रहा है। इतिहास साक्षी है कि जब-जब राज्य ने समाज के सामाजिक व आर्थिक जीवन को नियन्त्रित एवं मर्यादित करने का यत्न किया है, उसको सदा ही असफलता का सामना करना पड़ा है। राज्य की ओर से व्यवसायों को जो आर्थिक सहायता या संरक्षण प्रदान किया जाता है उसका उद्देश्य कभी पूर्ण नहीं होता। इंगलैण्ड मे नेविगेशन एण्ड कोर्न लाज (Navigation & Corn Laws) को सफलता प्राप्त न हो सकी। राशनिंग और मूल्य-नियन्त्रण की ऐसी ही दशा रही और उससे चोर-बाजारी को प्रोत्साहन मिला। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि जब राज्य के लोगों के रहन-सहन, वेष-भूषा आदि को एक निश्चित ढाचे में ढालने का प्रयत्न किया तो लोगों ने इसके विपरीत कार्य किया। इन ऐतिहासिक तर्कों के आधार पर व्यक्तिवादी यह सिद्ध करते है कि राज्य को हस्तक्षेप की नीति से सदैव दूर रहना चाहिये।

(५) व्यावहारिक—व्यक्तिवादियों के अनुसार व्यावहारिक दृष्टिकोण से राज्य अयोग्य व असमर्थ है। यह आवश्यक नही कि राज्य-कर्मचारी साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक ज्ञान, रुचि या योग्यता रखने हों। व्यापार या व्यवसाय के क्षेत्र मे राज्य कर्मचारियों को इतना ज्ञान और रुचि नहीं हो सकती जितनी स्वयं व्यापारियों और व्यवसाइयों को होती है। अतः इस क्षेत्र मे राज्य का हस्तक्षेप करना असफलता को निमन्त्रण देना है। आर्थिक क्षेत्र में राज्य की व्यवस्था का परिणाम होगा दीर्घ-सूत्रता और भ्रष्टाचार। तब उसमें नौकर-शाही के सब दोष प्रगट होने लगेंगे जो प्रशासन के क्षेत्र में होते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य की शक्ति, व्यक्ति की शक्ति से श्रेष्ठ नही होती।

आलोचना

समाज और राज्य के कार्यों के विषय में आलोचकों ने, मुख्यतः समाजवादियो और साम्यवादियों ने व्यक्तिवादी सिद्धान्त की बड़ी कठोर आलोचना की है। उन्होने यह मत प्रकट किया है कि "रा य का व्यक्ति के जीवन पर प्रभुत्व होने मे ही व्यक्ति का कल्याण है।" व्यक्तिवादियो द्वारा दिये गये समस्त तर्को को वे एकांगी मानते हुए व्यक्तिवाद के विरुद्ध निम्न आलोचनायें व आरोप प्रस्तुत करते है—

(१) व्यक्तिवाद की यह धारणा कि राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोधी है—भ्रामक है। वह यह तो मानता है कि राज्य शांति और सुरक्षा के लिए आवश्यक है किन्तु साथ ही साथ उसे आवश्यक बुराई भी मानता है। किन्तु यह ठीक नहीं है। राज्य एक बुराई न होकर कल्याणकारी संस्था

है, आज के कल्याणकारी राज्य (Welfare State) अपनी अच्छाइयों के लिए सर्वप्रिय हैं और वे व्यक्ति का अत्यधिक हित करते हैं। सभ्यता व संस्कृति के विकास में राज्य का सबसे महत्वपूर्ण योग है। बर्क के शब्दों में "राज्य सभी विज्ञानों, सभी कलाओं, सदाचार व पूर्णता में मनुष्य का साझीदार है।"

(२) व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता के केवल एक ही पक्ष को देखते हैं। उन्होंने केवल प्रतिबन्ध-हीन स्वतन्त्रता की ही कल्पना की है। किन्तु वास्तव में प्रतिबन्धों का अभाव ही स्वतन्त्रता नहीं है। इसका सकारात्मक स्वरूप भी है। व्यक्ति के किसी कार्य में हस्तक्षेप करके उसकी स्वतन्त्रता में वृद्धि की जा सकती है। एक बालक को बलपूर्वक शिक्षणालय में भेजना और उसके खेल पर नियन्त्रण लगाना उस बालक की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं है। इस हस्तक्षेप से वह दूसरे के समक्ष अपने मत को प्रगट करने के लिए सक्षम बना दिया जाता है। वास्तविकता तो यह है कि स्वतन्त्रता का अभिप्राय आवश्यक कार्यों की सुविधा का होना है।

(३) व्यक्ति को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, लेकिन दूसरों का शोषण करने की छूट नहीं है। व्यक्तिवादी मानव-स्वभाव के अन्तर्निहित गुणों को बढ़ा चढ़ा कर कहते हैं तथा व्यक्ति के समक्ष सामाजिक हित की अवहेलना करते हैं। वे इस महान् सत्य को भुला देते हैं कि व्यक्ति समाज का एक अङ्ग है तथा समाज मे रहने पर ही उसका अस्तित्व और विकास सम्भव है।

(४) आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद, पूंजीवाद का पूर्वगामी है। यह पूंजीपतियों को लाभ पहुंचाता है और श्रमिको को कष्ट। पूंजीपतियों एवं श्रमिकों मे स्वतन्त्र प्रतियोगिता का मतलब होगा श्रमिकों का नाश। राज्य यदि समाज के निर्बल श्रमिक वर्ग की सहायता न करेगा तो पूंजीपतियों द्वारा उनका खुलकर शोषण होगा। आखिर समाज में सभी व्यक्तियों एव वर्गों को जीवित रहने का अधिकार है केवल एक वर्ग को नहीं।

(५) व्यक्तिवादियो की यह धारणा है कि राज्य का जन्म, बल तथा अपराध के कारण हुआ है, गलत है। वास्तव में राज्य के जन्म का मुख्य कारण मनुष्य की सामाजिक मूल प्रवृत्तियाँ है। राज्य का जन्म मानवीय कल्याण-क्षेत्र में वृद्धि करने के लिए हुआ है। आज उसका कर्तव्य पुलिस का सा न होकर सामूहिक हित एवं सामाजिक कल्याण करना है।

(६) मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अत. व्यक्तिगत आवश्यकताओं के साथ-साथ उसकी सामाजिक आवश्यकताएं भी हैं। इनकी पूर्ति के लिए

राज्य का होना आवश्यक है। इस प्रकार राज्य का काम केवल बुराइयों को रोकना ही नही है बल्कि अच्छी बातो का पोषण करना भी है।

(७) राज्य के कानून स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं यह कहना मिथ्या है। वास्तव में सब कानून स्वतन्त्रता को घटाते नही। प्रजातन्त्र के कानून तो नागरिक के अधिकार की रक्षा करते हैं और उसकी स्वतन्त्रता को बढ़ाते हैं।

(८) मनुष्य अपने हित का सर्वोत्तम निर्णायक होता है, व्यक्तिवादी विचारको की यह धारणा भ्रममूलक है। अशिक्षा एवं अज्ञान के कारण बहुधा नागरिक के लिए अपना सही हित खोजना सम्भव नही होता। क्षणिक सुख के लिए बहुधा स्थायी हित का बलिदान करते हुए व्यक्ति को देखा गया है। इसलिए यह वाछनीय है कि राज्य मनुष्य के अधिकतम हित के लिए अधिकतम प्रयत्न करे।

(९) "योग्यता की विजय" की व्यक्तिवादी विचार-धारा अत्यन्त हानिप्रद है क्योंकि इससे निर्बल व्यक्ति दबकर समाप्त हो जाते हैं। यह तो जङ्गल का नियम है। मनुष्य विवेकी प्राणी है और नैतिक भी। उसकी नैतिकता और उसका धर्म उसे असहायों की सहायता करने का आदेश देते हैं, न कि उसको मौत के मुंह में छोड़ देने का। फिर यदि शक्ति और शारीरिक बल ही विजय का आकार है तो डाकू, चोर और लुटेरे ही विजयी कहलायेंगे। नैतिक बल वाले व्यक्ति केवल एक ही मार्ग का अनुसरण कर पायेंगे—मार डाले जाने का अथवा मर जाने का। लिकोक के शब्दों में "यदि जीवित रहने की योग्यता ही जीवित रहने की कसौटी है, तो सफल कलाकार प्रशंसा का पात्र है और क्षुधित कलाकार घृणा का।"

(१०) व्यक्ति की अच्छाई में इतनी अधिक आस्था करना यथार्थ से दूर जाना है। भलाई के साथ-साथ व्यक्ति में बुराई भी कम नही होती। इतिहास बताता है कि मनुष्य द्वेष, घृणा और स्वार्थ की जीवित प्रतिभा रहा है। मनुष्य की इस पाशविक प्रवृत्ति, उच्छृंखलता और स्वार्थ-परता पर आवश्यक अंकुश लगाने के लिए राज्य की दण्ड शक्ति अत्यन्त आवश्यक है।

(११) राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में व्यक्तिवाद का घोर विरोध किया गया है। ऊपर किये गए सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य का कार्य एक पुलिस मैन से कही अधिक बढ़कर है। राज्य व्यक्ति के लाभ एवं हित की रक्षा करता है, उसकी स्वतन्त्रता दूसरों के द्वारा समाप्त

न कर दी जाय इसका ध्यान रखता है, शिक्षा, कला, संगीत, स्वच्छता आदि सभ्यता के समस्त लक्षणों को प्रोत्साहन देता है। वास्तव में राज्य एक पुलिस संस्था न होकर जन हितकारी संस्था है। हक्सले (Huxley) के शब्दों में "जितनी ही सभ्यता की ऊंची अवस्था होगी, उतनी ही अधिक समाज के एक व्यक्ति की क्रियायें दूसरों को प्रभावित करेंगी और किसी व्यक्ति द्वारा छोटी सी गलती से भी अपने साथी नागरिको की स्वतन्त्रता में थोड़ा या अधिक हस्तक्षेप अवश्य होगा। अतः राज्य के कार्यों को अत्यन्त संकुचित दृष्टिकोण से देखने पर भी यह मानना पडेगा कि इसकी शक्तियां, उससे कही बहुत अधिक विस्तृत होगी, जितनी कि व्यक्तिवाद के प्रतिपादक मानते हैं।"

(१२) प्रजातन्त्रवाद के विकास ने व्यक्तिवाद के राज्य-विषयक सिद्धान्त को अनुचित सिद्ध कर दिया है। प्रजातन्त्र में समस्त जनता द्वारा भाग लिया जाता है। इससे शोषण के लिये कोई स्थान नही है। प्रजातन्त्र ने वास्तव मे व्यक्तिवाद को पतन की ओर अग्रसर कर दिया है।

(१३) व्यक्तिवादियों ने व्यक्तिवाद के समर्थन में जो ऐतिहासिक तर्क प्रस्तुत किये हैं वे एकागी है। उन्होने राज्य के कार्यों का एक पक्ष ही लिया है। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि राज्य ने मानव-कल्याण के हेतु बहुत से कार्य किये है। व्यक्तिवाद राज्य की गलतियों को ही देखता है, व्यक्ति की भूलो को नही।

इसमे कोई सदेह नही कि व्यक्तिवाद व्यक्ति की मूलभूत गरिमा और स्वतन्त्रता को स्थापित करता है। परन्तु यही व्यक्तिवाद उग्र रूप ग्रहण करने पर खतरे का उद्गम बन जाता है। आज मनुष्य एक दूसरे पर निर्भर है और संसार में सम्भवतः ऐसा एक भी राज्य नही है जिसमें व्यक्तियो के कार्यों को मर्यादित न किया जाता हो। अतएव आज के मानव समाज के लिये व्यक्तिवाद सर्वथा अनुपयुक्त है।

आधुनिक व्यक्तिवाद

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण में व्यक्तिवादी सिद्धान्त के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया उठ खड़ी हुई। उसके स्थान पर आदर्शवादी और समुदायवादी सिद्धान्तो को महत्व मिलने लगा। इन दोनो ही सिद्धान्तों ने राज्य की महत्ता पर विशेष बल दिया। इनके अनुसार व्यक्ति पूर्णत. राज्य के आश्रित है। "परन्तु व्यक्तिवाद के विरुद्ध यह जो प्रतिक्रिया हुई उसने भी एक प्रतिक्रिया को जन्म दिया।" इस प्रतिक्रिया ने व्यक्तिवाद के एक नूतन

स्वरूप को ग्रहण किया जो "आधुनिक-व्यक्तिवाद" (Modern Individualism) के नाम से अधिक विख्यात है। आधुनिक व्यक्तिवाद ने इन दोनों सिद्धान्तों द्वारा स्थापित राज्य की परम श्रेष्ठता को चुनौती दी।

आधुनिक व्यक्तिवाद के अभ्युदय मे जिन तत्वों ने सहायता प्रदान की वे संक्षेप मे निम्न है—

(१) प्रजातन्त्र के विकास मे बहुमत को अधिक प्रोत्साहन दिया गया और अल्पमत का तिरस्कार किया गया। इस तिरस्कार ने आधुनिक व्यक्तिवाद के उदय मे बहुत सहायता प्रदान की। आधुनिक व्यक्तिवाद का उत्थान अल्पमत को शोषण से बचाने के हेतु हुआ।

(२) विभिन्न प्रकार के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं अन्य ऐच्छिक समुदायो के विकास मे राज्य की निरकुशता से बचने का मार्ग दिखाया और इस प्रकार आधुनिक व्यक्तिवादी विचारधारा को प्रोत्साहन दिया। यह अनुभव किया गया कि राज्य की शक्तियों एव कार्यो के विकेन्द्रीकरण में ही सुख का मार्ग निहित है।

(३) प्रथम विश्व-युद्ध के समय राज्य ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित किया और उस पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये। इससे राज्य के प्रति विरोध की भावना बढी और प्रतिक्रिया स्वरूप आधुनिक व्यक्तिवाद का विकास हुआ।

(४) आधुनिक व्यक्तिवाद के प्रमुख प्रवर्तकों मे नोरमन एंजिल (Norman Angell) तथा ग्राहम वालस (Graham Wallas) के नाम उल्लेखनीय है। आधुनिक व्यक्तिवाद राज्य को समुदायों का एक समुदाय मात्र ही समझता है। वह राज्य को किसी प्रकार की विशेष महत्ता प्रदान नहीं करता। आधुनिक व्यक्तिवाद की दृष्टि से राज्य का उपयोग केवल इतना ही है कि वह विभिन्न समुदायों मे सघर्ष न होने दें, उनमे मेल बनाये रखे। यह अल्पमत का पक्षपाती है और इस बात पर बल देता है कि अल्पमत की हर सम्भव उपाय से रक्षा की जानी चाहिये।

आधुनिक व्यक्तिवाद एव प्राचीन व्यक्तिवाद में भेद—इन दोनो में निम्नलिखित प्रमुख अन्तर पाये जाते है—

(१) प्राचीन व्यक्तिवाद व्यक्ति को समाज की इकाई मानता है और उसकी स्वतन्त्रता पर अधिक बल देता है। परन्तु आधुनिक व्यक्तिवाद समुदाय को समाज की इकाई मानता है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समुदायों के द्वारा प्रतिपादन करता है।

न कर दी जाय इसका ध्यान रखता है, शिक्षा, कला, संगीत, स्वच्छता आदि सम्यता के समस्त लक्षणों को प्रोत्साहन देता है। वास्तव मे राज्य एक पुलिस संस्था न होकर जन हितकारी संस्था है। हक्सले (Huxley) के शब्दों में "जितनी ही सभ्यता की ऊंची अवस्था होगी, उतनी ही अधिक समाज के एक व्यक्ति की क्रियायें दूसरों को प्रभावित करेगी और किसी व्यक्ति द्वारा छोटी सी गलती से भी अपने साथी नागरिकों की स्वतन्त्रता में थोड़ा या अधिक हस्तक्षेप अवश्य होगा। अतः राज्य के कार्यों को अत्यन्त संकुचित दृष्टिकोण से देखने पर भी यह मानना पडेगा कि इसकी शक्तिया, उससे कहीं बहुत अधिक विस्तृत होंगी, जितनी कि व्यक्तिवाद के प्रतिपादक मानते है।"

(१२) प्रजातन्त्रवाद के विकास ने व्यक्तिवाद के राज्य-विषयक सिद्धान्त को अनुचित सिद्ध कर दिया है। प्रजातन्त्र मे समस्त जनता द्वारा भाग लिया जाता है। इससे शोषण के लिये कोई स्थान नही है। प्रजातन्त्र ने वास्तव में व्यक्तिवाद को पतन की ओर अग्रसर कर दिया है।

(१३) व्यक्तिवादियों ने व्यक्तिवाद के समर्थन में जो ऐतिहासिक तर्क प्रस्तुत किये हैं वे एकांगी है। उन्होने राज्य के कार्यों का एक पक्ष ही लिया है। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि राज्य ने मानव-कल्याण के हेतु बहुत से कार्य किये हैं। व्यक्तिवाद राज्य की गल्तियों को ही देखता है, व्यक्ति की भूलों को नहीं।

इसमें कोई सदेह नही कि व्यक्तिवाद व्यक्ति की मूलभूत गरिमा और स्वतन्त्रता को स्थापित करता है। परन्तु यही व्यक्तिवाद उग्र रूप ग्रहण करने पर खतरे का उद्‌गम बन जाता है। आज मनुष्य एक दूसरे पर निर्भर है और संसार मे सम्भवतः ऐसा एक भी राज्य नही है जिसमे व्यक्तियो के कार्यों को मर्यादित न किया जाता हो। अतएव आज के मानव समाज के लिये व्यक्तिवाद सर्वथा अनुपयुक्त है।

आधुनिक व्यक्तिवाद

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण में व्यक्तिवादी सिद्धान्त के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया उठ खडी हुई। उसके स्थान पर आदर्शवादी और समुदायवादी सिद्धान्तो को महत्व मिलने लगा। इन दोनों ही सिद्धान्तों ने राज्य की महत्ता पर विशेष बल दिया। इनके अनुसार व्यक्ति पूर्णत. राज्य के आश्रित है। "परन्तु व्यक्तिवाद के विरुद्ध यह जो प्रतिक्रिया हुई उसने भी एक प्रतिक्रिया को जन्म दिया।" इस प्रतिक्रिया ने व्यक्तिवाद के एक नूतन

स्वरूप को ग्रहण किया जो "आधुनिक-व्यक्तिवाद" (Modern Individualism) के नाम से अधिक विख्यात है। आधुनिक व्यक्तिवाद ने इन दोनों सिद्धान्तों द्वारा स्थापित राज्य की परम श्रेष्ठता को चुनौती दी।

आधुनिक व्यक्तिवाद के अभ्युदय में जिन तत्वों ने सहायता प्रदान की वे संक्षेप में निम्न हैं—

(१) प्रजातन्त्र के विकास में बहुमत को अधिक प्रोत्साहन दिया गया और अल्पमत का तिरस्कार किया गया। इस तिरस्कार ने आधुनिक व्यक्तिवाद के उदय में बहुत सहायता प्रदान की। आधुनिक व्यक्तिवाद का उत्थान अल्पमत को शोषण से बचाने के हेतु हुआ।

(२) विभिन्न प्रकार के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं अन्य ऐच्छिक समुदायों के विकास में राज्य की निरंकुशता से बचने का मार्ग दिखाया और इस प्रकार आधुनिक व्यक्तिवादी विचारधारा को प्रोत्साहन दिया। यह अनुभव किया गया कि राज्य की शक्तियों एवं कार्यों के विकेन्द्रीकरण में ही सुख का मार्ग निहित है।

(३) प्रथम विश्व-युद्ध के समय राज्य ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित किया और उस पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये। इससे राज्य के प्रति विरोध की भावना बढ़ी और प्रतिक्रिया स्वरूप आधुनिक व्यक्तिवाद का विकास हुआ।

(४) आधुनिक व्यक्तिवाद के प्रमुख प्रवर्तकों में नोरमन एंजिल (Norman Angell) तथा ग्राहम वाल्स (Graham Wallas) के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक व्यक्तिवाद राज्य को समुदायों का एक समुदाय मात्र ही समझता है। वह राज्य को किसी प्रकार की विशेष महत्ता प्रदान नहीं करता। आधुनिक व्यक्तिवाद की दृष्टि से राज्य का उपयोग केवल इतना ही है कि वह विभिन्न समुदायों में संघर्ष न होने दें, उनमें मेल बनाये रखे। यह अल्पमत का पक्षपाती है और इस बात पर बल देता है कि अल्पमत की हर सम्भव उपाय से रक्षा की जानी चाहिये।

आधुनिक व्यक्तिवाद एवं प्राचीन व्यक्तिवाद में भेद—इन दोनों में निम्नलिखित प्रमुख अन्तर पाये जाते हैं—

(१) प्राचीन व्यक्तिवाद व्यक्ति को समाज की इकाई मानता है और उसकी स्वतन्त्रता पर अधिक बल देता है। परन्तु आधुनिक व्यक्तिवाद समुदाय को समाज की इकाई मानता है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समुदायों के द्वारा प्रतिपादन करता है।

(२) प्राचीन व्यक्तिवाद व्यक्ति के हितों को प्रधानता देता है और उसको अपने हितों का सर्वोत्तम निर्णायक मानता है। परन्तु आधुनिक व्यक्तिवाद व्यक्ति तथा सामूहिक हितों की रक्षा के लिये समुदायो के अधिकारों को आगे रखता है।

(३) प्राचीन व्यक्तिवाद राज्य के हस्तक्षेप का घोर विरोधी है, परन्तु आधुनिक व्यक्तिवाद आवश्यकतानुसार राज्य के हस्तक्षेप का समर्थक है।

(४) प्राचीन व्यक्तिवाद प्रतिबन्धो के अभाव मे ही स्वतन्त्रता को मान्यता देता है। किन्तु आधुनिक व्यक्तिवाद स्वतन्त्रता और कानून में कोई अन्तर नही मानता।

७

फासीवाद

(FASCISM)

"राज्य स्वयं मे एक आध्यात्मिक और नैतिक तत्व है।"

—मुसोलिनी

महायुद्ध के बाद की आर्थिक पतन की अवस्था ने इटली की पहले से ही कमजोर राजनीतिक अवस्था को एक अन्तिम धक्का दिया और असन्तुष्ट व निराश जनता का प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति से विश्वास हट गया। स्थान स्थान पर विद्रोह फूटने लगे, हड़तालें रंग जमाने लगी। इस अर्द्ध-अराजकता की स्थिति में धनिक लोग साम्यवाद के प्रसार के भय से आतंकित हो उठे। इटली के सभी वर्ग राष्ट्रीय अपमान के प्रतिकार और सम्मानित एवं गौरवपूर्ण स्थिति की प्रतिष्ठा के लिए बेचैन हो गये। ऐसे समय इटली में मुसोलिनी का उदय हुआ और उसके नेतृत्व मे फासिस्टि दल फलने-फूलने लगा। फासीवाद वास्तव मे इटली मे किसानो और मजदूरो की साम्यवादी क्रान्ति को विफल बनाने के लिए जमीदारों और पूंजीपतियों द्वारा समर्थित आन्दोलन था जो इटली की संसदीय सरकार की अध्यक्षता, अराजकता, साम्यवाद के आतंक और जनता के सभी वर्गों के तीव्र सन्तोप का सहारा पाकर तेजी से सफलता की सीढ़िया चढ़ता गया।

फासीवादी आन्दोलन को तेजी से लोकप्रियता इसलिए हासिल हुई कि जनता का प्रत्येक वर्ग किसी न किसी कारण से तत्कालीन समाजवादी सरकार से रुष्ट था। दूकानदार इसलिए नाराज थे कि सरकार मूल्य निश्चित कर रही थी और कर बढ़ा रही थी। जमीदारों को कृषक संघो से. और भूमि के पुनर्वितरण से नाना-आशंकाएं थीं। मिल-मालिक हड़तालों से और श्रमिको की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत थे। वे और अन्य पूंजीपति शासन से असन्तुष्ट थे क्योंकि वह उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा करने में असमर्थ था। मध्यम वर्ग भी तत्कालीन शासन मे असुरक्षा के भय से ग्रस्त था।

सैनिक सेवा से निवृत्त सिपाही, छात्रगण एवं अन्य युवक मजदूर आन्दोलनों से तथा राजनीतिज्ञों की अयोग्यता से पीडित, व्यथित और परेशान थे तथा ऐसे किसी भी आन्दोलनो मे मिलने को तैयार थे जो उनके राष्ट्र मे एक सुदृढ तथा देशभक्त सरकार स्थापित कर सके।

फासिस्ट आन्दोलन के नेता मुसोलिनी ने इन सब समस्याओ को हल करने का वचन दिया। जनता मे आशा की किरण फूट पड़ी। अद्भुत साहस और संगठन शक्ति के धनी तथा कुशल प्रवक्ता मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट दल निरन्तर शक्तिशाली बनता गया। आन्दोलन ने नगरों और गावों मे जोर पकड़ा। फासिस्टों की जो संख्या १९१९ मे कुल २२, ००० थी वह १९२१ में ५ लाख पर पहुंच गयी। मुसोलिनी ने अपने अनुयायियो को सैनिक ढंग से काली कमीजों (Black shirts) की अनुशासित सेना में संगठित किया। इस सेना के अपने उच्च अधिकारी पद, साकेतिक चिन्ह, सज्जा तथा अभिवादन पद्धति आदि थे। यह सेना भयभीत मध्यम वर्ग की सुरक्षा की गारण्टी जैसी लगती थी। ऐसी भव्य शक्ति से मुसोलिनी समाजवादी और अन्य प्रगतिशील आन्दोलनों को तहस-नहस करने लगा। अन्त में इटली को एक विनाशकारी गृहयुद्ध से बचाने के लिए सम्राट विक्टर इमेनुअल तृतीय ने तत्कालीन मन्त्रि-मण्डल से त्यागपत्र दिलवा कर, ३१ अक्टूबर, १९२२ को मुसोलिनी को प्रधानमन्त्री नियुक्त कर दिया और वह शीघ्र ही इटली का पूरा तानाशाह, एक सर्व-सर्वा बन गया। फासिस्टों ने शीघ्र ही समस्त विरोधी दलों को निर्दयतापूर्वक दबा दिया, प्रेस की स्वतन्त्रता छीन ली, स्थानीय स्वायत्तता एवं जनतान्त्रिक संस्थाओ तथा पद्धतियो को नष्ट कर दिया। निर्वाचन नियमों को फासिस्ट दल के पक्ष मे परिवर्तित कर दिया गया। सक्षेप मे, मुसोलिनी के नेतृत्व मे, इटली मे पूर्णत. फासिस्ट तानाशाही प्रतिष्ठित हो गयी।

फासीवादी सिद्धांत
(The Theory of Fascism)

शास्त्रीय दृष्टि से फासीवादी कोई क्रमबद्ध सुगठित राजदर्शन नही है। मुसोलिनी ने स्वयं लिखा था, "देश, काल और वातावरण की परिस्थितियों के अनुसार हम कुलीनतन्त्रीय अथवा जनतन्त्रीय, रूढीवादी अथवा प्रगतिशील, प्रतिक्रियावादी अथवा क्रातिकारी, तथा नियमवादी या अनियमवादी सभी कुछ हो सकते हैं।" इटालियन लेखक जेन्टाइल ने कहा है, "फासीवाद ने स्वय को अपने भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में बाधना स्वीकार नही किया है। इसने अनेक बार ऐसी घोषणाएं की हैं जो राजनीतिक दृष्टि से समयानुकूल थीं, परन्तु जिनको क्रियान्वित करना फासीवाद अपना उत्तरदायित्व नहीं मानता था।" सेबाइन (Sabine) के अनुसार 'फासीवाद ऐसे विचारो का योग है जो विविध

सूत्रों से प्राप्त किये गए हैं और परिस्थिति की आवश्यकताओं के अनुरूप सग्रहीत कर दिये गये है।' इन सूत्रों मे तीन महत्वपूर्ण सूत्र ये हैं—१. राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त, विशेषकर हीगल का दर्शन, जिससे यह ग्रहण किया गया है कि वे केवल राज्य मे और उसके माध्यम द्वारा ही व्यक्ति अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है, अतः उसे राजाज्ञा का आंख बन्द करके पालन करना चाहिये; २ जर्मन दार्शनिक नीट्शे (Nietzsche) की नैतिक तथा सामाजिक विचारधारा, जिससे नेतृत्व एव तानाशाही की धारणा ग्रहण की गई, और ३ चरित्र एव जीवन के सम्बन्ध मे रोम का दृष्टिकोण, जिससे इसने अनुशासन, विश्वास और कार्य को महत्व देना सीखा।

वास्तव मे, फासीवादी दर्शन के कोई अटल नियम नही है। यह किसी आदर्श, सन्त, महन्त तथा आध्यात्मिकता मे विश्वास नही करता। मुसोलिनी की अपनी परिभाषा के अनुसार, "फासीवादी किसी व्यवस्था, सन्त-महन्त तथा सिद्धान्त के उपासक नहीं हैं और इनसे भी कम वे प्रसन्नता, मोक्ष, तथा काल्पनिक लोक में विश्वास करते है। वे उस प्रत्येक वस्तु के समर्थक है जो व्यक्ति के जीवन को सुन्दरतर, आरामपूर्ण उच्चतर तथा स्वतन्त्र एवं विशाल बनाती हैं।" इस प्रकार फासीवादी दर्शन प्रधानत. अवसरवादी (Opportunist) तथा क्रियात्मक हैं। वह एक लचीली विचारधारा है जो आवश्यकतानुसार यथा इच्छा मोड़ ली जाती है। फासिस्ट लोग कार्य पहले करते है और उसे दर्शन का रूप बाद में देते है। आचारात्मक सभी विचारों का खण्डन करने के कारण इसे "सत्तावादी राजनीतिक सिद्धान्त" (Philosophy of Power Politics) भी कहते है। फासीवाद के प्रमुख सिद्धान्तों अथवा इसके मूल लक्षणों को हम निम्नानुसार दर्शा सकते है—

(१) राष्ट्र की उपासना करता है (Glorifies the Nation)—फासीवाद के मतानुसार "राष्ट्र जीवशास्त्र की समानताओ पर आधारित है जिसका जीवन, उसके सदस्य व्यक्तियों से महत्वपूर्ण, उच्च एव निरन्तर है। दूसरे शब्दों में फासीवाद के लिए राष्ट्र एक साध्य है और व्यक्ति एक साधन। राष्ट्र रूपी साध्य पर व्यक्ति एवं समुदाय रूपी साधन सदैव न्यौछावर किये जा सकते है। फासीवाद का समाज से अभिप्राय राष्ट्र से है और राष्ट्र इसके लिए राज्य का ही पर्यायवाची है। अत राज्य राष्ट्र का मूल रूप है, जिसको वैधानिक एव नैतिक दोनों ही प्रकार की सम्प्रभुता प्राप्त है। समाज अथवा राष्ट्र का पूर्ण जीवन अपने लक्ष्यो की प्राप्ति के लिये व्यक्तियों को साधन बनाने मे है। फासीवादियों के अनुसार राष्ट्र के सम्पूर्ण साधन गौरवपूर्ण बनाने के लिये प्रयुक्त होने चाहिये और राष्ट्र की अभिवृद्धि ही व्यक्ति के मस्तिष्क में रहने वाला प्रधान विचार होना चाहिये। राष्ट्र समाज को एक सूत्र में बाध कर

सयुक्त रखता है और उसका क्षेत्र केवल जीवित व्यक्तियो तक ही सीमित न होकर भावी पीढ़ियों तक है।"

(२) राज्य का गुणगान करता है (Glorifies the State)—आदर्शवादियों की भांति फासीवादी भी राज्य के अनन्य भक्त है और इसे एक दैवीय तथा नैतिक सस्था मानते हैं। मुसोलिनी के शब्दों में "राज्य स्वयं में एक आध्यात्मिक और नैतिक तत्व है।" फासीवाद के अनुसार राज्य मानवीय गुणो का स्रोत है, सभ्य जीवन का प्रतीक है, मनुष्य में सर्वोत्तम सत्य की अभिव्यक्ति करता है, मनुष्यों की आत्मा का सरक्षक और परिवर्तक है, एक सहकारवादी एवं एकात्मक तत्व है तथा राष्ट्र का मूल रूप है।

(३) राज्य को एक सर्वसत्तात्मक, सर्वव्यापक एवं दोषमुक्त संस्था मानता है (Regards State as an Omnipotent, Omnipresent and Infallible Institution)—उपरोक्त सिद्धात से ही स्पष्ट है कि फासीवाद सक्रिय एवं सर्वसत्तावान राज्य का समर्थन करता है। वह एक मौलिक, अधिकारपूर्ण एव एकात्मक राज्य का पक्षपाती है। *"व्यवस्था, अनुशासन और अधिकार"* (Order, Discipline and Authority)—इन तीनों की प्राप्ति के लिए फासीवादी राज्य पूर्ण उच्छृंखलता के साथ व्यक्तिगत स्वाधीनता को कुचल सकता है। फासीवादियों के लिये राज्य ही सर्वस्व है। मुसोलिनी के शब्दों मे, "ससार की कोई भी मानवीय तथा आध्यात्मिक वस्तु उससे बाहर नही हो सकती और यदि हो तो उसका कोई मूल्य नही हो सकता।" फासीवादी सर्वाधिकार सम्पन्न राज्य का चित्र इन शब्दो मे स्पष्ट हो जाता है—"सब कुछ राज्य के अन्तर्गत होना चाहिये, राज्य के विरुद्ध तथा राज्य के बाहर कुछ भी नही हो सकता।" राज्य मानव-जीवन के समस्त क्षेत्रों का नियन्त्रण करता है।

(४) स्वतन्त्रता को अधिकार न मानकर कर्त्तव्य मानता है (Considers Liberty as not a right but a duty)—फासीवादियों की स्वाधीनता की परिभाषा अपनी है और साथ ही बहुत कुछ नवीन भी। एक शक्तिशाली राज्य के प्रशसक फासीवादी स्वाधीनता को प्राकृतिक देन न मान कर राज्य द्वारा स्वीकृत एक रियायत (Concession) मानते है। इस सम्बन्ध में वे हीगल और नित्शे के विचारो से अत्यधिक प्रभावित है। फासीवादी दर्शन मे कानून का पालन ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। जेन्टाइल (Gentile) के शब्दों में, "कानून और राज्य स्वतन्त्रता के सर्वोत्तम अभिव्यक्तिकरण हैं।" फासीवादियों का कहना है कि "राज्य की ज्यों-ज्यों उन्नति होगी त्यों-त्यों ही स्वाधीनता क्षेत्र भी विस्तृत होता जायगा क्योंकि एक फासीवादी राज्य मे व्यक्ति की सुरक्षा तथा स्वाधीनता, कानून के घूंसे द्वारा रक्षित की जाती है।" स्वतन्त्रता

को राज्य से कोई भी व्यक्ति अधिकार के रूप मे नही माँग सकता । व्यक्ति को स्वतन्त्रता राज्य द्वारा सामाजिक हितों को ध्यान मे रखकर प्रदान की जाती है। मुसोलिनी के कथनानुसार, "फासीवाद राज्य में व्यर्थ और हानिकारक स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया गया है और केवल वे ही स्वतन्त्रताएं रखी गई है जिनका रखना आवश्यक समझा गया है ।"

(५) राज्य में व्यक्ति उपेक्षणीय है (The individual is negligible in a Fascist state)—फासीवाद व्यक्ति की उपेक्षा करते हुए नैतिक और कानूनी दोनों ही दृष्टियों से राज्य को महत्ता और प्राथमिकता देता है । स्वयं मुसोलिनी के शब्दों में, "फासिस्ट राज्य वैयक्तिक सुरक्षा तथा भौतिक सुरक्षा प्रदान करने वाला कोई रात्रि प्रहरी नही है—बल्कि यह तो एक आत्मिक इकाई है जो राष्ट्र की आर्थिक, राजनैतिक तथा न्यायमूलक व्यवस्था को प्राप्त करने के लिए उद्भूत हुई है ।"

(६) प्रजातन्त्र का विरोधी है (Opposed to Democracy)—फासीवाद प्रजातन्त्र एवं उदारतावाद का घोर शत्रु है । यह प्रजातन्त्र को "मूर्खता-पूर्ण, भ्रष्ट, धीमी, काल्पनिक और अव्यावहारिक प्रणाली" कहकर उसका उपहास उड़ाता है । फासीवादियों की मान्यता है कि प्रजातन्त्र एक मरणासन्न शव है जो पूर्णतया सड चुका है । ससदों को ये 'बातो की दुकान' कहकर पुकारते है । बहुमत के शासन को और निर्वाचन को ये धोखा मानते है । भ्रातृत्व, समानता और बन्धुत्व के नारों मे उनका कोई विश्वास नही है । मुसोलिनी के शब्दों मे "प्रजातन्त्रीय शासन की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि वह समय-समय पर लोगों को मिथ्यावादी सम्प्रभुता का आभास दे रहा है जब कि वास्तविक और प्रभावशाली सम्प्रभुता अदृश्य है, गुप्त और अनुत्तरदायी हाथों में रहती है ।"

(७) कुलीनतन्त्र में विश्वास करता है (Believes in Aristocracy)—फासीवाद कुलीनतन्त्र का पक्षपाती है । इस वाद के समर्थकों का विश्वास है कि साधारण जनता मे इतनी योग्यता नही होती कि वह शासन कार्य चला सके और अपने हितों के विषय मे विचार कर सके । शासन कार्य कुछ विशिष्ट लोगों के द्वारा चलाया जाना चहिये जो योग्य, अनुभवी एव कार्य-कुशल हों और निश्चित आदर्शों से प्रेरणा लेकर निष्ठा के साथ सम्पूर्ण राष्ट्रों के हितो को भली-भांति पहचान कर उनकी रक्षा कर सके । जन साधारण को फासीवादी अज्ञानी मानते है और कहते है कि उनको कुछ योग्य व्यक्तियों का, जिनके हाथों मे सत्ता है, अंधानुसरण करना चाहिये ।

(८) सैन्यवाद और साम्राज्यवाद का उपासक (Worshiper of Military power and Imperialism)—फासीवाद राष्ट्रीय उन्नति के

लिए युद्ध को अनिवार्य मानता है। "राष्ट्र के संरक्षण, विस्तार और विकास के लिए युद्ध सदा ही न्याय संगत है, भले ही उसमें अन्य छोटे समुदायों के हित और राष्ट्र के उत्कृष्ट सदस्यों का जीवन नष्ट हो जाय। मेरियो कार्ली (Mario Carli) के शब्दों में "फासीवाद का जन्म युद्ध से हुआ है और युद्ध में ही उसको अपना विकास खोजना है।" फासीवाद का जन्मदाता मुसोलिनी स्वयं कहा करता था "युद्ध मानवीय शक्तियों को चरम बिन्दु तक ऊंचा उठाकर साहसी वीरों के मस्तिष्क पर कुलीनता का टीका लगा देता है।" फासीवादी विगत रोमन साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न देखते थे। अबीसीनिया को इसलिए विजय भी किया गया था। सैन्यवाद का उपासक फासीवाद चाहता है कि नारियां अधिक से अधिक सन्तान पैदा करें जिससे सेना में वृद्धि की जा सके। साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा को प्रकट करते हुए मुसोलिनी ने घोषणा की थी—"या तो इटली को अपना विस्तार करना चाहिये या मिट जाना चाहिये।" युद्ध की प्रशंसा के गुण गाते-गाते फासीवाद इस सीमा तक पहुंच गया था कि उसे "विश्व शांति कायरों का स्वप्न" दिखलाई देता था। हिटलर के ये शब्द कि "विश्व में अनवरत युद्धों से मानवता महान बन सकती है तो चिर-शांति से उसका विनाश हो जाएगा।"—फासीवाद और नाजीवाद की युद्धप्रियता को इंगित करते है।

(९) अंतर्राष्ट्रीयता का विरोध करता है (Rejects Internationalism)—जहां आज हम राष्ट्रवाद के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयवाद की बात करते नही अघाते वहा मुसोलिनी कहा करता था, "अन्तर्राष्ट्रीय शांति अथवा व्यवस्था की चर्चा केवल वे राष्ट्र करते है जो अन्य राष्ट्रों के साथ संघर्ष और प्रतियोगिता मे सफलता पाने की आशा नही रखते।"

(१०) तर्क और बुद्धिवाद का विरोधी (Does not believe in Intellect and Criticism)—फासीवादी तर्क और बुद्धिवाद में कोई विश्वास नही रखते। इनकी मान्यता है कि मनुष्य किसी कार्य को भावना तथा कल्पना द्वारा प्रेरित होकर करता है। वह केवल चाहता है कि अपने जीवन को किसी प्रकार सुखमय बनाये। मुसोलिनी कहा करता था 'हमने प्रत्येक विरोधी का नाश कर दिया है। हमें किसी प्रकार के नियम मे विश्वास नही है और न स्वर्ग और मुक्ति में। हम मनुष्य मात्र की स्वतन्त्रता, जीवन और सुख की कामना करते हैं।" फासीवाद के समर्थकों को विचार-विमर्श और समझौते पर आधारित सरकार मे कोई आस्था नही थी। उनके अनुसार मनुष्य अपने फेफड़ों और हाथ पैरो का अवश्य प्रयोग कर सकता है परन्तु बुद्धि का नही। अविवेकवादी होने के कारण ही वे ऐसे नारे में विश्वास करने लगे थे जैसे "मुसोलिनी सर्वथा सत्य है, उस पर विश्वास रखो, आज्ञा-

पालन करो और युद्ध करो।" फासीवाद तर्क की अपेक्षा प्रेरित शक्ति और आडम्बरों में अधिक विश्वास करता था। चूंकि विवेक का विकास अधिनायकों की मृत्यु का निमन्त्रण होता है इसलिये फासीवादी विवेक और कल्पना से सदैव कतराते हैं। वे बुद्धिवादी दर्शन को कुछ बुद्धिवादी अमीरों की केवल विलासिता मात्र मानते है।

(११) एक नेता, एक दल और एक शासन में विश्वास (Faith in one leader, one Party and one Government)—फासीवाद एक नेता, एक दल और एक शासन में विश्वास करता है और इसलिये इसका विरोध करने वाले किसी व्यक्ति, समुदाय या सस्था को सहन नहीं करता। फासीवाद की शिक्षा है कि नेता के समस्त आदेशों को बिना किसी हिचकिचाहट तथा वाद-विवादो के पालन करना चाहिए। इस दल की भी स्थिति नेता के हाथों की कठपुतली के समान रहती है।

(१२) आर्थिक क्षेत्र में फासीवाद राष्ट्रीय उपयोगिता के दृष्टिकोण को प्रधान महत्व देता है—फासीवाद पूंजी और श्रम दोनों का नियमन करता है और दोनों पर नियन्त्रण रखता है। यह पूंजी एवं समाजवाद दोनो का विरोधी है। पूंजीवाद का यह खण्डन भी करता है लेकिन साथ ही उससे भय भी खाता है। यह उसका सर्वथा अन्त न करके राष्ट्रीय हित में उस पर बहुत से प्रतिबन्ध लगाना हितकर समझता है।

(१३) फासिस्ट राज्य एक निगमात्मक राज्य (Corporate State) होता है—फासीवादी राज्य मे श्रमिक सघो के स्थान पर फासीवादी संघों की स्थापना की जाती है जिनके अधिकारी कट्टर फासीवादी होते हैं। फासीवादी ही इसके सदस्य हो सकते है और इन सघो की शक्तियां बहुत महत्वपूर्ण होती है। सघों को मिल मालिकों के सघो के साथ मिलाकर राज्य द्वारा स्वीकृत कारपोरेशन बना दिया जाता है। ये ही कारपोरेशन निर्वाचन के लिये निर्वाचक मण्डलो का रूप धारण कर लेते हैं। राज्य का एक व्यक्ति के साथ सम्बन्ध कारपोरेशन के द्वारा होता है। प्रत्येक उद्योग और सेवा का संचालन करने के लिये एक कारपोरेशन होता है। फासीवादी इटली में ऐसे संस्थानों या कारपोरेशनो का जाल बिछा हुआ था। प्रोफेसर जोड़ (Joad) के शब्दों मे, 'ये सस्थान ही राज्य की आत्मा को विभिन्न धागाओ में बांटकर विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उसकी सम्पूर्णता दृढ़ बनाते थे।"

(१४) चर्च और धर्म में विश्वास करता है—१९२१ तक फासीवादियों का चर्च और धर्म मे कोई विश्वास नही था। ये धर्म और चर्च को समूल विनष्ट कर देने के पक्ष मे थे। लेकिन शीघ्र ही मुसोलिनी ने अनुभव किया कि इटली की जनता में उसके कैथोलिक चर्च के प्रभाव को कुचला नही जा

सकता। अतः अपने हित में उसने पोप से १९२९ में संधि कर ली जिसके अनुसार पोप ने फासिस्ट सरकार को इटली की सरकार के रूप में मान्यता प्रदान की और मुसोलिनी ने वेटीकन प्रदेश पर पोप की सत्ता को स्वीकार किया। कैथोलिक धर्म को राज्य धर्म घोषित कर दिया गया। धर्म को मार्क्सवादियों की भांति जनता की अफीम न मानकर राज्य और जनता का सहयोगी स्वीकार किया गया।

फासीवाद की आलोचना (Criticism of Fascism)—फासीवाद में विदेश प्रेम, न्यायोचित आर्थिक व्यवस्था एवं नागरिकों के कर्तव्य पर बल आदि श्रेष्ठ गुण होते हुए भी इनकी अपनी अद्भुत मान्यताओं के कारण आज के आलोचकों ने इसका बड़ी निर्दयता के साथ खण्डन कर दिया है। इटली मे तानाशाह मुसोलिनी के उदय के साथ ही फासीवाद का उदय हुआ और मुसोलिनी के अन्त के साथ ही यह भी सदा के लिए अपनी कब्र में दफना दिया गया। व्यावहारिक दृष्टि से इसने इटली में बहुत कुछ सफलता प्राप्त की लेकिन सैद्धांतिक दृष्टि से यह हमेशा एक दुर्बल, अमानवीय और अवसरवादी दर्शन ही रहा। इसके पराभाव ने यह सिद्ध कर दिया कि शक्ति-राजनीति का सिद्धांत राजनीति में सच्ची सफलता नही दे सकता।

फासीवाद की कठोर आलोचनायें प्राय: निम्नलिखित आधार पर की जाती हैं—

(१) अधिनायक तन्त्र को जन्म देने वाला है—आलोचकों का कहना है कि फासीवाद अधिनायक तन्त्र को जन्म देता है। यह तो ऐसी तानाशाही है जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नाश करके अपने अस्तित्व को कायम करने में विश्वास करती है। अधिनायक-तन्त्र की कमियां स्वयं स्पष्ट हैं। इसमे शांति के समय तनाव तो बना ही रहता है लेकिन वास्तविक संकट के समय भी तनाव बढ़ता जाता है जिसका राष्ट्र पर बहुत कुप्रभाव पड़ता है। इस तनाव को बनाये रखने के लिए और अपने प्रचार के लिए अधिनायक जनता को नाना प्रलोभन देते है और इस प्रकार की नीति का अन्तिम परिणाम युद्ध होता है, अधिनायकों की शक्ति का अन्त होता है, और देश का पतन होता है। इसी तरह अधिनायक की मृत्यु के बाद देश को उसका उचित उत्तराधिकारी मिलना प्रायः कठिन हो जाता है। इटली और जर्मनी इसके उदाहरण है।

(२) राज्य साधन है साध्य नहीं—फासीवाद राज्य को साध्य और व्यक्ति का साधन मानता है—यह सिद्धांत वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए हानिकारक है। इस सिद्धांत को स्वीकार करने का स्पष्ट अर्थ है कि व्यक्ति की स्थिति राज्य मे उस मशीन की तरह है जिसको इच्छानुसार प्रयोग में लाया

जा सकता है। उसकी स्थिति दास तुल्य हो जाती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राज्य का विकास व्यक्ति के लिए होता है न कि व्यक्ति का राज्य के लिए। राज्य एक कल्याणकारी संस्था है। जिसका मुख्य कर्त्तव्य उन समस्त साधनों को एकत्र करना है जिनके द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास हो सके।

(३) फासीवाद प्रगतिशील विचारों का विरोधी है—फासीवादी विचार बर्बर और असभ्य हैं जो प्रगतिशील विचारों की कब्र खोदने वाले हैं। प्रत्येक प्रगतिशील समाज प्रजातन्त्र, विचार-स्वतन्त्रता, शांति, एकता और भ्रातृत्व के विचारों में श्रद्धा रखता है। आधुनिक विश्व इन विचारों को चिर-स्थायी बनाने के लिए प्रत्यनशील है। लेकिन फासीवाद इन सब का विरोध करने की आदिम युग की भावनायें हमारे सामने रखता है जो किसी भी सभ्य एव प्रगतिशील राष्ट्र के लिए शोभनीय नही हो सकती।

(४) राष्ट्र को आवश्यकता से अधिक गौरव देता है—फासीवादी विचार-धारा राष्ट्रीयता पर आवश्यकता से अधिक बल देती है। राष्ट्र को महत्व देना उचित है लेकिन राष्ट्र को एक रहस्यात्मक देवता बतला कर उस पर जन-साधारण की बलि चढाना और जन-साधारण से उसकी पूजा करवाना सर्वथा अन्याय-सङ्गत है। इस प्रकार का दर्शन मानव समाज का कल्याण नही कर सकता।

(५) विकेन्द्रीकरण का विरोधी—फासीवाद की एक प्रमुख आलोचना यह है कि इसमें विकेन्द्रीकरण के लिए कोई स्थान नही है। प्रोफेसर कोकर के अनुसार—"किसी राष्ट्र के बहुत अधिक केन्द्रित होने और शासन-पूर्ण निदेशन में, साहित्य कला तथा विज्ञान का विकास नही हो सकता। केवल अस्थाई रूप से इस प्रकार की स्थिति लाभदायक हो सकती है परन्तु सदा के लिये नही।" प्रोफेसर एलबर्ट आइन्सटीन के शब्दों में—"तानाशाही का अर्थ है चारों ओर बन्दूकें तथा मशीनगन और इसके कारण एक दम घोटने वाला वातावरण। विज्ञान का विकास केवल स्वतन्त्र भाषण के वातावरण में ही संभव है।"

(६) फासीवादी विचारधारा स्पष्ट और संतुलित नहीं है—फासीवादियों के विरुद्ध एक आक्षेप यह है कि उनके पास कोई दार्शनिक सामग्री नही है अपितु एक अवसरवादी और सामूहिक विचारधारा है जो परस्पर विरोधी तत्वों से परिपूर्ण है। मुसोलिनी का यह कथन भी बहुत हास्यास्पद है कि "किसी भी दर्शन के आधारभूत सिद्धांत लोहे और टीन की हथकड़ियां हैं।" प्रोफेसर सेबाइन के अनुसार "फासिस्ट हीगलवादी राष्ट्रवाद, प्लेटो के कुलीनतन्त्रवाद, तथा बर्गसन के अविवेकवाद को समन्वित कर व्यावहारिक

रूप में परिणत करने में समर्थ रहा है।" फासीवादी दर्शन अस्पष्ट है। यह विभिन्न स्रोतों से इकट्ठे किये हुए विचारों का ऐसा समूह है जो समय-समय पर अपना रंग गिरगिट की तरह बदलता रहता है और बहुरूपिये की तरह अपने स्वरूप को बनाता विगाड़ता रहता है।

(७) पूंजीवाद का अधिक उग्र रूप है—फासीवाद पूंजीवाद का अत्यन्त उग्र रूप है। यह तभी स्थापित होता है जब पूंजीवाद पतन की ओर जाने लगे। जब पूंजीवाद विकास कर रहा होता है तो उसकी यह प्रवृत्ति होती है कि श्रमिकों को अधिक वेतन देकर और अन्य सुविधायें प्रदान करके उन्हें संतुष्ट रखने का प्रयत्न करे। लेकिन बाद में एक ऐसा समय आ जाता है जब पूंजीवाद अपने विकास की चरम सीमा पर पहुंच जाता है और तैयार माल की खपत नहीं हो पाती। इस कारण उसकी कीमत गिरने लगती है और पूंजीपतियों के मुनाफे में कमी आने लगती है। इस दिशा में वे श्रमिकों को अधिक सुविधायें देने से हाथ खींच लेते हैं और श्रमिक आन्दोलन करने के लिए तैयार हो जाते हैं। जब पूंजीवाद यह रूप धारण कर लेता है तब फासीवाद का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार फासीवाद पूंजीवाद का उग्र एवम् पतनोन्मुख रूप है।

(८) साम्राज्यवाद का समर्थक है—फासीवाद साम्राज्यवाद को उचित मानता है जिसका स्वाभाविक परिणाम युद्ध है। युद्ध को राष्ट्रीय गौरव और उत्कर्ष का समुचित साधन मानना एक अत्यन्त ही विनाशकारी धारणा है। यह विचार विश्व-शांति को दफनाने वाला है। साम्राज्यवाद के द्वारा सह-अस्तित्व की भावना कभी जन्म नहीं ले सकती। साम्राज्यवाद ही आधुनिक शीत और गरम युद्ध का मौलिक कारण है। साम्राज्यवाद का पोषक होने के नाते ही फासीवाद की दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय नियमों और संधियों का मूल्य नहीं है। इसे कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता है।

(९) शक्ति-राजनीति का सिद्धांत पतन की ओर ले जाने वाला है—फासीवादी विचारधारा निर्बुद्धि का पिटारा है जिसमें मनुष्य को अपने विवेक का पूर्ण लाभ उठाने का अवसर नहीं दिया जाता है। फासीवाद शक्ति में विश्वास करता है, यह उचित है लेकिन शक्ति को ही सब कुछ मान लेना पतन की ओर ले जाने वाला मार्ग है। सदैव ... के मद में डूबे रहने वाला राष्ट्र, विश्व जन-मत का सहयोग और सम[illegible] है,
इतिहास इस बात का साक्षी है। [illegible] के
अतिरिक्त और कुछ नहीं है। फासीवाद [illegible]
लोक-मत का दमन करने व विचार- [illegible]

संकोच नही करते। वे भूल जाते है कि वही राज्य उन्नति कर सकता है जिसमें नागरिकों का स्वेच्छापूर्ण सहयोग प्राप्त हो।

(१०) फासिस्ट व्यवस्था में शिक्षा, कला व साहित्य का स्वतंत्र रूप से विकास नहीं हो पाता—फासिस्ट शासक यह प्रयत्न करते है कि शिक्षा का ढंग ऐसा हो जिससे जनता एक विशेष दृष्टिकोण और विचार-सारिणी का अनुसरण करने लगे। वे यह नहीं मानते कि शिक्षा का प्रयोजन मनुष्य की शक्ति का और स्वास्थ्य का निर्विवाद विकास करना है।

(११) फासीवाद धर्म और नीति को मिश्रित करता है—फासीवाद का एक महत्वपूर्ण दोष यह है कि वह धर्म और राजनीति को मिला देता है जिसका स्वाभाविक अर्थ है–मनुष्य की राजनैतिक चेतना को कुचल देना। धर्म और राजनीति को मिलाना एक रूढीवादी विचारधारा है। इसके परिणाम यह होते है कि धर्म के नाम पर राज्य किसी भी प्रकार का आतंक कर सकता है। आज के सभी सभ्य एवम् प्रगतिशील राज्यों मे धर्म और राजनीति का मार्ग पृथक्-पृथक् है।

अंत मे समरवाल और गुप्त के शब्दो मे निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि, "फासीवाद आत्मा का हनन करता है और मस्तिष्क की अचेतन विविधताओ को एकरूप एवम् सार्वजनिक जीवन को निष्क्रिय बना देता है। यह मानव प्रकृति के आदिम तत्वो को आकर्षित करता है तथा नव-विकसित प्रवृत्तियों के प्रयोग से घबराता है। यह प्रत्येक प्रकार की स्वतन्त्रता का दमन करता है। इसके पाश्विक अत्याचारो की कहानी सुनकर हमारी सभ्य भावनाओ को धक्का लगता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फासीवाद युद्ध को जन्म देता है। अधिनायक-तंत्र फासीवाद का प्रमुख तत्व है, प्रत्येक अधिनायक-तंत्र कठिन रोग के कड़वे उपचार के समान है, जिसका प्रयोग दैनिक भोजन के लिए नहीं किया जा सकता।" इस सिद्धांत का वर्तमान में अतीत के पागलपन के सिद्धात के अतिरिक्त और कोई महत्व नहीं है।

फासीवाद की सफलतायें

यद्यपि फासीवाद की कटु आलोचना हुई है और ससार ने द्वितीय महायुद्ध के बाद मुसोलिनी का भयानक पतन देखा है, लेकिन फिर भी राजनीति-शास्त्र के इतिहास में इस दर्शन को महत्वहीन कहकर उपेक्षित नही किया जा सकता। सैद्धान्तिक दृष्टि से फासीवाद चाहे कोई दर्शन न हो, लेकिन प्रथम महायुद्ध के बाद इटली और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन करने वाला कोई छात्र यह स्वीकार नही करेगा कि मुसोलिनी और उसके अनुयायियों ने देश के लिए बहुत कुछ किया और उसमें सफलता प्राप्त की। इटली की अर्थ नीति को नई दिशा दी गई। इटली का औद्योगिक विकास किया गया, इटली की अट्टु

और पतित सरकार के दूषित शासन की सफाई की गई और एक तरह से इटली की सांस्कृतिक, सामाजिक एवम् राजनीतिक व्यवस्था में क्रांति उपस्थित कर दी गई। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महायुद्ध के समय ओरलेंडो की इटली और १९३६ की मुसोलिनी की इटली में रात और दिन का अन्तर था। संसार की आँखें हिटलर के बाद यदि यूरोप में किसी पर पड़ती थी तो मुसोलिनी की इटली पर ही। इटली को केवल १५ वर्ष के अल्पकाल में इतनी महान राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धि दिलाने का श्रेय फासीवाद को ही था। फासीवाद के कारण ही इटली सम्पूर्ण यूरोप के क्षितिज पर धूम्र-केतु के समान चमक उठा और उसकी प्रेरणा से बल्गारिया, ग्रीस, रोमानिया, स्पेन, जापान और दक्षिणी अमेरिका के विभिन्न देशों में फासीवादी क्रान्तियां विभिन्न रूप में सुलगने लगीं। शनैः २ इटली के फासीवाद ने एक विश्व व्यापी विचारधारा का रूप ले लिया और मुसोलिनी के ये शब्द मस्तिष्क में बार-बार कौंधने लगे कि "२० वीं शताब्दी फासीवाद का युग होगी, जिसमें इटली तीसरी बार मानवता का नेतृत्व करेगा।" १९३७ के हिटलर-मुसोलिनी समझौते ने एक बार समग्र संसार को फिर से हिला दिया और यह सिद्ध कर दिया कि तत्कालीन व्यावहारिक राजनीति में फासीवाद एक अत्यन्त ही प्रबल शक्ति थी जिसकी उपेक्षा करने का कोई भी राष्ट्र, चाहे वह प्रजातांत्रिक हो या अधिनायक-वादी, साहस नहीं कर सकता था। यह सही है कि विश्व के सभी देशों में फासीवादी क्रान्तियां सफल हुईं, लेकिन उनसे यह प्रकट हो जाता है कि फासीवाद ने विश्व व्यापी प्रभाव धारण कर लिया था। विभिन्न कारणोंवश द्वितीय महायुद्ध में चाहे फासीवाद को अपनी मौत या बेमौत मरना पड़ा लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसने—

(१) आधुनिक जर्जर, असत्य और दलित प्रजातन्त्र का भंडा अवश्य फोड़ दिया था।

(२) एक दलीय और सर्वाधिकारवादी सरकार की स्थापना कर एक कार्यकुशल तथा योग्य सरकार की स्थापना की थी।

(३) एक संस्थानिक व्यवस्था द्वारा श्रम-कल्याण के लिये बहुत कुछ किया था।

(४) राष्ट्रीयता को इटालियन लोगों के हृदय में जागृत कर उन्हें देशभक्त, साहसी और राष्ट्र के नाम पर मिटने वाला बना दिया था।

(५) इटली के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को पुनर्जीवित कर दिया था।

(६) एबीसीनिया युद्ध द्वारा इटली की जनसंख्या के लिये गुण और समृद्धि का मार्ग खोला था।

(७) इटली की भ्रान्त और हताश जनता के सम्मुख एक रचनात्मक कार्यक्रम रख उसे सफल नेतृत्व प्रदान किया था।

साम्यवाद और फासीवाद में समानतायें तथा असमानतायें

प्रथम महायुद्ध के बाद राजनीति में सहसा चमकने वाले इन दोनों ही वादों का वर्णन हम कर चुके है। यह जानना रोचक होगा कि किन दृष्टिकोणों से ये दोनों वाद समान मार्गीय है और किन दृष्टिकोणों से इनमें महत्वपूर्ण अन्तर है।

समानतायें—दोनो वादो मे जो समानतायें दिखाई देती हैं, वे सक्षेप मे इस प्रकार है—

(१) साम्यवाद और फासीवाद दोनों ही राजनीति मे अपना जन्म हीगल के आदर्शवादी दर्शन से ग्रहण करते है। "हीगल के राष्ट्र-पूजा के स्थान को फासीवाद और भी अधिक आगे ले जाता है, जबकि साम्यवाद हीगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर इतिहास का विश्लेषण करता है।" इस तरह दोनों का स्रोत हीगलवाद है।

(२) दोनों ही विचारधारायें प्रथम महायुद्ध के बाद उत्पन्न होने वाली रूसी और इटालियन परिस्थितियों से पैदा हुई। महायुद्ध के कारण दोनो ही देशों में जो अव्यवस्था और निराशा की स्थिति व्याप्त हो गई थी, उसका लाभ उठाकर लेनिन और मुसोलिनी ने अपना मार्ग प्रशस्त किया तथा क्रमश' साम्यवाद और फासीवाद के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने का उपयुक्त अवसर चुना। यह अलग बात है कि राष्ट्रवादी फासीवाद आज मर चुका है जबकि साम्यवाद निरन्तर व्यापक होता जा रहा है और अन्तर्राष्ट्रीय बनता जा रहा है।

(३) दोनों ही दर्शन सर्वाधिकारवादी राज्यों (Totalitarian States) का चित्र उपस्थित करते हैं।

(४) दोनों ही वाद प्रजातन्त्र और संसदात्मक प्रणालियों में विश्वास नही करते।

(५) दोनों ही दर्शनों की व्यवस्थाओं में एक दलीय शासन की व्यवस्था है। फासीवाद केवल फासिस्ट दल के अतिरिक्त अन्य किसी दल को जीने नहीं देना चाहता और साम्यवादी राज्य में भी विरोधी दल केवल जेल मे ही जीवित रह सकते हैं।

(६) फासीवादी और साम्यवादी दोनों ही राज्यों मे व्यक्ति का कोई महत्व और मूल्य नहीं है। दोनों ही सिद्धातों का यह मूल मन्त्र है कि राष्ट्र या समाज के हित के लिए व्यक्ति की स्वाधीनता की बलि लगा देनी भी चाहिए।

अनुसार समाज में दो से अधिक वर्ग हैं। इसके अतिरिक्त फासीवादी यह भी मानते है कि धनिकों और श्रमिको मे सदैव चलने वाली शत्रुता और संघर्ष नहीं हैं, अपितु दोनों मिल जुल कर राष्ट्रीय हित के लिए कार्य करते हैं ।

(६) साम्यवाद एक नास्तिक दर्शन है जो धर्म को जनता की अफीम मानता है । फासीवाद धर्म का विरोधी नही है । फासिस्टो ने चर्च से सन्धि की थी और उसके संयोग से जनता पर निर्दयतापूर्वक शासन किया था ।

(७) साम्यवादी सभी क्षेत्रों में स्त्रियों और पुरुषों को समान मानते हुए उन्हें समान अधिकार देते हैं जब कि फासीवाद नारी को पुरुष के समकक्ष न मानते हुए "नारी–दासता" में विश्वास करता है ।

(८) साम्यवाद जातीय पवित्रता के सिद्धांत को स्वीकार नही करता जब कि इटली के फासीवादी इटालियनो को परम पवित्र और उच्चतर जाति मानते हैं ।

(९) साम्यवाद मनुष्य–मनुष्य की समानता में विश्वास करता है, पर फासीवाद की मान्यता है कि मनुष्य जन्म से ही असमान पैदा होता है ।

(१०) फासीवाद राज्य को एक साध्य मानकर चलता है जबकि साम्यवाद उसे समाज को वर्गहीन बनाने का एक साधन मात्र मानता है ।

उपसंहार के रूप मे हम कह सकते है कि "साम्यवाद यदि एक जीवन का दर्शन है तो फासीवाद मृत्यु का ।" एक "जीओ और जीने दो" मे विश्वास करता है तो दूसरा "दूसरों को मारकर जीने मे ।"

---

(७) दोनों ही दर्शन संघर्षों की अनिवार्यता में विश्वास करते हैं। साम्यवादी वर्ग-युद्ध में विश्वास करते हैं तो फासिस्ट राष्ट्रीय युद्धों को अनिवार्य सत्य समझते हैं।

(८) दोनो ही वाद १९वीं शताब्दी के विवेकपूर्ण दर्शन के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में जन्मे हैं और प्रधानतः अबुद्धिवादी हैं।

(९) यदि फासीवाद खुले रूप में साम्राज्यवाद है तो साम्यवाद स्पष्ट रूप से प्रादेशिक साम्राज्य न चाहते हुए भी सैद्धान्तिक साम्राज्यवाद का समर्थक है।

असमानतायें—दोनों विचारधाराओं में निम्नांकित असमानतायें पाई जाती हैं—

(१) फासीवाद "राज्य को फासीवादी आदर्शों प्रतिमूर्ति" मानता है जबकि साम्यवाद के अनुसार "राज्य एक ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा सर्वहारा वर्ग, वर्ग-युद्ध लड़ता है। राज्य एक भयंकर शस्त्र है इससे अधिक कुछ भी नहीं।" इस तरह फासीवादी व्यवस्था में सब कुछ है और एक स्थायी संस्था है, जब कि साम्यवादियों के अनुसार राज्य-संस्था का एक दिन लोप हो जाना है।

(२) फासीवाद के आदर्श समाज की वर्ग व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं है, लेकिन साम्यवाद एक वर्गहीन समाज का आदर्श लेकर चलता है।

(३) फासीवाद साम्यवाद की तरह पूंजीवाद का शत्रु नहीं है वरन् उसे स्थायी रखते हुए साम्राज्यवादी नीति का पालन करना चाहता है। इसके विपरीत साम्यवाद पूंजीवाद का समूल विनाश चाहता है और उसे किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं करता। प्रत्यक्ष रूप से साम्यवाद प्रादेशिक साम्राज्यवाद का लक्ष्य भी घोषित नहीं करता और एक शांतिप्रिय राष्ट्रीय नीति में अपना विश्वास व्यक्त करता है। पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि साम्यवाद के इन इरादों में विश्वास नहीं किया जा सकता। साम्यवादी चीन की विस्तारवादी और साम्राज्यवादी नीति इस का खुला प्रमाण है।

(४) साम्यवादी अपनी व्यवस्था में किसी प्रकार का शोषण नहीं चाहते, जबकि फासीवादी दर्शन, शोषण, दमन, अन्याय और निरंकुशता पर आधारित है। फासीवादी व्यवस्था में राज्य के अन्याय और शोषण को व्यक्ति जीवन भर सहन करता रहेगा।

(५) साम्यवादी समाज में केवल धनिकों और श्रमिकों के दो वर्गों को ही मानते हैं और इनके निरन्तर संघर्ष पर बल देते हैं। फासीवाद के

अनुसार समाज में दो से अधिक वर्ग हैं। इसके अतिरिक्त फासीवादी यह भी मानते हैं कि धनिको और श्रमिकों मे सदैव चलने वाली शत्रुता और संघर्ष नहीं हैं, अपितु दोनों मिल जुल कर राष्ट्रीय हित के लिए कार्य करते है ।

(६) साम्यवाद एक नास्तिक दर्शन है जो धर्म को जनता की अफीम मानता है । फासीवाद धर्म का विरोधी नही है । फासिस्टो ने चर्च से सन्धि की थी और उसके संयोग से जनता पर निर्दयतापूर्वक शासन किया था ।

(७) साम्यवादी सभी क्षेत्रों मे स्त्रियो और पुरुषों को समान मानते हुए उन्हें समान अधिकार देते हैं जब कि फासीवाद नारी को पुरुष के समकक्ष न मानते हुए "नारी–दासता" मे विश्वास करता है ।

(८) साम्यवाद जातीय पवित्रता के सिद्धांत को स्वीकार नही करता जब कि इटली के फासीवादी इटालियनो को परम पवित्र और उच्चतर जाति मानते हैं ।

(९) साम्यवाद मनुष्य–मनुष्य की समानता मे विश्वास करता है, पर फासीवाद की मान्यता है कि मनुष्य जन्म से ही असमान पैदा होता है ।

(१०) फासीवाद राज्य को एक साध्य मानकर चलता है जबकि साम्यवाद उसे समाज को वर्गहीन बनाने का एक साधन मात्र मानता है ।

उपसहार के रूप मे हम कह सकते है कि "साम्यवाद यदि एक जीवन का दर्शन है तो फासीवाद मृत्यु का ।" एक "जीओ और जीने दो" में विश्वास करता है तो दूसरा "दूसरो को मारकर जीने में ।"

८

राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयतावाद
(NATIONALISM AND INTER-NATIONALISM)

"हमारा देश समूचा संसार है। हमारे देशवासी सारे मानव मात्र हैं। हम अपने राष्ट्र की धरती को उतना ही प्यार करते हैं, जितना दूसरे देशों की धरती को।"

—W. Garrism

घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार की राजनीति आज राष्ट्रीयतावाद के प्रभाव से बुरी तरह आक्रान्त है। हम प्रायः अपने प्रत्येक कार्य और व्यवहार में आज राष्ट्रवाद के भाव से प्रेरित हैं। राष्ट्रवाद का यह भाव राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी विधायक बन गया है। इस शताब्दी के दो महायुद्धों में हम देख चुके हैं कि राष्ट्रीयता की भावना के उग्र रूप ने विश्व को दो भागों में बांटकर भीषण विनाश-लीला रचाई है। राष्ट्रीयतावाद का यह विकट रूप है, अन्यथा शुद्ध राष्ट्रवाद तो अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का सहचर है। शुद्ध राष्ट्रवाद के विकास के बिना अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का स्वप्न कभी साकार नहीं हो सकता। राष्ट्रवाद यदि नियमित सीमा में रहे तो यह एक उत्कृष्ट भावना है। किन्तु स्वार्थी नेताओं व राजनीतिज्ञों द्वारा उकसाये जाने पर जब यही भावना अति-राष्ट्रीयता (Chauvanism) को जन्म देती है तो इसका अन्तिम परिणाम साम्राज्यवाद तथा महा-विनाशक महायुद्ध होते हैं। अतः राष्ट्रवाद एक दुधारा औजार है। यह एक तरफ अपने शुद्ध अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के साथ मिलकर देश की उन्नति, प्रगति और समृद्धि के बीज बोता है तो दूसरी तरफ अपने विकृत रूप में अथवा अपने दुरुपयोग किये जाने पर महा-विनाश के दृश्य उत्पन्न कर सकता है।

राष्ट्रवाद का विकास

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रवाद का विकास कब और कैसे हुआ? संभवतः प्राचीनकाल में इसका विकास तब हुआ जब लोगों ने अपनी सामाजिक मूल प्रवृत्तियों के फलस्वरूप समूहों और कबीलों में

८

राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयता

(NATIONALISM AND INTER-NATION

"हमारा देश समूचा संसार है। हमारे देशवा
मात्र हैं। हम अपने राष्ट्र की धरती को
प्यार करते हैं, जितना दूसरे देशों की ध

घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय दोनो ही प्रकार की राज
वाद के प्रभाव से बुरी तरह आक्रान्त है। हम प्राय: अपने
व्यवहार मे आज राष्ट्रवाद के भाव से प्रेरित हैं। राष्ट्रव
राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी विधायक बन गया
के दो महायुद्धों मे हम देख चुके है कि राष्ट्रीयता की भाव
विश्व को दो भागो मे बाटकर भीषण विनाश-लीला रचा
वाद का यह विकट रूप है, अन्यथा शुद्ध राष्ट्रवाद तो अन्त
सहचर है। शुद्ध राष्ट्रवाद के विकास के बिना अन्तर्राष्ट्रीय
कभी साकार नही हो सकता। राष्ट्रवाद यदि नियमित सी
एक उत्कृष्ट भावना है। किन्तु स्वार्थी नेताओं व राजनीतिज्ञ
जाने पर जब यही भावना अति-राष्ट्रीयता (Chauvanism
है तो इसका अन्तिम परिणाम साम्राज्यवाद तथा महा-वि
होते हैं। अतः राष्ट्रवाद एक दुधारा औजार है। यह एक त
अर्थों मे अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के साथ मिलकर देश की उन्नति, प्र
के बीज बोता है तो दूसरी तरफ अपने विकृत रूप में अथवा
किये जाने पर महा-विनाश के दृश्य उत्पन्न कर सकता है।

राष्ट्रवाद का विकास

यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि राष्ट्रवाद
कब और कैसे हुआ ? संभवतः प्राचीनकाल में इसका विकास त
लोगों ने अपनी सामाजिक मूल प्रवृत्तियों के फलस्वरूप समूहो औ

राष्ट्रवाद क्या है—इसे हम अधिक अच्छे ढग से इसकी विशेषताओं द्वारा समझ सकते हैं जिनमें से कुछ प्रमुख आगे प्रकट की गई हैं—

राष्ट्रवाद "एक राष्ट्र एक राज्य" के सिद्धान्त पर विश्वास करता है। इसकी मान्यता है कि एक देश मे स्वतन्त्र सस्थाओं का विकास तभी सम्भव है जब उसमे रहने वाले सभी व्यक्तियों की एक ही राष्ट्रीयता हो। अत एक राज्य मे अनेकों और विभिन्न राष्ट्रीयता धारी नागरिक होगे तो उस देश की राजनीति अशांति, आन्तरिक सघर्ष और समस्याओं से भरपूर होगी। दूसरे शब्दो में राष्ट्रवाद राष्ट्रीय राज्यों (Nation State) के सिद्धात का समर्थक है।

"राष्ट्रवाद अपने विशुद्ध अर्थों मे प्रजातन्त्र का समर्थक है। यह नागरिकों में चेतना का सचार करके उन्हे अपने कर्त्तव्य और अधिकारों के प्रति जागरूक बनाता है। यह राष्ट्रीय जाग्रति पैदा करके लोगो को अन्यायी शासन के विरुद्ध लड़ना सिखाता है। यह उन्हें अपने जन्म-सिद्ध स्वाधीनता और अधिकारों की मांग करने का उपदेश देता है। यही कारण है कि जहा-जहां भी निरकुश राजतन्त्र अथवा निरकुश शासन होता है वहा राष्ट्रीयता की भावना उससे लोहा लेकर प्रजातन्त्र का मार्ग प्रशस्त कर देती है। उदाहरण के लिए आज से कुछ शताब्दियों पूर्व ब्रिटेन मे निरकुश राजतन्त्र था, लेकिन राष्ट्रीयता की लहर ने वहां प्रजातन्त्र को विकसित किया। इसी तरह भारत की राष्ट्रीय भावना ने निरंकुश शासन को प्रजातन्त्रात्मक पद्धति स्वीकार करने और देश को स्वाधीनता देने के लिए विवश कर दिया।"

राष्ट्रवाद आत्मनिर्णय का एक उपयोगी सिद्धात है। इसका मानना है कि प्रत्येक भौगोलिक इकाई मे रहने वाले सभी लोग एक राष्ट्रीयता को मानने वाले और उन्हें स्वयं यह निर्णय करने का अधिकार है कि वे किस सरकार के अधीन किस राज्य में रहना चाहते है। वास्तव में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त राष्ट्रवाद की एक अपूर्व देन है जो यह माग करता है कि—

(i) प्रत्येक राष्ट्र को यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी इच्छानुकूल अपने को विकसित करे।

(ii) प्रत्येक राष्ट्र को राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त कर एक स्वतन्त्र राष्ट्र कहे जाने का हक होना चाहिए।

(iii) जनता को यह निर्णय करने का अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी सरकार स्वयं चुने और अपनी राजनैतिक सस्थाओं का इच्छानुकूल विकास करें।

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त, जो राष्ट्रवाद की एक अपूर्ण देन

व्यावहारिक रूप दिया। दोनों राष्ट्र प्रबल राष्ट्रवादी राज्यों के रूप में प्रकट हुए।

प्रथम महायुद्ध का राष्ट्रीय राज्य के विकास पर और भी गहरा प्रभाव पड़ा। युद्ध के बाद अनेक राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त वर्साय की संधि के प्रतिक्रिया स्वरूप प्रथम व द्वितीय महयुद्धों के बीच जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना पराकाष्ठा पर पहुंच गयी। टर्की में मुस्तफा कमाल ने राष्ट्रीय राज्य की स्थापना की। एशियायी देशों में भी राष्ट्रीयता के भाव जाग्रत होने लगे। जापान राष्ट्रीय राज्य का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बन गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद तो राष्ट्रवादी विचारों की बाढ़ सी आ गयी। विश्व मे विभिन्न राष्ट्रवादी राज्य विकसित हुए। भारत के राष्ट्रवादियों ने मुक्ति आन्दोलन में सफलता प्राप्त कर १९४७ मे भारत को आजाद किया। १९४९ में चीन मे साम्यवादी दल की अध्यक्षता में राष्ट्रवाद का नया चरण आरम्भ हुआ। वर्मा, लका, हिन्दचीन, हिन्दएशिया, ईरान, सऊदी अरब, अफगानिस्तान, मिश्र आदि सभी राष्ट्रवादी देश राष्ट्रीय विचारों से प्रभावित होकर स्वतन्त्र हो गये।

राष्ट्रवाद के लक्षण

राष्ट्रवाद एक बडा अनिश्चित शब्द है जिसका सामान्यत अर्थ राष्ट्रीय स्वाभिमान, शक्ति तथा प्रतिष्ठा से लिया जाता है। यह एक नही बल्कि अनेकों तत्वों का सम्मिश्रण है। इसकी परिभाषा देते हुए प्रो० ग्रौन्ज ने लिखा है—"*राष्ट्रवाद एक प्रकार की सामूहिक भावना है जिसका आधार विभिन्न* प्रकार की एकतायें या समानतायें हैं और जिसका सम्बन्ध मुख्यत. राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति अथवा विकास से है।" प्रो० हेज ने लिखा है—"*यह राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय राज्य और राष्ट्रीय देशभक्ति का एक अद्भुत समन्वय है।*" सरल शब्दो मे कहना चाहिये कि राष्ट्रवाद राष्ट्रीयता की भावना को संगठित रूप से अभिव्यक्त करने का एक भावात्मक माध्यम है। यह एक मनोवैज्ञानिक भावना है जो एक जाति अथवा समुदाय के लोगो को अपने अधिकारों के प्रति सजग रहना सिखलाती है तथा किसी विदेशी या बाह्य आक्रमण के विरुद्ध अपने अधिकारों और अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखने के लिए नागरिकों को आह्वान करती है। राष्ट्रवाद वह शक्ति है जो राष्ट्रीयता को राष्ट्र के रूप मे सगठित होने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार अपने सच्चे अर्थों मे राष्ट्रवाद केवल एक कोरी राजनीतिक वस्तु नही है, यद्यपि राजनैतिक आकांक्षायें इसको विकसित करती है। राष्ट्रवाद एक राष्ट्रीय समुदाय की पूजा करना है और उसके सम्मुख वह अन्य सबको तुच्छ मानता है।

है, अपने आप में एक बहुत प्रभावशाली सिद्धांत है। विश्व के बड़े-बड़े राष्ट्रों का इसने ध्यान आकर्षित किया है। बहुत से अर्द्ध-विकसित राज्यों के उत्कर्ष में इस सिद्धांत ने सहयोग दिया है। यह सिद्धान्त राष्ट्रीय जातियों में स्वतन्त्रता और एकता की भावनाओं का संचार करता है। इसके द्वारा प्रत्येक राष्ट्रीय जाति के प्राकृतिक अधिकार का समर्थन होता है। इस सिद्धान्त का प्रयोग यदि सही रूप में किया जाय तो यह निश्चय ही बड़ा लाभदायक होगा। परन्तु इस सिद्धांत की कटु आलोचना भी हुई है। यह कहा जाता है कि चाहे अतीत काल में यह सिद्धांत एक जोड़ने वाली शक्ति क्यों न रहा हो, किन्तु वर्तमान काल में यह सिद्धात पृथक् करने वाली शक्ति बन गया है। यदि आत्मनिर्णय के सिद्धात को मान लिया जाय तो केवल यूरोप में लगभग २६ राज्यों के ६८ राज्य हो जायेंगे। दूसरा आक्षेप यह है कि प्रत्येक राष्ट्रीय जाति इस योग्य नहीं होती कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व कायम किया जा सके। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धांत के महत्व को भी नहीं समझता। इतना ही नहीं, यह सिद्धांत अन्तर्राष्ट्रीय शांति और व्यवस्था के लिए भी संकट पैदा कर सकता है। छोटे राष्ट्र प्राय: बहुत सी राजनीतिक समस्यायें उत्पन्न करते हैं और उनमें बड़े राज्य की अपेक्षा पारस्परिक संघर्ष के अवसर अधिक होते हैं। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धात को दोषों से दूर करने और उपयोगी बनाने की दृष्टि से प्रो० हॉकिंग ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं—(१) उस राष्ट्रीय जाति को राज्य में संगठित करना चाहिए जिसके पास प्राकृतिक साधनों की बहुलता हो, (२) उस राष्ट्रीय जाति में अच्छे कानून बनाने की और अच्छी शासन व्यवस्था स्थापित करने की क्षमता होनी चाहिए, (३) उसमें व्यापार और वाणिज्य सम्बन्धी ऋणों को चुकाने की क्षमता होनी चाहिए, (४) उसमें अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को पूरा करने की सामर्थ्य होनी चाहिए, एवं (५) उस राष्ट्रीय जाति को इतना शक्तिशाली होना चाहिए कि वह अपने राष्ट्रीय सम्मान को विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित रख सके।

यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रवाद के दो सर्वप्रधान रूप हो सकते हैं—शुद्ध एवं विकृत। शुद्ध राष्ट्रवाद शान्त, उदार, रचनात्मक और सहनशील है। इस प्रकार का राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी नहीं होता वरन् उसके विकास में सहायक होता है। इसके विपरीत अपना विकृत रूप धारण कर लेने पर यही राष्ट्रवाद संकीर्ण, साम्राज्यवादी, उग्र और आक्रमणकारी बन जाता है। हिटलर और मुसोलिनी के समय जर्मनी और इटली में राष्ट्रवाद अपने उग्र रूप में इस सीमा तक पहुँच चुके थे। इन देशों के उग्र राष्ट्रवाद ने

नहीं करेंगे तो यह अवश्यम्भावी है कि हम एक भीषण दुर्घटना के शिकार हो जायेंगे। आधुनिक अणु युग मे संसार का हित इसी मे है कि वह राष्ट्रीय पार्थक्य की भावना (National exclusivene-s) को छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय एक्य भावना (International inclusiveness) को अपना ले।"

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के मूल लक्षण

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की परिभाषा करना उसी प्रकार से कठिन है जिस प्रकार से राष्ट्रवाद की। यदि राष्ट्रवाद देश-प्रेम की भावना है तो अन्तर्राष्ट्रीयवाद विश्व प्रेम की। यह धर्म, जाति तथा राष्ट्रीय बन्धनों को तोड़कर एक नवीन व्यवस्था की कल्पना है जिसे संघ राज्यो मे प्रोत्साहन मिला है। जिस तरह एक संघात्मक प्रणाली में बहुत से राज्य एक केन्द्रीय व्यवस्था के अधीन रहते हैं उसी तरह विश्व के राष्ट्र भी संघ के राज्यों की भांति रह सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की राष्ट्रवाद से व्यापक भावना है। गोल्ड स्मिथ ने अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को समझाते हुए कहा है—"अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एक भावना है कि व्यक्ति केवल अपने राज्य का सदस्य ही नहीं है वरन् विश्व का नागरिक है।" विलियम ल्वाइड गैरिसन ने लिखा है—"हमारा देश विश्व है, हमारे देशवासी सम्पूर्ण मानव जाति है, हम अपनी जन्म भूमि को उसी प्रकार प्यार करते हैं, जिस प्रकार हम अन्य देशों को प्रेम करते हैं।"

राष्ट्रीयतावाद की भांति अन्तर्राष्ट्रीयतावाद भी अभी तक केवल एक भावना मात्र है जो कुछ निश्चित आदर्शों और सिद्धांतों में विश्वास करता है। इसके मूल लक्षणों को हम निम्नानुसार वर्णित कर सकते हैं—

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का मौलिक उद्देश्य विश्व युद्ध की संभावनाओं को समाप्त करना है। यह चाहता है कि विश्व कोष से विश्व युद्ध जैसे घृणित शब्द को सदा के लिए निकाल दिया जाए। विश्व युद्ध का अर्थ सामूहिक आत्महत्या के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और तीसरा महायुद्ध संसार को इतना बंजर बना देगा जिसमे मनुष्यता जैसे पौधे कभी अंकुरित नहीं होंगे और लाखों-करोड़ों वर्षों में मनुष्य ने जो कुछ प्राप्त किया है वह सदैव के लिए मिट जायेगा। अतः अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का संदेश है कि विश्व युद्ध को लोग कल्पना में भी स्थान नहीं दें।

युद्ध का विरोधी होने का स्वाभाविक परिणाम यह है कि अन्तर्राष्ट्रीयतावाद समस्त संसार के राष्ट्रों के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को बनाये रखने के पक्ष में है। उसकी मान्यता है कि शांति और स्वस्थ वातावरण में ही सुख, समृद्धि तथा सभ्यता का विकास सम्भव है। अतः सम्पूर्ण राष्ट्रों को और संसार के समस्त नागरिकों को एक विशालतर हित की प्राप्ति के लिए,

अभिमान और शत्रुता की ओर ले जाता है। गलत राष्ट्रीय अभिमान के फलस्वरूप भूतकाल में अनेक बार युद्ध हो चुके हैं। साम्राज्यवाद की जड़ में भी उग्र राष्ट्रीयता का प्रमुख हाथ रहा है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपने अधीन कर लेना चाहता है। कभी-कभी अनेक राष्ट्रीयताओं वाले देशों में राष्ट्रवाद गृह-युद्ध का कारण बन जाता है। राष्ट्रवाद की भावना अपने नंगे रूप में एकाकीपन की भावना है जो अन्तर्निर्भरता के स्थान पर आत्मनिर्भरता को सिखाती है। इससे नागरिकों का दृष्टिकोण संकुचित बनता है और वे इस बात को भूल जाते हैं कि सारा विश्व एक है। राष्ट्रवाद का इतिहास बताता है कि एक विश्व और अन्तर्राष्ट्रीय एकता को साकार रूप देने के मार्ग में यह बहुत बड़ा बाधक सिद्ध हुआ है और हो रहा है।

इस प्रकार राष्ट्रवाद एक ऐसी वस्तु है जिसमें सभ्यता व संसार की अभिवृद्धि तथा विनाश दोनों के बीज विद्यमान हैं। यह एक अत्यन्त शक्तिशाली हथियार है जिसका प्रयोग बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए। अपने विशुद्ध रूप में इसने अतीत में मानवता का बहुत कल्याण किया है। आज भी स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीयता की आधार शिला विशुद्ध राष्ट्रवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकती। लेकिन दूसरी ओर अपना विकृत रूप धारण करने पर राष्ट्रवाद से होने वाले अहित हमें भयभीत कर देते हैं। विकृत राष्ट्रवाद मनुष्यता से पशुता की ओर ले जाने वाला मार्ग है। अतः राष्ट्रवाद के इस उग्र और विकृत रूप से बचे रहने में ही मानव जाति का कल्याण है। सच्चा राष्ट्रवाद वही है जो "जीओ और जीने दो" के सिद्धांत में विश्वास करता है।

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद
(Internationalism)

आधुनिक युग में अधिकांश क्षेत्र यह अनुभव करने लगे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनहीनता (International Anarchy) के स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना होनी चाहिए। पहले जिस चीज को व्यक्ति एक दूर का अव्यावहारिक आदर्श अथवा कल्पना मात्र समझा करता था, वही आज के वैज्ञानिक युग में सत्य के बहुत निकट दिखाई देता है। यातायात और संचार साधनों की क्रान्ति ने दूरी (Distance) के भेद को समाप्त कर दिया है। मेडरियागा (Madariaga) के शब्दों में "समाचार तथा विचार की दृष्टि से आज का विश्व एक बाजार की-सी एकता प्राप्त कर चुका है। आज के गतिशील मानव समाज के लिए राष्ट्रीयता अथवा आत्मनिर्भरता एक बहुत पुरानी बात हो चुकी है। आज के अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में हम यदि अपनी राष्ट्रीय राज्य-सत्ता के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीयता के साथ संयुक्त

नहीं करेंगे तो यह अवश्यम्भावी है कि हम एक भीषण दुर्घटना के शिकार हो जायेंगे। आधुनिक अणु युग में संसार का हित इसी में है कि वह राष्ट्रीय पार्थक्य की भावना (National exclusiveness) को छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय एक्य भावना (International inclusiveness) को अपना ले।"

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के मूल लक्षण

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की परिभाषा करना उसी प्रकार से कठिन है जिस प्रकार से राष्ट्रवाद की। यदि राष्ट्रवाद देश-प्रेम की भावना है तो अन्तर्राष्ट्रीयवाद विश्व प्रेम की। यह धर्म, जाति तथा राष्ट्रीय बन्धनों को तोड़कर एक नवीन व्यवस्था की कल्पना है जिसे सब राज्यों से प्रोत्साहन मिला है। जिस तरह एक संघात्मक प्रणाली में बहुत से राज्य एक केन्द्रीय व्यवस्था के अधीन रहते हैं उसी तरह विश्व के राष्ट्र भी संघ के राज्यों की भांति रह सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की राष्ट्रवाद से व्यापक भावना है। गोल्ड स्मिथ ने अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को समझाते हुए कहा है—"अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एक भावना है कि व्यक्ति केवल अपने राज्य का सदस्य ही नहीं है वरन् विश्व का नागरिक है।" विलियम ल्वाएड गैरिसन ने लिखा है—"हमारा देश विश्व है, हमारे देशवासी सम्पूर्ण मानव जाति है, हम अपनी जन्म भूमि को उसी प्रकार प्यार करते हैं, जिस प्रकार हम अन्य देशों को प्रेम करते हैं।"

राष्ट्रीयतावाद की भांति अन्तर्राष्ट्रीयतावाद भी अभी तक केवल एक भावना मात्र है जो कुछ निश्चित आदर्शों और सिद्धांतों में विश्वास करता है। इसके मूल लक्षणों को हम निम्नानुसार वर्णित कर सकते हैं—

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का मौलिक उद्देश्य विश्व युद्ध की संभावनाओं को समाप्त करना है। यह चाहता है कि विश्व कोष से विश्व युद्ध जैसे घृणित शब्द को सदा के लिए निकाल दिया जाए। विश्व युद्ध का अर्थ सामूहिक आत्महत्या के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और तीसरा महायुद्ध संसार को इतना बंजर बना देगा जिसमें मनुष्यता जैसे पौधे कभी अंकुरित नहीं होंगे और लाखों-करोड़ों वर्षों में मनुष्य ने जो कुछ प्राप्त किया है वह सदैव के लिए मिट जायेगा। अतः अंतर्राष्ट्रीयतावाद का संदेश है कि विश्व युद्ध को लोग कल्पना में भी स्थान नहीं दें।

युद्ध का विरोधी होने का स्वाभाविक परिणाम यह है कि अन्तर्राष्ट्रीयतावाद समस्त संसार के राष्ट्रों के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को बनाये रखने के पक्ष में है। उनकी मान्यता है कि शांति और स्वच्छ वातावरण में ही सुख, समृद्धि तथा सभ्यता का विकास सम्भव है। अतः सम्पूर्ण राष्ट्रों को और संसार के समस्त नागरिकों को एक विश्वव्यापी हित की प्राप्ति के लिए

अपने तुच्छ और क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठना चाहिए ताकि पारस्परिक कलह और राष्ट्रीय संघर्ष समाप्त हो सकें।

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एक मानवीय विचारधारा है जो यह मानती है कि राष्ट्रों में पारस्परिक घृणा, ईर्षा, द्वेष व असहयोग की भावनायें विश्व हित में घातक हैं। संसार के राष्ट्रों को चाहिए कि वह अपने को विश्व परिवार का एक सदस्य समझें और अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ प्रेम, सहानुभूति तथा मैत्री का बर्ताव करें। जब तक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना पैदा नहीं होगी तब तक एक शान्तिमय वातावरण नहीं बन सकेगा।

अपने विश्व बन्धुत्व के आदर्श सिद्धांतों द्वारा संसार में चिरस्थायी शांति स्थापित करने के लिए व्यावहारिक राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एक विश्व संघ अथवा विश्व-परिवार का समर्थन करता है। अंतर्राष्ट्रीयतावाद का एक मौलिक उद्देश्य विश्व सरकार की स्थापना करना है। वह चाहता है कि संसार के सभी स्वतन्त्र राष्ट्र आपस में मिलकर एक ऐसी विश्व-संस्था की स्थापना करें जिसे वे अपने असीमित राज्य सत्ता का एक भाग स्वेच्छा से सौंप दें। स्पष्ट है कि इस प्रकार के संघ की कल्पना एक संघात्मक विश्व-सरकार (Federal One World Govt.) की कल्पना है। इसका उद्देश्य है कि विश्व में एक ऐसी संघात्मक शासन व्यवस्था को जन्म दिया जाए जिसका प्रत्येक राष्ट्र सदस्य हो, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और राष्ट्रीय व्यवस्था में सहयोग हो, तथा केन्द्र और राज्य की सरकारों की भांति एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र तथा अन्य राष्ट्र हों। इस विचारधारा की दृढ़ मान्यता है कि विश्व शांति का वैकल्पिक प्रयोग विश्व सरकार है। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का यह आदर्श आज धीरे-धीरे सत्य बनता जा रहा है। प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की स्थापना इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था और आज संयुक्त राष्ट्रसंघ आदि अपनी ब्लाक पोलिटिक्स (Block Politics) को छोड़कर अधिक निष्पक्षता और तत्परता से कार्य करने लगे तो यह स्वप्न बहुत शीघ्र ही यथार्थता में बदला जा सकता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह भ्रम हो सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीयतावाद विश्व-वाद (Universalism) है। पर वास्तविकता यह है कि विश्व-सरकार की स्थापना चाहते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद विश्ववाद नहीं है। वह यह नहीं चाहता कि राष्ट्रीय विभिन्नतायें (National Diversities) समाप्त करदी जाए और मनुष्य जाति एक ही प्रकार के जीवन की अभ्यस्त बनायी जाए। अंतर्राष्ट्रीयतावाद तो धार्मिक और सांस्कृतिक विभिन्नताओं के रहते हुए भी विभिन्न राष्ट्रों के निवासियों में अन्तर्राष्ट्रीयता की एकता के प्रति चेतना जाग्रत करना चाहता है। वह विभिन्नताओं में एकता रखना चाहता है। वह

जाता है। २०वीं शताब्दी में मनुष्य को एक कदम आगे रखना था और यह कदम अन्तर्राष्ट्रीयता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता था।

आज के युग में अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विकास में विभिन्न तत्व सहयोगी रहे हैं। इनमें कुछ प्रमुख ये हैं—(१) विश्व का औद्योगिक और भौतिकवादी विकास, (२) वैज्ञानिक प्रगति एवं अनुसंधान, (३) राष्ट्रीयता, (४) अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य, समाचार-पत्र, राष्ट्रसंघ व संयुक्त-राष्ट्रसंघ। इन सभी तत्वों ने राष्ट्रों में पारस्परिक आदान प्रदान को बढ़ाया, विश्व सभ्यता के अंकुर बोये, राष्ट्रीय सम्पर्क स्थापित किये और फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की भावना का प्रसार हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद अपने आधुनिक रूप में २०वीं शताब्दी की उपज होते हुए भी अपने पीछे शताब्दियों का इतिहास छिपाये हुए है। मध्य युग में विश्ववाद की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम ईसाई धर्म की एकता के रूप में हुई थी। उस समय का पवित्र रोमन साम्राज्य में चर्च भी संस्थायें थीं जिनका क्षेत्र भौगोलिक और राष्ट्रीय सीमाओं से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। धार्मिक क्षेत्र में चर्च की अन्तर्राष्ट्रीयता ने राजनीति को भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया। किन्तु १५वीं शताब्दी के आते-आते धार्मिक एकता के स्थान पर स्वाधीनता की भावना बल पकड़ने लगी। इसी समय यूरोपीय क्षितिज पर राष्ट्रीयता के बादल घिरने लगे और इन सब कारणों ने मिलकर वर्तमान राष्ट्रीय राज्यों को जन्म दिया। राष्ट्रीयता की इस लहर ने धीरे-धीरे इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि सभ्यता को दो भीषण महायुद्धों का सामना करना पड़ा और आज उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयतावाद विश्व इतिहास के पर्दे पर चमकता हुआ दिखाई देता है।

हम कह चुके हैं कि विश्व सरकार अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का साकार रूप है। इसके सम्बन्ध में १९वीं शताब्दी के पूर्व से लेकर आज तक कई योजनायें रखी गयी हैं, उदाहरणार्थ—ड्यूक डी सली योजना, अबे दी सैन्ट पायरे की योजना, रूसो योजना, बैन्थम योजना, कान्ट योजना, पवित्र संघ, यूरोपीय संघ, कन्सर्ट आफ योरूप, राष्ट्रसंघ के प्रयत्न, १९३८ में क्लेरेंस स्ट्रीट योजना, मैंडरिगा योजना, १९३९ की आस्कर न्यूफेन्स योजना, बैवरिज योजना, डा० इन्जे की योजना, जैनिंग्स योजना इत्यादि। इन सभी योजनाओं में अंतर्निहित विचारों ने विश्व संघवाद के विचारों को प्रोत्साहित किया है और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को आगे बढ़ाया है। १९४५ में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद से अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के विचार से सबसे अधिक बल प्राप्त हुआ है। यह एक ऐसी अंतर्राष्ट्रीय संस्था है जिसके अधिक क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय विषय आते हैं। इस महान् संस्था का अ[illegible] इसके

इस बात के प्रमाण हैं कि आज का विश्व अनेक दृष्टियों से इसकी उपेक्षा करते हुए भी इससे उदासीन नहीं है। कितनी ही अपूर्णताओं के होते हुए भी यह विश्व सरकार की स्थापना में एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कदम है। इसने हमारे दृष्टिकोणों को अन्तर्राष्ट्रीय बनाकर विश्व युद्ध की संभावना को यद्यपि मिटाया नहीं है तो भी वर्तमान समय में कुछ समय के लिए स्थगित अवश्य कर दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद यद्यपि आज लगभग एक सर्व-सम्मत विचारधारा बन चुकी है किन्तु फिर भी यह शीघ्रता से नहीं पनप पा रही है। व्यावहारिक जामा पहिनाने के मार्ग में अनेक कठिनाइयां हैं, जैसे अति राष्ट्रीयता की उग्र भावना, साम्राज्यवाद, आपसी अविश्वास, राजनीतिक विचारों का संघर्ष, पश्चिम और पूर्व के मतभेद, क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति, राज्यों की सार्वभौमिकता आदि। यदि हम गंभीरता से मनन करें तो हम पायेंगे कि आज की सारी समस्याओं के मूल में एक ही कठिनाई है और वह है—हमारी अपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीयता। जब तक हमारी अन्तर्राष्ट्रीयता अपने पूर्ण रूप को प्राप्त नहीं करेगी तब तक हम वर्तमान सकटों से मुक्त नहीं हो सकेंगे। जिस दिन विश्व के राजनीतिज्ञ विश्व-हित के लिए अपनी राष्ट्रीय दीवारों को एक सामान्य विश्व-उद्यान के निर्माण के लिए ढहा देंगे, उसी दिन यह विश्व एक आकर्षक रंगीन क्रीडा-स्थल बन जायगा। समस्याओं से जूझते हुए विश्व के सामने आज दो ही मार्ग हैं—एक अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का और दूसरा विश्व युद्ध द्वारा आत्म संहार का। हमारे लिए उचित है कि हम प्रथम मार्ग को चुन कर अपनी सभ्यता और मनुष्यता को कलंकित होने से बचावें। अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में उपस्थित बाधाओं को दूर करने के लिए हम उदारवादी राष्ट्रीयता का प्रचार करें, राज्यों की बाह्य सार्वभौमिकता के विचार को दूर करें, अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सम्यक् रूप दें, सांस्कृतिक आदान-प्रदान करें, निःशस्त्रीकरण की यात्रा पूरी करें और राजनीतिक विचारों के संघर्ष को दूर करके तथा पूंजीवाद व साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का अन्त करके प्रत्येक राष्ट्र के साथ ममता का व्यवहार करें।

———

९
गांधीवाद
(GANDHISM)

"एक राष्ट्र जो बिना राजकीय हस्तक्षेप के अपने कार्य सुगमता तथा प्रभावशाली ढंग से करता है, वास्तव में सच्चे रूप में प्रजातन्त्रात्मक है । जहाँ ऐसी अवस्था नहीं है वहाँ शासन-प्रणाली केवल नाम मात्र के लिये प्रजातन्त्रीय है ।"

—गाँधी

गाँधीवाद सरल, व्यापक और स्पष्ट होते हुए भी बहु-मार्गी तथा विभिन्नतामय है । जिसे किसी एक राजनीतिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत करना बड़ा कठिन है । फिर भी गाँधीजी के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक आदर्शों को हम सामूहिक रूप से गाँधीवाद की संज्ञा दे सकते हैं । वास्तव मे गाँधीवाद अनेको विचारो का सम्मिश्रण है । गाँधीजी ने अपने जीवन मे सभी धर्मों, वादो और विचारो की अच्छी बातो को ग्रहण किया था । अतः गाँधीवाद को हम समाजवादी, उदारतावादी, साम्यवादी अथवा अराजकतावादी किसी भी एक विचारधारा से सम्बोधित नही कर सकते । वह तो इन सब नाना विचारधाराओं का एक सम्मिश्रण है । डा० पट्टाभि सीतारमैया के शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि "गाँधीवाद सिद्धांतों का, मतों का, नियमों का, विनियमों का और आदर्शों का समूह नहीं है; वस्तुतः वह एक जीवन शैली या जीवन दर्शन है । यह शैली एक नई दिशा की ओर संकेत करती है अथवा मनुष्य की जीवन समस्याओं मे [illegible] न समाधान प्रस्तुत करती है ।"

गाँधीवाद का विशिष्ट महत्व इस बात मे [illegible] यह समाज और राज्य के बारे में इस प्रकार की अवधारणाएं [illegible] जिनका आधार नैतिक और धार्मिक है । गाँधीवाद धर्म [illegible] का मूल भूत तत्व मानता है, राजनीति का आध्यात्मीकर [illegible]

राजनीतिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर बल देता है, हर स्थान और समय में साधन व साध्य दोनों की श्रेष्ठता को स्वीकार करता है; राज्य को मानव जीवन के नैतिक मूल्यों पर आघात करने वाला अनावश्यक दुर्गुण मानता है, राज्य को कम से कम कार्य सौंपने की बात कहता है और जो कुछ राज्य के पास रहे उसमें भी राज्य द्वारा कम से कम हिंसात्मक साधनों के प्रयोग का आकांक्षी है। स्पष्ट है कि इस प्रकार गांधीवाद समाज और राज्य के सम्बन्ध में अपना अलग विचार अथवा सिद्धान्त ग्रहण किये हुए है। हम समाज और राज्य के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा क्रांतिकारी सिद्धान्त के रूप मे गांधीवाद की व्याख्या निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं—

गांधीवाद में धर्म

धर्म गांधीवाद का मुख्य आधार है। महात्मा गान्धी की समस्त क्रियाओं का प्रधान प्रेरक धर्म ही था। उन्होने स्वयं "यंग इण्डिया" में एक बार लिखा था—"अपने सार्वजनिक जीवन के आरम्भ से ही मैंने जो कुछ कहा है और जो कुछ किया है, इसके पीछे एक धार्मिक उद्देश्य रहा है।" एक अन्य प्रसंग में उन्होंने कहा था कि—"बहुत से धार्मिक व्यक्ति, जिनसे मैं मिला हूँ छद्म वेप मे राजनीतिज्ञ हैं। किन्तु मैं, राजनीतिज्ञ का कुछ वेप रखता हूँ, हृदय से एक धार्मिक व्यक्ति हूँ।"

गांधीजी ने धर्म को जीवन और समाज का मूलभूत तत्व स्वीकार किया है जिसे निकाल देने से व्यक्ति और समाज दोनों निष्प्राण और शून्य हो जाते हैं। गांधीवादी विचारधारा मे धर्म अपने क्षेत्र मे संसार के प्रत्येक कार्य और समाज के प्रत्येक अंग को समेट लेता है। धर्म को मनुष्य जीवन के विभिन्न पहलुओं मे यह प्रमुखतम् स्थान देता है। गांधीजी का कहना था कि "वे कार्य जो मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति से संचालित नही होते, वरन् अपनी समस्त स्फूर्ति और संचालन शक्ति मनुष्य के अनआध्यात्मिक स्वरूप से प्राप्त किये जाते हैं, अपना निर्धारित समय पूरा कर लेने पर निश्चित रूप से ही संकट और विनाश की ओर ले जाते हैं।"

गाधी धर्म मूलतः मानवतावादी है जिसका चरम लक्ष्य मानव-सेवा है। गांधीवाद की मान्यता है कि राष्ट्र अथवा समाज की सेवा करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को मन, वचन और कर्म से धार्मिक होना चाहिये। जो व्यक्ति वास्तव में मनुष्य कहलाना चाहता है उसके दैहिक, मानसिक और सांस्कृतिक गुणों का विकास सत्य, प्रेम और अहिंसा के तत्वो पर निर्धारित होना चाहिए।

६
गांधीवाद
(GANDHISM)

"एक राष्ट्र जो बिना राजकीय हस्तक्षेप के अपने कार्य सुगमता तथा प्रभावशाली ढंग से करता है, वास्तव में सच्चे रूप में प्रजातन्त्रात्मक है। जहाँ ऐसी अवस्था नही है वहाँ शासन-प्रणाली केवल नाम मात्र के लिये प्रजातन्त्रीय है।"

—गांधी

गाँधीवाद सरल, व्यापक और स्पष्ट होते हुए भी बहु-मार्गी तथा विभिन्नतामय है। जिसे किसी एक राजनीतिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत करना बड़ा कठिन है। फिर भी गांधीजी के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक आदर्शों को हम सामूहिक रूप से गाँधीवाद की सज्ञा दे सकते हैं। वास्तव मे गाँधीवाद अनेको विचारों का सम्मिश्रण है। गाँधीजी ने अपने जीवन मे सभी धर्मों, वादों और विचारो की अच्छी बातो को ग्रहण किया था। अतः गाँधीवाद को हम समाजवादी, उदारतावादी, साम्यवादी अथवा अराजकतावादी किसी भी एक विचारधारा से सम्बोधित नही कर सकते। वह तो इन सब नाना विचारधाराओ का एक सम्मिश्रण है। डा० पट्टाभि सीतारमैया के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "गाँधीवाद सिद्धांतों का, मतो का, नियमों का, विनियमो का और आदर्शों का समूह नहीं है; वस्तुतः वह एक जीवन शैली या जीवन दर्शन है। यह शैली एक नई दिशा की ओर सकेत करती है अथवा मनुष्य की जीवन समस्याओं के लिये प्राचीन समाधान प्रस्तुत करती है।"

गाँधीवाद का विशिष्ट महत्व इस बात में निहित है कि यह समाज और राज्य के बारे मे इस प्रकार की अवधारणाएं प्रस्तुत करता है जिनका आधार नैतिक और धार्मिक है। गाँधीवाद धर्म को जीवन और समाज का मूल भूत तत्व मानता है, राजनीति का आध्यात्मीकरण करता है, सामाजिक,

राजनीतिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर बल देता है, हर स्थान और समय में साधन व साध्य दोनों की श्रेष्ठता को स्वीकार करता है; राज्य को मानव जीवन के नैतिक मूल्यों पर आघात करने वाला अनावश्यक दुर्गुण मानता है, राज्य को कम से कम कार्य सौंपने की बात कहता है और जो कुछ राज्य के पास रहे उसमें भी राज्य द्वारा कम से कम हिंसात्मक साधनों के प्रयोग का आकांक्षी है। स्पष्ट है कि इस प्रकार गांधीवाद समाज और राज्य के सम्बन्ध में अपना अलग विचार अथवा सिद्धान्त ग्रहण किये हुए है। हम समाज और राज्य के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा क्रांतिकारी सिद्धान्त के रूप मे गांधीवाद की व्याख्या निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते है—

गांधीवाद में धर्म

धर्म गांधीवाद का मुख्य आधार है। महात्मा गान्धी की समस्त क्रियाओं का प्रधान प्रेरक धर्म ही था। उन्होंने स्वय "यंग इण्डिया" में एक बार लिखा था—"अपने सार्वजनिक जीवन के आरम्भ से ही मैंने जो कुछ कहा है और जो कुछ किया है, इसके पीछे एक धार्मिक उद्देश्य रहा है।" एक अन्य प्रसंग मे उन्होंने कहा था कि—"बहुत से धार्मिक व्यक्ति, जिनसे मैं मिला हूँ छद्म वेष मे राजनीतिज्ञ हैं। किन्तु मै, राजनीतिज्ञ का कुछ वेप रखता हूँ, हृदय से एक धार्मिक व्यक्ति हूँ।"

गांधीजी ने धर्म को जीवन और समाज का मूलभूत तत्व स्वीकार किया है जिसे निकाल देने से व्यक्ति और समाज दोनों निष्प्राण और शून्य हो जाते हैं। गांधीवादी विचारधारा में धर्म अपने क्षेत्र में संसार के प्रत्येक कार्य और समाज के प्रत्येक अंग को समेट लेता है। धर्म को मनुष्य जीवन के विभिन्न पहलुओ मे यह प्रमुखतम् स्थान देता है। गांधीजी का कहना था कि "वे कार्य जो मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति से सचालित नहीं होते, वरन् अपनी समस्त स्फूर्ति और संचालन शक्ति मनुष्य के अनआध्यात्मिक स्वरूप से प्राप्त किये जाते हैं, अपना निर्धारित समय पूरा कर लेने पर निश्चित रूप से ही संकट और विनाश की ओर ले जाते हैं।"

गांधी धर्म मूलतः मानवतावादी है जिसका चरम लक्ष्य मानव-सेवा है। गांधीवाद की मान्यता है कि राष्ट्र अथवा समाज की सेवा करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को मन, वचन और कर्म से धार्मिक होना चाहिये। जो व्यक्ति वास्तव में मनुष्य कहलाना चाहता है उसके दैहिक, मानसिक और सांस्कृतिक गुणों का विकास सत्य, प्रेम और अहिंसा के तत्वों पर निर्धारित होना चाहिए।

धर्म से गाँधीवाद का आशय किसी विशेष मत अथवा धर्म से नही है। गांधी-धर्म सार्वभौमिकता धर्म है, सहअस्तित्व का धर्म है, सहिष्णुता का धर्म है। गान्धीवादी विचारधारा के अनुसार धर्म मनुष्य की मानवीय आवश्यकता है। चाहे विभिन्न धर्मो का अस्तित्व बना रहे, लेकिन यह जरूरी है कि उनमें परस्पर संघर्ष न हो, एक दूसरे के प्रति घृणा का भाव न हो और जीवन-संघर्ष का सिद्धान्त व्यवहार में न लिया जावे। इसके विपरीत एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता, सद्भावना और सम्मान की वृत्ति का विकास हो।

गांधीवाद के अनुसार धर्म तो एक जीवन पद्धति है। इसे किसी पैगम्बर या अवतार द्वारा प्रतिपादित, विश्वास या वेद, बाइबिल या कुरान के उद्देश्य में नहीं पाया जा सकता है। धर्म तो सत्य की निष्काम खोज और हृदय की पवित्रता मे पाया जा सकता है। इसकी प्राप्ति सीधी प्रेम और सत्य के द्वारा की जा सकती है।

गान्धी धर्म जादू और रूढि से मुक्त है। यह अपने आप में एक वैज्ञानिकता लिए हुए है। गांधी धर्म रूढिवादिता तथा अन्ध-विश्वास का घोर विरोधी है। गान्धीजी कहा करते थे—"मैं किसी ऐसे धार्मिक सिद्धान्त को स्वीकार नही करता जो बुद्धि को न जचे और नैतिकता के विरुद्ध हो। मैं प्रत्येक धर्म-ग्रन्थ के बारे मे अपनी निर्णायक बुद्धि का प्रयोग करता हूँ। मैं किसी धर्म-ग्रन्थ के वचनों को अपनी बुद्धि पर हावी नही होने देता।"

अन्त मे, गाधीवाद की धार्मिक विचारधारा मे ईश्वर के प्रति अटल विश्वास निहित है। गांधी धर्म का मुख्य आधार ही ईश्वर मे सम्पूर्ण आस्था है। गांधीजी ने कहा था—"मै यह भी कह सकता हू कि वायु और जल के बिना तो शायद मैं रह सकता हू किन्तु ईश्वर के बिना मैं नही रह सकता हूँ। तुम मेरी आँखें निकाल सकते हो किन्तु उससे भी मैं नही मरूंगा। तुम मेरी नाक काट सकते हो किन्तु उससे भी नही मर सकता। परन्तु ईश्वर मे मेरा विश्वास गया और मैं मरा।" गाधी के अनुसार ईश्वर एक सर्व-व्यापक और रहस्यमयी शक्ति है जिसे महसूस किया जा सकता है पर देखा नहीं जा सकता। ईश्वर को प्रेम और सत्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर मनुष्य और संसार में अन्तर्निहित रहता है। वह अतिक्रमणशील भी है। वह संसार में भी है और उसके परे भी है।

गाधीवाद मे सत्य और ईश्वर एक दूसरे का रूप है अर्थात् ईश्वर सत्य है और सत्य ईश्वर है। गांधी के अनुसार धर्म की अन्तिम परिभाषा ईश्वरीय नियम का पालन कहा जा सकता है। ईश्वर और ईश्वरीय नियम पर्यायवाची शब्द हैं। गाधी का धर्म नैतिकता का दूसरा नाम है। उन्होंने

अपना सम्पूर्ण जीवन ही मनुष्य और समाज को नैतिक बनाने मे होम दिया था। उनकी धर्म सम्बन्धी धारणा का यही लक्ष्य है।

गांधीवाद में राजनीति और धर्म को पृथक् नही किया जा सकता, क्योकि समस्त जीवन एक अविभाज्य इकाई है जिसकी विभिन्न क्रियाओं को अलग-अलग टुकड़ो मे नही बाटा जा सकता। राजनीति धार्मिक कर्त्तव्यो का ही एक अङ्ग है और धर्म-विहीन राजनीति मौत का फदा है।

गांधीवाद में राजनीति का आध्यात्मिकरण

गांधीवादी विचारधारा इस दृष्टि से अनोखी और अनुपम है कि यह **राजनीति का आध्यात्मिकरण करती है।** गाधीवाद कुटिल राजनीति को मानवता के लिए किसी भी दशा मे उचित नही समझता। वह राजनीति मे शुद्ध धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्यो की प्रतिष्ठा का पोषक है। धर्म के बिना राजनीति नापाक है।

गाधीजी की स्पष्ट मान्यता थी कि राजनीति को धर्म से अलग नही किया जा सकता। उन्ही के शब्दो मे—"मेरे लिए धर्म–विहीन राजनीति कोई चीज नही है। नीति शून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।" उन्होन यहा तक कह डाला "राजनीति धर्म की अनुगामिनी है। धर्म से शून्य राजनीति मृत्यु का एक जाल है, क्योकि इससे आत्मा का हनन होता है।"

गाधीवाद के अनुसार राजनीति देश-धर्म है। जिससे अलग होकर व्यक्ति आत्मघात करता ह। राजनीति धर्म और नैतिकता की एक शाखा है। राजनीति शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए सघर्ष नही है। यह तो लाखो पद-दलितो को सुन्दर जीवनयापन करने योग्य बनाने का साधन है। यह मानवीय गुणो का विकास करने और स्वतन्त्रता तथा बन्धुत्व एव आध्यात्मिक गहराइयों और सामाजिक समानता के बारे मे प्रशिक्षित करने का निरतर प्रयास है।

सक्षेप मे, गांधीवाद के अनुसार राजनीति धर्म की पूरक है। पाश्चात्य प्रजातन्त्रीय राजनीति इसीलिए श्रेष्ठ नही है, क्योकि उसमे पूंजीवादो प्रथाओं और शोषण की खुली छूट है। गांधीजी इसे नाजीवाद और फासीवाद कहते थे। उनका पक्का विश्वास था कि केवल अहिंसा ही सच्चे प्रजातन्त्र की स्थापना कर सकती है। गाधीजी मूलतः सत्य और अहिंसा के अटल उपासक थे, वे पहले धार्मिक थे और फिर राजनीतिज्ञ।

गांधीवाद में सत्य और अहिंसा

सम्पूर्ण गांधीवादी दर्शन सत्य और अहिंसा के पवित्र सिद्धान्तों पर आधारित हैं। गांधीवाद सत्य और अहिंसा की ही व्यापक व्याख्या है। यह एक विदोहात्मक धारणा है जिसमें बुराई को अच्छाई से जीतने का सिद्धात

निहित है। सत्य और अहिंसा एक दूसरे के अनुपूरक और पूरक हैं। इन दोनों का अविभाज्य जोड़ा है। अहिंसा के बिना सर्वोच्च सत्य की सिद्धि असम्भव है और हिंसा असत्य है।

सत्य का अर्थ है कि सबके प्रति प्रेम और सेवा के द्वारा आध्यात्मिक एकता प्राप्त करना, सबकी सेवा करना और सबसे प्रेम करना। सत्य का प्रत्येक परिस्थिति में पालन किया जाना चाहिए, चाहे उसके लिए कितना भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़े। पर सत्य को ग्रहण करने वाले व्यक्ति की अन्तर-आत्मा शुद्ध होनी चाहिए, क्योंकि शुद्ध अन्तर-आत्मा की वाणी सत्य हो सकती है। अन्तर-आत्मा की शुद्धि के लिए और उसे सत्य के प्रति अनुकूल बनाने के लिए सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय (Non-stealing), अपरिग्रह (Non-possession) के साधनों व उपकरणों की आवश्यकता है। इन साधनों पर चलने से अन्तरात्मा उत्तरोत्तर शुद्ध होकर सत्य को ग्रहण करने वाली बन जाती है।

अहिंसा का अर्थ केवल न मारना ही नहीं हैं वरन् उसका अर्थ है मनसा, वाचा तथा कर्मणा किसी भी जीवधारी को आघात न पहुंचाना। अहिंसा सर्वोच्च प्रेम है, सर्वोच्च दयालुता है और सर्वोच्च आत्म-बलिदान। अहिंसा रूपी नैतिक अस्त्र का प्रयोग करने वाला व्यक्ति वीर, निर्भीक, आत्म-संयमी और नैतिक होता है। अहिंसा एक ऐसा जीवित, जागृत, क्रियाशील, सद्‌गुण रूपी दीपक है जो मन्द से मन्द आत्मा को भी आदर्श की ज्योति से जगमगा देता है। गांधीवाद के अनुसार अहिंसा वीरों का धर्म है। कायरता को अहिंसा की ओट में छिपाना एक निंदनीय और घृणित कार्य है। अहिंसा आत्मिक बल का प्रतीक है जिसके विरोध में भौतिक बल चाहे कुछ समय के लिए विलासी हो जाय लेकिन अन्त में चारों खाने चित्त आकर पड़ेगा।

गांधीवाद के अनुसार सत्य और अहिंसा के कवच से सुसज्जित योद्धा सदैव सक्रिय रहते हैं और उनकी सक्रियता सदा बढ़ती ही रहती है।

साधन तथा साध्य दोनों की श्रेष्ठता

गांधी-दर्शन एक नैतिक दर्शन है जो साधन और साध्य दोनों की पवित्रता का उपदेश देता है। गांधीजी के कथनानुसार साधन और साध्य एक दूसरे से चोली-दामन की तरह सम्बन्धित हैं और एक की अपवित्रता दूसरे को भ्रष्ट कर देती है। "साधन एक बीज की तरह है और साध्य एक पेड़ है। दोनों में वही सम्बन्ध है जो बीज और पेड़ में।"

गांधीजी ने राजनीति में साधनों की नैतिकता पर विशेष जोर दिया। यहां तक कि स्वराज्य की प्राप्ति के लिए भी हिंसा और असत्य का प्रयोग

करने के लिए तैयार नही हुए । उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध अपने देश का संपूर्ण स्वातन्त्र्य संग्राम सत्य और अहिंसा के नैतिक अस्त्रो से ही लड़ा । देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के पुनीत ध्येय के लिए उन्होंने कभी क्रांतिकारी, उग्र, हिंसात्मक साधनों का प्रयोग नही किया । वास्तव मे गांधीवाद की यही सबसे बड़ी विशेषता उसे मार्क्सवाद से भिन्न करती है । मार्क्स एक वर्गहीन समाज के आदर्शों की प्राप्ति के लिए रक्त रंजित क्रांति का उपदेश देता है लेकिन गांधीवाद मानता है कि खून की एक बूंद गिरते ही जिस कीमत पर वह वर्गहीन-समाज मिलता है, वह बहुत महंगी है । अतः साधन और साध्य के बीच बहुत सामन्जस्य और पवित्रता का होना आवश्यक है ।

सत्याग्रह

गांधीवाद मानव समाज को सत्याग्रह का अमोघ अस्त्र प्रदान करता है । सत्याग्रह रूपी हथियार राजनीति के युद्ध क्षेत्र मे गांधी की अनोखी खोज कही जा सकती है । यह उनकी राजनीतिक सिद्धांत और व्यवहार की सबसे बड़ी देन है । यह गांधीवाद की कार्य-पद्धति है, इसके अहिंसात्मक संघर्ष का सबसे बड़ा अस्त्र है ।

सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है—"सत्य पर डटे रहना ।" गांधीजी इसे प्रेम-बल और आत्मबल कहते थे । उन्होंने इसकी परिभाषा इन शब्दों में दी—"सत्याग्रह सत्य पर आरूढ रह कर अथवा सत्य को साक्षी करके, दूसरे शब्दों में प्रेम के द्वारा ही, स्वयं कष्ट उठाने के लिए तत्पर होना है ।" इसका अर्थ है कि सत्य का उपासक सत्य को भी हिंसात्मक साधनों से सिद्ध करने का कभी प्रयास नही करेगा । वह आत्म-कष्ट द्वारा विरोधी को सत्य मार्ग पर लायेगा। वह घृणा को प्रेम से, असत्य को सत्य से और हिंसा को आत्मकष्ट द्वारा निरस्त करने का प्रयास करेगा । सत्याग्रही अत्याचारी से घृणा नहीं करता बल्कि अन्याय को जारी रखने मे उसे सहायता देने से इन्कार करता है । राजनीतिक युद्ध-क्षेत्र में सत्याग्रह के इस आध्यात्मिक अस्त्र का प्रयोग गांधीजी ने कितनी सफलतापूर्वक किया था, यह सर्व-विदित है ।

सत्याग्रही प्रेम, आत्म-शोधन, सत्य और अहिंसा के साधनों से बुराई, अन्याय, असत्य और अवांछनीय का मुकाबला करता है । श्री एन. के. बोस के सुन्दर शब्दों में—"सत्याग्रह और युद्ध का मुख्य अन्तर इस बात में है कि यहां युद्ध का उद्देश्य दूसरों को शक्ति के प्रयोग द्वारा जीतना है वहां सत्याग्रह का उद्देश्य दूसरों का हृदय परिवर्तन करना है ।" युद्ध में एक व्यक्ति दूसरे को चोट पहुंचाता है पर सत्याग्रही स्वयं त्याग और कष्ट सह कर दूसरों का हृदय परिवर्तन करके उसे जीतता है । महात्मा गांधी का यह निश्चित मत था कि

सत्याग्रही में अपार आत्म-बल होता है और वह कभी असफल नहीं होता।

सत्याग्रह की प्रविधि अथवा तकनीक (Technique) के विभिन्न रूप हो सकते हैं जिनमें पहला है असहयोग आंदोलन, दूसरा है सविनय अवज्ञा, तीसरा है हिजरत और चौथा है उपवास।

(क) असहयोग—सत्याग्रही की प्रथम तकनीक असहयोग आंदोलन है। इस सम्बन्ध में गांधीवादी मान्यता है कि यदि सभी मनुष्य पूर्णतः किसी अन्यायपूर्ण प्रणाली के साथ असहयोग प्रारम्भ कर दें तो वह प्रणाली अन्त में समाप्त हो जायेगी। बुराई के साथ असहयोग न केवल अत्याचारी का अन्त करता है बल्कि सत्याग्रही की आत्म-शुद्धि भी करता है। असहयोग के कई तरीके हैं, जैसे हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार और धरणा। हड़ताल स्वेच्छापूर्वक प्रेम-पूर्ण व्यवहार का परिणाम होना चाहिए। इसका उद्देश्य जनता, सरकार और सम्बन्धित संस्था को पक्ष में प्रभावित करना होना चाहिए यह किसी भी रूप में हिंसात्मक नहीं होनी चाहिए। सामाजिक बहिष्कार का अभिप्राय समाज के उन कलंकी लोगों का बहिष्कार करना है जो जनमत की अवहेलना करते हैं और जनमत को सहयोग नहीं करते। लेकिन इसके अन्तर्गत हिंसात्मक तथा गलत दबाव को काम में नहीं लाया जाना चाहिये। धरणा (Picketing) का अर्थ गांधीवाद विचार में जन-निन्दा द्वारा समाज के कलंकियों को लज्जित करना और सचेत करना है। इसमें भी हिंसात्मक उपायों को नहीं अपनाना चाहिए बल्कि समझाने बुझाने वाला होना चाहिए। ऐसे दबाव, धमकी, पुतलों को जलाने, भूख-हड़ताल और 'घेराव' से रहित होना चाहिए।

(ख) सविनय अवज्ञा—सत्याग्रह की दूसरी तकनीक सविनय अवज्ञा गांधीवादियों के अनुसार सर्वाधिक प्रभावशाली और क्रांति का रक्तहीन रूप है। यह प्रतिरोधी के विद्रोह को अहिंसात्मक ढंग से प्रकट करता है। इसके अन्तर्गत अधिकारी की आज्ञा की अवहेलना की जाती है लेकिन शांतिपूर्ण तरीके से। इसके पीछे घृणा या शत्रुता के भाव नहीं होने चाहिए। इसीलिए गांधीवाद सविनय अवज्ञा आंदोलन में कुछ ऐसे चुने हुए व्यक्तियों को ही भाग लेने की अनुमति देता है जो नैतिक नियमों का पालन कर सकें।

(ग) हिजरत—सत्याग्रह की तीसरी तकनीक हिजरत (Hijarat) है। इसका अर्थ एक अस्थायी निवास स्थान से दूसरी जगह चले जाना है। जो लोग एक स्थान पर अत्यन्त दुख का अनुभव करते हैं, आत्म-सम्मान के साथ नहीं रह सकते और जो अहिंसापूर्ण ढंग से अपनी रक्षा नहीं कर सकते, उनको महात्मा गांधी ने यह उपाय अपनाने को कहा है।

(घ) उपवास—सत्याग्रह की चौथी तकनीक उपवास है। गांधीजी के अनुसार यह अग्निबाण है। यह सत्याग्रह का सबसे शक्तिशाली रूप है। यह जनता की आत्म-शक्ति या मनोबल को बढ़ाता है और पिछली भूलों से उसे सावधान कराता है। उपवास वह वृत है जो प्रायश्चित और आत्म-शुद्धि के लिए किया जाता है। इसका प्रयोग अन्यायी या बुरे व्यक्ति की आत्मा मे परिवर्तन लाने के लिए किया जाता है। उपवास करने वाले व्यक्ति के आध्यात्मिक बल द्वारा बुरी आत्माओं मे खलबली मच जाती है और प्रेमी हृदय कार्य करने के लिए उद्यत हो जाता है। जब व्यक्ति के सारे उपाय निरर्थक हो जायें तो उसे ईश्वर से सहायता प्राप्त करने के लिए उपवास करना चाहिए।

गाधीवाद इस सत्याग्रह की अद्भुत तकनीक का प्रयोग सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र मे ही नहीं वल्कि दैनिक और गृह-जीवन में भी करने की प्रेरणा देता है। गाधी-दर्शन के अनुसार सत्याग्रह देश मे अन्यायियों और बुरे व्यक्तियों के विरुद्ध ही केवल प्रयोग मे नही लाया जा सकता बल्कि विदेशी आक्रमण को रोकने मे भी यह उपाय सफल सिद्ध हो सकता है। महात्मा गाधी ने विदेशी आक्रमणो के विरुद्ध दो मार्गो को अपनाने की सम्मति दी थी। प्रथम उपाय के अनुसार आक्रमणकारी को देश मे आ जाने की आज्ञा दी जाय, लेकिन उसके साथ सम्पूर्ण असहयोग किया जाय, एवं द्वितीय उपाय के अनुसार निशस्त्र सत्याग्रही आक्रमणकारी की तोपो के लिए अपने आपको भोजन के रूप में प्रस्तुत करे। निहत्थे सत्याग्रहियो को इस प्रकार मौत की वेदी पर बलि होते देख कर आक्रमणकारी का हृदय स्वतः ही पिघल जायेगा। स्पष्ट है कि इन दोनो तरीको का लक्ष्य निर्दयी आक्रमणकारी के हृदय को जीतना है। द्वितीय महायुद्ध के समय जापान के विरुद्ध चीनियों को गाधीजी ने यह परामर्श दिया था।

राज्य के प्रति दृष्टिकोण

महात्मा गाधी ने राज्य के वर्तमान एवं भावी स्वरूप के सम्बन्ध में अपने विचारो को स्पष्ट रूप से कही लिपिवद्ध नही किया। उन्हे भविष्य की संस्थाओं का खाका खीचना असामयिक और अवैज्ञानिक प्रतीत होता था। फिर भी भावी राज्य और सरकार की उनकी रूप-रेखा क्या थी, इसका चित्र उनके यत्र-तत्र व्याख्यानो और लेखों के आधार पर खीचा जा सकता है। राज्य के प्रति गाधीवादी दृष्टिकोण को निम्नांकित शीर्षकों मे व्यक्त किया जाना सुविधाजनक होगा—

(i) **अराजकतावादी दृष्टिकोण**—गांधीवादी विचार राज्य के प्रति अराजकतावादी होता है। राज्य एक अनावश्यक दुर्गुण है जो मानव जीवन

का अर्थ, चाहे वह स्वदेशी हो अथवा विदेशी, सरकारी नियन्त्रण से स्वाधीन होने का सतत् प्रयास करता है। स्वतन्त्र सरकार की ओर भी यदि लोग नित्य प्रति की घटनाओं के परिचालन के लिए देखते रहे, तो यह बड़ी शोक-पूर्ण स्थिति होगी।" थोरू की भांति गाधीजी का दृढ़ विश्वास था कि—"सरकार वही सर्वोत्तम है जो सब से कम शासन किया करती है।" गाधीवाद के अनुसार राज्य का अनुचित और अनावश्यक हस्तक्षेप अप्रजातांत्रिक है।

(iii) **अहिंसात्मक राज्य**—गांधीवाद, राज्य को कम से कम कार्य तो देना ही चाहता है, लेकिन जो कुछ कार्य राज्य के पास रहे, उनके विषय में भी उसका मत है कि राज्य कम से कम हिन्सात्मक साधनों का प्रयोग करे। भौतिक बल का विरोधी गाधीवाद चाहता है कि "राज्य जन साधारण के उच्चतम कल्याण पर आधारित नैतिक बल द्वारा शासन करे। व्यक्तियों की भांति राज्य को भी अहिंसात्मक होना चाहिए। महात्मा गांधी को विश्वास था कि पुलिस, न्यायालय आदि विभाग यदि भौतिक शक्ति का परित्याग कर नैतिक शक्ति का प्रयोग करने लगे तो अहिंसात्मक राज्य में अपराधों और उपद्रवों की सख्या स्वतः कम हो जायेगी।

किन्तु इसका आशय यह नही है कि गांधीवाद यह मानता है कि अहिंसात्मक राज्य में कोई भी चोर, डाकू या सामाजिक तत्व नही रहेगा और उन्हे मिटाने के लिए राज्य हिंसा अथवा दण्ड धारण नही करेगा। गांधीवाद का विश्वास है कि ये असामाजिक तत्व हमेशा से रहते आये है और रहेंगे तथा प्रत्येक राज्य को उन्हे कुचलना ही होगा। गाधीजी के स्वयं के शब्दों में "एक राज्य क्योंकि वह सब व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है कभी भी पूर्णतः अहिंसात्मक होने में सफल नही हो सकता। कोई भी सरकार सार्वजनिक शांति को भंग करने वाले सैनिक संघो का अस्तित्व सहन नही कर सकती।"

(iv) **राज्य का उद्देश्य सर्वोदय**—गाधीवादी मान्यता के अनुसार राज्य का उद्देश्य सर्वोदय अर्थात् सभी की सर्वांगीण उन्नति करना है। राज्य किसी वर्ग-विशेष के हितो का साधन नही हो सकता। राज्य में ऐसा कोई वर्ग नही होना चाहिए जिसे जीवन की आवश्यक वस्तुये सुलभ न हों। इस बारे में गांधीजी ने लिखा है—"मेरे स्वराज्य का स्वप्न गरीबो के स्वराज्य का है। उन्हें भी जीवन की आवश्यक वस्तुयें उसी प्रकार प्राप्त होनी चाहिए, जैसी वे धनिकों और राजाओं को होती है। पर इसका यह तात्पर्य नही है मैं या आप रास्ता ही भूल जायें पर जीवन की साधारण सुविधायें धनिकों की भांति ही सब को सुलभ होनी चाहिए। जब तक ये सुविधायें सब को सुलभ नहीं होती तब तक स्वराज्य पूर्ण स्वराज्य नही सहो सकता।"

के नैतिक मूल्यों पर आघात करता है। राज्य के विरोध में गांधीवाद के कुछ प्रबल तर्क ये हैं—

प्रथम, राज्य का मूल हिन्सा है। राज्य एक ऐसी संस्था है जो मनुष्य के नित्य प्रति जीवन में बल प्रयोग करके दवाव डालते हैं। इसकी जड़ें हिन्सा में गड़ी हुई हैं।

द्वितीय, राज्य एक बाध्यकारी शक्ति है जो मानव व्यक्तित्व के विकास को कुंठित करती है। राज्य की शक्ति मनुष्य की स्वतन्त्रता और उसके व्यक्तित्व के लिए निश्चित रूप से घातक है। गांधीजी ने कहा था—"मैं राज्य की शक्ति में किसी प्रकार की वृद्धि को अधिकतम भय की दृष्टि से देखता हूं। यद्यपि देखने में ऐसा लगता है कि राज्य कानून द्वारा शोषण को कम करने में जन हित कर रहा है, किन्तु यह मनुष्य मात्र को सबसे बड़ी हानि पहुंचाता है क्योंकि इसके द्वारा व्यक्तिगत विशेषता का नाश होता है जो सभी प्रकार की अवनति की जड़ है।" गांधीवादी मान्यता के अनुसार कोई भी कार्य नैतिक तभी है जब वह स्वेच्छापूर्वक किया जाए। लेकिन राज्य तो आज्ञा देता है, अतः उसका कोई भी कार्य नैतिक नहीं हो सकता।

तृतीय, हिंसा पर आधारित किसी भी आदर्श समाज में राज्य सर्वथा अनावश्यक है। गांधीवाद की युक्ति नैतिक प्रधान है। इसके अनुसार राज्य का प्रथम कार्य सामाजिक आचरण को अनुशासित करना है। राजनीति के द्वारा जन-जीवन के प्रत्येक वर्ग में अपनी दशा सुधारने की प्रेरणा मिलनी चाहिए। राजनीतिक शक्ति का अर्थ राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन को विनियमित करने की क्षमता से है। यदि राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाए कि वह स्वयं ही विनियमित अर्थात् आत्म-अनुशासित होने लगे तो किसी प्रतिनिधित्व की कोई आवश्यकता नहीं है। तब स्थिति ज्ञानमय अराजकता (Enlightened Anarchism) की होगी। इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक होगा। वह अपने ऊपर इस प्रकार शासन करेगा कि वह अपने पड़ौसी के लिए कोई बाधा न बने। स्पष्टतः ऐसी आदर्श अवस्था में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होगी, क्योंकि उसमें कोई राज्य नहीं होगा।

(ii) **राज्य को कम से कम कार्य**—गांधीवाद राज्य को कम से कम कार्य सौंपने का पक्षपाती है। चूंकि गांधीवाद मनुष्य के स्वावलम्बी जीवन का समर्थक है अतः चाहता है कि राज्य अपने कार्यों को कम से कम क्षेत्र तक सीमित कर ले। राज्य के कार्य क्षेत्र के विस्तार से मनुष्य के स्वावलम्बन की प्रवृत्ति कमजोर पड़ती है। गांधीवाद का मत है कि राज्य के अधिकांश कार्य राज्य से छीन कर ऐच्छिक संघों को सौंप दिए जायें क्योंकि "अपनी सरकार

तैयार होगा। इन सब में मत्स्य न्याय को कोई स्थान नही होगा अर्थात् बडी इकाई छोटी इकाई को शक्तियों के प्रयोग द्वारा कुचलने का प्रयास नही करेगी। इस समाज का आधार भूत आदर्श 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना और व्यक्तिगत समता होगी।

गांधी के ग्रामीण गणराज्य स्वायत्तशासी इकाई के रूप में एक ढीले-ढाले संघ का निर्माण करेंगे जिसकी शक्ति का आधार नैतिकता होगी। इसमें पुलिस, जेल, न्यायालयो, भारी उद्योगों, बडे नगरो आदि के लिए कोई स्थान नहीं होगा। इस तरह गांधीवादी नवीन समाज बहुत सरल और स्पष्ट होगा तथा इसकी सभ्यता ग्रामीण होगी।

गांधीवाद की आर्थिक व्यवस्था

गांधीवादी आर्थिक व्यवस्था आज के युग के समक्ष एक विशिष्ट, महत्वपूर्ण और उपयोगी आर्थिक विचारधारा प्रस्तुत करती है जिसका आधार नैतिकता है। गांधीवादी आर्थिक व्यवस्था की मुख्य बातों को संक्षेप में निम्नांकित शीर्षकों मे व्यक्त किया जा सकता है—

(i) **विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्था**—गांधीवाद समाज के लिए विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्था प्रतिपादित करता है। आर्थिक विकेन्द्रीकरण का अभिप्राय है विशाल पैमाने पर कार्य करने वाले उद्योगों और कारखानो को बन्द करना तथा उनके स्थान पर कठोर उद्योगो को स्थापित करना। गाधीजी स्वदेशी और कठोर व्यवसाय के समर्थक थे। यूरोप के औद्योगिक इतिहास का अध्ययन कर वे इस निर्णय पर पहुंचे थे कि भारत जैसे देश मे जहा जनसंख्या बहुत अधिक है बडे-बडे कारखानो की स्थापना बेरोजगारी और बेकारी को बढ़ाने के अतिरिक्त और कुछ नही करेगी। उद्योगों से पैदा होने वाला उत्पादन दरिद्र कारीगरों का विनाश कर देगा और श्रमिको व मालिकों के झगड़ों से समाज में अत्यन्त अशान्ति फैल जायेगी। देश की कृषि अवनत हो जायेगी तथा कच्चे माल के बिना अन्त में बड़े उद्योग भी विनिष्ट हो जायेंगे। गाधीजी का दृढ़ विश्वास था कि अपने चारो ओर के संसार मे आज जिस हिन्सा के हम दर्शन करते है उसका एक बहुत बड़ा अंश केन्द्रीकृत औद्योगिक व्यवस्था का ही परिणाम है। भौतिक पाश्चात्य सभ्यता की अधिकाश बुराइयां इसी की संतान हैं। साम्राज्यवाद, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष आदि एक बडी सीमा तक इसी की उत्पत्ति है। अतः अहिसा प्रधान राज्य में अत्यधिक केन्द्रीकृत औद्योगिक व्यवस्था के स्थान पर कठोर उद्योग व्यवस्था ही पनपेगी, जिसमें उत्पादन के यन्त्रों और उत्पादित वस्तुओं का स्वामी स्वयं श्रमिक होगा।

स्पष्ट है कि गांधी मत के अनुसार राज्य का उद्देश्य सभी को जीवन की आवश्यक सुविधायें उपलब्ध बनाकर सर्वोदय का मार्ग प्रशस्त करना है। लेकिन मेरा अभिप्राय यह भी नही है कि जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के नाम पर सामाजिक जीवन में विलासिता भर दी जाए।

(v) शासन शक्ति का विकेन्द्रीकरण—गांधीवादी आदर्श राज्य की प्रमुख विशेषता शासन शक्ति का विकेन्द्रीकरण है। गाधीवाद जिस आदर्श राज्य की कल्पना करता है उसमे शासन शक्ति किसी केन्द्रीय इकाई में केन्द्रित नही रहेगी बल्कि शासन की सभी इकाइयों मे उसका न्यायोचित विभाजन होगा। गाधीवाद यद्यपि देश के लिए केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण मे राष्ट्र की एकता और स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने की आवश्यकता अनुभव करता है लेकिन वह ग्राम पंचायतों को अधिक से अधिक अधिकार सौंपने के पक्ष मे है।

समता और स्वतन्त्रता के आधार पर सर्वोदय समाज की स्थापना का पक्षपाती

गाँधीजी महान लोकतन्त्रवादी थे। वे किसी प्रकार के राजनीतिक या सामाजिक भेद-भाव के पक्षपाती नही थे। उन्होने अपने देश में जिस राज्य की कल्पना की थी, उसका सामाजिक चित्र बिल्कुल स्पष्ट है। गाधीजी ने कहा था कि "स्वराज्य से मेरा मतलब भारत की उस सरकार से है जो स्त्री, पुरुष, प्रवासी, अधिवासी से किसी प्रकार का भेद किये बिना ऐसी बालिग जनता के बहुमत से बनी हो जो राज्य को अपना श्रम देते है और जिन्होने स्वतन्त्र मतदाता सूची मे अपना नाम दर्ज करा लिया हो। मेरे लिये स्वराज्य का अर्थ अपने देश के दरिद्र से दरिद्र व्यक्ति की स्वतन्त्रता है।

गांधीवाद में राज्य हीन आदर्श समाज का चित्र

महात्मा गांधी ने जिस राज्य हीन आदर्श समाज का चित्र अपने लेखों और भाषणों में व्यक्त किया था उसके अनुसार ऐसे आदर्श समाज मे विभिन्न वर्ग का अस्तित्व नही रहेगा। उसमें आत्मनिर्भर ग्राम होंगे जो स्वेच्छापूर्ण सहयोग के आधार पर शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करेंगे। प्रत्येक ग्राम का एक गणराज्य या पचायत होगी। इस ग्राम पचायत के पास अपने सभी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति और रक्षा के लिए साधन विद्यमान होंगे। गांधीवादी आदर्श समाज आज की भांति एक पिरामिड नही होगा वरन् उसका आकार वृत्ताकार होगा जिसके केन्द्र में व्यक्ति होगा। इस आदर्श समाज मे व्यक्ति ग्राम के लिए और ग्राम अपने से बड़ी इकाई के लिए बलिदान करने को

तैयार होगा। इन सब में मत्स्य न्याय को कोई स्थान नही होगा अर्थात् बडी इकाई छोटी इकाई को शक्तियों के प्रयोग द्वारा कुचलने का प्रयास नही करेगी। इस समाज का आधार भूत आदर्श 'वसुधेव कुटुम्बकम्' की भावना और व्यक्तिगत समता होगी।

गांधी के ग्रामीण गणराज्य स्वायत्तशासी इकाई के रूप में एक ढीले-ढाले संघ का निर्माण करेंगे जिसकी शक्ति का आधार नैतिकता होगी। इसमें पुलिस, जेल, न्यायालयो, भारी उद्योगों, बडे नगरों आदि के लिए कोई स्थान नहीं होगा। इस तरह गांधीवादी नवीन समाज बहुत सरल और स्पष्ट होगा तथा इसकी सभ्यता ग्रामीण होगी।

गांधीवाद की आर्थिक व्यवस्था

गांधीवादी आर्थिक व्यवस्था आज के युग के समक्ष एक विशिष्ट, महत्वपूर्ण और उपयोगी आर्थिक विचारधारा प्रस्तुत करती है जिसका आधार नैतिकता है। गांधीवादी आर्थिक व्यवस्था की मुख्य वातो को संक्षेप मे निम्नांकित शीर्षको मे व्यक्त किया जा सकता है—

(i) **विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्था**—गांधीवाद समाज के लिए विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्था प्रतिपादित करता है। आर्थिक विकेन्द्रीकरण का अभिप्राय है विशाल पैमाने पर कार्य करने वाले उद्योगों और कारखानों को बन्द करना तथा उनके स्थान पर कठोर उद्योगों को स्थापित करना। गाधीजी स्वदेशी और कठोर व्यवसाय के समर्थक थे। यूरोप के औद्योगिक इतिहास का अध्ययन कर वे इस निर्णय पर पहुंचे थे कि भारत जैसे देश मे जहां जनसंख्या बहुत अधिक है वडे-बडे कारखानों की स्थापना वेरोजगारी और वेकारी को बढाने के अतिरिक्त और कुछ नही करेगी। उद्योगों से पैदा होने वाला उत्पादन दरिद्र कारीगरों का विनाश कर देगा और श्रमिको व मालिको के झगड़ों से समाज में अत्यन्त अशान्ति फैल जायेगी। देश की कृषि अवनत हो जायेगी तथा कच्चे माल के बिना अन्त मे वड़े उद्योग भी विनिष्ट हो जायेंगे। गाधीजी का दृढ़ विश्वास था कि अपने चारो ओर के संसार में आज जिस हिन्सा के हम दर्शन करते है उसका एक बहुत बड़ा अंश केन्द्रीकृत औद्योगिक व्यवस्था का ही परिणाम है। भौतिक पाश्चात्य सभ्यता की अधिकांश बुराइयां इसी की संतान हैं। साम्राज्यवाद, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष आदि एक बडी सीमा तक इसी की उत्पत्ति है। अतः अहिंसा प्रधान राज्य मे अत्यधिक केन्द्रीकृत औद्योगिक व्यवस्था के स्थान पर कठोर उद्योग व्यवस्था ही पनपेगी, जिसमे उत्पादन के यन्त्रों और उत्पादित वस्तुओं का स्वामी स्वयं श्रमिक होगा।

और सत्याग्रह द्वारा उनके हृदय परिवर्तन करके उन्हें सत्मार्ग पर लाया जाए। आज सत विनोबा का भूदान आन्दोलन गांधीजी की न्यास अर्थात् ट्रस्टीशिप के सिद्धांत पर ही आधारित है। आज यह आन्दोलन केवल भूमि तक ही सीमित नहीं रहा है, वरन् सम्पत्ति दान, बुद्धिदान, ग्राम दान जैसी अनेक शाखायें उसमे से फूट चुकी हैं।

(iii) वितरण और अपरिग्रह—वितरण के विषय में गांधी मत के अनुसार प्राकृतिक नियम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी तात्कालीन आवश्यकता की पूर्ति भर करने के लिए गाधीजी का कहना था कि प्रकृति स्वयं उतना उत्पादन करती है जितना सृष्टि के लिए आवश्यक है। अतः यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी आवश्यकता भर के लिए ले तथा अनावश्यक संग्रह न करे, तो अभावग्रस्तता की स्थिति उत्पन्न नही हो सकती है। आज समाज में आर्थिक विषमता और निर्धनता का साम्राज्य इसीलिए है कि लोग अस्तेय (Nonstealing) के अपरिग्रह (Non-Possession) पर नही चलते।

यद्यपि गांधीजी का आदर्श था कि सम्पत्ति का समान वितरण हो, पर चूंकि वे समझते थे कि ऐसा होना सम्भव नही है। अतः उन्होंने यह विचार रखा कि वितरण औचित्य पूर्ण (Equitable) होना चाहिए तथा विषमताओं को न्यूनतम किया जाना चाहिए ताकि किसी के लिए भी जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ का अभाव नहीं रहे।

गांधीवाद में राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद

राजनीति के प्रति गाधीवादी दृष्टिकोण परम व्यापक और उदार है। गांधीवाद में राष्ट्रीयता एक विशुद्ध देश भक्ति की राष्ट्रीयता है। ये अंतर्राष्ट्रीयता की विरोधी नहीं है बल्कि उसके विकास में सहायिका है। गांधीवाद का राष्ट्रवाद विश्व प्रेम का एक अंग है। यह उग्र, साम्राज्यवादी तथा विनाशकारी संकीर्ण राष्ट्रीयता को निंदनीय मानता है। इस सम्बन्ध में गाधीजी ने लिखा है—"एक व्यक्ति को राष्ट्रीयतावादी हुए विना अन्तर्राष्ट्रीयतावादी होना असम्भव है। राष्ट्रीयवाद कोई बुराई नही है, बुराई तो सकीर्णता, स्वार्थ और एकाकीपन की भावना है जिनसे आज के राष्ट्र ग्रस्त दिखाई देते है। मेरा राष्ट्रीयवाद के विषय में विचार यह है कि मेरा देश मानव जाति के लिए कुछ कर सके। गांधीवाद स्वावलम्बी और स्वाधीन इकाइयो का समर्थन होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे आत्मनिर्भरता को परम आवश्यक मानता है। यह चाहता है कि संसार के राष्ट्र आत्मनिर्भरता की नीति को छोड़कर अन्त.निर्भर रहते हुए एक विश्व-सघ की स्थापना करे।

स्पष्ट है कि गांधीवाद मे राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद दो विरोधी भावनायें न होकर पूरक भावनायें हैं। गांधीवाद राष्ट्रीयता गहरी अन्तर्राष्ट्रीयता

स्पष्टतः गांधीवाद का उपदेश है कि आर्थिक व्यवस्था विकेन्द्रीकृत हो। समाज छोटी-छोटी इकाइयों मे बटा हो और रोज की आवश्यकता की सारी चीजें स्थानीय कुटीर व्यवसायो से प्राप्त हो जाएं। प्रायः छोटे धन्धे गांवों में इतनी उन्नत दिशा में हैं कि प्रत्येक कारीगर और सशक्त नौजवान को काम मिल सके तथा देश की पूंजी अपने ही परिश्रम से बढ सके। गांधीजी ने यह मत व्यक्त किया कि कठोर व्यवस्था में राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण में भी अधिक विषमता नही पनप सकेगी।

पर उक्त विश्लेषण का अर्थ यह नही है कि गांधीजी मशीनों के विरुद्ध थे अथवा गांधीवाद मशीनों को त्याज्य समझता है। गांधीजी का संदेश यह है कि मशीनें उसी समय तक अच्छी हैं जब तक वे मनुष्य की सेवा करें। जब मशीन मनुष्य को गुलाम बनाने का प्रयत्न करती है तो यह अच्छी नही रह जाती। मशीन के प्रसार और औद्योगीकरण से समाज मे भ्रष्टाचार तथा अनैतिकता का प्रसार होता है, इसीलिए इसका आश्रय यथा-सम्भव नही लिया जाना चाहिए। मशीनों के कारण शारीरिक श्रम के विकास की अवहेलना किया जाना घातक है।

(ii) **ट्रस्टीशिप का सिद्धांत**—गांधीवादी आर्थिक विचारों में ट्रस्टीशिप का सिद्धांत सर्व प्रमुख है। महात्मा गाधी का कहना था कि जमीदार और पूंजीपति कृषकों व श्रमिको मे ट्रस्टी की तरह कार्य करें। ट्रस्टियों के रूप में वे अपनी योग्यता और पूंजी का अपने हित मे बिल्कुल समाज के हितो में ट्रस्टी के रूप मे प्रयोग करें। वे उपार्जित धन से एक उचित आधार पर कुछ रखलें और शेष अन्य लोगो मे विभाजित करदें। ट्रस्टीशिप के सिद्धात के माध्यम से गांधीवाद वास्तव मे विभिन्न वर्गों की सहकारिता और एकीकरण का सदेश देता है।

गांधीवाद में ट्रस्टीशिप अथवा प्रन्यास सिद्धान्त के माध्यम से आर्थिक विषमता की समस्या का हल करना चाहता है। गांधीवाद यह अनुचित समझता है कि बलपूर्वक धनिकों के धन को छीनकर सार्वजनिक हितों में लगाया जाए। ऐसा करना दो दृष्टियों से हानिकारक है। प्रथम तो यह तरीका हिंसामय है और दूसरे इस तरीके से समाज धनिको की सेवाओ से वंचित हो जाता है। अतः गांधीवाद का संदेश है कि धनिकों को स्वयं चाहिए कि वे अपने धन को अपना न समझ कर समाज की धरोहर (ट्रस्ट) समझें। उसमें से अपने पर निर्वाह-मात्र के लिए आवश्यक खर्च करें और शेष को समाज-हित के कामो मे लगा दें। आज धनिक ऐसा नही करते, उनके लिए गाधीवाद का मत है कि, उनके साथ बल प्रयोग न किया जाए। बल्कि हिन्सामय असहयोग

और सत्याग्रह द्वारा उनके हृदय परिवर्तन करके उन्हें सन्मार्ग पर लाया जाए। आज संत विनोबा का भूदान आन्दोलन गांधीजी की न्यास अर्थात् ट्रस्टीशिप के सिद्धांत पर ही आधारित है। आज यह आन्दोलन केवल भूमि तक ही सीमित नहीं रहा है, वरन् सम्पत्ति दान, बुद्धिदान, ग्राम दान जैसी अनेक शाखायें उसमे से फूट चुकी हैं।

(iii) वितरण और अपरिग्रह—वितरण के विषय में गांधी मत के अनुसार प्राकृतिक नियम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी तात्कालीन आवश्यकता की पूर्ति भर करने के लिए गांधीजी का कहना था कि प्रकृति स्वयं उतना उत्पादन करती है जितना सृष्टि के लिए आवश्यक है। अतः यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी आवश्यकता भर के लिए ले तथा अनावश्यक संग्रह न करे, तो अभावग्रस्तता की स्थिति उत्पन्न नही हो सकती है। आज समाज में आर्थिक विषमता और निर्धनता का साम्राज्य इसीलिए है कि लोग अस्तेय (Nonstealing) के अपरिग्रह (Non-Possession) पर नहीं चलते।

यद्यपि गांधीजी का आदर्श था कि सम्पत्ति का समान वितरण हो, पर चूंकि वे समझते थे कि ऐसा होना सम्भव नहीं है। अतः उन्होंने यह विचार रखा कि वितरण औचित्य पूर्ण (Equitable) होना चाहिए तथा विषमताओं को न्यूनतम किया जाना चाहिए ताकि किसी के लिए भी जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का अभाव नहीं रहे।

गांधीवाद में राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद

राजनीति के प्रति गाधीवादी दृष्टिकोण परम व्यापक और उदार है। गांधीवाद में राष्ट्रीयता एक विशुद्ध देश भक्ति की राष्ट्रीयता है। ये अंतर्राष्ट्रीयता की विरोधी नही है बल्कि उसके विकास में सहायिका है। गांधीवाद का राष्ट्रवाद विश्व प्रेम का एक अंग है। यह उग्र, साम्राज्यवादी तथा विनाशकारी संकीर्ण राष्ट्रीयता को निंदनीय मानता है। इस सम्बन्ध में गांधीजी ने लिखा है—"एक व्यक्ति को राष्ट्रीयतावादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रीयतावादी होना असम्भव है। राष्ट्रीयवाद कोई बुराई नही है, बुराई तो संकीर्णता, स्वार्थ और एकाकीपन की भावना है जिनसे आज के राष्ट्र ग्रस्त दिखाई देते है। मेरा राष्ट्रीयवाद के विषय में विचार यह है कि मेरा देश मानव जाति के लिए कुछ कर सके। गांधीवाद स्वावलम्बी और स्वाधीन इकाइयों का समर्थन होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आत्मनिर्भरता को परम आवश्यक मानता है। यह चाहता है कि संसार के राष्ट्र आत्मनिर्भरता की नीति को छोड़कर अन्त-निर्भर रहते हुए एक विश्व-संघ की स्थापना करे।

स्पष्ट है कि गांधीवाद में राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद दो विरोधी भावनायें न होकर पूरक भावनायें हैं। गांधीवाद राष्ट्रीयता गहरी अन्तर्राष्ट्रीयता

है। यद्यपि महात्मा गांधी ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और कर्त्तव्यों के बारे में किसी पूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया, फिर भी युद्ध और विप्लवों से ग्रसित सारा विश्व शांति के लिए उनकी ओर निहारता था।

गांधीवाद के स्फुट विचार

महात्मा गांधी ने जिन प्रमुख सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विचारों का प्रतिपादन किया, उनका उल्लेख हम कर चुके हैं। अब अग्रिम पंक्तियों में हम उनके कुछ अन्य विचारों का उल्लेख करेंगे, जो आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी तरह के है।

(१) प्रतिनिधित्व—महात्मा गांधी लोकतन्त्रात्मक प्रणाली के समर्थक थे चुनाव और प्रतिनिधित्व की प्रणालियों में उनका विश्वास था। सन् १९३१ और १९४२ में पंचायतों के चुनावों के लिए उन्होंने अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली का समर्थन किया था। वे सत्ता के विकेन्द्रीयकरण के पक्ष में थे और प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली को इस दृष्टि से गांवों के लिये अधिक उपयुक्त और लाभप्रद समझा था। चुनाव में खडे होने वाले प्रत्याशियों की योग्यता के विषय में उनकी एक मात्र कसौटी निःस्वार्थ सेवा और त्याग की थी। उनकी मान्यता थी कि केवल वे ही व्यक्ति राजनैतिक सेवा के लिए आगे आयें जिनमें देश-सेवा अथवा देशोद्धार की भावनायें विद्यमान हैं। मतदाता कौन व्यक्ति हो, इस विषय में उनके विचार इस उद्धरण से स्पष्ट है—"मतदाता की योग्यता के लिए न पद होना चाहिए और न सम्पत्ति, केवल शारीरिक श्रम ही उसके लिए सबसे उपयुक्त योग्यता है।"

(२) बहुमत का राज्य—गांधीजी प्रजातन्त्र मे विश्वास करते थे, अत वे बहुमत का राज्य चाहते थे; किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि वे अल्पसंख्यकों की उपेक्षा करते थे—यह तो अर्थ का अनर्थ करना होगा। स्वय गांधीजी के शब्दो मे "विस्तृत विवरणों मे एक व्यक्ति को स्वीकार करना दासता होगी। बहुमत के शासन का यह मतलब नहीं है कि व्यक्ति की राय भी यदि सबल है तो कुचला जाए बल्कि उसका भार बहुमत की राय से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिए। यही मेरी वास्तविक प्रजातंत्र की कल्पना है।"

(३) देश-भक्ति—देश के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखना गांधीजी प्रत्येक नागरिक का आवश्यक धर्म मानते थे। गांधीवाद के अनुसार देश भक्ति या राष्ट्र प्रेम कभी संकीर्ण राष्ट्रीयता नहीं हो सकता। गांधीवाद के अनुसार मानवता के उच्चतर हितों को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। एक वाक्य में गांधी की देश भक्ति का स्वरूप उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है कि "मैं भारत का उत्थान इसलिए चाहता हूँ कि इससे सारे संसार का भला हो

सके। मैं नही चाहता कि मेरा देश अन्य राष्ट्रों के भग्नावशेषों पर प्रगति के चरण धरे।"

(४) न्याय और जेल—गांधीवादी मान्यता है कि न्याय सस्ता होना चाहिए। जनता द्वारा चुनी हुई पचायतों को न्याय के अधिकार दे दिए जाने चाहिए। राजसत्ता की तरह न्याय का भी विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। गाधीजी की दृष्टि मे न्यायाधीश और वकील आदरणीय नहीं थे। उन्ही के शब्दों में "वकील तथा जज चचेरे भाई होते हैं। वकीलों का धन्धा ही ऐसा है जो उन्हें अनीति सिखाता है। वकील आमतौर पर झगड़ों को दबाने की बजाय बढ़ाने की सलाह देते हैं। वकीलों का स्वार्थ झगड़ों की वृद्धि मे ही है।"

दण्ड का उद्देश्य गांधीवाद के अनुसार अपराधी का नैतिक सुधार करना है। गांधीजी ने कहा था कि दण्ड के दो उद्देश्य हैं—प्रथम, दण्ड अप-राधी को दोबारा अपराध करने से रोके और द्वितीय, दण्ड भविष्य में उस प्रकार के अपराधी को न होने दे। गाधी-दर्शन के अनुसार जेलों को समाज द्वारा बदला लेने की काल कोठरी नही होनी चाहिए। उन्हें तो स्कूल, अस्पताल और सुधार केन्द्रों का एक मिलाजुला रूप होना चाहिए। जेलों में अपराधियों की कमी को सुधारा जाना चाहिए और उन्हें फिर से अहिंसा-त्मक जीवन के सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा दी जानी चाहिए। अपराधियों की अपराधवृत्ति की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा होनी चाहिए और जेलों में अपराधियों से मित्रता का व्यवहार किया जाना चाहिए।

(५) पुलिस—गांधी-दर्शन के अनुसार पुलिस एक अनावश्यक और बेकार संस्था है, फिर भी वर्तमान स्थिति में उसे पूर्णतः समाप्त नही किया जा सकता। अतः उसमे सुधार की आवश्यकता है। गांधीजी कहा करते थे—"मेरे विचारों की पुलिस आज की पुलिस से भविष्य में बिल्कुल भिन्न होगी। वह जनता की स्वामी न हो कर सेवक होगी। उसमें उच्च पद उन्ही को मिलेगा जो अहिंसा में दृढ़ आस्था रखने वाले होंगे। लोग उनकी स्वतः सहायता करेंगे और आपसी सहयोग द्वारा नित्य प्रति कम होती हुई अशांति को वे लोग शांत करेंगे। उनके पास कुछ हथियार हो सकते हैं, पर वे कभी ही शायद उनका प्रयोग करेंगे। वास्तव मे पुलिस वाले सुधारक होंगे और उनका काम केवल डाकुओं तथा लुटेरों से लड़ना मात्र रह जाएगा।"

(६) अधिकार और कर्तव्य—गांधी-दर्शन अधिकार और कर्तव्य दोनों को समान महत्वपूर्ण मानता है और अधिकारों को पाने तथा कर्तव्यों

के पालन करने दोनों पर बराबर बल देता है। गांधीवाद के अनुसार अधिकार व्यक्ति के विकास के लिए अनिवार्य हैं।

गांधीवाद धार्मिक स्वतन्त्रता और सांस्कृतिक विभिन्नता का भी पक्षपाती है और इन मामलों में स्वाधीनता को वह एक मूल अधिकार मानता है; यद्यपि गांधीजी ने मानव अधिकारों की कोई सूची गिनाई नहीं, लेकिन वे अधिकारों के स्वरूप और सीमाओं को परिस्थिति के अनुसार बदलने को तैयार रहते थे और अधिकार से अधिक कर्तव्य पालन को आवश्यक तथा लाभदायक मानते थे। उनका मत था कि अधिकार और कर्तव्य एक ही वस्तु के दो पहलू हैं तथा बिना उचित कर्तव्य-पालन के अधिकार निरर्थक, निस्सार और मूल्यहीन हैं। कर्तव्य पर अधिक महत्व देते हुए उनका कहना था—"अपने कर्तव्यों को पालन का अधिकार ही एक मात्र वह अधिकार है जिसके लिए हमें जीना और मरना चाहिए। समस्त उचित अधिकार इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।" पुनश्च, उन्ही के शब्दों में, "मेरे अधिकार का स्रोत कर्तव्य है। यदि हम कर्तव्यों का पालन करें तो हमें अधिकारों को ढूंढना नही पड़ेगा। किन्तु यदि अपने कर्तव्यों का पालन किए बिना हम अधिकारों के पीछे दौड़ते है तो वे हमसे अर्थहीन इच्छा की भांति दूर भागेंगे।"

स्पष्ट है कि अधिकार और कर्तव्य के बारे में गांधीवादी दृष्टिकोण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियंत्रण में संतुलन स्थापित कर सकता है। यह दर्शन व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सामाजिक अनुशासन के बीच सामंजस्य की समस्या सुलझाता है।

(७) कर—गांधीवाद की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कर चुकाने चाहिये। राज्य को उसकी सेवाओं के बदले कर अवश्य दिया जाना चाहिये, किन्तु यह कर पैसों अथवा रुपयों के रूप में न होकर श्रम (Labour) के रूप में होना चाहिए। ऐसा होने से उस कर का उपयोग किसी एक के लाभ के लिये न होकर सार्वजनिक कल्याण के लिए हो सकेगा। गांधीजी ही के शब्दों मे "परिश्रम के रूप में कर देना एक राष्ट्र में चेतना का संचार करना है। जहा लोग समाज की सेवा के लिए स्वेच्छा से श्रम करते हो वहां द्रव्य का विनिमय अनावश्यक है।"

गांधीवाद का मूल्यांकन

गांधीवाद एक अत्यधिक महत्वपूर्ण और व्यापक दर्शन है जिसके आदर्शों और सिद्धांतों से सम्भवतः कोई इन्कार नहीं करना चाहेगा। फिर भी जहा तक गांधीवाद की व्यावहारिकता का प्रश्न है, उस बारे मे विद्वानों में मतभेद है और आलोचक गांधीवाद की खिल्ली उड़ाने से नही चूके हैं।

गांधीवादी दर्शन की आलोचना का आरम्भ वास्तव मे वहा से होता है जहां लोग उसकी अति-आदर्शवादिता का उपहास उड़ाते है और व्यावहारिक दृष्टि से इस दर्शन को एक असम्भव और अप्राप्य वस्तु मात्र बतलाते है। अग्रिम पक्तियों में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि गांधीवाद के प्रति की गई आलोचनाये कहां तक वजनी हैं।

(१) गांधीवाद की प्रथम आलोचना यह की जाती है कि इसमें कोई मौलिकता नही है। यह कही की ईट और कही के रोडे से बना हुआ एक भानुमति का कुनबा है। इसमें समाजवाद, उदारवाद, अराजकतावाद आदि न जाने कितनी विचारधाराये अव्यवस्थित रूप से मिली हुई हैं। इस दर्शन मे किसी नवीन विचार का उल्लेख नही है और यह केवल "नई बोतलों में पुरानी शराब है।"

पर गाधीवाद की यह आलोचना निस्सार है। मौलिकता सदैव नवीनता मे ही नही हुआ करती। यदि पुरानी से पुरानी बात भी नवीन ढंग से कही जाय तो वह मौलिक होती है। इस दृष्टि से गाधीवाद एक मौलिक दर्शन है। इसमें सब विचारकों की इच्छायें सग्रहीत करके उन्हें सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। फिर इस तथ्य से कोई इन्कार नही करेगा कि लगभग प्रत्येक दार्शनिक कुछ न कुछ बातें अपने पूर्वगामी दार्शनिकों से प्राप्त करता ही है।

(२) गांधीवाद पर दूसरा आरोप यह है कि यह दर्शन पूंजीवाद का समर्थन है। आलोचक गांधी के विचारो मे पूंजीवाद दुर्गन्ध सूंघते है। लेकिन गांधीजी की ईमानदारी पर और उनके विचारों पर इस प्रकार का सदेह करना वास्तव में उनके साथ अन्याय करना है। यदि एक सिपाही से मित्रता की जाए तो इसका अर्थ यह नही है कि हम उस व्यक्ति के शांतिवादी होने मे सदेह करें। इसी तरह यदि गांधीजी ने पूंजीपतियों की शत्रुता मोल नहीं ली, उन्हें भी मित्र बनाया तो इसी आधार पर उन्हें पूंजीवादी बतलाना उपहासास्पद है। वास्तविकता तो यह है कि गाधीजी सदैव बुराई के शत्रु थे, बुराई करने वाले के नही।

(३) कुछ क्रातिकारी गांधीवाद द्वारा प्रतिपादित अहिंसात्मक सत्याग्रहों की हंसी उड़ाते हैं। उनका कहना है कि सत्याग्रह से सारा देश भी मिलकर शताब्दियों में इतनी सफलता नहीं पा सकता, जितनी कुछ क्रांतिकारी घंटों में ही पा सकता है। पर यह आलोचना स्वयं ही खोखली है और इस बात को भूल जाती है कि अहिंसा एक अप्रतिहत शस्त्र है जिसकी हार में भी जीत छिपी हुई है। यह मनुष्य को नैतिक पवित्रता की ओर ले जाती है

और इस बात की अच्छाई व श्रेष्ठता से इन्कार करना अपने आपको धोखा देना है।

(४) कुछ आलोचकों का यह मत है कि गांधीवाद परतन्त्र भारत को स्वतन्त्रता दिलाने का एक आदर्श और सामूहिक हथियार था। लेकिन अब स्वतन्त्रता के बाद, जबकि सम्पूर्ण संसार शस्त्रीकरण की दौड़ लगा रहा है, गांधीवादी अहिंसा अनुपयोगी है। इस आलोचना के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि आज की परिस्थितियों में तो गांधीवाद की उपयोगिता पहले से भी अधिक बढ़ गई है। यदि गांधीवादी भावना से, प्रेम, सद्भावना, अहिंसा और नैतिकता का आश्रय लिया जाए तो आज के विश्व में छा रही घृणा और अविश्वास के बादल तुरन्त नष्ट हो सकते हैं। गांधीवाद के उपदेशों पर चलकर संसार में स्थायी शांति स्थापित की जा सकती है और फिर यदि कोई जिस डाल पर बैठा हो उसी को काटने में अपना कल्याण समझे तो ऐसे पागल का तो भगवान के पास भी इलाज नहीं है।

(५) कुछ यह भविष्यवाणी करने का साहस करते हैं कि गांधीवाद कभी सफल नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य मूलतः पाशविक प्रवृत्तियों से संचालित होता है। मनुष्य प्रेम और सहानुभूति से अधिक स्वार्थ और भय की भाषाओं को जानता है। लेकिन यह कहना वस्तुतः भ्रामक है और मानव स्वभाव का आवश्यकता से अधिक निराशावादी चित्र है। ऐसा कहने वाले भूल जाते हैं कि यदि मनुष्य में प्रेम, सहानुभूति और सद्भावना का आधिक्य न हुआ तो आज यह सृष्टि टिकी न होती वरन् कभी की नष्ट हो गई होती। गांधीवाद मनुष्य के भीतर विद्यमान इन्हीं सद्गुणों को उच्चतम स्थिति तक पहुंचाना चाहता है। अतः इसकी असफलता की भविष्यवाणी करना भ्रामक है। हां, यह अवश्य है कि किसी भी आदर्श दर्शन के सफल होने में समय लगता है।

इस तरह स्पष्ट है कि गांधीवाद के विरोध में प्रकट किये जाने वाले विचार वजन नहीं रखते। उनमें केवल उतना ही वजन है जितना कि किसी आदर्श को बुरा बताने की बात में वजन होता है। गांधीवाद एक व्यापक दर्शन है। यद्यपि इसका आदर्श बहुत ऊंचा है, किन्तु यह कहना निरी बकवास होगी कि यह एक कोरा आदर्शवाद है जो यथार्थ की भूमि पर बिल्कुल ही टिका हुआ नहीं है। गांधीवाद वास्तव में पूरी कल्पना नहीं है। गांधीवादी सिद्धांतों को धीरे-धीरे आचरण में और व्यवहार में लाकर अधिकाधिक प्राप्ति कर सकते हैं। गांधीवादी सिद्धांत कार्य की भाषा है, कल्पना की नहीं। स्वयं गांधीजी ने इन्हें अपने जीवन में उतारा था, इनके सफल प्रयोग किये

थे और तब ससार को कहा था कि इन पर चलें । हां, यह अवश्य है कि प्रत्येक महान् आदर्श को प्राप्त करने में कठिनाइयो को झेलना ही पड़ता है । गाधीवाद एक स्थायी चिन्तनधारा है जो आज की पीड़ित मानवता को सच्चा सहारा दे सकता है । गांधीवाद की महानता एक कालिक न होकर सर्वकालिक है, एक देशीय न होकर सर्वदेशीय है क्योंकि—"मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह (गाधीवाद) अधिक क्रांतिकारी है । राजनीतिक दृष्टि से यह अधिक सम्भव, सरल, व्यापक और व्यावहारिक है । नैतिक दृष्टि से यह मानव सौहार्द का जनक और प्रेरक होने के कारण श्रेष्ठ है । सामाजिक दृष्टि से यह सुसंस्कृत अराजकतावाद है । यह साम्यवाद का एक ऐसा विस्तृत, निर्दोष रूप है जिसमे व्यक्ति की पवित्रता एवम् राष्ट्र अथवा समाज का हित दोनों सुरक्षित हैं और जो समाजवाद की तरह सर्व साधारण को पूंजीवादी क्रूरता से तो बचाता ही है, उनकी आध्यात्मिक और नैतिक प्यास को भी शात करता है ।"

अन्त में यह एक तथ्य है कि गांधीवाद अपने विरुद्ध सब आलोचनाओं के होते हुए भी, आज विश्व की एक अत्यन्त प्रभावपूर्ण और महत्वपूर्ण विचारधारा बन चुकी है । क्या समाज, क्या अर्थ व्यवस्था, क्या राजनीति सभी मे भारत ही नही बल्कि समस्त विश्व आज गाधीजी के सिद्धांतों से प्रेरणा ले रहा है और यह मानता है कि सत्य, अहिंसा तथा प्रेम के बिना विश्व के सामने एक ही मार्ग है और वह है सामूहिक विध्वस । यद्यपि अभी अपने शैशव मे होने के कारण गांधीवाद एक निश्चित और सुगठित दर्शन के रूप मे हमारे समक्ष नही आ पाया है लेकिन राजनीति को नैतिक दृष्टि से देखना इसकी राजनीति-शास्त्र को सबसे बड़ी देन है और इस कारण यह शास्त्र गांधीजी का चिर-ऋणी रहेगा ।

"एक राज्य का दूसरे राज्य से, राज्य का अपने नागरिकों से तथा एक नागरिक का दूसरे नागरिक से क्या सम्बन्ध होता है, यह तभी समझा जा सकता है, जब हम राज्य के उस तत्व पर विचार करें, जो उसे अन्य समुदायों से पृथक् करता है तथा जिसे हम सम्प्रभुता कहते हैं।"

—गेटल

"जहां कानून नहीं, वहां स्वतन्त्रता भी नहीं।"

—लॉक

"सभी सामाजिक विज्ञानों में शक्ति की धारणा से इतना सम्बन्धित कोई भी नहीं जितना कि राजनीति शास्त्र।"

—एस. एस. अल्मर

"राजनीतिक संस्कृति उन रूपों की ओर इशारा करती है जिनका अनुमान समूहों के राजनीतिक व्यवहार से तथा एक समूह के व्यक्तियों के सामान्य विश्वासों, निर्देशक सिद्धान्तों, उद्देश्यों और मूल्यों से लगाया जा सकता है, चाहे उस समूह का आकार कुछ भी क्यों न हो।"

—हेन्ज यूला

१०

सम्प्रभुता

(SOVEREIGNTY)

"सम्प्रभुता राज्य की सर्वोपरि इच्छा है।"

—विलोबी

राज्य के मूल तत्वो में सम्प्रभुता को सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं विशेष माना गया है। कहा जाता है कि जनसंख्या, प्रदेश और सरकार किसी भी मानवीय संगठन मे प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु सम्प्रभुता के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। सम्प्रभुता केवल राज्य मे ही प्राप्त होती है। सम्प्रभुता क्या है, यह कहां निहित रहती है इसके बारे में प्रारम्भ से ही विचारकों ने अपने मत प्रकट किये है। प्राचीन भारतीय राजनीति मे भी सम्प्रभुता से सम्बन्धित विचार जहा-तहां बिखरे हुए मिलते हैं। इस सम्बन्ध में मनु, भीष्म, कौटिल्य, कामंदक, शुक्र आदि सभी भारतीय विचारकों ने यह माना था कि दण्ड राज्य का मुख्य आधार है और इसी के प्रभाव से राज्य की व्यवस्था रह पाती है। वैदिक साहित्य मे सम्प्रभुता शब्द के लिए 'क्षत्र' या 'क्षत्रधारी' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। अर्थशास्त्र मे तथा अन्य ग्रन्थों में इसके लिए 'स्वामित्व' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कौटिल्य ने राज्य के सप्तागों मे स्वामी का नाम लिया है। उनके मतानुसार स्वामी को वे सभी अधिकार प्राप्त थे जो कि आधुनिक काल में एक सम्प्रभु के माने जाते हैं। सम्प्रभुता से सम्बन्धित धारणा समय-समय पर बदलती रही है। भारत मे भी वैदिक काल, पौराणिक काल एवं उसके बाद के कालों में सम्प्रभुता से सम्बन्धित विचारो ने अनेक मोड़ लिये। कभी यह एक संस्था में रही तो कभी इसे व्यक्ति मे आरोपित किया गया। प्राचीन भारत में सम्प्रभुता से सम्बन्धित विचार इतने स्पष्ट और महत्वपूर्ण थे कि प्रोफेसर बी. के. सरकार ने तत्कालीन राज्य के सिद्धान्त को मूल रूप से सम्प्रभुता का दर्शन कहना पसन्द किया है।

सम्प्रभुता का अर्थ एवं परिभाषाएँ
(The Meaning and Definitions of Sovereignty)

सम्प्रभुता की मान्यता को पाश्चात्य विचारकों ने विभिन्न रूप में परिभाषित किया है । इन परिभाषाओं के बीच जो अन्तर एवं विभिन्नताएँ हैं उनके कारण अनेक भ्रम पैदा होने की सम्भावना रहती है । सम्प्रभुता शब्द के अंग्रेजी पर्यायवाची 'Sovereignty' को लेटिन शब्द सुपरानस (Superanus) से लिया गया है जिसका अर्थ होता है सर्वोच्चता । राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में इस शब्द का तकनीकी रूप में प्रयोग सर्वप्रथम सम्भवतः बोदां (Bodin) द्वारा किया गया था । वैसे अरस्तु ने भी राज्य में सर्वोच्च सत्ता अथवा शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार किया था । रोमन काल में राज्य की शक्ति की पूर्णता के रूप में सम्प्रभुता की मान्यता को स्वीकार किया गया । प्राचीन काल में इस मान्यता के लिए चाहे किसी भी शब्द का प्रयोग किया गया हो किन्तु इतना स्पष्ट है कि उस समय के लेखकों के मस्तिष्क में इतनी एक धुंधली रेखा अवश्य थी, जिसे वे स्पष्ट एवं वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादित न करते हुए भी समय-समय पर ध्यान में रखते थे ।

मध्य युग में आकर सम्प्रभुता की मान्यता के मार्ग में कठिनाइयां पैदा हो गई । इस काल के लोगों का धर्म ईश्वर या प्रकृति में इतना अधिक विश्वास था कि वे राज्य की किसी भी ऐसी सत्ता को मानने के लिए तैयार न थे जो इनकी सीमाओं से बाहर हो । राष्ट्र राज्य के उदय के बाद प्रभुता शब्द को नवीन अर्थ प्राप्त हुआ और इसे राज्य का एक आवश्यक लक्षण माना गया ।

प्रत्येक राज्य में अन्तिम सत्ता (Ultimate Authority) होती है जिसके आगे कोई अपील नहीं की जाती । यह सत्ता आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही रूपों में सर्वोच्च होती है । आन्तरिक रूप से कोई भी व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह सम्प्रभु शक्ति के निर्णयों के विरुद्ध कार्य करने का कानूनी अधिकार नहीं रखता । बाह्य रूप से भी राज्य किसी दूसरे राज्य का नियंत्रण स्वीकार नहीं करता । वह अपने कार्यों का स्वयं ही स्वामी होता है । कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय परम्परा अथवा समझौता उस पर कानूनी रूप से लादा नहीं जा सकता । सम्प्रभुता के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझने के लिए पहले उन विभिन्न परिभाषाओं का उल्लेख करना उपयोगी रहेगा जो विभिन्न विचारकों द्वारा इस मान्यता को प्रदान की गयी है ।

बोदां ने सम्प्रभुता के सम्बन्ध में सर्वप्रथम एक व्यवस्थित सिद्धान्त का विकास किया । इनके शब्दों में सम्प्रभुता कानून द्वारा अमर्यादित नागरिको

एवं प्रजा पर सर्वोच्च शक्ति है। लगभग आधी शताब्दी बाद एक अन्य विचारक ग्रोशियस (Grotius) ने भी सम्प्रभुता को परिभाषित करते हुए इसे ऐसी सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति बताया, जो उसमें निहित रहती है, जिसके कार्यों पर किसी अन्य का अधिकार नहीं रहता और जिसकी इच्छा को अवहेलना नहीं की जा सकती। इन लेखकों ने सम्प्रभुता को राज्य को प्रशासित करने का एक नैतिक गुण माना।

बोदां ने राजसत्ता को एक राज्य में शासन करने की निरपेक्ष तथा स्थाई सत्ता कहा। राज्य के अन्तर्गत समस्त नागरिक तथा प्रजाजन इस निरपेक्ष तथा अन्तिम शक्ति के अधीन रहते है। ऐसी स्थिति मे इस शक्ति पर पोप तथा अन्य किसी भी बाहरी सत्ता का नियन्त्रण नही हो सकता। इसके अतिरिक्त बोदा ने सामन्त सरकारों, नगरो तथा निगमों के किसी भी प्रदेय अधिकार या अभिमुक्तियो को मानने से इन्कार कर दिया। उनके मतानुसार ये सभी साधारण नागरिको की भांति राजा की शक्ति के आधीन रहते है। यदि इनको विशेष अधिकार दे दिया जाता है तो निश्चय ही राजा की शक्ति निरपेक्ष नहीं रह पाती। बोदा का प्रभु सत्ताधारी ईश्वर को छोड़कर किसी को भी अपने मे बड़ा नहीं मानता। उसकी यह निरपेक्ष सत्ता किसी निश्चित समय तक के लिए सीमित नहीं रहती। बोदा ने राज सत्ता पर कानूनों की सीमा नही लगाई। उसका मत था कि जिस व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा राज्य मे सर्वोच्च शक्ति का उपभोग किया जाता है, वह स्वय उन कानूनों से बाधित नहीं होते जिनको उसने स्वयं बनाया है। यदि शासक कानूनो से बाध्य होता तो उसकी शक्ति निरकुश तथा सर्वोच्च नहीं रह सकती थी। बोदां ने प्रभुसत्ता को केवल मानव निर्मित कानूनों से ऊपर माना किन्तु दैविक कानून और प्राकृतिक कानून आदि की सीमायें उनके ऊपर लगाई। बोदा के अनुसार कानून एक उच्चतर मानव का आदेश होता है जिसके पास उसे लागू करने के लिए पर्याप्त शक्तिया होती है। कानून का स्रोत बुद्धि नहीं है वरन् वही उच्चतर मानव है। यह उच्च व्यक्ति या उच्च समूह अपने राज्य की विधायक क्रियाओं पर पूर्ण अधिकार रखता है। यदि राज्य मे राजसत्ता के निवास का पता लगाना है तो यह देखना चाहिए कि कानून बनाने की अन्तिम शक्ति किस के पास है। बोदां ने इस शक्ति का प्रयोग विवेक के अनुसार करने का प्रयास किया है। यदि एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह अपनी शक्ति का प्रयोग प्राकृतिक कानून, नैतिकता एवं न्याय के नियमों के अनुसार नहीं करता तो वह सही अर्थों में सम्प्रभु नहीं है। सम्प्रभुता प्रत्येक राज्य में स्वाभाविक रूप मे पाई जाती है। असल में यह एक समाज के हितों के लिए उसके सदस्यों के ऊपर उसकी इच्छा का प्रयोग करने की शक्ति है।

ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि इसको ईश्वर ने अपनी इच्छापूर्ति के लिए दिया है।

सम्प्रभुता की दूसरी परिभाषा प्रसिद्ध राजनैतिक विचारक हॉब्स द्वारा दी गई है। हाब्स ने सम्प्रभु शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति या उस व्यक्ति समूह के लिए किया है जिसे कि लोगों के द्वारा अधिकार हस्तांतरित किये गये थे। हॉब्स ने सम्प्रभुता को राजनैतिक जीवन का एक तथ्य माना। उनके अनुसार जहां नागरिक एवं राजनैतिक समाज प्राप्त होता है वहां सार्वभौमिकता अवश्य होनी चाहिए। उसके न रहने पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी मनमानी करेगा और राज्य का सारा उद्देश्य नष्ट हो जायेगा। हॉब्स ने सम्प्रभुता पर बोदां द्वारा लगाई गयी समस्त सीमाओं को हटा दिया। हॉब्स के शब्दों में सम्प्रभुता वह शक्ति है जिसके कार्यों का एक महान् जन समुदाय ने अपने आपको, प्रत्येक के साथ पारस्परिक समझौता करके कर्त्ता बना लिया है। सम्प्रभुता की यह परिभाषा सम्प्रभु को वे अधिकार सौंपती हैं जिनके अनुसार वह समस्त समाज की ओर से यह निर्णय लेगा कि समस्त की शान्ति और सुरक्षा किस बात में निहित है। हॉब्स ने भी बोदां की भांति सम्प्रभु को समस्त विधेयात्मक कानूनों का एक मात्र स्रोत माना है। कानून बनाने की शक्ति राज्य में एक मात्र सम्प्रभु को सौंपी गयी है। सम्प्रभु की दूसरी विशेषता उसकी पूर्णता एवं निरपेक्षता मानी गई। सम्प्रभु की शक्ति पर कोई सीमा नही होती। कोई भी व्यक्ति न उसके समान है न उसका प्रतिद्वन्द्वी है क्योंकि समस्त प्रजाजन ने अपने सारे अधिकार सम्प्रभु को समर्पित कर दिये थे। सम्प्रभु को कुछ भी करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता और जो भी कुछ उसके द्वारा किया जाता है उसके विरुद्ध शिकायत नही की जा सकती। वह जिन कानूनों का स्रोत है तथा जिन कानूनो की व्याख्या करता है वह उनके आधीन नहीं हो सकता। सम्प्रभु सामाजिक समझौते की उपज है। उसका पद वंश परम्परागत नही है और इसलिए उसकी शक्ति के ऊपर कोई संवैधानिक प्रतिबन्ध नही लगाया जा सकता। हॉब्स ने प्रकृति कानूनों को मान्यता नही दी। वह उनको कानून न मानकर केवल बुद्धि के आदेश कहता है। ईश्वर के कानूनों को भी उसने सम्प्रभुता पर सीमा नही माना, क्योंकि उनकी व्याख्या स्वयं सम्प्रभु द्वारा ही की जाती है। इस प्रकार हॉब्स ने सम्प्रभुता को समस्त प्रतिबन्धों से मुक्त करके निरपेक्ष तथा अपरिमित बना दिया। हॉब्स के सम्प्रभु के सम्मुख प्रजा का कोई अधिकार नही था। शासक का विरोध करना समझौते का उल्लंघन करना था। जो कार्य तथा वस्तुस्थिति राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार है वह उचित और न्यायपूर्ण है और जो उसके विरुद्ध है वह अनुचित, अन्यायपूर्ण तथा अनैतिक है। राज्य ही नैतिकता का सृजनकर्ता

है। सम्पत्ति भी केवल राज्य में ही रह पाती है, उससे सम्बन्धित कानूनों का जन्म राज्य के साथ हुआ। हॉब्स ने सम्प्रभुता को अविभाज्य और अदेय माना। इसके अनुसार वह सम्प्रभुता को न तो किसी को दे सकता है और न ही उसके प्रयोग में किसी को भागीदार बना सकता है, जब ऐसा करने का प्रयास किया जाता है तो सम्प्रभुता समाप्त हो जाती है।

सामाजिक समझौते के दूसरे विचारक लॉक ने सम्प्रभुता का अर्थ भिन्न रूप में प्रकट किया है। लॉक ने सरकार को सम्प्रभुता नहीं सौंपी है। वह उसे केवल ट्रस्ट कहता है तथा उसके ऊपर जनता के नियन्त्रण की व्यवस्था करता है। लॉक के मतानुसार अनुभव के साथ-साथ इस नियन्त्रण की मात्रा दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। सरकार की स्थापना समाज ने अपने हित के लिए की थी, यदि सरकार समझौते के अनुसार कार्य न करे तो समाज उसे भंग कर सकता है। इस प्रकार लॉक ने सम्प्रभुता को समाज में निहित माना। सरकार का उद्देश्य जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा करना होता है। लॉक ने सम्प्रभुता के सम्बन्ध में अधिक कुछ विचार प्रकट नहीं किये हैं। सम्भवतः इसका कारण यह था कि वह एक संवैधानिक सीमित सरकार का समर्थक था और हॉब्स द्वारा वर्णित निरंकुश शासन को समाप्त करना चाहता था। लॉक ने जहां सरकार को सर्वोच्च नहीं माना वहां उसने समाज को भी सम्प्रभु का स्तर प्रदान नहीं किया, क्योंकि समाज भी जब चाहे तब सरकार के हाथों से शक्ति नहीं छीन सकता। लॉक ने जनता के विद्रोह करने या क्रांति करने के अधिकार को स्वीकार किया है किन्तु इस अधिकार का प्रयोग सतर्कता एवं सधे हुए ढंग से करने की बात कही है। विद्रोह के अधिकार का प्रयोग किस के द्वारा किया जाए यह भी लॉक ने स्पष्ट नहीं किया है।

रूसो ने सम्प्रभु शक्ति सामान्य इच्छा में निहित की है। रूसो की इस मान्यता को व्यावहारिक आधार पर आलोचना का विषय बनाया जाता है। रूसो ने यह माना था कि इस सम्प्रभुता का प्रयोग सम्प्रभु जनता के मतों के माध्यम से किया जाता है।

सम्प्रभुता की आधुनिक परिभाषाओं में ड्यूगी (Duguit) द्वारा दी गयी परिभाषा उल्लेखनीय है। उनके कथनानुसार "यह राज्य की आज्ञाकारी शक्ति है। यह राज्य में संगठित राष्ट्र की इच्छा है। यह राज्य के प्रदेश में सभी व्यक्तियों को बिना शर्त आज्ञाएं देने का अधिकार है।" एक अन्य राजनीति शास्त्री मि० बर्गेस (Burgess) की मान्यता के अनुसार "सम्प्रभुता व्यक्तिगत प्रजा एवं प्रजा की समस्त संस्थाओं पर मौलिक, पूर्ण एवं असीमित शक्ति है। यह आज्ञा देने और उसका पालन करने की स्वतन्त्र शक्ति है जो

किसी से प्राप्त नहीं होती।" एक अन्य विचारक मि० पोलक (Pollock) महोदय ने सम्प्रभुता को एक ऐसी शक्ति माना है जो न तो अस्थायी होती है, न हस्तांतरित होती है और न ही ऐसे विशेष नियमों के अधीन होती है जिनको कि वह बदल न सके। लोक प्रशासन के प्रसिद्ध विद्वान विलोबी (Willoughby) के मतानुसार "सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।"

कुछ विचारकों ने सम्प्रभुता को शक्ति (Power) के स्थान पर एक गुण (Quality) कहना पसन्द किया है। उनके मतानुसार यह शक्ति की सर्वोच्च विशेषता है। यह सर्वोच्च इस अर्थ में है कि यह अपने से ऊपर किसी को नहीं मानती और न ही किसी अन्य को प्रतिद्वन्द्विता करने देती है। प्रो. गिडिंग्स (Giddings) ने सम्प्रभुता को एक अत्यन्त जटिल शब्द माना है, उनके अनुसार समस्त शब्द-कोषों में इतना खतरनाक रूप से आदि भौतिक अर्थ में प्रयुक्त शब्द कोई भी नहीं है जितना कि सम्प्रभुता है। न्यायशास्त्रियों एवं राजनीति के सिद्धान्त शास्त्रियों ने मूर्त तथ्यों से अपना ध्यान हटाकर अमूर्त बातों की ओर मस्तिष्क दिया है। इस प्रकार राजनीति शास्त्र के लिए संप्रभुता एक ऐसी चीज बन गई है जो कभी न इस जमीन पर थी और न ही समुद्रों में थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रो० गिडिंग्स ने सम्प्रभुता के स्वरूप को काल्पनिक मानते हुए भी उसके विचार को एक तथ्य स्वीकार किया है। डोनाल्ड एफ० रसल (Donald F. Russell) की परिभाषा के अनुसार "सम्प्रभुता राज्य के अन्तर्गत मजबूत शक्ति एवं सर्वोच्च सत्ता होती है। यह कानून अथवा अन्य किसी भी चीज से सीमित नहीं होती, क्योंकि सीमित होने के बाद यह न तो मजबूत रहेगी और न सर्वोच्च रहेगी।"

सम्प्रभुता का विचार विभिन्न विद्वानों की व्याख्या का विषय बना है। प्राय: प्रत्येक राजनीति सिद्धान्त सम्प्रभुता की मान्यता को केन्द्रीभूत मान कर चलता है। सम्प्रभुता से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्त सामाजिक तथ्यों, राजनैतिक संस्थाओं और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की अभिव्यक्ति थे, जिनको उन्होंने स्पष्ट किया तथा न्यायोचित ठहराया।

सम्प्रभुता की मान्यता की उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रभुता राजनैतिक विचारों में मुख्य स्थान प्राप्त करती रहती है। यद्यपि बहुलवादियों की भांति कुछ विचारकों ने इसे बुरा भला कहा तथा एक असत्य धारणा बतलाया है, किन्तु फिर भी वे स्वयं इस बात को अस्वीकार न कर सके कि व्यवस्था एवं शान्ति के लिए किसी न किसी रूप में शक्ति का होना अनिवार्य है। अधिकांश [illegible] ने सम्प्रभुता की आलोचना करते हुए भी इसकी [illegible] को [illegible] स्वीकार कर लिया। सम्प्रभुता की मान्य[illegible] पि

विचारकों ने भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है; किन्तु फिर भी उन सभी के मूल में कुछ एक विशेषताओं को प्राय. सामान्य रूप से स्वीकार किया गया है।

सम्प्रभुता की विशेषताएं
(The Characteristics of Sovereignty)

सम्प्रभुता की मान्यता मे सामान्य रूप से जो विशेषताएं प्राप्त होती हैं उनमें निरपेक्षता (Absoluteness), सर्वव्यापकता (Universality), अविच्छेद्यता (Inalienability), स्थायित्व (Permanance), अविभाज्यता (Indivisibility) और अपवर्जता (Exclusiveness) आदि प्रमुख है। इन समस्त विशेषताओं का संक्षेप मे अध्ययन कर लेना सम्प्रभुता के अर्थ एवं प्रकृति को सही रूप से समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी रहेगा।

१. निरपेक्षता
(Absoluteness)

सम्प्रभु शक्तियो को निरपेक्ष एवं असीमित माना गया। धरती पर ऐसी कोई असीमित शक्ति नही होती जो सम्प्रभु को नियन्त्रित कर सके। सम्प्रभुता की निरपेक्षता, आन्तरिक तथा बाह्य दोनों दृष्टियों से होती है। सम्प्रभु के द्वारा राज्य के अन्तर्गत समस्त व्यक्तियों तथा उन व्यक्तियो के समूहों को आज्ञाएं प्रदान की जाती है। वह इनमें से किसी से भी आदेश प्राप्त नही करता। राज्य का प्रत्येक आदेश मान्य होना है। वह किसी के विरोध को सहन नही करता। उसकी इच्छा कानून द्वारा मर्यादित नहीं होनी और उसे स्वेच्छाचारी कहा जा सकता है। राज्य बाहरी रूप से भी निरपेक्ष रहता है अर्थात् अन्य राज्यों द्वारा भी उस पर किसी प्रकार का दबाव या हस्तक्षेप नहीं डाला जा सकता। राज्य अपनी स्वेच्छा से ही अन्तर्राष्ट्रीय संधियों एवं समझौतों को बनाता और क्रियान्वित करता है। ऐसी कोई शक्ति नहीं जो इसे इनके पालन करने के लिए बाध्य कर सके। कानूनी रूप से राज्य अपने ऊपर सीमायें लगा सकता है और उनको स्वयं मिटा भी सकता है। गैटिल (Gettle) का कहना था कि एक अपरिवर्तनीय वैज्ञानिक कानूनी रूप से असंभव है।

सम्प्रभुता का यह निरपेक्ष अथवा निरंकुश रूप सिद्धांत एवं कानून की दृष्टि से पूर्णतः सत्य होते हुए भी व्यावहारिक अनुभव में असत्य भी हो सकता है। वास्तविकता तो यह है कि इस धरती पर ऐसा कुछ भी नहीं है जो पूर्ण रूप से स्वेच्छाचारी हो। किसी भी संस्था या व्यक्ति की स्वेच्छा का निर्धारण उन अनेक तत्वों के आधार पर होता है जो प्रायः उसके नियन्त्रण से परे

होते है। अपूर्णता मानव व्यक्तित्व की एक विशेषता है। अतः कोई भी मानवीय संस्था पूर्ण नही कही जा सकती। निरंकुश से निरंकुश शासक भी अपनी अनेक स्वाभाविक परम्पराओं से सीमित होता है। शिक्षा, चरित्र, वातावरण और धर्म आदि का उसकी क्रियाओ पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व, व्यावहारिक ज्ञान एवं औचित्य से सम्बन्धित उसकी धारणाओं की भी सीमाएं हैं। प्रत्येक व्यक्ति के कुछ वंश परम्परागत विशेषण होते हैं जिनसे मुक्त होना आसान नही है।

उक्त तर्कों के आधार पर सम्प्रभुता के निरपेक्ष रूप की आलोचनाएं की गई और व्यर्थ तथा खतरनाक बताया गया। प्रभुसत्ता पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण स्वीकार न करने वाले समुदाय या व्यक्ति इसका प्रयोग मानव हितों के विपरीत कर सकते हैं। वास्तविक व्यवहार में ऐसे किसी भी निरंकुश या स्वेच्छाचारी राजा का उदाहरण नही मिलता जो जनता के रीति रिवाजो और आदतों के विपरीत स्वेच्छापूर्ण व्यवहार कर सकता है। जब भी किसी शासक ने ऐसा करने का प्रयास किया, उसे क्रांति और विद्रोह का खतरा उठाना पड़ा। एक देश का संविधान और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धाराएं राज्य की सम्प्रभुता को सीमित करने में महत्वपूर्ण योगदान करती हैं। सम्प्रभुता की निरपेक्षता विभिन्न आलोचनाओं एव आपत्तियों से पूर्ण है। सम्प्रभुता की अन्य विशेषताएं बहुत कुछ उसके निरपेक्ष रूप से ही सम्बन्ध रखती है।

२. सर्वव्यापकता
(Universality)

सम्प्रभु शक्ति राज्य के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों, संस्थाओं एवं चीजो पर लागू होती है। कोई भी उसके अधिकार क्षेत्रो से अलग नहीं रहता। जितना व्यापक राज्य का कार्य-क्षेत्र होता है उतनी व्यापक उसकी सम्प्रभुता होती है। राज्य द्वारा बनाया गया कोई कानून उसके अधिकार क्षेत्र में रहने वाले सभी प्रजाजनों पर लागू होगा। कोई भी व्यक्ति या निकाय एक अधिकार के रूप में उनसे मुक्ति पाने की आशा नही कर सकता।

राज्य की सम्प्रभुता की इस विशेषता के अपवाद के रूप में उस अतिरिक्त प्रदेशीय अधिकार क्षेत्र (Extra Territorial jurisdiction) का उल्लेख किया जाता है जो दूसरे देशों के राजदूतों को प्रदान किया जाता है। गिलक्राइस्ट (Gilchrist) ने इस सीमा का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार किसी भी देश में रहने वाला दूतावास उस देश का होता है जिसका वह प्रतिनिधित्व कर रहा है। दूतावास के सभी सदस्य उसी राज्य के कानून

के आधीन कार्य करते है जिसके कि वे सदस्य हैं। इस सम्बन्ध में डा० आशीर्वादम का कहना है कि "इस स्थिति को कोई वास्तविक अपवाद नही मान सकते वरन् यह तो एक अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य का विषय है। कोई भी राज्य सम्प्रभु होने के नाते इस प्रकार प्रदान किये गये विशेषाधिकार को देने से इन्कार कर सकता है।"[1]

३. अविच्छेद्यता
(Inalienability)

सम्प्रभु शक्ति की एक अन्य विशेपता यह है कि इसको छीना नही जा सकता, इसे लिया नही जा सकता। यदि सम्प्रभुता को हम निरपेक्ष और असीमित मानते है तो इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि सम्प्रभुता को बांटा नही जा सकता। कोई भी सम्प्रभु राष्ट्र अपने मूल तत्वो मे से किसी को भी उस समय तक नही छोड सकता जब तक कि अपने आप को वह समाप्त न कर ले। इस सम्बन्ध में एक अमेरिकी लेखक मि० लाइवर (Liver) का कहना है कि जिस तरह एक वृक्ष उसके पुनः अंकुरित होने के अधिकार को और व्यक्ति अपने जीवन तथा व्यक्तित्व को बदलने के अधिकार को उस समय तक प्रयुक्त नही कर सकता जब तक कि स्वयं का विनाश न कर ले, उसी प्रकार सम्प्रभुता भी अपने आपको नष्ट किये बिना अपने को दे नही सकती। कई बार ऐसा होता है कि एक राज्य अपने प्रदेश का कुछ भाग अन्य राज्य को सौंप देता है अथवा अन्य राज्य द्वारा उसे हथिया लिया जाता है। ऐसी स्थिति मे पूर्व राज्य की सम्प्रभुता छीनी नही गई वरन् यह उस प्रदेश के सम्बन्ध में समाप्त हो गयी। प्रदेशों का विभाजन हो जाने के साथ-साथ दो अलग सम्प्रभुताएं बन जाती हैं जो कि भिन्न-भिन्न प्रदेशो पर अधिकार रखती है। जब कभी एक राज्य के शासक को अपदस्थ कर दिया जाता है तो इसका अर्थ यह नही होता कि सम्प्रभुता के टुकड़े कर दिये गए वरन् इसका अर्थ केवल सरकार के रूप का परिवर्तन करना है। सम्प्रभुता की इस विशेपता का रूसो ने पर्याप्त समर्थन किया है। उनके कथनानुसार शक्ति (Power) को हस्तांतरित किया जा सकता है किन्तु इच्छा को नही किया जा सकता। सम्प्रभुता राज्य के व्यक्तित्व का-मुख्य तत्व है और उसे छीनना आत्महत्या के बराबर है। हो सकता है कि सम्प्रभुता की शक्ति का

1. "This, however, is only a matter of international courtesy and is no real exception. Any state in virtue of its Sovereignty could deny the privileges so granted"—E. Asirvatham : Political Theory.

प्रयोग न किया जाए किन्तु ऐसा करने से वह नष्ट नही हो जाती। डा० गार्नर के कथनानुसार जिस प्रकार भूमिगत सम्पत्ति प्राइवेट कानून के अनुसार समाप्त नहीं हो सकती, उसी तरह केवल समय बीत जाने के कारण सम्प्रभुता भी नष्ट नहीं हो सकती।

४. स्थायित्व अथवा निरन्तरता
(Perpetality or Permanence)

सम्प्रभुता उतनी ही स्थाई है जितना कि स्वयं राज्य है। जब तक राज्य रहेगा तब तक उसमे सम्प्रभुता रहेगी। राज्य की सरकार समय-समय पर बदलती रहती है, उसके प्रशासन के नियम भी बदलते रहते हैं, किन्तु उसमे सम्प्रभुता निरन्तर कायम रहती है। यदि सत्ताधारी व्यक्ति मर जाए या उसे पद से हटा दिया जाय तो सम्प्रभुता समाप्त नही होती। इन परिस्थितियों में सम्प्रभुता नए प्रभुसत्ताधारी के पास पहुंच जाती है।

५. अविभाज्यता
(Indivisibility)

सम्प्रभुता की एक विशेषता यह होती है कि उसको विभाजित नहीं किया जा सकता। यदि सम्प्रभुता को विभाजित किया जा सकता है तो वह कभी भी निरपेक्ष और पूर्ण नही होती। पूर्णता अथवा अविभाजनीयता सम्प्रभुता की इतनी प्रमुख विशेषता है कि मि० गेटेल इसे राज्य के अस्तित्व का आधार तक कहते हैं। उनके मतानुसार यदि सम्प्रभुता को विभाजित कर दिया गया तो सम्प्रभुता ही न रहेगी। बहुलवादियो ने सम्प्रभुता की इस विशेषता का खुले रूप मे विरोध किया है। उनके मतानुसार सम्प्रभुता राज्य एवं उन अन्य संस्थाओं के बीच विभाजित रहती है जो कि व्यक्ति के विभिन्न हितो को पूरा करने का प्रयास करती है। बहुलवादियो के अतिरिक्त भी कई विचारक सम्प्रभुता को विभाजनशील मानते हैं। उदाहरण के लिए ए. एस. लावेल (A. L. Lowell) के कथनानुसार "एक ही प्रदेश में एक ही जनता के लिए अलग-अलग विषयों पर आज्ञा देने के लिए दो सम्प्रभु रह सकते हैं।" इसी प्रकार लार्ड ब्राइस ने यह दावा किया था कि कानूनी सम्प्रभुता को दो समन्वयकारी सत्ताओं के बीच विभाजित किया जा सकता है। ये मत तथ्यगत गुण की अपेक्षा भ्रामक अधिक प्रतीत होते हैं क्योंकि इनको प्रतिपादित करते समय सम्प्रभुता के पूर्ण रूप को ध्यान मे नही रखा गया। वास्तविकता तो कलहन (Calhoun) के इन शब्दो में झलकती है—"कि सम्प्रभुता एक सम्पूर्ण चीज है, इसका विभाजन करना, इसको समाप्त करना है। यह राज्य मे सर्वोच्च शक्ति है। यदि हम आधी-सम्प्रभुता शब्द

का प्रयोग करना चाहे तो इसे उसी रूप में कर सकते हैं जैसे कि आधा-वर्ग या आधा त्रिकोण आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यदि सम्प्रभुता को विभाजित कर दिया गया तो उसमें सर्वोच्चता कैसे रह पावेगी यह समझ में नहीं आता है।"

सम्प्रभुता के विभिन्न रूप
(Different Types of Sovereignty)

सम्प्रभुता यद्यपि एक होती है, सर्वोच्च होती है, पूर्ण होती है और सर्वव्यापी होती है, किन्तु फिर भी उसके सम्बन्ध में कई बार इसीलिए भ्रम पैदा हो जाता है क्योंकि सम्प्रभुता शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थों मे भी कई बार किया जाता है। इसका अर्थ यह नही होता कि एक ही राज्य मे सम्प्रभुता अनेक होती है, वरन् यह केवल उस बात का द्योतक है कि एक ही सम्प्रभुता को विभिन्न रूपों में देखा जाता है। उनमें से किसी भी एक रूप को लेकर उसी को सब कुछ मान लेना वास्तविकता के विपरीत होगा। सम्प्रभुता के विभिन्न रूपों में से कुछ निम्न प्रकार हैं—

१. नाम मात्र की सम्प्रभुता (The Titular Sovereignty)

यह सम्प्रभुता का एक रूप है, इसका प्रयोग प्रायः उस राजा या राजतन्त्रात्मक शासन के लिए किया जाता है जिसके पास एक समय वास्तविक शक्तियां थीं किन्तु लम्बे समय से वह उनसे वंचित रह गया है। ग्रेट-ब्रिटेन के राज्य पद को इस प्रकार की सम्प्रभुता का एक श्रेष्ठ उदाहरण माना जा सकता है। वहा का सारा प्रशासन यद्यपि राजा के नाम पर चलता है किन्तु वास्तविक शक्तियां उसके हाथ में नही रहतीं। भारत में राष्ट्रपति को नाम मात्र की सम्प्रभुता का एक अन्य उदाहरण कहा जा सकता है। नाम मात्र का सम्प्रभु अपनी ओर से किसी कार्य मे पहल नही करता और न ही उसके पास निर्णायक शक्तिया होती हैं।

२. वैधानिक सम्प्रभुता (Legal Sovereignty)

वैधानिक सम्प्रभुता प्रायः उस व्यक्ति या संस्था में निहित मानी जाती है जो कि राज्य में सर्वोच्च कानून-निर्माता निकाय है। इस निकाय की आज्ञाएं ही कानून होती हैं। न्यायालय द्वारा केवल उन्हीं कानूनों को मान्यता दी जाती है जो कि वैधानिक सम्प्रभु द्वारा बनाये गये हैं। यदि कोई इन कानूनों का उल्लंघन करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है। वैधानिक सम्प्रभु प्राकृतिक नियमों, दैवीय कानूनों, नैतिक सिद्धांतों और जनमत की आज्ञाओं का अतिक्रमण कर सकता है। डा० आशीर्वादम के कथनानुसार, 'वैधानिक सम्प्रभुता' सम्प्रभुता के वकीलों की मान्यता है।

वैधानिक सम्प्रभुता की कुछ विशेषताएं होती हैं। यह स्थिर और निश्चयात्मक होती है, यह एक व्यक्ति या व्यक्तियों के निकाय में निहित रह सकती है, यह निश्चित रूप से सगठित एवं कानूनों द्वारा मान्य होती है, इसी के द्वारा राज्य की इच्छा को वैधानिक रूप मे प्रकट किया जाता है। इस सम्प्रभु के आदेशों के उल्लघन का अर्थ है कानून का उल्लंघन और इसके लिए दण्ड भुगतना होगा। नागरिकों के अधिकारों का स्रोत यही सम्प्रभु होता है तथा यह सम्प्रभु निरपेक्ष, सर्वोच्च और अविच्छेद्य होता है। न्यायालय एवं वकील इस सम्प्रभुता की आज्ञाओं के पार देखने का प्रयास नहीं करते।

३. राजनैतिक सम्प्रभुता (Political Sovereignty)

सम्प्रभुता का यह रूप समझना अधिक सरल नहीं है। वैधानिक शक्ति का प्रयोग करने वाले व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह शून्य में कार्य नहीं करते, उनकी पृष्ठभूमि में राजनैतिक सम्प्रभुता कार्य करती है। डाइसी (Dicey) का कहना था कि जिस प्रभुशक्ति को वकील मान्यता प्रदान करता है, उसकी पृष्ठभूमि में एक अन्य प्रभुशक्ति भी काम करती है जिसके आगे वैध प्रभुशक्ति को झुकना पड़ता है। प्रो॰ गिलक्राइस्ट ने भी यह माना है कि राजनैतिक सम्प्रभुता राज्य के उन प्रभावों का सम्पूर्ण योग है जो कि कानून की पृष्ठभूमि में निहित रहती है।

राजनैतिक सम्प्रभुता की निश्चित परिभाषा देने के प्रयास में पर्याप्त भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण यह है कि इसका स्वरूप अनिश्चित है। जिस देश मे प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र कार्य करता है वहा वैधानिक सम्प्रभुता और राजनैतिक सम्प्रभुता को अलग-अलग करना बहुत कठिन है, किन्तु अधिकांश देशों में आज अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र प्रचलित है। ऐसी स्थिति में कानूनी और राजनैतिक सम्प्रभुता वहां अलग-अलग रहती है। कुछ लेखकों के मतानुसार राजनैतिक सम्प्रभुता सम्पूर्ण समाज में रहती है कुछ इसे निर्वाचक समूह मे मानते हैं। अन्य के अनुसार यह सामान्य इच्छा मे होती है जबकि कुछ एक विचारक इसे लोकहित में निहित मानते हैं। कुछ का यहां तक कहना है कि राजनैतिक सम्प्रभुता जनता के उस भाग की भौतिक शक्ति है जो कि सफलतापूर्वक क्रांति कर सकता है। इन सभी बातों मे सत्यता हो सकती है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से कोई एक पूर्ण रूप से सत्य है। इसी भ्रम के कारण कुछ लेखक सम्प्रभुता को न केवल वैधानिक रूप प्रदान करना चाहते हैं और न ही राजनैतिक सम्प्रभुता की मान्यता को ठुकराते हैं। कई राज्यों मे राजनैतिक प्रभु या तो होता ही नहीं और यदि होता भी है तो वह अत्यन्त सुप्त अवस्था मे रहता है। वंश-परम्परागत शासक से युक्त राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली मे राजनैतिक सम्प्रभु नहीं होता। तानाशाहों के देश मे भी इस प्रकार

का सम्प्रभु देखने को मिलता है। गैटेल महोदय का कहना था कि वैधानिक सम्प्रभु के पीछे राजनैतिक सम्प्रभु को पाने के प्रयास से सम्पूर्ण मान्यता का मूल्य ही समाप्त हो जाता है और सम्प्रभुता केवल प्रभावों का सूचीपत्र बन कर रह जाती है।

राजनैतिक सम्प्रभुता को वकीलों एवं न्यायाधीशों द्वारा मान्यता नही दी जाती। वे केवल वैधानिक सम्प्रभुता को मान्यता देते हैं। लोकमत, सामान्य इच्छा, निर्वाचकों की इच्छा, क्रान्ति की सम्भावना आदि जो राजनैतिक सम्प्रभुता का रूप कही जाती हैं वे सब वैधानिक सम्प्रभुता के निर्णयों को प्रभावित अवश्य करती है, किन्तु इनमें वैधानिक सम्प्रभुता की भांति निश्चितता नही होती है। एक सुव्यवस्थित राज्य मे यह आवश्यक है कि वैधानिक सम्प्रभुता को मान्यता प्रदान की जाए और प्रायः सभी नागरिक स्वभाववश उसकी आज्ञाओं का पालन करे। राजनैतिक सम्प्रभुता जैसी यदि कोई चीज है तो वह अत्यन्त अस्पष्ट और अनिश्चयात्मक होती है। लीकॉक का कहना था कि राजनैतिक सम्प्रभुता को खोजने का जितना प्रयास किया जाता है वह उतना ही अधिक दूर जान पड़ता है।

जनतंत्रात्मक शासन प्रणाली में वैधानिक एवं राजनैतिक सम्प्रभुता प्रायः अपने क्रियात्मक रूप मे मिल जाती है। यहां निर्वाचको को राजनैतिक सम्प्रभु और निर्वाचितों को वैधानिक सम्प्रभु कह सकते है। असल मे वैधानिक और राजनैतिक सम्प्रभुता दो अलग-अलग सम्प्रभुताएं नही है वरन् एक ही चीज के दो पहलू हैं। इनकी अभिव्यक्ति के मार्गों मे अन्तर होता है। राज्य का प्रत्येक कानून इन दोनों की इच्छा की अभिव्यक्ति होना चाहिए। ऐसा न होने पर निर्वाचक एवं विधानसभा में सामंजस्य नही हो पाता और प्रशासनिक कार्यों में अकुशलता बढ़ती है। कानून को जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होना चाहिए। व्यवस्थापिकायें जन साधारण की इच्छा का दर्पण बन जाएं। लास्की ने माना था कि अपने आचरण का सर्वोच्च निर्णायक अन्तिम रूप से स्वयं व्यक्ति ही होता है और इसलिए यदि राज्य एक नैतिक सत्ता होना चाहता है तो वह अपने सदस्यों की संगठित स्वीकृति को आधार मानकर चले। गिलक्राइस्ट का कहना था कि राजनैतिक प्रभु पृष्ठभूमि में रहता है और वह वहीं से वैधानिक प्रभु को मर्यादित करता रहता है। वैसे कानूनी दृष्टि से देखने पर वैधानिक प्रभु सर्व शक्तिमान होता है।

४. लोक सम्प्रभुता
(The Popular Sovereignty)

राजनैतिक सम्प्रभुता की मान्यता से लोक सम्प्रभुता की मान्यता निकलती है। सम्प्रभुता के इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तिम शक्ति जनता में

निहित रहती है। इस विचारधारा का विकास सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी मे हुआ जब कि राजाओं की निरंकुश सत्ता तथा उनके दैवीय अधिकारों के विरुद्ध प्रतिक्रिया चल रही थी। १८ वीं शताब्दी में यह सिद्धान्त रूसो की मान्यताओं का आधार बन गया। इसको फ्रांस की क्रांति का आधार बनाया गया और अमेरिका की स्वतन्त्रता को इस पर आधारित किया गया। उसके बाद लोक प्रभुता, लोकतन्त्र का आधार एवं पर्याय बन गये।

१६ वीं शताब्दी में प्रजातन्त्र के विकास के साथ-साथ इस सिद्धांत को भी महत्व प्राप्त हुआ। यह सोचा जाने लगा कि जनता ही राजनैतिक सत्ता की अन्तिम रक्षक होती है। वैधानिक सम्प्रभु यदि जान-बूझ कर और निरंतर रूप से जनता की इच्छाओं का विरोध करे तो वह अधिक समय तक नही रह सकता क्योंकि जनता उसके विरुद्ध क्रान्ति कर देगी और उसके स्थान पर एक नयी सरकार की स्थापना कर देगी। लोक प्रभुता का सिद्धान्त पर्याप्त आकर्षक एवं मान्य होता हुआ भी अनेक भ्रमों को जन्म देता है। यह नहीं कहा जा सकता कि जिन लोगों को प्रभु शक्ति सौंपी गयी है वे लोग कौन है ? इसके अतिरिक्त लोगों का जन समूह सगठित भी नही हो सकता जबकि संगठन का होना सम्प्रभुता का एक आवश्यक गुण है। गैटेल ने वस्तु स्थिति के अध्ययन के बाद यही निष्कर्ष निकाला कि 'लोगों की प्रभुता' यदि राज्य की परिभाषा की कसौटी पर देखा जाए तो एक विरोधाभास दिखाई देती है। जब लोक प्रभुता की मान्यता का विश्लेषण करने का प्रयास किया जाता है तो पर्याप्त कठिनाइया उत्पन्न हो जाती हैं। जितना अधिक इस मान्यता पर विचार किया जाता है, इसे परिभाषित करना, उतना ही अधिक कठिन बन जाता है। इसकी वे सभी आलोचनाये की जाती हैं जो कि राजनैतिक सम्प्रभुता के विरुद्ध की गयी थी।

'लोक' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जा सकता है। एक ओर तो इसे सम्पूर्ण असंगठित एवं अनिश्चित जनता के लिए और दूसरी ओर इसे निर्वाचकों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। जहा तक प्रथम प्रकार के अर्थ का सम्बन्ध है, इसको सम्प्रभुता नही कहा जा सकता। यदि लोक-प्रभुता निर्वाचक मण्डल की प्रभुता को माना जाए तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि निर्वाचकों की सम्प्रभुता उस समय तक वैध नही होती जब तक कि वह संविधान द्वारा निर्धारित मार्गों से अभिव्यक्त न हो। इस सम्बन्ध में गार्नर महोदय का कहना है कि लोगों की प्रभुता का अर्थ निर्वाचक समूह की शक्ति से अधिक कुछ भी नहीं है। यह केवल उन्हीं देशों में संभव है जहां व्यापक मताधिकार की प्रणाली को काम मे लिया जाता हैं तथा जो वैधानिक

मार्गों द्वारा जनता की इच्छा को व्यक्त करती है। वैध रूप मे व्यक्त न किया गया जनमत अपने आप मे चाहे कितना भी प्रभावशाली हो, वह वैध नही हो सकता। लोक-प्रभुता को केवल निर्वाचकों में निहित मानना सही नहीं है, क्योंकि निर्वाचक सम्पूर्ण जनसख्या का एक छोटा भाग होते हैं केवल इस छोटे भाग की प्रभुसत्ता को लोक प्रभुसत्ता कहना अनुपयुक्त है। डा० आशीर्वादम् के शब्दों में "वास्तविक व्यवहार में लोकसम्प्रभुता शान्तिकाल मे लोकमत और सघर्ष काल मे क्रान्ति की शक्ति से अधिक कुछ अर्थ नही रखती।" जब हम लोकसम्प्रभुता का यह अर्थ लेने लगते हैं तो वह राजनैतिक सम्प्रभुता से थोडी ही भिन्न रह जाती है। गिलक्राइस्ट ने सम्प्रभुता के इन दोनों रूपों के बीच पर्याप्त अन्तर स्पष्ट किया है। उनके अनुसार लोकप्रभुता राजनैतिक स्वतन्त्रता या लोक-नियन्त्रण के समकक्ष है। इसका अर्थ एक व्यक्तिगत शासक या समूह की शक्ति के विरुद्ध जनसमूह की शक्ति है। इसके अन्तर्गत सामान्य मताधिकार जनता के प्रतिनिधियों द्वारा व्यवस्थापिका का नियन्त्रण, तथा सार्वजनिक रूप से निर्वाचित सदन द्वारा राष्ट्र के वित्त पर नियन्त्रण आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। लास्की का कहना था कि "राजनैतिक सम्प्रभुता का अर्थ यह है कि प्रभावपूर्ण हित जन समूह के हित होने चाहिए न कि समाज के किसी भाग विशेष के।" यह मत समस्या को सुलझाने की अपेक्षा उलझा देता है। इस प्रकार सम्प्रभुता के इस रूप के बारे में विचारकों द्वारा अलग-अलग मत प्रकट किये गये।

लोक सम्प्रभुता के सिद्धान्त को सही रूप से परिभाषित करने के मार्ग मे चाहे कितनी ही कठिनाइयां क्यो न आए किन्तु यह सच है कि इसके आधार पर विभिन्न मूल्यवान विचार सामने आये। यह माना गया कि सरकार केवल अपनी अच्छाई के लिये कायम नहीं रहती वरन् वह जनता की भलाई के लिए कायम रहती है। दूसरे, यदि लोगों की इच्छाओं को जान-बूझ कर तोड़ा गया तो क्रान्ति की सम्भावनायें हो जायगी। तीसरे, सरकार को अधिक सामयिक चुनाव, स्थाई स्वशासन, पहल आदि विभिन्न साधनों द्वारा जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी रहना चाहिए। चौथे, लोकमत को अभिव्यक्त करने के लिए सरल साधन प्रतिपादित किये जाने चाहिए। इसके अतिरिक्त सरकार को देश में कानून के अनुसार कार्य करने चाहिये न कि स्वेच्छापूर्वक।

५. वैधानिक एवं वास्तविक सम्प्रभुता

(De-Jure & De-Facto Sovereignty)

सम्प्रभुता एक तथ्य का विषय है इसलिए कभी-कभी यह जानना जरूरी हो जाता है कि तथ्यगत रूप से जिसके पास सम्प्रभु शक्ति है क्या वह

वास्तविकता में भी उसका प्रयोग करता है? अधिकतर यह होता है कि कानूनी रूप से जिसे प्रभुता प्राप्त होती है, वही वास्तविकता में उसका प्रयोग करता है। कभी-कभी ऐसे अवसर भी आते हैं जबकि कानूनी रूप से सम्प्रभुता प्राप्त व्यक्ति या व्यक्ति समूह अपने आदेशों का पालन नहीं करा पाता और जिस व्यक्ति का आदेश प्रभावशील होता है उसके हाथ में कानूनी शक्ति नहीं होती। दूसरे प्रकार के व्यक्ति को वास्तविक सम्प्रभु कहा जायेगा, क्योंकि यद्यपि उसे कानून ने शक्ति प्रदान नहीं की है किन्तु फिर भी वह अपने आदेशों का लोगों की बहुसंख्या से स्वेच्छापूर्ण पालन करा सकता है।

वास्तविक सम्प्रभुता (De-Facto Sovereignty) शुद्ध रूप से भौतिक शक्ति या धार्मिक प्रभाव पर निर्भर रह सकती है किन्तु कानूनन सम्प्रभुता (De-Jure & Sovereignty) को आज्ञा प्रदान करने का वैधानिक अधिकार प्राप्त होता है। दोनों के बीच का अन्तर क्रान्ति के समय में स्पष्ट होता है। कुछ क्रान्तियों का अर्थ केवल सरकार के संगठन या व्यक्तियों को बदलना होता है जबकि अन्य के परिणामस्वरूप पुरानी कानूनी सम्प्रभुता को पूरी तरह समाप्त करके नवीन संप्रभुता की स्थापना की जाती है। सम्प्रभुता के इन दोनों रूपों के बीच विचारकों ने पर्याप्त अन्तर दिखाया है। लार्ड ब्राइस ने यह माना था कि जो व्यक्ति या व्यक्ति समूह अपनी तथा सबकी इच्छा को क्रियान्वित करा सकता है वह यथार्थ अथवा वास्तविक शासक है चाहे वह कानून के अनुसार हो अथवा कानून के विरुद्ध। इस प्रकार वास्तविक सत्ताधारी वह है जिसकी आज्ञाओं का यथार्थ में पालन किया जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि इस प्रकार के सम्प्रभु की शक्तियां शारीरिक एवं आध्यात्मिक प्रभाव पर निर्भर करती हैं। इतिहास में इस प्रकार की सम्प्रभुता के उदाहरणों का अभाव नहीं है। अनेक बार वैधानिक सम्प्रभुता को या तो क्रान्ति के द्वारा समाप्त कर दिया जाता था अथवा कोई विजेता उसे अपदस्थ कर देता था। राज्य में वास्तविक सम्प्रभुता सबसे अधिक शक्तिशाली होती है और राज्य के समस्त लोग उसी की आज्ञाओं का पालन करते हैं। वास्तविक सम्प्रभुता का स्थायित्व इस बात पर निर्भर करता है कि वह साथ के साथ वैधानिक (De-Jure) भी हो। जब कभी सम्प्रभुता के इन दोनों रूपों के बीच विरोध होता है अर्थात् कानूनन सम्प्रभु वास्तविक नहीं होता और वास्तविक संप्रभु कानूनन नहीं होता तो राज्य में अराजकता का भय उत्पन्न हो जाता है।

गार्नर का कहना था कि जो सम्प्रभुता अपनी शक्तियों को स्थिर रखने में सफल हो जाती है वह कुछ समय बाद वैध प्रभु बन जाती है। ऐसा होने के

लिए उसे या तो लोगों की सहमति प्राप्त करनी होती है अथवा राज्य का पुनर्गठन करना होता है। यद्यपि वास्तविक संप्रभुता शारीरिक बल एवं धार्मिक प्रभाव के आधार पर स्थापित की जा सकती है किन्तु उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए कानूनी आधार प्रदान करना होता है। ब्राइस का कहना था कि लोग बल प्रयोग पर आधारित शक्ति के सामने प्राकृतिक या स्वाभाविक रूप से झुकने में अरुचि दिखाते हैं। यही कारण है कि वास्तविक सम्प्रभु अपने अधिकार एवं शक्तियों को वैधानिक रूप प्रदान करने का प्रयास करता है। राज्य की आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था इस बात की माग करती है कि वास्तविक एवं कानूनन सम्प्रभुता साथ-साथ रहे। जहा कही इनके बीच विरोध होता है, उसको शीघ्र ही दूर करना जरूरी है। डा० आशीर्वादम् के शब्दों में "शक्ति एवं औचित्य साथ-साथ चलने चाहिये।" आस्टिन (Austin) आदि विचारकों ने वास्तविक एवं कानूनन सम्प्रभुता को अलग-अलग नही माना। उनका मत था कि कानूनी और गैर कानूनी जैसे विशेषण संप्रभुता शब्द पर लागू नही होते। यह हो सकता है कि सरकार वास्तविक हो या कानूनन हो किन्तु कानूनन सरकार को संप्रभु नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त वास्तविक सप्रभु को गैर कानूनी कहना भी गलत है क्योंकि सम्प्रभुता तो केवल एक शक्ति है जो कि अपनी आज्ञा पालन के लिये बाध्य कर सकती है।

सम्प्रभुता का आश्रय
(The Location of Sovereignty)

सम्प्रभुता का अर्थ, परिभाषा एवं रूप आदि का विश्लेषण करने के बाद इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना आवश्यक रहेगा कि राज्य मे सप्रभुता का आश्रय क्या होता है। आश्रय से सम्बन्धित प्रश्न का अर्थ गणमान्य विचारकों के बीच पर्याप्त मत भिन्नता का है। गैटेल ने इस आधार पर विचारको को प्रायः तीन श्रेणियो मे विभाजित किया है। प्रथम श्रेणी के विचारक सम्प्रभुता का आश्रय राज्य की जनता को मानते है। दूसरो का कहना है कि जो संगठन राज्य के संविधान को बनाने या सशोधित करने का वैधानिक अधिकार रखता है वही सम्प्रभुता का आधार है। तीसरी श्रेणी के लोग राज्य की सरकार में जो वैधानिक रूप मे कानून बनाने वाले निकाय होते है उनको सम्प्रभुता का आश्रय मानते है। प्रथम श्रेणी के लोग लोकप्रभुता के समर्थक कहे जा सकते है। ये अनेक प्रकार की आलोचनाओं के विषय है जिनका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। अन्य दो दृष्टिकोण कुछ इस प्रकार के है जिनकी सत्यता को एकदम से अस्वीकार नही किया जा सकता है। कुछ

देशों की शासन व्यवस्था ऐसी होती है जहां कि संप्रभुता के आश्रय को निश्चित करना अधिक मुश्किल काम नहीं होता। उदाहरण के लिये ग्रेट ब्रिटेन में राजा सहित ससद वैज्ञानिक संप्रभु है और वहां की जनता या निर्वाचक राजनैतिक संप्रभु है। ग्रेट ब्रिटेन में यह इसलिये सम्भव होता है क्योंकि वहां का संविधान लचीला है।

संयुक्त राज्य अमेरिका, जहा का संविधान कठोर है, सम्प्रभुता के आश्रय को निर्धारित करना इतना सरल नही है। संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति तथा वहा की संघीय या राज्यों की व्यवस्थापिकाएं आदि में से किसी को भी निरपेक्ष वैधानिक शक्तियां प्राप्त नहीं हैं। संविधान की सीमाओं का अतिक्रमण किया जाने वाला उनके द्वारा किया गया कोई भी कार्य किसी भी न्यायालय मे चुनौती का विषय बन सकता है। इस प्रकार संप्रभुता उनमें निहित नही रहती वरन् उस निकाय मे निहित रहती है जो कि वैधानिक रूप से सविधान को बदलने की शक्ति रखता है। सयुक्त राज्य अमेरिका ने शक्ति संतुलन की व्यवस्था को अपनाया है और इसलिये वहां सरकार के किसी भी एक अंग मे सम्प्रभुता को आश्रित नही किया गया है। कभी-कभी तो यह कहा जाता है कि वहां सम्प्रभुता सघीय राज्य सरकारो के बीच विभाजित है। गैटेल आदि विचारकों ने सम्प्रभुता को सरकार के संपूर्ण कानून निर्माता निकायों में निहित किया है। उदाहरण के लिये व्यवस्थापिका, न्यायपालिका, कार्यपालिका, अधिकारी, परम्परायें एवं निर्वाचक मण्डल। इस दृष्टिकोण के अनुसार सम्प्रभु शक्ति सरकार के सभी अंगों मे व्याप्त रहती है। गैटेल के अनुसार इस दृष्टि का मुख्य लाभ यह है कि इसमे सरकार के विभिन्न भागों के बीच कोई अन्तर नही किया जाता। इस दृष्टिकोण की यह मान्यता है कि आधुनिक प्रजातन्त्र राज्यो मे सम्प्रभु शक्तिया राज्य के अधिकाश नागरिकों में वितरित रहती है और उनके द्वारा प्रयुक्त की जाती हैं। डा० आशीर्वादम् ने गैटेल के इस मत को असन्तोषजनक बताया है क्योंकि यह सरकार और राज्य के अन्तर्गत अन्तर से सम्बन्धित भ्रम के ऊपर आधारित है। असल में राज्य के विभिन्न कानून-निर्माता-निकाय राज्य की सावयवी एकता की अभिव्यक्ति होते हैं और राज्य की सम्प्रभुता मे सम्भाग नही होते। इन विभिन्न अंगों को कानून बनाने की जो शक्तिया प्राप्त होती है वे इनको हस्तान्तरित की जाती हैं। सम्प्रभुता के आश्रय का निर्धारण करते समय सरकार और राज्य के बीच भेद करना परम आवश्यक है।

आस्टिन का सम्प्रभुता का सिद्धान्त
(Austin's Theory of Sovereignty)

जान आस्टिन ने सम्प्रभुता के सम्बन्ध मे गहराई के साथ विश्लेषण

किया है। आस्टिन के विचारों पर हाब्स, वेन्थम आदि विचारकों का प्रभाव था। उनका प्रभुता का सिद्धान्त प्राकृतिक कानून से सम्बन्धित उनके दृष्टि-कोण पर निर्भर करता है। आस्टिन का मत था कि कानून उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश है। संप्रभुता के विचारकों को व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि किसी समाज का अधिकांश भाग साधारण रूप से एक निश्चित प्रधान व्यक्ति की आज्ञा का पालन करता है और उस निश्चित प्रधान व्यक्ति को साधारण रूप से किसी अन्य प्रधान की आज्ञा नहीं माननी पडती तो उस समाज में वह निश्चित व्यक्ति प्रभुत्व सम्पन्न है और वह समाज उस प्रधान के सहित एक स्वतन्त्र समाज है।

आस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्तों की एक मुख्य बात यह है कि उसने शक्ति या सामर्थ्य का निर्धारणकर्ता तत्व बना दिया है। रूसो ने जहा इच्छा पर जोर दिया है वहां आस्टिन ने सत्ता पर जोर दिया है। इस सम्बन्ध में बोसांके (Bosanquete) का कथन महत्वपूर्ण है कि ऑस्टिन की सम्प्र-भुता शक्ति के विचार पर आधारित है जब कि हमारी दृष्टि से सम्प्रभुता सम्पूर्ण की इच्छा पर आधारित है। टी० एच० ग्रीन (T. H. Green) ने सम्प्रभुता से सम्बन्धित आस्टिन और रूसो के विचारों की भिन्नता को पाटने का प्रयास किया है। उनके अनुसार आस्टिन का यह मत सही था कि सम्प्रभुता एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय मे निहित रहती है जो कि अन्तिम रूप से कानूनों को लागू करने और उनके ऊपर पर्यवेक्षण रखने का अधिकार रखता है। उसके ऊपर किसी प्रकार का कानूनी नियंत्रण नहीं रखा जा सकता, सम्प्रभुता का यही एक निश्चित अर्थ होता है। किन्तु जब रूसो ने सम्प्रभुता को अनिश्चित सामान्य इच्छा मे आश्रित किया तो उन्होंने एक प्रकार से पाठकों को भ्रमित किया था। रूसो का यह मत सही था कि सम्प्रभु की आज्ञा का पालन मूलतः डर के कारण नही किया जाता था; वरन् इस चेतन से किया जाता था कि इस प्रकार की आज्ञाकारिता सामान्य हित के प्रोत्साहन के लिए परम आवश्यक है। व्यक्तिगत हित इसी सामान्य हित का एक भाग है; सम्प्रभु के द्वारा दबाव की असीमित शक्तियों का प्रयोग नही किया जा सकता। उसकी शक्तियां मूल रूप से लोगों की उस धारणा पर निर्भर करती है जिसके द्वारा उनका सामान्य हित निर्धारित किया जाता है। सम्प्रभु की सत्ता के लिए प्रदान की गई स्वीकृति सम्प्रभु के भय के कारण नही होती वल्कि कुछ लक्ष्यों के लिए सामान्य इच्छा पर आधारित होती है। यदि यह इच्छा क्रिया-न्वित न हो सके या सम्प्रभु की आज्ञाओं के साथ सामान्यतः संघर्षपूर्ण बन जाए तो उन आज्ञाओं का पालन नहीं किया जावेगा। जॉन आस्टिन ने सम्प्रभुता से सम्बन्धित कानूनी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया।

ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता की मान्यता के सम्बन्ध में कुछ एक बातें और उल्लेखनीय हैं। प्रथम, उन्होंने यह माना कि प्रत्येक राज्य में एक निर्धारित मानव सर्वोच्च होता है, अधिकांश नागरिक उसकी आज्ञाओं का आदतवश पालन करते हैं। जिस प्रकार पदार्थ के एक पिण्ड में आकर्षण केन्द्र का होना अनिवार्य है, उसी प्रकार प्रत्येक स्वतन्त्र राजनैतिक समाज में प्रभु-शक्ति का होना आवश्यक है। दूसरे सम्प्रभु हमेशा एक निश्चयात्मक मानव-श्रेष्ठ अथवा मानव समूह होता है। किसी भी अनिश्चयात्मक समूह को सम्प्रभु नही कह सकते। तीसरे, यह निश्चयात्मक मानव श्रेष्ठ किसी अन्य उच्च अधिकारी की आज्ञा का पालन नहीं करता। उसकी इच्छा का सभी लोगों द्वारा पालन किया जाता है। सम्प्रभु की आज्ञाएं अनैतिक, अन्यायपूर्ण एवं अविचारपूर्ण होने पर भी वैध होती हैं और उनका विरोध नही किया जा सकता। चौथे, सम्प्रभु की आज्ञा का समाज का बहुमत पूर्ण रूप से अनुशीलन करता है। यह अनुशीलन कभी-कभी नही होता वरन् एक आदत के रूप में होता है। थोड़े समय के लिए यदि किसी के हाथ में आज्ञा प्रदान करने की शक्ति आ जाए तो उसको सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता। आस्टिन ने सम्पूर्ण समाज के आज्ञाकारी होने की बात नही कही, उसका केवल यही कहना था कि समाज की केवल बहुसंख्या उसकी आज्ञा का पालन करती रहे। पांचवें, सम्प्रभु द्वारा जो भी आदेश दिये जाते है वे सब कानून हैं, उसके बिना कोई कानून नहीं रह सकता। सम्प्रभु की आज्ञा न मानने वाले लोगों को दण्ड दिया जायेगा। छठे, प्रभुशक्ति अविभाज्य होती है। उसको विभाजित करने का अर्थ उसको समाप्त करना है। सम्प्रभु शक्ति हमेशा निरपेक्ष होती है और उस पर सीमाएं नही होती। इस प्रकार आस्टिन ने सम्प्रभु शक्ति को निश्चयात्मक, स्वेच्छाचारी, स्थाई, सर्वव्यापी, असीमित और अविभाज्य माना। आस्टिन का सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त वकील के दृष्टिकोण का द्योतक है।

आस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना
(The criticism of Austin's Theory)

आस्टिन का सिद्धान्त अनेक आलोचनाओं का विषय है। सर हेनरी मेन (Sir Henery Man) आदि इनके प्रमुख आलोचकों में है। मि० मेन का कहना है कि सम्प्रभुता कभी भी निश्चयात्मक मानव श्रेष्ठ में नही रहती। इस प्रकार की सम्प्रभुता का एक मात्र उदाहरण केवल विकृत मस्तिष्क वाले निरकुंश को ही माना जा सकता है। आस्टिन के सिद्धान्त की जो आलोचना की जाती है, उसमें इस बात पर जोर दिया जाता है कि आस्टिन की समस्त मान्यताएं निराधार एवं अतिशयोक्ति पूर्ण थी।

(१) सर हेनरी मेन ने बताया है कि इतिहास में शासकों का कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसे ग्रास्टिन का निश्चयात्मक सर्वोच्च कहा जा सके। बड़े से बड़ा तानाशाह भी अनेक नैतिक प्रभावों, जनता की परम्पराओं और परम्परागत कानूनों से सीमित होता था। परम्पराएं एवं रीति रिवाज युगों के विकास का परिणाम होते हैं और उनको किसी भी निश्चयात्मक व्यक्ति या निकाय के द्वारा नहीं बनाया जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि समाज के वास्तविक शासक प्रायः खोजे नहीं जाते अर्थात् जिनके द्वारा प्रशासनिक शक्ति का वास्तविक रूप मे प्रयोग किया जाता है, वे पृष्ठ भूमि में रहते हैं। ग्रास्टिन ने अपनी विचारधारा मे उनको कोई स्थान नहीं दिया है। ग्राज जिस सम्प्रभुता में विश्वास किया जाता है वह ग्रास्टिन के निश्चयात्मक प्रभु की धारणा से मेल नहीं खाती। यह कहा जाता है कि संघात्मक राज्यों में यह पता लगाना भी असम्भव है कि निश्चयात्मक प्रभुसत्ता कहां स्थित है ? यदि संयुक्त राज्य अमेरिका में सविधान में संशोधन करने वाले निकाय को सम्प्रभु मानें तो गलत होगा, क्योंकि वह निश्चयात्मक नहीं होता।

(२) ग्रास्टिन की आलोचना करते हुए एक अन्य बात यह कही जाती है कि उन्होंने अपने सिद्धान्त में पूर्ण रूप से अमूर्त एवं अवैधानिक दृष्टिकोण अपनाया और सम्प्रभुता के दार्शनिक पहलू को ध्यान में नहीं रखा। एक अन्य बात यह भी है कि यदि सम्प्रभु सत्ता की आज्ञाओं का पालन केवल आदत-वश किया जाता है तो इसको असीमित मानना एक प्रकार से अतार्किक होगा।

ग्रास्टिन ने सम्प्रभु को सर्वोच्च कानून निर्माता माना था और उसकी हर आज्ञा को कानून स्वीकार किया था, किन्तु यह मत भी वास्तविकता के अनुरूप नहीं है। लास्की के मतानुसार कानून को केवल सम्प्रभु का आदेश मान लेना न्याय-वेत्ता तक के लिए भी बाल की खाल निकालने के समान है। प्रत्येक समाज में जो रीति रिवाज सम्बन्धी कानून स्थित रहते हैं उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रारम्भ मे कानून किसी सम्प्रभु के निश्चित आदेश नहीं होते थे वरन् उनका आधार प्रायः ये रीति-रिवाज ही हुआ करते थे। आज भी यदि हम ग्रेट ब्रिटेन में कामन लॉ की स्थिति को देखें तो पायेंगे कि यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से ससद में राजा द्वारा उसे परिवर्तित किया जा सकता है तथा इच्छानुसार उसे मोड़ा जा सकता है किन्तु वास्तविक व्यवहार में सम्प्रभु द्वारा अधिकांश कामन लॉ को बिना स्वयं की सुरक्षा को खतरे में डाले बदला नहीं जा सकता।

सर हैनरी मेन के मतानुसार पूर्व के अनेक प्राचीन साम्राज्यों के शासक कानून बनाते ही नहीं थे। इनका मुख्य काम प्रायः कर एकत्रित करना होता था। राज्य मे उस समय जो कानून लागू होते थे वे निश्चय ही सम्प्रभु

की आज्ञा न होकर प्रचलित परम्पराएं होती थी। इस सम्बन्ध में मैकाइवर का यह कथन उल्लेखनीय है कि राज्य को परम्परा बनाने की प्रायः बिल्कुल शक्ति नहीं होती और सम्भवतः उससे भी कम शक्ति उसे नष्ट करने की होती है। वह इन परम्पराओं के स्रोतों को प्रभावित करके उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन कर सकता है। समाज के रीति-रिवाज उसके युगों के अभ्यास की थाती हैं। जब कभी इन पर आक्रमण किया जाता है तो प्रतिक्रिया स्वरूप में भी कानून पर आक्रमण कर देते हैं। इस आलोचना का अर्थ यह नहीं होता कि ऑस्टिन इन रीति रिवाजों के प्रभाव एवं महत्व से अपरिचित थे। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि परम्पराएं अथवा रीति रिवाज उस समय तक केवल नैतिकताएं ही रहती हैं जब तक की उनको न्यायालय द्वारा लागू न किया जा सके। जब न्यायालय उनको जारी करते हैं तो वे प्रभु के आदेश बन जाते हैं। यह मत तो ठीक है किन्तु इससे ऑस्टिन ने सम्प्रभु के असीमित होने का जो निष्कर्ष निकाला वह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। वर्तमान अनुसन्धानों द्वारा यह निश्चय किया जा चुका है कि ऑस्टिन की सम्प्रभु कानूनों का एक मात्र निर्माता नहीं है। डुग्वी ने तो यहां तक कहा है कि राज्य द्वारा कानूनों की रचना नहीं की जाती वरन् कानूनों के द्वारा राज्य की रचना की जाती है। कानून तो सामाजिक आवश्यकता की केवल अभिव्यक्ति मात्र होते हैं। अनेक कानूनों की पृष्ठभूमि इस कथन की सत्यता को प्रमाणित करती है।

ऑस्टिन ने सम्प्रभुता को अविभाज्य माना था। लार्ड (Lord) का कहना है कि यह कथन सही नहीं है। प्रत्येक राजनैतिक समाज में कार्यों का विभाजन किया जाता है और इस प्रकार के विभाजन के बिना कोई भी सरकार प्रभावशील रूप से नहीं चलाई जा सकती। सरकार के तीन प्रमुख अंग—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका होते हैं। इस प्रकार राज्य में केवल एक ही सम्प्रभु को मानने की अपेक्षा तीन सम्प्रभु मानने होंगे। प्रत्येक अंग भी अनेक इकाइयों से मिलकर बना होता है। सरकार के ये तीनों अंग एक-दूसरे से इतने पृथक् और स्वतन्त्र होते हैं कि बिना एक दूसरे के हस्तक्षेप के कोई भी अंग अपने कार्यों का संचालन कर सकता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि सम्प्रभुता अविभाज्य है? यहां ऑस्टिन के समर्थक यह कह सकते हैं कि विभाजन कार्यों का हुआ है न कि इच्छा का। इच्छा तो एक इकाई के रूप में रही क्योंकि राज्य के विभिन्न अंग परस्पर विरोधी रूप में कार्य नहीं कर सकते।

वैधानिक और राजनैतिक सम्प्रभुता के बीच जो भी अन्तर प्रकट किया जाता है वह भी इस बात का प्रतीक है कि सम्प्रभुता का विभाजन किया जा सकता है। स्वयं ऑस्टिन ने ही ग्रेट ब्रिटेन के प्रसंग में कभी संसद को, कभी राजा को, कभी मतदाताओं को, कभी किसी और को सम्प्रभु कहा है।

कुछ लोगों को यह भी डर है कि आस्टिन का सिद्धान्त कानूनी स्वेच्छाचारिता का मार्ग प्रशस्त करता है। आस्टिन ने संभवतः इस आलोचना की कल्पना कर ली थी, किन्तु फिर भी उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया कि सर्वोच्चताओं का पद सोपान नही हो सकता। आस्टिन के सामने एक उद्देश्य था कि १६वीं शताब्दी में इंगलैण्ड भी व्यवस्थापन सम्बन्धी सुधार करें। अनेक रुढ़ीवादी इन सुधारों के विपरीत थे। इसलिए आस्टिन ने यह प्रतिपादित किया कि ये रीति-रिवाज या दैविक कानून राज्य के व्यवस्थापन मे न तो सर्वोच्च हैं और न ही उससे स्वतन्त्र हैं।

लास्की ने आस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना व्यावहारिकता, बाहुल्यवाद और अन्तर्राष्ट्रियतावाद के आधार पर की थी। उनका मत था कि इतिहास का वास्तविक अनुभव इस बात का प्रमाण है कि किसी भी सम्प्रभु ने कही भी असीमित शक्ति का प्रयोग नही किया। जब कभी सम्प्रभु द्वारा शक्तियों का प्रयोग किया जाता है तो वह पहले से ही सुरक्षा की व्यवस्था कर लेता है।

सम्प्रभुता से सम्बन्धित बहुलवादी विचार
(Pluralists Ideas on Sovereignty)

जॉन आस्टिन द्वारा प्रतिपादित संप्रभुता सम्बन्धित सिद्धान्त को एकलवादी (*Monistic*) सिद्धान्त कहा जा सकता है क्योंकि उन्होंने राज्य को असीमित, स्वेच्छाचारी, निरपेक्ष, अविभाज्य और अविच्छेद्य शक्ति से सम्पन्न माना था। उनकी दृष्टि से सम्प्रभु समान राजनैतिक सत्ता का मूल स्रोत होता है। वह एक ऐसी केन्द्रीय धुरी है जहां से राज्य की समस्त शक्तियां प्रसारित होती हैं और अपना आधार प्राप्त करती है। आस्टिन के इस सिद्धान्त को अनेक दृष्टियों से आलोचनाओं का विषय बनाने के बाद विचारकों ने यह महसूस किया कि सम्प्रभुता के सम्बन्ध में कोई अन्य विचारधारा प्रतिपादित की जाए जो कि आस्टिन के इरादों को नाकामयाब कर सके। सम्प्रभुता से सम्बन्धित बहुलवादी विचारधारा इस दृष्टिकोण का परिणाम थी।

बहुलवादी विचारक अपने विश्लेषण का प्रारम्भ इस मान्यता के साथ करते हैं कि प्रभुसत्ता का एकलवादी सिद्धान्त निरर्थक ही नही वरन् हानिकारक है।-इन विचारकों के अनुसार यह कहना गलत है कि प्रत्येक राज्य मे केवल एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता होती है। इसके विपरीत यह मानते है कि राज्य विभिन्न समुदायों का एक समुदाय है। व्यक्ति के जीवन के लिए राज्य ही सब कुछ नही है वरन् अन्य समुदाय भी अपना महत्व रखते हैं। कोई-कोई अराजनैतिक समुदाय तो व्यक्ति के लिए राज्य से भी अधिक महत्वपूर्ण

साबित होता है। बहुलवादियों ने राज्य की सम्प्रभुता पर कुठाराघात किया, उसकी आलोचना की, उसके सम्मान को चुनौती दी और उच्च आसन से उतार कर उसे अन्य समुदायों के बराबर या उनसे नीचे ला कर बैठा दिया। इन विचारकों की स्पष्ट मान्यता है कि तथ्यो के आधार पर यह कहना गलत नही है कि राज्य की प्रभुता का सिद्धान्त नष्ट हो चुका है। इस सिद्धान्त के समर्थकों में प्रो० लास्की, गियर्क, मेटलेन्ड, डॉ० फिग्स, मैकाइवर, लिन्डसे, बारकर, कोल तथा मिस फालेट आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस सिद्धान्त के अनुयायियो ने यह माना कि यदि सम्प्रभुता की सम्पूर्ण धारणा का अन्त कर दिया जाय तो यह राजनीति शास्त्र के लिए परम हितकारी होगा। क्रेब के शब्दो में सम्प्रभुता का सिद्धात राजनीति दर्शन से बिल्कुल निकाल देना चाहिए।

बहुलवादियों का यह स्पष्ट मत था कि राज्य में व्यक्ति की धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक, मनोरंजनात्मक आदि विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अनेक समुदाय होते है। इन समुदायों के द्वारा व्यक्ति की स्वामीभक्ति का न्यायोचित रूप से दावा किया जाता है। विभिन्न संघ जो मानव की विभिन्न आवश्यकताओं के कारण पैदा हुए हैं, राज्य के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होगे। यह कहा जा सकता है कि राज्य एक महत्वपूर्ण समुदाय है जो कि व्यक्ति के लिए अनेक उपयोगी सेवाये प्रदान करता है; किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही है कि वह व्यक्ति का एक मात्र समुदाय है और समस्त कोप तथा स्वामीभक्ति उसी के ऊपर उडेल देनी चाहिए। राज्य अनेक समुदायों मे से एक समुदाय है। राज्य के अतिरिक्त दूसरे समुदायों के भी अपने कार्य संचालन के लिए नियम होते हैं जिनका पालन वे राज्य से स्वतन्त्र हो कर करा सकते हैं।

बहुलवादियो ने व्यावहारिक जगत से अपने पक्ष के समर्थन में तर्क एकत्रित किये। वास्तविकता मे यह देखा जाता है कि प्रत्येक सामाजिक समुदाय स्वयं ही इस बात का निर्णय करता है कि कौन उसका मित्र होगा, उसको क्या कार्य करना होगा और किस प्रकार करना होगा। इन संस्थाओं के द्वारा व्यवहार की योजना बनाई जाती है और व्यक्ति को उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति का पूरा अवसर प्रदान किया जाता है। बहुलवादी विचारक राज्य को रखना चाहते हैं क्योंकि यह एक महत्वपूर्ण सस्था है किन्तु वे उसकी सम्प्रभुता को समाप्त करना चाहते हैं। उन्होंने दमनकारी राज्य की निन्दा की है। वे राज्य को दण्ड देने का अधिकार नही देते। मनुष्य के जीवन की पूर्णता इस बात में निहित है कि उसे विभिन्न समुदायो का पूरा योगदान मिले। बहुलवादी सिद्धान्त यह मानता है कि राज्य की स्थापना का उद्देश्य

व्यक्ति की कुछ आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना मात्र है। वह यदि अन्य समुदायों की स्वतन्त्रता में हाथ डालता है तो अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर निकलता है और अपनी स्थापना के उद्देश्य से विचलित होता है।

गैटेल ने इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए बताया है कि बहुलवादियों ने राज्य को एक विशेष सगठन मानने से इन्कार कर दिया है। उनके मतानुसार अन्य संस्थायें भी समान रूप से महत्वपूर्ण और स्वाभाविक हैं। उनका तर्क है कि अन्य संस्थायें भी अपने उद्देश्यों की दृष्टि से उतनी ही सम्प्रभु हैं जितना कि राज्य। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि राज्य अपने अन्तर्गत कुछ समूहों के विरुद्ध स्वय की इच्छा को व्यवहार में नहीं डाल सकता। राज्य के पास में शक्ति होती है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं। जो समूह समाज में अनेक मूल्यवान कार्य करते हैं तथा अपने सदस्यों की स्वामीभक्ति पर आधारित हैं, वे सभी समूह अधिकारों की दृष्टि से समान हैं। इस प्रकार सम्प्रभुता अनेक संस्थाओं के पास होती है। यह कोई अविभाज्य इकाई नहीं है और न ही राज्य सर्वोच्च और असीमित है। प्रो० लास्की ने लिखा है कि विभिन्न संस्थायें अपने-अपने क्षेत्र में राज्य से कम सम्प्रभु नही होतीं इसलिए राजनीति शास्त्र की यह एक मौलिक मान्यता है कि सत्ता केवल सीमित नही है वरन् उसे सीमित भी होना चाहिए।

बहुलवादी विचारकों में सम्प्रभुता की स्पष्ट व्याख्या प्रो० लास्की द्वारा की गयी, जिनके मतानुसार मानवता के हित की दृष्टि से सम्प्रभुता पर सीमायें लगाना जरूरी है। जब स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्र एक दूसरे के साथ प्रतिद्वन्द्विता करते हैं तो विश्व शान्ति एवं विश्व एकता खतरे में पड़ जाती है। सम्प्रभुता के असीमित स्वभाव की आलोचना करते हुए प्रो० लास्की ने यह बताया कि "किसी भी स्थान पर किसी सम्प्रभु ने ऐसी अपरिमित शक्ति का प्रयोग नहीं किया और जब भी कभी ऐसा करने का प्रयास किया तो सदैव सुरक्षाओं की स्थापना कर ली। यहा तक कि तुर्की का सुलतान भी अपनी शक्ति के यौवनकाल में परम्परागत व्यवहार के अनेक नियमों से सीमित था और इन नियमों का पालन उसे व्यवहार में करना होता था। यद्यपि वैधानिक दृष्टि से वह सामाजिक जीवन के प्रत्येक भाग को संशोधित कर सकता था किन्तु व्यवहार में उसने ऐसा कोई संशोधन न किया जो कि उसे आस्टिन का सम्प्रभु सिद्ध कर सके। यही कारण है कि वह जीवित रहा।" इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें राज्य को अपने अन्तर्गत स्थित विभिन्न समूहों की इच्छा के सामने झुकना पड़ा था। आस्टिन ने सम्प्रभु की जो विशेषतायें बतायी हैं उनको यदि आधार मानकर चला

जाए तो ज्ञात होगा कि अनेक राज्यों में सम्प्रभुता है ही नहीं। सर हैनरी मेन ने यह माना था कि आस्टिन का सिद्धान्त इतना कृत्रिम है कि उसे मूर्खता-पूर्ण भी कह दिया जाए तो कोई बुराई नहीं होगी। लास्की की भी यही मान्यता है।

लास्की ने सम्प्रभुता के विचार को नैतिक दृष्टि से भी अमान्य ठहराया है। उनके मतानुसार आस्टिन का सम्प्रभुता का सिद्धांत सैद्धान्तिक दृष्टि से पर्याप्त गलत है ही। जब उसे व्यवहार में लाया जाता है तो वह दासता की भावना के उदय का कारण बनता है। लास्की का मत था कि यदि किसी व्यक्ति को आज्ञा का औचित्य बताये बिना ही अन्धा होकर उसका पालन करने के लिए कहा जाए तो इससे उसका नैतिक व्यक्तित्व कुण्ठित हो जायेगा। राज्य व्यक्ति की स्वामीभक्ति का केवल उसी समय तक अधिकारी है जब तक कि उसकी अन्तरात्मा ऐसा करने की अनुमति देती है। राज्य की अपील जितनी अधिक नैतिक है उतनी ही अधिक एक व्यक्ति उसे अपनी स्वामी भक्ति प्रदान करेगा।

आदर्शवादियों की यह मान्यता गलत थी कि राज्य का हित सामान्य हित है इसलिए उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन किया जाना चाहिए था। यह सच है कि प्रत्येक राज्य चाहे वह कितना ही शोषण करने वाला क्यों न हो, अपने आपको परम लोकहितकारी सिद्ध करता है। हिटलर और मुसोलिनी भी यही कहते थे कि उनका उद्देश्य सामान्य कल्याण है। इस प्रकार शासकों के कुछ भी कहने या करने से कुछ नहीं होता। मुख्य बात तो यह है कि व्यक्ति को ऐसा अनुभव करना चाहिए। लास्की केवल उसी राज्य को अपनी स्वामी भक्ति प्रदान करने को तैयार है जो उसकी दृष्टि से नैतिक उद्देश्यों की साधना करता है। राज्य के अनियन्त्रित, अदेय और अविभाज्य अधिकार को लास्की एक दिवास्वप्न मानते है। उनका विश्वास था कि व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति दृढ निष्ठा होना है। 'व्यक्ति राज्य का विरोध करते हुए अपनी चर्च ट्रेड यूनियन तथा अन्य ऐसी ही संस्थाओं के साथ रह सकता । यदि वह यह अनुभव करे कि ये संस्थायें राज्य की अपेक्षा अधिक उपयोगी और प्रभावपूर्ण है; 'प्रत्येक विधि की वैज्ञानिकता का आधार व्यक्ति के कार्य हैं और व्यक्ति के कार्य उसकी स्वतन्त्र 'नैतिक इच्छा द्वारा निर्धारित किये जाते हैं।

इस प्रकार लास्की ने नैतिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से राज्य की सम्प्रभुता के विचार को छोड देने के लिए कहा। राज्य की कोई भी बात हमारे लिए अन्तिम आदेश नहीं हो सकती, राज्य केवल दिशा निर्देश कर सकता

है, वह उन लक्ष्यों की ओर इशारा कर सकता है जो कि व्यक्ति, समाज एवं उस की विभिन्न संस्थाओं के वांछनीय लक्ष्य होने चाहिए। कोई भी अनुत्तरदायी और निरंकुश राज्य अधिक समय तक नहीं चल सकता। प्रत्येक राज्य पर आन्तरिक एवं बाह्य रूप से अनेक सीमाएं लगी रहती है।

बहुलवादियों के मत का मूल्यांकन
(Evaluation of Pluralist Theory)

बहुलवादियों ने जो तर्क दिये उनका अपना महत्व है तथा वे सत्यता की दृष्टि से भी अधिक अनुपयोगी नहीं है। बहुलवादी विचारकों ने व्यक्ति के स्वतंत्र निर्णय एवं आत्मानुभव के महत्व पर जो जोर दिया वह निश्चय ही अत्यन्त सराहनीय रहा। सम्प्रभुता की आस्टिनवादी विचारधारा प्रत्येक शासक को निरंकुश और तानाशाह बनने के लिए प्रेरित करती थी। यह सच है कि व्यक्ति का जीवन अनेक संगठनों के सक्रिय योगदान की अपेक्षा रखता है। व्यक्ति केवल नागरिक ही नहीं होता वरन् वह किसी धर्म का अनुयायी है, अपने परिवार का एक सदस्य है, अपने व्यवसाय की एक इकाई है और अपनी विभिन्न स्वेच्छापूर्ण संस्थाओं का सदस्य है। ऐसी स्थिति में केवल राज्य को ही सर्वोच्च शक्तियां सौंप देना न तो आवश्यक था और न उपयुक्त ही।

बहुलवादियों के मत में सत्यता होते हुए भी अतिशयोक्तियां हैं। इनके मत को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने पर अनेक व्यावहारिक उलझनें भी पैदा हो जाती हैं। बहुलवाद ने यह तो अच्छा किया कि राज्य को उस रहस्यपूर्ण उच्च पद से उतार कर एक व्यावहारिक तथ्य बना दिया जहां कि उसे ईश्वर माना जाने लगा था। इसने राज्य को नैतिकता से ऊपर नहीं माना वरन् उसके आधीन स्वीकार किया। बहुलवादियों ने अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करके राजनीति शास्त्र की जो सेवा की उसे स्वयं एक प्रमुख बहुलवादी विचारक मिस फॉलेट द्वारा वर्णित किया गया है। उनके अनुसार बहुलवादी राज्य की उच्चता के आधार को असत्य सिद्ध कर देते हैं। राज्य ने अब तक जिन शक्तियों का प्रयोग किया उनके आधार पर वह व्यक्तियों के दिल में विशेष स्थान नहीं बना सका। दूसरे, बहुलवाद ने सामूहिक रूप की बहुरूपता को महत्व प्रदान किया व समाज की अन्य संस्थाओं को भी व्यक्ति के लिए उपयोगी माना गया। उन्होंने इस विचार का खण्डन किया कि राज्य के द्वारा ही विभिन्न समूहों को शक्ति प्रदान की जाती है। उनका विचार था कि समाज के अन्य समूहों का शक्ति स्रोत भी वही है जो कि स्वयं राज्य की शक्ति का स्रोत है। बहुलवादियों ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया। ये स्थानीय

जीवन को पर्याप्त महत्व देते हैं। उनकी दृष्टि से स्थानीय इकाईयों को जागृत करना, शिक्षित करना, सगठित करना और शक्ति प्रदान करना अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है। बहुलवादियों ने यह माना था कि राज्य का हित सदैव आवश्यक रूप से व्यक्ति के अन्य समूहों के हित से नही मिलता। ऐसे अनेक अवसर आते हैं जबकि राज्य के हित और व्यक्ति के हित के बीच संघर्ष पैदा हो जाता है। बहुलवादियों का यह दावा था कि वे भविष्य के विकास को स्पष्ट रूप से देख पा रहे हैं और आने वाले समय के लिए उपयुक्त व्यवस्थाएं कर रहे है। विभिन्न समुदायों को समरूप मानकर बहुलवादियों ने संघवाद की आत्मा के दर्शन किये।

बहुलवादियो के सिद्धान्तो की उपयोगिता को अस्वीकार नही किया जा सकता। इतने पर भी इनकी मान्यताओं की व्यावहारिक कठिनाइया उनके विचारों के महत्व को कम कर देती है। विभिन्न सामाजिक समुदाय महत्वपूर्ण होते हैं किन्तु ये समुदाय केवल राज्य के अन्तर्गत ही स्थिर रह कर अपने लक्ष्यों की दिशा में अग्रसर हो सकते है। राज्य का अस्तित्व विभिन्न समुदायों के अस्तित्व एव उपयोगिता के लिए वांछनीय है। राज्य के अस्तित्व के लिए सम्प्रभुता आवश्यक है। इस प्रकार विभिन्न समुदायों का महत्व भी सम्प्रभुता के अस्तित्व की आकांक्षा करता है। गिलक्राइस्ट का कहना था कि यदि राज्य को समाप्त कर दिया जाए तथा उसके स्थान पर स्वायत्त समुदाय स्थापित कर दिया जाए तो यह एक अराजकता की स्थिति होगी, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य का निर्णय अपनी आत्मा के अनुसार करेगा। यह अराजकता सम्भवतः विभिन्न समुदायो के सुचारु संचालन को असम्भव बना देगी। अधिकांश विचारक प्रायः इस बात को मानते हैं कि सामाजिक समूहों में व्यवस्था स्थापित करने के लिए राज्य का होना जरूरी है। डा० फिगिस की मान्यता के अनुसार "विभिन्न समूहो को नियमित करने के लिए तथा उन्हे न्याय के बन्धनों का उल्लंघन न करने देने के लिए राज्य की दमनकारी शक्ति परम आवश्यक थी।" वैसे बहुलवादी भी इस बात को स्वीकार करते थे कि राज्य अपनी उच्च स्थिति के कारण अन्य समुदायों से भिन्न है। पाल बकर ने राज्य को सामान्य हितो एवं राष्ट्रीय एकता का एक मात्र प्रतिनिधि माना था।

राज्य के महत्व को स्वयं प्रो० लास्की ने भी अस्वीकार नहीं किया है। वे राज्य को एक ऐसा समुदाय मानते हैं जो कि नागरिकों के रूप में व्यक्ति के हितों की रक्षा करता है। उन्होने यह भी कहा कि सामान्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए यदि जरूरी हो तो राज्य अन्य समुदायों को भी नियंत्रित कर सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य की सम्प्रभुता के विरुद्ध नि-

एवं प्रभावपूर्ण तर्क देने के बाद भी बहुलवादियों ने उसे नष्ट नहीं किया क्योंकि बहुलवादियों के दिल में एक असमंजस था। उन्होंने एक ओर तो सम्प्रभुता पर आघात किया और दूसरी ओर उसे पूर्ण रूप से न छोड़ने की रुचि दिखाई, वे किसी न किसी रूप में सम्प्रभुता को मान्यता देते रहे। बहुलवादियों ने भी यह स्वीकार किया कि समाज मे कहीं न कहीं अन्तिम सत्ता रखनी पड़ेगी। सम्प्रभुता किसी भी रूप मे समाज का एक आवश्यक अंग है। जब सम्प्रभुता के अस्तित्व को एक तथ्य मान लिया जाता है तो यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इसकी अभिव्यक्ति के लिए कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह होता है। बहुलवादी विचारक इस व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह को भले ही सम्प्रभु का नाम न दें, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि वह सम्प्रभु होता है।

प्रो० लास्की ने सम्प्रभुता के सिद्धात की जो आलोचना की उसके विरुद्ध पहली बात यह कही जाती है कि लास्की ने एक ऐसी बात की आलोचना की जिसे सम्प्रभुता सिद्धात के समर्थक कहते ही नहीं हैं। आस्टिन के अनुयायियों ने यह माना था कि राज्य कानूनी रूप से सर्वोपरि है। उनका यह अभिप्राय नहीं था कि उस पर नैतिक या भौतिक सीमाएं नही होती हैं। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक उदाहरणो के आधार पर किसी सिद्धात की सत्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कोई भी वैज्ञानिक निष्कर्ष अपनी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए ऐतिहासिक उदाहरणों का आश्रय नही लेता। सत्य यह है कि इतिहास कभी भी सिद्धान्तों की पूर्णता तक नही पहुंच पाता। वह इस दिशा मे जितना भी अग्रसर हो, उतना ही उपयोगी है। बहुलवादियो की आलोचना में एक अन्य बात यह है कि इन्होंने राज्य और सरकार को एक समझने की भूल की। आस्टीन एवं अन्य विश्लेषणवादी न्यायशास्त्रियों ने सरकार की सम्प्रभुता के सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया था वरन् राज्य की सम्प्रभुता को महत्व दिया था। यह एक अन्य बात है कि सरकार ने इतिहास में कभी भी राज्य की सारी शक्तियों का प्रयोग करने का प्रयास नहीं किया। बहुलवादियों ने राज्य और सरकार के बीच भेद नहीं माना। वे सरकार को राज्य का एक प्रमुख अभिकरण मानते हैं जिसके माध्यम से राज्य वास्तविक रूप में व्यक्ति को प्रभावित करता है। बहुलवादियों का तर्क है कि राज्य की जिन शक्तियों का प्रयोग किया ही नहीं जा सकता, उनका उल्लेख करना ही बेकार है। लास्की एवं अन्य बहुलवादियों के तर्क बहुत कुछ सही हैं किन्तु उनका दोष यही है कि वे या तो अप्रासंगिक हैं अथवा अतिशयोक्ति पूर्ण हैं। सम्प्रभुता के आस्टिन एवं अन्य समर्थकों ने यह कभी नहीं कहा था कि राज्य की आलोचना करना या अवज्ञा करना नैतिक रूप से गलत है। इसके अतिरिक्त उन्होंने हीगलवादियो की तरह राज्य को नैतिक

रूप से सर्वोपरि भी नहीं माना। असल में उन्होंने राज्य की कानूनी आज्ञाओं को नैतिक औचित्य के प्रसग से बिल्कुल अलग रखा था। वे इस बात का समर्थन नहीं करते कि सरकार के कार्यों की अच्छाई-बुराई पर विचार किये बिना ही व्यक्ति उसका समर्थन करे।

बहुलवादियों ने सम्प्रभुता की आलोचना की किन्तु फिर भी वे शक्ति के महत्व को किसी न किसी रूप में मानने से पीछे न हट सके। शब्दों में बहुलवादी सम्प्रभुता के सिद्धांत को नष्ट कर देते हैं किन्तु वास्तविकता में वे उससे अपने आपको अलग नहीं हटा पाते। मि० शेयो (Hsaio) के अनुसार "प्रभुत्व शक्ति को नष्ट करना व्यर्थ है और साथ ही भयकर भी।" बहुलवाद व्यक्तिगत निर्णय की स्वतंत्रता पर जोर देने के कारण उतनी ही आलोचना का विषय बनता है जितनी कि इसके द्वारा उन एकत्ववादियों की, की गयी है जो सम्प्रभुता की व्याख्या को स्वेच्छाचार और निरंकुशता को प्रागण में लाकर खडा कर देते हैं। इस सम्बन्ध में दोनों अतियों से भिन्न एक सतुलित दृष्टि-कोण वांछनीय है।

११

स्वतन्त्रता और समानता

(LIBERTY AND EQUALITY)

"स्वतन्त्रता का अर्थ उस वातावरण की उत्साहपूर्ण रक्षा से है जो मनुष्य को अपने श्रेष्ठतम रूप की अनुभूति का अवसर प्रदान करती है।"

—लास्की

"मनुष्य स्वतन्त्र और समान पैदा हुए हैं तथा वे अपने अधिकारों के विषय में भी समान और स्वतन्त्र हैं।"

—फ्रेंच अधिकार घोषणा पत्र

स्वतन्त्रता और समानता प्रजातन्त्र की दो आधारशिलाएं हैं जिनके अभाव में प्रजातन्त्र का ही नहीं वरन् मानवता का भी कोई मूल्य नहीं रहता। प्रस्तुत अध्याय में हम इन दोनों ही धारणाओं का क्रमशः विवेचन करेंगे।

स्वतन्त्रता
(Liberty)

मानवीय चेतना स्वतन्त्रता चाहती है। सम्भवतः नागरिक समाज का जन्म भी इसी चाह को साकार करने के लिए हुआ था। स्वतन्त्रता का अंग्रेजी पर्याय 'लिबर्टी' (Liberty) लेटिन भाषा के लिबर (Liber) शब्द से निकला है। इसका अर्थ होता है स्वतन्त्र। यदि इसके शाब्दिक अर्थ को लिया जाए तो इसका अर्थ केवल निषेधात्मक होगा अर्थात् प्रतिबन्धों का अभाव। इस प्रकार स्वतन्त्रता 'स्व' के तन्त्र अथवा स्वयं के प्रशासन पर अधिक जोर देती है। स्वतन्त्रता शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में मि० जोवेनील[1] (Jouvenel) का यह कथन उल्लेखनीय है कि स्वतन्त्रता एक जादू भरा शब्द है जिसका प्रयोग पश्चिम में प्रारम्भ हुआ किन्तु पश्चिमी लोगों ने इसे अनेक

1. Bertrand De Jouvenel, Sovereignty, 1957, P. 247.

भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया है। स्वतन्त्रता शब्द के जो विभिन्न अर्थ लिए जाते है वे कई बार परस्पर संघर्षपूर्ण भी बन जाते है।

स्वतन्त्रता का अर्थ
(The Meaning of Liberty)

स्वतन्त्रता शब्द अनेकार्थक है। विचारकों ने परिस्थिति की आवश्यकता एवं समय के प्रभाव से इसे अलग-अलग अर्थो मे प्रयुक्त किया है। रूसो की भांति कुछ विचारक यह मानते हैं कि व्यक्ति जब जन्म लेता है तो वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होता है किन्तु बाद मे उसके ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लग जाते हैं। ये प्रतिबन्ध सामाजिक, आर्थिक,राजनैतिक एव अन्य आवश्यकताओं के द्वारा लगाये जाते है। इन प्रतिबन्धो की जजीर को तोडना या इनके प्रभाव को कम करना स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता के जो विभिन्न अर्थ विचारको द्वारा किये गये उनमे से एक के अनुसार स्वतन्त्रता एक शक्ति है। लंबनीज (Leibniz) के कथनानुसार "वास्तविक स्वतन्त्रता वह कुछ करने की शक्ति में है जो कि एक व्यक्ति करना चाहता है।" वालटेयर (Voltaire) ने इस कथन को सत्य मानते हुए बताया है कि "सच्चे रूप में स्वतन्त्रता कार्य करने की शक्ति रखना है। जब मैं जो करना चाहूं कर सकता हूं तो यह मेरे लिये स्वतन्त्रता होगी।" इन विचारकों की यह परिभाषा देखने मे अत्यन्त स्पष्ट और समझने योग्य है किन्तु वास्तव में इनका अर्थ अस्पष्ट एवं भ्रमपूर्ण है। जब स्वतत्रता को व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतत्रता मान लिया जाता है तो व्यक्ति की क्षमता और व्यक्ति की इच्छा के बीच सम्बन्ध स्थापित करना होता है। इस सम्बन्ध पर अन्य अनेक तत्व भी प्रभाव डाल सकते है। एक व्यक्ति की शक्ति पर जो प्रतिबन्ध लगे हुए हैं वे चाहे व्यक्तिगत हो चाहे सामूहिक या प्राकृतिक; उनके द्वारा स्वय व्यक्ति की योग्यताएं एवं क्षमता घटती है और इसलिए उसकी चाह भी घट जाती है। इस प्रकार इन सबको स्वतत्रता के विरुद्ध माना जायेगा। इस परम्परागत परिभाषा के समर्थक सीमित चाह वाले व्यक्ति को अधिक स्वतंत्र मानते हैं क्योकि वह अपनी शक्ति के अनुसार उसको पूरी कर सकता है। यदि व्यक्ति की इच्छाएं उसकी शक्ति की अपेक्षा अधिक विकसित हो जाए तो वह कम स्वतंत्र माना जावेगा।

१६वीं और २०वी शताब्दी मे स्वतंत्रता की समस्या को भिन्न दृष्टिकोण से देखा गया। अब व्यक्ति ने प्रकृति पर पर्याप्त विजय प्राप्त कर ली थी, जिसके कारण मनुष्य की शक्ति बढी और सामाजिक संगठन सशक्त बना। अब व्यक्ति ने शक्ति की अपेक्षा साधनों पर अधिक जोर दिया। यह कहा गया कि जिस व्यक्ति के पास उसकी इच्छा को पूरा करने के लिए जितने अधिक साधन होंगे, उसे उतना ही अधिक स्वतंत्र माना जायेगा। इसके —

निष्कर्ष निकाला जाता है कि समाज में वितरण की समस्या स्वतंत्रता की समस्या पर पर्याप्त प्रभाव डालती है किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों अलग-अलग समस्याएं हैं। आज का समाज परिवर्तनशील है जिसमे वस्तुओ एव मानवीय परिस्थितियों मे मनुष्य के कार्य द्वारा परिवर्तन किये जाते हैं। जो चीज कल तक असभव थी वह आज सम्भव बन जाती है। ऐसी स्थिति में स्वप्न एवं चाह के बीच बहुत कम अन्तर रह जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नही माना जा सकता कि इस स्थिति ने व्यक्ति की स्वतंत्रता को बढ़ा दिया है।

मि० जोवेनील (Jouvenel) ने उन अनेक कारणों का उल्लेख किया है जिनके फलस्वरूप स्वतन्त्रता कोई सामान्य अर्थ नही रख पाती। आज की परिस्थितियां १७ वीं और १८ वी शताब्दी की तुलना में पर्याप्त बदल गयी है। जिन बातों को पहले स्वतंत्रता की दृष्टि से महत्वपूर्ण समझा जाता था वे आज प्रभावहीन बन गयी हैं। यदि शक्ति को स्वतन्त्रता माना जाए तो कहा जाएगा कि आज का मानव अधिक स्वतन्त्र है, किन्तु आज स्वतन्त्रता के नाम पर कई बार प्रतिबन्ध लगाना जरूरी हो जाता है। राज्य के व्यवस्थापन द्वारा अल्पमत वालो को ऐसे कार्य करने की स्वतंत्रता दी जाती है जिनको बहुमत नहीं कर सकता। कानून की दृष्टि से कई बातों की सभी लोगों को मनाही की जाती है और कई कार्यों को करने की अनुमति दी जाती है। यहा यह समझा जाता है कि कानूनों के सम्मुख सभी को समान माना है। २० वी शताब्दी में प्रजातन्त्रात्मक विचारों के विकास से तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों ने स्वतन्त्रता के क्षेत्र को व्यापक बना दिया है। प्रकाशन एव अध्ययन की स्वतन्त्रता पहले इतनी आवश्यक नही थी जितनी आज है।

स्वतन्त्रता के निषेधात्मक और विधेयात्मक दो मुख्य अर्थ लगाये जाते हैं। इसके निषेधात्मक अर्थ मे स्वतन्त्रता व्यक्ति की वह सब कुछ करने की शक्ति को माना जायेगा, जो कि वह करना चाहेगा अर्थात् उसके कार्यों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहेगा। बन्धनों के अभाव को स्वतन्त्रता मानना उसका वास्तविक अर्थ नही है क्योंकि ऐसी स्वतंत्रता का उपभोग केवल कुछ ही लोग कर सकते हैं। वास्तविकता यह है कि स्वतन्त्रता का एक विधेयात्मक रूप भी होता है। इसके अनुसार स्वतन्त्रता उस वातावरण को कहा जाता है जिसमें व्यक्ति आत्मोन्नति के अवसर प्राप्त कर सके। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध भी लगाए जा सकते है क्योंकि यदि ये प्रतिबन्ध न हुए तो कमजोर और शक्तिहीन व्यक्तियों का जीना मुश्किल हो जायेगा।

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे जे० एस० मिल ने अपने विचार प्रकट किए

हैं। वे भी यह मानते है कि स्वतन्त्रता का अर्थ समय-समय पर बदलता रहा है। पुराने समय मे इसका अर्थ शासकों की तानाशाही के विरुद्ध सुरक्षा था। उस समय यद्यपि राज्य को आवश्यक समझा गया था किन्तु फिर भी यह माना जाता था कि शासकों के हित जनता के हितों मे भिन्न होते हैं और इस लिए राज-शक्ति पर जो सीमायें लगाई गयी उनको जनता की स्वतन्त्रता का प्रतीक माना गया। इस दृष्टि से व्यक्ति को कुछ राजनैतिक स्वतन्त्रतायें और उन्मुक्तियां प्रदान की गयी तथा राज-शक्ति पर कुछ सवैधानिक प्रतिबंध लगाए गए। समय के साथ-साथ प्रजातन्त्र का विकास हुआ—अब स्वतन्त्रता का अर्थ सरकार की लोकप्रियता बन गयी, किन्तु शीघ्र ही यह ज्ञान हो गया कि स्वतन्त्रता का विचार एक मृग-मरीचिका मात्र था। यह बहुमत की तानाशाही मात्र था। बहुमत की तानाशाही व्यक्तिगत शासक की तानाशाही से भी अधिक गम्भीर बन गयी। ऐसी स्थिति मे स्वतन्त्रता के नए रूप को खोजने की आवश्यकता प्रतीत हुई। मिल ने स्वतन्त्रता (On Liberty) पर अपने निबन्ध मे स्वतत्रता की इस धारणा को ही अपने अध्ययन का विषय बनाया है। मिल ने स्वतन्त्रता का जो व्यक्तिगत अर्थ निकाला है, उसे परिभाषित करते हुए लास्की ने माना है कि "स्वतन्त्रता जीवन के उन क्षेत्रों मे स्वाधीनता का प्रयोग करने के अवसर है जिनमे मेरे प्रयासों का परिणाम मुख्य रूप से मुझ ही को प्रभावित करेगा।"[1]

स्वतंत्रता के प्रकार
(Kinds of Liberty)

स्वतन्त्रता क्षेत्र एवं विषय-वस्तु की दृष्टि से अनेक प्रकार की होती है। अनेकार्थक होने के कारण ही इसके विभिन्न रूपों का वर्णन किया जाता है। मॉटेस्क्यू का कहना था कि स्वतन्त्रता की भांति कोई दूसरा शब्द ऐसा नहीं है जिसके इतने विभिन्न अर्थ लिए जा सकें तथा जिसने मनुष्य के मस्तिष्क पर इतना प्रभाव डाला हो। स्वतन्त्रता के अर्थ को भली प्रकार समझने के लिए उसके विभिन्न रूपों का ज्ञान प्राप्त करना उपयोगी रहेगा।

(१) प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty)—स्वतन्त्रता की यह धारणा जंगल की स्वतन्त्रता के समकक्ष है। जो लोग इसका समर्थन करते हैं उनके मतानुसार व्यक्ति प्रकृति के अनुसार स्वतन्त्र है और उस पर जो प्रतिबन्ध लगे हुए है, उनका उत्तरदायित्व सभ्यता पर है। रूसो का कुछ ऐसा ही विचार था। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का समर्थन करने वाले प्रायः सभी विचारकों ने यह माना कि राज्य की स्थापना से पूर्व स्थित प्राकृतिक

1. Harold J. Laski, op. cit., P. 146.

अवस्था में व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता का उपयोग करता था, उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। नागरिक समाज की स्थापना के बाद उस पर कानून और नैतिकता के नियमों का प्रतिबन्ध लग गया। सामाजिक समझौते के कारण व्यक्ति को अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता छोड़नी पड़ी और अब उसके पास सब कुछ करने का असीमित अधिकार न रहा। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा को व्यावहारिक दृष्टि से आलोचना का विषय बनाया जाता है। यह कहा जाता है कि पूर्ण स्वतन्त्रता का अर्थ पूर्ण-अराजकता है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा पूर्णं असत्यता तो नहीं है। हरबर्ट स्पेन्सर ने इस रूप की व्याख्या करते हुए इसे ऐसी अवस्था माना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता रहती है बशर्ते कि वह दूसरों की उतनी ही स्वतन्त्रता का उल्लंघन न करे।

(२) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Personal Liberty)—प्रत्येक सामान्य व्यक्ति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की इच्छा रखता है। वह अपने जीवन को अपने तरीके से नियोजित करना चाहता है। अपनी स्वतन्त्रता पर तथा कार्य करने एवं सोचने की प्रक्रिया पर वह किसी के अनुचित हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करता। जब कभी व्यक्ति के विशेष रहन-सहन, रुचियों एवं मूल्यों में हस्तक्षेप किया जाता है तो वह उनका विरोध करता है। भारत में गौ-हत्या-विरोध के सम्बन्ध में जो आन्दोलन चला, उसके पीछे अधिकतर ये व्यक्तिगत प्राथमिकतायें एवं मूल्य ही कार्य कर रहे थे। जे० एस० मिल ने इस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। उनका कहना है कि व्यक्ति को अपने जीवन के साथ प्रयोग करने के लिए उस सीमा तक स्वतन्त्र होना चाहिए जहा तक कि उसके कार्य प्रत्यक्ष एवं निश्चित रूप से दूसरों पर असर न डालें। परिणाम के अनुसार मिल व्यक्ति को खूब शराब पीने, अपव्यय करने तथा अपराधी बनने जैसे प्रयोग करने की अनुमति भी देते हैं। डॉ० आशीर्वादम ने इसे अतिशयवादी दृष्टिकोण माना है।

राज्य अनेक प्रकार से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित कर सकता है। उदाहरण के लिए धार्मिक स्वतन्त्रता को लिया जा सकता है। जब एक धर्म विशेष के प्रति राज्य का दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण हो जाता है तो अन्य धर्मों को प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हो पाता। इस प्रकार यद्यपि राज्य विरोधी धर्म के मानने पर व्यक्ति को दण्ड नहीं दिया गया तो भी उसे पुरस्कार से वंचित रख कर उसकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप किया गया।

राज्य के वर्तमान जटिल रूप में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अतिक्रमण अप्रत्यक्ष रूप से ही हो जाता है। एक गरीब व्यक्ति जब धनाभाव में न्याया-

लय की शरण नहीं ले पाता तो उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का खण्डन होता है।

अनेक विचारकों ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। इसके अभाव मे व्यक्ति दास बन जाता है जो कि उसके व्यक्तित्व का अपमान है।

(३) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (Natural Liberty)—राष्ट्रवादी भावना का इतिहास अधिक पुराना नहीं है किन्तु अपने समूह की रक्षा के लिए जीवन तक न्योछावर कर देने का विचार पर्याप्त पुराना है। आज देश भक्ति की भावना व्यक्ति के दिल में इतनी गहरी जमी रहती है कि उसको अन्य किसी भी साधन से हल्का नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के रूप में स्वतन्त्रता ने विश्व के इतिहास को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है। स्वतन्त्रता के लिए किए गये युद्ध विश्व के लिए अपरिचित नहीं है। यद्यपि आजकल राष्ट्रीय शक्ति के साधन के रूप में युद्ध का महत्व घटता जा रहा है किन्तु फिर भी आशा नहीं की जाती कि यह समाप्त हो जायगा। डॉ० आशीर्वादम का कहना है कि जब तक हम सम्प्रभु राष्ट्रीय राज्यो से प्रशासित होते हैं, उस समय तक अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एक पवित्र आशा के अलावा और कुछ भी नही रहेगा। दूसरे राज्यों के नियन्त्रण का अभाव स्वतन्त्रता की मान्यता का एक भाग है।

(४) संवैधानिक स्वतन्त्रता (Constitutional Liberty)—प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे नागरिको की स्वतन्त्रता का लिखित आधार होता है। यह हमको सविधान के द्वारा प्रदान की जाती है। लास्की के कथनानुसार अधिकार पत्र के द्वारा नागरिकों की स्वतन्त्रता की सुरक्षाएं प्रदान की जाती हैं। सविधान द्वारा दी गई स्वतन्त्रता को छीना जाना कठिन होता है।

(५) नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)—नागरिक स्वतन्त्रता का अर्थ सामाजिक स्वतन्त्रता से है। इसमे स्वतंत्र रूप से कार्य करने और हस्तक्षेप से उन्मुक्तियां प्राप्त करने की स्वतंत्रता सम्मिलित है। इनमें राज्य द्वारा बनाये गये और लागू किए गए विशेष अधिकार एवं अन्य अधिकार सम्मिलित हैं; उदाहरण के लिए व्यक्ति की स्वतत्रता, कानून के समक्ष समानता, व्यक्तिगत संपत्ति की सुरक्षा, मत एव अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं अन्तःकरण की स्वतंत्रता आदि। इन विभिन्न स्वतन्त्रताओं के द्वारा व्यक्ति को नैतिक या भौतिक दबाव के विरुद्ध सुरक्षाएं प्रदान की जाती हैं।

(६) राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty)—राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ उस स्वतन्त्रता से है जो कि व्यक्ति को राज्य के कार्य मे

भाग लेने के योग्य बनाती है। लास्की के कथनानुसार राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ, राज्य के कार्यों में सक्रिय होने से है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक व्यक्ति को सार्वजनिक कार्यों के बारे में पूरी तरह से स्वतंत्र मस्तिष्क के प्रयोग करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। पहले जिन राजनीतिक अधिकारों का वर्णन किया जा चुका है उनके प्रयोग में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना राजनैतिक स्वतंत्रता है। राजनैतिक स्वतंत्रता को वास्तविक होने के लिए दो परिस्थितिया आवश्यक हैं। पहली बात यह है कि व्यक्ति को इस प्रकार शिक्षित किया जाए, कि वह जो कुछ भी चाहता है उसे इस रूप में अभिव्यक्त कर सके ताकि अन्य लोग समझ जाएं। दूसरी बात यह है कि समाचार प्रसारण के साधन ईमानदार और सीधे होने चाहिए। निर्णय लेने वाले लोगों को सत्य विषय-सामग्री प्राप्त होनी चाहिए, किन्तु ऐसा होना कोई सरल कार्य नहीं है। सम्बन्धित तथ्यों को कुशलता के साथ दबा कर किसी भी चीज को पूर्ण रूप से अच्छी या बुरी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। वर्तमान सभ्यता ने ऐसे अभिकरणों की रचना को प्रेरणा दी है जो कि असत्य समाचारों पर आश्रित हैं। लास्की का कहना है कि १९वीं शताब्दी में कला की शिक्षा के द्वारा जो कुछ भी प्राप्त किया गया था उसमें बहुत कुछ बीसवी शताब्दी ने समाप्त कर दिया। व्यक्ति के पास आज इतना समय नहीं है कि वह मूल तथ्यों की सत्यता की जांच करने लगे। ऐसी स्थिति में उसे इन तथ्यों को विश्वस्त मानना होता है किन्तु यदि जान बूझकर इन तथ्यों को गलत प्रस्तुत किया गया तो उन पर आधारित निष्कर्ष कभी सत्य नहीं होते। जिस जनता को विश्वसनीय समाचार प्राप्त नहीं होते, वह शीघ्र ही अपने स्वतंत्रता के अधिकार को खो देती है।

(७) आर्थिक स्वतन्त्रता (**Economic Liberty**)—आर्थिक स्वतंत्रता का अपना महत्व है। कहा जाता है कि जब तक व्यक्ति अपने जीवन को प्रशासित करने वाली आर्थिक परिस्थितियों पर नियन्त्रण नहीं करता उस समय तक चाहे उसे अन्य कितनी ही सुविधाएं क्यों न दी जाएं उसकी स्थिति एक दास से अच्छी नहीं होती। लास्की के कथनानुसार—"आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ रोजाना की रोटी कमाने में सुरक्षा और अवसर की प्राप्ति है।" आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र उस व्यक्ति को माना जाएगा जो कि बेरोजगारी और अभाव से लगातार भयभीत नहीं रहेगा कल की आवश्यकताओं का फिक्र जिसे भयभीत रखता है उसे आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र नहीं कहते। व्यक्ति का आधार इतना दृढ़ हो कि वह अपने श्रम को कहीं भी बेचने के लिए तैयार न हो जाए।

मि० टानी (Towney) के कथनानुसार आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ उन आर्थिक असमानताओं का अभाव है जो कि आर्थिक शोषण का कारण बनती हैं। लास्की के मतानुसार आर्थिक स्वतन्त्रता में औद्योगिक प्रजातन्त्र सन्निहित है।

(८) नैतिक स्वतन्त्रता (Moral Liberty)—स्वतन्त्रता का यह अन्य रूप है, यदि व्यक्ति को यह प्राप्त न हो तो अन्य प्रकार की स्वतन्त्रताएं महत्वपूर्ण नहीं रह जाती। जो व्यक्ति अपनी आत्मा के विरुद्ध सोचता और कार्य करता है वह नैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र नही है। काण्ट ने यह माना था कि बुद्धिपूर्ण इच्छा स्वायत्त होनी चाहिए। वैसे व्यक्ति अपनी प्रकृति के अधिकतर मूल भाव में स्वतन्त्र नही रहता। मैक्यावली ने नैतिकता को व्यक्ति के कार्यों में कोई महत्व नहीं दिया था। टी० एच० ग्रीन और बोसांके आदि आदर्शवादियों ने इसकी ओर पर्याप्त ध्यान दिया। वे सभी यह मानते थे कि इसके बिना सामूहिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता कुछ भी नही है।

स्वतन्त्रता की सुरक्षाएं
(The Safeguards of Liberty)

व्यक्ति की स्वतन्त्रता केवल उसी समय प्रगतिशील हो सकती है जबकि उसको हर किसी के द्वारा छीनने से बचाया जाय। कहने का अर्थ यह है कि जब तक विशेष प्रबन्ध न किया जायेगा उस समय तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई भी छीनने का प्रयास करता रहेगा। कुछ परिस्थितियां ऐसी हैं जिनमे कि स्वतन्त्रता कायम नही रह सकती। इन परिस्थितियों को मिटाना वाछनीय है। प्रोफेसर लास्की ने विस्तार के साथ इनका वर्णन किया है। उनका कहना है कि विशेष अधिकारों का अस्तित्व होने पर स्वतन्त्रता कायम नही हो सकती। जब तक व्यक्ति को शक्ति प्राप्त करने की उतनी ही सुविधा नहीं है जितनी कि दूसरो को भी है, उस समय तक वह निराशा के वातावरण मे रहेगा। यह जरूरी है कि कोई व्यक्ति उसे प्राप्त सुविधाओं का पूरा लाभ उठाए; किन्तु उन सुविधाओं का हल होना जरूरी है। लास्की के शब्दों में विशेष अधिकार स्वतन्त्रता के साथ असगति रखते है, क्योंकि स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति को एक मानव होने के नाते मिली है। किसी भी व्यक्ति को स्वतन्त्रता से उस समय तक वंचित नही किया जाता, जब तक कि ऐसा करना उसके स्वयं के हित मे न हो।

स्वतंत्रता वहां भी नहीं रह सकती जहां कुछ व्यक्तियों के अधिकार दूसरों की प्रसन्नता पर निर्भर करते है। असल मे होना यह चाहिए कि शक्ति का प्रयोग करने वाले और उस शक्ति से प्रभावित होने वाले सभी

लोग एक जैसे नियमों को मानने के लिए बाध्य हों। किसी व्यक्ति को नागरिक के रूप में जो अधिकार मिले हुए हैं उनको लोगों के किसी भी समूह द्वारा छीना न जाए—यह बात कहना जितना सरल है व्यवहार में उतना ही कठिन है। कोई भी मालिक उसके मजदूरों की जीविका छीन सकता है तथा उसके वेतन को कम कर सकता है। एक समाज में जिस प्रकार से संपत्ति का वितरण किया जाता है, उससे संपूर्ण नागरिकता प्रभावित हो सकती है। मानवीय स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए राज्य के द्वारा नियन्त्रण की स्थापना की जाती है। राज्य का यह नियन्त्रण एक प्रकार से सरकार का नियंत्रण है और यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सत्ता के हाथों में सौंप देता है। सरकार के नियन्त्रण का अर्थ यह नहीं होता कि वह प्रत्येक स्तर पर व्यक्ति के जीवन को प्रतिबन्धित करे। इस नियन्त्रण का अर्थ व्यक्ति के जीवन से विभिन्न अनिश्चितताओं को दूर करना है।

स्वतन्त्रता की तीसरी गारन्टी यह है कि राज्य का हस्तक्षेप पक्षपात विहीन होना चाहिए। वैसे इस स्थिति को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। समाज में विभिन्न वर्ग होते हैं जो कि अलग-अलग हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन वर्गों के द्वारा सत्ता को अपने विशेष हितों के समर्थन के लिए प्रभावित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में केवल यही किया जा सकता है कि ऐसी व्यवस्था की स्थापना की जाए जो कि पक्षपात पूर्ण रवैये को कम कर सके। इसके लिए निरंतर जागरूकता रखना जरूरी है। व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा उसके स्वयं के प्रयास ही अच्छी तरह कर सकते हैं। यह तथ्य प्राचीन यूनान में ही समझा जा चुका था जबकि मि० पैरिक्लीज ने यह कहा था कि 'स्वतन्त्रता का रहस्य साहस है।' इस साहस को अभिव्यक्त करने के लिए एक निश्चित तरीके से कार्य करना होगा।

समानता
(Equality)

स्वतन्त्रता की भांति ही समानता शब्द का अर्थ भी काफी भ्रम-मूलक है-विशेषकर इसलिये कि यह आधुनिक-युगीन—समाजवादी—नारों-के-साथ जुड़ा हुआ है। फ्रेंच क्रांतिकारियों ने ऐसी स्वतन्त्रता और समानता दोनों को मांगा था जिनमें आपस में पर्याप्त सामन्जस्य हो। समानता का अर्थ लोग प्रायः यह लगाते हैं कि सभी व्यक्ति समान पैदा होते हैं, अतः समान ही रहने चाहियें। फ्रांस के १७८९ के घोषणा-पत्र में इसकी गूंज मिलती है जहां यह उल्लेखित है कि "मनुष्य स्वतन्त्र और समान जन्में हैं तथा वे अपने अधिकारों के विषय में भी स्वतन्त्र और समान रहते हैं।" १८ वी सदी की

इसी मान्यता पर आधारित अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा में लिखा है–"सब मनुष्य स्वतन्त्र और समान पैदा होते हैं।" समानता की इस प्रकार की धारणा आज के युग में पूर्णतः अव्यावहारिक है। प्रत्येक व्यक्ति न समान पैदा होता है और न समान है लेकिन इस प्रकार यह कहना कि "सभी मनुष्य समान है," ठीक उतना ही गलत है, जितना कि यह कहना कि "पृथ्वी समतल है।"

यथार्थतः समानता का अर्थ कोई गणित की समानता से नहीं है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की लम्बाई-चौड़ाई, वस्त्र व वेतन समान हो। सभी व्यक्ति मनुष्य के रूप में पैदा होते हुए भी अपनी योग्यताओ, क्षमताओं, धारणाओ और मान्यताओ मे भिन्नता रखते है। अत. यह एक असम्भव कल्पना करना है कि सब व्यक्ति कभी बिल्कुल एक से हो जायेंगे। व्यक्तिगत असमानता की तरह सामाजिक असमानतायें भी प्राकृतिक हैं। इस भू-मण्डल पर शायद ही कभी ऐसी स्थिति पैदा हो सके कि ऊंच-नीच, धनी-निर्धन, सबल-दुर्बल, योग्य-अयोग्य, शिक्षित-अशिक्षित के सभी भेद सदैव के लिये समाप्त हो जाए।

समानता का यदि कोई व्यावहारिक रूप सम्भव है तो वह आनुपातिक समानता (Proportionate Equality) है, अर्थात् केवल यही कि समाज मे समान व्यक्तियों की समानता और असमान व्यक्तियों की असमानता (Equality of Equals & Inequality of Unequals) के रूप में उसकी प्रतिष्ठा हो सके। समानता के सिद्धान्त की अधिकाधिक व्याख्या करते हुए प्रो० लास्की ने लिखा है—"नागरिक होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति जिन अधिकारो के योग्य है, वे ही अधिकार मुझे भी उसी सीमा तक और उसी दृढ़ता के साथ प्राप्त होने चाहियें।" समानता के इस आनुपातिक सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लास्की ने इसके कुछ तत्वों की इस प्रकार व्याख्या की है—

(i) समानता का अर्थ है कि समाज में सब प्रकार की विशिष्ट सुविधाओं का लोप कर दिया जाए।

(ii) राज्य के सभी दरवाजे व्यक्तियों के लिए समान रूप से खुले हुए हों और उन पर कोई आंशिक बन्धन न हों। आधुनिक समाज मे पैत्रिक अथवा वंश-परम्परागत परिस्थितियों के कारण जो अवसर व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं, वे समानता के सिद्धान्त का हनन करते हैं।

(iii) सभी नागरिकों को अपने व्यक्तित्व के पर्याप्त अवसर सुलभ हों। राज्य की ओर से नागरिकों के लिए किसी प्रकार के भेदभाव न हों।

व्यक्तित्व के समान गरिमा के मूल में इस तथ्य की स्वीकृति है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक व्यक्तित्व है जो अपने आप में पवित्र है और सभी व्यक्ति अपने-अपने व्यक्तित्व की इस पवित्रता को समान रूप से सुरक्षित रख सकते हैं।

(iv) समाज में सामाजिक और आर्थिक शोषण का अभाव हो। असमानतायें रहते हुए भी आनुपातिक समानता का अभिप्राय समाज में केवल उतनी ही असमानता रखने से है जो दूसरों के मार्ग में बाधा सिद्ध न हो और जिसके कारण किसी व्यक्ति की मजबूरी अथवा विवशता का दूसरे के हित में शोषण न हो सके।

स्पष्ट है कि समानता कोई गणित का फार्मूला नहीं है। इसके विपरीत समानता एक ऐसी स्थिति का नाम है जिसमें विशेष सुविधाओं को स्थान नहीं है, शोषण का अस्तित्व नहीं है, प्रत्येक को व्यक्तित्व के विकास के उचित और समान अवसर सुलभ हैं तथा प्रत्येक नागरिक के व्यक्तित्व की गरिमा सुरक्षित है।

समानता का वर्गीकरण

लॉर्ड ब्राइस ने समानता का वर्गीकरण चार प्रकार में किया है—

(i) नागरिक समानता (Civil Equality)
(ii) राजनीतिक समानता (Political Equality)
(iii) सामाजिक समानता (Social Equality)
(iv) प्राकृतिक समानता (Natural Equality)

लास्की इन सबसे अधिक आर्थिक समानता (Economic Equality) को महत्व देते हैं। उनकी मान्यता है कि आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता खोखली है और केवल एक झूठा नारा है।

(i) नागरिक समानता—इस समानता से आशय यह है कि सभी नागरिकों को अपने नागरिक उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। राज्य के कानूनों द्वारा किसी व्यक्ति अथवा वर्ग को किसी भी आधार पर विशेष अधिकार नहीं दिये जाने चाहियें। राज्य का संरक्षण सभी नागरिकों को प्राप्त होना चाहिए, चाहे वह गरीब हो या धनी, ऊंचा हो या नीचा, किसी एक धर्म को मानने वाला हो या दूसरे धर्म को। सारांश में, कानून की आंखों में सभी को समान समझा जाना चाहिए। ब्राइस का यह निष्कर्ष उत्साहवर्धक है कि कुछ सदियों पूर्व नागरिक समानता बहुत ही कम राज्यों की सरकारों द्वारा स्वीकार की जाती थी, किन्तु अब एक अधिकार के रूप में यह सभी सभ्य राज्यों का नियम बन गई है।

(ii) राजनीतिक समानता—इस समानता का अर्थ सभी नागरिकों को सरकार के कार्यों मे भाग लेने का और सरकार के सब पदो पर पहुचने का समान अधिकार होना चाहिए, लेकिन साथ ही साथ यह भी अवश्य है कि नागरिक आवश्यक योग्यतायें पूरी करें। इसी भाव को व्यक्त करते हुए बैंथम ने कहा था कि—"प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक माना जाए और कोई भी एक से अधिक न माना जाए।" राज्य, आयु, शिक्षा, योग्यता आदि आधारों पर नागरिक को इस अधिकार से वचित कर सकता है लेकिन ऐसा करते समय किन्हीं भी दो नागरिकों के बीच कोई असमानता नहीं बरती जानी चाहिए। उल्लेखनीय है कि राजनीतिक समानता का आधार बहुत कुछ सीमा तक आर्थिक समानता है जिसके बिना राजनीतिक समानता वास्तविक नही बन सकती। आर्थिक समानता वह जड है जिसके बल पर राजनीतिक समानता का पौधा खड़ा होता है; वह एक नींव है जिसके आधार पर राजनीतिक समानता की इमारत खडी की जा सकती है।

(iii) सामाजिक समानता—इसके अनुसार नागरिक समाज की वे इकाइयां हैं जिसका स्तर समान है। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग आदि के आधार पर किसी व्यक्ति को ऊंचा बताना और किसी को नीचा मानना सामाजिक समानता के सिद्धांत का निषेध है। विश्व के विभिन्न समाजों में आज इस प्रकार की सामाजिक समानता का अभाव है। सामाजिक समानता की व्यापकता मानव हृदय की मानवता का मापदण्ड है। राज्य केवल कानून द्वारा सामाजिक समानता लागू नही कर सकता। नागरिकों के हृदय-परिवर्तन के बाद ही यह समानता पूर्णतः स्थापित हो सकती है। फिर भी सामाजिक समानता की स्थापना के लिए राज्य को आवश्यक नियमन करते रहना चाहिए। उदाहरणार्थ, भारतीय सविधान के अतिरिक्त भारतीय समाज मे व्याप्त अस्पर्शयता को कानूनी अपराध घोषित कर देना सामाजिक समानता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है जिसके वांछित परिणाम शनैःशनैः प्रकट भी हुए हैं।

(iv) प्राकृतिक समानता—प्राकृतिक समानता के लेखक इस बात पर बल देते हैं कि प्रकृति ने मनुष्य को समान बनाया है। सामाजिक समझौता सिद्धांत के लेखकों ने प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की प्राकृतिक समानता का उल्लेख किया है। आधुनिक युग मे प्राकृतिक समानता की यह धारणा अमान्य सिद्ध हो चुकी है; इसे कोरी कल्पना बताया गया है। विख्यात लेखक कोल के शब्दो मे "मनुष्य शारीरिक बल, पराक्रम, मानसिक योग्यता, सृजनात्मक प्रवृत्ति, समाज-सेवा की भावना और सभवतः सबसे अधिक कल्पना शक्ति में एक दूसरे से मूलतः भिन्न है।"

(४) आर्थिक समानता—आर्थिक समानता राजनीतिक और सामाजिक समानता का आधार है। आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक शक्ति समाज के एक वर्ग के हाथों में केन्द्रित हो जाती है जो आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली बन जाती है। समस्त समाजवादी विचारधारायें अपने विचार का केन्द्रबिन्दु आर्थिक समानता को ही मानकर चलती हैं और मार्क्स के इस कथन में विश्वास रखती है कि जो वर्ग अर्थतंत्र पर अधिकार जमा लेता है वह अन्ततः राजनीतिक शक्ति को अपने नियन्त्रण में कर लेता है जिसका परिणाम शोषण और गृह-युद्ध होता है। सोवियत अधिकार व्यवस्था की यह विशेषता है कि उसमें सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों को अधिक महत्व प्रदान किया गया है, अन्य नागरिक अधिकारों को गौण। सोवियत मान्यता है कि आर्थिक स्वतंत्रता के बिना नागरिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है। भूकों और बेकारों के लिए जो शोषण के शिकार हैं, व्यक्तिगत स्वतंत्रता कोई मायने नहीं रखती।

आर्थिक समानता से यह अर्थ लेना गलत होगा कि सभी नागरिकों की आय एक समान हो या सभी को एक से आर्थिक साधन प्राप्त हों। समाज के समस्त नागरिकों के बीच राष्ट्रीय पूंजी का एकसा बटवारा असम्भव है। राज्य की शक्ति के आधार पर अथवा अन्य किसी साधन से यदि ऐसी समानता स्थापित कर भी दी जाए तो वह अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह सकती। आर्थिक समानता का सीधा और तथ्यपूर्ण अर्थ यही है कि प्रत्येक नागरिक को बिना शोषण के अपने जीवन निर्वाह का अधिकार होना चाहिए अथवा किसी एक व्यक्ति के पास इतनी सम्पत्ति नहीं हो कि वह दूसरों का शोषण करने की स्थिति में हो जाए। सम्पत्ति का उचित वितरण इस रूप में किया जाए कि धन की कमी के कारण किसी भी व्यक्ति के विकास में बाधा उपस्थित न हो और व्यक्ति को अपने परिश्रम का समुचित पुरस्कार मिले।

आर्थिक समानता का अस्तित्व राज्य की किसी भी प्रणाली के लिए एक स्वस्थ लक्षण है, लेकिन प्रजातन्त्र तो तभी पुष्पित और पल्लवित हो सकता है जब आर्थिक समानता की पौष्टिक खाद उसे दी जाती रहे। विषमताओं से पूर्ण समाज में राज्य धनवानों के हाथ की कठपुतली बन जाता है। वह विशेषकर उन्हीं के हितों का संरक्षण करने लगता है जिसका परिणाम यह होता है कि प्रजातन्त्र के आधार स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की धज्जियां बिखर जाती हैं। इसीलिए समाजवादी विचारधाराओं का तो यह आग्रह है कि सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक नागरिक के लिए काम की व्यवस्था करे और देश में बेकारी को दूर करे। इसके लिए राज्य को समाज में पूंजी और उत्पादन के साधनों को कुछ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होने

से रोकना चाहिए। आज के समाजवादी देश अपनी राजनीतिक व्यवस्था द्वारा आर्थिक समानता स्थापित करने का दावा करते हैं, तथापि लॉर्ड ब्राइस के इस कथन में सत्य का पर्याप्त अंश है कि 'पूर्ण आर्थिक समानता सर्वथा असम्भव है।'

स्वतन्त्रता और समानता का वर्णन कर चुकने के उपरान्त इन दोनो धारणाओं को अधिक स्पष्ट करने के लिए यह उपयुक्त होगा कि हम कानून, सत्ता, अधिकार आदि से इनके सम्बन्ध पर दृष्टिपात करलें और साथ ही दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को भी देख लें।

स्वतंत्रता और कानून
(Liberty and Law)

'कानून' स्वतन्त्रता को आधार प्रदान करता है—इसके अभाव में कोई स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। इस सम्बन्ध में रिस्से का कहना है कि आत्मविकास के लिए विधेयात्मक अवसर के रूप में स्वतन्त्रता कानून की रचना है और ऐसी कोई चीज नहीं है जो कि राज्य के कार्य से परे कायम रह सके। सामान्य कल्याण के लिए कुछ प्रतिवन्धों का होना परमावश्यक है किन्तु ये निष्पक्षता-पूर्वक प्रयुक्त किये जाने चाहिए और समाज को उनकी बुद्धि पूर्णता पर विश्वास होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो स्वतन्त्रता और सत्ता एक दूसरे के विरुद्ध हो जायेंगे। जब लोगों की यह धारणा बन जाती है कि कानून किसी व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह के लाभ के लिए प्रयुक्त बाहरी दबाव है तो उनमें गहरा असन्तोष व्याप्त हो जाता है। उनका यह असन्तोष और अप्रसन्नता अनेक वार क्रान्ति का कारण भी बन जाती है। इस सम्बन्ध में डा० आशीर्वादम् का कहना है कि यदि स्वतन्त्रता को सत्ता के साथ समायोजित करना है तो जिस सत्ता का व्यक्ति को पालन करना है वह बुद्धि पूर्ण होनी चाहिए और सत्ता के प्रति आज्ञाकारिता स्वेच्छापूर्ण होनी चाहिए। रूसो ने माना था कि हमारे द्वारा निर्धारित कानून की आज्ञाकारिता स्वतन्त्रता है। लॉस्की ने माना था कि कानून केवल एक आज्ञा नहीं है वरन् यह स्वेच्छा की अभिव्यक्ति है। ग्रीन ने यह माना था कि वह व्यक्ति स्वतन्त्र है जो कि अपने द्वारा बनाये गये कानून का पालन करता है और ऐसा करने के लिए वह आत्म पूर्णता की भावना से प्रभावित होता है।

कुछ विचारकों के मतानुसार कानून और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी है। कानून का क्षेत्र जितना अधिक व्यापक होता जाता है स्वतन्त्रता का क्षेत्र उतना ही कम हो जाता है। राज्य के कानून व्यक्ति की स्वेच्छा पर प्रतिवन्ध लगाते है। ऐसी स्थिति में उसका स्वय का उत्साह और पहल करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। व्यक्तिवादी विचारको ने इसी कारण राज्य को एक

बुराई कहा था। अराजकतावादियों ने तो राज्य को बिल्कुल समाप्त कर देने की बात कही। श्रम संघ वादियों ने भी राज्य के अस्तित्व का विरोध किया।

साधारणतः ऐसा देखने पर प्रतीत होता है कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति एवं स्वतन्त्रता एक दूसरे के विरोधी है किन्तु यह बात तथ्यपूर्ण नही है। प्रतिबन्ध विहीन स्वतन्त्रता केवल कुछ ही लोगों को थोड़े समय तक प्राप्त होती है। समाज में निर्बल, दीन और असमर्थ लोगों का भी एक वर्ग होता है जिनकी स्वतन्त्रता केवल तभी कायम रह सकती है जबकि राज्य के हस्तक्षेप द्वारा उनको सुरक्षा प्रदान की जाए। राज्य का कानून "जिसकी लाठी उसकी भैंस" की स्थिति को हटाकर प्रत्येक को उसका वांछनीय अधिकार सौंपने का प्रयास करता है। राज्य के द्वारा जहां कहीं व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित किया जाता है वहां वह स्वय उस व्यक्ति के हित में ही ऐसा करता है। स्वतन्त्रता के बन्धन व्यक्ति की प्रसन्नता की अभिवृद्धि करते हैं। उदाहरण के लिए यदि व्यक्ति को उसके बच्चों को स्कूल भेजने के लिए बाध्य किया जाए तो यह मानना गलत होगा कि इससे उसकी स्वतन्त्रता प्रतिबन्धित होगी।

असल में स्वतन्त्रता एक विधेयात्मक चीज है यह केवल प्रतिबन्धों के अभाव में नही रहती। व्यक्ति का सामाजिक जीवन सामान्य नियमों पर आधारित रहता है। इन सामान्य नियमों को यदि स्वतन्त्रता के विरुद्ध मान लिया जाए तो भूल होगी। यदि किसी व्यक्ति को आत्म हत्या करने से रोका जाता है अथवा सड़क पर चाहे जिधर चलने से रोका जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं माना जा सकता कि उसकी स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित किया गया है। व्यक्ति के ऐतिहासिक अनुभव ने अनेक ऐसे सुविधापूर्ण नियमों का विकास किया है जो कि उचित जीवन को प्रोत्साहन देते हैं। जहा कहीं प्रतिबन्ध की आवश्यकता होती है वहां यदि उसे लगाया जाए तो स्वतन्त्रता का अपहरण नही माना जायेगा। इतने पर भी यह नही कहा जा सकता कि वैधानिक रूप में उपयुक्त सत्ता द्वारा लगाया गया प्रत्येक प्रतिबन्ध न्यायोचित रहेगा। अनेक बार ऐसा होता है कि सरकार सामान्य हित की दिशा मे कार्य करने का दावा करती है किन्तु असल मे वह स्वतन्त्रता का अपहरण करती है। इस प्रकार के कानून स्वतन्त्रता के विपरीत कहे जा सकते है। इसीलिए लास्की ने यह माना कि स्वतन्त्रता केवल नियम की आज्ञाकारिता नहीं है।

कानून को स्वतन्त्रता के अनुरूप होने के लिए लागू होने से पूर्व समस्त नागरिकों की स्वीकृति की आवश्यकता नही है। प्रत्येक नागरिक को यह भी अधिकार नहीं है कि वह व्यक्तिगत रूप से जिस कानून से सहमत नहीं है उसका पालन न करे। यदि इस प्रकार का अधिकार दे दिया गया तो

अराजकता छा जाएगी। इसके लिए लोगों मे एक ऐसी चेतना का विकास करना होगा जिसके अनुसार वह यह समझ सके कि राज्य के कानून का पालन उच्च नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाना चाहिए। जहा तक राज्य के कार्य सामान्य हित में है, वहां तक उनका उल्लघन करने वाले व्यक्ति को स्वतन्त्र होने के लिए मजबूर किया जा सकता है। जब व्यक्ति को इस प्रकार मजबूर किया जा रहा हो, उस समय भी उसी का हित प्रमुख है। लास्की का यह कहना ठीक है कि प्रतिबन्ध अपने आप में बुरा नही है किन्तु उल्लघन बुरा है।

स्वतन्त्रता और समानता
(Liberty and Equality)

स्वतन्त्रता और समानता को एक ही सिक्के के दो पहलू माना जाता है। कुछ विचारक इससे सहमत नही है। उदाहरण के लिए लार्ड एक्टन और डी टाकविल ने इन दोनों को एक दूसरे का विरोधी माना है। प्रो० लास्की उनके इस निष्कर्ष को खतरनाक मानते हैं। सम्भवतः इसका कारण यह रहा कि उन्होंने समानता का सही अर्थ नही समझा। स्वतन्त्रता और समानता के बीच विरोध केवल ऐसी स्थिति मे माना जा सकता है जब कि स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धो का अभाव मान लिया जाये और समानता को गणितीय समानता मान लिया जाये। जैसा कि हम पहले भी देख चुके है कि प्रतिबन्ध-विहीन स्वतन्त्रता अराजकता को जन्म देती है और स्वतन्त्रता का सच्चा रूप विधेयात्मक होता है। समानता का गणितीय रूप भी एक सम्भावना नही है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति ने अलग-अलग विशेषताएं सौंपी है, उसकी आवश्यकताये एव क्षमताये भिन्न-भिन्न हैं और ऐसी स्थिति में उन सभी के साथ एक जैसा व्यवहार करना, उनके बीच असमानता की स्थापना करना होगा।

वास्तविकता तो यह है कि स्वतन्त्रता के बिना समानता नही रह सकती और समानता के अभाव में स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। व्यक्तियों के बीच मूल बातों के सम्बन्ध मे समानता का होना जरूरी है। यदि व्यक्ति की आर्थिक आवश्यकतायें पूरी नही हो पाती तो वह अपने लिए प्राप्त स्वतन्त्रताओं का पूरा उपभोग नही कर पायेगा, इसी प्रकार यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अतिशय प्रतिबन्ध लगाये गये तो उसका व्यवहार समान नहीं हो पायेगा। आर्थिक समानता का पर्याप्त महत्व है, उसके होने पर ही राजनैतिक समानता उपयोगी बनती है। प्रो० पोलार्ड (Pollard) ने बताया है कि स्वतन्त्रता की समस्या का केवल एक ही समाधान है और वह समानता

मे निहित है ।,शक्तिहीन लोगों को स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए शक्तिशाली लोगों पर प्रतिबन्ध लगाना परमावश्यक बन जाता है। इसी प्रकार गरीबों को स्वतन्त्रता प्रायः तभी दी जाती है जब कि धनवान लोगों पर प्रतिबन्ध लगाये जाएं। असल में स्वतन्त्रता, समानता और नैतिकता एक ही आधारभूमि पर कायम हैं। समानता की स्थापना के लिए प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं और ये प्रतिबन्ध ही सच्ची स्वतन्त्रता के आधार हैं। जब व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है केवल तभी उसे सौंपी गई समानता का सच्चा अर्थ सामने आता है। इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता हाथ में हाथ मिलाकर आगे बढ़ते है। एक के बिना दूसरा अधूरा और महत्वहीन बन जाता है। डा० अप्पादोराय (*Appadorai*) का कहना है कि सभी व्यक्तियों को समान कहना उतना ही गलत है जितना कि पृथ्वी को समतल बताना गलत है।

स्वतन्त्रता और सत्ता
(*Liberty and Authority*)

सामान्यतः स्वतन्त्रता और सत्ता परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। अठारहवीं शताब्दी मे प्रचलित व्यक्तिवादी विचारधारा ने राज्य के प्रत्येक कार्य को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का एक प्रतिबन्ध माना था। किन्तु बाद के अनुभव ने इस दृष्टिकोण की भ्रामकता को सिद्ध कर दिया। आज सामान्य रूप से यह माना जाता है कि सत्ता का किसी न किसी रूप में अस्तित्व स्वतन्त्रता की स्थापना के लिए आवश्यक है। प्रो० विलोबी ने यह माना था कि स्वतन्त्रता केवल तभी रहती है जब कि साथ में प्रतिबन्ध हो। एक सभ्य नागरिक की स्वतन्त्रता हमेशा परिभाषित एवं सीमित होती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी मर्जी के अनुसार कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो अराजकता की वह स्थिति उत्पन्न हो जायेगी जिससे कि व्यक्ति एक लम्बे अभ्यास के बाद निकल पाया। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति ने जब भी कभी अपने आपको एक सत्ता से स्वतन्त्र किया, तभी उसने दूसरे प्रकार की सत्ता को अपना आश्रय बनाया। केवल यही नही है कि स्वतन्त्रता और सत्ता एक दूसरे का विरोध नही करते, वरन् यह भी है कि वे एक दूसरे की सहायता करते है। जॉन लॉक ने बहुत पहले ही इस बात की घोषणा कर दी थी कि जहां कानून नही होता वहां स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। प्रो० हाकिन्स का मत है कि एक व्यक्ति जितनी अधिक स्वतन्त्रता चाहता है उसे सत्ता के प्रति उतना ही अधिक झुकना पड़ेगा। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि यदि एक व्यक्ति संगीतकार होना चाहता है तो उसे संगीत की तकनीकों का जानकार होना चाहिए। प्रतिबन्धों का होना व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरुद्ध नहीं है। लास्की ने माना था कि व्यक्ति की

स्वतन्त्रता पर लगे कुछ प्रतिबन्ध उसकी प्रसन्नता को बढाते है। सत्ता के द्वारा स्वतन्त्रता पर जो सीमायें लगाई जाती हैं वे स्वतन्त्रता को वास्तविक बनाती हैं और उसे सही रूप प्रदान करती है। सत्ता की आज्ञाकारिता स्वतन्त्रता का मूल्य है।

स्वतन्त्रता और राज्य
(Liberty and State)

राज्य सत्ता का आधार कानून का स्रोत है। स्वतन्त्रता का विचार भी अपनी सत्यता के लिए बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि सरकार की शक्तियां एवं प्रशासकीय यन्त्र स्वतन्त्रता और समानता के प्रति व्यक्ति को प्रेरित करते है। इनके द्वारा व्यक्ति का व्यवहार इन आदर्शों की दिशा में विनियमित किया जाता है। स्वतन्त्रता पर लगाये गये प्रतिबन्धो को प्रत्यक्ष रूप से राज्य द्वारा अथवा अप्रत्यक्ष रूप से समाज के द्वारा लगाया जा सकता है। सरकार के द्वारा लगाये गये दबावो और प्रतिबन्धों को केवल इसी आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है कि वे व्यक्ति को दूसरे प्रकार के दबावों एवं प्रतिबन्धों से बचा सकें। इस दृष्टि से राज्य द्वारा व्यक्ति को विभिन्न अधिकार एव स्वतन्त्रतायें प्रदान की जाती हैं। इस प्रकार का प्रथम अधिकार व्यक्तिगत सुरक्षा का अधिकार है। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नही कि वह दूसरे व्यक्ति के शरीर का अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सके अथवा उसे कही भी घूमने से रोक सकें। प्रत्येक व्यक्ति इन अधिकारो का प्रयोग उस समय तक कर सकता है जब तक कि वह दूसरे व्यक्तियों के ऐसे ही अधिकारों का विरोध नहीं करता अथवा सामाजिक व्यवस्था के लिए कोई गम्भीर खतरा उत्पन्न नहीं करता। आधुनिक राज्य इन सब को मान्यता देता है।

कानून के द्वारा व्यक्ति को हिंसा के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की जाती है। जब व्यक्ति को अपनी जान का खतरा हो तो वह यथासम्भव शक्ति का प्रयोग कर सकता है; यहां तक कि वह आक्रमण करने वाले को मार भी सकता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन न केवल अन्य व्यक्तियों द्वारा वरन् स्वयं सरकार द्वारा भी किया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक राज्य द्वारा कुछ सुरक्षायें प्रदान की जाती हैं ताकि वह स्वयं व्यक्ति की स्वतन्त्रता को न छीन सके।

दूसरे, राज्य द्वारा व्यक्ति को विचार, भाषण और लेखन की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है। विचारों की अभिव्यक्ति उस समय तक प्रभावहीन रहती है जब तक कि व्यक्ति को भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता प्रदान न

की जाए । जब एक व्यक्ति को उसकी इच्छानुसार सोचने की शक्ति दे दी जाती है और उसको अभिव्यक्त करने का अवसर नहीं दिया जाता तो उस व्यक्ति की आत्मा उसे कोसती रहती है । इस स्वतन्त्रता के प्रमुख समर्थक प्रो० लास्की का कहना है कि जिस व्यक्ति को उसके अनुभव के अनुसार सोचने से रोक दिया जाता है वह शीघ्र ही सोचना रोक देता है । सरकार को लाभ उसके चापलूसों की बातों से नहीं होता वरन् उसके आलोचकों द्वारा होता है । कबीरदासजी की तरह सरकार को चाहिए कि वह अपनी निन्दा करने वालो को अपने ही आंगन में कुटी-छवा दे । यद्यपि राज्य को भी आत्म रक्षा का अधिकार है किन्तु इस अधिकार का प्रयोग करने के पूर्व उसे वस्तुस्थिति की गम्भीरता को देख लेना चाहिए ।

(2) विचार एवं वाद-विवाद की स्वतन्त्रता का महत्व अत्यन्त प्राचीन काल से ही स्वीकार किया गया है । यूनानी दार्शनिक सुकरात ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध मानने की अपेक्षा मर जाना अधिक उचित समझा । अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने विचार और भाषण की स्वतन्त्रता को अन्य स्वतन्त्रताओं का आधार माना और उनके महत्व को स्वीकार किया ।

प्रत्येक नागरिक को राज्य की आलोचना करने की स्वतन्त्रता देना आज की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्थाओं का एक विशेष गुण है । प्रो० लास्की का विचार था कि जिस राज्य मे शक्ति केन्द्रीय स्तर पर अत्यधिक केन्द्रित रहती है वहां स्वतन्त्रता नही रह सकती । उनके मतानुसार व्यवस्था कोई सर्वोच्च शुभ नही है । कभी-कभी विरोधी अथवा क्रांतिकारी भी उचित और सही होते हैं । राज्य की आलोचना एवं विरोध के अधिकारों का यह अर्थ नही कि आए दिन राज्य के कानूनों का उल्लघन किया जाय । ऐसा होने पर राज्य की सुरक्षा एव स्थायित्व खतरे मे पड़ जायेंगे । व्यक्ति की इस स्वतन्त्रता का प्रयोग एक सन्तुलित रूप मे किया जाय । कुछ विचारकों का कहना है कि सरकार की आलोचना करने का अधिकार युद्ध एवं अन्य संकट के समय रोक देना चाहिए किन्तु लास्की इस मत से सहमत नही है । उनका कहना है कि यदि कोई व्यक्ति जेम्स रसेल व लावेल की भांति यह सोचे कि युद्ध सामुहिक हत्या का ही एक रूप है तो उसे चाहिए कि वह अपने विचार को प्रकट करे, चाहे ऐसा करना तत्कालीन सरकार के लिए कितना ही असुविधा-जनक क्यों न हो ।

(3) तीसरे, व्यक्ति को कार्यों की स्वतन्त्रता प्रदान की जानी चाहिए । जे० एस० मिल ने स्वतन्त्रता पर अपने निबन्ध में न केवल विचारों और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को ही विश्लेषण का विषय बनाया है वरन् कार्यों की स्वतन्त्रता को भी पर्याप्त महत्व दिया है । मिल ने व्यक्ति के कार्यों

को अपने से सम्बन्धित और दूसरों से सम्बन्धित—दो भागों में विभाजित किया है। अपने से सम्बन्धित कार्य का प्रभाव केवल कर्ता पर ही रहता है जब कि दूसरो से सम्बन्धित कार्य कर्ता के अतिरिक्त अन्य लोगो को भी प्रभावित करते है। मिल का कहना था कि प्रथम प्रकार के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही होना चाहिए। यह शुद्ध रूप से व्यक्तिगत प्राथमिकताओं का सवाल है। कार्यों के दूसरे क्षेत्र मे राज्य अपने कानूनों के माध्यम से और समाज लोकमत के माध्यम से हस्तक्षेप कर सकता है। इस क्षेत्र मे भी ऐसे अनेक कार्य होते है जिनमे राज्य तथा समाज का हस्तक्षेप उपयोगी नहीं रहता। इस प्रकार मिल ने एक क्षेत्र मे निरपेक्ष स्वतन्त्रता और दूसरे क्षेत्र में सीमित सत्ता का समर्थन किया।

मिल द्वारा किए गए कार्यो के इस विभाजन की गम्भीर रूप से आलोचना की गयी। व्यक्ति के कार्यो को इस प्रकार से विभाजित करना पूर्णतः असम्भव है। व्यक्तिगत कल्याण और सामाजिक कल्याण एक दूसरे पर आश्रित रहते है। व्यक्ति का प्रत्येक कार्य उससे स्वय से भी सम्बन्धित रहता है और समाज से भी सम्बन्धित रहता है। मिल ने यह माना था कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित स्वय अच्छी तरह जानता है। उसकी यह मान्यता भी अधिक सही नही थी। यह हो सकता है कि व्यक्ति अपने वर्तमान सुख का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक हो किन्तु वह निश्चय ही अपने भावी सुख तथा उसके साधनो का श्रेष्ठ निर्णायक नही होता।

कार्यों की स्वतन्त्रता की दृष्टि से व्यक्ति को विभिन्न अधिकार प्रदान किये जाते हैं। उदाहरण के लिए संस्थान बनाने का अधिकार, हड़ताल करने का अधिकार, सार्वजनिक सभायें करने का अधिकार आदि-आदि।

(६) चौथे, राज्य द्वारा व्यक्ति की धार्मिक क्षेत्र मे स्वतन्त्रता को नियमित किया जाता है। इस सम्बन्ध मे रूसो का कहना था कि "उन सभी धर्मों को सहन करना चाहिए जो कि दूसरो को सहन करते है और जिनके सिद्धान्त नागरिकों के कर्तव्यों के विरुद्ध नहीं है।" राज्य नागरिको के धार्मिक जीवन को सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से विनियमित करता है।

राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का नियमन करने के लिए उसे दण्ड देने का अधिकार प्रदान किया गया है। यह सच है कि यह दण्ड का अधिकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता की एक सीमा है; किन्तु इतने पर भी यह अनिवार्य है। समाज मे केवल वही व्यक्ति रह सकता है जो कि रहने की योग्यता रखता है। यदि कोई अपराधी समाज-विरोधी कार्यवाही करे तो राज्य को यह अधिकार होगा कि वह उसके स्वतन्त्र जीवन संचालन मे हस्तक्षेप करे। यदि ऐसा नही किया जाता तो समाज प्रारम्भिक अराजकता की स्थिति में पहुंच

की जाए । जब एक व्यक्ति को उसकी इच्छानुसार सोचने की शा
जाती है और उसको अभिव्यक्त करने का अवसर नहीं दिया ज
व्यक्ति की आत्मा उसे कोसती रहती है । इस स्वतन्त्रता के प्र
प्रो० लास्की का कहना है कि जिस व्यक्ति को उसके अनुभव
सोचने से रोक दिया जाता है वह शीघ्र ही सोचना रोक देता
को लाभ उसके चापलूसों की बातों से नहीं होता वरन् उ
द्वारा होता है । कबीरदासजी की तरह सरकार को चाहिए
निन्दा करने वालों को अपने ही आंगन में कुटी-छवा दे । य
भी आत्म रक्षा का अधिकार है किन्तु इस अधिकार का प्र
पूर्व उसे वस्तुस्थिति की गम्भीरता को देख लेना चाहिए ।

(2) विचार एव वाद-विवाद की स्वतन्त्रता का महत्व प्रा
से ही स्वीकार किया गया है । यूनानी दार्शनिक सुकरात ने
अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध मानने की अपेक्षा मर जाना अधि
अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने विचार और भाषण की स
स्वतन्त्रताओं का आधार माना और उनके महत्व को स्वीक

प्रत्येक नागरिक को राज्य की आलोचना करने
आज की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्थाओं का एक विशेष गु
का विचार था कि जिस राज्य मे शक्ति केन्द्रीय स्त
रहती है वहां स्वतन्त्रता नहीं रह सकती । उनके म
सर्वोच्च शुभ नही है । कभी-कभी विरोधी अथवा
और सही होते है । राज्य की आलोचना एवं विरो
अर्थ नही कि आए दिन राज्य के कानूनों का उ
होने पर राज्य की सुरक्षा एव स्थायित्व खतरे
इस स्वतन्त्रता का प्रयोग एक सन्तुलित रूप मे कि
कहना है कि सरकार की आलोचना करने का
के समय रोक देना चाहिए किन्तु लास्की इस मत
कहना है कि यदि कोई व्यक्ति जेम्स रसेल व
युद्ध सामूहिक हत्या का ही एक रूप है तो उसे
को प्रकट करे, चाहे ऐसा करना तत्कालीन रा
जनक क्यो न हो ।

(3) तीसरे, व्यक्ति को कार्यों की
जे० एस० मिल ने स्वतन्त्रता पर अपने
अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को ही
कार्यों की स्वतन्त्रता को भी पर्याप्त

के लिये राजस्थान के भ्रमणशील गाड़ोलिया लुहारों को बारम्बार यह भली प्रकार समझा दिया गया है कि उनका देश स्वतन्त्र हो चुका है और इसलिये राणा प्रताप एवं उन लोगों की प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो गई है, अतः उन्हें अपने घरों को पुनः बसाना चाहिये। किन्तु चूंकि उन लोगों में अशिक्षा घर किये हुए है, इसीलिये उनमें उस मानवीय चेतना या सजगता का अभाव है जिससे वे अपने अधिकार और कर्तव्यों को समझ सकें।

इस प्रकार हमने देखा कि मानवीय चेतना का, स्वतन्त्रता स्वयंसिद्ध प्रमाण है। व्यक्ति परतन्त्र होते हुए भी स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है,अथवा अपनी राजनैतिक चेतना के कारण स्वतन्त्रता का उपभोग करने की इच्छा कर सकता है। पाकिस्तान के तानाशाही-शासन में लोग अपनी इच्छानुसार कार्य करके शासन की अप्रसन्नता नहीं झेलना चाहते, किन्तु जो व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति सजग एवं चेतन हैं अथवा जनमें राजनैतिक चेतना है वे बिना शासन की परवाह किये अपनी स्वतन्त्रता की आवाज उठाते ही रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता का उपभोग स्वतन्त्रता को दे देने से ही नहीं हो जाता है, बल्कि तभी होता है जब किसी देश के नागरिकों मे उस स्वतन्त्रता को उपयोग में लाने योग्य चेतना हो और वे अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति सजग हों। भारत को स्वतन्त्र हुए २३ वर्ष हो गये हैं, क्योकि हम में अपने अधिकारों एव कर्तव्यों के प्रति पूर्ण चेतना का आविर्भाव नहीं हुआ है। हम अभी तक राजनैतिक रूप से पूर्णतया सजग नही हैं। हम अपने मतों का मूल्य नहीं समझते। इस प्रकार कठिनता से प्राप्त की गई स्वतन्त्रता का जो दुरुपयोग हम आज देख रहे हैं वह सजगता एव चेतना के अभाव का ही फल है। स्वतन्त्रता का उपभोग न केवल स्वतन्त्र देशों में ही किया जाता है किन्तु परतन्त्र देशों में भी किया जा सकता है, यदि वहां की जनता पूर्ण सजग अथवा चेतनामय हो।

स्वतन्त्रता अधिकारों को संयुक्त करती है। स्वतन्त्रता का अभिप्रायः यह कदापि नहीं होता कि कोई व्यक्ति अपने प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग करे। स्वतन्त्रता शब्द स्वय अपने आप में भी स्वतन्त्र है। साथ ही दूसरो को भी उतनी ही स्वतन्त्रता प्रदान करता है जितना वह स्वय स्वतन्त्र है। व्यक्ति जीवन, सम्पत्ति, भ्रमण, व्यवसाय, कार्य आदि की स्वतन्त्रता की रक्षा करने का अधिकारी है किन्तु साथ ही उसे यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अन्य व्यक्ति भी उसी के समान उपरोक्त अधिकारों के अधिकारी हैं। अतः व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग इस प्रकार करेगा कि जिससे दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा न पहुंचे। स्वतन्त्रता का वास्तविक उपभोग तभी किया जा सकता है जबकि वह अधिकार युक्त हो।

जाएगा। सैद्धान्तिक रूप से दण्ड-व्यवस्था को अनेक प्रकार से न्यायोचित ठहराया जाता है। इस सम्बन्ध में अवरोधक सिद्धान्त, बदले का सिद्धान्त और सुधारवादी सिद्धान्त प्रमुख हैं। इनमें दण्ड के सुधारवादी रूप को अधिक अच्छा और उपयोगी माना जाता है किन्तु एक मात्र यही पर्याप्त नहीं है इसके साथ-साथ अन्य सिद्धान्तों का भी सहयोग होना चाहिए।

स्वतन्त्रता, अधिकार और राज्य
(Liberty, Rights and State)

प्राय. ग्रीन (Green) का यह कथन दोहराया जाता है कि "मानवीय चेतना का स्वय सिद्ध प्रमाण स्वतन्त्रता है, स्वतन्त्रता अधिकारों को संयुक्त करती है और अधिकार राज्य को माग करते हैं।" पूर्वोक्त संदर्भ में इस कथन की सत्यता का मूल्यांकन करना समीचीन है।

राज्य के विकास का इतिहास प्रारम्भ करते समय ग्रीन मानवीय चेतना से अपना लेख प्रारम्भ करता है। इस मानवीय चेतना को बाह्य चेतना से, उस सामाजिक हित का ज्ञान प्राप्त होता है, जिसकी वह प्राप्ति करना चाहता है और जिसको केवल उच्चतम प्रकार के मानवीय समाज में ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि हम चाहते है कि व्यक्ति इस सामान्य या सामाजिक उद्देश्य को प्राप्त कर सके तो यह आवश्यक हो जाता है कि उन्हें कार्य करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो। बिना स्वतन्त्रता के, हित की प्राप्ति की बात करना एक बड़ी मूर्खता होगी। मानवीय समाज की स्थापना का मुख्य कारण यह है कि हमें स्वतन्त्रता की आवश्यकता है, जिससे कि हम अपने श्रेष्ठ मानव-जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। इस प्रकार मानवीय चेतना का स्वयं सिद्ध प्रमाण है—स्वतन्त्रता।

स्वतन्त्रता के लिये चेतना आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। व्यक्ति को अधिक से अधिक अपने अधिकारों के लिये, सजग बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उसे अधिक से अधिक मात्रा में शिक्षित-दीक्षित किया जाय। जब तक मानव भली प्रकार शिक्षित नही है और उसकी चेतना ठीक प्रकार विकसित नही है, तब तक उसे अपनी स्वतन्त्रता के बारे मे सोचने का भी विचार नही आता। सजगता या चेतना का शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है और विशेष रूप से तब जबकि हम अपने अधिकारों और कर्तव्यों की बात करते हैं। अनपढ़ और अशिक्षित व्यक्तियों को चाहे पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करदी जाय किन्तु वे उसका कभी भी सदुपयोग नही कर सकेंगे, क्योंकि उनमें अपने अधिकारों, दायित्वों,तथा कर्तव्यों को समझने की पर्याप्त चेतना का अभाव होता है। उनसे किसी प्रकार के बुद्धिमानी पूर्ण कार्य की अपेक्षा करना अनुपयुक्त होगा। उदाहरण

के लिये राजस्थान के भ्रमणशील गाड़ोलिया लुहारों को बारम्बार यह भली प्रकार समझा दिया गया है कि उनका देश स्वतन्त्र हो चुका है और इसलिये राणा प्रताप एवं उन लोगों की प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो गई है, अतः उन्हें अपने घरों को पुनः बसाना चाहिये। किन्तु चूंकि उन लोगो में अशिक्षा घर किये हुए है, इसीलिये उनमे उस मानवीय चेतना या सजगता का अभाव है जिससे वे अपने अधिकार और कर्तव्यों को समझ सके।

इस प्रकार हमने देखा कि मानवीय चेतना का, स्वतन्त्रता स्वयसिद्ध प्रमाण है। व्यक्ति परतन्त्र होते हुए भी स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है,अथवा अपनी राजनैतिक चेतना के कारण स्वतन्त्रता का उपभोग करने की इच्छा कर सकता है। पाकिस्तान के तानाशाही-शासन में लोग अपनी इच्छानुसार कार्य करके शासन की अप्रसन्नता नहीं झेलना चाहते, किन्तु जो व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति सजग एवं चेतन हैं अथवा जनमे राजनैतिक चेतना है वे बिना शासन की परवाह किये अपनी स्वतन्त्रता की आवाज उठाते ही रहते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता का उपभोग स्वतन्त्रता को दे देने से ही नहीं हो जाता है, बल्कि तभी होता है जब किसी देश के नागरिकों मे उस स्वतन्त्रता को उपयोग में लाने योग्य चेतना हो और वे अपने अधिकारों और कर्तव्यो के प्रति सजग हों। भारत को स्वतन्त्र हुए २३ वर्ष हो गये हैं, क्योकि हम में अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति पूर्ण चेतना का आविर्भाव नहीं हुआ है। हम अभी तक राजनैतिक रूप से पूर्णतया सजग नहीं हैं। हम अपने मतो का मूल्य नहीं समझते। इस प्रकार कठिनता से प्राप्त की गई स्वतन्त्रता का जो दुरुपयोग हम आज देख रहे हैं वह सजगता एव चेतना के अभाव का ही फल है। स्वतन्त्रता का उपभोग न केवल स्वतन्त्र देशों में ही किया जाता है किन्तु परतन्त्र देशों में भी किया जा सकता है, यदि वहां की जनता पूर्ण सजग अथवा चेतनामय हो।

स्वतन्त्रता अधिकारों को संयुक्त करती है। स्वतन्त्रता का अभिप्रायः यह कदापि नहीं होता कि कोई व्यक्ति अपने प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग करे। स्वतन्त्रता शब्द स्वयं अपने आप मे भी स्वतन्त्र है। साथ ही दूसरों को भी उतनी ही स्वतन्त्रता प्रदान करता है जितना वह स्वय स्वतन्त्र है। व्यक्ति जीवन, सम्पत्ति, भ्रमण, व्यवसाय, कार्य आदि की स्वतन्त्रता की रक्षा करने का अधिकारी है किन्तु साथ ही उसे यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अन्य व्यक्ति भी उसी के समान उपर्युक्त अधिकारों के अधिकारी है। अतः व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग इस प्रकार करेगा कि जिससे दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा न पहुंचे। स्वतन्त्रता का वास्तविक उपभोग तभी किया जा सकता है जबकि वह अधिकार युक्त हो।

अधिकारविहीन स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता में परिणित हो जाती है। यदि हमें अपने व्यक्तित्व की उन्नति करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता की अपेक्षा है तो यह स्वाभाविक है कि हमें जीवन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, स्वतन्त्रता पूर्वक भ्रमण करने का अधिकार, व्यवसाय, शिक्षा एवं कार्य का अधिकार, आदि प्राप्त हो। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि हमने मार्ग मे आने वाली बाधाओं को इस रूप में हटाने को प्रयत्नशील हो जायं कि अन्य व्यक्तियों के उपरोक्त अधिकारों का हनन हो। यदि ऐसा किया जायगा तो स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता न रह कर अनुशासनहीनता और उच्छृङ्खलता रह जायगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता के साथ अधिकार का सम्बन्ध है। स्वतन्त्रता शब्द के भीतर ही अधिकार समाविष्ट हो जाते हैं और बिना अधिकारों के स्वतन्त्रता केवल लूली, लगडी और पंगु होती है। अधिकार रहित स्वतन्त्रता की कल्पना करना मूर्खों के ससार में रहने से अधिक और कुछ भी नहीं है।

जब हम स्वतन्त्रता शब्द का प्रयोग करते हैं तो स्वतः प्रश्न उठता है कि किस बात की स्वतन्त्रता ? और इसके उत्तर में जब यह पाते हैं कि राजनैतिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतन्त्रता, सामाजिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता, तो यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता और कुछ नहीं है, सिवाय इसके कि इसके द्वारा मानव को कुछ अधिकार प्रदान किये जाते हैं। अधिकार उसी स्थान पर मिलते हैं जहां स्वतन्त्रता होती है और स्वतन्त्रता शब्द का अर्थ भी अधिकारों का उपभोग करना ही है। स्वर्गीय तिलक ने कहा भी था कि "स्वतन्त्रता मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और मैं इसे प्राप्त करके रहूंगा।" स्वतन्त्रता शब्द का यही अर्थ लिया जाना चाहिये कि हम अपने राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक अधिकारों का इस भांति स्वतन्त्रता-पूर्वक उपभोग करें कि दूसरों के इसी प्रकार के अधिकारों में कोई हस्तक्षेप नहीं हो पाये। अधिकारों को सर्वोपरि समझते हुए ही स्वतन्त्रता की इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि "मनुष्यो के अधिकारों का निरादर ही हमारी सारी कठिनाइयों की जड़ है।"

अब हमें यह देखना है कि व्यक्ति को अधिकार प्राप्त हुए हैं उनका प्रयोग क्या वह अकेला रहकर कर सकता है, या जंगल में अथवा किसी रेगिस्तान में निवास करते हुए कर सकता है। उसे इन अधिकारों के प्रयोग और उपभोग के लिये किन्ही सामाजिक बन्धनों को, जिनका कि राज्य एक प्रमुख भाग है, स्वीकार करना पड़ता है या वह बिना राज्य के ही इन अधिकारों की कल्पना और सर्जना कर सकता है।

इस बात को भली प्रकार समझने के लिये हमें हमारी उस जंगली अवस्था मे जाना होगा जहां कोई राज्य व्यवस्था लागू नही थी। उस युग में

व्यक्ति का जीवन अत्यन्त एकाकी और भयावह था। अधिकार नाम की कोई वस्तु लोगों को प्राप्त न थी तथा "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ होती थी। इस प्रकार उस समय जीवन की कोई सुरक्षा न थी और अपनी इसी प्राकृतिक असुरक्षित अवस्था से मुक्त होने के लिये लोगों ने राज्य-व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया।

वास्तव मे अधिकार तभी प्राप्त होते है जबकि हम किन्हीं सामाजिक बन्धनों को स्वीकार करें। अधिकारो के सदुपयोग के लिये एक ऐसी व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए जो यह देखे कि कही हम अपने अधिकारो के बहाने दूसरों के अधिकारो का अतिक्रमण तो नही कर रहे हैं। इसीलिये अधिकारों की प्राप्ति के साथ ही साथ राज्य का अस्तित्व भी हमारे सामने आता है जिसके बिना अधिकारों की कल्पना भी नही की जा सकती। अधिकारो का अभिप्राय नागरिक को कतिपय कार्यों को करने की स्वतन्त्रता देना और कुछ कार्यों को करने से रोक देना है, ताकि मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। राज्य व्यक्ति के इसी आदर्श की पूर्ति मे सहायता प्रदान करता है। राज्य का आदर्श नागरिको का अधिकतम कल्याण करना है और इसके लिये वह आवश्यक अधिकार स्वीकृत करता है। जो राज्य अपने नागरिकों को जैसे अधिकार प्रदान करता है उन्ही अधिकारों को देख कर उस राज्य को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है।

जब हम अधिकारों की बात करते हैं तो कर्तव्य शब्द स्वतः ही आ जाता है। अधिकार और कर्तव्य एक नदी के दो किनारे हैं। जो एक व्यक्ति का अधिकार है वही दूसरे का कर्तव्य है। दोनो परस्पर अन्योन्याश्रित है और एक दूसरे के पूरक हैं। यदि हम समाज के दूसरे सदस्यो से इस बात की आशा करते हैं कि हमें अपने अधिकारो का उपभोग शान्तिपूर्वक करने दें तो हमारा भी उन मनुष्यों के प्रति कर्तव्य है कि उन व्यक्तियों की रक्षा मे हम सहायक सिद्ध हों। किन्तु अधिकारो और कर्तव्यों की यह व्यवस्था तभी चल सकती है जब उन पर नियन्त्रण रखने वाली एक सर्वोपरि शक्ति विद्यमान हो। इस प्रकार की व्यवस्था ही हमारा सही पथ-प्रदर्शन कर सकती है और हमे आपसी टकराव से बचा सकती है। यह शक्ति स्वभावतः राज्य ही हो सकता है। बिना संगठित समाज और राज्य के हम अपने अधिकारो की कल्पना भी नहीं कर सकते। स्वतन्त्रता को अधिकार विहीन होकर उच्छृंखलता मे परिणित होने से रोकने वाली शक्ति रा य ही है।

अधिकारो की जो प्रमुख प्रवृत्तिया हैं उनकी पूर्ति भी राज्य से पृथक और बाहर रह कर कदापि नही हो सकती। संक्षेप में अधिकारों की प्रवृत्तियां ये हैं—

(१) इनका जन्म राज्य और समाज में ही होता है, (२) प्रत्येक अधिकार किसी न किसी अधिकार से जुड़ा हुआ है, (३) अधिकार सार्वजनिक हित के रूप में ही होते है, (४) अधिकार निश्चित और स्पष्ट होते हैं और होने चाहिये, (५) ये आवश्यकताओं के अनुरूप ही घटते-बढ़ते रहते हैं। स्पष्ट है कि ये प्रवृत्तिया केवल राज्य के अन्तर्गत रह कर ही पूरी हो सकती हैं। राज्य ही भली प्रकार से अधिकारों और कर्तव्यों के टकराव से रोक सकता है और उनमें सामजस्य स्थापित कर सकता है। राज्य के अभाव मे अधिकारों का रहना असम्भव है और अधिकारों के अभाव में स्वतन्त्रता एक कल्पना है। जब हम अधिकार-विहीन स्वतन्त्रता का उपभोग करने लगते हैं तो एकदम एक ऐसी अराजकतावादी, असभ्य एवं बर्बर स्थिति में पहुंच जाते हैं जहा न कोई नियम है न सुरक्षा ; वह तो एक ऐसी व्यवस्था होगी जहा शक्ति की पूजा होगी तथा "जिसको मार सको मार डालो, और जिसका जो छीन सको छीन लो" इस सिद्धांत का बोलवाला होगा। उस समय यदि कोई कानून प्रचलित होगा तो वह केवल जगल का कानून होगा।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हम अपने अधिकारों का उपभोग राज्य में रह कर ही कर सकते हैं। व्यक्तिवादी राज्य की सत्ता को एक बुराई मानते हैं परन्तु साथ ही इसे ऐसी बुराई मानते हैं जो आवश्यक बुराई (Necessary Evil) हो। वस्तुतः बिना राज्य के अधिकारों की कल्पना नही की जा सकती क्योंकि अधिकार राज्य की माग करते हैं।

१२

दायित्व और प्रतिरोध की समस्या

(OBLIGATION AND PROBLEM OF RESISTENCE)

'कायरता का नहीं, विवेक बुद्धि का समर्थन करो,
क्योंकि सफलता की युक्तिसंगत आशा के बिना
प्रतिरोध एक राजनैतिक भूल और सार्व-
जनिक विनाश है, भले ही उस प्रति-
रोध में बहुत ऊंचे दर्जे की
व्यक्तिगत वीरता की
गाथा भी हो।"

—मैबन

राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है कि समस्त सभ्य समाजों मे नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कानून द्वारा किस प्रकार प्रमुख दायित्वों को प्रभावी बनाया जाये तथा अधिकारों की रक्षा की जाये। इस प्रश्न का समाधान राजनैतिक आज्ञाकारिता की समस्या का अध्ययन करके ही किया जा सकता है। इसमे यह देखना होता है कि विधेयात्मक कानून क्या होता है, यह कितना विधेयात्मक होता है तथा उसकी आज्ञा-पालन करने के कर्त्तव्य का आधार क्या है। राजनैतिक दायित्व (Political Obligation) से सम्बन्धित सिद्धांत को दो बातों से भिन्न करना जरूरी है। प्रथम, यह उस प्रक्रिया की जाच नहीं है जिससे वास्तविक कानून को वह रूप प्राप्त होता है जो कि उसका इस समय है। दूसरे, यह सिद्धांत कानून एवं प्राकृतिक कानून के पारस्परिक सम्बन्ध को भी नहीं देखता।

दायित्व सदैव अधिकारों के साथ रहते हैं। यह सच है कि एक व्यक्ति के पास अधिकार रहने का अर्थ है कि अन्य व्यक्ति के ऊपर कुछ

दायित्व है । साथ ही अधिकार रखने वाला व्यक्ति स्वयं भी कुछ दायित्व निबाहेगा । प्राकृतिक अधिकारों को प्रयुक्त करने के लिए व्यक्ति ने राजनैतिक समाज की रचना की । इस व्यवस्था में कानून ने व्यक्तियों के मध्य अधिकारों एवं दायित्वों की व्यवस्था की स्थापना की तथा राज्य के अधिकारों को उसके नागरिकों के आधीन बनाया। इस दृष्टि से जब यह प्रश्न किया जाता है कि मैं अपने पड़ोसियों के वैधानिक अधिकारों का, कर देने के अधिकारों का, बच्चों के टीका लगवाने के अधिकारों का, आवश्यकता के समय राज्य की सेना में कार्य करने के अधिकार का आदर क्यों करूं तो इस विचारधारा वालों का यह उत्तर होगा कि यदि मैंने ऐसा नहीं किया तो मैं प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से दूसरों के प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन कर रहा हूंगा। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार है कि उसके प्राकृतिक अधिकारों को सम्मान प्रदान किया जाये; साथ ही उसका यह दायित्व भी है कि स्वयं भी इसका सम्मान करे। जब कभी वह ऐसा नहीं करता है तभी वह अपने द्वारा किये गये समझौते को तोड़ता है।

१७वीं तथा १८वीं शताब्दी के दौरान इसी आधार पर राजनैतिक दायित्व को आश्रित किया गया तथा स्थापित अधिकारों का औचित्य सिद्ध किया गया। दायित्व के उपयोगितावादी सिद्धांत का उदय होने तक यह धारणा प्रभावशील रही। इसका मुख्य प्रतिपादन हॉब्स तथा अन्य के द्वारा किया गया। कुछ शक्तियां राज्य के हाथों में सौंपी गई थीं तथा कुछ अधिकार व्यक्ति के पास छोड़े गये थे। इनका लक्ष्य एक नैतिक प्राणी के रूप में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करना था।

दायित्व के उपयोगितावादी विचारकों ने व्यक्ति के किसी प्रकार के व्यक्तित्व को मान्यता नहीं दी किन्तु सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृति को महत्व दिया। नागरिक अधिकारों का सम्मान करने का औचित्य यह बताया गया कि उनका सामान्य रूप से आदर करने पर सुखों में वृद्धि होती है और दुःखों में कमी होती है। दूसरे शब्दों में इन अधिकारों का सम्मान न करने पर उत्पन्न होने वाले परिणामों का भय इनकी मान्यता का मुख्य दबाव बन जाता है। इस प्रकार इस विचारधारा के समर्थकों ने व्यक्ति के वास्तविक अधिकारों को उसके प्राकृतिक अधिकारों पर आश्रित नहीं माना वरन् उस लक्ष्य को महत्व दिया जिसे प्राप्त करने के लिए ये अधिकार प्रयत्नशील रहते हैं। जब प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत ने स्थित अधिकारों का औचित्य प्राकृतिक अधिकारों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया तो वे इस प्रश्न का जवाब न दे सके कि प्राकृतिक अधिकारों को क्यों मान्यता प्रदान की

जाये। उपयोगितावादी सिद्धांत में यह बात न थी। उन्होंने अधिकारों की सामाजिक मान्यता का आधार उपयोगिता को बताया। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धात में यह जानना वाछनीय है कि कुछ शक्तियों को ऐसी शक्तियां क्यों माना गया जिनको प्रयुक्त किया जाना चाहिए तथा इनको प्राकृतिक अधिकार क्यों बना दिया गया।

ग्रीन के विचार

प्रसिद्ध आदर्शवादी विचारक टी. एच. ग्रीन ने राजनैतिक दायित्व की प्रकृति के सम्बन्ध मे गहन विचार किया है। उनके मतानुसार इस सिद्धांत के अन्तर्गत सम्प्रभु के प्रति प्रजा के दायित्व, राज्य के प्रति नागरिकों के दायित्व तथा व्यक्तियों के एक दूसरे के प्रति दायित्व को सम्मिलित किया जा सकता है। मि० ग्रीन ने कानून या अधिकारों और दायित्वो के नैतिक कार्यों एवं लक्ष्यों पर विचार किया है और ऐसा करते समय कानून के प्रति आज्ञाकारिता के सच्चे आधार अथवा औचित्य को खोजने का प्रयास किया है। उन्होंने पहले कानून के सच्चे कार्यों की रूपरेखा प्रस्तुत की है तथा उसके पालन करने के नैतिक कर्त्तव्यों का आधार प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने विश्लेषण के दौरान नैतिक कर्त्तव्यों को वैधानिक दायित्व से अलग रखा है। उन्होंने राजनैतिक दायित्व के उन प्रमुख सिद्धान्तो की परीक्षा की है जो कि तत्कालीन यूरोप में प्रचलित थे। इन सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए मि० ग्रीन ने उस सिद्धान्त की व्याख्या की है जिसे वे श्रेष्ठ समझते हैं। उन्होंने सभ्य राज्यों में प्रभावी मुख्य अधिकारों एवं दायित्वो पर विस्तार के साथ विचार किया है। ऐसा करते समय उन्होंने यह देखा है कि इन अधिकारों एवं दायित्वो का औचित्य है और उनका आदर किस आधार पर किया जाता है।

मि० ग्रीन ने सर्वोच्च नैतिक स्वरूप 'चरित्र की विशेषता' को माना है। उनके अनुसार जो कार्य केवल शुभ की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं और किसी प्रकार के सुख अथवा इच्छाओं की सन्तुष्टि के लिए नहीं किये जाते वे ही श्रेष्ठ है। व्यावहारिक दृष्टि से यह भी उपयुक्त है कि स्वार्थ पर आधारित पूर्व नैतिकता को कार्यो का आधार बताया जाए। यदि ऐसा नही किया गया तो आदर्श एक रीता सपना बन जायेगा। कोई भी शुभ कार्य केवल उसके शुभ लक्षण के लिए नही किया जा सकता। दूसरी ओर शुभ में किसी प्रकार का स्वार्थ होना भी मुश्किल है क्योकि कोई भी स्वार्थ प्रायः बिना उद्देश्य के नहीं होता। नैतिक स्वार्थ सामान्य रूप से आचरण के मान्य नियमों पर आधारित होते है। नैतिक जीवन की स्थापना के लिए इच्छा और बुद्धि दोनों का होना आवश्यक है। इच्छा मनुष्य की वह सामर्थ्य है जो कि उसके स्वयं के सम्भव सन्तोष के विचार से उत्पन्न होती है।

इच्छापूर्ण कार्य एक निर्धारित कार्य होता है। एक विशेष लक्ष्य को ध्यान में रखकर व्यक्ति अपनी सामर्थ्य को इच्छा के रूप में निर्धारित करता है ताकि उसे आत्मसन्तोष प्राप्त हो सके। जब एक विशेष प्रकार का सन्तोष आदत का भाग बन जाता है तो उसी को व्यक्ति का चरित्र कहने लगते हैं। बुद्धि नैतिकता का आधार है। प्रायः सभी नैतिक विचारों का जन्म बुद्धि से होता है। व्यक्ति के नागरिक जीवन की सभी संस्थाएं इच्छा और बुद्धि की क्षमताओं को वास्तविकता देने के प्रयास हैं। ये उनको यथार्थ मे प्रयुक्त होने के योग्य बनाती हैं। इनका सामान्य प्रभाव यह होता है कि वे व्यक्ति को सम्भावित आत्म सन्तोष का विचार प्रस्तुत करती हैं। बाहरी शक्तियों की सहायता से वे व्यक्ति की उस क्षमता को वास्तविकता देती हैं जिसे इच्छा या संकल्प कहा जाता है।

इस स्थिति को प्रकृति का कानून कहा जाता है। प्रकृति के कानून के स्वरूप और यहां तक कि उसके अस्तित्व के बारे में भी पर्याप्त मतभेद है। ग्रीन के अनुसार इस सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न यह है कि उन अधिकारों एवं दायित्वों को जो कि कहीं पर कानून द्वारा वास्तव में प्रभावी हैं उन अधिकारों एवं दायित्वों से पृथक किया जाता है जो कि वास्तव में अस्तित्व तो रखते हैं किन्तु प्रभावी नहीं किये जा सकते। दूसरे, यदि इस प्रकार का अन्तर किया भी जावे तो उन अधिकारों एवं दायित्वों का क्या मापदण्ड होगा जो कि वास्तव में उचित हैं और उन्हें उनसे किस प्रकार भिन्न किया जायेगा जो कि वास्तव में लागू किये जाते हैं।

सम्भवतः कोई भी विचारक इस बात में विश्वास नहीं करता कि अधिकारों और दायित्वों की प्रचलित व्यवस्था वही है जो कि होनी चाहिए। यहां तक कि स्वयं हॉब्स ने भी यह विचार प्रकट किया था कि यद्यपि एक कानून अन्यायपूर्ण नहीं हो सकता किन्तु फिर भी वह कुछ दूषित हो सकता है। प्राकृतिक अधिकारों और दायित्वों की मान्यता के प्रति अनेक आपत्तियां की जाती हैं। इस पद की कई बार गलत व्याख्या भी की जाती है। कुछ लोग यह कहते हैं कि अधिकार एवं दायित्व प्राकृतिक अवस्था में भी कायम रह सकते हैं जिस अवस्था में व्यक्ति कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र था। इस प्रकार का सिद्धान्त सामान्यतः स्वीकार्य नहीं है; किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं समझना चाहिए कि ऐसा कोई सच्चा एवं महत्वपूर्ण अर्थ नहीं है जिसमें कि प्राकृतिक अधिकार और दायित्व न रह सकें। मि० ग्रीन के मतानुसार कुछ अधिकार एवं दायित्व ऐसे होते हैं जिनको कानून के द्वारा स्थापित किया जाना चाहिए। यह दूसरी बात है कि उनको स्थापित किया जाता है या नहीं किया जाता है तो वे इसी अर्थ में प्राकृतिक हैं

व्यक्ति स्वाभाविक कानून की चाहे किसी भी व्यवस्था को स्वीकार करे उसके ऊपर कुछ दायित्व आ जाते है और इन दायित्वों का निर्वाह उसे करना होता है। व्यक्ति इनका निर्वाह प्रायः स्वेच्छा से नही कर पाता ऐसी स्थिति में उसके ऊपर अनेक वाह्य एव आन्तरिक दवाव कायम किये जाते है । ये दवाव एक प्रकार से वे परिस्थितिया होती हैं जिनके द्वारा दायित्वों को व्यावहारिक महत्व प्रदान किया जाता है। मि० ग्रीन ने वैधानिक दायित्वो का वर्णन किया है। उनके अनुसार वैधानिक दायित्व वे होते है जिनको विधेयात्मक कानून का विषय बनाया जा सके। इन दायित्वों के द्वारा कुछ कार्यों को करने की या उनको करने से रोकने की बात कही जाती है। ये कुछ उद्देश्यों से कर्त्तव्य-पालन की आवश्यकता पर जोर नहीं देते। ऐसे दायित्वों में इस प्रश्न पर विचार नही किया जाता कि कानून को वाहरी कार्यों के अतिरिक्त भी कुछ कार्यों से सम्बन्ध रखना चाहिए या नही। इस विधेयात्मक कानून के पास अपने दायित्वों को लागू कराने के जो साधन होते हैं उनमे पहला यह है कि कष्ट देने की धमकी दी जाए अथवा इनाम देने का प्रस्ताव किया जाए। इस साधन से कुछ कार्यों को सम्पन्न कराया जाता है। दूसरा साधन शारीरिक शक्ति का प्रयोग है। जो लोग दायित्वों का उल्लघन करते है उनको रोकने के लिए जेल की सजा दी जाती है। इसके अतिरिक्त उनसे जबरदस्ती श्रम लिया जा सकता है या उनकी सम्पत्ति छीनी जा सकती है ।

वैधानिक दायित्व के क्षेत्र मे केवल बाहरी क्रियाएं ही आती है । ये क्रियायें प्रायः वे होती है जो कि नैतिक उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए संचालित की जाती है। कानूनी दबावो के द्वारा जो अधिकार वास्तव में स्थापित किये जाते हैं और जिन दायित्वो को वास्तव मे लागू किया जाता है वे उन दायित्वों की व्यवस्था से भिन्न होने है जिनको स्थापित किया जाना चाहिए ।

मि० ग्रीन के मतानुसार राजनैतिक दायित्वों का आधार प्रारम्भ मे प्राकृतिक कानून को माना गया और उसके बाद इसके स्थान पर उपयोगितावादी विचारधारा को प्रस्तुत किया गया। मि० ग्रीन ने राजनैतिक दायित्व की व्याख्या करते समय स्पीनोजा (Spinoza), हॉब्स (Hobbes), लॉक (Locke), रूसो (Roussae) आदि विचारकों के मतों का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार इन सभी की राजनैतिक विचारधाराएं विचारणीय प्रश्न को एक ही प्रकार से सामने रखती है। उनकी त्रुटियां बहुत कुछ उनके प्रस्तुत करने के तरीके मे निहित है। इनमे समाज के विकास और समाज के माध्यम से मनुष्य के विकास पर ध्यान नही दिया गया है। उन्होने केवल

उसी समाज को अपने अध्ययन का विषय बनाया है जो कि सर्वोच्च बाध्यकारी शक्ति से विनियमित होता है। उन्होंने उस प्रक्रिया की ओर से आँखें मूँद ली है जिसके द्वारा व्यक्ति अधिकारों और कर्त्तव्यों से सम्पन्न बनता है तथा उन अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की अनुभूति प्राप्त करता है जो कि न तो प्राकृतिक हैं और न ही सम्प्रभुता शक्ति द्वारा प्रदान किये गए हैं। उन्होंने एक ओर तो सर्वोच्च बाध्यकारी शक्ति को लिया है और दूसरी ओर प्राकृतिक अधिकारों से युक्त व्यक्ति को तथा यह जानने का प्रयास किया है कि उस सर्वोच्च बाध्यकारी शक्ति के अधिकारों की प्रकृति क्या है तथा उसका जन्म कैसे हुआ और व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों से उनका क्या सम्बन्ध है। इन विचारकों द्वारा राजनैतिक दायित्व के लिए जो आधार प्रस्तुत किये गए वे सन्तोषजनक होने से बहुत दूर थे। इन्होंने राजनैतिक समाज में व्यक्ति के आचरण को नियमित करने वाली शक्ति के अमूर्त रूप का वर्णन किया तथा उसके विरुद्ध व्यक्ति के केवल नैतिक अधिकारों एवं मानवीय आवश्यकताओं का उल्लेख किया। इनके द्वारा व्यक्ति के उन सामान्य हितों एवं लक्ष्यों की अवहेलना की गयी जो कि समाज के वास्तविक आधार होते हैं और जिनके कारण राजनैतिक शक्ति का पालन किया जाता है।

मि० ग्रीन का कहना है कि जब कोई यह प्रश्न करता है कि मुझे राज्य की शक्ति के सामने क्यों झुकना चाहिए तो इसका अर्थ एक प्रकार से यह होता है कि मुझे उन विभिन्न संस्थाओं द्वारा अपने जीवन को क्यों विनियमित करना चाहिये जिनके बिना मेरे पास अपना कहने के लिए जीवन भी नहीं होगा और न ही अपने किसी कार्य के लिए औचित्य प्राप्त हो सकेगा। व्यक्ति जीवन को अपना केवल तभी कह सकता है जब कि वह स्वयं के बारे में और स्वयं के लक्ष्यों के बारे में सजग होने के अतिरिक्त कार्य करने की अपनी स्वतन्त्रता की सीमाओं के बारे में परिचित हो। इसके बिना व्यक्ति का अपना जीवन कुछ उद्देश्यहीन सा बन जायेगा।

अन्य विद्वानों के विचार

राजनैतिक दायित्व का अध्ययन करते समय अध्ययनकर्ता के सम्मुख विभिन्न प्रश्न आते हैं, उदाहरण के लिए, व्यक्ति को कानून का पालन क्यों करना चाहिए; उसे सर्वोच्च सत्ता के निर्णयों का पालन क्यों करना चाहिए तथा यदि वह ऐसा न करे तो क्या हो जायेगा। राजनीति शास्त्र के पण्डितों ने दायित्वों से सम्बन्धित इन विभिन्न प्रश्नों पर विस्तार के साथ अध्ययन किया है और अपने दृष्टिकोण के अनुसार अलग-अलग समाधान प्रस्तुत किये है। इनमें से कुछ समाधान तो केवल विशेष कानूनों पर ही लागू होते है न कि

सामान्य कानूनों पर, जबकि कुछ का सम्बन्ध सामान्य कानूनों के साथ है न कि विशेष कानूनों के साथ। कई बार इन प्रश्नों के विभिन्न उत्तर एक ही साथ दे दिये जाते हैं और कभी–कभी दिये गए विभिन्न उत्तरों मे एक दूसरे की छाया दिखाई देती है।

मि० जे०आर०ल्यूकस (J.R. Lucas) ने इन विभिन्न उत्तरो को एक सारिणी में वर्गीकृत किया है। उनके अनुसार व्यक्ति जिन कारणों से राज्य के कानूनों का पालन करता है उनमे पहला दबाव का भय एव अन्य परिणामो का भय है। दबाव दमनकारी भी हो सकता है और गैर-दमनकारी भी। दमनकारी दबाव में कारावास का नाम लिया जा सकता है और गैर दमनकारी दबाव में रोजगार छीने जाने के भय का उल्लेख किया जाता है। अन्य जिन परिणामों के भय से कानून का पालन किया जाता है उनमें एक यह है कि कही कानून और व्यवस्था सामान्य रूप से समाप्त न हो जाए। दूसरे, व्यक्ति कानून का पालन इसलिए करता है क्योकि कानून के रूप मे लिये गए विशेष निर्णय इस प्रकार के है जिनके मूल रूप के सम्बन्ध मे व्यक्ति हमेशा सहमत रहा है अथवा वह यदि विचार करे तो सहमत हो जायेगा। तीसरे, कानून का रूप कुछ इस प्रकार का है जिसके सम्बन्ध मे व्यक्ति की पूर्ण सहमति है। व्यक्ति इस निर्णय के परिणामो को सहन करने के लिए तैयार है। चौथे, कानून के निर्णय को व्यक्ति इसलिए भी स्वीकार करता है क्योंकि जिस समय उसे लेने के लिए विचार-विमर्श और तर्क किये जा रहे थे, उस समय उसने उसे स्वीकार किया था। ऐसा करने पर वह निर्णय स्वय उसका ही बन जाता है। पाचवें, व्यक्ति उस समय भी कानून को स्वीकृति प्रदान कर सकता है जबकि विचार-विमर्श एवं तर्क प्रदान करते समय वह स्वयं भी भागीदार बनता है। वह निर्णय के औचित्य से चाहे प्रभावित न हो, किन्तु फिर भी वह उसे मान्यता देता है। छठे, कानून के निर्णय को मानने का एक आधार यह हो सकता है कि वह निर्णय एक ऐसे समाज का निर्णय है जिसका कि वह व्यक्ति स्वय एक सदस्य है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के सामने केवल दो ही विकल्प रह जाते हैं—या तो वह उस निर्णय के साथ चले अथवा अपने आपको अकेला बनाले। दूसरा विकल्प कुछ इस प्रकार का है जिसे हर व्यक्ति न तो स्वीकार करता है और न ही करना अपेक्षित मानता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कानून की आज्ञा का पालन करने से सम्बन्धित समस्या का कोई एक समाधान नही है, इसका कोई भी एक ऐसा उत्तर नहीं दिया जा सकता जो कि प्रत्येक दृष्टि से प्रभाव पूर्ण हो। इस प्रश्न को हल करते समय प्रश्न कर्त्ताओं की परिस्थितिया एवं मानसिक रूप रचना भिन्न-भिन्न होती हैं। ऐसी स्थिति में इसका उत्तर भी प्रश्न कर्त्ता की स्थिति और

मानसिक रूपरचना पर निर्भर करेगा। राजनैतिक विचारकों ने मानव प्रकृति के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है किन्तु उन्होंने उसे अलग-अलग रूपों में देखा। यही कारण है कि उन्होंने राजनैतिक आज्ञाकारिता के लिए विभिन्न लक्ष्यों को प्रमुख माना। उपर्युक्त उत्तरों के संदर्भ में हम विभिन्न राजनैतिक विचारकों के मतों पर विचार कर सकते हैं। यदि हम थामस हॉब्स को लें तो पायेंगे कि उन्होंने अराजकता और दमन के भय पर अपने राजनैतिक विचारों को आधारित किया था। उन्होंने व्यक्ति को यह उपदेश दिया कि उसे राज्य के कानून और इच्छा के सामने पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना चाहिए। यदि ऐसा न किया गया तो वही अराजकता एवं अव्यवस्था कायम हो जायेगी जिसमें व्यक्ति का जीवन गर्हित, अल्प, निरीह एवं जगली था और प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध युद्ध की स्थिति में था।

इस प्रकार हॉब्स ने प्रथम उत्तर को सही मान कर उसको अपना समर्थन प्रदान किया। मध्य युग में प्राकृतिक कानून से सम्बन्धित जिन सिद्धान्तों का प्रचलन था वे पहले को छोड़कर सभी उत्तरों को अपनी मान्यता तथा समर्थन प्रदान करते थे। उन्होंने दूसरे उत्तर को इसलिए मान्यता प्रदान की क्योंकि लिया गया विशेष निर्णय इस प्रकार का था जिसके मूल रूप के बारे में व्यक्ति सहमत था और इसीलिए वह कानून का पालन करने के लिए राजी हुआ। विचारकों ने प्राकृतिक कानून को व्यक्ति की अन्तरात्मा की अनुभूति मान कर इस मत का समर्थन किया। प्राकृतिक कानून से सम्बन्धित विचारकों ने दूसरे उत्तर का भी समर्थन किया। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने प्रायः इसी उत्तर का समर्थन किया था। उनके मतानुसार व्यक्ति किये गये समझौते से सहमत था और इसलिए उसे राज्य के कानून का पालन करना चाहिए। इन विचारकों ने चौथे उत्तर का भी समर्थन किया। रूसो ने सामान्य इच्छा का जो विचार प्रतिपादित किया उसके पीछे यह धारणा थी कि व्यक्ति को इसका पालन इसलिए करना चाहिये क्योंकि निर्णय लेते समय वाद-विवाद और तर्क प्रक्रिया में व्यक्ति ने भाग लिया था। जो लोग संसदात्मक सरकार का समर्थन करते हैं उनके अनुसार कानून की आज्ञा का पालन व्यक्ति को इसलिए करना चाहिए क्योंकि सम्बन्धित निर्णय लेते समय व्यक्ति को पूछा गया था। हीगल तथा अन्य आदर्शवादियों ने जो कुछ भी कहा उससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वे अन्तिम उत्तर में विश्वास करते थे। उनके दृष्टिकोण के अनुसार राज्य का कानून एक ऐसे समाज का कानून है जिसका कि व्यक्ति स्वयं भी भाग है और इसलिए उसे उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विचारकों ने कानून की आज्ञा-पालन के सम्बन्ध में अपने अलग-अलग विचार प्रकट किए । हॉब्स ने कहा कि उसे मानो वरना अराजकता की स्थिति में चले जाओगे । मध्य कालीन दार्शनिकों ने कहा कि इसे मानो क्योंकि नैतिक दृष्टि से तुम्हें इसे मानना चाहिए । सामाजिक समझौते के विचारकों ने कहा कि तुम्हें कानून की आज्ञा का पालन इसलिए करना चाहिए क्योंकि तुमने ऐसा करने का वायदा किया है । रूसो ने कहा—आज्ञा पालन करो, क्योंकि यही तुम वास्तव में चाहते हो । बर्क का कहना था कि इसके बनाने में तुमने अपनी राय प्रकट की थी इसलिए इसका पालन करो । हीगल का कहना था कि इसकी आज्ञा का पालन करो क्योंकि यह वास्तव में तुम्हारी ही तो है—यदि तुमने इसका उल्लंघन किया तो तुम अपने आपका विरोध करोगे ।

राजनैतिक विचारकों ने राज्य के प्रति व्यक्ति के दायित्व का बड़े ही विचारपूर्ण तरीके से उल्लेख किया । उन्होंने राजनैतिक आज्ञाकारिता के व्यक्ति के दायित्व को अपने रूप में न्यायोचित ठहराया है । ऐसा करते समय उन्होंने राज्य की सत्ता पर भी कुछ सीमायें लगाई है, उदाहरण के लिए हाब्स का कहना है कि राज्य यदि सुरक्षा प्रदान न करे तो व्यक्ति राजनैतिक दायित्व से मुक्त हो जाता है । अन्य कुछ विचारकों ने राज्य की सत्ता एवं व्यक्ति के दायित्वों पर कोई सीमा नहीं लगायी । रूसो की सामान्य इच्छा और हीगल के विचार राज्य की सर्वोच्चता प्रदान करते है ।

प्रथम उत्तर के अनुसार दबावों का भय तथा अन्य परिणामों का भय एवं शारीरिक शक्ति का प्रयोग विशेष रूप से प्रभावशील औचित्य थे । किन्तु कुछ कारणों से उनको निन्दा का पात्र बनाया गया क्योंकि उनकी प्रभावशीलता में पशुता की निशानियां अधिक थी । उनके द्वारा दमन या दबाव का प्रयोग किया जा सकता था किन्तु वे समझा नहीं सकते थे । वे प्रायः ऐसे व्यक्ति के लिए निर्धारित किये गये जो कि एक बुद्धिपूर्ण पशु था, उन्होंने व्यक्ति को एक बौद्धिक एजेन्ट नहीं माना । जहां इन दबावों की आवश्यकता थी ऐसे अपराधियों एवं बुरे लोगों के सम्बन्ध में वे प्रायः प्रभावहीन रहे । जहां उनका प्रभाव होता था उन सन्तों एवं सत्पुरुषों में इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती थी । आलोचकों का कहना है कि जब हम दमन का प्रयोग करते है या दबावों को लागू करते हैं तो एक प्रकार से मनुष्य के सम्बन्ध में हीनतापूर्ण दृष्टिकोण ही नहीं अपनाते वरन् लोगों को यह भरोसा दिला देते है कि वे वैसे ही हैं । शक्ति का प्रयोग प्रायः जंगलीपन से किया जाता है । इसलिए जहां कहीं भी सम्भव हो सके, ताकत और दमन के साधनों को दूर रखना चाहिये और जहां कहीं कानून को लागू रखना

हो वहां उसे प्रत्यक्ष रूप से न कर के अप्रत्यक्ष रूप से किया जाए। यदि व्यक्ति को पशुता से ऊपर उठाना है तो उसे यह बताना होगा कि कानून जो कुछ भी कहता है उसे वह व्यक्ति डर के कारण नहीं वरन् अन्य किसी कारण से मान्यता दे। यदि व्यक्ति को इतना स्वार्थी या अबुद्धिपूर्ण मान लिया जाए कि वह कानून का पालन दबाव या दमन के साधनों के अलावा अन्य किसी साधन से न कर सके तो इन साधनों को न्यायोचित बताया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि ताकत का प्रयोग केवल राज्य ही कर सकता है, उसी के द्वारा दमनकारी दबाव प्रयुक्त किये जा सकते हैं, किन्तु अन्य दबावों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। ये अन्य संस्थाओं द्वारा भी प्रयुक्त किए जाते हैं। अन्य व्यक्ति और समुदाय आवश्यक रूप से इन दबावों को काम में लाते हैं। प्रत्येक उदाहरण में इन दबावों का प्रयोग एक ही समस्या उठाता है और वह यह है कि यद्यपि ये प्रभावशील तो होते हैं किन्तु उनको न्यायोचित सिद्ध करने के लिए अन्य आधारों की आवश्यकता होगी। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति यह अनुभव करे कि कानून उसके दीर्घकालीन हित के अनुरूप हैं अर्थात् यदि उसने इसका उल्लंघन किया तो परम्परा बन जायेगी और इस परम्परा के बनने पर उसे जो असुविधा होगी वह इस कानून के पालन करने से उत्पन्न असुविधा से कई गुना अधिक होगी। यही कारण है कि वह उसका पालन करता है।

इस सम्बन्ध में सजग स्वार्थ (Enlightened Self Interest) का होना परम आवश्यक है। हो सकता है कि एक मोटर चलाने वाला व्यक्ति इस बात में सुविधा का अनुभव करे कि उसे अपनी मोटर की रोशनी नहीं जलानी चाहिए क्योंकि वह ऐसा किये बिना भी चला सकता है। जब उसका यह व्यवहार अन्य लोगों द्वारा अपना लिया जायेगा और सभी बिना अपनी रोशनी जलाए मोटर चलाने लगेंगे तो निश्चय ही दुर्घटनायें होंगी और अव्यवस्था फैल जायेगी। इस प्रकार यह मोटर-चालक के आत्महित में है कि वह अपनी रोशनी जलाए। जब एक व्यक्ति समाज के एक सदस्य के रूप में यह अनुभव करे कि समाज का हित उसका अपना हित है तो वह स्वेच्छा से अपने दायित्वों का पालन करेगा। कई बार व्यक्ति अपने आदर्शों नैतिक सिद्ध करने में असमर्थ है और ऐसी स्थिति में वह निःस्वार्थ आदर्शों की अपेक्षा बुद्धि पूर्ण आत्म-हित को अधिक उपयुक्त समझता है। इसके का अर्थ यह है कि व्यक्ति के कार्यों के उद्देश्य स्पष्ट रूप से स्वार्थपूर्ण होते हुए भी वह उसे नैतिक बना सकता है अर्थात् कई बार नैतिक उद्देश्यों को शुद्ध रूप से आत्म-हित के आधार पर कि

जाता है। ऐसी स्थिति में राजनैतिक दार्शनिक का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति के वास्तविक उद्देश्यों का अध्ययन करे।

दूसरे, तीसरे, चौथे, पाचवें और छटे उत्तरों में जो प्रेरक बताया गया है वह कम प्रभावशाली होते हुए भी अधिक बुद्धि पूर्ण है। व्यक्ति बुद्धि के सहारे प्रायः कम कार्य करता है उसका अधिकतर व्यवहार भावनाओं से सचालित होता है। इसलिए ये बुद्धि पूर्ण प्रेरक निश्चय ही कम प्रभावशाली रहेंगे जबकि दबाओं की धमकी उस पर जल्दी से प्रभावशील हो सकती है। राज्य की आज्ञाकारिता की समस्या को अन्य स्वेच्छापूर्ण संस्थाओं की आज्ञाकारिता की समस्या से नही मिलाया जा सकता। स्वेच्छाचारी सस्थायें अपने सदस्यों को अपने निर्णय मानने के लिए बाध्य नही कर सकती। यदि ये सदस्य उन्हें मान्यता देते है तो केवल इसलिए क्योंकि वे उन्हें अच्छा समझते है। मनुष्य की प्रकृति है कि वह कुछ विचारो से सहमति रखना चाहता है यदि ऐसा न हो तो समाज का अस्तित्व ही असम्भव बन जायेगा।

व्यक्ति की एक दूसरी प्रकृति यह है कि वह यदि एकाएक ही किसी बात से सहमत न हो तो तर्क के बाद उससे सहमत हो जाता है। तर्क के बाद यदि व्यक्ति अपनी सहमति प्रदान न कर सके तो भी वह उस निर्णय का पालन करता है। वाद विवाद और तर्क के समय जो विचार भिन्नता होती है उसको कम करने के लिए बौद्धिक उदारता एव निस्वार्थ भावना परमावश्यक है। इसके न होने पर प्रायः प्रत्येक विचार विमर्श कर्त्ता यह चाहेगा कि उसी की इच्छा को प्राथमिकता प्रदान की जाए; और इस प्रकार होने वाला वाद-विवाद पर्याप्त कटु बन जायेगा। उसमे मीठे व बुद्धि पूर्ण तर्कों के स्थान पर शत्रुतापूर्ण बौद्धिक कारण प्रदान किये जायेगे। रूसो ने इसी आधार पर सभी की इच्छा और सामान्य इच्छा के बीच भेद किया था। सभी की इच्छायें ऐसी इच्छायें होती है जो कि लोगों मे स्वार्थ के आधार पर बनाई जाती है तथा उनको बुद्धि और तर्क के द्वारा संशोधित नही किया जाता। इसके विपरीत सामान्य इच्छा मूल रूप से बुद्धि पूर्ण, निस्वार्थ और नैतिक होती है। यह अन्तर कुछ महत्व रखते हुए भी सदैव प्रभावशील नही रहता।

विचारको का कहना है कि जब एक व्यक्ति उस वाद-विवाद या विचार विमर्श मे भाग लेता है जिसमे कि कुछ निर्णय लिये गये तो वह उन निर्णयों को मानने के लिए बाध्य क्यों है? यह हो सकता है कि व्यक्ति जो प्रारम्भ मे किसी बात से सहमत न था बाद में तर्कों के आधार पर उस बात को मान ले। किन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि तर्कों का अन्त कभी भी सहमति में नही होता। कोई व्यक्ति चाहे कितनी ही कोशिश करे कि समस्त सम्बन्धित

सूचना एकत्रित कर ली जाए किन्तु फिर भी मतभेद रहते है और रहेंगे। कुछ विचारक दायित्व को आवश्यक नहीं मानते। उनका कहना है कि व्यक्ति बिना किसी दायित्व को माने भी समाज में जिन्दा रह सकता है। इसके लिए उसको समस्त समाज को अपनी इच्छा का दास बनाना होगा। अन्य लोग उसके साथी नही होंगे वरन् दास बन जायेंगे। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति बिना दायित्व के कभी भी एक समाज का सदस्य नही बन सकता है वरन् वह एक बिना दायित्व के केवल एक तानाशाह ही बन सकता है। कोई भी तानाशाह असल मे सामाजिक जीवन का एक भाग नही होता वरन् वह सामाजिक लेन-देन के व्यवहार से अलग रहता है। वह समाज से केवल लेता है और देता कुछ भी नही है। वह आत्म-निर्भर तानाशाह बन जाना तो सम्भव है किन्तु सामाजिक अस्तित्व के साथ उसका समायोजन करना अत्यन्त कठिन है। ज्योंही व्यक्ति अपने आपको एक सामाजिक प्राणी घोषित करता है तथा सामाजिक जीवन व्यतीत करता है त्योंहि वह अपनी इच्छा की सर्वोच्चता को त्याग देता है। व्यक्ति को या तो किसी दायित्व को स्वीकार कर लेना चाहिए अथवा बिना किसी सम्बन्ध वाले व्यक्ति के रूप में एकान्त का जीवन व्यतीत करना चाहिये।

प्रतिरोधों की समस्या
(Problem of Resistence)

राजनीतिक दायित्व के प्रसंग मे प्रतिरोध की समस्या पर यत्र-तत्र उल्लेख किया गया है। वास्तव मे यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या नागरिकों को हर सूरत मे राज्य की प्रत्येक आज्ञा का अनुपालन करना चाहिये, चाहे वह आज्ञा उचित हो या अनुचित, समाज के लिए लाभदायक हो या हानिप्रद, नैतिकता को प्रोत्साहन देने वाली हो या अनैतिकता की अभिवृद्धि करने वाली हो। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध राजनैतिक लास्की का मत है कि राज्य के विषय मे निर्णय सामर्थ्य की नैतिक परीक्षा द्वारा होना चाहिए। उन्ही के शब्दो मे "यदि मुझे ऐसा प्रतीत हो कि इसकी शक्ति इसकी प्रकृति मे उपलक्षित लक्ष्यों के लिए प्रेरित नही की जा रही है, अपितु असम्बद्ध लक्ष्यों के लिए प्रयुक्त हो रही है तो इस भावना का नागरिक परिणाम प्रतिरोध करने का कर्तव्य होगा।"

वस्तुतः विवेकशील नागरिकों का यह नैतिक कर्तव्य है कि वे राज्य के उन कानूनों और कार्यों का प्रतिरोध करें जो अन्यायपूर्ण हो तथा व्यक्ति और समाज को पीड़ा पहुंचाने वाले हो। यदि राज्य के नियम सामाजिक प्रवृत्तियों के लिए युक्ति युक्त सतोष का प्रबन्ध नहीं करते तो नागरिकों का यह प्रयास अनुचित न होगा कि वे उन राजकीय नियमों को हटाने के लिए सभी वैधानिक और संवैधानिक साधनों का प्रयोग करें। विद्वानों का बहुमत यह स्वीकार

करता है कि यदि संवैधानिक प्रतिरोध का कोई फल न निकले तो नागरिकों के लिए यह अवांछित न होगा कि वे राज्य के कानूनों को तोड़कर सरकार का प्रतिरोध करने की दिशा में अन्तिम कदम उठायें। इस प्रसंग में श्री निवासन शास्त्री के ये शब्द उल्लेखनीय है कि "प्रतिरोध करने के अधिकार को किसी के द्वारा ललकारने की आवश्यकता नही है, क्योंकि राज्य के प्रति प्रतिरोध प्रकट करना कभी कभी अधिकार बन जाता है और तत्काल ही वह कर्तव्य भी बन जाता है। कोई भी व्यक्ति जो नागरिकता और सार्वजनिक कल्याण की परवाह करता है, प्रत्येक नागरिक के इस अन्तिम परमावधि में अपने लिए निर्णय करने के अधिकार को सदेह की दृष्टि से नही देख सकता। जब उसने अपनी लड़ाई लड ली और वह एक सार्वजनिक अन्याय की वस्तु को हटाने मे असफल हो गया और जब वह अन्तःकरण मे यह अनुभव करता है कि वह उसको स्वीकृति प्रदान नहीं कर सकता तो फिर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उसे प्रतिरोध करने से रोके बशर्ते कि वह सोचता है कि उसके लिए प्रतिरोध करना आवश्यक है।"

व्यक्ति राज्य का गुलाम नही है वरन् राज्य के मामलों में एक सक्रिय भागीदार है। उसके लिए यह सर्वथा वांछित है कि वह अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति सदैव जागरूक रहे। यदि राज्य इतना निरंकुश व्यवहार करता है कि नागरिको के समुचित अधिकारों पर अंकुश लग जाता है और समाज में अन्याय, प्रताड़ना व अमानवीय व्यवहार को प्रोत्साहन मिलता है तो नागरिको के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने अधिकारो की रक्षा के लिए अन्यायपूर्ण राजकीय कानूनों का प्रतिरोध करें। "कानूनों और राज्य की सत्ता का प्रतिरोध नागरिको के वैध कर्तव्यों और उनके अन्तःकरण के बीच का झगड़ा है।"

आधुनिक युग के सभी विवेकशील और राजनीति शास्त्र के पंडितों ने इस बात से सहमति प्रकट की है कि नागरिकों को प्रतिरोध करने का अधिकार है, बशर्ते कि वह प्रतिरोध सही दिशा में हो। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने प्रतिरोध के लिए सत्याग्रह की अनोखी विधि का विकास किया था जो आज अपना महत्व सिद्ध कर चुकी है। महात्मा गांधी का कहना था कि मनुष्य और समाज को नीति प्रिय बनना चाहिए। नैतिक मनुष्य एवं नैतिक समाज का अस्तित्व तभी संभव है जब हम अत्याचार के सामने सिर न झुकाएं, चाहे वह अत्याचार राज्य की तरफ से किया जा रहा हो या व्यक्ति की तरफ से। गांधीजी ने कहा कि सत्य और अहिंसा के संगठन द्वारा हम दुष्टता और अन्याय का प्रतिरोध कर सकते हैं। उन्होंने सत्याग्रह पर

बल दिया। वस्तुतः "प्रतिरोध की प्रविधि की दिशा में महात्मा गांधी की सत्याग्रह की विधि एक अद्वितीय देन थी।" महात्मा गांधी ने प्रतिरोध के सत्याग्रह के अस्त्र का दक्षिण अफ्रीका में और तत्पश्चात् भारत के स्वाधीनता संग्राम में सफल प्रयोग किया।

राज्य के प्रतिरोध के सम्बन्ध में हमें यह सदैव ध्यान रखना चाहिये कि हम अनावश्यक ही जानबूझकर प्रतिरोध का मार्ग न अपनाएं। प्रतिरोध करने का निर्णय बहुत सावधानी, गभीरता और विश्वास के साथ लिया जाना चाहिए। प्रतिरोध करने से पूर्व भलि प्रकार यह मूल्यांकन कर लेना चाहिए कि जिस कानून का प्रतिरोध किया जा रहा है वह वास्तव में समाज के लिए अनैतिक और हानिकारक है। प्रतिरोध का आश्रय कायरतापूर्ण भावना से नही लेना चाहिए। प्रतिरोध एक साहसिक कार्य है जिसका आरम्भ सफलता में विश्वास के साथ किया जाना चाहिए। इस बात की ओर संकेत करते हुए ही मक्न (Maccunn) ने लिखा है—"कायरता का नही, विवेकशुद्धि का समर्थन करो क्योंकि सफलता की युक्ति-संगत आशा के बिना प्रतिरोध एक राजनैतिक भूल और सार्वजनिक विनाश है, भले ही उस प्रतिरोध ने बड़े ऊंचे दर्जे की व्यक्तिगत वीरता की गाथा निहित हो।" पुनश्च, प्रतिरोध का निर्णय हमें सर्वोच्च राजनीतिक बुद्धिमता के आधार पर करना चाहिये। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि प्रभावशाली प्रतिरोध सरकार की जड़ों को हिलाकर राज्य को अस्त-व्यस्त कर सकता है। अतः प्रतिरोध केवल प्रतिरोध का भावना से न किया जाकर यह देखते हुए करना चाहिए कि क्या राज्य के कानून वास्तव मे अन्यायप्रद और पीड़ाप्रद हैं। प्रतिरोध के सोपानों में क्रमश विस्तार होना चाहिए। पहले पहल प्रतिरोध का स्वरूप संवैधानिक और वैध होना चाहिए। यदि सरकार समस्त संवैधानिक और प्रतिरोधो को ठुकरा दे तथा जनता की इच्छा की निरंकुशता पूर्वक अवहेलना करदे तभी प्रतिरोध के अंतिम उपायो का आश्रय लेना वांछित है।

सारांश यह है कि नागरिकों को राज्य के कानूनों के प्रतिरोध का मार्ग बहुत ही सोच समझकर ग्रहण करना चाहिए। नागरिकों का सर्वोपरि कर्तव्य यही है कि वे राज्य की आज्ञाओं का पालन करें और राजसत्ता को समुचित आदर दें। राज्य का भी यह प्रथम कर्तव्य है कि वह जनता की इच्छा को सम्मान दे और उसकी अभिलाषाओं के साथ-साथ उठे। राज्य नागरिकों के प्रतिरोध के अधिकार को स्वीकार करे और जनता को अवसर दे कि वह राज्य के अवांछनीय कानूनों के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए संवैधानिक साधनों के द्वार खटखटाए। नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वे

प्रतिरोध को संविधान की औषधि के रूप में लें, दैनिक भोजन के रूप में नहीं। इस विषय में लास्की के इस मत का वे अनुकरण करें कि "निश्चय ही आज्ञा-पालन न करने के अधिकार का प्रयोग राजनीतिक आचरण की सीमाओं पर ही होना चाहिए। किसी भी समुदाय को अपने उद्देश्य की पूर्ति की आशा नही रखनी चाहिए यदि विद्रोह जनसंख्या की व्यवस्थित आदत बन जाय।" प्रतिरोध का निर्णय करते समय इस बात पर भी भलि प्रकार विचार कर लेना चाहिये कि क्या प्रतिरोध से निकलने वाली भलाई तुलना में प्रतिरोध अथवा विद्रोह द्वारा की गई हानि से अधिक होगी। शासन को भी महात्मा गांधी के इन शब्दों का महत्व समझते हुए चलना चाहिए कि "अत्यन्त स्वेच्छाचारी सरकार भी शासितों की सहमति के बिना नहीं टिक सकती। यदि सहमति निर्दयी शासक द्वारा बलपूर्वक प्राप्त की जाती है तो फौरन ही प्रजा निरंकुश शक्ति से भय खासा त्याग देती है और उस शक्ति का नाश हो जाता है।"

१३

शक्ति, प्रभाव एवं औचित्यपूर्णता

(POWER, INFLUENCE AND LEGITIMACY)

राजनीति शास्त्र के अध्ययन में होने वाले विकासों ने उसके स्वरूप को अतीत काल की तुलना मे इतना बदल दिया है कि वर्तमान स्वरूप के साथ अर्वाचीन शब्द लगाना आवश्यक हो गया है। अध्ययन के प्रारम्भिक काल मे जिन धारणाओं को विचारकों ने अपने विश्लेषण का आधार बनाया था उनकी प्रकृति आध्यात्मिक, अमूर्त, एवं कल्पनात्मक अधिक थी। इसके अतिरिक्त उसके संस्थागत अध्ययन को भी पर्याप्त महत्व दिया गया था किन्तु जब से राजनीति शास्त्र के अध्ययन में मानवीय व्यवहार के अध्ययन को महत्व दिया जाने लगा है तब से इसके साथ अनेक नवीन धारणायें समन्वित हो गयी हैं। शक्ति प्रभाव, न्यायोचितता, सत्ता आदि विभिन्न धारणायें, अर्वाचीन काल की देन है। वर्तमान समय मे राजनीति एक व्यवस्था का रूप धारण कर चुकी है। राजनैतिक प्रक्रियाओ पर समाज के विभिन्न वर्गों का जो प्रभाव पड़ता है उसे आज अधिक से अधिक महत्व प्रदान किया जाने लगा है। समाज के उच्च तबके के लोग जिस प्रकार राजनीति को प्रभावित करते हैं वह दिन प्रतिदिन अध्ययन की रूचि का विषय बनता जा रहा है। मानवीय व्यवहार के विभिन्न रूपों का राजनीति शास्त्र पर पड़ने वाला प्रभाव अन्य सामाजिक विज्ञानों के उसके सम्बन्ध को स्पष्ट बना देता है। राजनैतिक संस्कृति (Political Culture) और राजनैतिक समाजीकरण (Political Socialisation) आदि कुछ इस प्रकार के पद है जो कि राजनीति शास्त्र मे संस्कृति और समाज शास्त्र के योगदान को स्पष्ट करते हैं। प्रस्तुत अध्याय शक्ति (Power), प्रभाव (Influence), औचित्य (Legitimacy) और सत्ता (Authority) का अध्ययन करने का प्रयास करेगा जिनको अर्वाचीन राजनीति की कुछ प्रमुख धारणायें माना जाता है। शेष धारणाओं का अध्ययन आगामी अध्याय का विषय है।

शक्ति की धारणा
(The Concept of Power)

यह मानवीय अस्तित्व का एक अत्यन्त प्राचीन तथ्य है कि कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्ति रखते है। इस दृष्टि से शक्ति की धारणा अत्यन्त प्राचीन है। यदि हम प्लेटो, अरस्तु, मैक्यावेली, हॉब्स आदि प्रमुख विचारकों की रचनाओं का अध्ययन करेंगे तो पायेंगे कि इन्होंने शक्ति और उससे संबन्धित वातावरण के अध्ययन की ओर प्रचुर ध्यान दिया। प्रायः सभी सभ्य समाजों की भाषा मे शक्ति के पर्यायवाची शब्द प्राप्त हो जाते हैं। मि० एस० एस० अलमर (S S Ulmer) के कथनानुसार "सभी सामाजिक विज्ञानों मे शक्ति की धारणा से इतना सम्बन्धित कोई भी नहीं है जितना कि राजनीति शास्त्र है। अरस्तु से लेकर आज तक के राजनैतिक लेखों की विषय वस्तु का विश्लेषण करने पर यह निःसन्देह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति इनमें एक केन्द्रीय धारणा रही जिसके सहारे राजनीति शास्त्र को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया।"[1]

सन् १६५७ में प्रोफेसर मार्गेन्थो (Morgenthau) ने यह सुझाया कि राजनीति शास्त्र में शक्ति को केन्द्रीय धारणा (Central Concept) बना लिया जाए। उनका यह सुझाव केवल वस्तु स्थिति की मान्यता थी किन्तु शक्ति के सहारे सिद्धान्त का विकास करना बाकी था। शक्ति के स्वरूप, अर्थ, परिभाषा, उसके विभिन्न रूप, व्यक्तियों के बीच शक्तिपूर्ण सम्बन्ध, शक्ति का अध्ययन करने वाले विभिन्न दृष्टिकोणों आदि के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा बहुत कुछ लिखा गया है।

यद्यपि आज राजनीति शास्त्री इस बात पर तो प्रायः सहमत हो गये हैं कि शक्ति की प्रक्रिया समस्त राजनैतिक प्रक्रिया के लिए प्रमुख तत्व है किंतु फिर भी वे शक्ति की सामान्य परिभाषा के सम्बन्ध में अभी तक सहमत नहीं हो सके हैं। रायर्ट डहल का मत है कि शक्ति के अध्ययन की प्रमुख कठिनाई यह है कि इसके अनेक अर्थ होते है। विचारकों ने शक्ति को मापने के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

शक्ति की परिभाषा
(The Definition of Power)

शक्ति को विभिन्न विचारकों ने अलग-अलग रूप से परिभाषित किया है। विषमगतता का होना किसी भी अध्ययन के लिए एक स्वाभाविक तथ्य

---

1. S.S. Ulmer, Introductory Readings in Political Behaviourt Chicago, 1962, p. 332.

है। इतने पर भी हर्बर्ट साइमन (Herbert Simon) ने यह चेतावनी दी है कि शक्ति की परिभाषा करते हुए स्वेच्छाचारी दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए। यदि यह कहा जाए कि व्यक्ति की शक्ति हम उसकी ऊंचाई से नापेंगे तो यद्यपि इसमें कोई आन्तरिक विरोध नहीं है किन्तु फिर भी यह शक्ति के वातावरण को अभिव्यक्त नहीं कर पाता। यदि हम एक व्यक्ति की शक्ति को उसके धन या दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने की उसकी योग्यता के आधार पर मापना चाहें तो यह आन्तरिक रूप से भी समरूप नहीं रहेगा, क्योंकि ये दोनों बातें परस्पर पूर्ण रूप से सम्बन्धित नहीं रहती हैं। बिना सम्पत्ति के भी एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के कार्यों को प्रभावित कर सकता है और सम्पत्ति के होने पर भी आवश्यक नहीं है कि वह दूसरों के कार्यों को प्रभावित कर सकेगा।

शक्ति और मूल्य
(Power and Value)

कुछ विचारक प्रभाव या शक्ति को एक व्यक्ति के मूल्यों के समरूप मानते हैं किन्तु मि० साइमन ने इस मान्यता को राजनीति शास्त्र के लिए अनुपयुक्त माना है।[1] यह कठिनाई उस समय और भी बढ़ जाती है जब हम मूल्य का अर्थ जानने की चेष्टा करते हैं। एक व्यक्ति के पास शक्ति है इसका अर्थ उसके पास कुछ मूल्यों का होना ही नहीं है वरन् उससे भी अधिक कुछ है। हम प्रायः मूल्यों की एक सूची नहीं बना सकते, क्योंकि युग की परिस्थितियों के अनुसार मूल्य बदलते रहते है। यदि मूल्य और शक्ति को एकरूप मान लिया जाए तो शक्तिशाली समझे जाने वाले लोगों को नये मूल्य प्रदान करने की समस्या उठ खड़ी होती है। उदाहरण के लिए महात्मा गांधी एक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति समझे जाते थे किन्तु उनकी इस शक्ति का आधार वे मूल्य नहीं थे जिन्हें सामान्यतया माना जाता है। यदि शक्ति को परिभाषित करने वाले सामाजिक मूल्यों में शक्ति को भी गिन लिया जाए तो स्थिति और भी नाजुक बन जाती है। प्रायः यह कहा जाता है कि शक्ति अपने आप में मूल्य है तथा यह व्यक्ति का वांछनीय लक्ष्य है और यदि ऐसा ही है तो शक्ति के मूल्य के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता क्योंकि एक व्यक्ति की शक्ति को उसकी शक्ति प्रदान करने की क्षमता के आधार पर नहीं मापा जा सकता। इस प्रकार शक्ति और मूल्य को एकरूप नहीं किया जा सकता। इतने पर भी दोनों के बीच कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। जब समाज स्थायी सन्तुलन की

---

1. Herbert A. Simon, Introductory Readings in Political Behaviour, Edited by—S. S. Ulmer. p. 364,

स्थिति मे रहता है तो शक्ति के वितरण श्रौर मूल्य के वितरण में निकट का सम्बन्ध रहता है ।

कभी-कभी शक्ति को सम्भावित मूल्य (Value Potential) के समरूप भी बताया जाता है । सभावित मूल्य भावी समय का एक मूल्य ही है । शक्ति की इस परिभाषा को मानने वाले कहा करते हैं कि जो लोग शक्तिवान् हैं वे लोग शक्ति का प्रयोग अपनी मूल्य-स्थिति को सुधारने मे करेंगे । इसी प्रकार वे कहते है कि जिनके पास शक्ति है उनमे उच्च सभावित मूल्य होगा । शक्ति की यह परिभाषा भी अनुभववादी मापदण्ड के आधार पर उचित प्रतीत नहीं होती ।

प्रोफेसर लासवेल (Lasswell), केपलन (Kaplan) श्रौर हर्बर्ट साइमन ने शक्ति को प्रभाव प्रक्रिया (Influence Process) के रूप मे परिभाषित किया है । इनके मतानुसार प्रभाव (Influence) का प्रयोग करते समय स्वयं की अपेक्षा दूसरों की नीतियो को प्रभावित किया जाता है । इस परिभाषा मे प्रभावक श्रौर प्रभाव के बीच घनिष्ट सबन्ध रहता है । रावर्ट ए. डहाल (Robert A. Dahal) ने शक्ति की धारणा को परिभाषित करते हुए यह माना है कि शक्ति लोगों के बीच का एक सबन्ध है । शक्ति के इस सबन्ध मे प्रमुख उद्देश्य अभिनेता होते है । ये अभिनेता व्यक्ति समूह, कार्य, कार्यालय, सरकार, राष्ट्रराज्य अथवा व्यक्तियों के अन्य समूह हो सकते हैं । सामान्य रूप से शक्ति का विचार कुछ ऐसा है जिसके अनुसार 'ख' के ऊपर 'क' की शक्ति इतनी है कि वह 'ख' से सब करा सकता है जो कि 'ख' के द्वारा अन्य प्रकार से न किया जाता । यह सच है कि शक्ति सबन्धों में अभिनेताश्रो (Actors) का महत्व होता है किन्तु वे सब कुछ नहीं होते । जब यह कहा जाता है कि प्रधानमन्त्री की मन्त्रीमण्डल पर कुछ शक्तियां हैं तो यह कथन पूर्णतः निरर्थक न होते हुए भी अधिक उपयोगी नहीं है । शक्ति का सही रूप जानने के लिए अनेक बातों का उल्लेख करना होगा, उदाहरण के लिए प्रधानमन्त्री की शक्ति का स्रोत, क्षेत्र एवं आधार क्या है; मन्त्रीमण्डल पर अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिए प्रधानमन्त्री द्वारा कौन-कौन से साधन अपनाये जाते है, मंत्रीमडल पर उसकी शक्ति की मात्रा कितनी है तथा यह शक्ति कितनी व्यापक है । एक अभिनेता की शक्ति के आधार में समस्त स्रोतो, अवसरों, कार्यों एवं लक्ष्यों को सम्मिलित किया जाता है । विचारकों ने शक्ति के आधार के संबन्ध मे पर्याप्त लिखा है ।

गोलधमर तथा शिल्स (Goldhamer and Shils) के कथनानुसार "एक व्यक्ति को इतना ही शक्तिशाली कहा जाताहै जितनाकि वह अपने लक्ष्यों

के अनुरूप दूसरों के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है ।"[1] इन विचारकों ने यह माना था कि अधीनस्थ व्यक्तियों पर जो प्रभाव डाला जाता है उसके रूपों के अनुसार शक्तियों को तीन रूपों में विभाजित किया जा सकता है, ये हैं—ताकत (Force), प्रभुत्व (Domination) और चातुरी (Manipulation) । एक शक्तिवान व्यक्ति ताकत का प्रयोग करता हुआ उस समय कहा जाता है जिस समय वह अधीनस्थ व्यक्तियों के व्यवहार को भौतिक शक्ति के माध्यम से प्रभावित करता है । जब शक्तिवान व्यक्ति अपनी इच्छा को प्रकट करके दूसरों के व्यवहार को प्रकट करता है तो यह प्रभुत्व कहलायेगा । 'प्रभुत्व' आदेश और प्रार्थना आदि के रूप में हो सकता है । चातुरी दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने का वह तरीका है जिसमें कि प्रभावित होने वाले व्यक्तियों को स्पष्ट रूप से यह नहीं बताया जाता कि शक्तिवान् व्यक्ति आखिर उनसे क्या चाहता है । इस अन्तिम प्रक्रिया में प्रतीकों (Symbols) का प्रयोग करते हुए प्रचार की प्रणाली को अपनाया जाता है ।

प्रो० मैकाइवर ने यह माना है कि शक्ति एक बहुपक्षीय चीज है । यह अपने अनेक रूपों में तथा विभिन्न अभिव्यक्तियों में पृथ्वी पर होने वाली तथा समस्त सृष्टि में घटने वाली घटनाओं के लिए एक एजेन्ट का कार्य करती है । इन्हीं में से एक शक्ति का रूप सामाजिक शक्ति है अन्य रूप राजनैतिक शक्ति है । इन विभिन्न रूपों का अध्ययन करने के लिए शक्ति की सामान्य धारणा का अध्ययन करना उपयोगी है ।

मैकाइवर के शब्दों में "समस्त गति, सभी सम्बन्ध, सभी प्रक्रियाएं, समस्त व्यवस्था और प्रकृति में घटने वाली प्रत्येक घटना शक्ति की अभिव्यक्ति है ।"[2] मानव इतिहास में शक्ति ने कार्य, विचार और योजना की दृष्टि से महत्वपूर्ण योगदान किया है इसने रचनात्मक एवं विध्वंसात्मक दोनों ही रूपों में कार्य किया है । जहां कहीं चेतना का विकास होता है वहीं शक्ति को नया महत्व प्राप्त हो जाता है । व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अपने वातावरण की शक्तियों का अधिक से अधिक उपयोग करना चाहता है । उसकी यही इच्छा जीवन को अनवेषण और संघर्ष, झगड़ा और सहयोग तथा निराशा और तृप्ति पूर्ण बना देती है । व्यक्ति के समस्त लक्ष्यों में शक्ति एक प्रमुख साधन है , जो कि उसे छोटे और बड़े, ऊंचे और नीचे सभी उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायता

---

1. Herbert Goldhamer and Edward A. Shils in Ibid, Page–334.
2. R. M. McIver : Power Transformed. 1964, Page 75.

देती है मैकाईवर ने माना है कि शक्ति व्यक्ति के लिए एक स्वाभाविक तत्व है क्योंकि प्रकृति ने व्यक्ति को अन्य पशुओं की तुलना में असुरक्षित रखा है ।

शक्ति व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों के रूप में—विभिन्न विचारको ने शक्ति को व्यक्तियों के पारस्परिक शक्ति का निर्णायक तत्व माना है । यह पारस्परिक सम्बन्ध विभिन्न तत्वो पर आधारित रहता है और इन पर अनेक परिस्थितियां प्रभाव डालती हैं । जब शक्ति सम्पन्न व्यक्ति अन्य लोगों पर प्रभाव डालता है तो वह अनेक साधन अपनाता है । वह कभी तो प्रलोभन देता है और कभी उसके द्वारा धमकी दी जाती है । उदाहरण के लिए अमेरिका का राष्ट्र-पति वहा की काग्रेस पर अपना अधिकार जमाने के लिए या तो निषेधाधिकार की धमकी देता है या सम्मेलन बुलाने, मतदाताओं से कहने की धमकी देता है अथवा अपने व्यक्तित्व के विशेष गुणों का उपयोग करते हुए कार्य करता है । शक्तिधारी व्यक्ति के कार्य के प्रति दूसरे लोगों की प्रतिक्रिया होती है और वे इस प्रतिक्रिया के द्वारा शक्ति के क्षेत्र को निर्धारित करते है । एक अभिनेता की शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि दूसरे लोगों द्वारा उसे कितनी मान्यता प्रदान की गयी ।

जब तक मानवीय सम्बन्ध अपने स्पष्ट रूप में सामने नही आते, उस समय तक शक्ति के सही रूप को समझना अत्यन्त कठिन रहेगा । जब कुछ लोग विभिन्न प्रभावो के द्वारा किसी व्यवहार को अपनाने के लिए प्रेरित होते हैं तो ऐसी स्थिति मे इन प्रभावो पर केन्द्रीय रूप से अधिकार रखने वाला व्यक्ति शक्ति सम्पन्न माना जायेगा । शक्ति के सम्बन्ध मे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर जितना प्रभाव डालता है वह भी एक समस्या है । प्रभाव के विभिन्न रूप हो सकते है । यह हो सकता है कि 'क' द्वारा 'ख' को प्रभावित किया जाता है किन्तु 'ख' द्वारा 'क' को बिल्कुल प्रभावित नहीं किया जाये । ऐसी स्थिति मे 'क' के व्यवहार के सम्बन्ध मे 'ख' को देखे बिना ही भविष्य-वाणी की जाती है और जब 'क' का व्यवहार जान लिया जाता है तो 'ख' का व्यवहार स्वत ही स्पष्ट हो जाता है । इसके अतिरिक्त ऐसी स्थिति भी आती है जबकि 'क' के व्यवहार पर अनेक प्रभाव पड़े और इन प्रभावों को देखे बिना 'ख' पर पड़ने वाले प्रभावो का अध्ययन किया जा सके । पहली स्थिति में कर्त्ता का व्यवहार अधिक निश्चित नहीं होता और उसके सम्बन्ध मे परिवर्तन भी सम्भव होते हैं । उदाहरण के लिए एक तानाशाह अपनी जनता पर जो अधिकार रखता है वह एक पक्षीय होता है अर्थात् उसके निर्णयों द्वारा ही जनता का व्यवहार निर्धारित किया जाता है । तानाशाह के व्यवहार के सम्बन्ध मे निश्चित रूप मे कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि वह बाह्य प्रभावों से मर्यादित न होने के कारण कभी भी बदल सकता है । दूसरी

और प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था मे प्रधान मन्त्री के निर्णय एवं व्यवहार का अनुमान लगाया जा सकता है क्योंकि उस पर बहुत से प्रभाव पड़ते हैं।

शक्ति के स्रोत
(The Sources of Power)

शक्ति का अर्थ उस समय और भी स्पष्ट हो जायेगा जबकि हम उसके विभिन्न स्रोतों पर दृष्टिपात कर लेंगे। यहा एक बात उल्लेखनीय यह है कि शक्ति को शारीरिक ताकत या इस ताकत को लागू करने वाले भौतिक साधनों के समरूप नही मानना चाहिये। मनुष्य को शेर अथवा चीते से अधिक शक्तिशाली माना जाता है क्योंकि उसमें ज्ञान और कुशलता अधिक होते है। शक्ति अनेक स्रोतों से उत्पन्न होकर विभिन्न रूपो मे अपने आपको प्रकट करती है। शक्ति का अर्थ बताते हुए प्रोफेसर मेकाइवर ने लिखा है कि "शक्ति होने से हमारा अर्थ व्यक्तियो या व्यवहार को नियन्त्रित करने, विनियमित करने या निर्देशित करने की क्षमता से है।"

मानवीय क्षेत्र मे जिस शक्ति का प्रयोग किया जाता है उसके अनेक स्रोत है। उसका पहला स्रोत ज्ञान (Knowledge) अपने साधारण अर्थ मे ज्ञान व्यक्ति को अपने लक्ष्यों को पुन प्रवन्धित करने और मिलाने की योग्यता प्रदान करता है। ज्ञान के क्षेत्र में केवल विषय की तथ्यगत जानकारी ही नही आती वरन् कैसे और कब आदि प्रश्न आकर मिलते है। ज्ञान शक्ति है किन्तु यह केवल भौतिक चीजों को ही नियन्त्रित नहीं करती वरन् यह नये लक्ष्यों, नये अवसरों तथा नये विकल्पो के द्वारा खोलती है। इसके द्वारा व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण की मात्रा को बढ़ा दिया जाता है और इसके सहारे व्यक्ति अज्ञान से प्रकाश की ओर चलता है। सीखना, सोचना, जांच करना एवं जानना आदि सभी रचनात्मक तत्व है। इन्ही के आधार पर मनुष्य की सभ्यता, कला और कारीगरी ने वर्तमान रूप धारण किया। व्यक्ति का समस्त धर्म एवं दर्शन का स्रोत यही है तथा इसीके द्वारा उसकी महत्वाकांक्षायें प्रेरित की जाती है। ज्ञान व्यक्ति के दुख और बीमारियों को दूर करके उसे उन साधनों को प्राप्त करने की क्षमता देता है, जिनके बिना व्यक्ति का जीवन सुरक्षित और स्वतन्त्र नहीं रह सकता। ज्ञान का यह बाहरी पक्ष है।

ज्ञान का आन्तरिक पक्ष वह होता है जो कि अपने आपको जानने पर जोर देता है। प्रारम्भ से ही दार्शनिकों ने आत्मज्ञान की आवश्यकता और महत्व पर पर्याप्त जोर दिया था। अपने आपको जानने का वर्णन करना जितना सरल है उसे कार्य रूप में परिणित करना उतना ही कठोर है। इस सम्बन्ध मे टैनीसन (Tennyson) का यह कथन महत्वपूर्ण है कि "आत्म-

सम्मान, आत्मज्ञान और आत्मनियन्त्रण केवल यह तीन ही जीवन को सम्प्रभु शक्ति की ओर संचालित कर सकते है।"

ज्ञान के द्वारा व्यक्ति की अन्य विशेषताओं को इस प्रकार संचालित किया जाता है कि वे शक्ति के साधन बन सके। व्यक्ति के नेतृत्व का गुण, उसकी इच्छा की शक्ति, उसकी सहनशक्ति, अपने आपको अभिव्यक्त करने की शक्ति आदि विभिन्न शक्ति के महत्वपूर्ण पहलू है। इन तत्वों में से किसी भी एक की कमी शक्ति के समस्त रूप को अकार्यकुशल बना सकती है अथवा उसे पूरी तरह नष्ट कर सकती है।

ज्ञान शक्ति का आन्तरिक स्रोत है, इसके अतिरिक्त शक्ति का निर्धारण करने वाले बाहरी तत्व भी होते हैं जिनको एक शब्द मे 'प्राप्तियां' (Possessions) कहा जा सकता है। इनके अन्तर्गत भौतिक सामग्री, स्वामित्व एवं सामाजिक सामग्री की शक्ति, एक व्यक्ति द्वारा अपनाई गयी स्थिति और स्तर आदि को भी सम्मिलित किया जाता है। शक्ति के ये आन्तरिक और बाह्य दोनो ही तत्व एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। प्रजातन्त्रात्मक समाज में इन दोनो ही तत्वो को विभिन्न मात्राओं मे प्राप्त किया जा सकता है। प्रजातन्त्र मे यह भी होता है कि आन्तरिक तत्व को प्राप्त करने के बाद बाह्य तत्व को प्राप्त करने का प्रयास किया जाए अथवा बाह्य तत्वों के आधार पर आन्तरिक तत्व को प्राप्त किया जाए। कुलीन तन्त्रात्मक समाजों मे ऐसा सम्भव नही है क्योंकि यहा भौतिक वस्तुओं का स्वामित्व मुख्य रूप से जन्म और स्तर पर निर्भर करता है। किसी भी प्रमुख वस्तु का स्वामित्व चाहे वह स्थायी रूप से किया जाए अथवा अस्थायी रूप से किया जाए वह अपनी स्वामी की शक्ति को बढ़ाता है। स्वामी को यह शक्ति प्राप्त हो जाती है कि वह उनका मन चाहे रूप से प्रयोग करे।

संगठन अपने आपमे शक्ति का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। 'संघ ही शक्ति है' की कहावत पर्याप्त सत्यता रखती है। विभिन्न प्रतिद्वन्द्विता पूर्ण इकाइयां जब आपस में मिलकर संघ बना लेती है तो उनकी शक्ति कई गुणा बढ जाती है। आधुनिक युग के व्यापारिक संघ इसके उदाहरण है। शक्ति की दृष्टि से सबसे बडा संगठन स्पष्टतया राज्य है। मि० मैकाईवर ने इसके कई कारण बताये है जैसे-राज्य भौतिक दमन को शक्ति का एक मात्र प्रयोग करता है। यह आवश्यकता के समय सम्पूर्ण समाज के सारे साधनों को अपने हाथ मे ले सकता है। इसके अतिरिक्त संगठन निर्णय लेने के सीमित क्षेत्रों मे ही नियन्त्रण की सीमित शक्ति रखते हैं जबकि राज्य अपनी सीमा मे रहने वाले लोगो के समस्त व्यवहार को विनियमित करने वाली अन्तिम शक्ति है। यह

सच है कि सरकार की शक्ति को संवैधानिक कानून या जन इच्छा के द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है किन्तु राज्य में सरकार को सीमित करने वाली यह इच्छा और कानून ही सम्मिलित होते हैं।

कभी-कभी केवल आकार को शक्ति का परिचायक मान लिया जाता है। किसी भी इकाई या इकाईयों के योग का आकार यदि बड़ा है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि इसकी शक्ति भी अधिक होगी। यह हो सकता है कि उसका बड़ा आकार उसे उलझा दे, उसे असन्तुलित बना दे और उसे परिस्थितियों के अनुकूल न रहने दे। उदाहरण के लिए ऐसे अनेक बड़े जानवरों का नाम लिया जाता है जो कि विभिन्न छोटे जानवरों के आक्रमणों को सहन नहीं कर सकते। कहते हैं कि हाथी को एक चीटी द्वारा भी जान से मारा जा सकता है। प्रो० मैकाईवर ने शक्ति के इन विभिन्न तत्वों का वर्णन करने के बाद यह कहा है कि "शक्ति की कार्य कुशलता उन विभिन्न परिस्थितियों के द्वारा बढ़ती या कम होती रहती है जिनके अधीन कि उसे कार्य करना है।"

शक्ति की महानता इस बात से निर्धारित की जाती है कि वह मानव मस्तिष्क पर प्रभाव डालने में कितनी सक्षम है। शक्ति का अपना एक सम्मान होता है, अपनी एक चमक होती है, उसमें कुछ ऐसा अदृश्य तत्व होता है जिसके आधार पर लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। शक्ति का अपना मूल्य होता है। यह अपने प्रसार एवं प्रभावशीलता के अनुसार विभिन्न मात्राओं में उपयोगिता रखती है। अपने प्रकार के अनुरूप ही यह स्तर, सम्मान एवं प्रमुखता रखती है।

शक्ति का एक अन्य स्रोत सत्ता (Authority) होती है। जिन सब तत्वों के कारण शक्ति अधिक शक्तिशाली बनती है उनको हम सत्ता कह सकते हैं। अपने सही और निश्चित रूप सत्ता का अर्थ न्यायोचित शक्ति की उपलब्धि से है। हम प्राय उन लोगों की सत्ता की भी बात करते हैं जिन्होंने कि किसी भी क्षेत्र में महान् प्राप्तियां की हों।

शक्ति की अभिव्यक्ति केवल ताकत या प्रत्यक्ष दबाव के माध्यम से ही नहीं होती वरन् इसके अन्य तरीके भी हैं। ताकत के प्रयोग द्वारा क्रियाओं को रोका जा सकता है, बदला जा सकता है और नयी क्रियाओं के लिए आधारभूमि तैयार की जा सकती है किन्तु यह स्वयं विधेयात्मक लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकती, यह स्वयं कोई चीज नहीं बना सकती। अतिशय शारीरिक दबाव तथा नम्र सुझाव के बीच शक्ति प्रयोग के अनेक स्तर आते हैं। अप्रत्यक्ष क्रियान्विति की सीमाओं में अनेक दबाव धमकी के रूप में कार्य करते हैं।

शक्ति के स्रोत एवं आधार के रूप में विश्वास का पर्याप्त महत्व है। तलवार की शक्ति भी अन्तिम रूप से विश्वास पर ही आधारित है। जब एक देश के लोग अपनी सरकार के प्रति स्वामिभक्त नहीं रह जाते तो उनके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग चाहे कैसा भी कर लिया जाये वही अपर्याप्त रहेगा। राज्य के अतिरिक्त अन्य संगठन भी अपने नियम तोड़ने वाले सदस्य की सदस्यता भंग कर सकते है। उनके द्वारा भी अनेक आकर्षणों एवं विकर्षणों के माध्यम से शक्ति प्रयोग किया जाता है। लोगों में जिस तत्व का आदर होता है वही अपने आप में शक्ति बन जाता है। व्यक्ति मान्य सत्ता के परामर्श के सामने झुकता है तथा उसके निर्देशों का पालन करता है। हम किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अपने मित्र की इच्छा को शीघ्र ही स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाते है।

राज्य को मूल रूप से एक शक्ति की व्यवस्था माना जाता है। इस मान्यता का आधार केवल यही नहीं है कि राज्य का दमन की शक्ति पर एकाधिकार है वरन् इसका अन्तिम आधार लोगों की स्वामीभक्ति है जिसके फलस्वरूप राज्य मे कानून और व्यवस्था कायम रह पाती है। ताकत का प्रयोग राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर अधिक महत्व नही रखता। यद्यपि सभी बड़े राज्य अपने बजट का अधिकाश भाग सैनिक शक्ति को बढ़ाने में लगाते हैं किन्तु ऐसा वे युद्ध छेड़ने के लिए नहीं वरन् युद्ध को रोकने के लिए करते है। राज्य के अन्तर्गत पुलिस शक्ति का प्रयोग एक स्थापित व्यवस्था के अन्तर्गत ही किया जाता है। पुलिस द्वारा एक व्यवस्था के संरक्षक का जो कार्य किया जाता है उसका आधार वह स्वीकृति है जो कि लोगों के द्वारा जाने या अनजाने मे प्रदान की जाती है। यह स्वीकृति आदत, सुविधा रुचि या सरकार के प्रति आदर आदि विभिन्न कारणोवश दी जा सकती है। सत्ता के राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही रूपों का प्रयोग सेवा की भावना से ही किया जाता है। राज्य की-शक्ति के आधार का अध्ययन करने के लिए इस प्रश्न का उत्तर खोजा जाना चाहिए कि हम कानूनों का पालन क्यों करते हैं अथवा यो कहिये की कानूनों का उल्लंघन क्यों किया जाता है। कानूनों के पालन के कई आधार हो सकते है। उदाहरण के लिए कानून की संहिता का सम्मान, आज्ञाकारिता की रुचि, स्वय आदर प्राप्त करने की लालसा आज्ञा-पालन न करने पर अधिक परेशानियो का भय एवं आज्ञापालन की आदत, कानून का उल्लंघन करने पर दण्ड का भय, आज्ञापालन का औचित्य, आत्म-संतोष आदि-आदि। समस्त कारणों से हम न केवल उन्ही कानूनो का पालन करते हैं जिनको हमने स्वीकार किया है वरन् उनको भी जिनको कि हम अस्वीकार करते है।

आज्ञाकारिता का आधार आचरण के नैतिक मूल्य होते हैं तो यह अकारण तत्वों पर आधारित होती है। आज्ञापालन को प्रभावित करने वाले नैतिक आदेश कई स्रोतों से निकल सकते हैं उदाहरण के लिए शक्ति की औचित्यपूर्ण मान्यता का विश्वास, आचरण के नियम, यह विश्वास कि शक्ति की मान्यता औचित्यपूर्ण नही है आदि–आदि। जब कभी शक्ति को प्रयोग करने का व्यक्ति का प्रयास असफल हो जाता है तो शक्तिपूर्ण कार्य के स्थान पर या तो दूसरी शक्ति आती है अथवा उसका स्थान स्वीकृति ले लेती है। शक्ति के स्थान पर जो वैकल्पिक कार्य आता है उसका प्रमुख उद्देश्य प्रथम कार्य की मौलिक उद्देश्य की प्राप्ति का होता है। यह वैकल्पिक कार्य शक्ति के प्रकारों के बीच मे से निकल सकता है अथवा स्वय शक्ति में से ही। इस प्रकार एक आज्ञा को नम्र निवेदन के रूप मे बदला जा सकता है। इसी प्रकार एक असफल प्रचार एक आदेश के रूप मे बदला जा सकता है। स्वीकृति (Sanction) एक ऐसा शक्ति–कार्य है जो कि मुख्य रूप से शक्ति के पूर्व कार्य की अस्वीकृति की निन्दा से प्रकट होता है। समाज की स्वीकृति व्यक्ति को पीटने या जेल मे बन्द करने जैसे शारीरिक दण्डों के लिए हो सकती है और जुर्माना करने, सम्पत्ति जब्त करने, आफिस से हटाने आदि गैर शारीरिक दण्डो के रूप मे भी होती है। एक शक्तिवान की आज्ञा का उल्लघन सजग रूप से लागू की गयी स्वीकृतियो का भी कारण बन सकता है तथा अनजाने मे लागू किये गये दण्डो का भी।

सामाजिक स्वीकृतियो को या तो शक्तिवान प्रत्यक्ष रूप से स्वयं लागू कर सकता है या अधिकारी अथवा गैर-अधिकारी अन्य लोगों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से लागू कर सकता है। अधिकाश शक्तिवान लोगो के पास अधिकारियो का एक स्टाफ रहता है, इनके लिए स्वीकृतियों को लागू करने की शक्ति हस्तारित की जाती है। शक्तिवान व्यक्ति चाहे तो उन लोगों को भी उन व्यक्तियों को लागू करने की शक्ति दे सकता है जो कि अधिकारी की स्थिति में नही है।

शक्ति सम्बन्धो के आधार पर शक्ति को दो रूपो में विभाजित किया जा सकता है। जब एक पक्ष द्वारा ही दूसरे पर शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो उस शक्ति सम्बन्ध को एक पक्षीय (Unilateral) कहते हैं। जब ये दोनों पक्ष एक दूसरे पर शक्ति का प्रयोग करते है तो यह द्विपक्षीय (Bilateral) शक्ति सम्बन्ध कहलाता है। एक पक्षीय शक्ति सम्बन्धों का उदाहरण एक सेना के अधिकारियों एवं नीचे के तबके के कार्यकर्ताओं के मध्य स्थित सम्बन्ध के रूप मे दे सकते है। सेना में उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थों को

शक्ति के प्रकार
(Types of Power)

शक्ति के विभिन्न रूप एवं प्रकार होते है। इसमें ताकत, प्रभुत्व और चातुरी तीन है। शक्ति सम्पन्न लोगो में से अधिकांश अपने व्यवहार को न्यायोचित बताते है। जब यह औचित्य अधीनस्थ लोगो के द्वारा भी स्वीकार कर लिया जाता है तो हम उसको औचित्यपूर्ण शक्ति (Legitimate Power) कह देते है और जब यह ऐसी नही मानी जाती है तो यह दमन कहलाती है। औचित्यपूर्ण शक्ति के तीन प्रमुख रूप होते है—वैधानिक, परम्परागत और करिश्मावादी। जब शक्तिवान् द्वारा बनाये गये कानूनों, निर्देशो एवं डिक्रियों की वैधानिकता मे अधीनस्थ लोग विश्वास करते हैं तो यह औचित्यपूर्ण शक्ति वैधानिक कहलाती है। जब शक्तिवान द्वारा प्रसारित आदेशों को परम्परा के आधार पर पवित्र माना जाये अथवा परम्परा के कारण ही वह शक्ति का प्रयोग करे तो इसे औचित्य पूर्ण शक्ति का परम्परागत रूप कहा जायेगा। तीसरे जब औचित्य की मान्यता का आधार शक्तिवान् के व्यक्तिगत गुणों के प्रति भक्ति होती है तो वह करिश्मावादी (Charismatic) औचित्यपूर्ण शक्ति कही जाती है। अनुयाइयों की ये विशेषताए प्राय: अद्वितीय प्रतीत होती है और इसलिए वे इनके सामने झुक जाते है।

जब एक शक्तिवान की सामान्य स्थिति को औचित्यपूर्ण मान लिया जाता है तो वह व्यक्ति ताकत, प्रभुत्व, चातुर्य जैसे हथियारों का प्रयोग कर सकता है, किन्तु जहा तक शक्ति के व्यक्तिगत कार्यों के औचित्य की मान्यता का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि चातुरी (Manipulation) को औचित्यपूर्ण सत्य नही कहा जा सकता, क्योंकि अधीनस्थ व्यक्तियों द्वारा ऐसी कोई मान्यता प्रदान नहीं की जाती कि शक्ति द्वारा किया गया कार्य उनको प्रभावित करेगा। ताकत से प्रभावित होने वाले लोग शक्ति के इस प्रकार के औचित्य को प्राय. स्वीकार नही करते। इस प्रकार सामान्य रूप मे शक्ति के एक औचित्यपूर्ण व्यवहार कर्ता के रूप मे शक्तिवान की मान्यता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके प्रभुत्वपूर्ण कार्यों को औचित्यपूर्ण माना गया है अथवा नही। किन्तु उसका अर्थ यह नहीं होता कि उसे ताकत या चातुरी का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

प्रभुत्व लागू करने का प्रयास आज्ञाकारिता को भी प्रोत्साहन दे सकता है और आज्ञा के उल्लंघन को भी। आज्ञाकारिता का प्रश्न सकारण तत्वों पर भी निर्भर है और अकारण तत्वों पर भी। जब इसका आधार हानि या लाभ को बनाया जाता है तो यह सकारण तत्वों पर आधारित रहती है और जब

आज्ञाकारिता का आधार आचरण के नैतिक मूल्य होते है तो यह प्रकारण तत्वों पर आधारित होती है। आज्ञापालन को प्रभावित करने वाले नैतिक आदेश कई स्रोतो से निकल सकते हैं उदाहरण के लिए शक्ति की औचित्यपूर्ण मान्यता का विश्वास, आचरण के नियम, यह विश्वास कि शक्ति की मान्यता औचित्यपूर्ण नही है आदि-आदि। जब कभी शक्ति को प्रयोग करने का व्यक्ति का प्रयास असफल हो जाता है तो शक्तिपूर्ण कार्य के स्थान पर या तो दूसरी शक्ति आती है अथवा उसका स्थान स्वीकृति ले लेती है। शक्ति के स्थान पर जो वैकल्पिक कार्य आता है उसका प्रमुख उद्देश्य प्रथम कार्य की मौलिक उद्देश्य की प्राप्ति का होता है। यह वैकल्पिक कार्य शक्ति के प्रकारों के बीच मे से निकल सकता है अथवा स्वय शक्ति मे से ही। इस प्रकार एक आज्ञा को नम्र निवेदन के रूप में बदला जा सकता है। इसी प्रकार एक असफल प्रचार एक आदेश के रूप मे बदला जा सकता है। स्वीकृति (Sanction) एक ऐसा शक्ति-कार्य है जो कि मुख्य रूप से शक्ति के पूर्व कार्य की अस्वीकृति की निन्दा से प्रकट होता है। समाज की स्वीकृति व्यक्ति को पीटने या जेल मे बन्द करने जैसे शारीरिक दण्डों के लिए हो सकती है और जुर्माना करने, सम्पत्ति जब्त करने, आफिस से हटाने आदि गैर शारीरिक दण्डों के रूप मे भी होती है। एक शक्तिवान की आज्ञा का उल्लघन सजग रूप से लागू की गयी स्वीकृतियो का भी कारण बन सकता है तथा अनजाने मे लागू किये गये दण्डों का भी।

सामाजिक स्वीकृतियो को या तो शक्तिवान प्रत्यक्ष रूप से स्वय लागू कर सकता है या अधिकारी अथवा गैर-अधिकारी अन्य लोगों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से लागू कर सकता है। अधिकांश शक्तिवान लोगो के पास अधिकारियों का एक स्टाफ रहता है, इनके लिए स्वीकृतियों को लागू करने की शक्ति हस्तान्तरित की जाती है। शक्तिवान व्यक्ति चाहे तो उन लोगों को भी उन व्यक्तियों को लागू करने की शक्ति दे सकता है जो कि अधिकारी की स्थिति में नही है।

शक्ति सम्बन्धों के आधार पर शक्ति को दो रूपो मे विभाजित किया जा सकता है। जब एक पक्ष द्वारा ही दूसरे पर शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो उस शक्ति सम्बन्ध को एक पक्षीय (Unilateral) कहते हैं। जब ये दोनों पक्ष एक दूसरे पर शक्ति का प्रयोग करते हैं तो यह द्विपक्षीय (Bilateral) शक्ति सम्बन्ध कहलाता है। एक पक्षीय शक्ति सम्बन्धों का उदाहरण एक सेना के अधिकारियों एवं नीचे के तबके के कार्यकर्ताओं के मध्य स्थित सम्बन्ध के रूप मे दे सकते हैं। सेना में उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थो को

आज्ञाएं देता है किन्तु अधीनस्थ लोग उस आज्ञा का ज्यों का त्यों पालन करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करते। द्विपक्षीय शक्ति सम्बन्धों का उदाहरण सौदेबाजी करने वाली शक्ति को माना जा सकता है क्योंकि इसके प्रत्येक पक्ष अपने उद्देश्य के अनुरूप दूसरे पक्ष को प्रभावित करने का प्रयास करता है। सौदेबाजी में प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्ष को प्रभावित करने के लिये या तो इसे उन मूल्यों से वंचित कर देता है जो कि उसके उपलब्ध किये हुए हैं अथवा उन मूल्यों के प्राप्त करने से रोक सकता है जो कि अभी तक उपलब्ध नहीं किये गये हैं वरन् वाछनीय हैं। द्विपक्षीय शक्ति सम्बन्ध शक्ति की प्रभुत्व पूर्ण अभिव्यक्ति और चातुरीपूर्ण अभिव्यक्ति दोनों में ही रह सकते हैं। दोनों ही पक्ष एक दूसरे के व्यवहार को यह स्पष्ट किये बिना प्रभावित कर सकते हैं कि उनसे क्या चाहा जा रहा है। ऐसा करने के लिए वे प्रचार अथवा अन्य किसी उपाय को काम में ले सकते हैं। द्विपक्षीय प्रभुत्व या चातुरी के परिणाम से दोनों पक्षों के लक्ष्यों की पूर्ण सन्तुष्टि हो सकती है अथवा एक समझौता हो सकता है जिसमें कि दोनों ही पक्षों की कुछ बातों को मान लिया जाता है।

शक्ति को उसके प्रयोग की दृष्टि से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। जब शक्तिवान व्यक्ति बिना किसी मध्यस्थ के प्रयोग किये दूसरों का व्यवहार बदलना चाहता है तो यह शक्ति प्रत्यक्ष कहलाती है। और जब शक्तिवान व्यक्ति एक या अधिक मध्यस्थ शक्तिवान व्यक्तियों के माध्यम से शक्ति का प्रयोग करता है तो यह अप्रत्यक्ष शक्ति बन जाती है। जब एक जनरल अपनी सेना पर नियन्त्रण करता है या एक मैनेजर के द्वारा किसी फैक्ट्री के कर्मचारियों को नियन्त्रित किया जाता है तो वे शक्ति का प्रयोग अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं। अप्रत्यक्ष शक्ति में विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष शक्ति के कार्य होते हैं। जब वह अप्रत्यक्ष शक्ति का प्रयोग करते हैं तो उच्च स्तर के व्यक्ति के द्वारा अपने अधीनस्थ शक्तिवान व्यक्तियों के लिए आदेश दिया जाता है। ये अधीनस्थ व्यक्ति दूसरे लोगों के व्यवहार को बदलने के लिए प्रचार या चातुरी (Manipulation) का प्रयोग करते हैं। अप्रत्यक्ष शक्ति के प्रयोग में जिन प्रत्यक्ष शक्ति के प्रयोक्ताओं को अपनाया जाता है वे अधिकारी और गैर-अधिकारी दोनों ही हो सकते हैं।

एक व्यक्ति के द्वारा जिस शक्ति का प्रयोग किया जाता है उस शक्ति की मात्रा को या तो उसके कार्यों की सफलता द्वारा मापा जाता है अथवा कुछ निश्चित मापदण्डों के आधार पर। इन मापकों का प्रयोग विभिन्न शक्तिधारियों के बीच तुलना करने के लिए किया जाता है। एक शक्तिधारी के द्वारा प्रयुक्त की गयी शक्ति को मापने के लिए मुख्य रूप से दो मापदण्ड काम में लाये जा सकते हैं। पहला तो यह कि किसी व्यक्ति के कार्यों की संख्या को

गिना जाए और दूसरे उन व्यक्तियों की शक्तियों को गिना जाए जिनको नियंत्रित करना है। जब तानाशाही व्यवस्था की यह परिभाषा की जाती है कि यह सरकार का ऐसा रूप है जहा कि प्रत्येक वह कार्य बाध्यकारी है जिसके लिये मना नही किया गया है तो यह उन लोगो के व्यवहार के क्षेत्रो के सम्बन्धो में पूर्ण शक्ति को उल्लेखित करती है जिन पर कि नियन्त्रण को लागू किया जाना है।

जब एक शक्तिवान व्यक्ति अनेक अधीनस्थो के माध्यम से कार्य करता है तो शक्ति का केन्द्रीकरण कम नही होता बशर्ते कि वह उन सभी पर नियंत्रण रखने के योग्य हो। तथ्य यह है कि प्रमुख शक्तिवान व्यक्ति अपने अधीनस्थो के कार्यों को पूरी तरह से नियन्त्रित नही कर पाता इसलिए वे आश्रित शक्ति की अपेक्षा कुछ स्वतन्त्रता या पहल का प्रयोग करते है तो ऐसी स्थिति मे अधीनस्थ अधिकारियो का एक बडी संख्या मे प्रयोग शक्ति को कम करने का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त कोई भी शक्तिवान व्यक्ति अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर पूर्ण नियन्त्रण नही रख सकता और इसलिए उसे उन पर विश्वास रखना होता है जिसके फलस्वरूप प्रमुख शक्तिवान् और उसके अधीनस्थों के बीच द्विपक्षीय सम्बन्ध विकसित हो जाते हैं। जब अधीनस्थ अधिकारी उस क्षेत्र में शक्ति का प्रयोग करेंगे जिसमे कि प्रमुख शक्तिवान को शक्ति का प्रयोग करना था तो निश्चय ही बाद वाले की शक्ति कम होगी और ऐसा होने पर अधीनस्थ व्यक्तियों की अधीनस्थता भी कम हो जायेगी, जब स्वतन्त्र रूप से शक्ति का प्रयोग करने वाले लोग अनेक हो जायेंगे तो शक्ति भी बढ़ जायेगी और उन लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध भी प्रभावित होगा। इस प्रकार अनेक अधीनस्थ शक्तिवान व्यक्तियों के माध्यम से शक्ति का प्रयोग करने पर शक्ति का केन्द्रीयकरण औपचारिक रूप से नही, वरन् वास्तविक रूप से सीमित हो जाता है।

शक्तिवान व्यक्ति दूसरे लोगों के व्यवहार को प्रभावित करने के लिए जिन साधनो का प्रयोग कर सकता है वे भी प्रयुक्त शक्ति की मात्रा और स्थायित्व को प्रभावित करते हैं। कोई भी व्यक्ति बहुत बडी मात्रा में शक्ति का प्रयोग शुद्ध रूप से दमनकारी तरीके से नही कर सकता क्योकि ऐसा करने पर अधीनस्थ व्यक्तियों का समुदाय शक्तिवान व्यक्ति को औचित्य पूर्ण नहीं मानता। इसके अतिरिक्त शक्ति का प्रयोग करने मे एक बडे स्टाफ का सहयोग लेने की आवश्यकता भी शक्ति को पूर्ण रूप से दमनकारी होने से रोक देती है क्योकि जो अधीनस्थ शक्तिवान लोग उन स्वीकृतियों तथा आश्रित शक्तियों का प्रयोग करेंगे जिनको कि जनता स्वीकार नही करती है तो वह स्वयं भी प्रमुख शक्तिवान व्यक्ति के दमन द्वारा नियत्रित नहीं हो

सकते। एक व्यक्ति दमनकारी शक्ति का प्रयोग जितना अधिक करता है उसे अपने स्टाफ पर उतना ही अधिक आश्रित होना पड़ता है। ऐसी स्थिति में लोगों को वांछनीय रूप से कार्य करने के हेतु प्रभावित करने के लिए केवल दमनकारी शक्ति को अपनाना अपर्याप्त होगा। इसके साथ-साथ लोगों में यह विश्वास जाग्रत करना होगा कि प्रयुक्त की गयी शक्ति औचित्यपूर्ण है। ऐसा करने से दमनकारी व्यवहार की आवश्यकता सीमित हो जाती है।

कभी-कभी यह मान लिया जाता है कि जो व्यक्ति ताकत का प्रयोग करता है या लोगों की मर्जी के विरुद्ध स्वीकृति का प्रयोग कर सकता है वह उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है जो कि बिना इन साधनों को अपनाये शक्ति का प्रयोग करता है।

प्रभाव और शक्ति
(Influence and Power)

प्रभाव की मात्रा शक्ति की मात्रा की परिचायक होती है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहार पर प्रभाव डालने की जितनी क्षमता रखता है उसे उतना ही अधिक शक्ति सम्पन्न माना जाता है। यदि हम प्रभाव को मापना चाहें तो हमें प्रभावी (Influency) के व्यवहार में परिवर्तन तथा प्रभावक (Influencer) के व्यवहार में परिवर्तन के बीच अनुपात देखना होगा। प्रत्येक प्रभाव कुछ आधारों पर संचालित होता है। यदि हम इन आधारों की माप लें तो हम प्रभाव की भी माप सकेंगे। उदाहरण के लिए यदि एक विशेष स्थिति में धन प्रभाव का प्रमुख आधार है तो उस स्थिति में प्रभाव को अप्रत्यक्ष रूप से धन के द्वारा मापा जा सकता है। प्रभाव के आधारों एवं मूल्यों के बीच एक उलझा हुआ सम्बन्ध है, एक ओर तो प्रभाव वांछनीय मूल्यों को प्राप्त करने के लिए साधन का कार्य करता है। इस प्रकार स्वयं प्रभाव और प्रभाव के आधार भी अपने आप में मूल्य बन जाते हैं क्योंकि इनके द्वारा अन्य मूल्यों को प्राप्त किया जाता है। प्रभाव के अनेक आधार ऐसे होते हैं जिनको प्रभाव का प्रयोग करने के साधन के रूप में और अन्य प्रकार से भी मूल्यवान समझा जाता है। इस दृष्टि से धन को एक उदाहरण के रूप में जाता है। अधिकांश समाजों में धन प्रभाव का एक आधार है और इसलिए मूल्यों की प्राप्ति का एक साधन है। किन्तु धन का मूल्य इसलिए भी है क्योंकि इसके आधार पर सम्मान प्राप्त होता है। प्रभाव और उसके आधारों के बीच का सम्बन्ध गत्यात्मक होता है। धन के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों में भी यही गत्यात्मक सम्बन्ध प्राप्त होता है।

प्रभाव के आधार उन परिस्थितियों को माना गया है जो कि प्रभाव का प्रयोग करने के लिए उपयोगी होती हैं। प्रभाव के आधार को हम मूल्य

की स्थिति के समानार्थक नही कह सकते। यद्यपि उनके बीच सम्बन्ध अवश्य रहता है। दोनों के बीच का यह सम्पर्क हमेशा एक जैसा नहीं रहता। यदि मूल्यों के आधार पर प्रभाव के आधारों का वर्गीकरण किया जाए तो यह अधिक सार युक्त नही होगा कि इस वर्गीकरण का अधिक मौलिक आधार प्रभाव के वे प्रेरक होगे जो कि प्रभाव को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करते हैं। इस दृष्टि से लासवेल तथा कैपलन (Lasswell and Kaplan) ने तीन उत्तरोत्तर सकीर्ण पदो को परिभाषित किया है, ये हैं—प्रभाव (Influence), शक्ति (Power) और सत्ता (Authority)। राजनीति शास्त्र के साहित्य में यह कुछ प्रवृत्ति रही है कि यहा धन और शारीरिक शक्ति जैसी साधारण स्वीकृतियो को प्रभावशील शक्ति का आधार समझा जाता है तथा औचित्यता को औपचारिक शक्ति का आधार माना जाता है। प्रभावशील शक्ति और औपचारिक शक्ति के बीच सम्भवत. यह अन्तर है जहाँ एक को वास्तविकता माना गया है वहा दूसरी को केवल दिखावा। चार्ल्स मैरियम (Charles Merriam) आदि राजनीति शास्त्रियो ने औचित्यता की शक्ति की स्वीकृति का एक महत्वपूर्ण स्वतन्त्र प्रेरक माना है। यह मत कितना सही है यह एक व्यवहारवादी प्रश्न है। शक्ति और प्रभाव के बीच का सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का है कि जब प्रभाव के व्यवहार के परिवर्तन प्रभावक के व्यवहार के परिवर्तनो के साथ एकरूप हो जाते है तो उनको शक्ति का आधार कहा जाता है।

शक्ति और स्वतंत्रता
(Power and Freedom)

शक्ति पर प्राय. किसी का दबाव नही होता वरन् अन्य सभी पर उसका दबाव होता है। मैकाईवर के शब्दों मे "शक्ति हमेशा स्वतन्त्र होना चाहती है किन्तु प्राय स्वतन्त्रता की शर्तों को गलत समझ लेती है।"[1] कार्य करने की स्वतन्त्रता को प्राय. शक्ति के अनुरूप माना जाता है। प्रत्येक रचनात्मक यौवन प्राय: स्वतन्त्रता की आवश्यकता महसूस करता है। जब इस आवश्यकता को उत्तरदायित्व की भावना के द्वारा नियंत्रित नही किया जाता है तो वह दूसरों के लिए स्वतन्त्रता की दुश्मन बन जाती है और स्वय के लिए भी हानिकारक बन जाती है। हम आजकल स्वतत्र समाज, स्वतंत्र जनता आदि शब्दो का

---

1. "Power always wants to be free but often misunderstands the conditions of freedom"— R. M. MacIver, op. cit. Page 93.

प्रयोग करते है किन्तु यह प्रयोग प्रायः ढीला-ढाला होता है। एक स्वतंत्र समाज वह होता है जो कि अपने सदस्यों को रचनात्मक योग्यताओं के अवसर की स्वतंत्रता देता है। इस स्वतन्त्रता का प्रयोग करते हुए ये लोग अपने साथियों को कोई विधेयात्मक नुक्सान नही पहुंचाते। इस समाज मे सत्ता को उत्तरदायी बनाया जाता है ताकि यह संविधान द्वारा दिये गये नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को न तो स्वयं छीन सके और न ही किसी अन्य नागरिक या नागरिक समूह को उनको छीनने की स्वतंत्रता प्रदान कर सके।

एक स्वतन्त्र समाज मे शक्ति का वितरण एक कुलीनतन्त्रात्मक समाज के शक्ति वितरण से भिन्न होता है। प्रजातंत्रो में शक्ति की स्थिति तानाशाही व्यवस्था में शक्ति की स्थिति से भिन्न होती है। दोनों के बीच का मुख्य अन्तर रचनात्मक योग्यताओं को दिये गये अवसर के गुण पर निर्भर करता है। प्रजातंत्र मे रचनात्मक शक्ति के सर्वोच्च रूपों अर्थात् धर्म, कला, साहित्य, दर्शन आदि को सरकारी सत्ता के दमन से पूर्णतया स्वतंत्र रखा जाता है किन्तु दूसरी ओर सर्वाधिकारवादी सिद्धान्त इन सबको राज्य का अनुचर बना देता है। तानाशाही व्यवस्था मे भी विज्ञान का आदर किया जाता है, उसे प्रोत्साहन दिया जाता है। किन्तु कभी-कभी उसके सिद्धान्तों को भी तानाशाही व्यवस्था ठुकरा सकती है केवल तकनीकी को ही पूरी स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। जहां सरकार सर्व शक्तिमान होती है वहा नागरिकों को सम्पूर्ण स्वतंत्रताओं के प्रयोग से वंचित कर दिया जाता है किन्तु जहा सरकार की शक्ति सीमित होती है और उसे उत्तरदायी बना दिया जाता है वहां अनेक प्रकार की स्वेच्छापूर्ण संस्थायें स्वायतता रखती हैं और अनेक व्यक्ति या संस्था अपनी आत्म चेतना के अनुसार तर्क करने की शक्ति रखता है। इस कथन से सम्बन्धित कुछ सीमाओं का ध्यान रखना भी जरूरी है क्योंकि कोई भी प्रजातन्त्र अपने में पूर्ण नही है। प्रजातन्त्र के नागरिक पर भी सुरक्षा एवं व्यवस्था की दृष्टि से कुछ नियंत्रण रखे जाते हैं। इतने पर भी ये प्रतिबंध या सीमायें प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था और तानाशाही व्यवस्था के बीच ज्यादा अन्तर नहीं करती।

शक्ति और संगठन
(Power and Organisation)

समाज में जिस रूप मे शक्ति का वितरण किया जाता है वह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि समाज का संगठन किस प्रकार किया गया है। सामाजिक संगठन के रूपों के अनुसार ही उसके विभिन्न सदस्यों की शक्ति बदलती रहती है। किसी संगठन मे विभिन्न सदस्य अपनी रचनात्मक

प्रवृत्तियों के लिए जितना अवसर प्राप्त कर सकते है, उसकी मात्रा उस संगठन में शक्ति की मात्रा को प्रभावित करती है। अनेक ऐसे संगठन होते हैं जो कि कठोर रूप से पद सोपान को अपनाते है और अन्य सदस्यों की पहल करने की शक्ति पर महत्वपूर्ण सीमाएं लगा देते हैं। सैनिक सगठन को इसका एक उदाहरण माना जाता है। यहां आज्ञायें ऊपर से नीचे को दी जाती है और उनके उसी रूप में पालन की आशा की जाती है। आज्ञापालन में 'क्यों' का प्रश्न नहीं उठाया जाता। यद्यपि इस प्रकार की आज्ञा का अपना महत्व है किन्तु फिर भी आज के तकनीकी युग में अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। संगठन में अनुशासन होना चाहिये किन्तु उसके प्रत्येक सदस्य को अकल्पनीय परिस्थितियों का सामना करने का प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिये।

किसी भी ऐसे संगठन की कल्पना नहीं की जा सकती जो कि अपने सदस्यों की रचनात्मक शक्तियों का इस प्रकार दमन करे जो प्रदान की जाने वाली सेवाओं के लिए नुकसान दायक हों। कई बार कुछ बड़े स्तर के सरकारी विभागों के विरुद्ध यह शिकायत की जाती है कि उनमें प्रतिभावान युवकों को अपनी योग्यतायें दिखाने का अवसर प्रदान नहीं किया जा सकता।

कुछ संगठनो का गठन पद सोपान के रूप में इसलिए किया जाता है क्योंकि उनके कार्य तथा लक्ष्य ऐसी मांग करते है। ये कुछ ऐसे संगठन होते हैं जिनमें कि कड़ा अनुशासन होना चाहिए, संकट काल का सामना करने के लिए तैयारी होनी चाहिए और आदेशों के प्रति शीघ्र प्रतिक्रिया होनी चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्थाओं में यह आशा की जाती है कि नीचे के लोग यांत्रिक रूप से ऊपर वालों की आज्ञाओं का पालन करें।

व्यापारिक संगठनो की प्रकृति अधिक लचीली और परिवर्तनशील होती है जो कि कभी २ बड़ी भयानक रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार के संगठनों में कुछ शक्तिशाली लोगों का व्यक्तित्व अथवा शीर्ष पर एक ही स्वेच्छाचारी व्यक्ति सम्पूर्ण संगठन की कार्यकुशलता को निर्धारित करता है तथा अपने अधीनस्थों की पहल का क्षेत्र निर्धारित करता है।

संगठन के अत्यधिक लचीले और अत्यधिक सत्तावादी दोनों ही रूपों का विरोध किया जाता है। संगठन के अन्तर्गत ही ऐसी प्रक्रिया चलती रहती है जिसमें कि किसी को अधिक शक्तिशाली नहीं बनने दिया जाता अथवा संगठन को विघटित होने से भी बचाया जाता है। शक्ति की प्रकृति और योगदान से सम्बन्धित धारणा संगठन के रूप के अनुसार बदलती रहती हैं। एक सत्तावादी संगठन में शक्ति को महत्वपूर्ण और अपने आप में एक अच्छाई

माना जाता है उसे वांछनीय चीजों का प्राप्त करने या कार्यों को करने का साधन मात्र नहीं समझा जाता। यहां शक्ति को कठोर इच्छा मजबूत हाथ और स्पष्ट आज्ञा का रूप दिया जाता है और अनुशासन को एक यांत्रिक आज्ञाकारिता बना दिया जाता है। सम्पूर्ण संगठन उस एक व्यक्तित्व का ही यन्त्र मान लिया जाता है जिसमें केवल उसकी इच्छायें चलती हैं।

जब लुई सोलहवें ने यह कहा कि 'मैं ही राज्य हूं' तो उन्होंने विरोध के प्रति घृणा प्रकट की थी। इस प्रकार के संगठन में रचनात्मक शक्ति को संघर्ष करने, अभिव्यक्त होने तथा प्रमाणित होने के बहुत कम अवसर प्रदान किये जाते हैं। अन्वेषण की धीमी प्रक्रिया की अपेक्षा अन्तरात्मा को अधिक विश्वास सौंपा जाता है। दूसरे, लोगों के विभिन्न प्रकार के प्रस्तावों पर बहुत कम विचार किया जाता है। शक्ति सम्पन्न व्यक्ति के सिद्धांतों, कार्यक्रमों एवं विचारों को बिना प्रश्न किए ही सही मान लिया जाता है। दूसरी ओर लचीले प्रकार के संगठनों में शक्ति का प्रभाव अधिक बढ़ जाता है। पहल (Initiative) का महत्व न केवल शीर्ष पर ही स्वीकार किया जाता है वरन् यह कार्य के प्रत्येक स्तर पर स्वीकार किया जाता है। इस संगठन में विभागीय अध्यक्षों को कुछ स्वायत्तता प्रदान की जाती है। इनकी उपयोगिता को केवल आज्ञापालक की स्वामीभक्ति के आधार पर निर्धारित नहीं किया जाता वरन् संगठन के हितों को प्रोत्साहित करने में इनके द्वारा बरती जाने वाली स्वेच्छा के आधार पर निर्धारित किया जाता है।

राजनीतिशास्त्र का शक्ति-दृष्टिकोण
(The Power Approach of Political Science)

राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का एक प्रमुख केन्द्र बिन्दु यह जानना होता है कि शक्ति किसके हाथ में है तथा उसका प्रयोग किस प्रकार किया जा रहा है। विचारकों ने राज्य के विचार को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा शक्ति की धारणा को व्यक्त करने में अधिक ध्यान दिया है। शक्ति-दृष्टिकोण का एक स्पष्ट लाभ यह है कि इसके द्वारा दूसरों को प्रभावित करने वाली क्रिया को पहचान लिया जाता है। यह सच है कि 'शक्ति' राजनैतिक अनुसंधान का दिल है किन्तु फिर भी कुछ समय पूर्व तक शक्ति का विचार राजनीतिशास्त्र के विषय की सम्पूर्ण व्याख्या करने में असमर्थ रहा। अतीत काल में शक्ति की धारणा उस सिद्धान्त से सम्बद्ध रही जो कि सरकार की असीमित शक्ति पर जोर देता था। यही कारण है कि परम्परागत रूप से विद्यार्थी ने इस दृष्टिकोण को संदेह की नजर से देखा। जब मैक्यावली तथा हॉब्स ने शक्ति को अपने विचार का केन्द्र बिन्दु बनाया तो इसके दमनकारी तत्व को प्रमुखता प्राप्त हो गई।

वर्तमान समय में शक्ति का महत्व बढ़ता जा रहा है। इस धारणा ने आज पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर ली है। इतने पर भी यह धारणा राजनैतिक अनुसंधान की सीमाओं को पूर्णतः आच्छादित नही कर पाती। इसका कारण यह है कि शक्ति महत्वपूर्ण तत्वो मे से केवल एक है। यह राजनैतिक जीवन के एक महत्वपूर्ण पहलू को छोड़ देता है। यह शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी लक्ष्य को नही मानता। राजनैतिक जीवन मे केवल नियंत्रण के लिए संघर्ष ही नही होता रहता वरन् इसके अतिरिक्त विषय भी इसके भाग है। जॉर्ज केटलिन (George Catlin) तथा हेरल्ड डी. लासवेल (Herald D. Lasswell) ने उन उपयोगिताओ, अपर्याप्तताओ एव आवश्यक परिवर्तनो का उल्लेख किया है जो कि राजनीति शास्त्र की सीमाओं की शक्ति संबंधों के रूप मे व्याख्या करने से सम्बन्ध रखते है।

जार्ज केटलिन के विचार—जार्ज केटलिन ने राजनैतिक जीवन के अध्ययन के लिए एक व्यवस्थित विचारधारा विकसित करने का प्रयास किया है। उन्होंने शक्ति को राजनैतिक जीवन का प्राथमिक तत्व माना है। वे परम्परागत राजनीति शास्त्र के विरुद्ध शिकायत करते है। उनका कहना है कि इसमें राजनैतिक सस्थाओं के अध्ययन पर जोर दिया गया था किन्तु दुर्भाग्य से ये संस्थायें संसार मे मुश्किल से ही प्राप्त हो पाती हैं। यदि हम राज्य का अध्ययन करें तो पायेंगे कि संसार मे इतने राज्य हैं कि उनके बारे में कोई भी सम्भावित सामान्यीकरण नही किया जा सकता। यदि भौतिक शास्त्रियों के अध्ययन के लिए एक सौ से भी कम अणु प्राप्त हो तो उनका अध्ययन आगे नही बढ सकता। इसी प्रकार राजनैतिक दल, व्यवस्थापिकायें तथा अन्य राजनैतिक संगठन संख्या मे इतने कम होते हैं कि उनका तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया जा सकता। कैटलिन का मत था कि राजनीति शास्त्र का अध्ययन एक वैज्ञानिक अध्ययन के रूप मे इसलिए पीछे पड गया है क्योंकि हम उस राजनैतिक वातावरण को अलग से देखने में असमर्थ हो जाते हैं जो अपने आपको बार-बार दोहराता रहता है। राजनैतिक आंकड़ों मे दोहराव की विशेषता इतनी होनी चाहिए कि उनको विभिन्न रूपों में समझा जा सके।

कैटलिन ने उस कार्य को खोजने का प्रयास किया जिसे कि शुद्ध रूप से राजनैतिक कहा जा सके। व्यक्ति मे अपनी इच्छाओं को पूरा करने की इच्छा होती है। यह इच्छा उसके समस्त कार्यों का आधार है। चाहे हम इसे चाहें अथवा न चाहें, चाहे हम इसे जाने या न जाने किन्तु यह इच्छा प्रत्येक व्यक्ति में होती है कि वह अपने आपको प्रमुखता प्रदान करना चाहता है। डेविड ईस्टन (David Easton) के कथनानुसार 'अपनी इच्छाओं को पूरा करने की इच्छा प्रमुख मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिसके आधार पर राजनीति

शास्त्र का विज्ञान निर्मित किया जा सकता है।"[1] अपनी इच्छा लागू करने के लिए दूसरे लोगों की इच्छाओं को नियन्त्रित करना आवश्यक है। इस प्रकार इच्छाओं के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो जायेगा। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहेगा कि वह ताकत, सुझाव, परम्परा या कानून के द्वारा दूसरे व्यक्तियों की इच्छाओं पर नियंत्रण रखे। यही शक्ति के लिए संघर्ष का मूल तत्व है। शक्ति का अध्ययन पूर्ण रूप से यह स्पष्ट नहीं करता कि सरकार समाज को किस प्रकार नियन्त्रित करती है अथवा कैसे व्यवस्था की स्थापना करती है वरन् इसके द्वारा इस व्यापक समस्या पर विचार किया जाता है कि एक व्यक्ति या समूह दूसरों की इच्छाओं को किस प्रकार प्रभावित करता है।

इच्छाओं के संघर्ष को राजनीतिशास्त्र का आधार बनाया जाये तथा उसी के आधार पर राजनैतिक विचारधारायें बनायी जायें तो राजनीतिशास्त्र की शेष विषय वस्तु स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगी।

लासवेल के विचार—शक्ति सम्बन्धों का एक दूसरा उल्लेखनीय विचारक लासवेल है। इन्होंने राजनीति के अध्ययन को कैटलिन की अपेक्षा कुछ व्यापक दृष्टि से देखा है और इसीलिए उनके निष्कर्ष भी भिन्न प्रकार के हैं। ये दोनों ही विचारक शक्ति पर जोर देने के सम्बन्ध में एकमत हैं। लासवेल ने माना कि राजनीति शास्त्र एक स्वायत्तशासी अनुशासन है, यह केवल व्यावहारिक मनोविज्ञान अथवा व्यावहारिक अर्थ शास्त्र नहीं है।

राजनीति शास्त्र मूल रूप से एक शक्ति प्रक्रिया नहीं है वरन् यह समाज के मूल्यों की स्थिति एवं बनावट में परिवर्तन का अध्ययन है। मूल्यों का वितरण समाज के सदस्यों के प्रभाव पर निर्भर करता है। राजनीतिशास्त्र को प्रभाव एवं प्रभावी दोनों का अध्ययन करना होता है। लासवेल के विचारों का मुख्य केन्द्र यह था कि राजनीतिशास्त्र में शक्ति एवं मूल्यों का अध्ययन किया जाये। अपने व्यापक अर्थ में राजनैतिक अनुसंधान का उद्देश्य है कि इन दोनों के मध्य स्थित पर-निर्भरता को स्पष्ट किया जाये। इसमें यह देखना होता है कि हमारे मूल्य-शक्ति के प्रयोग एवं वितरण को किस प्रकार प्रभावित करते है और हमारी स्थिति तथा शक्ति के प्रयोग द्वारा मूल्यों का वितरण किस प्रकार किया जाता है। उन्होंने अपनी पुस्तक, 'कौन, कब, क्या, कैसे प्राप्त करता है' (Who gets, What, When and How) में यह स्पष्ट कर दिया है कि राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध किस चीज से है।

---

1. *"The desire to fulfil ones desire is the prime psychological fact upon which a science of politics can be built."*
—David Easton, the Political System, 1953, P.119.

इस पुस्तक के शीर्षक द्वारा राजनीतिशास्त्र की विषय-वस्तु से सम्बन्धित सामान्य धारणा को स्पष्ट किया गया और लासवेल के मूल विचारों को अभिव्यक्त किया गया। इस पुस्तक मे उन्होने यह बताया कि राजनैतिक उच्च तबके के लोगों के पास जो शक्ति होती है उसका स्रोत क्या होता है। इस प्रकार इसकी रुचि का केन्द्र यही नही है कि समाज मे मूल्य किस प्रकार वितरित किए जाते है वरन् इसका ध्यान मुख्य रूप से इस समस्या पर केन्द्रित रहा है कि शक्ति सम्पन्न उच्च तबके के लोग समाज की वांछनीय चीजों को प्राप्त करने के लिए शक्ति को किस प्रकार प्रयोग मे लाते हैं। यह पुस्तक मुख्य रूप से उन साधनो का वर्णन करती है जिनके माध्यम से उच्च तबके के लोग शक्ति के पद पर पहुंचते हैं और कायम रहते है तथा अपनी सुरक्षा, आय और आदर को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यदि हम राजनीतिशास्त्र को बदलते हुए मूल्यों के रूप का अध्ययन माने तो लासवेल की यह पुस्तक सम्पूर्ण प्रक्रिया के केवल एक छोटे भाग मात्र की अभिव्यक्त करने वाली समझी जाएगी। यह केवल शक्तिसम्पन्न अल्पसख्यक वर्ग के योगदान का अध्ययन करने तक ही सीमित है। इस पुस्तक के आधार पर हम सामाजिक जीवन के अध्ययन के लिये कोई सामान्य रूप रचना नही बना सकते। डेविड ईस्टन (David Easton) के शब्दो मे "यह सम्पूर्ण राजनैतिक व्यवस्था की जाच करने का साधन नही है वरन् एक ही सामाजिक अङ्ग उच्च तबके की नीति एवं विशेषताओं का निर्धारण करने का ही माध्यम है।"

लासवेल द्वारा प्रतिपादित उच्च तरीके की विचारधारा (Elitistic Theory) शक्ति के स्रोतो का विश्लेषण करने में आंशिक योजना ही प्रस्तुत कर पाती है। इसके द्वारा दूसरो की शक्ति से सम्बन्धित थोड़े ही आकड़े प्रस्तुत किये जाते है। यह केवल एक ही समस्या पर केन्द्रित रहती है और यह है समाज में शक्ति के अल्पसंख्यक वर्ग के हाथों केन्द्रित होने की प्रवृत्ति। विचारकों ने इसे एक संकीर्ण विचारधारा माना है क्योंकि इसके आधार पर लासवेल ने राजनीतिशास्त्र की संपूर्ण विषय वस्तु को शक्ति के लिए संघर्ष मान लिया है। लासवेल की अन्य पुस्तक शक्ति और समाज (Power and Society) के प्रकाशन से पूर्व उनके अनुसंधान का मुख्य केन्द्र शक्ति ही रहा। उनके मतानुसार शक्ति ही राजनैतिक अनुसंधान के हित की जगह स्थिर है। बाद में उन्होंने मूल्यों के वितरण को भी राजनैतिशास्त्र के अध्ययन में सम्मिलित कर लिया। आलोचकों के मतानुसार उनका यह बदला हुआ दृष्टिकोण भी कुछ संतोषजनक नही था क्योंकि मूल्यों के वितरण का अध्ययन बताने पर सम्पूर्ण समाज विज्ञान की ओर इशारा हो जाता है न कि केवल राजनीतिशास्त्र की ओर।

लासवेल ने कैटलिन (Catlin) के विपरीत शक्ति की स्थिति के तत्कालीन एव भावी परिणामों का उल्लेख किया। यह इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि लासवेल ने क्षेत्र को अच्छी प्रकार से परिभाषित किया ताकि मूर्त अध्ययन किया जा सके। इन्होंने प्रशासन करने वाली समूह की विशेषता में, उनकी कुशलता में, उनकी वर्गीय उत्पत्ति मे, विषयगत दृष्टिकोणों में, व्यक्तित्व के गुणो में रुचि को प्रेरित किया, इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रसाधनों जैसे—सामग्री, व्यवहार, हिंसा और प्रतीक आदि में विशेष रुचि दिखाई जिनके माध्यम से कि प्रशासकीय समूह-शक्ति के पद पहुंच पाता है। इस प्रक्रिया ने लासवेल को मनोविश्लेषण से व्यक्तित्व का अध्ययन करने को प्रेरित किया।

शक्ति सबन्धी धारणा ने राजनैतिकशास्त्र के क्षेत्र मे पर्याप्त महत्वपूर्ण कार्य किया, इसने राजनीतिकशास्त्र के नेतृत्व का अध्ययन करने के लिए नया आधार प्रस्तुत किया। पहले विभिन्न राजनैतिक दबाव समूहों के कार्यों और राजनीतिज्ञों को चालबाजियों के व्यवहार के बारे में जो विभिन्न प्रकार के आकडे दिखाई देते थे शक्ति के धारणा के प्रयोग के बाद एक दूसरे के साथ संयुक्त कर दिया गया। आज इन आकडों के आधार पर शक्ति की विचारधारा को समझा जा सकता है।

लासवेल और कैटलिन द्वारा प्रस्तुत शक्ति सम्बन्धी विचारधारा के स्पष्ट लाभ थे किन्तु दोनो ने ही राजनैतिक प्रकृति को सन्तोषजनक रूप से समझने के लिए कोई आधार प्रस्तुत नही किया। दोनों ही लेखकों ने यह तर्क दिया था कि शक्ति सम्बन्ध जहा कही भी पाये जायें वे अपने आप ही राजनीतिक स्थिति के अस्तित्व का सूची-पत्र बन जाते हैं। इन लेखकों के विचार को मान लिया जाए तो हमें प्रत्येक उस क्लब अथवा संगठन में राजनैतिक जीवन का अस्तित्व स्वीकार करना होगा जो कि सम्बन्धो के पद सोपान युक्त प्रबन्धों पर आधारित है। जब राजनीति को शक्ति के रूप मे वर्णित किया किया जाता है तो इसकी परिभाषा का आकार पर्याप्त व्यापक बन जाता है। इस सम्बन्ध में डेविड ईस्टन का यह कथन उल्लेखनीय है कि "जब कैटलिन और लासवेल ने यह बताया कि राजनीतिशास्त्र इन प्रक्रियाओं मे रुचि लेता है और लेनी चाहिए तो वे गलत नहीं थे किन्तु जब विचारकों ने यह बताया कि राजनीतिशास्त्री का इनसे केवल इनके शक्ति सम्बन्ध नहीं रहता तो उन्होंने एक प्रकार से पाठकों को गुमराह किया।" शक्ति राजनीतिशास्त्र का आधार मान लेने पर उसकी परिभाषा मे व्यापकता के साथ अनिश्चितता भी आ जाती है। हम देखते हैं कि एक परिवार मे या धार्मिक संस्था में किसी भी गुट में लोगों के बीच शक्ति सम्बन्ध होते हैं क्योंकि उनमे एक व्यक्ति या

समूह दूसरे के कार्यों का नियन्त्रण करता है किन्तु इसका अर्थ यह नही होता कि राजनीतिशास्त्र इनके अध्ययन में रुचि लेगा। शक्ति-सिद्धान्तों को अपना आधार सामान्य शक्ति नही बनाना चाहिए वरन् राजनैतिक शक्ति को बनाना चाहिए। कैटलिन और लासवेल तथा यहां तक कि शक्ति से सम्बन्धित अन्य विचारक भी उस अन्तर को स्पष्ट करने में उदासीन रहे जो कि शक्ति के सामान्य रूप और राजनैतिक शक्ति के बीच रहता है। इसके विपरीत उन्होंने शक्ति के सामान्य रूप को राजनैतिक प्रकृति का केन्द्रबिन्दु बना दिया किन्तु व्यवहारिक अनुसंधान के समय जब वे राजनैतिक प्रश्नो का अध्ययन करने लगे तो उनको शक्ति के राजनैतिक पहलू पर जोर देना पड़ा। जब हम शक्ति के राजनैतिक पहलू की विशेषताओं को खोजने लगते है तो राजनीतिशास्त्र की उन सीमाओं को परिवर्तित करना होता है जो कि शक्ति से सम्बन्धित विचारकों ने लगाई थी।

प्रभाव की धारणा
(The Concept of Influence)

प्रत्येक मानवीय व्यवहार कुछ प्रभाव डालता रहता है और कुछ तत्वों से प्रभावित होता रहता है। राजनीतिशास्त्र को एक मानवीय व्यवहार का अध्ययन होने के नाते प्रभावो के अध्ययन में भी रुचि रखनी होती है। राजनीतिशास्त्र की मुख्य विशेषता उसकी विशेष सैद्धान्तिक रूप-रचना नहीं है वरन् अनुभववाद में उसकी विशेष रुचि है। ऐसा होने के कारण राजनीतिशास्त्र को राजनैतिक व्यवहार का अध्ययन करते समय अन्य व्यवहारिक विज्ञानों का अध्ययन भी आवश्यक रूप से करना होता है। इसके अतिरिक्त राजनैतिकशास्त्र का यह उत्तरदायित्व बन जाता है कि वह राजनीति के क्षेत्र मे घटने वाली घटनाओं के विश्लेषण के लिए उपयुक्त व्यवहारिक विचारधारा का विकास करे। आजकल राजनैतिक विश्लेषण मे सम्बन्धित व्यवहारिक और सैद्धांतिक रचनाओं मे उन अनेक राजनैतिक आकड़ों का अध्ययन किया जाता है जो कि निर्णय लेने की प्रक्रिया को प्रभावित करते है। जब निर्णय लेने की प्रक्रिया को अनुभववादी सामाजिक विज्ञान का एक मुख्य केन्द्र बिन्दु मान लिया जाता है तो यह जरूरी हो जाता है कि प्रभाव (Influence) के व्यवहारिक अर्थ सैद्धांतिक दिशाओं का वर्णन किया जाए। जब कोई निर्णय लिया जाता है तो उस पर मानवीय व्यवहार की अनेक घटनायें प्रभाव डालती हैं। प्रभाव के महत्व का वर्णन करते हुए जेम्स मार्च (James A. March) ने लिखा है कि "निर्णय लेने की प्रक्रिया के अध्ययन के लिए प्रभाव उसी

प्रकार महत्वपूर्ण है जिस प्रकार गति के अध्ययन के लिए ताकत है।"[1] मार्च महोदय ने प्रभाव को कारण-कार्य सम्बन्ध के रूप में परिभाषित किया है तथा इस परिभाषा के आधार पर उन्होंने निर्णय लेने के अङ्ग का औपचारिक मॉडल प्रस्तुत किया है।

प्रभाव के विश्लेषण की समस्यायें

प्रभाव का विश्लेषण करते समय अनेक समस्यायें सामने आती हैं। इन समस्याओं का अध्ययन करने के बाद प्रभाव का स्वरूप कुछ-कुछ स्पष्ट हो जाता है।

इनमें प्रथम समस्या का सम्बन्ध सामान्यीकरण से है अनुसंधान के लिए जब प्रभाव की व्यावहारिक परिभाषायें की जाती है तो विभिन्न रूपी होती हैं साथ ही सामान्य धारणा से उनका सम्बन्ध बड़ा अस्पष्ट होता है। यद्यपि यह सच है कि अलग-अलग परिस्थितियो मे प्रभाव के अलग-अलग प्रकारों पर विचार करना चाहिए किन्तु फिर भी इन प्रकारों का सामान्य सिद्धांत से भी स्पष्ट सम्बन्ध निर्धारित किया जाना चाहिए। जब प्रभाव के अध्ययन में सामान्यता नही आ पाती तो इसके दो मुख्य परिणाम होते है—प्रथम यह अन्तर्व्यक्तिगत प्रभाव के अध्ययन के प्रभाव को सीमित कर देती है। दूसरे, यह विचारधारा और अनुसंधान के विभिन्न क्षेत्रों में अध्ययन के औचित्य को घटा देती है।

दूसरी समस्या यह है कि प्रभावों के पारस्परिक सम्बन्ध को निर्धारित नही किया जा सकता। उदाहरण के लिए हम लोकमत के क्षेत्र में एक समस्या को ले सकते हैं। मान लीजिये हम विदेशी मामलो पर देशीय लोकमत एवं विदेश मन्त्रालय द्वारा विदेशों में किये जाने वाले प्रचार के बीच सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। इस प्रकार के अध्ययन मे यह मान लिया जाता है कि देश में जैसा लोकमत है उसे रहने दिया जाए और विदेशों के लोकमत को प्रभावित करने के लिए प्रचार कार्य मे परिवर्तन किये जायें। यह दृष्टिकोण गलत रहेगा क्योंकि प्रचार का विदेशों पर प्रभाव पड़ता है और विदेशों के दृष्टिकोण तथा कार्यों मे होने वाला परिवर्तन स्वदेश के लोकमत पर प्रभाव डालता है। इसलिए लोकमत को प्रदत्त रूप में स्वीकार नही कर लेना चाहिए। प्रभाव की दिशायें अलग-अलग होती है। इन दिशाओं का एक दूसरे पर क्या प्रभाव पड़े यह तय कर पाना कठिन होता है।

---

1. James A. March in Political Behaviour, Edited by Heinz Eulau and others 1956, p 385

तीसरी समस्या यह है कि प्रभाव के अनेक परिणाम ऐसे हो जाते है जिनकी कल्पना तक नही की जा सकती और कई बार प्रभाव के परिणाम अत्यन्त देर से प्राप्त होते है। चौथे, जब कभी प्रभाव की जाँच की जाय तो हमको वे दिशायें जान लेनी चाहिए जिनमे कि माप की क्रिया की जानी है। अभी तक अनुभववादी अध्ययन परिपक्व नही हो पाये है अत. यह स्पष्ट रूप से नही कहा जा सकता कि दो व्यक्तियों के मध्य स्थित सम्बन्धों की दिशायें क्या है। इस प्रकार के सम्बन्ध को प्रभावों का एक सूची-पत्र तैयार करके भी स्पष्ट नही किया जा सकता। दो व्यक्तियो के बीच का प्रभाव सम्बन्ध विचाराधीन विषय वस्तु के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है।

चौथे प्रभाव को मापना भी एक समस्या होती है। इसमे अनेक कठिनाइया आती है। वर्तमान समय मे प्रभाव के जो मापक उपलब्ध है उनमें सामान्यरूपता नही है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रभाव सम्बन्धों की तुलना करके नही देखा जा सकता।

प्रभाव परिवर्तन के कारण के रूप में

जब एक व्यक्ति के वातावरण का अध्ययन कर लिया जाता है और यह देख लिया जाता है कि किस वातावरण का व्यक्ति पर क्या प्रभाव होता है तो उसके अनुसार व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन करना अधिक कठिन नही रह जाता। व्यवहार के कुछ नियम तो ऐसे होते है जिनके आधार पर सही-सही भविष्यवाणी की जा सकती है किन्तु अन्य नियम इतने सार्थक नही होते। व्यक्ति जब कल्पनातीत व्यवहार करने लगता है तो समझिये कि अवश्य ही उस पर प्रभावों का असर है। प्रभावो के द्वारा व्यवहार में परिवर्तन ला दिया जाता है।

एक कार्य के कारण तथा उसके प्रभाव मे पर्याप्त सम्बन्ध रहता है। मि० मार्च ने तो प्रभाव की परिभाषा का आधार इसी समानता को बताया है। कारण एवं प्रभाव की विशेषताएं समान होने के कारण भी ये दोनों कुछ-कुछ समानार्थक बन जाते है। यह कहा जाता है कि 'क' और 'ख' का कारण है तो इसमे यह सम्भावना नही रहती कि 'ख' भी 'क' का कारण हो सकता है। इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि 'क'ने 'ख' को प्रभावित किया है तो इसमें यह सम्भावना नही रहती कि 'ख' और 'क' को प्रभावित कर सकता है। प्रभाव का सैद्धान्तिक अध्ययन करते समय इसलिए पर्याप्त भ्रम पैदा हो जाता है क्योंकि घटनाओं के प्रभाव सम्बन्ध तथा व्यक्तियो के प्रभाव सम्बन्धों के बीच भेद नही किया जाता है।

यह माना जाता है कि प्रभाव से सम्बन्धित किसी भी वक्तव्य को शीघ्र ही कारणता का वक्तव्य बनाया जा सकता है। किन्तु कारणता से

किसको प्रभावित किया। कभी-कभी केवल यह जानना पर्याप्त नहीं होता कि कुछ अभिनेताओं ने दूसरों को प्रभावित किया वरन् यह भी जानना होता है कि विभिन्न अभिनेताओं के बीच प्रभाव की स्थिति क्या है। एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक प्रभाव डाल सकता है। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा डाले गये प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। मि० डहाल के शब्दों में "विभिन्न अभिनेताओं के प्रभाव की तुलना किये बिना राजनैतिक जीवन पर विचार करना प्राय. असम्भव है यहा तक कि एक प्रजातन्त्र को तानाशाही व्यवस्था से अलग करने के लिए भी नागरिकों एवं सेनाओं के सम्बन्धित प्रभाव का अनुमान लगाने की आवश्यकता होती है।"[1] अरस्तु ने अपनी वर्गीकरण की योजना में यह माना था कि प्रभावों की तुलना की जा सकती है और उसके आधार पर राजनैतिक व्यवस्था को वर्गीकृत किया जा सकता है। पहले हमें यह जानना चाहिये कि व्यवस्था मे एक व्यक्ति प्रभावशील है या कुछ व्यक्ति प्रभावशील हैं अथवा बहुमत प्रभावशील है. उसके बाद ही हम यह कह सकते हैं कि यह व्यवस्था कौनसी है।

प्रभावों की तुलना करना जितना आवश्यक एव महत्वपूर्ण है यह उतना ही कठिन भी है। एक राजनैतिक व्यवस्था मे विभिन्न अभिनेताओं के सापेक्षित प्रभाव की तुलना करने मे राजनैतिक विश्लेषण पर्याप्त भ्रमपूर्ण बन जाता है। इस भ्रम का मुख्य कारण यह है कि प्रभाव को मापने के लिए विभिन्न मापदण्ड प्रयुक्त किये जाते है। इस सम्बन्ध में निरर्थक विवाद उत्पन्न हो जाता है। यहां हम प्रभाव की तुलना करने के राबर्ट ए. डहाल द्वारा वर्णित पांच तरीकों का अध्ययन करेंगे।

प्रभाव की तुलना करने के तरीके
(The ways of Comparing Influence)

एक व्यक्ति के व्यवहार पर दूसरे व्यक्ति द्वारा डाले गये प्रभाव की मात्रा का पता लगाने के लिए मापदण्ड तो इस विचार पर आधारित रहते है कि प्रभावित व्यक्ति के व्यवहार के परिवर्तन की मात्रा को देख लिया जाये। मान लीजिए राम ने श्याम को प्रभावित किया अर्थात उसने श्याम को वह कार्य करने के लिए मजबूर किया जो कि वह सम्भवतः अन्यथा न करता। यहा हमें यह देखना होगा कि श्याम का व्यवहार किस मात्रा में राम द्वारा परिवर्तित किया गया। असल में यह मात्रा ही प्रभाव की मात्रा होगी। यंत्र विज्ञान मे ताकत की धारणा है वह प्रभाव के विचारों से मिलती-जुलती है। यंत्र विज्ञान

1. Robert A. Dahl, op. cit., p. 41.

मे एक चीज के द्वारा दूसरी चीज पर ताकत का प्रयोग किया हुआ उस समय माना जाता है जब कि उस चीज के द्वारा-दूसरी चीज की स्थिति में परिवर्तन किया जाए। गैलेलियो का यह प्रसिद्ध नियम है कि यदि एक शरीर को यों का त्यों छोड दिया जाए तो वह एक ही दिशा में, एक ही गति से आगे बढेगा। किन्तु यदि उसकी गति मे कोई परिवर्तन हुआ तो इसका अर्थ होगा कि किसी शक्ति का प्रयोग किया गया है। गति में होने वाला परिवर्तन प्राय. शक्ति के आकार के अनुरूप होता है। यही बात कुछ-कुछ राजनैतिक प्रक्रियाओं मे भी होती है। जब हम इस प्रकार के प्रभाव का अध्ययन करने लगते है तो सर्व प्रथम हमारे सामने प्रभावित अभिनेता की स्थिति मे होने वाले परिवर्तन की मात्रा होती है। उदाहरण के लिए यदि हम यह विचार करें कि भारत की विदेश नीति श्री शास्त्री के प्रधान मन्त्री बनने पर वही थी जैसी कि उनके पद त्यागने पर थी तो इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन्होंने यहां की विदेश नीति पर कोई प्रभाव नही डाला।

प्रभाव को मापने की यह प्रक्रिया प्रत्येक स्थिति मे लागू नही होती। विभिन्न राजनैतिक अभिनेताओं के सापेक्षित प्रभाव को मापना हमेशा न तो सम्भव होता है और न ही यह सन्तोषजनक होता है। इस सम्बन्ध में कठिनाई यह है कि यह नहीं जाना जा सकता कि विभिन्न अभिनेताओं की प्रारम्भिक स्थिति क्या थी और असल मे वे कितने बदले हैं। राजनीति में व्यक्ति कभी-कभी सौदेबाजी के उद्देश्य के लिए अतिशय पूर्ण स्थिति अपना लेते है। ऐसा करते हुए वे यह आशा करते है कि अपने सही उद्देश्यके अनुरूप समझौता कर सकेंगे। राजनीति मे सबसे महत्वपूर्ण कुशलता यह मानी जाती है कि, सौदेबाजी की स्थिति को रोका जाए तथा यह सही-सही अनुमान लगाया जाए कि ऐसा करने से विरोधी की वास्तविक स्थिति कितनी दूर हो जाएगी। दूसरी कुशलता ठीक इससे विपरीत होती है। इसके अनुसार एक व्यक्ति अपनी वास्तविक स्थिति को छुपा लेता है तथा अपनी सौदेबाजी की स्थिति में विस्तार करने लगता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के झगड़ो में विभिन्न पक्ष प्रायः धमकी, धोखेबाजी, शक्ति के प्रयोग, सेना के संचालन और क्रोधपूर्ण शब्दों के माध्यम से उनकी वास्तविक स्थिति को छिपाना चाहते हैं तथा दूसरी ओर वे अपने विरोधी की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट रूप से देखना चाहते हैं। ऐसा करने के लिए वे अनुसंधान गुप्तचर प्रणाली आदि का सहारा लेते हैं और उनके द्वारा दी गई धमकियों और कार्यों के आधार पर उनके उद्देश्यों का अनुमान लगाने लगते हैं।

यह पता लगाना हमेशा सम्भव नहीं होता है कि एक स्थिति मे होने वाला परिवर्तन दूसरे परिवर्तन से छोटा है या बड़ा है। परिवर्तन के साथ एक

मनोवैज्ञानिक अन्तर भी रहता है और इसे मापना प्रभाव मापन की प्रक्रिया का ही एक अंग है।

प्रभाव को मापने का एक दूसरा तरीका विषयगत मनोवैज्ञानिक रुख है। प्रभाव के इस मापक को स्पष्ट करने के लिए मि० डहाल ने कुछ वक्तव्यों का उल्लेख किया है, उनमे से एक इस प्रकार है—"अमेरिकी जीवन में विस्थापित समूहों के मिल जाने के कारण और बॉस से सामाजिक सुरक्षा के अनेक कार्यों को छीन लिए जाने के कारण पुराने तरीके के राजनैतिक वॉस का प्रभाव समाप्त हो गया है। वॉस के अनुयायी उसकी सेवाओं की कम से कम आवश्यकता एवं इच्छा रखते है।" एक दूसरा वक्तव्य है—'राष्ट्रपति को अपने कल्याणकारी कार्यों का समर्थन प्राप्त करने के लिए शहरी क्षेत्रो के कांग्रेस के सदस्यो पर अधिक प्रभाव डालने की आवश्यकता नही पड़ी क्योंकि वे पहले से ही उसके पक्ष में है किन्तु मध्य पश्चिम के देहाती जिलो के कांग्रेस के सदस्यों को अपने साथ लेने मे इनको पर्याप्त प्रभाव का प्रयोग करना पडेगा।" इन वक्तव्यो को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दो विभिन्न अभिनेताओं की वस्तुगत स्थिति में समान दिखाई देने वाला परिवर्तन भी विषयगत परिवर्तन की भिन्न-भिन्न मात्रा को आवश्यक मानता है। कुछ लोगों की इच्छाओं को प्रभावित करने के लिए दूसरे लोगो की इच्छाओं को प्रभावित करने की अपेक्षा कम या अधिक प्रभाव की आवश्यकता पड़ सकती है और ऐसी स्थिति में प्रभाव का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है क्योंकि प्रभाव एक सा होते हुए भी परिवर्तन सम्बन्धित लोगों के मूल्य उनकी स्थिति पर निर्भर करता है।

प्रभाव के द्वारा किया गया परिवर्तन प्रभाव की विषय वस्तु पर भी निर्भर करता है। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका मे नागरिक अधिकारों के व्यवस्थापन का समर्थन प्राप्त करना है तो उत्तरी डेमोक्रेट की अपेक्षा, दक्षिणी भाग के डेमोक्रेट शीघ्र ही अनुकूल प्रतिक्रिया करेंगे। इसी प्रकार यदि भारत में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रश्न है तो उसे उत्तरी भाग के संसद सदस्य शीघ्र अपना समर्थन दे देंगे जबकि दक्षिणी भाग के संसद सदस्यों द्वारा उसका कड़ा विरोध किया जायेगा। इस प्रकार यह निश्चित है कि व्यवहार में हमेशा इस मापक को प्रयुक्त नही किया जा सकता क्योंकि हम वास्तव मे यह नहीं जान सकते कि विभिन्न व्यक्तियों की यथार्थ मनोवैज्ञानिक पूर्णता में कितना और क्या अन्तर है। हमें ज्ञात मूल्यों और परिस्थिति के अन्तरों के आधार पर प्रायः अनुमान लगाते हैं। इस अनुमान का सत्य होना जरूरी नही है।

तीसरे स्वीकृति की संभावना में भिन्नता की मात्रा के आधार पर भी प्रभाव को मापने का प्रयास किया जाता है। जब हम गली के एक कोने में खड़े होकर यातायात को बांये हाथ पर चलने को कहते हैं और वस्तुस्थिति को अपनी आज्ञा के अनुकूल पाकर अपने प्रभाव का अनुमान लगाने लगते हैं तो यह हमारा भ्रम होता है क्योंकि ऐसा करते समय हम यह भूल जाते हैं कि चाहे हमारे द्वारा आज्ञा दी जाती अथवा न दी जाती किन्तु यातायात को बायें हाथ पर चलना था, क्योंकि ऐसा करने के लिए वह कानूनी रूप से बाध्य है। यह भी हो सकता है कि एक हजार चालकों में से एक हमारे कहने पर बायें चलने लगे, तो भी हम इसे प्रभाव नहीं कहेंगे, क्योंकि प्रभाव को न मानने वालों की एक बहुत बड़ी सख्या है।

यहा पुलिस का सिपाही दूसरी स्थिति में होता है। सम्भवतः यदि वह नही होता तो दस मे से केवल एक कार ही सही दिशा मे चलपाती किन्तु उसका सकेत पाते ही प्रत्येक कार बांयी दिशा में चलने लगती है। दूसरी ओर गली मे खड़े होकर जब हम आज्ञा देते हैं तो उसका पालन होता है किन्तु जब आज्ञा नहीं देते तो उसका कोई प्रभाव नही होता। इसी के आधार पर हम प्रभाव का अनुमान लगा सकते है। कहने का अर्थ यह है कि यदि हम प्रभाव को मापना चाहते है तो यह देखना चाहिए कि प्रभावित व्यक्तियों के द्वारा उसको कितना स्वीकार किया जाता है। कई बार स्वीकृति का हमको भ्रम हो जाता है। ऐसा लगता है कि हमारी बात मानी जा रही है किन्तु वस्तु स्थिति कुछ भिन्न ही होती है क्योंकि व्यवहार हमारी मर्जी और अनुमति के अनुसार नही होता वरन् स्वयं ही होता है। इसका अन्तर जानने के लिए हम आदेश न देकर देखें कि उसका क्या प्रभाव होता है। इसका एक अन्य उदाहरण रावर्ट डहाल ने दिया है। उनके अनुसार जब एक डेमोक्रेटिक राष्ट्रपति के द्वारा प्रस्तावित एक विधेयक पर ६० में से ५९ डेमोकेट्रिक सीनेटर अपना मत प्रदान करते हैं तो इससे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि राष्ट्रपति का कांग्रेस में अपने दल पर बड़ा प्रभाव है। पहले तो हमें यह जानना होगा कि कितने डैमोकेट्रिक सीनेटरों ने उस विधेयक पर मत प्रदान किया है जिस पर कि राष्ट्रपति ने अपनी उदासीनता दिखाई थी। यदि राष्ट्रपति के रुचिहीन होने पर भी उतने ही सीनेटर अपना मत प्रदान करते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि संगठन का कार्य राष्ट्रपति का प्रभाव नहीं था।

उपरोक्त मापक के मार्ग में कुछ कठिनाइया भी हैं। प्रथम तो यह है कि अवसरों का सम्भावनाओं के सम्बन्ध में अनुमान लगाना होगा; इसके लिए अतीत काल की अनेक समान घटनाओं को देखना होगा। राजनैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में ऐसा करना कठिन होगा क्योंकि वे प्रायः दोहराये नहीं जाते

और उनके बीच समानता भी नही रहती, अतः सम्भावनाओं का अनुमान प्रायः कठिन बन जाता है। दूसरे एक विशेष घटना की प्रारम्भिक स्थिति को जानना प्रायः कठिन होता है। इसके अतिरिक्त सम्भावनाओं मे केवल अन्तर होना ही पूर्ण रूप से सन्तोषजनक नही है क्योकि इसमे स्थिति के परिवर्तन की मात्रा और स्वीकृति का मूल्य ध्यान मे नही रखा जाता।

चौथे, एक क्रिया की प्रतिक्रिया के क्षेत्र मे विभिन्न अन्तर रहते है। इस दृष्टि से हम प्रत्येक संस्था के अध्यक्ष को समान रूप से प्रभावशाली नही कह सकते। किसी संस्था में तो अध्यक्ष का पूर्ण रूप मे प्रभाव रहता है किन्तु दूसरी संस्था में यह प्रभाव इतना नहीं रहता। प्रभाव के क्षेत्र का भी विभिन्न अध्यक्षों के बीच अन्तर रहता है। कुल मिलाकर अमेरिकी सीनेट मे बहुमत दल का नेता सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति होता है। एक समिति का सभापति समिति के अधिकार क्षेत्र मे आने वाले विभिन्न विषयो पर सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति होता है किन्तु शेष प्रश्नों पर वह उतना ही प्रभाव रखता है जितना कि एक साधारण सदस्य पर रखा जाता है।

जो प्रभाव के विषय होते है उनकी प्रतिक्रिया (Response) को प्रायः समान और तुलना योग्य माना जाता है। इस दृष्टि से सभी कार्यों को कुछ कुछ एक जैसी प्रकृति का माना गया था। यदि इस प्रकार की समानता रहती है तो उनकी तुलना करने मे कोई आपत्ति नहीं है किन्तु जब विभिन्न अभिनेता विभिन्न दूसरे अभिनेताओं को विभिन्न प्रकार के प्रश्नों पर प्रभावित कर रहे हों तो क्या हम उनके प्रभावो की परस्पर तुलना कर सकते हैं, एक विचारणीय प्रश्न है। उदाहरण के लिए यदि हम यह पाएं कि प्रधान मन्त्री शास्त्री विदेश नीति के मामलों में अधिक प्रभावशील थे किन्तु प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी गृह नीति के मामलों में अधिक प्रभाशील है तो क्या हम दो भिन्न प्रकार के मसलों को एक सामान्य क्षेत्र में मिलाकर यह जानने का प्रयास कर सकते हैं कि संसद पर संसदीय कार्यों मे किस प्रधानमन्त्री का प्रभाव अधिक रहा। यह एक कठिन समस्या है और इसके लिए पूर्णतः सन्तोषजनक समाधान अभी तक प्राप्त नही हो सका है

प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन करने मे होने वाले भ्रमों को दूर करने के लिए कुछ एक उपाय बरते जाते हैं। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि प्रभाव से सम्बन्धित एक कथन यदि स्पष्ट रूप मे उसके क्षेत्र को इंगित नही करता तो वह निरर्थक है। जब कभी कोई यह कहे कि अमुक व्यक्ति बहुत प्रभावशाली है तो इस सम्बन्ध में यह उचित प्रश्न होगा कि वह किस विषय में प्रभावशाली है। जब इस प्रश्न पर विचार नहीं किया जाता तो कई बार

पर्यवेक्षक व्यर्थ के अध्ययन में पड जाता है। दूसरे जब प्रभाव के विभिन्न अभिनेताओं को स्पष्ट रूप से उल्लेखित किया जाता तो भी यह कहना कठिन या असंभव होता है कि कुछ अभिनेताओं में से प्रभाव के सम्पूर्ण क्षेत्र पर कौन सबसे अधिक प्रभावशाली है। जब हम अलग-अलग खेलकूदो में प्रतियोगिता करने वाले दो खिलाड़ियो की तुलना करने लगते है तो कुछ इसी प्रकार की समस्या खड़ी होती है। राजनैतिक व्यवहार में एक अभिनेता को दूसरे की अपेक्षा तभी अधिक प्रभावशाली कहा जाता है जबकि प्रभाव के सम्पूर्ण क्षेत्र में वह दूसरे की अपेक्षा कम प्रभाव न रखे और किसी भी एक क्षेत्र में विशेष प्रभाव रखें। यदि राम श्याम मे से दोनों ही फुटबाल, बालीबाल और बैंडमिंटन मे समान रूप से प्रभावशाली है और श्याम बास्केट बाल में राम की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है तो यह मानना पड़ेगा कि 'श्याम' राम की अपेक्षा *अधिक प्रभावशाली है। तुलना की यह प्रक्रिया प्रायः सभी स्थितियों मे लागू* नहीं की जा सकती क्योंकि यह जरूरी नही है कि राम और श्याम सभी खेलों में समान रूप से प्रभावशाली हों। यह भी हो सकता है कि एक खेल में राम प्रभावशाली हो और श्याम कुछ भी न जाने तथा दूसरे खेल में श्याम प्रभावशाली हो और राम कुछ भी न जाने तो ऐसी स्थिति में दोनों की प्रभावशीलता की तुलना कैसे की जा सकती है। यहां यह किया जा सकता है कि दोनों प्रकार के खेलों को प्रभावशीलता की कुछ मात्रा सौंपी जाए किन्तु ऐसा करना पूर्ण रूप से स्वेच्छाजनक होगा।

पांचवें, प्रभाव का एक अन्य मापक भी हो सकता है और वह यह है कि प्रतिक्रिया करने वाले लोगों की संख्या कितनी रही। यदि राम को एक चुनाव में पांच हजार मत प्राप्त हुए और श्याम को उसी चुनाव मे दस हजार मत प्राप्त हुए तो यह कहना बुद्धिपूर्ण रहेगा कि चुनाव में श्याम का प्रभाव राम की अपेक्षा अधिक रहा। प्रतिक्रिया करने वाले लोगों की संख्या के आधार पर आधार को मापना इतना स्पष्ट और साफ है कि इसमें गल्ती की सम्भावना नहीं रहती। इतने पर भी मि० डहाल ने पर्याप्त दुख प्रकट किया है कि यह *मापक भी अन्य मापकों की भान्ति अनेक सीमाओं से पूर्ण है।*

सम्भावित प्रभाव बनाम वास्तविक प्रभाव
(Potential Influence versus Actual Influence)

प्रभाव के अन्तरों का वर्णन करना और उनको मापना एक चीज है तथा इन अन्तरों को स्पष्ट करना दूसरी चीज है। प्रभाव के सम्बन्ध में कुछ एक बातें *महत्वपूर्ण रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रथम यह कि कुछ अभिनेता अन्य* की अपेक्षा अधिक राजनैतिक स्रोत रखते हैं। दूसरे, सम्पूर्ण साधन स्रोत होने पर भी कुछ अभिनेता उनका प्रयोग राजनैतिक प्रभाव प्राप्त करने के लिए

अधिक करते हैं। तीसरे कुछ अभिनेताओं के द्वारा इन साधन स्रोतों का प्रयोग अधिक कुशलता और प्रभावशीलता के साथ किया जाता है। इस प्रकार प्रभाव की दृष्टि से अभिनेताओं के बीच विभिन्न अन्तर स्थापित हो जाते हैं। एक ही अभिनेता के प्रभाव काल की दृष्टि से बदलते रहते हैं। एक विशेष अभिनेता का अतीत कालीन या वर्तमान कालीन प्रभाव उसके भावी सम्भावित प्रभाव से भिन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति का वास्तविक और वह प्रभाव जो कि उसके द्वारा समस्त राजनैतिक साधनों के कुशलतापूर्वक प्रयोग करने पर डाला जायेगा, के बीच भारी अन्तर रहता है।

दो व्यक्तियों को प्राप्त राजनैतिक साधन स्रोतों के आधार पर तय नही किया जा सकता कि इन दोनों के प्रभाव के बीच क्या अन्तर होगा। कोई भी अभिनेता अपने क्षेत्र में अधिक से अधिक सम्भावित प्रभाव का प्रयोग नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि केवल कुछ ही अभिनेताओं में उच्च स्तर की राजनैतिक कुशलता होती है और दूसरे केवल कुछ ही अभिनेता यह अनुभव करते हैं कि वे स्रोतों का पूरी तरह से प्रयोग करके अपने राजनैतिक अनुभवों को बढ़ा लें। इस प्रकार किसी भी अभिनेता के प्रभाव को चार भागों मे विभाजित किया जा सकता है प्रथम, उसके अतीत काल के प्रभाव; दूसरे, उसका वर्तमान प्रभाव; तीसरे, उसका भावी अनुमानित प्रभाव जो कि विशेष परिस्थितियों में वृद्धिपूर्ण हो सकता है और चौथे, उसका अधिक से अधिक सम्भावित प्रभाव।

प्रभाव और सत्ता
(Influence and Authority)

जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है तो वह एक प्रकार से सत्ता का प्रयोग करता है। कुछ प्रकार के प्रभाव ऐसे भी होते हैं जिनका सत्ता के साथ कोई सम्बन्ध नही होता उदाहरण के लिए सुझाना या समझाना–बुझाना कुछ ऐसी क्रियायें हैं जो कि प्रभाव के उन प्रकारों का उल्लेख करती है जिन पर सत्ता का सम्बन्ध आवश्यक रूप से नही होता। सत्ता तथा अन्य प्रकार के प्रभावों के बीच अन्तर करने वाली एक मुख्य विशेषता भी होती है और वह यह होती है कि एक अधीनस्थ अधिकारी विकल्पों में से चुनाव करने के लिए स्वयं के गुणों का प्रयोग करता है तथा आज्ञा अथवा सूचक की प्राप्ति को अपने चयन का औपचारिक मापदण्ड मान लेता है। दूसरी ओर जब एक व्यक्ति प्राप्त किये गये सुझावों को अपनी अन्तरात्मा के आधार पर स्वीकार करता है तो यह प्रभाव माना जायेगा न कि सत्ता। कभी कभी सुझाव और समझाना–बुझाना भी वातावरण को परिवर्तित करने का आधार बन जाते हैं, किन्तु यह प्राय: नहीं होता। आज्ञाकारिता के रूप को

देखकर ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह प्रभाव से प्रेरित हुई थी या सत्ता के द्वारा। इस दृष्टि से एक अन्य भ्रम इस कारण पैदा हो जाता है क्योंकि सुझाव, समझाना-बुझाना और आज्ञा की प्रकृतियां कभी-कभी एक ही स्थिति में वर्तमान रहती हैं। इसी प्रकार कभी-कभी व्यवहार का संचालन यद्यपि सत्ता का प्रयोग करते हुए किया जाता है किन्तु फिर भी सर्वोच्च व्यक्ति प्रायः समझाने-बुझाने और सुझाव देने को ही प्राथमिकता देता है। ऐसा करने के लिए उत्तरदायी कुछ कारण होते हैं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जब दो व्यक्ति सर्वोच्च और अधीनस्थ का कार्य सम्भालते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि उनके सभी कार्य सत्ता के प्रयोग के उदाहरण होंगे। सुझाव और आज्ञा के बीच की सीमा-रेखा इतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि यह समझी जाती है।

प्रभाव और सत्ता के बीच अन्तर को स्पष्ट करते हुए मि० साइमन ने लिखा है कि "सत्ता के दुरुपयोग होने की सम्भावना होते हुए भी इस शब्द का प्रयोग व्यापक रूप से किया जा सकता है और इसके अन्तर्गत उन समस्त परिस्थितियों को गिना जा सकता है जिनमें कि सुझावों को बिना किसी पुनरीक्षा और आलोचनात्मक विचार विमर्श के स्वीकार कर लिया जाता है। इस परिभाषा को स्वीकार कर लेने पर यह कहा जा सकता है कि 'क' एक समय मे 'ख' से उच्च है किन्तु दूसरे ही समय 'ख' 'क' के लिए उच्च अधिकार का कार्य कर सकता है। ऐसी स्थिति मे 'ख' के द्वारा सर्वोच्च अधिकारी की उस शक्ति का प्रयोग किया जायेगा जो कि एक सत्ताधारी की होती है। इस प्रकार प्रभाव और सत्ता के सम्बन्ध लोचशील और परिवर्तनशील होते हैं।

इस प्रकार प्रभाव शक्ति का ही एक अप्रत्यक्ष और सरचना विहीन रूप है। शक्ति सम्बन्ध में प्रशासक तथा प्रशासित कुछ मूल्यों एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए बंधे रहते हैं। शक्ति के द्वारा यह निर्धारित किया जाता है कि एक विशेष परिस्थिति में क्या करना चाहिए किन्तु इस निर्णय पर अधिक जोर देना एक गलती मानी जायेगी क्योंकि प्रभाव की प्रकृति इस प्रकार की नहीं होती। प्रभाव के द्वारा उन दृष्टिकोणों, विश्वासों और मूल्यों को प्रभावित किया जाता है जिनका तुरन्त के निर्णयों से सम्बन्ध नही होता वरन् वे भावी निर्णयों को प्रभावित करते हैं। प्रभाव मुख्य रूप से ऐसी शक्ति होता है जिसकी आज्ञा के रूप में अभिव्यक्ति नहीं होती यदि इसको विपरीत रूप से कह दिया जाए तो अधिक सही नही होगा। यह कहना पूर्णतः सत्य नही है कि आज्ञा के रूप मे अभिव्यक्त न होने वाली समस्त शक्ति प्रभाव है। शक्ति से प्रभावित होने वाले लोगों के व्यवहार को अन्य रूपो मे भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उनकी प्रशंसा की जाती है या उनकी निन्दा की जा सकती है।

प्रभाव का एक व्यापक क्षेत्र होता है और यह शक्ति की संस्थागत रचना को वास्तविक स्थिति की वास्तविकताओं के साथ समायोजित करने का प्रयास करता है। जब औपचारिक रचना या रूप से रहित नवीन शक्तियों का उदय होता है तो वे उनको प्रभावित करता है जिनके हाथ में औपचारिक शक्ति है। इस प्रकार का प्रभाव वास्तविक या सम्भावित दमन के मनोवैज्ञानिक, आर्थिक या शारीरिक साधनों द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता है। व्यक्ति या समूह लोगों की बड़ी संख्या को प्रभावित कर सकते हैं इसके लिए उनका संगठित होना आवश्यक नहीं है। प्रत्येक व्यवस्थापिका में कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होते हैं। एक प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में दबाव समूह के द्वारा सरकार और उसके उपसंभागों को प्रभावित किया जाता है। एक संसद या उसकी समिति उस व्यक्ति को प्रभावित कर सकती है जो कि विदेश नीति का संचालन कर रहा है। इन सभी स्थितियों में प्रभावित होने वाले लोगों का आचरण उनके द्वारा बदल दिया जाता है जो कि प्रभाव का प्रयोग कर रहे हैं और ऐसा उनके द्वारा अनेक प्रकार से किया जाता है।

मि० सी० जे० फ्रैड्रिक (C. J. Friedrich) के मतानुसार "जो लोग प्रभावित होने के प्रति शंकालु रहते हैं उनको प्रभावित करने का सबसे महत्वपूर्ण साधन सम्भवतः मनोवैज्ञानिक है। जिन व्यक्तियों का एक शक्तिशाली व्यक्तित्व होता है या जिनमें उच्चतर बुद्धि होती है अथवा जो प्रियदर्शी होते हैं उनकी बात का दूसरों पर प्रभाव अधिक होता है।" यह मनोवैज्ञानिक प्रभाव प्रायः व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है। यह कुछ अपवादों को छोड़ कर व्यक्तियों के समूहों पर लागू नहीं होता। समूहों को प्रभावित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण साधन आर्थिक है। न केवल दबाव समूह ही वरन् विचार के माध्यम से कार्य करने वाले विशेष उद्यम भी उल्लेखनीय रूप से प्रभाव डालते हैं। सैनिक साधन भी प्रभाव डालने का कार्य करते है। उदाहरण के लिए कम शक्ति वाले राज्यों की नीति अपने अधिक शक्तिशाली पड़ोसियों की मर्जी से प्रभावित होती रहती है।

चाहे यह किसी भी साधन का प्रयोग करे किन्तु प्रभाव शक्ति-संबंधों में एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। प्रभाव लोगों की कल्पना करने की [illegible] पर आधारित है इसमें प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की प्रतिक्रिया का [illegible] होता है। कुछ विचारकों ने निर्विवाद रूप से ही अनुमान [illegible] यह कहा जाता है कि प्रभाव और संगठित शक्ति की [illegible] से उसी तरह घिरी रहती है जिस प्रकार एक चुम्बक के चारों [illegible] चुम्बकीय क्षेत्र होता है। प्रभाव की यह विशेषता है कि [illegible] प्रति भी कभी-कभी प्रतिक्रिया करते हैं। शक्ति और [illegible]

पारस्परिकता पूर्ण सम्बन्ध की स्थापना प्रभाव को माप कर दी जाती है। यहां यह उल्लेखनीय है कि एक कठोर और निर्दयी तानाशाह भी अपने प्रस्ताव के प्रति लोगों की प्रतिक्रिया पर विचार करने के बाद अपने आचरण को बदल लेता है।

जिन परिस्थितियों में प्रभाव कार्य करता है उनको आसानी से पहचाना नहीं जा सकता। यही कारण है कि राजनैतिक विचारधारा में प्रभाव की ओर बहुत कम ध्यान दिया है।

प्रभाव द्वारा प्रभावित व्यक्त न केवल कुछ करने के लिए ही प्रेरित किया जाता है वरन् उसको कुछ करने से रोका भी जाता है। प्रभावित व्यक्ति या व्यक्ति पर पड़ने वाले असर की दृष्टि से प्रभाव विधेयात्मक की अपेक्षा निषेधात्मक होता है। कुछ विचारको ने निषेधात्मक और विधेयात्मक अन्तर को कुछ महत्व नही दिया है। उनका कहना है कि निषेधात्मक प्रभाव का अर्थ केवल यही है कि एक निर्णय और कार्य को दूसरे की अपेक्षा प्राथमिकता दी गयी हो। ऐसे अवसर तो केवल कभी-कभी ही आते है जबकि एक विकल्प को अस्वीकार करके किसी भी विकल्प को कार्य के रूप में स्वीकार नही किया जाता। विचारक इस स्थिति को भी विधेयात्मक कहने को तैयार है क्योंकि इसके द्वारा वस्तुस्थिति को बनाये रखा जाता है उसे नष्ट नहीं किया जाता।

शक्ति और प्रभाव परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित है। प्रभाव प्रायः प्रत्यक्ष तथा संस्थागत शक्ति को सही करने के रूप मे कार्य करता है तथा प्रभाव डालने वाले लोग शक्ति-स्थिति मे न आने की प्रवृत्ति दिखाते हैं। लासवेल ने सच ही लिखा है कि प्राभव का प्रयोग करने का अर्थ है दूसरों की नीतियो पर असर डालना। जब प्रभाव को शक्ति का ही एक रूप मान लिया है तो यह स्वाभाविक है कि शक्ति की समस्त विशेषतायें इस पर लागू हों। प्रभाव और शक्ति की घनिष्ठता इतनी है कि जिस व्यक्ति के पास शक्ति होती है वह प्रभाव का प्रयोग अवश्य करता है। शक्ति के अनेक रूप होते हैं और प्रभाव इन सभी रूपों मे रहता है। प्रभाव सर्वाधिक शक्तिशाली तानाशाही में भी रहता है। इस व्यवस्था मे भी सहनशीलता का एक स्तर होता है जिसके परे कोई कठोर से कठोर तानाशाह भी जाने की हिम्मत नहीं करता और यदि करता भी है तो नष्ट हो जाता है। प्रभाव से संबंधित कुछ प्रमुख बातें निम्न प्रकार है—

(१) 'प्रभाव' प्रभावित और प्रभावक द्वारा मान्य किसी भी मूल्य प्राथमिकता (Value Preference) पर आधारित हो सकता है। भिन्न-

भिन्न प्रकार के मूल्य प्रभाव के आधार नहीं हो सकते। सामान्य विचार, सामान्य हित, सामान्य मित्र आदि ही प्रभाव के आधार बनते है। सामान्य मूल्यों के बिना प्रभाव का असर अधिक नही हो सकता। सामान्य मूल्यों के अभाव मे प्रचार का माध्यम अपना कर यह धोखा देना होता है कि वास्तव मे सामान्य मूल्य कायम हैं।

२. जब सुरक्षा या उसकी भावना कम होती है तो उसका प्रभाव बढ जाता है। ऐसा विशेष रूप से उस समय होता है जब कि प्रभाव के आधार सामान्य मूल्यों की सुरक्षा भी खतरे में हों। कई बार प्रभाव बढ़ता है किन्तु प्रभावित होने वाले लोग उसके अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति या समूह के मत की ओर जाने की अपेक्षा सम्बन्धित लोगो के वास्तविक व्यवहार को देखना चाहिए।

३. रूप-रहित शक्ति के रूप में प्रभाव उस समय घट जाता है जब कि प्रभावक और प्रभावित के सम्बन्ध को सार्वजनिक बना दिया जाता है। प्रत्येक प्रकार का प्रभाव गोपनीयता की स्थिति मे पनपता है। यद्यपि यह सच है कि सभी प्रभाव पूर्ण रूप से गुप्त नही होते किन्तु अधिकांश प्रभाव छिपे रह कर ही महत्वपूर्ण बनते है। जो प्रभाव प्रचार के शिकार बन जाते हैं उनका महत्व कम हो जाता है। वांछनीय होते हुए भी अधिकाश शक्ति को छिपा कर नही रखा जा सकता। सरकारी संस्थाओं मे रहने के कारण तथा सस्थागत नियम के रूप में सगठित होने के कारण यह जरूरी हो जाता है कि शक्ति को जनता के सम्मुख स्पष्ट किया जाए। दमनकारी शक्ति यद्यपि संस्थागत नही होती किन्तु उसको भी छिपाना कठिन होता है। दूसरी ओर प्रभाव अपने आप को छिपा लेता है अथवा छिपाने का प्रयास करता है ताकि यह कायम रह सके तथा अपने आप को बढ़ा सके। यदि प्रभाव को सार्वजनिक बना दिया जाये तो वह इन दोनों लक्ष्यों को प्राप्त नही कर सकता। यदि किसी प्रचारक से यह पूछा जाये कि उसको धन कहा से प्राप्त होता है तो वह बतायेगा नही क्योंकि ऐसा करने पर उसके प्रभाव का स्रोत ही खुल जाता है।

प्रभाव को सार्वजनिक बनाने के परिणामों से बचने के लिए प्रभाव को रूप-हीन शक्ति से रूपवान शक्ति के रूप मे बदल दिया जाये। यह प्रभाव से सम्बन्धित चौथी बात हुई कि जब प्रभाव के कार्य सार्वजनिक बन जाते हैं तो प्रभाव औपचारिक शक्ति बनना चाहता है। प्रभाव का संस्थागत शक्ति के रूप में परिवर्तन होने के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। जब प्रभावक यह सोचता है कि उसका प्रभाव स्थिर बन गया है तथा सामान्य जानकारी का विषय बन गया है तो वह उसे संस्थागत रूप देने का प्रयास कर सकता है।

इस प्रकार का परिवर्तन हमेशा सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि प्रभावित व्यक्ति या समूह अपने आपको औपचारिक प्रभाव का विषय नहीं बनाना चाहते जिसमें कि आज्ञायें दी जाती हैं।

प्रभाव के प्रकार

(The Kinds of Influence)

प्रभाव कई प्रकार का हो सकता है। उदाहरण के लिए भौतिक, व्यक्तिगत या बौद्धिक प्रभाव। भौतिक प्रभाव वह होता है जो कि भौतिक-मूल्यों पर आधारित रहता है। विभिन्न दबाव समूहों द्वारा जो प्रभाव डाला जाता है वह कुछ-कुछ इसी प्रकार के प्रभाव का उदाहरण है। इस प्रकार के प्रभाव को सामान्य रूप से भ्रष्टाचार अथवा रिश्वत माना जाता है। यह मान्यता गलत है क्योंकि ऐसे अनेक भौतिक दबाव हैं जो कि भ्रष्ट नहीं होते। उदाहरण के लिए करदाता द्वारा कर खर्च करने वाले पर रखा जाने वाला प्रभाव, उपभोक्ताओं का उत्पादकों पर प्रभाव, दान करने वाले का पाने वाले पर प्रभाव आदि। जब इस प्रकार के प्रभाव को गैर कानूनी उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो वह भ्रष्टाचार बन जाता है। भौतिक प्रभाव राजनीति में उल्लेखनीय योगदान करता है। यह अर्थव्यवस्था एवं राजनैतिक व्यवस्था के बीच पुल का काम करता है।

प्रभाव का व्यक्तिगत प्रकार अनुभूतियों एवं भावनाओं पर निर्भर करता है। इस क्षेत्र में प्रेरणा प्रमुख तत्व होती है। इसको प्रेरणादायक व्यक्तित्व द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार के प्रभाव के उतने ही रूप होते हैं जितने रूप अनुभूतियों एवं भावनाओं के होते हैं। घृणा, प्रेम, विरोध, भक्ति, अविश्वास, स्वामीभक्ति आदि सभी प्रभावों का आधार बनते हैं। इस प्रकार का प्रभाव प्रायः पारस्परिक होता है। उदाहरण के लिए हम मित्र, पत्नी, पुत्री, माता आदि के प्रेम सम्बन्धों को ले सकते हैं। ये सभी जिस प्रकार प्रभावित होते हैं उसी प्रकार प्रभावित करते भी हैं। यदि प्यार किया गया व्यक्ति शक्तिवान है तो उसका प्रभाव राजनैतिक दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण होगा।

तीसरे प्रकार का प्रभाव उच्चतर ज्ञान एवं योग्यता पर आधारित रहता है। इस प्रकार का प्रभाव पदसोपान में प्रायः ऊपर से नीचे की ओर चलता है। ज्ञान के जितने रूप होते हैं, यह प्रभाव भी उतने ही प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। हम तकनीकी प्रभाव, वैधानिक प्रभाव आदि का नाम ले सकते हैं।

यद्यपि प्रभाव का अध्ययन मूल रूप से एक मनोवैज्ञानिक मसला है किन्तु फिर भी राजनीतिक शास्त्री इस मसले को पूरी तरह मनोवैज्ञानिक के

हाथ में नहीं छोड़ना चाहता क्योंकि प्रायः सभी राजनैतिक स्थितियों एवं शक्ति सम्बन्धों से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऐसी अनेक स्थितिया है जहां कि राजनैतिक विश्लेषण सम्भव एवं आवश्यक केवल इसीलिए बन पाता है क्योंकि राजनैतिक विश्लेषण एवं विचारधारा की अन्य दिशायें इसके साथ सम्बद्ध होती है। शासक तथा शासितों के मध्य स्थित क्रिया-प्रतिक्रिया को उस समय तक ठीक प्रकार से नही समझा जा सकता जब तक कि प्रभाव के व्यवहार को न समझा जाये।

राज्य द्वारा प्रभाव की स्थापना के लिये कई बार प्रचार का माध्यम अपनाया जाता है। प्रभाव के सम्बन्ध मे यह बात पुन. कहना अनुपयुक्त न होगा कि यह शक्ति का ही एक रूप है तथा इसे सम्पूर्ण शक्ति-स्थिति मे शक्ति के अन्य रूपो से अलग नही किया जा सकता। जो इकाइया अन्य प्रकार के शक्ति साधनों मे कमजोर है केवल वे ही नही वरन् शक्तिशाली इकाइयां भी यही उचित समझती हैं कि समझाने-बुझाने एवं दबाव के तरीको को काम मे लायें।

'प्रभाव' शक्ति का एक वह प्रकार है जिसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है।। इसको केवल निषेधात्मक रूप में ही स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे—यह दमनकारी नही है, यह आदेश नही है आदि। शक्ति सम्बन्धो की कोई भी स्थिति प्रभाव की कुछ न कुछ मात्रा के बिना नही होती। यह एक सामान्य विशेषता है जो कि मानवीय व्यवहार के साथ संलग्न रहती है।

औचित्यपूर्णता की धारणा
(The Concept of Legitimacy)

जिस प्रकार न्याय अपने आप मे एक गुण है और यह सत्ता से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होता है, उसी प्रकार औचित्यता भी शासन से सम्बन्धित रहती है। जो नियम शक्ति को स्थिर बनाता है तथा उसे संस्थागत रूप प्रदान करता है उसे सही रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है और गलत रूप मे भी। सही और गलत शब्द इस प्रकार के हैं कि उनमे स्पष्ट रूप से तथा निश्चित रूप से कोई अन्तर करना अत्यन्त कठिन कार्य है। विभिन्न विचारकों ने इस सम्बन्ध में अपने अलग-अलग मत प्रकट किये। प्लेटो ने बताया कि जो सरकार आचरण के कुछ नियमों का पालन करती है वह न्यायपूर्ण है और जो नही करती है वह न्यायपूर्ण नहीं है। अच्छे और न्यायपूर्ण शब्दों का अर्थ आचरणों के नियमों से सम्बन्धित था। ये आचरण के नियम वे मूल्य और विश्वास थे जिनको राजनैतिक समाज द्वारा श्रेष्ठ माना जाता था और जिनके अनुसार व्यवहार किया जाता था। प्लेटो के राजनैतिक दर्शन की केन्द्रीय समस्या यह थी कि एक शासन को न्यायपूर्ण कौन बनाता है। इसी

प्रश्न ने उनको आध्यात्मिक शास्त्र की दिशा में प्रेरित किया। उन्होंने विचारों के सिद्धान्त को अपना कर आचरण के नियमों के लिये बुद्धिपूर्ण आधार की रचना की।

यह सच है कि प्रत्येक समाज के कुछ मूल्य होते हैं—इन मूल्यों का एक केन्द्रीय तत्व होता है। प्लेटो की यह मान्यता उचित थी कि प्रशासन को इन मूल्यों के अनुसार प्रयुक्त किया जाये और यही राजनीति शास्त्र की एक सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। प्लेटो ने अपने आध्यात्मिक शास्त्र को सीमाओं से बाहर कर दिया था। जब उन्होंने दार्शनिकों को राजा बनाने की बात कही तो कुछ ऐसी बातों पर जोर दिया जो कि व्यावहारिक दृष्टि से अनुपयोगी थी। कान्ट ने प्लेटो की इस धारणा को अस्वीकार करते हुए बताया कि दार्शनिकों को राजा नहीं होना चाहिये।

शासन का एक दूसरा पक्ष भी होता है जिसे कि न्यायोचित कहा जा सकता है। प्रत्येक शासक को प्रशासन करने के लिये उपयुक्त होना चाहिये अर्थात् प्रजा को यह विश्वास होना चाहिये कि प्रशासक को शासन करने का अधिकार है। प्रशासन की व्यवस्था को भी जनता के द्वारा उचित माना जाना चाहिये। इस वस्तु स्थिति का यह अर्थ नहीं है कि प्रशासन और प्रशासक के व्यवहार के लिये सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो। प्रशासन को उचित बनाने वाली समस्या में सामान्य स्वीकृति का एक विशेष रूप निहित रहता है। यह अनेक विश्वासों पर आधारित है तथा व्यापक, धार्मिक और आदि-भौतिक नियमों में इसकी जड़ें हैं। प्रारम्भ में राजा को ईश्वर का उत्तराधिकारी माना जाता था और इस प्रकार उसकी सर्वोच्च शक्तियां बहुत व्यापक बन गई थी। राजा को धरती पर ईश्वर का अवतार मानने वाले विचारों ने राजा के प्रत्येक कार्य को उचित बताया। ईश्वर का प्रतिनिधि या स्वयं ईश्वर होने के नाते राजा से किसी प्रकार के गलत कार्य की उम्मीद नहीं की जाती थी।

राज्य के कार्यों का औचित्य स्थापित परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों के आधारों पर भी सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। प्रशासक का जो व्यवहार लोगों की परम्पराओं और प्रचलनों के अनुसार होता था, उसे उचित कहा गया और जो इनके विपरीत होता था उसको अनुचित माना गया। आधुनिक समय में प्रचलित होने वाले मतदान के माध्यम से लोग एक व्यक्ति के लिये अपनी प्राथमिकता अभिव्यक्त करते हैं और इस प्रकार उसके कार्य को औचित्य प्रदान करते हैं। इस प्रक्रिया के अनुसार संविधान को अधिकारपूर्ण माना जाता है। इसके अतिरिक्त प्रशासकों को इतिहास के कानूनों या जीव विज्ञान

के सिद्धान्त के आधार पर ऐसे नियम विकसित करने को कहा जाता है जो कि उनकी शक्तियों को अधिकारपूर्ण एव उचित बना सके।

आज निस्सन्देह यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न माना जाता है कि एक शासक को अधिकांश प्रजा के द्वारा औचित्यपूर्ण माना जा रहा है अथवा नहीं। इसी प्रश्न को मि० सी० जे० फ्रेड्रिक ने औचित्यपूर्णता का प्रश्न कहा है।[1] उनके मतानुसार "यह शब्द इतना अधिक महत्व नहीं रखता किन्तु इससे सम्बन्धित तथ्यपूर्ण स्थिति अधिक महत्व रखती है। जब यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है तो औचित्यपूर्णता (Legitimacy) से सम्बन्धित कुछ सामान्य विचार बनाना सम्भव होता है।"

औचित्यपूर्णता के आधार
(The Basis of Legitimacy)

औचित्यपूर्णता के प्रश्न और वैधानिकता के बीच भ्रम पैदा नहीं होना चाहिए। वैसे कभी-कभी कुछ परिस्थितियों में इन दोनों के मध्य स्थित अन्तर को स्पष्ट करना सरल नहीं होता। एक शासन की वैधानिकता उसके विधायी कानून के अनुरूप होने में है। जब यह विधायी कानून औचित्यपूर्णता स्वीकार कर लिया जाता है तो वैधानिकता और औचित्यपूर्ण के बीच अन्तर नहीं रह जाता। यहां यह कहा जा सकता है कि वैधानिकता अपने आप में एक विचारधारा है जो कि प्रशासन को न्यायोचित सिद्ध करती है। इस प्रकार की औचित्यपूर्णता का एक विशेष प्रकार यह विश्वास होता है कि कानून के शासन द्वारा सरकार को वैधानिक बनाया जा सकता है। कुछ वकीलों का भी यही मत होता है। ऐसी अनेक परिस्थितियां आती हैं जबकि प्रशासन की पूर्ण वैधानिकता भी उसको औचित्य प्रदान नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए सन् १७८९ के फ्रांस के लुई सौलहवे (Locis XVI) के शासन का नाम लिया जा सकता है। ज्यों ही प्रजा के विश्वास का आधार बदलता है त्यों ही प्रशासन का औचित्य समाप्त हो जाता है। जहां कहीं प्रशासक अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करता है और कानून को तोड़ता है तो उसके सम्बन्ध में जो औचित्यपूर्णता का प्रश्न किया जाता है वह वैधानिकता के प्रश्न से भिन्न होता है।

औचित्यपूर्णता (Legitimacy) के प्रश्न को राजनैतिक एवं पक्षपातपूर्ण प्रचार के लिए एक उपयुक्त आधार माना जाता है। यह प्रक्रिया स्वाभाविक भी है क्योंकि यह प्रायः अनिश्चित होती है कि कोई भी शासन स्थापित

1. C. J. Friedrich, Man and his Government, 1960 p. 234.

विश्वासों के अनुरूप संचालित किया जा रहा है अथवा नहीं। इस दृष्टि से व्याख्याताओं के बीच पर्याप्त विरोध रहता है। किसी भी क्रान्ति के सम्बन्ध में लोगों के विचार अलग-अलग होते हैं, कुछ के द्वारा उसे उचित बताया जाता है जबकि दूसरे उसको अनुचित सिद्ध करने के लिए तर्क देते हैं। जब रूसो से यह पूछा गया कि मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होने के बाद भी प्रत्येक स्थान पर जंजीरों से क्यों जकड़ा गया था तो उनका जवाब था कि वे तथ्यों को तो स्पष्ट नहीं कर सकते किन्तु केवल उसी स्थिति को ही बता सकते हैं जो इसे औचित्यपूर्ण बना सकती है। इसके बाद उन्होंने प्रजातन्त्रात्मक औचित्यपूर्णता का विचार विकसित किया जो कि सामान्य नियमों या कानूनों की स्वीकृति पर निर्भर था। यह आदर्श रूप से सामान्य इच्छा द्वारा और वास्तविक रूप में बहुमत के द्वारा मान्य था। रूसो के विचार परम्परागत विचारों में क्रान्तिकारी थे। उनके स्वेच्छापूर्ण औचित्यपूर्णता (Legitimacy) के विचार ने एक तीव्र प्रतिक्रिया को जन्म दिया।

बर्क (Burke) ने यह माना था कि संविधान के मान्य अधिकार अतीतकाल के रीति रिवाज होते हैं। धीरे-धीरे यह माना जाने लगा था कि जो शासन औचित्यपूर्ण है वह ठीक है अन्यथा वह खराब है। अब औचित्यपूर्णता के लिए आधार खोजे जाने लगे। कालान्तर में जनता की इच्छा को औचित्यपूर्ण माना गया और बीसवीं शताब्दी के मध्य काल तक प्रजातन्त्रात्मक औचित्यपूर्णता (Legitimacy) प्रभावपूर्ण बन गयी। मि० फैरेरो (Ferrore) ने चार प्रकार की औचित्यपूर्णता का उल्लेख किया है। प्रथम चुनाव पर आधारित औचित्यपूर्णता; दूसरे प्रजातन्त्रात्मक औचित्यपूर्णता; तीसरे परम्परा पर आधारित औचित्यपूर्णता और चौथे, कुलीनतन्त्रात्मक-राजतन्त्रात्मक औचित्यपूर्णता। इन चारों में प्रथम दो और अन्तिम दो बहुत कुछ समान हैं इसलिए औचित्यपूर्णता को केवल दो ही प्रकार का कहा जाता है।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्सवेबर (Maxwever) ने भी औचित्यपूर्णता के विभिन्न आधारों को सरलीकृत एवं व्यवस्थापूर्ण बनाने का प्रयास किया है। मूल रूप से वेबर ने औचित्यपूर्णता को सत्ता समझने का भ्रम किया है। वे इसके आधारों को तीन प्रकार के मानते हैं, ये हैं—परम्परागत (Traditional), बौद्धिक कानूनी (Rational Legal) तथा करिश्मावादी (Charismatic)। वेबर की यह मान्यता है कि औचित्यपूर्णता शक्ति को स्थायित्व एवं संस्थागत रूप प्रदान करना चाहती है। करिश्मावाद को औचित्यपूर्णता का आधार नहीं बनाया जा सकता क्योंकि इसका अर्थ सही और निश्चित नहीं होता। औचित्यपूर्णता का धार्मिक एवं बौद्धिक-कानूनी आधार भी उपयुक्त नहीं है वेबर के द्वारा प्रस्तुत औचित्यपूर्णता के विभिन्न आधारों में केवल परम्परागत आधार ही उपयुक्त प्रतीत होता है। मि० फ्रेड्रिक के मतानुसार

विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोण के आधार पर यह माना जा सकता है कि औचित्यपूर्ण मान्यता के प्रकारों के अधिक स्वीकृत वर्गीकरणमें इनको सम्मिलित किया जाये—धार्मिक, न्याय शास्त्र सम्बन्धी (दार्शनिक), परम्परागत एव प्रत्रियावादी तथा अनुभववादी जो कि कार्य की सम्पन्नता पर आधारित है। इनमें धार्मिक आधार को कुछ अन्य भागों में विभाजित किया जा सकता है जो कि विभिन्न धर्मों के अनुसार होते हैं। उदाहरण के लिए ईसाई, हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध आदि आदि। दार्शनिक आधार को सरकार के रूपो के अनुसार विभिन्न उप विभागों में विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार वे शासन के प्रकार के अनुरूप होते हैं। परम्परागत आधार भी इसी प्रकार से सरकार के रूपों से अनुरूपता रखेगा किन्तु इसका रूप दार्शनिक तर्क पर आधारित विश्वास नहीं होगा वरन् रीतिरिवाज होंगे। असल में देखा जाय तो औचित्य-पूर्णता का परम्परागत रूप अपने आप में कोई पृथक् रूप नहीं है वरन् यह धार्मिक और दार्शनिक रूपों को व्यवहृत करता है। प्रक्रिया सम्बन्धी औचित्यता विभिन्न प्रकार के निर्वाचनों से सम्बन्धित रहती है, इसका सम्बन्ध विशेष रूप से बहुमत की प्रजातन्त्र की औचित्यता से है। अनुभववादी सरकार को इतने अधिक भागों में विभाजित किया जाता है जितना की कार्य की प्राथमिकताएं होती है। आधुनिक राज्यों मे प्रजातन्त्रात्मक औचित्यपूर्णता को कार्य सम्बन्धी जाच का विषय बनाया जाता है।

औचित्यपूर्णता के ये वर्णित सभी आधार बौद्धिक हैं क्योंकि इनके द्वारा प्रशासितों को यह बताया जाता है कि उन्हें शासन की व्यवस्था को क्यों स्वीकार करना चाहिए। जब इस तथ्य को औचित्यपूर्णता का मूल तत्व मान लिया जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि औचित्यपूर्णता और सत्ता के बीच क्या सम्बन्ध है। सत्ता एक बुद्धिपूर्ण क्षमता होती है और इसलिए इसके द्वारा शासन के लिए अच्छे कारण प्रदान करके उसे औचित्य दिया जा सकता है। कहने का अर्थ यह है कि औचित्यपूर्णता केवल तभी प्राप्त की जा सकती है जबकि स्थित प्रशासन को उचितता के लिए पर्याप्त कारण दिये जा सकें। यदि समाज मूल रूप से इस प्रश्न पर विभाजित हो तो किसी प्रकार की औचित्यपूर्णता सम्भव नही है यह स्थिति एक प्रकार से वह होगी जिसे कि यूनानी विचारकों ने एनोमी (Anomy) कह कर पुकारा है। यह समाज में एक ऐसी मानसिक स्थिति होती है जिसमे कोई विश्वास नही होता, तथा जो सही और गलत के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट मान्यता नही रखती। प्रायः यह देखा जाता है कि ऐसी स्थिति समाज में कभी पैदा नहीं होती यद्यपि समाज के विभिन्न सदस्य सही और गलत के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से प्रभावित हो सकते हैं किन्तु फिर भी उनके प्रचलित विश्वास प्रशासन को औचित्य प्रदान

करने में सफल रहेंगे । यह भी सम्भव है कि समाज के अधिकांश लोग क्या सही है और क्या सही नहीं है के बारे में एकमत हो । फिर भी वे औचित्यपूर्ण शासन के सम्बन्ध मे अलग-अलग विचार रख सकते हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि औचित्यपूर्णता के सम्बन्ध में किसी राजनैतिक समाज में जो विभाजन होता है वह एनोमी (Anomy) नही कहा जा सकता है यद्यपि वह कुछ-कुछ इसी प्रकार की चीज होती है । यहां एक बात और भी उल्लेखनीय है वह यह है कि मान्य मापदण्डों एवं मूल्यों के निर्णय का अभाव और उनके सम्बन्ध मे विभिन्नता दो अलग-अलग बातें हैं । प्लेटो और अरस्तु के समय से ही यह माना जाता रहा है कि कुछ मौलिक बातों पर एकमत होना राजनैतिक व्यवस्था की पूर्व आवश्यकता है । यह बात यूनानी काल मे जितनी सही थी उतनी आज की परिस्थितियों मे सही नही है जबकि राज्य का आकार बहुत बढ़ चुका है ।

आज की परिस्थितियों में बौद्धिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक व्यापकता की स्थापना के लिए विरोध का होना परम आवश्यक माना जाता है । आज यह जरूरी नही माना जाता कि मौलिक बातों पर सहमति हो, इसके विपरीत बर्क और लॉस्की तो यह तर्क करते है कि सर्वैधानिक प्रजातन्त्र ने विभिन्नता में राजनैतिक व्यवस्था प्राप्त की है और संगठित निर्णय लेने की प्रक्रिया का गठन किया है । यहां एक बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि इस बात को तय करना होगा कि हम मौलिक बात किसे मानते है । प्रायः मौलिक बात में धर्म, संस्कृति तथा अर्थ व्यवस्था और इसके संगठन से सम्बन्धित दृष्टिकोण आते हैं । इन्ही मौलिक बातों के आधार पर स्थित विभिन्नता ने विभिन्न देशों की राजनीति को विशेष बना दिया है । मौलिक बात हम उन विश्वासों एवं मूल धारणाओं को भी मान सकते हैं जो कि किये जाने वाले कार्यों से संबन्धित समस्त विचार-विमर्श का प्रारम्भ होते हैं । इस प्रकार मौलिक तत्व से संबन्धित समस्या का निश्चित रूप से कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता । इसमें पर्याप्त स्वेच्छाचारिता रहेगी । इसमें स्वतन्त्र समाज के लोग मौलिक बात किसी अन्य चीज को मानेंगे जबकि तानाशाही व्यवस्था में मौलिक बात दूसरी चीजों को माना जायेगा । किये गये धर्म-युद्धों में धर्म को मूल आधार समझा गया था ।

औचित्यपूर्णता का विचार यह सिद्ध करता है कि एक मौलिक बात पर सहमति होनी चाहिए और वह यह है कि शासन का कौनसा रूप सही है तथा किस शासक को शासन करना चाहिए । प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में यह प्रश्न लिखित तथा अलिखित संविधान द्वारा सुलझा दिया जाता है । संविधान के द्वारा स्वीकृत राजनैतिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध से मूल रूप से सहमति होनी

है। संविधान के मूल मानवीय स्वतंत्रताओं का उल्लेख होता है। व्यक्ति को आत्म-अभिव्यक्ति की स्वतत्रता दी जाती है। इस प्रकार लोगों में असहमत होने के लिए सहमति होती है।

कान्ट का यह विश्वास था कि एक संविधानिक राजतंत्र की अपेक्षा एकतन्त्रात्मक शासन मे आत्म-अभिव्यक्ति तथा विश्वास की अधिक स्वतंत्रता रह सकती है। कान्ट ने परशिया के फ्रेड्रिक द्वितीय का उल्लेख करते हुए बताया कि उसके राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार स्वर्ग में जा सकता था। फ्रेड्रिक की नीति ने ज्ञान का वर्द्धन किया क्योंकि उसका यह विश्वास था कि धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में सार्वजनिक विचार-विमर्श की स्वतंत्रता जनता की सुरक्षा और राज्य की एकता को कोई खतरा पैदा नही करती। स्वेच्छाचारी शासक इतना शक्तिशाली होता है कि वह यह कह सकता है कि जिस चीज के बारे में तुम जितना चाहो उतना तर्क करो किन्तु आज्ञा का पालन करते रहो। एक स्वतंत्र देश का शासक इतना सहनशील नहीं हो सकता। इस दृष्टि से स्वेच्छाचारी तानाशाही व्यवस्था को औचित्यपूर्ण माना गया।

जब हम यह मानते हैं कि औचित्यपूर्णता केवल तभी प्राप्त की जा सकती है जबकि सही शासन के सम्बन्ध में समाज का विश्वास हो तो ऐसी स्थिति में यह हो सकता है कि कुछ राजनैतिक परिस्थितियों मे औचित्यपूर्णता सम्भव ही न हो सके। इस प्रकार की परिस्थितियों को अवांछनीय समझा जाता है क्योंकि सरकार को औचित्यपूर्ण बनाना अधिक कठिन कार्य नही है। औचित्यपूर्ण के सम्बन्ध में सामान्य रूप से यह बात मानी जाती है कि अन्य बातें समान होने पर एक औचित्यपूर्ण व्यवस्था अनौचित्यपूर्ण व्यवस्था की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण रहेगी। औचित्यपूर्णता के पीछे सामान्य मान्यता एवं जनता की स्वीकृति रहती है और इस स्वीकृति के आधार पर प्रशासन को सुविधाजनक बनाया जाता है।

यह तथ्य कि औचित्यपूर्ण शासन अधिक प्रभावशाली होता है, प्रशासकों को अपना शासन औचित्यपूर्ण बनाने की ओर प्रेरित करता है। वे इस प्रक्रिया को राजनैतिक क्रियाओं की खोज कहते हैं जो कि उनके व्यवहार को औचित्य-पूर्ण बना सकें। उदाहरण के लिए सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में सर्व सम्मति प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है तथा साथ ही प्रजातंत्रात्मक मत प्रणाली को अपनाया जाता है। दो तरीके हैं जिनके आधार पर प्रशासक अपने शासन को औचित्यपूर्ण बना सकते हैं। पहला तरीका यह है कि वे अपने आचरण को स्थापित विश्वासों के अनुरूप बनाले। दूसरे, अपनी स्थिति को

औचित्यपूर्ण बनाने के लिए प्रत्येक प्रशासक को कुछ विशेष कार्य अपनाने होते हैं। वह इसके लिए धार्मिक आधार अपनाता है तथा समाज की उचित घटनाओं को सम्मान प्रदान करता है। सर्वाधिकारवादी राज्यों में जनता के मस्तिष्क को जिस प्रकार सिद्धांतों के रंग में रंगा जाता है वह भी इसी दिशा में किया गया एक प्रयास है। सोवियत रूस ने अपनी व्यवस्था का औचित्य प्रजातन्त्र के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि सोवियत सरकार वही कुछ करती है जो कि सोवियत जनता चाहती है।

औचित्यपूर्णता एवं दायित्व
(Legitimacy and Deligation)

औचित्यपूर्णता के सम्बन्ध मे एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि औचित्यपूर्ण शासन राजनैतिक दायित्व को अधिक से अधिक बढ़ा देता है। यहां राजनैतिक दायित्व का अर्थ समझ लेना अधिक उपयुक्त रहेगा। इस शब्द का प्रयोग इतने प्रकार से किया गया है कि यह प्राय: दुरुपयोग की सीमा मे आ जाता है। मि० फ्रेड्रिक के मतानुसार 'राजनैतिक दायित्व प्रशासकों के इस विश्वास को इंगित करता है कि उन्हें प्रशासको की आज्ञा माननी चाहिए अर्थात् उनको प्रशासकों द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार कार्य करना चाहिए। इस प्रकार का विश्वास जितना अधिक होता है उतना ही प्रशासित आज्ञाकारी एवं दायित्वपूर्ण बनने के लिए बाध्य होते हैं। आज्ञाकारिता की समस्या के सम्बन्ध में एक मूल प्रश्न यह उठता है कि 'मुझे आज्ञा पालन क्यों करना चाहिए ?' इस प्रश्न का उत्तर धर्म, स्तर, रुचि, भावना या कानून के आधार पर प्रशासक की व्यक्तिगत इच्छा या प्राथमिकता के आधार पर दिया जाता है। जब एक प्रशासक औचित्य प्राप्त कर लेता है तो उसकी आज्ञा-पालन करने के लिए किसी अन्य आधार की आवश्यकता नहीं होती। औचित्यपूर्णता की भी मात्राएं होती हैं और प्रशासन को जितना औचित्य प्राप्त होता है उसकी आज्ञाकारिता का प्रभाव भी उतना अधिक होता है। राजनैतिक दायित्व की भावना भी आज्ञाकारिता से सम्बन्धित विश्वास पर आधारित होती है साथ ही यह औचित्यपूर्णता की मात्रा के अनुपात से होती है। औचित्य-पूर्णता की मात्रा का अर्थ उन लोगों की संख्या भी है जो कि प्रशासक को अच्छा मानते हैं। यदि ऐसे लोग शत प्रतिशत हैं तो प्रभावशील आज्ञाकारिता की मात्रा भी शत प्रतिशत होगी। ऐसा तभी होगा जबकि हस्तक्षेप करने वाले तत्व नहीं होंगे यदि ऐसे तत्व होंगे तो जो प्रतिशत इन तत्वों के द्वारा स्वीकृत होगा वही मान्य समझा जावेगा।

औचित्यपूर्णता और न्याय
(Legitimacy and Justice)

औचित्यपूर्णता और न्याय के परम्परागत विचारों में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। अरस्तु ने न्याय को समानता से जोड़ा था और समानता के विचारों को अभिव्यक्त करने वाले के रूप में वर्णित किया था। विचारकों द्वारा औचित्यपूर्ण सरकार को न्यायपूर्ण माना गया है। यदि हॉब्स की भांति औचित्यपूर्ण को कानूनी बना दिया जाए और कानूनी को न्यायपूर्ण बना दिया जावे तो न्याय और औचित्यपूर्ण के बीच सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। अरस्तु की यह मान्यता थी कि राजनैतिक समाज के कार्य जब सम्पन्न किये जाते हैं तो वे न्यायपूर्ण होते है क्योकि इनके द्वारा समानों के साथ समान व्यवहार किया जाता है। यह मान्यता भी अधिक स्पष्ट एवं संदेहो से परे नही है। यह जितने प्रश्नों का समाधान करती है उतने ही प्रश्न उठा देती है। इसके लिए यह जानना जरूरी है कि किसको किसके समान माना जाये। राजनैतिक दृष्टि से समान बनाने के लिए लोगो को राजनैतिक अधिकार दिये जाते हैं। सभी व्यक्तियों को मतदान का अधिकार देकर उनके बीच समानता की स्थापना का प्रयास किया जाता है। 'समानता' संख्या और गुण दोनों ही रूपो में होनी चाहिए। संख्या सम्बन्धी समानता प्रत्येक व्यक्ति को एक इकाई मानकर उन सभी के बीच समानता की स्थापना करती है। आनुपातिक समानता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता, उसकी उपलब्धि एवं उसके चरित्र के अनुसार वह कुछ दिया जाता है, जो कि उसको मिलना चाहिए।

प्रायः यह देखा जाता है कि संख्यात्मक एवं आनुपातिक समानता तथा न्याय के बीच का अन्तर स्पष्टतः प्रकट नहीं किया जाता। यह कहना बहुत कुछ सही है कि समस्त न्याय थोड़ा-बहुत आनुपातिक होता है तथा संख्यात्मक समानता को केवल कुछ ही स्थितियो में लागू किया जा सकता है जहां कि सभी व्यक्तियों को समान माना जाता है। समाज को धन और आय के आधार पर बाट दिया जाता है। कर सम्बन्धी कानून द्वारा धनी और निर्धन के बीच भेद किया जाता है तथा धनी लोगों पर अधिक कर लगाये जाते है और इस प्रकार उनको कानून के सामने असमान बना दिया जाता है। इतने पर भी यह कहा जा सकता है कि कानून के सामने सभी समान हैं क्योंकि कानून सभी पर लागू किया जायेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार का रूप चाहे कुछ भी क्यों न हो किन्तु उसमे औचित्यपूर्णता के लिए किसी न किसी प्रकार की आनुपातिक समानता अवश्य वाछनीय होती है। सरकार के विभिन्न पदों पर कार्य करने वाले लोगों के बीच गुणों के आधार पर भेद किया जायेगा और इस

प्रकार लोगों के बीच अन्तर स्थापित हो जायेगा। इस अन्तर को रखने की आवश्यकता ही उसका औचित्य होती है। समानता असमानों के बीच स्थापित नहीं की जा सकती है। यदि ऐसा किया गया तो वह असमानता को जन्म देगी। समानों में समानता स्थापित करना ही न्याय है और यही औचित्य का आधार भी है। प्रजातन्त्र के कट्टर समर्थक भी यह नहीं कहते कि समस्त नागरिकों के बीच यांत्रिक समानता स्थापित करदी जाये। वे भी गुण को महत्व देते हैं तथा उस व्यक्ति को शक्ति सौंपना चाहते हैं जो कि मतदाताओं द्वारा योग्य समझा जाये।

राज्य के कार्यों के औचित्य का आधार आर्थिक कल्याण एवं सुरक्षा होता है। राज्य को सैनिक एवं राजनैतिक दोनों ही अर्थों में सुरक्षा प्रदान करनी होती है। हॉब्स का कहना था कि जो शासक अपनी जनता को सुरक्षा प्रदान करने में असफल हो जाता है उसको शासन करने का कोई अधिकार नहीं है। प्रजा का राजा की आज्ञा का पालन करने का दायित्व केवल उसी समय तक रहेगा जब तक कि राजा के पास वह शक्ति रहे जो कि प्रजा की रक्षा कर सके। सरकार एवं शासन के प्रति राजनैतिक दायित्व केवल तभी तक रहता है जब तक कि सरकार एवं प्रशासन समाज के लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रभावशाली रूप से प्रयास करते रहें। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे कि एक संस्था के नेतृत्व का औचित्य उस संस्था के लक्ष्यों को साकार करने में रहता है।

बीसवीं शताब्दी में विचारधारा का प्रभाव बढ़ जाने के कारण राजनैतिक कार्यों का औचित्य इस आधार पर भी सिद्ध किया जाने लगा है। शासन करने के अधिकार का निश्चय आज विचारधारा के आधार पर किया जाता है। यदि शासन या सरकार एक विशेष विचारधारा का समर्थन करती है तथा उसके प्रचार एवं प्रसार का कार्य करती है तो उसकी आज्ञा का पालन करना उचित है अन्यथा नहीं। आज के युग में धर्म एवं परम्पराओं का महत्व घट चुका है और इसलिए सही क्या है तथा गलत क्या है का निर्धारण करने के लिए लोग अब विचारधारा का सहारा लेने लगे हैं। विचारधारा एक शासन को औचित्य पूर्ण बनाने के लिए मुख्य शक्ति बन जाती है। प्रजातन्त्रात्मक समाजों में यह शक्ति सीमित होती है। जब आम चुनावों में एक दल की विजय हो जाती है तो उसको अपने शासन के लिए औचित्य प्राप्त हो जाता है। एक सर्वाधिकारवादी तानाशाही में अधिकारी विचारधारा, जिस पर कि प्रशासकीय दल निर्भर रहता है, औचित्यपूर्णता का प्रभावशील आधार बन जाती है।

विचारधारा के अतिरिक्त आज के युग में औचित्यपूर्णता का एक अन्य आधार राष्ट्रवाद के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। नवीन उदीयमान राजनैतिक

व्यवस्थाओं में राष्ट्रवाद का प्रभाव बहुत रहा है। इन देशों में सरकार को अपने कार्यों का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह बताना होता है कि वे किस प्रकार राष्ट्रवादी आदर्श के अनुरूप हैं। एशिया तथा अफ्रीका के देशों की सरकार अपने कार्य का औचित्य इस आधार पर सिद्ध करती है कि उन्होंने देश को स्वतन्त्र कराने में तथा उसको एक बनाने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। प्रायः यह निर्धारित कर पाना कठिन होता है कि नेता शासन को औचित्य-पूर्ण बनाता है अथवा शासन द्वारा नेता को औचित्य प्रदान किया जाता है।

उपर्युक्त सामान्य तत्वों के द्वारा शासन को लौकिक उपलब्धियों के आधार पर औचित्यपूर्ण सिद्ध किया जाता है। ये उपलब्धियाँ व्यापक रूप से परिभाषित विचारधाराओं के रूप में हो सकती हैं अथवा संकीर्ण रूप से परिभाषित कुछ लक्ष्यों के रूप में जैसे—सम्पन्नता, सुरक्षा, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आदि-आदि। औचित्यपूर्णता का एक कुलीनतन्त्रात्मक दृष्टिकोण भी है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति शासन की योग्यता नहीं रखता है अतः उसकी योग्यता के आधार पर ही उसको शक्ति सौंपी जानी चाहिए। इस योग्यता का पता व्यक्ति के जन्म से लगाया जा सकता है। वंशपरम्परा द्वारा ही व्यक्ति में शासन करने की योग्यता आती है। साधारण व्यक्ति सार्वजनिक पदों के लिए योग्य अधिकारियों का चयन नहीं कर सकते। शासन व्यवस्था को तभी उचित माना जायेगा जबकि उसके संचालन करने वाले लोगों में वंशपरम्परागत आधार पर गुण वर्तमान होंगे।

१४

राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक विकास, राजनीतिक समाजीकरण एवं राजनीतिक विशिष्ट वर्ग

(POLITICAL CULTURE, POLITICAL DEVELOPMENT, POLITICAL SOCIALIZATION AND POLITICAL ELITE)

राजनैतिक धारणाएं अध्ययन के विकास के साथ-साथ बदलती रहती हैं। युग की बदलती हुई राजनैतिक परिस्थितियां भी इन धारणाओं के रूप को निश्चित करने के लिए महत्वपूर्ण रूप से भाग लेती हैं। यह अध्ययन जिन राजनैतिक धारणाओं को अपने विचार का विषय बनायेगा वे है—राजनैतिक संस्कृति (Political Culture), राजनैतिक व्यवस्था (Political System), राजनैतिक समाजीकरण (Political Socialization), राजनैतिक विकास (Political Development) और राजनैनिक विशिष्ट वर्ग (Political Elite)। इन विभिन्न धारणाओं का विस्तार के साथ अध्ययन करने के बाद ही राजनीति शास्त्र की विषय वस्तु स्पष्ट हो पायेगी।

राजनीतिक संस्कृति
(Political Culture)

राजनैतिक संस्कृति एक ऐसी धारणा है जिसने कि राजनीति शास्त्र को नया रूप और रंग प्रदान किया। किसी भी संस्कृति में व्यक्ति के व्यवहार का तरीका उसकी मान्यता, विश्वास, सम्मान, स्वामीभक्ति, घृणा, कर्त्तव्य, अन्तरात्मा, भौतिक उन्नति आदि को समाहित किया जाता है। ये सभी बातें राजनीति के क्षेत्र में भी अपना अस्तित्व रखती हैं और सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य क्षेत्रों में भी। जब संस्कृति राजनैतिक प्रसंग मे आती है तो उसको

राजनैतिक संस्कृति की संज्ञा प्रदान की जाती है। आधुनिक राजनैतिक विचारकों ने इस पद के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है।

संस्कृति का रूप एवं अर्थ इतनी व्यापकता एवं बहुलता रखता है कि उसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह श्वांस में ली जाने वाली प्राणवायु के समान है। इसे चाहे कितना ही परिभाषित किया जाये किन्तु यह हमारे इतनी निकट, इतनी घनिष्ट तथा इतनी स्वाभाविक है कि हमें प्रायः इसके अस्तित्व का भी आभास नहीं हो पाता। हमारा कौनसा कार्य सांस्कृतिक है और कौनसा नहीं है-यह पता लगाना अत्यन्त कठिन है। संस्कृति के अस्तित्व का आभास अन्य संस्कृति के सहारे ही किया जा सकता है। एक संस्कृति हमेशा दूसरों के लिए वातावरण तैयार करती है। अन्य संस्कृतियों के साथ हमारी संस्कृति का जो अन्तर है उसी के आधार पर हम उस संस्कृति को जान पाते हैं जिसमें हम रहते है, कार्य करते है, सोचते हैं, अनुभव करते है तथा निर्णय लेते है।

संस्कृति में सब कुछ समा जाता है। हमारी जानकारी के बिना ही इसमें हमारे दैनिक जीवन का प्रत्येक पहलू आ जाता है। राजनैतिक व्यवहार भी इसका अपवाद नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि हम राजनैतिक व्यवहार को सही अर्थों में समझना चाहें तो सांस्कृतिक संदर्भ में इसका अध्ययन करना होगा। संस्कृति के व्यापक परिवेश में रख कर इसे देखना होगा। ऐसा करके ही हम जान पायेंगे कि हमारा स्वयं का राजनैतिक व्यवहार अन्य संस्कृति-वालों के राजनैतिक व्यवहार से कितना समान अथवा भिन्न है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण अपनाये बिना राजनैतिक व्यवहार का तथ्यगत अध्ययन सही रूप में नहीं किया जा सकता। अध्ययन की विषयगतता (*Objectivity*) के लिए भी यह जरूरी बन जाता है कि राजनैतिक व्यवहार का सांस्कृतिक विश्लेषण किया जाये। यह कार्य जितना आवश्यक एवं उपयोगी है उतना ही कठिन भी है। संस्कृति न तो कोई पदार्थ है और न ही यह कोई क्रिया है। यह एक मानसिक स्थिति है जो कि लोगों के व्यवहार एवं कार्यों से पृथक अमूर्त रूप में रहती है। संस्कृति का अर्थ स्पष्ट करने के लिए जो भी परिभाषायें दी जाती हैं वे संतोषजनक नहीं होती।

राजनीति और संस्कृति का सम्बन्ध

व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया की भांति उसका राजनैतिक व्यवहार भी सांस्कृतिक परिवेश में होता है तथा इससे वह पर्याप्त प्रभावित होता है। एक ही संस्कृति में रहने वाले लोगों के व्यवहार में पर्याप्त समानतायें पा होती हैं। सांस्कृतिक एकरूपता मानवीय व्यवहार के अन्य क्षेत्रों में

रूपता की स्थापना करती है। इस एकरूपता केवल कुछ समानता की स्थापना करती है किन्तु फिर भी उनके बीच अन्तर पाये जाते हैं। इसका महत्व केवल इतना है कि सम्पूर्ण व्यवहार को देखने के बाद व्यवहार के किसी एक पहलू को समझना आसान बन जाता है। राजनैतिक व्यवहार का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन करना छोटे समाजों में अधिक उपयुक्त रहता है। जटिल संस्कृतियों का विश्लेषण करने समय अनेक सैद्धांतिक एवं प्रक्रिया सम्बन्धी कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती है।

संस्कृति के रूप जीवन के एक कार्य क्षेत्र से दूसरे कार्य क्षेत्र में आते-जाते रहते हैं। ये राजनीति से अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र से अपराध, अपराध से खेल आदि में दखल रखने लगते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि सांस्कृतिक विश्लेषण जननीतियों एवं राजनैतिक व्यवहार के परिवर्तनशील पहलुओं को समझने में विशेष रूप से उपयोगी हो सकते हैं। भ्रष्टाचार, सामाजिक न्याय और शान्ति, सुधारों का विरोध आदि समस्यायें कुछ ऐसी हैं जिनको राजनैतिक स्तर पर सुलझाना सरल प्रतीत होता है किन्तु उसका सांस्कृतिक विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि ये तो समूह के सम्पूर्ण जीवनयापन के तरीकों में गहरी जड़ जमाये हुए हैं और इनको सुलझाने के लिए राजनैतिक साधनों के अतिरिक्त भी साधन अपनाने पड़ेंगे। इन समस्याओं के राजनैतिक समाधान पर जो सांस्कृतिक प्रतिबन्ध लगे रहते हैं वे इन्हें प्रभावहीन बना देते हैं।

व्यक्ति के सांस्कृतिक व्यवहार में जो स्थायित्व पाया जाता है वह उसके राजनैतिक व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभाव की सम्भावनाओं को बढ़ा देता है। व्यक्ति के सांस्कृतिक व्यवहार के रूप अन्य क्षेत्रों में उसके व्यवहार से समानता रखते हैं। अधिकांश लोग उनको मान्यता देते हैं तथा उनमे परिवर्तन बहुत धीरे धीरे होते हैं। सांस्कृतिक व्यवहार के रूपों को वातावरण के अनुसार समूह के लोगों द्वारा अपनाया जाता है। वातावरण बदलते ही ये रूप भी बदलने लगते हैं। दूसरी संस्कृति द्वारा प्रदान किये गये वातावरण में भी एक संस्कृति बदलने लगती है। संस्कृतियों के बीच जितना अधिक पारस्परिक सम्पर्क रहता है उतने ही उनमे परिवर्तन के अवसर बढ जाते हैं। इस दृष्टि से राजनैतिक समाजीकरण (Political Socialisation) तथा राजनैतिक संस्थाओं की रचना के लिए इसके परिणामों का अध्ययन किया जाना अत्यन्त आवश्यक बन गया है।

राजनैतिक व्यवहार का सांस्कृतिक अध्ययन

जब व्यक्ति के राजनैतिक जीवन की सांस्कृतिक व्याख्या की जाती है तो यह न केवल राजनीतिज्ञों के लिए वरन् स्वयं जनता के लिए भी उपयोगी रहती है। लोग एक दूसरे के व्यवहार को समझ जाते है तथा उसमें समन्वय

स्थापित करते है। अन्य मानवीय व्यवहारों की भांति राजनैतिक व्यवहार भी राजनीतिक खिलाड़ियों के लिए अर्थ रखता है। यदि राजनैतिक व्यवहार को उसकी विषय वस्तु एव रूप की दृष्टि से देखें तो हमारा अध्ययन पर्याप्त एक पक्षीय हो जायेगा। असल मे राजनैतिक व्यवहार के सांस्कृतिक विश्लेषण को रूपों के विषयगत पर्यवेक्षण तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। इसका सम्बन्ध उस अर्थ से भी होता है जो कि लोगों द्वारा इन रूपो को प्रदान किया जाता है। इसके लिए व्यक्ति विशेष को विश्लेषण की इकाई बनाया जायेगा। उच्च साहित्यिक एवं संयुक्त सस्कृतियों में राजनीति को दिये गये अर्थों का अध्ययन लिखित प्रमाणों के विश्लेषण द्वारा ही किया जा सकता है।

लोग अपने व्यवहार को जो अर्थ देते हैं वह सचेतन, अवचेतन या अचेतन हो सकता है। वे या तो अपने को इतना पवित्र मान सकते हैं कि किसी बाहरी विचारों को स्वीकार न करे अथवा वे अत्यधिक धर्म निरपेक्ष या उदार हो सकते है। लोगों के द्वारा अपनाया जाने वाला दृष्टिकोण इस बात पर निर्भर करता है कि उन पर प्रभाव डालने वाली संस्कृतियां कैसी हैं। जब ये संस्कृतियां कुछ समान विचारो वाली होती हैं तो इनको दिया जाने वाला अर्थ पर्याप्त सचेतन होता है।

राजनीति का व्यावहारिक विश्लेषण करते समय लोगो द्वारा स्वयं के व्यवहार के लिए दिए जाने वाले अर्थों की अवहेलना नहीं की जा सकती क्योंकि ये अर्थ ही उनके तथा दूसरों के राजनैतिक कार्यों का रूप निश्चित करते है। ये अर्थ व्यवहार के सगठनात्मक सिद्धान्त कहे जा सकते है। इनके द्वारा लोगो को संसार मे अपनापन दिखाई देता है तथा कार्यों की प्रेरणा प्राप्त होती है। व्यवहार के रूपों (Patterns) की भांति यदि यह अर्थ भी अधिकांश लोगों द्वारा मान्य हो तथा कुछ स्थाई हो तो यह समूह की सस्कृति का भाग बन जायेगा। असल मे सामाजिक व्यवहार उस समय तक असम्भव है जब तक कि व्यापक रूप से मान्य, स्थायी एवं स्वीकृत अर्थों के द्वारा आचरण को संदर्भित न किया जा सके। हेन्ज यूलां (Heinz Eulau) के शब्दो में, "अर्थ एक सरेस के समान है जो कि समूह में लोगों को जोड़ता है तथा दूसरों से उनको पृथक करता है।"

लोग राजनीति के क्षेत्र में जिस प्रकार व्यवहार करते हैं तथा अपने समूह के साथ मिल कर संयुक्त रूप से जो निर्णय लेते हैं वह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि जिस संसार मे वे रहते हैं उसकी कौन सी प्रतिमूर्ति उनके मस्तिष्क में है। विभिन्न संस्कृतियों में प्रतिमूर्ति का जो

रहता है यह उनके राजनैतिक आचरण का निर्धारण करता है। अनेक बातें उनके राजनैतिक आचरण को तय करने में योगदान करती हैं जैसे-वातावरण को वे अपने अनुकूल मानते हैं या विपरीत मानते है, भविष्य को आकांक्षायें आशाजनक है या निराशाजनक है, समूह की मांगें अत्यधिक अतिशयोक्ति के साथ की जाती है अथवा घटा कर बताई जाती है आदि-आदि। इन अन्तरों के कारणों को जानना सांस्कृतिक विश्लेषणकर्त्ता के लिए एक केन्द्रीय महत्व का विषय है। मनुष्य के विश्वासो का उसके राजनैतिक व्यवहार पर पूरा प्रभाव पड़ता है। जो लोग अपने प्रयास और तदबीर में विश्वास करते है उनकी राजनैतिक क्रियाए उन लोगों से भिन्न होंगी जो कि तकदीर के सहारे को महत्व देते हैं तथा उन शक्तियों को प्रभावशील मानते है जिन पर कि व्यक्ति का अधिकार नही है। जिस सांस्कृतिक समूह के विश्वास अतीत मे निवास करते है वे वर्तमान की समस्याओं का सामना नहीं कर पाते तथा जिनके विश्वास वर्तमान मे रहते है वे भविष्य के लिए बुद्धिपूर्ण रूप से योजना नही बना पाते। राजनीति से सम्बन्धित दृष्टिकोण भी संस्कृति के आधार पर ही बनता है। एक समूह की संस्कृति का रूप ही तय करता है कि उसके सदस्य क्या राजनीति के अस्तित्व के लिये जीवन-मरण का प्रश्न मानेंगे या प्रतिद्वन्द्वी किन्तु मित्रतापूर्ण मेल कहेंगे अथवा पारस्परिक सहायता के लिए सहयोगपूर्ण उद्यम कहेंगे।

विश्वासो के द्वारा राजनीति को पर्याप्त प्रभावित किया जाता है। ये विश्वास तर्कविहीन एव बुद्धि के विषय नही होते और न ही किसी पर्यवेक्षण पर आधारित होते हैं। एक विश्वास को दूसरे विश्वास से अपनाने के लिए नही छोड़ा जाता है। वे स्वयसिद्ध होते है तथा बिना किसी प्रमाण के ही इनको सत्य मान लिया जाता है। राजनैतिक संस्कृति (Political Culture) का विश्लेषण इन विश्वासों की सत्यता से सम्बन्ध नही रखता वरन् यह इन विश्वासों द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों का निरीक्षण करता है। विश्वास तर्क की अपेक्षा भावनाओं पर आधारित होते है, इनको सम्भावना नहीं अपितु निश्चित माना जाता है। जब विचारकों की व्यवस्था को चुनौती दी जाती है तो इसकी तीव्र प्रतिक्रिया होती है। विश्वास व्यक्ति एव समूह दोनों के अस्तित्व के लिए आवश्यक माने जाते है।

सांस्कृतिक परिवर्तन और राजनीति

संस्कृति के द्वारा मनुष्य और मनुष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करके उनमे एकरूपता लाई जाती है। मानव जीवन की पराश्रयता जिन आकांक्षाओं को जन्म देती है वे बाद में संस्कृति के नियम बन जाते है। इन नियमों का पालन किसी बाहरी दबाव के कारण नहीं वरन् संस्कृति का भाग होने के

कारए किया जाता है। राजनीति लोगों को मिलाने के नियमों का पालन दमनकारी शक्ति द्वारा कराती है ताकि समाज, संगठन या किसी भी छोटे समूह का जीवन बना रहे। राजनीति की शक्तियों का यदि परम्परागत रूप से अध्ययन किया जाये तो पायेंगे कि वे दमनकारी न थी क्योंकि वे बहुत कुछ सांस्कृतिक थी। स्वामीभक्त नागरिक होना, ईमानदार हिस्सेदार बनना, एक सजग करदाता होना आदि बातें सांस्कृतिक आकांक्षायें थीं। हम जो कार्य करते है वह इसलिए करते है क्योंकि बिना प्रश्न किये ही ऐसा करना हमने सीखा है। यदि हम प्रत्येक कार्य के बारे मे प्रश्न करते या उसे सम्पन्न करने के लिए स्वामिभक्ति की शपथ खाते या किसी प्रकार का दमनकारी आश्वासन प्राप्त करते तो राजनैतिक संस्कृति संकट में पड़ जाती।

सांस्कृतिक तत्वों के प्रभाव को इतना अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिये कि वे राजनैतिक व्यवहार के निर्णायक ही बन जायें क्योंकि ऐसा करने पर उनके स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करना पड़ेगा जो कि भ्रमपूर्ण है। संस्कृति अपने आप में कोई शक्ति नहीं होती जो कि अपने ही आन्तरिक नियमों से प्रकाशित हो तथा उनके सामने व्यक्ति असहाय हो। इसके विपरीत संस्कृति मानवीय व्यवहार का ही योग है और इसे बदला जा सकता है। यदि संस्कृति स्वाभाविक नही वरन् मनुष्यकृत है तो उसको मनुष्य द्वारा बदला भी जा सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य का राजनैतिक व्यवहार एवं सस्थायें आगे बढ़ जाती है किन्तु उसकी संस्कृति वही बनी रहती है। ऐसी स्थिति में संस्कृति का बदलना तथा राजनैतिक व्यवहार एवं संस्थाओं को उसके अनुरूप बनाना एक महत्वपूर्ण कार्य बन जाता है।

· संस्कृति अपने आपको बदलती रहती है। इस परिवर्तन की मात्रा प्रत्येक संस्कृति में अलग-अलग होती है। किसी भी संस्कृति मे अनेक कारणो से परिवर्तनो की आवश्यकता प्रतीत होती है जैसे—सांस्कृतिक असगतिया पैदा हो जाने पर, उपसंस्कृतियों के नियमों में संघर्ष पैदा हो जाने पर, तथा विदेशी संस्कृतियों के सम्पर्क में आने पर। राजनैतिक संस्कृति में भी इन्ही कारणों से परिवर्तन आ सकते हैं। यह परिवर्तन तीव्र गति से भी हो सकता है और धीमी गति से भी। यह गति व्यक्तिगत प्राथमिकताओं, सामाजिक तथा राजनैतिक अन्तर्क्रियाओं की मांगो आदि पर निर्भर करती है।

राजनैतिक संस्कृति गत्यात्मक है। यह उस समय स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है जबकि कोई नया समूह जन्म लेता है। जब एक समूह बनता है और उसके सदस्य एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो उनको पारस्परिक समायोजन की समान समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इनके समा-

धान किसी अन्य संस्कृति में नहीं ढूंढे जायेंगे वरन् स्वयं समूह ही उनकी रचना करेगा। सावयवी परिवर्तनों के साथ-साथ समूह की संस्कृति आगे बढ़ेगी।

राजनैतिक व्यवहार को समझने के लिए राजनैतिक संस्कृति का ऐतिहासिक रूप मे अध्ययन करना होगा तथा यह देखना होगा कि विभिन्न कालों में राजनैतिक रूपो तथा विश्वासों का विकास किस प्रकार हुआ। परम्परागत रूपों का अध्ययन करते समय विचारक को ऐतिहासिक की अपेक्षा विकासवादी दृष्टिकोण अपनाना होगा। वह यह जानने की कोशिश करेगा कि आज के राजनैतिक व्यवहार ने यह रूप किस प्रकार प्राप्त किया। सांस्कृतिक विश्लेषण आवश्यक रूप से तुलनात्मक होता, चाहे वह जानबूझ कर ऐसा बनाया जाये अथवा अनजाने ही। यह तुलना समान तत्वों की अपेक्षा प्रायः विभिन्नतापूर्ण तत्वों मे होती है।

राजनैतिक संस्कृति का स्वरूप

राजनैतिक संस्कृति का विचार अपने आप मे विरोधाभास सा प्रतीत होता है। एक ओर तो तथ्य यह है कि एक समूह के सम्पूर्ण जीवन व्यवहार के किसी कार्य विशेष पर उस समय तक पूरी तरह प्रकाश नही डाला जा सकता जब तक कि उसके अन्य कार्यों पर प्रकाश न डाला जाये। दूसरी ओर राजनैतिक संस्कृति की मान्यता हमारे ध्यान को व्यवहार के केवल उन्हीं तरीकों पर सीमित करती है जो कि सामूहिक अस्तित्व के केवल एक ही पहलू की विशेषता है। इस प्रकार केवल राजनैतिक व्यवहार के आधार पर हम संस्कृति के समग्र रूप का ज्ञान प्राप्त करने मे असमर्थ रहेंगे। राजनैतिक संस्कृति के अन्तर्गत हमको उन राजनैतिक क्रियाओं का अध्ययन करना होता है जो कि संस्कृति से प्रभावित होती हैं। दूसरे शब्दो मे यह संस्कृति के राजनीतिकरण की जानकारी प्राप्त करती है। उसके केवल एक ही पहलू को अपने विचार का विषय बनाती है।

सांस्कृतिक विश्लेषण के समय सैद्धान्तिक अमूर्तता एवं अनुभववादी पार्थक्यता सामने आती है। वैसे राजनैतिक संस्कृति की मान्यता इस बात से मना नहीं करती कि राजनैतिक संस्कृति भी एक बड़ी संस्कृति का ही भाग है। इस अर्थ मे यहां 'राजनैतिक संस्कृति' शब्द का प्रयोग न करके यदि 'राजनैतिक उपसंस्कृति' शब्द का प्रयोग किया जाये तो अधिक उपयुक्त रहेगा। उप संस्कृति (Subculture) होने के नाते इसके कुछ ऐसे तरीके एवं विशेषतायें होती है जो कि संस्कृति के अन्य रूपो मे नहीं मिलती। यह हो सकता है कि राजनैतिक 'उप-संस्कृति एवं सामान्य संस्कृति की विशेषताओं के बीच कुछ संघर्ष हो। उदाहरण के लिए सैनिक व्यवहार का पद सोपान युक्त रूप

सामान्य संस्कृति के समानतापूर्ण रूपों का विरोधी हो सकता है। दोनों के व्यवहार में जो अन्तर पाया जाता है उसे अनेक मनमुटावों एवं खिचावों का जनक माना जा सकता है। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक एव व्यक्तिगत स्तर पर अनेक कठिनाईयां पैदा होती हैं।

राजनैतिक व्यवहार का सांस्कृतिक विश्लेषण सम्पूर्ण समाज की अपेक्षा एक समूह विशेष में अच्छी प्रकार किया जा सकता है। यहां समूह विशेष से हमारा अर्थ एक सस्था, एक स्थानीय समाज, एक सामाजिक वर्ग, एक धार्मिक व्यवस्था, एक भौगोलिक क्षेत्र, एक समान उम्र वालों के समूह आदि से है। सयुक्त राज्य अमेरिका में इस प्रकार के समूहों के व्यवहार का सांस्कृतिक विश्लेषण किया गया है। वहां की सीनेट, ग्राम्य समाज, राजधानी क्षेत्र का आंचलिक प्रदेश, सैनिक संस्थान, प्रजातन्त्रात्मक व्यापारिक सघ तथा अन्य राजनैतिक समूहों की क्रियाओं को समय-समय पर सांस्कृतिक परिप्रेक्ष में अध्ययन का विषय बनाया जाता रहा है। इनमें से प्रत्येक समूह बड़ी संस्कृति का एक भाग है, प्रत्येक के व्यवहार का अपना रूप है। जिस प्रकार एक समूह में भी समूह होते है उसी प्रकार उप-सस्कृति में भी उपसंस्कृतियां होती हैं; यहां तक कि छोटी से छोटी सामाजिक इकाई की भी अपनी संस्कृति होती है। इस प्रकार इन समूहों के द्वारा दोहरे सांस्कृतिक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं।

विशेष राजनैतिक स्थितियों में राजनैतिक उपसस्कृतियों का अस्तित्व रहता है अथवा नहीं रहता है यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर अनुभव के आधार पर ही दिया जा सकता है। इसका निर्णय पहले से ही नहीं किया जा सकता। उपसस्कृतियों के अन्तर के आधार पर राजनैतिक व्यवहार में भी अन्तर दिखाई दे सकते है। उपसस्कृति समानतापूर्ण भी हो सकती है और उनके बीच विरोधी भी रह सकता है। उपसंस्कृतियों के अन्तर से राजनैतिक व्यवहार में जो विभिन्नतायें पैदा होती हैं उनको पहचानना कठिन होता है, किन्तु फिर भी यदि गहराई के साथ छानबीन की जाये तो उपसंस्कृति के राजनैतिक विरोधों को व्यवहार में देखा जा सकता है। मि० हेन्ज यूलों (Heinz Eulau) का कहना है कि "राजनैतिक संस्कृति उन रूपों की ओर इशारा करती है जिनका अनुमान समूहों के राजनैतिक व्यवहार से तथा एक समूह के व्यक्तियों के सामान्य विश्वासों, निर्देशक सिद्धान्तों, उद्देश्यों एवं मूल्यों से लगाया जा सकता है, चाहे उस समूह का आकार कुछ भी क्यों न हो।"[1]

---

1. Heinz Eulau, The Behavioural Persuasion in Politics, Random House, New York, 1964, p. 81.

संस्कृति होनी है जो कि राजनैतिक प्रतिक्रिया को अर्थ और रूप प्रदान करती है । मि० लूसियन पाई (Lucian W. Pye) के शब्दों मे "राजनैतिक संस्कृति की धारणा यह मानती है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वय के ऐतिहासिक प्रसग मे अपने समाज और उसके लोगों की राजनीति के बारे में ज्ञान तथा भावनाओं को जानना तथा अपने व्यक्तित्व मे संयुक्त करना चाहिए ।"[1] प्रत्येक पीढ़ी अपने पूर्वजों से अपनी राजनीति प्राप्त करती है। इस प्राप्त राजनीति मे अपनत्व की स्थापना के लिए प्रत्येक पीढ़ी संघर्ष करती है; इस प्रकार परम्परा और नवीन मान्यताओं के बीच संघर्ष होता है । यह संघर्ष व्यक्तित्व एव समाज की सामान्य संस्कृति के विकास को प्रभावित करता है । प्रो० आलमण्ड (Almond) ने यह माना कि प्रत्येक राजनैतिक व्यवस्था राजनैतिक क्रियाओं के विशेष रूप में संयुक्त रहती है । इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक राजनैतिक व्यवस्था के व्यवहार में राजनीति का एक व्यवस्थित विषयगत क्षेत्र होता है जो कि राजनीति को, संस्थाओं को तथा व्यक्तिगत कार्यों को अर्थ प्रदान करता है । इस प्रकार राजनैतिक संस्कृति की मान्यता यह स्पष्ट करती है कि एक समाज की परम्परायें, सार्वजनिक संस्थाओं की आत्मा, नागरिकता की सामूहिक तर्क प्रक्रिया और इसके नेताओं के कार्य का रूप तथा उसके नियम केवल ऐतिहासिक अनुभव की उपज नहीं है वरन् ये एक अर्थपूर्ण सम्पूर्ण के भाग के रूप मे समायोजित है तथा इनके द्वारा सम्बन्धों का एक जानने योग्य रूप निर्धारित होता है ।

एक व्यक्ति के लिए राजनैतिक संस्कृति प्रभावशील राजनैतिक व्यवहार के लिए मार्ग निर्देशित करती है । दूसरी ओर समाज के लिए यह उन मूल्यों तथा बुद्धिपूर्ण विचारों की व्यवस्थित रूप रचना प्रदान करती है जो कि संस्थाओं और संगठनों की कार्य-सम्पन्नता मे सम्बन्ध दिखाते है । मि० सिडनी वर्बा के कथनानुसार "राजनैतिक संस्कृति मे अनुभववादी विश्वासों की व्यवस्था, अभिव्यक्त होने वाले प्रतीक और मूल्य आते है जो कि उस स्थिति को परिभाषित करते हैं जिसमें राजनैतिक क्रिया सम्पन्न होती है ।"

राजनैतिक संस्कृति की धारणा का उपयोग

एक राजनैतिक संस्कृति एक राजनैतिक व्यवस्था के सामूहिक इतिहास एव उन व्यक्तियों के इतिहास की उपज है जिन्होंने कि हाल ही में इस

---

1. *Lucian W. Pye : Political Culture and Political Development, Edited by L. W. Pye and Sidney Verba,* 1965, p. 7.

व्यवस्था को बनाया है। इस प्रकार यह सार्वजनिक घटनाओं एवं व्यक्तिगत अनुभवों दोनों में ही आधार रखती है। राजनैतिक संस्कृति की विचारधारा ने मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र को एकीकृत करने का प्रयास किया है ताकि आधुनिक मनोविज्ञान की गहराई युक्त क्रान्तिकारी प्राप्तियों को गत्यात्मक राजनीतिक विश्लेषण में लागू किया जा सके और समाज के दृष्टिकोण को मापने के लिए समाजशास्त्रीय तकनीकों को काम मे लाया जा सके। आजकल राजनैतिक विचारधारा, औचित्य, सम्प्रभुता, राष्ट्रपन एव कानून का शासन आदि बातों का अध्ययन करने के लिए विश्लेषण का व्यावहारिक रूप अपनाया जाता है।

राजनैतिक संस्कृति नेताओ तथा नागरिको के राजनैतिक जीवन पर प्रकाश डालने के कारण अधिक व्यापकता रखती है। जनता के सभी राजनैनिक दृष्टिकोण एव स्थायी भाव आवश्यक रूप से उनकी राजनैतिक संस्कृति को परिभाषित करने मे उपयोगी नही रहते क्योकि इनमे से अधिकाश के द्वारा मौलिक विकास पर कोई प्रभाव नहीं डाला जाता। राजनैतिक सस्कृति में केवल वे ही विश्वास एव भावनायें आती हैं जो कि राजनैतिक प्रक्रिया को एक व्यवस्था तथा रूप देते हैं। संक्षेप मे राजनैतिक सस्कृति राजनैतिक क्षेत्र को ठीक उसी प्रकार रूप एवं अर्थ प्रदान करती है जिस प्रकार कि संस्कृति का सामान्य रूप सामाजिक जीवन के लिए एक-रूपता एव एकता प्रदान करता है।

संस्कृति के सामान्य रूप की भांति राजनैतिक संस्कृति भी मानवीय ज्ञान एवं समझ के कुछ स्तरों को छूती है। अधिकांश राजनैति सस्कृति नागरिक प्रशिक्षण एवं राजनैतिक व्यवस्था की कार्यवाही के सजग ज्ञान से प्रेरित होती है।

राजनैतिक संस्कृति ने यह सम्भव बनाया है कि अध्ययनकर्ता व्यक्तिगत मनोविज्ञान के लाभों से वंचित हुए बिना ही सम्पूर्ण राजनैतिक व्यवस्था का अध्ययन कर सकता है। वर्तमान काल मे राजनीति शास्त्र ने अन्य सामाजिक विज्ञानों में हुए विकासों को स्वयं ग्रहण करने का प्रयास किया है। मानवीय व्यवहार को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाना इसी प्रयास का परिणाम है। जब राजनीति शास्त्रियों ने मनोविज्ञान पर विशेष जोर दिया तो राजनैतिक विश्लेषण की इकाई केवल एक कार्य या निर्णय बन गया और मुख्य अभिनेता, व्यक्तिगत निर्णय निर्माता जैसे नेता, मतदाता आदि बन गये। इस प्रक्रिया से यह खतरा पैदा हो गया कि कही एक गत्यात्मक सामूहिक इकाई के रूप में राजनैतिक समाज का महत्व समाप्त न हो जाये।

अतः ऐसी प्रणाली की खोज की गई जो कि इन दोनों के बीच समायोजन करा सके। यह राजनीति शास्त्र के सामने एक महान् चुनौती थी कि वह व्यक्तिगत विचारों तथा सामूहिक मान्यताओं एवं एक व्यक्ति के रूप में मनुष्य का तथा समग्र समाज का अध्ययन वह किस प्रकार करे तथा इसके बीच वह किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करे। राजनैतिक संस्कृति की धारणा ने ऐसा करने का वायदा किया।

जब हम व्यक्तिगत रूप से देशों की राजनैतिक संस्कृतियों के संदर्भ में राष्ट्रीय विकास का अध्ययन करते है तो समष्टिवादी विश्लेषण (Macro analysis) एवं व्यष्टिवादी विश्लेषण (Micro analysis) को एक साथ मिलाना संभव होता है तथा सम्पूर्ण व्यवस्था एवं उस व्यवस्था को बनाने वाले व्यक्तियों के व्यवहार एवं गत्यात्मकता का साथ-साथ अध्ययन किया जा सकता है। राजनैतिक संस्कृति के जन्म का अध्ययन करने के लिए हमको सम्पूर्ण व्यवस्था का ऐतिहासिक विकास देखना होगा तथा साथ ही उन व्यक्तियों के जीवन के अनुभवों को देखना होगा जो कि इस समय राजनैतिक संस्कृति के भाग हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हमें संस्थाओं एवं मूल्य व्यवस्था के विकास को देखना होगा जो कि आधुनिक राजनैतिक संस्कृति का मूल भाग है।

राजनैतिक संस्कृति की धारणा के द्वारा सामाजिक व आर्थिक तत्वों तथा राजनैतिक सम्पन्नता के बीच की कड़ी के परीक्षण का उपयोगी आधार प्रस्तुत किया जाता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन कर के हम राजनैतिक व्यवहार को निर्धारित करने वाले जीवन के राजनैतिक तथा अराजनैतिक तत्वों के प्रभाव का भी अध्ययन कर सकते है। राजनैतिक संस्कृति के आर्थिक तथा सामाजिक तत्वों का अध्ययन कर के हम यह जान सकते हैं कि आर्थिक विकास और स्थायी राजनैतिक परिवर्तन के बीच क्या सम्बन्ध है।

जब हम राजनैतिक संस्कृति के विश्लेषण को राजनैतिक विकास के प्रश्न के साथ जोड़ते हैं तो यह सम्भव होता है कि विकास को प्रशासित करने वाले विभिन्न मूल्यों के संयोग पर प्रकाश डाल सकें जो कि निराशा के मूल कारण बन सकते हैं। कुछ समाजों में परम्परागत राजनैतिक संस्कृति प्रजातन्त्रात्मक विकास के लिए आधार प्रस्तुत करती है जबकि दूसरे समाजों की प्रवृत्ति सत्तावादी तरीकों के अनुरूप अधिक होती है।

मि० पाई तथा वरबा ने अपनी सम्पादित कृति राजनैतिक संस्कृति एवं राजनैतिक विकास (Political Culture and Political Development) में गणमान्य राजनीति शास्त्रियों के लेखों को संग्रहीत किया है जो

कि जापान, इंग्लैण्ड, जर्मनी, टर्की, भारत, ईथोपिया, इटली, मैक्सीको, मिस्र, सोवियत रूस आदि देशों की राजनैतिक संस्कृति से सम्बन्ध रखते हैं। विभिन्न देशों या राजनैतिक संस्कृति के आधार पर मि० पाई ने कुछ सामान्य बातों की खोज की। उनके अनुसार पहली बात तो यह है कि कोई भी समाज एकीकृत राजनैतिक संस्कृति नहीं होता और समस्त राजनीतियों में प्रशासकों या शक्तिधारियों की संस्कृति एवं जनता की संस्कृति के बीच अन्तर होता है। जिन लोगों के हाथ में शक्ति होती है तथा जो सरकारी निर्णय लेने के लिए उत्तरदायी हैं वे उन लोगों से कुछ भिन्न राजनैतिक दृष्टिकोण अपना लेते है जो कि शेष लोगों द्वारा अपना लिया जाता है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में यद्यपि शासक वर्ग यह समझने का पूरा प्रयास करता है कि वह सामान्य नागरिकों में से ही एक है किन्तु उसे इस प्रयास मे अधिक सफलता नहीं मिलती।

राजनैतिक संस्कृतियां समाज की भिन्न-भिन्न समस्याओं पर आधारित होती हैं और इसलिए उनकी तुलना करना अधिक उपयोगी नही रहता; तो भी कुछ सामान्य समस्याओं के आधार पर कुछ सामान्य बातों का पता लगाया जाता है। अर्धविकसित देशों मे प्रायः नेतृत्व का संकट रहता है और प्रगतिशील देशों में मुख्य समस्या यह रहती है कि क्या वहां प्रजातन्त्र जिन्दा रहेगा और लोकप्रिय भावनाएं विकास का समर्थन करेंगी। दो संस्कृतियों के मध्य स्थित विभिन्नता के कारण उनके अध्ययन के लिए भिन्न-भिन्न प्रणालियों की आवश्यकता है। विभिन्न देशों में जो अनुसधान की स्थिति है तथा सूचना प्राप्त करने की सुविधाए है, उनके आधार पर उनके अध्ययन की सम्भावनाएं सीमित होती हैं।

राजनैतिक संस्कृति के दो रूप

प्रत्येक राजनैतिक व्यवस्था मे दो प्रकार की संस्कृतियां रहती हैं, प्रथम संस्कृति विशिष्ट वर्ग (Elite) की तथा दूसरी संस्कृति बहुसंख्यक जन-समुदाय (Mass) की होती है। इन दोनों प्रकार की संस्कृतियों के बीच सम्बन्ध स्थापित कर के एक सम्बन्धित संस्कृति को जन्म दिया जा सकता है। किसी भी देश का स्थायित्व एवं विकास उस देश की संस्कृतियों के मध्य स्थित अन्तर का कार्य नही है यह तो सामाजीकरण की प्रक्रियाओं की विभिनन्ताओं से अधिक प्रभावित होता है।

राजनैतिक संस्कृतियों के बीच एक विभाजन तो सर्वोत्तम जन-समूह और बहुसंख्यक जन-समूह के रूप में किया गया, इनके अतिरिक्त एक दूसरा विभाजन जीवन के आधुनिकृत रूप और परम्परागत रूप के बीच किया जाता है। राजनैतिक संस्कृति के इन दो भागों का

पारस्परिक सम्बन्ध और इसके बीच की दूरी सम्पूर्ण राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाला एक निर्णायक तत्व होता है। भारत और मिस्र आदि कुछ देशों मे राजनैतिक संस्कृति के ये दोनों विभाजन बहुत कुछ समरूपता रखते हैं। यहा सर्वोत्तम जन–समुदाय की संस्कृति बहुत कुछ आधुनिककृत है और परम्परागतवादी मूल्यों से प्रभावित है। ज्यो-ज्यों विकास आगे बढ़ता है त्यों-त्यों जनसख्या के शहरी और देहाती भागों के बीच अन्तर बढ़ता जाता है। मि० माइरन वेनर (Myron Weiner) ने भारत के सम्बन्ध में लिखा है कि यहां की राजनैतिक प्रक्रिया में बहुसख्यक जन समुदाय की संस्कृति आधुनिक होती जा रही है और कुछ ही समय मे सर्वोत्तम जन समुदाय की संस्कृति की आधुनिक विशेषताओं को ग्रहण कर लेगी और इस प्रकार वह भारत के भावी विशिष्टवर्ग की संस्कृति बन जायेगी। यह एक तरीका है जिसके द्वारा परम्परागत आधुनिक विशिष्टवर्ग और बहुसख्यक जन समुदाय के मध्य स्थित अन्तर को दूर किया जा सकता है। विकास का मार्ग प्राय. सरल नहीं होता। राजनैतिक संस्कृति मे परिवर्तन होने से अनेक प्रकार के संघर्ष और खिचाव पैदा हो जाते हैं।

जिन राजनैतिक संस्कृतियों मे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया जारी है उनमें परम्पराओ का विशेष स्थान रहता है। परम्पराओं के आधार पर ही एक व्यक्तिगत राजनैतिक संस्कृति को विशेष अर्थ प्रदान किया जाता है। राजनैतिक विकास कोई ऐसी प्रक्रिया नही होती जिसमें कि व्यवहार के परम्परागत तरीको को छोड दिया जाए और बौद्धिकता एवं अवैयक्तिक कुशलता को बढ़ाया जाए। राजनीति मे लोगों के सामूहिक मूल्यों का अभिव्यक्तिकरण किया जाता है। इसमें लोगो की सामाजिक भावनाएं एवं उनकी स्वामीभक्ति का परीक्षण किया जाता है। राजनैतिक संस्कृति में भी विशेषत्व के लिए, राष्ट्रीयता के लिए, जन्म-भूमि के लिए तथा ऐसी ही अन्य बातों के लिए पर्याप्त स्थान रहता है। जब विकास की समस्याओं को राजनैतिक संस्कृति के सन्दर्भ मे देखा जाता है तो यह पुराने रूपों एव मूल्यो को नष्ट करने मे कम सम्बन्धित रहती है और इस बात की खोज मे अधिक रुचि लेती है कि परम्पराओं को आधुनिक राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किस प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार प्रभावशील राजनैतिक विकास के लिए यह जरूरी है कि कार्यों की आधुनिक योजनाओ में अधिकांश परम्परागत विचारो को उपयुक्त स्थान प्रदान किया जाए। मि० सिडनी वेब ने विकसित राजनीतियों मे परम्पराओ के महत्व पर प्रकाश डाला है। अपने अतीत की परम्पराओं को बनाये रखने के लिए विभिन्न राजनैतिक संस्कृतियों में अलग-अलग प्रतिक्रियाओं तथा व्यवहारों को अपनाया

जाता है। जब एक प्रभावशील परम्परागत व्यवस्था जनता को एकरूपता की भावना देती है तो वह विकास के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करती है। किन्तु जब परम्परागत व्यवस्था की शक्ति को राजनीतिक संस्कृति के आधुनिक या नवीन तत्वों में ढाला नहीं जाता तो वह विकास के मार्ग में बाधक बन जाती है।

विभिन्न देशों की राजनैतिक व्यवस्थाओं मे इतनी अधिक विभिन्नताएं होती हैं कि वहां की राजनीति के सम्बन्ध मे सामान्य रूप से कुछ भी कहना मुश्किल होता है। प्रत्येक देश मे सामाजीकरण की प्रक्रिया भिन्न होती है और उसके आधार पर वहां के नेता और अनुयायी उन मूल्यों एव स्थायी भावों को अपनाते हैं जो कि दूसरे देश द्वारा नही अपनाये जाते। इस प्रकार उनके बीच पर्याप्त भिन्नता स्थापित हो जाती है। इन अन्तरों के रहते हुए भी अनेक विचारकों ने विकास और राजनैतिक संस्कृति के मध्य स्थित सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए विभिन्न राजनैतिक संस्कृतियों के अनेक समान मूल्यों का वर्णन किया है।

राजनैतिक संस्कृति की विषयवस्तु

राजनैतिक संस्कृति की विषय वस्तु के सम्बन्ध मे विचारको ने कई एक दृष्टिकोण अपनाये हैं। इन दृष्टिकोणों के अनुसार उन्होंने उन सामान्य तत्वों का उल्लेख करने का प्रयास किया है जो कि प्रायः प्रत्येक संस्कृति मे प्राप्त होते हैं। पहला दृष्टिकोण विश्वास (Trust) और अविश्वास (Distrust) तथा सन्देह (Suspicion) का है। राजनैतिक संस्कृतियां या तो इस मौलिक विश्वास के आधार पर बनती है कि साथियों का विश्वास करना और उनके साथ काम करना सम्भव है अथवा इस धारणा पर आधारित रहती है कि अधिकांश लोगों का अविश्वास करना चाहिए और विशेष रूप से अजनबी लोग खतरनाक होते हैं। प्रत्येक राजनैतिक संस्कृति अपने विश्वास और अविश्वास के रूपों के अनुसार पर्याप्त भिन्नता रखती है। इसके अलावा उपयुक्त लोगों एवं सम्भावित शत्रुओं की परिभाषा और व्यक्तियों एवं सार्वजनिक संस्थाओं के प्रति विश्वास आदि के आधार पर भी राजनैतिक संस्कृतियां भिन्नता रखती हैं। अत्यधिक अविश्वास होने के कारण प्रायः ऐसे सार्वजनिक संगठनों की रचना का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है जो कि राष्ट्रीय विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। राष्ट्रीयता के विकास को एक अन्य प्रकार से भी बाधा पहुंचती है जबकि प्रशासकों मे तथा प्रत्येक प्रकार की उच्चतर सत्ता में आलोचना किये बिना बच्चों की तरह विश्वास किया जाता है।

एक दूसरा दृष्टिकोण पद सोपान और उसके विपर्यय 'समानता' से सम्बन्धित है। सामान्य रूप से सभी संस्कृतियां शक्ति के प्रति दृष्टिकोण पर विचार करती है क्योंकि सभी राजनीतियों मे उच्चतर और अधीनस्थ के बीच पहल करने वाले और अनुयायियो के बीच सम्बन्धो पर विचार किया जाता है। परम्परागत समाजों मे पद सोपान युक्त सम्बन्धों पर जोर दिया जाता है और उनको नैतिक औचित्य प्रदान किया जाता है। विकास के लिए प्रभावशील नेतृत्व की आवश्यकता है। साथ ही इसमें समानता की भावना का होना भी जरूरी है जहाँ कि स्तर के समस्त स्वेच्छापूर्ण अन्तर को दूर किया जा सके। एक देश जिस प्रकार से नेतृत्व की आवश्यकता और समानता की भावना के मध्य स्थित विरोध को दूर करता है उसी के आधार पर विकास मे उसकी सापेक्षिक सफलता निर्धारित की जाती है।

तीसरा दृष्टिकोण स्वतन्त्रता (Liberty) एवं उसके विरोधी दमन (Coercion) से सम्बन्ध रखता है। स्वतन्त्रता को पर्याप्त मूल्यवान माना गया है तथा इसको प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक संस्कृति की व्याख्याओं का केन्द्र माना गया है। दूसरी ओर शक्तिशाली राष्ट्र की रचना के लिए स्वतन्त्रता की शक्ति में केवल पुराने प्रजातन्त्र ही विश्वास करते हैं। अन्य राष्ट्रों का इसमें विश्वास नही है। कुछ राष्ट्रों ने अपना उदाहरण प्रस्तुत करके भी यह बता दिया है कि वे दमन के आधार पर आसानी से राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ा सकते हैं।

राजनैतिक संस्कृति की दृष्टि से अन्य बात जिसको मूल्य प्रदान किया जाता है वह स्वामीभक्ति के स्तर से सम्बन्ध रखती है। जब लोगों की भावनायें परिवार एवं समूह की संकीर्णताओं से हटकर सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ एक रूप हो जाती है तो राजनैतिक विकास की गति कुछ तीव्र हो जाती है। विचारकों ने जिन राजनैतिक संस्कृतियों का अध्ययन किया है वे इन सभी दृष्टिकोणों के आधार पर पर्याप्त भिन्नतायें रखती हैं। एक देश विशेष में इन चारों बातों को जिस रूप में संयुक्त किया जाता है वह उस देश के राजनैतिक विकास का रूप निर्धारित करती है।

मि० सिडनी वरबा (Sidney Verba) ने तुलनात्मक राजनैतिक संस्कृति के अध्ययन में बताया है कि इस शताब्दी में राजनीति की वास्तविकता दुनियां एवं उसके अध्ययन में द्रुतगति से परिवर्तन हो रहे है। राजनैतिक संसार में नये राष्ट्र एकाएक ऊपर उठते हैं और पुराने राष्ट्र शीघ्र ही बदल जाते हैं अथवा समाप्त हो जाते हैं। नवीन एवं परिवर्तनशील राष्ट्रों के सामने वे समस्यायें आती हैं जो कि राजनीतिज्ञों की कल्पना एवं संस्थाओं की सामर्थ्य

को चुनौती देती है। आवश्यकतायें तथा महत्वाकांक्षायें तो बहुत बढ़ जाती है और उनको पूरा करने के साधन अत्यन्त अल्प होते हैं। राजनैतिक दुनियां के परिवर्तनों द्वारा ही नये दृष्टिकोण, नवीन प्रणालियां एवं नये सिद्धात विकसित किये जाते हैं। नये प्रकार की राजनीति को समझने के लिए नये प्रकार के राजनीति शास्त्र की आवश्यकता होती है। आज यद्यपि राजनीति शास्त्र एवं राजनैतिक दुनिया बदल रही है किन्तु फिर भी वह अपने अतीत से पूरी तरह असम्बद्ध नहीं है। उसमें निरन्तरता का तत्व कायम है। नये राज्यों की समस्यायें भी प्रायः वे ही हैं जो कि पुराने राज्यों की थी अर्थात् स्थायी व्यवस्था कैसे बनायी जाये, इस व्यवस्था द्वारा नवीन मांगों को किस प्रकार पूरा किया जाये, परिवर्तित वातावरण एवं समाज के आन्तरिक परिवर्तनों के साथ किस प्रकार समायोजन किया जाये आदि। आज के राजनीति शास्त्र के सामने पूर्णतः भिन्न प्रश्न हैं जिनको कि उसको जवाब ढूंढना है। इसके लिए उनको पूर्णतः भिन्न दृष्टिकोण अपनाना होगा। एक नवीन दृष्टिकोण राजनैतिक संस्कृति का दृष्टिकोण है।

राजनैतिक संस्कृति का दृष्टिकोण
(The Political Culture Approach)

राजनैतिक संस्कृति का पद अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। इसका प्रयोग गेब्रील आलमण्ड (Gabriel Almond) द्वारा एवं सेम्यूएल बीयर (Samuel Beer) तथा आदम उलम (Adam Ulam) आदि ने किया है। एक समाज की राजनैतिक संस्कृति में उसके अनुभववादी विश्वासों की व्यवस्था, अभिव्यक्त होने वाले प्रतीक आदि को गिना जा सकता है जो कि उस स्थिति को परिभाषित करते हैं जिसमें कि राजनीतिक क्रिया सम्पन्न होती है। राजनैतिक संस्कृति और कुछ नहीं वरन् राजनीति का ही भाग है। यदि कोई व्यक्ति राजनैतिक प्रक्रिया की पूरी तस्वीर देखना चाहता है तो उसे अन्य अनेक पहलुओं पर भी विचार करना होगा।

राजनीति के सांस्कृतिक पहलू पर अधिक जोर देने के अनेक कारण होते हैं, पहली बात तो है यह कि यद्यपि राजनीतिक व्यवस्थाओं के द्वारा राजनैतिक संस्कृति के जटिल रूप को अभिव्यक्त किया जाता है किन्तु फिर भी आज अध्ययनकर्ता के पास जो साधन हैं उनके आधार पर इस जटिलता का अध्ययन नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त विचारकों का कहना है कि राजनैतिक संस्कृति राजनैतिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

राजनैतिक व्यवस्था में अनेक अन्य तत्व भी होते हैं जो कि ... के विषय बनाए जा सकते हैं। राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थी बहुत

औपचारिक राजनैतिक संस्थाओं के अध्ययन को अपने विचार का विषय बनाते हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई व्यक्ति यह जानना चाहे कि कोई राजनैतिक व्यवस्था क्यों कायम रही और क्यों असफल रही अथवा उसकी सफलता और असफलता के क्या कारण थे तो उसे उस देश का संविधान देखना होता था तथा उस प्रक्रिया का अध्ययन करना होता था जिसके अनुसार कानून पास किये जाते थे। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका का रूप, न्यायपालिका की स्वतन्त्रता आदि का अध्ययन करना होता था। किन्तु आज का राजनीतिशास्त्री अनेक नवीन प्रश्नों पर विचार करता है और उन अनेक संस्थाओं के योगदान में रुचि लेते हैं जो कि प्रत्यक्ष रूप से सरकार में न रहते हुए भी राजनैतिक निर्णयों में महत्वपूर्ण योगदान करते है। आज विशेष रूप से राजनैतिक दलों एवं हित-समूहों की स्पष्ट रूप से व्याख्या की जाती है। आज राजनीतिशास्त्र से बाहरी ढाँचे (Infrastructure) को विशेष रूप से महत्वपूर्ण माना जाता है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि राजनैतिक संस्कृति के दृष्टिकोण का महत्व बढ़ जाये।

राजनैतिक संस्कृति पर विशेष ध्यान देने का अर्थ यह नहीं होता कि राजनैतिक व्यवस्था के अन्य पहलू उस व्यवस्था के संचालन की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। एक राष्ट्र की राजनैतिक संस्कृति अन्य चीजों के अतिरिक्त राजनैतिक प्रक्रिया में लोगों के अनुभवों से प्राप्त की जाती है। यदि हम राजनैतिक विश्वासों का अध्ययन करना चाहते हैं तो उन मार्गों का अध्ययन करना होगा जिनमें होकर राजनैतिक प्रक्रिया संचालित होती है।

राजनैतिक संस्कृति का अध्ययन कोई नया नहीं है। जिन विचारकों ने राजनैतिक व्यवस्था के संचालन के कारणों को जानने का प्रयास किया वे राजनैतिक संस्कृति की धारणा से परिचित थे। असल में राजनैतिक संस्कृति एक अत्यन्त सामान्य प्रवृत्ति को इंगित करती है जिसे कि विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाता है। इस धारणा में राजनीतिशास्त्र के सांस्कृतिक पहलू को अन्य पहलुओं से अलग करके उसको विस्तृत एवं व्यवस्थित विश्लेषण का विषय बनाया। राजनीति के सांस्कृतिक पहलुओं को अलग करने की प्रक्रिया से हम यह जानने की स्थिति में आ सकें कि राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत इनका क्या स्थान होता है? राजनैतिक संस्कृति का अध्ययन करने के लिये हमको राजनैतिक सामाजीकरण एवं उन अनुभवों का अध्ययन करना होता है जिनमें होकर प्रत्येक पीढ़ी में राजनैतिक संस्कृति गुजरती है; साथ ही उन परिस्थितियों को भी देखना होता है जिनमें कि राजनैतिक संस्कृति परिवर्तित होती है।

इस प्रकार राजनैतिक संस्कृति की मान्यता पर्याप्त महत्वपूर्ण है। राजनैतिक संस्कृति शब्द के द्वारा राजनैतिक अन्तःक्रिया एवं राजनैतिक संस्थाओं के रूपों से सम्बन्धित विश्वासों की व्यवस्था को इंगित किया जाता है। इसमें हम राजनैतिक अन्तःक्रिया की औपचारिक या अनौपचारिक रूप-रचना, सरकार, राजनैतिक दल, दबाव समूह आदि पर विशेष ध्यान नहीं देते। इसके अतिरिक्त हम यह भी नहीं देखते है कि कौन किससे बोलता है, कौन किसको प्रभावित करता है और कौन किसको मत देता है? इस शब्द के द्वारा यह नहीं देखा जाता है कि राजनैतिक दुनिया में क्या हो रहा है वरन् यह देखा जाता है कि जो कुछ हो रहा है उसके बारे में लोगों का क्या विश्वास है। ये विश्वास अनेक प्रकार के हो सकते हैं।

राजनैतिक संस्कृति, राजनैतिक घटनाओं और उन घटनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप व्यक्तियों के व्यवहार के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य करती है। यह सच है कि व्यक्तियों एवं समूहों का राजनैतिक व्यवहार सरकारी अधिकारियों के कार्यों से, युद्ध से, चुनाव प्रचार से तथा ऐसी ही अन्य बातों से प्रभावित होता है किन्तु यह उस अर्थ के द्वारा अधिक प्रभावित होता है जो कि पर्यवेक्षकों द्वारा इन घटनाओं को प्रदान किया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि राजनैतिक संस्कृति केवल यह अध्ययन करती है कि लोगों द्वारा राजनीति के प्रति क्या प्रतिक्रिया की जाती है और जो वह देखते हैं उनकी किस प्रकार वे व्याख्या करते है। उदाहरण के लिये यदि हम सांस्कृतिक दृष्टिकोण से राजनैतिक इतिहास का अध्ययन करना चाहें तो हमको वस्तुगत घटनाओं की शृंखला का अध्ययन नहीं करना होगा वरन् केवल उन घटनाओं को देखना होगा जिनकी भिन्न लोगों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की जा सकती थी और जिन घटनाओं का भावी प्रभाव इस व्याख्या पर निर्भर था। 'अर्थ' और 'व्याख्या' सापेक्षिक शब्द है। इनके द्वारा यह नहीं बताया जाता कि व्यक्ति के मस्तिष्क में क्या है या बाहरी दुनिया में क्या हो रहा है वरन् इन दोनों के मध्य स्थित क्रिया-प्रतिक्रिया को बताया जाता है। यह सच है कि एक घटना की व्याख्या पूर्व स्थित विश्वासों के प्रसंग में ही की जायेगी किन्तु यह पूर्व मान्यता केवल उतनी ही उपयोगी रहेगी जितनी कि ये व्याख्या को प्रभावित कर सकें।

मि० सिडनी वर्बा ने राजनैतिक संस्कृति को पर्याप्त व्यापक रूप में परिभाषित किया है। उन्होंने इसमें राजनैतिक व्यवस्था के सभी सदस्यों की प्रारम्भिक स्थिति एवं राजनीति के समस्त पहलुओं की प्रारम्भिक स्थिति को समन्वित किया है। राजनैतिक संस्कृति की दृष्टि से राजनैतिक विश्वासों का

पर्याप्त महत्व है। इन विश्वासो के आधार पर हम परिवर्तन का अध्ययन कर सकते है। संस्थाओं के विकास एवं परिवर्तन के लिये ये विश्वास एक महत्व-पूर्ण निर्देशक का काम करते है। नये विश्वासों की खोज मे कई बार एक देश की राजनैतिक संस्कृति का रूप बदल जाता है। किसी भी देश के राजनैतिक मूल्य यद्यपि आसानी से नही बदलते किन्तु फिर भी परिस्थितियों का भारी दबाव हो तो उनमें परिवर्तन आता है। राजनैतिक विश्वासों की भांति एक सामाजिक व्यवस्था की सामान्य संस्कृति भी राजनैतिक संस्कृति के रूप पर पर्याप्त प्रभाव डालती है। इन दोनों के बीच गहरा सम्बन्ध है।

संस्कृति और राजनैतिक संस्कृति
(The Culture and Political Culture)

राजनैतिक संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था की सामान्य संस्कृति के बीच का अन्तर मुख्यतः विश्लेषणात्मक है। राजनैतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति का अभिन्न भाग है। एक व्यक्ति के राजनैतिक विश्वास उसके अन्य विश्वासों का ही एक भाग होता है। प्रत्येक संस्कृति प्रकृति के ऊपर अधिकार रखना चाहती है। वह इस सम्बन्ध में निष्क्रिय रहना पसन्द नहीं करती। अपने भौतिक वातावरण को आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित करने में संस्कृति को सरकार की सहायता लेनी होती है। एक समुदाय के सामान्य विश्वासो तथा राजनैतिक विश्वासो के मध्य स्थित सम्बन्धों द्वारा यह निर्धारित किया जा सकता है कि राजनैतिक संस्कृति का वर्णन करने मे किन राजनैतिक दृष्टि-कोणों पर विचार करना महत्वपूर्ण रहेगा। यद्यपि राजनैतिक संस्कृति और सामान्य संस्कृति दोनो के प्रारम्भिक मूल्य एक जैसे होते है वे मनुष्य की प्रकृति और भौतिक वास्तविकता के सम्बन्ध में एक जैसे विचार रखती है किन्तु फिर भी दोनों के बीच विश्लेषणात्मक विभाजन किया जाता है। इस विभाजन द्वारा यह संभव होता है कि हम दृष्टिकोणों के केवल उस क्षेत्र को ही महत्व प्रदान करते हैं जो कि राजनैतिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त है।

इसके अतिरिक्त संस्कृति के इन दोनों रूपों मे अनिवार्य एकरूपता भी नहीं होती। कुछ परिस्थितियों में दोनों के मूल्य विरोधी भी हो सकते है। राजनैतिक सस्कृति का विद्यार्थी उन विभिन्न विश्वासों के अध्ययन में पर्याप्त रुचि लेता है जो राजनैतिक एव अराजनैतिक व्यक्तियों द्वारा समर्थित है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि राजनैतिक विश्वासपूर्ण रूप से एकीकृत हैं। यह हो सकता है कि राजनैतिक विश्वास अन्य प्रकार के विश्वासों से भिन्न प्रकार के हों। मूल राजनैतिक विश्वासों एव राजनैतिक व्यवहार के बीच का सम्बन्ध भी अधिक स्पष्ट नही है। एक ही विश्वास को अनेक प्रकार से व्यवहार मे उतारा जा सकता है। इसी प्रकार एक ही कार्य की जड़ें विभिन्न

प्रकार के विश्वासों में निहित हो सकती हैं। यह सच है कि एक ओर तो राजनैतिक विश्वास एवं सामान्य विश्वास तथा दूसरी ओर राजनैतिक व्यवहार के बीच का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न हो सकता है किन्तु इनमें से कोई भी एक दूसरे के लिए महत्वहीन नहीं होता। विश्वास और अविश्वास के बीच तथा विश्वास और कार्य के बीच की असंलग्नता राजनैतिक व्यवस्था पर अपना प्रभाव रखती है।

विभिन्न देशों की राजनैतिक संस्कृति के बीच प्रमुख भिन्नता उन अनेक राजनैतिक दृष्टिकोणों के आधार पर रहती है जो कि अधिकांश लोगों द्वारा मान्य हैं। एक देश के बहुसंख्यक जनसमुदाय एवं सर्वश्रेष्ठ जनसमुदाय के विश्वास भी भिन्न-भिन्न होते है। उसके राजनैतिक भविष्य के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने के लिए यह हो सकता है कि अन्य की अपेक्षा कुछ समूहों के विश्वासों को अधिक महत्व दिया जाये। शक्ति सम्पन्न लोग, संगठित समूह के लोग तथा सचार व्यवस्था के निकट रहने वाले लोग जिन विश्वासों को मान्यता देते है वे अधिक प्रभावपूर्ण होते है। आज के द्रुत राजनैतिक परिवर्तन के युग मे किसी राजनैतिक उप-संस्कृति की अवहेलना नही की जा सकती क्योंकि प्रत्येक कार्य के लिए व्यापक समर्थन की आवश्यकता होती है।

राजनैतिक संस्कृति का जन्म
(The Origins of Political Culture)

राजनैतिक सस्कृतिया सीखी जाती है। इस प्रकार के ज्ञान के दो प्रमुख स्रोत होते है। प्रथम तो अराजनैतिक परिस्थितियो मे होने वाले वे अनुभव हैं जो कि राजनैतिक लक्ष्यों से सम्बन्धित दृष्टिकोणो पर अपना प्रभाव रखते हैं। इन अनुभवों में हम उनको सम्मिलित कर सकते है जो कि व्यक्ति अपने बचपन मे परिवार, स्कूल तथा साथियों के साथ प्राप्त करता है एव जिन्हें वह युवावस्था के बाद गैर–राजनैतिक संस्थाओं में प्राप्त करता है। दूसरे, वे अनुभव होते है जो कि राजनैतिक प्रक्रिया की सम्पन्नता के दौरान होते हैं। राजनैतिक संस्कृति पर पड़ने वाले दूसरे प्रकार के प्रभावों को राजनैतिक स्मृति (Political Memory) कहा जा सकता है। ये अनुभव व्यक्ति के स्वय के व्यक्तिगत होते है। वह राजनैतिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध मे स्वयं अनुमान करता है और उससे अनुभव प्राप्त करता है। ये अनुभव आगे चलकर व्यक्ति के राजनैतिक विश्वासों की व्यवस्था के भाग बन जाते हैं।

अराजनैतिक अनुभवों का राजनैतिक संस्कृति पर प्रभाव

व्यक्ति के प्रमुख राजनैतिक मूल्य उसके प्रारम्भिक जीवन में ही आधार

पाते हैं। ये परिवार मे, स्कूल मे तथा अपने साथियों के साथ रहकर बनते और ढलते है। माता-पिता एव अध्यापकों द्वारा बचपन में ही राजनैतिक मूल्यों की शिक्षा दी जाती है। व्यक्ति जब स्वयं ही राजनैतिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में अनुमान लगाने योग्य बनता है तो उसके इस अनुमान पर बचपन के प्रभावों का अप्रत्यक्ष किन्तु उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। कई बार तो वह राजनीति से सम्बन्धित उस वार्तालाप की अवहेलना कर देता है जिसके अनुभव उसके बचपन के अनुभवो से मेल नही खाते।

प्रारम्भिक सामाजिक परिस्थितियों मे बालक को सत्ता की प्रकृति, दूसरो के विश्वास एव समर्थन, वातावरण को अपने अनुकूल बनाने की क्षमता, आदि से सम्बन्धित कुछ मूलभूत पाठ पढ़ाये जाते है। ये प्रमुख मूल्य बहुत पहल ही सीखे जाते है और इसलिए यह पूर्ण रूप से संभव है कि व्यक्ति इन मूल्यों के आधार पर राजनीति शास्त्र मे सम्बन्धित मूल्यों के सम्बन्ध में सामान्यीकरण करे। बालक को स्कूल मे समाज की कुछ मूलभूत बातें भी बताई जाती है। उदाहरण के लिए सफलता का मापदण्ड क्या है तथा व्यक्ति का समाज मे क्या स्थान है ?

सत्ता एवं पारस्परिक विश्वास के सम्बन्ध मे जो समाजीकरण का रूप होता है वह सम्भवत बाद के राजनैतिक विश्वासो को बनाने मे महत्वपूर्ण कार्य करता है। प्रजातन्त्रात्मक राजनीति मे राजनैतिक अभिनेताओ के बीच जो सम्बन्ध रहते है वे शक्ति की दृष्टि से बहुत कुछ समानतापूर्ण होते है तथा तुलनात्मक रूप से गैर-संघर्षपूर्ण होते है। यदि शक्ति की समानता न रहे तो उसमे कायम सौदेबाजी की व्यवस्था अथवा पारस्परिक प्रतिबन्ध एवं निरोध की व्यवस्था को मुश्किल से ही प्रजातन्त्रात्मक कहा जा सकता है। इन समानता पूर्ण शक्ति सम्बन्धो को संघर्ष के स्तर से कुछ नीचे रखना होता है नही तो शान्तिपूर्ण राजनैतिक परिवर्तन असम्भव बन जायेगा। कुछ परिस्थितियों मे यह सब हो जाने पर भी राजनैतिक संस्कृति का विकास नही हो पाता।

राजनैतिक अनुभवों का राजनैतिक संस्कृति पर प्रभाव

आजकल राजनैतिक समाजीकरण के अध्ययन पर पर्याप्त जोर दिया जाता है और इसके कारण पूर्व राजनैतिक अनुभवों को इतना अधिक महत्व मिल जाता है कि उसमें राजनैतिक प्रक्रिया का पर्यवेक्षण करने के बाद बनने वाले व्यक्ति के विश्वासो को पूरी तरह से भुला दिया जाता है। वस्तु स्थिति का तथ्यगत अध्ययन व्यक्ति की मान्यताओ को बदलने मे महत्वपूर्ण रूप से कार्य करता है। प्रारंभ में व्यक्ति के सरकार के कार्य एवं उपयोगिता के बारे में कुछ दृष्टिकोण होते हैं। जब वह अपने इन दृष्टिकोणों का वास्तविक तथ्यों

से मिलान करता है तो उसके विश्वास ढलते है। यह सच है कि प्रक्रिया का पर्यवेक्षण करते समय उन पूर्व मान्यताओं का व्यक्ति के अनुमानो पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है जो कि उसने बचपन मे ग्रहण की थी किन्तु फिर भी वह राजनैतिक प्रक्रिया को जैसा देखता है, वह उसकी पूर्वमान्यताओं के साथ प्रतिक्रिया करता है।

राजनैतिक सस्कृति का एक प्रमुख निर्धारणकर्ता वह तरीका है जिसके द्वारा पूर्व राजनैतिक अनुभवों को राजनैतिक प्रक्रिया के अनुमानों से सम्बन्धित किया जाता है। यह जरूरी नही है कि जो कुछ व्यक्ति ने बचपन में सीखा है वही उसे राजनैतिक प्रक्रिया का अध्ययन करने पर प्राप्त हो। दोनों के बीच कभी-कभी पर्याप्त भिन्नता भी दिखाई देती है। एक व्यक्ति को बचपन मे परिवार द्वारा समाजीकरण के जिन अनुभवो के साथ तैयार किया जाता है यदि वे राजनीति में भाग लेने से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के अनुरूप न हो तो राजनैतिक सकट और प्रमुख कठिनाइया उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से ग्रेट ब्रिटेन में बहुत कम अन्तर है। मि० रोज (Richard Rose) के मतानुसार "ग्रेट ब्रिटेन मे सामाजीकरण की प्रक्रिया एव राजनैतिक प्रक्रिया के बीच बहुत कम अन्तर है।" दूसरी ओर नवीन विकसित देशो मे राजनैतिक अभिनेताओं के परम्परागत मूल्यों एवं राजनैतिक व्यवस्था मे अब प्रयुक्त किये जाने वाले मापदंडो के बीच गहरा विरोध रहता है। यह एक पर्याप्त सामान्य एवं पर्याप्त महत्वपूर्ण समस्या है। प्रायः सभी आधुनिक समाजों में तथा आधुनिकता की ओर बढ़ते हुए सभी समाजों मे इस प्रकार की दूरी रहती ही है। परम्परागत समाजो मे जहा पर राजनैतिक क्षेत्र को पारिवारिक रूप में बनाया जाता है, इस प्रकार की दूरी अधिक नही होती। आधुनिक समाज एवं संक्रमण स्थिति के समाज के बीच का अन्तर मुख्यत. दूरी का आकार होता है। इस दूरी को कम करने के लिये स्वयं परिवार ने अपने कुछ मूल्यो को छोड़ा है और परम्परागत विशेषताओं को कम किया है।

राजनैतिक संस्कृति के मूल को खोजने के लिए हमें व्यक्ति के प्रत्यक्ष राजनैतिक अनुभवों के पार भी देखना चाहिए। जो राजनैतिक स्मृतियां एक पीढी से दूसरी पीढी को दी जाती हैं और जिस तरीके से इन पीढियो को बनाया जाता है वह अत्यन्त उल्लेखनीय है। इसके लिए एक राष्ट्र के अनुभवों को यह जानने के लिए यह देखना होगा कि राजनैतिक विश्वासों पर क्या प्रभाव पड़ा? जब तक फ्रास के इतिहास के महान संकटों अर्थात् फ्रांसीसी क्रांति और १६वी शताब्दी की अन्य उथल-पुथल का अध्ययन न किया जाये उस समय तक हम फ्रांस के राजनैतिक दृष्टिकोण पर विचार नहीं कर सकते। इसी प्रकार जब तक नाजीवाद और फासीवाद के प्रभाव पर विचार न किया

जाय उस समय तक हम जर्मनी और इटली की राजनीति पर विचार नहीं कर सकते। नाजीवाद के अनुभव का प्रभाव जर्मनी की राजनैतिक संस्कृति में उस समय भी रहा जबकि जिन्होंने वास्तव में इन अनुभवों को महसूस किया था जबकि वे मर चुके थे। एक देश की ये महत्वपूर्ण घटनायें भावी सन्तति पर प्रभाव रखती है।

राजनैतिक व्यवस्थायें
(Political System)

राजनैतिक क्षितिज में विभिन्न व्यवस्थाएं कायम हैं जो कि अपने क्षेत्र की भौगोलिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक एवं इसी प्रकार की अन्य अनेक पृष्ठभूमियों में अपना रूप ग्रहण करती हैं। ये राजनैतिक संस्थाएं अनेक पारस्परिक समानतायें रखती है और साथ ही अनेक विभिन्नतायें भी। विभिन्न राजनैतिक व्यवस्थाओं द्वारा अनेक प्रकार से समान व्यवहार किया जाता है। राज्य के अतिरिक्त संघ, क्लब एवं अन्य संस्थाओं में भी अनेक अनुभववादी नियमिततायें प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार राजनैतिक व्यवस्थाओं का व्यवहार भी विभिन्न नियमितताओं से पूर्ण होता है। मि० राबर्ट ए० डहाल ने राजनैतिक व्यवस्थाओं की विशेषताओं का वर्णन किया है, उनके अनुसार "ये विशेषतायें राजनैतिक व्यवस्था की परिभाषा नहीं वरन् ये वे नियमित विशेषतायें हैं जो कि अधिकांश राजनैतिक व्यवस्थाओं में प्राप्त होती है।" ये विशेषतायें निम्न प्रकार हैं—

(१) राजनैतिक स्रोतों का असमतल नियन्त्रण
(Uneven Control of Political Resources)

राजनैतिक व्यवस्था में राजनैतिक स्रोतों को असमान रूप से वितरित किया जाता है। राजनैतिक स्रोत हम उन साधन को कह सकते हैं जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे के व्यवहारों को प्रभावित कर सकता है। इस दृष्टि से राजनैतिक स्रोतों के अन्तर्गत हम धन, सूचना, भोजन शक्ति की धमकी, मित्रता, सामाजिक स्तर, कानून बनाने का अधिकार मत तथा ऐसी ही अनेक चीजों को सम्मिलित कर सकते है। इन राजनैतिक स्रोतों का नियन्त्रण प्रायः सभी समाजों में असमतल रूप से क्यों वितरित किया जाता है, इसके कई कारण है। पहली बात तो यह है कि प्रायः समाज में इसके कार्यों का कुछ विशेषीकरण रहता है—यह उन्नत समाजों में तो बहुत अधिक रहता है। कार्य का विशेषीकरण हो जाने के कारण सभी लोग समान रूप से सभी राजनैतिक स्रोतों को प्राप्त नहीं कर सकते, उदाहरण के लिए विदेश मन्त्री या विदेश मन्त्रालय के सचिव साधारण विदेश नीति से सम्बन्धित अधिक सूचना

प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार किसी भी देश की सरकार अव्यवस्था के विरुद्ध सैनिक शक्ति का प्रयोग करने की धमकी दे सकती है, किन्तु दूसरी संस्थाएं ऐसा नहीं करतीं।

(2) दूसरे व्यक्तियों के बीच मौलिक अन्तर होते हैं। सभी व्यक्ति स्रोतों को समान पहुंच के साथ जीवन प्रारम्भ नहीं करते। जिन लोगों के पास प्रारम्भ में अधिक स्रोत होते हैं वे उनको और भी अधिक बढ़ाने का प्रयास करते हैं। व्यक्ति और समाज एक सीमा तक अपने अतीत के बन्दी होते हैं। वे जीवशास्त्री या सामाजिक रूप से अपना प्रारम्भ शून्य से नहीं कर सकते। 'पुरुष' स्त्री की अपेक्षा शारीरिक दृष्टि से सामान्यतः अधिक मजबूत होता है, इसका अर्थ यह हुआ कि पुरुष प्रत्यक्ष, प्रारम्भिक एवं शारीरिक शक्ति पर अपेक्षाकृत अधिक पहुंच सकता है। अन्य दूसरे कई अन्तर शारीरिक न होकर सामाजिक होते हैं। ये दोनों प्रकार के अन्तर मिलकर एक व्यक्ति को दूसरे की अपेक्षा स्रोतों की पहुंच का अधिक अवसर प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए उस व्यक्ति को शिक्षा के अधिक अवसर प्राप्त हो सकते हैं जिसके मा-बाप की आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थिति अच्छी है। तीसरे, एक (3) समाज के विभिन्न लोगों के लक्ष्यों तथा प्रेरकों के बीच भी पर्याप्त अन्तर रहता है। व्यावहारिक दृष्टि से कोई भी समाज अपने प्रत्येक व्यक्ति को एक जैसे प्रेरक तथा लक्ष्य नहीं सौंप सकता। प्रेरकों के अन्तर के कारण लोगों की कुशलता एवं स्रोतों में अन्तर आ जाता है। प्रत्येक व्यक्ति राजनीति में नहीं जाना चाहता वह नेता बनने की आकांक्षा नहीं रखता। वह उन साधन स्रोतों को प्राप्त नहीं करना चाहता जो कि दूसरों को प्रभावित करना चाहते हैं।

(4) चौथे, पहिले की शक्ति और लक्ष्यों के कुछ अन्तरों को सामान्यतः सामाजिक दृष्टि से लाभदायक माना जाता है क्योंकि ऐसा करना लोगों को विभिन्न विषयों का विशेषज्ञ बनाना आवश्यक है। यदि हर कोई व्यक्ति पूर्ण-कालीन योद्धा बनाना चाहे तो फिर बालकों की रक्षा और पालन पोषण कौन करेगा? जब कभी कार्यों का विशेषीकरण उपयोगी समझा जाता है तभी प्रेरकों में भी कुछ अन्तर रखना आवश्यक मान लिया जाता है। प्रेरकों के अन्तर के साथ स्रोतों का अन्तर भी रहेगा। उदाहरण के लिए युद्ध प्रिय लोगों के लिए अन्य की अपेक्षा अधिक सैनिक शक्तियां दी जायेंगी। इन चारों ही कारणों से राजनैतिक स्रोतों का असमतल वितरण किया जाता है। इस प्रकार का समाज बनना प्रायः असम्भव समझा जाता है जिसमें कि सभी वयस्कों के बीच राजनैतिक स्रोत बराबर की मात्रा में वितरित किए जाएं।

असमानता प्रत्येक समाज में एक जैसी नहीं होती। इस आधार पर समाजों के बीच असमानतायें पायी जाती है।

(२) राजनैतिक प्रभाव की खोज
(The Quest for Political Influence)

राजनैतिक व्यवस्था के कुछ लोग सरकार द्वारा लागू की गई नीतियों, नियमों एवं निर्णयों पर प्रभाव प्राप्त करना चाहते है। राजनैतिक प्रभाव अपने आप में कोई लक्ष्य नही रखता। लोग इसे अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए पाना चाहते है क्योंकि सरकार पर उनका नियन्त्रण इस दृष्टि से उपयोगी रहता है। सरकार पर नियन्त्रण व्यक्ति के लक्ष्यों एवं मूल्यों को प्राप्त करने का इतना स्पष्ट एव प्रसिद्ध साधन है कि प्रत्येक राजनैतिक व्यवस्था में शक्ति की कामना रहती है। ऐसी किसी भी राजनैतिक व्यवस्था की कल्पना नही की जा सकती जिसमे कोई भी व्यक्ति शक्ति प्राप्त करने का प्रयास न करें। इससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि जो भी व्यक्ति राजनैतिक प्रभाव की इच्छा रखता है, उसकी मूल प्रेरणा शक्ति प्राप्ति की इच्छा है। ऐसा हो भी नही सकता है और है भी नही भी।

(३) राजनैतिक प्रभाव का असमतल वितरण
(Uneven distribution of Political Influence)

एक राजनैतिक व्यवस्था मे वयस्क सदस्यों के बीच राजनैतिक प्रभाव को असमतल रूप से वितरित किया जाता है। यह विशेषता प्रथम विशेषता से सम्बन्ध रखती है क्योंकि यह एक तथ्य है कि कुछ लोगों के पास अधिक स्रोत होते हैं और उनके द्वारा वे दूसरों को प्रभावित कर सकते है। इसके प्रतिरिक्त जो लोग सरकार पर अधिक जोर रखते है वे अधिक राजनैतिक स्रोतों पर नियंत्रण रखने के लिए अपने प्रभाव का प्रयोग कर सकते है। राजनैतिक प्रभाव का असमान वितरण शताब्दियों से एक तथ्य रहा है। कुछ लोगो ने इस तथ्य से सहमति प्रकट की जबकि अन्य लोगों ने इस तथ्य की निन्दा करके इसे समाप्त करने की सिफारिश की। अरस्तु की राजनीति (*Politics*) के प्रारम्भिक शब्दों में ही उन अन्तरों को स्पष्ट एवं न्यायोचित सिद्ध कर दिया गया है जो कि स्वामी और दास, पति और पत्नी एवं माता-पिता और बच्चे के बीच रहता है। इसके २० शताब्दी बाद रूसो ने शक्ति की असमानताओं पर आक्रमण किया। रूसो के मतानुसार असमानता का मुख्य कारण सम्पत्ति में निहित है। सम्पत्ति के असमानता रहने के कारण अन्य क्षेत्रों में भी असमानता आ जाती है। आज के युग में कार्ल मार्क्स तथा लेनिन द्वारा सम्पत्ति की असमानता पर विचार प्रकट किये गए।

राजनैतिक प्रभाव को राजनैतिक व्यवस्था में हमेशा असमतल रूप से वितरित किया जाता है इसके लिए उत्तरदायी अनेक कारण हैं। पहला कारण तो स्रोतों के वितरण की असमानता है जिनका अध्ययन हम पहले कर चुके हैं। इसका दूसरा कारण यह है कि लोगों की कुशलता में अन्तर होता है जिसके द्वारा कि वे इन राजनैतिक स्रोतों का उपयोग करते हैं। राजनैतिक कुशलता में अन्तर मुख्य रूप से इसलिए होते हैं क्योंकि विभिन्न लोगों को इसे प्राप्त करने के अवसर समान रूप से प्राप्त नहीं होते। तीसरे, इसका एक कारण यह भी है कि विभिन्न लोग राजनैतिक लक्ष्यों के लिए अपने साधनों का प्रयोग जितना करते हैं उसमें भी विभिन्नता रहती है। बराबर रूप से धनवान दो व्यक्तियों में से एक के द्वारा अपने अधिकांश धन का प्रयोग अपने प्रभाव प्राप्ति के लिए किया जा सकता है जबकि दूसरा व्यक्ति अपने धन का प्रयोग अपने व्यापार में सफलता की प्राप्ति के लिए कर सकता है।

राजनैतिक शक्ति का असमतल वितरण होना इस बात का प्रतीक नहीं है कि समाज में प्रशासन करने वाला सर्वश्रेष्ठ वर्ग अस्तित्व रखता है। दोनों के बीच सम्बन्ध होते हुए भी असमानता है। राजनैतिक व्यवस्था में जिन लोगों के पास अधिक प्रभाव होता है उनको नेता कहा जा सकता है।

(४) संघर्षपूर्ण उद्देश्यों का समाधान
(Resolution of Conflicting Aims)

एक ओर राजनैतिक व्यवस्था के कुछ सदस्य संघर्षपूर्ण उद्देश्य रखते हैं जिन पर उस राजनैतिक व्यवस्था की सरकार विचार करती है। जो लोग साथ-साथ रहते हैं वे हमेशा हर चीज के बारे में एक मत नहीं होते। किन्तु फिर भी यदि उनको साथ-साथ रहना है तो वे अपने लक्ष्यों में पूर्ण रूप से असहमत नहीं हो सकते।

यद्यपि सभी राजनैतिक विचारकों ने इस दोहरेपन को स्वीकार किया है किन्तु कुछ ने एक की अपेक्षा दूसरे पर अधिक जोर डाला है। कुछ लोग हॉब्स की तरह व्यक्ति के पारस्परिक संघर्ष को स्वाभाविक समझते हैं जब कि दूसरों ने अरस्तु और रूसो की भांति पारस्परिक सहयोग एवं सहमति को स्वाभाविक माना है। हाब्स के समर्थक शक्ति के केन्द्रीकरण और सत्ता, आज्ञाकारिता, स्वामीभक्ति, स्वीकृति, दायित्व, कर्तव्य और अनुशासन पर अधिक जोर देते हैं। दूसरी ओर अरस्तु और रूसो के अनुयायी इस बात पर जोर देते हैं कि एक राजनैतिक व्यवस्था में राज्य सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए, सम्मान और आदर प्राप्त करने के लिए, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए और उत्तरदायी रूप में व्यवहार करने के लिए किस प्रकार लोगों की सहायता कर

सकता है ? ये दोनों ही मत अतिशयवादी हैं। इनमें से एक नागरिक संघर्ष के प्रति अतिशय भयभीत है जबकि दूसरा व्यक्ति सहयोग पूर्ण प्रकृति में असीमित विश्वास रखता है।

राज्य के द्वारा विभिन्न व्यक्तियों के संघर्ष पूर्ण कार्यों एवं लक्ष्यों में आवश्यक रूप से हर समय हस्तक्षेप नहीं किया जाता। सरकार के अतिरिक्त अन्य प्रकार से इन संघर्षों को दूर किया जा सकता है, उदाहरण के लिए वार्तालाप के द्वारा, आक्रमणकारी भाषा के प्रयोग से तथा शक्ति प्रयोग की सम्भावना बताकर कुछ समाजों में गम्भीर व्यक्तिगत असहमतियों को सुलभाने के लिए व्यक्तिगत प्रयासों को ही अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। राज्य के अतिरिक्त कुछ अन्य राजनैतिक व्यवस्थाएं भी होती हैं जिनके द्वारा जटिल समाज अपने संघर्ष में मध्यस्थता करते हैं, पंच निर्णय करते हैं, उसे दबाते हैं और सुलझाते हैं। जब कभी दमन की आवश्यकता होती है तो राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक बन जाता है। इस प्रकार सरकार का कदम केवल उसी समय उठता है जबकि संघर्ष को गैर राजनैतिक साधनों से न सुलभाया जा सके। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार मजदूरों के झगड़ों में हस्तक्षेप नहीं करती किन्तु यदि किसी प्रमुख उद्योग में संघ तथा प्रबन्ध के बीच बहुत समय तक झगड़ा चलता रहे तथा अर्थ व्यवस्था को कमजोर करने की चुनौती देने लगे तो सम्भवतः राष्ट्रपति हस्तक्षेप करेंगे। कुछेक परिस्थितियां ऐसी हैं जिनमें कि एक राज्य की सरकार एक संघर्ष में हस्तक्षेप कर सकती है। प्रथम, उस समय जबकि संघर्ष का तीसरे पक्ष पर गम्भीर परिणाम होने वाला हो उदाहरण के लिए प्रमुख उद्योग में हड़ताल होने पर। अन्तर्राष्ट्रीय संकट के समय तीसरे पक्ष पर पड़ने वाले प्रभाव प्रायः बढ़ जाते हैं। दूसरे, जब व्यक्ति इस प्रकार कार्य करे या कार्य करने की चुनौती दे कि नैतिक आचरण के नियमों के साथ उनका संगठित विरोध किया जाना आवश्यक हो जाता है। आधुनिक समाजों में हत्या, चोरी तथा अन्य हिंसात्मक कार्यों को सरकार द्वारा दण्डनीय अपराध माना जाता है। तीसरे, जब कभी संघर्ष द्वारा समाज के सदस्यों के बीच भयानक, निरन्तर या व्यापक हिंसा को प्रोत्साहन दिया जाये तो राज्य की सरकार हस्तक्षेप करेगी। चौथे, राज्य की सरकार द्वारा उस समय भी हस्तक्षेप किया जाता है जबकि झगड़े वाले दोनों ही पक्ष राज्य के अतिरिक्त किसी अन्य संस्था के सदस्य न हों।

(5) औचित्यपूर्णता की प्राप्ति
(The Acquisition of Legitimacy)

एक राजनैतिक व्यवस्था में नेतागण यह प्रयास करते हैं कि जब कभी संघर्षों का निपटारा करने के लिए सरकारी साधनों का प्रयोग किया जाये तो

मान्य निर्णयों की व्यापक स्वीकृति का आधार हिंसा, दमन या दण्ड का भय नहीं होना चाहिए वरन् यह इस विश्वास पर आधारित हो कि ऐसा करना नैतिक रूप से सही है। सरकार के व्यवहार की मान्यता का आधार औचित्य होना चाहिए। औचित्यपूर्णता का अर्थ यह है कि सरकार की रूप-रचना, प्रक्रियायें, क्रियायें, निर्णय, नीतियाँ, अधिकारी तथा नेता आदि में उचितता होनी चाहिए, उनमें नैतिक अच्छाई होनी चाहिए तथा उनको इसी गुण के कारण से स्वीकार किया जाये।

प्रत्येक राजनैतिक व्यवस्था मे नेता अपने कार्यों को औचित्यपूर्ण सिद्ध करना चाहते हैं। जब एक नेता का प्रभाव औचित्यपूर्णता की पोशाक से ढक जाता है तो उसे प्रायः सत्ता कह दिया जाता है। इस प्रकार सत्ता एक विशेष प्रकार का प्रभाव होती है; यह औचित्य पूर्ण प्रभाव है। यह कहा जा सकता है कि एक राजनैतिक व्यवस्था में नेता अपने प्रभाव को सत्ता मे परिवर्तित करना चाहता है। नेता किस प्रकार औचित्यपूर्णता की प्राप्ति का प्रयास करते है यह जानना कोई कठिन कार्य नही है। 'सत्ता' प्रभाव का सर्वाधिक प्रभावशाली रूप है। इसके द्वारा प्रशासक को कम से कम स्रोतो के साथ शासन करने में सक्षम बनाया जाता है। आज के बड़े नौकरशाही संगठनो में केवल डर या आतंक के आधार पर काम नही लिया जा सकता। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष पुरस्कार की व्यवस्था भी अधिक कारगर सिद्ध न होगी; साथ ही यह मंहगी भी पड़ेगी। यदि कम से कम साधनों का व्यय करके सतोषजनक कार्य सम्पन्नता प्राप्त करनी है तो यह आवश्यक है कि अधीनस्थ अधिकारी प्राप्त आज्ञाओ एवं कार्यों को करना नैतिक रूप से आवश्यक मानें।

यद्यपि विभिन्न प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थायें औचित्यपूर्णता प्राप्त कर सकती हैं किन्तु प्रजातंत्र को अन्य व्यवस्थाओ की अपेक्षा इसकी अधिक आवश्यकता है। प्रजातत्र मे जनता को उसकी इच्छा के विरुद्ध अधिक समय तक नही दबाया जा सकता। असल में प्रजातत्र वहा पर टिक ही नही सकता जहा कि अल्पसंख्यको की एक बड़ी सख्या द्वारा उसका विरोध किया जाता है।

(६) एक विचारधारा का विकास
(The Development of an Ideology)

एक राजनैतिक व्यवस्था के नेता अपने नेतृत्व का औचित्य सिद्ध करने के लिए प्रायः निरन्तर रूप से कुछ एकीकृत सिद्धान्तों का प्रयोग करते रहते हैं। इस प्रकार के सिद्धान्तों के योग को एक विचारधारा कहते हैं। नेताओं द्वारा विचारधारा विकसित करने का एक कारण तो स्पष्ट ही है और वह यह है कि अपने नेतृत्व को औचित्य प्रदान करना अर्थात् अपने

प्रभाव को सत्ता में बदलना। सत्ता के माध्यम से शासन करना दबाव के माध्यम से शासन करने की अपेक्षा अधिक मितव्ययी है।

नेताओं एवं उच्च सरकारी अधिकारियों के द्वारा एक विचारधारा को मान्यता प्रदान करके अपने नेतृत्व के साथ-साथ राजनैतिक व्यवस्था को भी औचित्य दिया जाता है। यह प्रशासकीय विचारधारा नैतिक, धार्मिक, तथ्यगत एवं अन्य मान्यताओं को इंगित करती है जो कि व्यवस्था को न्यायोचित ठहराते हैं। एक उच्च विकसित विचारधारा द्वारा संगठन की नीतियों की प्रशंसा की जाती है, संस्था के नेताओं की बड़ाई की जाती है तथा व्यवस्था के कार्य संचालन को आदर्श रूप में वर्णित किया जाता है। यह विचारधारा प्रजातंत्रात्मक या साम्यवादी या समाजवादी अथवा अन्य किसी भी प्रकार की हो सकती है।

यह कहना गलत होगा कि शासन की विचारधारा के विश्वासों को राजनैतिक व्यवस्था में प्रत्येक के द्वारा स्वीकार किया जाता है। अधिकांश सदस्यों को तो इस विचारधारा का ज्ञान ही नहीं होता। कुछ लोगों का दृष्टिकोण इस विचारधारा के ठीक विपरीत हो सकता है। शासन की विचारधारा को अस्वीकार भी किया जा सकता है। व्यवस्था के कुछ सदस्य विरोधी या संघर्षपूर्ण विचारधारा को मान्यता दे सकते हैं। साम्यवादी अथवा फासीवादी विचारधारा के समर्थक प्रजातंत्रात्मक विचारधारा को मानने वाले देश में रहते हैं। इसी प्रकार सर्वाधिकारवादी या सत्तावादी देश में कुछ प्रजातंत्रात्मक विचारधारा से प्रभावित लोग भी रहते हैं। लोगों के लक्ष्य संघर्ष पूर्ण होते हैं और इसलिए कोई भी व्यवस्था अपने सभी सदस्यों का समर्थन प्राप्त नहीं कर सकती। विरोधियों द्वारा अनेक तर्क देकर यह सिद्ध किया जाता है कि स्थित व्यवस्था का कोई औचित्य नहीं है। वे अपने विकल्प के बारे में कहते हैं कि यह स्थित व्यवस्था से अधिक वैधानिक एवं औचित्यपूर्ण है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि एक समय की क्रान्तिकारी विचारधारा दूसरे समय की शासन की विचारधारा बन जाती है। १८वीं शताब्दी में प्रजातंत्रात्मक सिद्धान्त क्रान्तिकारी था किन्तु आज यह अधिकांश देशों में शासन की विचारधारा बन गया है। सोवियत संघ में १९१७ तक मार्क्सवाद क्रान्तिकारी विचारधारा था किन्तु बाद में यह वहां के शासन की विचारधारा बन गया। विचारधारायें उठती और गिरती रहती हैं तथा एक व्यवस्था की विचारधारा दूसरी व्यवस्था की विचारधारा से भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि क्या एक विचारधारा उतना ही तथ्यगत एवं नैतिक

औचित्य रखती है जितना कि अन्य कोई रखती है ? विचारकों का कहना है कि सभी विचारधारायें समान रूप से औचित्यपूर्ण नहीं होती ।

(७) अन्य राजनैतिक व्यवस्थाओं का प्रभाव
(The Impact of other Political Systems)

एक राजनैतिक व्यवस्था जिस रूप में कार्य करती है उस पर अन्य व्यवस्थाओं के प्रभाव का भारी असर होता है। कोई भी राजनैतिक व्यवस्था पार्थक्यपूर्ण अस्तित्व नहीं रखती। अपवाद के रूप में यदि कोई पार्थक्यपूर्ण संस्था होती है तो उसकी अवहेलना की जा सकती है। आज प्रायः प्रत्येक राजनैतिक व्यवस्था को विदेशी सम्बन्ध रखने होते हैं अतः एक राजनैतिक व्यवस्था पर अन्य राजनैतिक व्यवस्था का तथा उसके स्वयं के अतीत का प्रभाव पड़ने की प्रत्येक सम्भावना रहती है। एक प्रान्तीय सरकार राष्ट्रीय सरकार के अस्तित्व की सफलतापूर्वक अवहेलना नहीं कर सकती। इसी प्रकार एक राष्ट्रीय सरकार को अपनी नीतियां इस तथ्य के साथ समायोजित करनी होती हैं कि अन्य राष्ट्रीय सरकारें सधियां, समझौते, तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का अस्तित्व है। यहां तक कि एक क्लब या धार्मिक संस्था तक भी पार्थक्य-वादी नीति को अपना कर अधिक समय तक कार्य नहीं करती। जब एक व्यापारिक संघ कार्य करता है तो वह अन्य व्यापारिक संस्थाओं, संघों एवं सरकारों से प्रभावित होता है।

यह एक तथ्य है कि अधिकांश लोग जो एक आदर्श राजनैतिक व्यवस्था का स्वप्न देखते हैं वे उन सीमाओं को भूल जाते हैं जो कि अन्य राजनैतिक व्यवस्थाओं के अस्तित्व द्वारा लगायी गयी है। यदि अन्य संस्थाओं की परवाह न की जाए तो एक श्रेष्ठ समाज या एक खराब समाज की कल्पना की जा सकती है। जितनी भी राजनैतिक कल्पनाएं की गयी हैं उनमें विदेश सम्बन्ध द्वारा लगायी सीमाओं को ध्यान में रखने की तकलीफ नहीं की गयी। अरस्तु और प्लेटो ने भी इस तत्व को पर्याप्त महत्वपूर्ण माना था। अरस्तु ने यह स्वीकार किया है कि यदि राज्य को एक राजनैतिक जीवन व्यतीत करना है और पृथक रहकर जीवन नहीं बिताना है तो यह एक श्रेष्ठ बात है कि इसके व्यवस्थापकों को पड़ोसी देशों के प्रति सम्मान प्रकट करना चाहिए। आज के युग में इस तथ्य को व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है कि अन्य व्यवस्थाओं का प्रभाव एक राजनैतिक व्यवस्था के रूप को सजाने और संवारने में उल्लेखनीय योगदान देता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन, राजनीति विज्ञान की एक विशेष शाखा के रूप में विकसित हो चुका है। पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्ठता के कारण यह प्रश्न उठता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को अन्तर्देशीय राजनीति से किस प्रकार पृथक किया जाए अथवा एक राजनीतिक

व्यवस्था को दूसरी राजनीतिक व्यवस्था से कैसे पृथक किया जाए या एक राजनैतिक व्यवस्था की क्या सीमाएं होती हैं ?

सौभाग्य से एक राजनीतिक व्यवस्था की सीमायें प्रायः उसकी परम्परा के द्वारा निर्धारित कर दी जाती हैं। ये परम्परागत सीमायें भौगोलिक हो सकती हैं। इस दृष्टि से उस निर्धारित सीमा के अन्तर्गत रहने वाला व्यक्ति उस विशेष राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही माना जाता है। एक व्यवस्था की परम्परागत सीमाओं को पहचानना अधिक कठिन नहीं होगा। कई बार परम्परागत सीमाएं वास्तविक सीमाओं के साथ समरूपता नहीं रखती। उदाहरण के लिए लाल चीन का यह दावा है कि ताइवान (Taiwan) उसकी सीमाओं के अन्तर्गत है और दूसरी ओर ताइवान के चीनी नेता यह दावा करते हैं कि मुख्य भूमि भी उन्हीं की सीमाओं में आती है। इस प्रकार के नैतिक, वैधानिक या प्रचारात्मक दावों को अमूर्त राजनैतिक विश्लेषण से नहीं बदला जा सकता। सीमाओं के सम्बन्ध में विवाद रहने की स्थिति में भी राजनैतिक विश्लेषण की दृष्टि से एक सीमा को ऐसी राजनीतिक व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है कि जहां पर सरकार की शक्ति, कार्यों के प्रभाव करने की दृष्टि से समाप्त हो जाते हैं अर्थात् एक व्यवस्था की सीमायें केवल वहीं तक हैं जहां तक कि इसकी सरकार कार्य को प्रभावित करने के लिए शक्ति रखती है। राजनैतिक अध्ययन की दृष्टि से विवादपूर्ण सीमाओं के सम्बन्ध में भ्रम मे पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल यही जान लेना पर्याप्त होगा कि एक राजनैतिक परम्परा की सीमायें क्या हैं ? यदि किसी व्यवस्था में परम्परागत सीमायें न हो तो उस व्यवस्था की लोकप्रियता द्वारा कुछ बातें ऐसी प्राप्त हो जायेंगी जिनके आधार पर उसकी सीमाओं का पता लगाया जा सके।

(८) परिवर्तन का प्रभाव
(The Influence of Change)

सभी राजनैतिक व्यवस्थायें परिवर्तनशील होती हैं। प्रारम्भ में ही राजनैतिक विचारकों ने राजनैतिक व्यवस्थाओं की पारस्परिकता पर जोर दिया। प्लेटो का कहना था कि हम देखते है कि "प्रत्येक चीज जो प्रारम्भ होती है उसका अन्त भी होता है। यहां तक कि तुम्हारा संविधान भी हमेशा नहीं चलता रहेगा किन्तु कालान्तर में नष्ट हो जायेगा।" परिस्थितियों और समय के अनुसार राजनैतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन आते रहते है। स्वयं अरस्तु ने भी अपनी राजनीति का बहुत बड़ा भाग क्रान्ति के कारणों एवं संवैधानिक परिवर्तन में लगाया है। जो लोग कल्पनावादी होते हैं वे अपनी उड़ानों मे इस परिवर्तन के तथ्य को भूल जाते है। उनका आदर्श राज्य पूर्ण

होने के कारण या तो बदल ही नहीं सकता और यदि बदलेगा भी तो वह अच्छा नही होगा। यही कारण है कि कल्पनावादी विचारकों ने परिवर्तन के विचार की निन्दा की। प्लैटो की मान्यता थी कि उसका आदर्श राज्य यद्यपि बदलेगा किन्तु उसके बदले हुए रूप भ्रष्ट रूप होंगे। कार्ल मार्क्स ने समस्त इतिहास को एक परिवर्तन की कहानी माना है किन्तु उनकी भी यह धारणा थी कि जब साम्यवाद की अन्तिम सीढ़ी तक पहुंच जायेंगे तो वे सभी ऐतिहासिक शक्तियां समाप्त हो जायेंगी जो कि परिवर्तन लाती है। कभी-कभी प्रजातंत्र के समर्थक भी इस बात पर जोर देते है कि यह व्यवस्था व्यक्ति के राजनैतिक विकास की अन्तिम सीढी है। लोगों का विचार चाहे कुछ भी रहा हो किन्तु यह एक तथ्य है कि आज तक कोई भी व्यवस्था स्थाई नही रही।

राजनैतिक व्यवस्थाओं की विभिन्नतायें
(The differences of Political Systems)

राजनैतिक व्यवस्थाओं की उपर्युक्त समानताओं के अतिरिक्त उनके बीच अनेक विभिन्नतायें होती है और सम्भवतः उनकी समानताओं की अपेक्षा ये विभिन्नतायें अधिक महत्व रखती है। इन विभिन्नताओं के आधार पर ही एक राजनैतिक व्यवस्था बहुमूल्य बन जाती है जब कि दूसरी राजनैतिक व्यवस्था घृणा का पात्र हो जाती है। यह सच है कि व्यक्ति को एक राजनैतिक व्यवस्था में रहना पड़ता है किन्तु वह सभी राजनैतिक व्यवस्थाओं की समान रूप से प्रशंसा नही करता। विभिन्न राजनैतिक व्यवस्थाओं के बीच अन्तर स्पष्ट करने के लिए हमारे पास अनेक माप-दण्ड होते है। इन सभी में कौन सर्वाधिक उपयोगी है? यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम राजनीति के किस पहलू मे सर्वाधिक रुचि लेते है? एक भूगोलशास्त्री के लिए राजनैतिक व्यवस्था के बीच विभिन्नतायें उनके क्षेत्रों के आधार पर हो सकती है जब कि एक जनसंख्या शास्त्री के लिए विभिन्नताओं का आधार उस व्यवस्था के सदस्यों की संख्या हो सकती है। यदि एक वकील दो राजनैतिक व्यवस्थाओं के बीच अन्तर स्थापित करेगा तो ऐसा करने के लिए कानूनी संहिताओं को आधार बनायेगा। जब एक दार्शनिक या धर्मशास्त्री सर्वश्रेष्ठ राजनैतिक व्यवस्था को उल्लेखित करना चाहता है तो वह इसके लिए नैतिक या धार्मिक माप-दण्डों को काम में लेता है। इस प्रकार यह तय करने के लिए कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है कि कौनसी राजनैतिक व्यवस्था प्रत्येक उद्देश्य के लिए सर्वश्रेष्ठ है जिस प्रकार जनता को वर्गीकृत करने के लिए कोई एक मापदण्ड नहीं होता उसी प्रकार राजनैतिक व्यवस्थाओं की विभिन्नताओं को इंगित करने के लिए कोई एक मापदण्ड

नहीं हो सकता। राजनैतिक व्यवस्थाओं को वर्गीकृत करने के लिए विभिन्न राजनीति शास्त्रियों ने प्रयास किया है, इनमें यूनानी विचारक अरस्तु और समाजशास्त्री मैक्सवेबर का मत उल्लेखनीय है।

अरस्तु कृत वर्गीकरण

अरस्तु द्वारा किया गया वर्गीकरण अनेक उद्देश्यों से इतना सिद्ध हुआ कि इसे २५ शताब्दियों के राजनैतिक परिवर्तन और उथल-पुथल के बाद भी महत्व प्रदान किया जाता है। जिस प्रकार यह वर्गीकरण अरस्तु के समय यूनानी विचारकों के ध्यान का केन्द्र था, उसी प्रकार आज के राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी भी इसे अपनी आदत का एक भाग मानता है। अरस्तु ने राज्य या संविधान के बीच विभिन्नता दिखाने के लिए दो मापदण्डों को आधार बनाया। इनमें पहला मापदण्ड वह उद्देश्य था जो राज्य के अस्तित्व का आधार है और दूसरा मापदण्ड सत्ता का विभिन्न प्रकार थे जिनके आधीन व्यक्ति और उसकी समस्त सत्तायें रहती हैं। वर्गीकरण के इन दोनों आधारों को समाज-व्यवस्था के आधार पर भी समान रूप से लागू किया जा सकता है। अरस्तु ने पहले मापदण्ड के अनुसार व्यवस्थाओं को दो भागों में विभाजित किया। पहले भाग में उन्होंने उस सामान्य लक्ष्य को लिया जिसके लिए कि शासक द्वारा शासन संचालित किया जाता है। इस भाग में शासक प्रशासन की शक्तियों का प्रयोग सभी की भलाई के लिए करता है केवल अपने स्वार्थ के लिए ही नहीं। दूसरे भाग में प्रशासक सामान्य हित की अपेक्षा स्वार्थपूर्ण हितों की साधना का प्रयास करते हैं। प्रथम प्रकार को उसने सही माना और दूसरे प्रकार को गलत अथवा प्रथम को भ्रष्ट रूप माना। अरस्तु के दूसरे मापदण्ड में प्रशासकों की संख्या को लिया गया। इस दृष्टि से उन्होंने एक व्यक्ति के शासन, कुछ व्यक्तियों के शासन और अनेक व्यक्तियों के शासन के बीच विभाजन किया। बार्कर (Barker) के मतानुसार "इस आधार पर हम कह सकते हैं कि एक या कुछ या बहुत लोग जब सामान्य हित की दृष्टि से शासन करते है तो सम्बन्धित संविधान आवश्यक रूप से एक सही संविधान होगा। दूसरी ओर जब संविधान एक या कुछ या बहुत लोगों के व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए संचालित किया जाता है तो यह आवश्यक रूप से भ्रष्ट रूप होगा।"[1]

इस प्रकार अरस्तु ने राज्य का वर्गीकरण छः रूपों में किया।

अरस्तु कृत वर्गीकरण की इस योजना में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने अनुभववादी एवं मूल्यात्मक (Normative) मापदण्ड को

1. Ernest Barker (ed.), The Politics of Aristotle, 1948. page–114.

समन्वित कर दिया था। कहने का अर्थ यह है कि उन्होंने केवल यही वर्णन नहीं किया कि वर्गीकरण क्या होता है वरन् यह भी बताया कि वर्गीकरण क्या होना चाहिए ? संख्या के आधार पर किया गया वर्गीकरण मुख्य रूप से एक तथ्य का विषय था न कि केवल किसी मूल्य का। दूसरी ओर दूसरे मापदण्ड के अनुसार व्यवस्था को वर्गीकृत करने में तथ्य और मूल्य दोनों ही आ जाते हैं, पर्यवेक्षक केवल यह नहीं देखता कि प्रशासकों के कार्यों का उद्देश्य एवं परिणाम क्या है वरन् वह यह भी देखता है कि उचित एवं उपयोगी उद्देश्य क्या होना चाहिए था ? इस मापदण्ड के आधार पर वह विभिन्न राजनैतिक व्यवस्थाओं का मूल्यांकन भी कर सकता है।

अरस्तु के वर्गीकरण में एक अन्य बात उल्लेखनीय यह है कि उन्होंने प्रजातन्त्र को लोकप्रिय शासन का विकृत रूप माना था। अरस्तु ने यद्यपि पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया था किन्तु फिर भी वह अधिक पूर्ण नहीं रहा इससे वह स्वयं भी सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने इस तथ्य को माना कि अधिकांश लोग प्रायः गरीब होते हैं और धनवान लोग केवल कुछ ही होते है। ऐसी स्थिति में उनका तर्क था कि संख्या का मापदण्ड असन्तोषजनक है और मुख्य विशेषता वास्तव में सम्पत्ति का स्वामित्व है। अरस्तु ने यह स्वीकार किया कि कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र के बीच के अन्तर का मुख्य आधार गरीबी और अमीरी है। जब एक संविधान के अन्तर्गत प्रशासक लोग अपनी आर्थिक सम्पन्नता के कारण प्रशासक बनते है तो वह संविधान आवश्यक कुलीनतन्त्रात्मक होगा—यहां शासकों की संख्या कम या अधिक से कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार जहां गरीब लोग शासन करते है यह व्यवस्था प्रजातन्त्रात्मक होगा चाहे वे गरीब थोड़े हो या अधिक। अरस्तु का यह विचार पर्याप्त महत्वपूर्ण था क्योंकि एक राजनैतिक व्यवस्था के सदस्यों का प्रभाव तथा शक्ति उनकी आय, सम्पत्ति और सामाजिक स्तर पर बहुत-कुछ निर्भर करती है। राजनैतिक व्यवस्थाओं में आय, सम्पत्ति और सामाजिक स्तर का वितरण जितना विभिन्नतापूर्ण होता है उनमे राजनैतिक शक्ति का वितरण भी उतना विभिन्नता पूर्ण होगा'।

मैक्स वेबर कृत वर्गीकरण

दूसरा वर्गीकरण मैक्सवेबर (Max Weber) द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अरस्तु ने अपने वर्गीकरण में शासकों की संख्या तथा उनके सामाजिक स्तर पर ध्यान दिया है जब कि मैक्स वेबर ने अपना पूरा ध्यान शासकों की

सत्ता की प्रकृति पर दिया। असल में वेबर ने अपना ध्यान केवल उन्हीं व्यवस्थाओं पर केन्द्रीत किया जिनमे कि सरकार को औचित्यपूर्ण स्वीकार कर लिया। वेबर का कहना था कि एक राजनैतिक व्यवस्था के नेता अपने शासन के लिए औचित्य का दावा कर सकते हैं। इस दावे को उस व्यवस्था के सदस्यों द्वारा तीन आधारों पर मान्यता प्रदान की जायेगी, ये हैं—परम्परा, अद्वितीय व्यक्तिगत गुण और वैधानिकता।

परम्परागत रूप से औचित्य उन स्थापित विश्वासों पर निर्भर करता है जो कि लम्बी परम्पराओं के परिणाम है। परम्पराओं के अनुरूप भी सत्ता का प्रयोग करने वाले नेताओं का पालन किया जाता है। वेबर का मत था कि सत्ता का यह सर्वाधिक सामान्य एवं प्रारम्भिक आधार है। परम्पराओं का प्रभाव इंगलैंड में सबसे अधिक होता है। ब्रिटिश राजनीति के अनेक पहलुओं को जनता ने केवल इसीलिए स्वीकार किया क्योंकि उनका आधार अतीत की परम्पराएं हैं। वहां प्रारम्भ से ही एक राजा रहा है और इसलिए उन्होंने राजतंत्रात्मक व्यवस्था को स्वीकार किया है। सम्भवतः प्रत्येक राजनैतिक व्यवस्था परम्पराओं के माध्यम से कुछ औचित्य प्राप्त करती है। अद्वितीय व्यक्तिगत गुण भी एक शासन के औचित्य के आधार बन जाते हैं।

प्रजा द्वारा नेता के असाधारण चरित्र एवं पवित्रता के कारण उसकी आज्ञाओं का पालन किया जाता है। चर्चिल, रूजवेल्ट, लेनिन, हिटलर, महात्मा गांधी और कास्ट्रो आदि नेताओं ने अपना औचित्य प्रेरणादायक नेतृत्व के आधार पर ग्रहण किया। वैधानिकता भी औचित्य का आधार बनती है। लोग यह विश्वास करते हैं कि अधिकारियों की शक्तियां इसलिए स्वीकार की जाए क्योंकि ये सवैधानिक नियमों और कानूनों पर आधारित हैं। वैधानिक रूप से जो कुछ भी किया जाता है उसको उचित माना जाता है। वास्तविक व्यवहार में हम देखते है कि कानून, नियम और संवैधानिक व्यवहार इसलिए औचित्य प्राप्त कर लेते है क्योंकि जिस प्रक्रिया द्वारा उनको बनाया गया, वह वैधानिक मानी जाती है। जब कभी वैधानिकता को औचित्य का आधार बनाया जाता है तो जो नेता अवैधानिक रूप से कार्य करते हैं उनकी निन्दा की जाती है और वे शीघ्र ही अपनी सत्ता से वंचित हो जाते हैं। औचित्य के इन तीन आधारों के अनुरूप सत्ता के भी तीन रूप हैं—परम्परागत सत्ता, करिश्मावादी सत्ता और वैधानिक सत्ता।

अरस्तु की भांति वेबर ने भी यह दिखाने का प्रयास किया है कि एक प्रकार की सत्ता किस प्रकार दूसरे प्रकार की सत्ता मे बदल जाती है। वेबर ने केवल औचित्यपूर्ण शक्ति तथा सत्ता पर ही विचार किया उसकी योजना में

अवैधानिक शासनों के लिए कोई स्थान नही था। वेबर का मत था कि सत्ता की प्रत्येक व्यवस्था अपनी सत्ता मे विश्वास पैदा करने और स्थापित करने का प्रयास करती है। इसलिए केवल औचित्यपूर्ण सरकारों पर ही ध्यान को केन्द्रित रखना उपयुक्त था। वेबर ने राजनैतिक व्यवस्थाओ को उनके नैतिक मूल्य के आधार पर वर्गीकृत नही किया। वेबर के लिए तो स्वयं औचित्यपूर्णता भी एक शुद्ध रूप से अनुभववादी धारणा थी। औचित्यपूर्णता का मापदण्ड यह था कि उस राजनैतिक व्यवस्था के सदस्य अपने नेताओ के बारे में क्या सोचते हैं, यह नही कि उसके बारे मे वेबर या अन्य कोई क्या सोचता है? वेबर का कहना था कि एक नेता की शक्ति का औचित्यपूर्ण होना इस बात का प्रमाण नही है कि वह व्यवस्था अच्छी है। कुछ आलोचकों ने वेबर के मत की व्याख्या करते हुए बताया है कि उनके लिए सभी औचित्यपूर्ण सरकारें समान रूप से सही हैं।

वेबर के वर्गीकरण को अवैज्ञानिक माना जाता है क्योंकि इसमें उन सभी विभिन्नताओं को स्थान नही दिया गया है जिनमें कि राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी रुचि लेता है। उदाहरण के लिए एक स्थाई राजतन्त्र को एक स्थाई प्रजातंत्र से अलग नही किया गया, क्योंकि ये दोनों ही व्यवस्थाएं समान रूप से परम्परागत करिश्मावादी और वैधानिक सत्ता के मिश्रण से युक्त होती है। वेबर के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि इनका सम्बन्ध राजनैतिक व्यवस्थाओ से इतना नही था जितना कि सत्ता से था। वेबर की योजना में सत्ता के कुछ महत्वपूर्ण प्रकारों को भी स्थान नही दिया गया है। इससे यह ज्ञात नही हो सकता कि एक विशेषज्ञ की सत्ता को कहा रखा जायेगा? यह आवश्यक रूप से वेबर द्वारा वर्णित तीनों ही आधारों पर आश्रित नही होती।

अरस्तु और वेबर द्वारा प्रस्तावित राजनैतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण लाभ और हानि दोनों से पूर्ण है, यह किसी भी वर्गीकरण की व्यवस्था में हो सकता है। वैसे राजनैतिक व्यवस्थाओं के लिए कोई एक श्रेष्ठ वर्गीकरण की योजना नही हो सकती। कोई भी योजना कितनी उपयोगी है यह उस व्यक्ति के उद्देश्य पर निर्भर करती है। कहा जाता है कि वर्गीकरण के द्वारा वास्तविकता को सरल बना दिया जाता है और इस प्रकार वास्तविकताओ को तोड़ा-मरोड़ा जाता है। ऐसा किया जाना आवश्यक भी है क्योंकि यदि प्रत्येक अणु को विशेष मान लिया जाए तो भौतिक शास्त्र असम्भव होगा। इसी प्रकार यदि प्रत्येक मेडीकल केस को विशेष मान लिया जाए तो दवा के क्षेत्र मे कोई प्रगति नही हो सकती। कहने का अर्थ यह है कि अनुभववादी विश्लेषण मे सामान्यीकरण किये जाते हैं। ऐसा करते समय एक मूर्त घटना या व्यवस्था

की सामान्य बातों पर विचार किया जाता है, विशेष बातों को छोड़ दिया जाता है।

वास्तविक संसार में मूर्त व्यवस्थाएं मुश्किल से ही किसी शुद्ध सिद्धांत का प्रतिनिधित्व करती है, वे प्रायः मिली-जुली हुई होती है। यह बात भौतिक शास्त्र, जीव शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र और राजनीति शास्त्र आदि पर समान रूप से लागू होती है। राबर्ट ए. डहाल ने बताया है कि यद्यपि वर्गीकरण के मार्ग मे अनेक कठिनाइया हैं किन्तु फिर भी राजनैतिक व्यवस्थाओं को तीन आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है। प्रथम, एक सरकार किस सीमा तक औचित्यपूर्ण है और नेताओ की शक्ति को कितना अधिक सत्ता समझा जाता है। दूसरे, उन सदस्यों की सख्या जो कि सरकार के निर्णयों को प्रभावित करते है। तीसरे, उपव्यवस्थाओ की सख्या एवं उनकी स्वतन्त्रताओ की मात्रा आदि। मि० डहाल ने इन तीनों आधारों का विस्तार के साथ वर्णन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनैतिक व्यवस्थाएं अनेक विभिन्न रूपो में वर्गीकृत की जा सकती हैं। किसी भी वर्गीकरण का आधार वर्गीकरण-कर्ता के वे विश्वास और रुचियां होती है जो कि इसे एक विशेष मान्यता स्वीकार करने के लिए प्रेरित करते है। मि० डहाल के शब्दों मे "यह कभी नही भुलाना चाहिए कि हम राजनैतिक व्यवस्थाओ मे किस प्रकार भिन्नता स्थापित करते हैं और हम उनको किस प्रकार तार्किक रूप से वर्गीकृत करते हैं। यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम किस बात में सबसे अधिक रुचि लेते हैं?" हमारी रुचियां अनेक होती हैं और वर्गीकरण भी स्वाभाविक रूप से अनेक होंगे। ऐसी स्थिति मे वर्गीकरण की कोई भी योजना सभी उद्देश्यों के लिए सन्तोषजनक नही हो सकती।

राजनैतिक विकास की धारणा
(The Concept of Political Development)

विकास मानव जीवन की विशेषता है। मनुष्य की प्रत्येक संस्था, उसका आचरण, सभ्यता और संस्कृति का रूप आदि युग-युग में परिस्थितियों के प्रभाव से विकसित होते रहे हैं। मनुष्य समाज और उसके विभिन्न पहलुओं मे जो विकास होता है उनके द्वारा अनेक समस्याएं पैदा की जाती हैं। इन विकासों की प्रतिक्रिया पर्याप्त भ्रम को जन्म देती हैं। इस भ्रम को दूर करने के लिए राजनैतिक विकास की प्रकृति को समझना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। राजनैतिक विकास क्या होता है और इसका स्वरूप क्या है? आदि के बारे में पर्याप्त अस्पष्टता है। विचारकों ने राजनैतिक विकास की परिभाषाएं विभिन्न रूपों में दी हैं।

राजनैतिक विकास की परिभाषाएं

राजनैतिक विकास के अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए अनेक भ्रमपूर्ण बातें कही जाती हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख करके हम इसके स्वरूप को समझने का प्रयास करेंगे। विचारकों ने राजनैतिक विकास को जिन विभिन्न अर्थों में लिया है उनमे से कुछ निम्न प्रकार है—

(१) **आर्थिक विकास की राजनैतिक पूर्ण आवश्यकता के रूप में राजनैतिक विकास**—जब विचारकों ने आर्थिक प्रगति की समस्या पर अपना ध्यान केन्द्रित किया तो शीघ्र ही वे यह अनुभव करने लगे कि प्रति व्यक्ति की आय को बढ़ाने में सुविधा या बाधा पहुचाने में राजनैतिक या सामाजिक परिस्थितिया पर्याप्त महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है। इस प्रकार राजनैतिक विकास को राजनीति की ऐसी स्थिति माना गया जो कि आर्थिक उन्नति में सुविधा पहुंचा सके। व्यावहारिक रूप से राजनैतिक विकास का यह दृष्टिकोण मूलतः निषेधात्मक था क्योंकि राजनैतिक व्यवस्था के द्वारा आर्थिक विकास को किस प्रकार सुविधा दी जा सकती है; यह जानना अपेक्षाकृत कठिन है जबकि इसके द्वारा आर्थिक विकास को किस प्रकार रोका या बाधा पहुंचायी जा सकती है यह अधिक सरल है। ऐतिहासिक रूप से हम देख सकते हैं कि आर्थिक विकास अनेक राजनैतिक व्यवस्थाओं मे हुआ है जिनमें विभिन्न प्रकार की सार्वजनिक नीतिया अपनायी गयी थीं।

राजनैतिक विकास के प्रति यह दृष्टिकोण अनेक आपत्तियों एवं कठिनाइयों से पूर्ण है। इस दृष्टिकोण के द्वारा सैद्धान्तिक विचार-विमर्श का कोई सामान्य आधार प्रस्तुत नही किया जाता। कुछ मामलों मे तो इसका अर्थ यह होगा कि सरकार बुद्धिपूर्ण और आर्थिक रूप से उपयुक्त नीतियों का पालन कर रही है या नही। दूसरी स्थितियों में यह राज्य के मूल संगठनों के बारे में विचार करेगा। इस प्रकार राजनैतिक विकास की समस्याएं विशेष आर्थिक समस्याओं के अनुसार पूर्ण रूप से बदल जायेंगी। इस दृष्टिकोण की एक दूसरी घटना यह है कि अनेक गरीब देशों में तीव्र गति से आर्थिक विकास की सम्भावनाएं मंदी पड़ जाती हैं। अर्थ व्यवस्था में परिवर्तन राजनैतिक प्रबन्ध की अपेक्षा अधिक धीमी गति से होते है। कुछ देशो मे औद्योगिक विकास तो क्या आर्थिक प्रगति की थोड़ी बहुत सम्भावनाएं भी कई सन्ततियां ले सकती हैं किन्तु वहां परिवर्तन होते रहते है। इस दृष्टिकोण के प्रति की जाने वाली तीसरी आपत्ति यह है कि अधिकाश अर्धविकसित देशों के

अपनी भौतिक प्रगति की अपेक्षा कुछ अधिक मे रुचि लेते हैं, वे स्वतन्त्र रूप से राजनैतिक विकास के प्रति उत्सुक रहते हैं। ऐसा करते समय वे आर्थिक उन्नति की दर पर जोर नही देते। इस प्रकार राजनैतिक विकास को पूर्णतः आर्थिक विकास के साथ जोड़ना उन सब की अवहेलना करना होगा जो कि विकासशील देशों मे पर्याप्त महत्व रखता है।

(२) **औद्योगिक समाजों का विशेष राजनीति के रूप में राजनैतिक विकास**—राजनैतिक विकास की एक दूसरी सामान्य धारणा भी आर्थिक विचारों में घनिष्ट सम्बन्ध रखती है। इस धारणा मे उस विशेष राजनीति के सम्बन्ध में अमूर्त दृष्टिकोण अपनाया जाता है जो कि औद्योगीकृत एवं आर्थिक दृष्टि से संपन्न समाजो का मूल है। यह विश्वास किया जाता है कि औद्योगिक जीवन द्वारा बहुत कुछ सामान्य रूप का राजनैतिक जीवन प्रकट किया जाता है और इसे कोई भी समाज प्राप्त करने का प्रयास करता है चाहे उसने असल मे औद्योगीकरण किया है या नही। इस प्रकार राजनैतिक विकास के विशेष गुण एक तरह से बुद्धिपूर्ण एवं उत्तरदायी सरकार के व्यवहार से रूप बन जाते है; इनके द्वारा राज्य की संप्रभुता पर एक प्रकार से सीमायें लगाई जाती हैं। यह मान्यता राजनीति की समस्याओं के सुलझाने का उचित यन्त्र मानती है तथा उसे अपने आप मे एक उद्देश्य नही मानती। यह कल्याण-कारी कार्यक्रमो पर जोर देती है और राजनीति में किसी न किसी प्रकार के सार्वजनिक योगदान को महत्वपूर्ण मानती है।

(३) **राजनैतिक आधुनिकीकरण के रूप में राजनैतिक विकास**—कुछ लोग राजनैतिक विकास को राजनैतिक आधुनिकीकरण (Political Modernisation) का समानार्थक मानते हैं। जिस प्रकार समुन्नत औद्योगिक देशों द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के अनेक पहलू तय किये जाते हैं और अनेक प्रक्रियाओं का रूप ढाला जाता है उसी प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में भी इसका यह प्रभाव होता है। इस मत के मानने वाले पश्चिमी व्यवहार को अर्वाचीन मानते हैं और उसे सभी राजनैतिक व्यवस्थाओं का एक माप-दण्ड कहते हैं।

(४) **राष्ट्रीय राज्य के व्यवहार के रूप में राजनैतिक विकास**—राजनैतिक विकास से सम्बन्धित उपर्युक्त दृष्टिकोण के प्रति कई एक आपत्तियां लगायी गयीं। इन आपत्तियों को दूर करने की दृष्टि से यह कहा गया कि राजनैतिक विकास मे राजनैतिक जीवन का सगठन तथा राजनैतिक कार्यों की सम्पन्नता उन मापदण्डों के अनुसार होनी है जो कि आधुनिक राष्ट्र राज्य द्वारा बनाये गये हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार यह माना जाता है कि

ऐतिहासिक रूप से राजनैतिक व्यवस्था के अनेक रूप रहे और समस्त समाजों ने राजनीति का अपना रूप रखा किन्तु आधुनिक राष्ट्र राज्य के जन्म के साथ राजनीति से सम्बन्धित कुछ नई मांगें सामने आईं। यदि एक समाज आधुनिक राज्य के रूप में कार्य करना चाहता है तो इसकी राजनैतिक संस्थाओं एवं व्यवहारों को इन मांगों के अनुसार समायोजित होना चाहिए। ऐतिहासिक साम्राज्यों, कबीलों या उपनिवेशों की राजनीति का आज के युग में महत्व नहीं है। इन्हें चाहिए कि वे उस राजनीति के लिए स्थान रिक्त करें जो कि एक प्रभावशाली राष्ट्र राज्य पैदा कर सकें और जो अन्य राष्ट्र राज्यों की व्यवस्था में सफलतापूर्वक कार्य कर सके।

इस प्रकार राजनैतिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया बन जाती है जिसके माध्यम से ये समाज वास्तव में राष्ट्र राज्य बन जाते हैं जो कि रूप की दृष्टि से राष्ट्र राज्य है। इस दृष्टिकोण के अनुसार राजनैतिक विकास की जाच कई आधारों पर की जा सकती है। उदाहरण के लिए कुछ विशेष प्रकार की संस्थाओं की स्थापना जिनके द्वारा राष्ट्र राज्य की आवश्यक रूप रचना की जा सके। दूसरे, राष्ट्र राज्य के वातावरण में राजनैतिक जीवन की नियमित अभिव्यक्ति। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजनैतिक विकास राज्य की संस्थाओं के प्रसग में राष्ट्रवाद की राजनीति है। इस दृष्टिकोण से राष्ट्रवाद राजनैतिक विकास की आवश्यक परिस्थिति है किन्तु यह पर्याप्त नहीं है। संक्षेप से राजनैतिक विकास राष्ट्रीय निर्माण है।

(५) प्रशासकीय एवं वैधानिक विकास के रूप में राजनैतिक विकास— यदि हम राष्ट्र निर्माण की संस्थाओं के निर्माण और नागरिकता के विकास इन दो भागों मे विभाजित कर लें तो हमको राजनैतिक विकास में सम्बन्धित दो सामान्य धारणायें प्राप्त होंगी। संगठन निर्माण के रूप मे राजनैतिक विकास की धारणा एक लम्बा इतिहास रखती है।

जब पश्चिमी राष्ट्र शेष संसार के समाजों के सम्पर्क में आये तो उनकी परेशानियों का मुख्य कारण यह रहा कि इन समाजों में कानूनी तथा सार्वजनिक सत्ता की प्रकृति से सम्बन्धित धारणाएं भिन्न थीं। यूरोपीय लोगों ने यह पाया कि इन समाजों मे कहीं निश्चित रूप से सम्प्रभुता नहीं थी और कोई मान्य वैधानिक व्यवस्था नहीं थी। पाश्चात्य प्रभाव के कारण यहां इस दिशा में विकास किया गया। यह माना गया कि राजनैतिक विकास एक व्यवस्थित कानूनी प्रक्रिया पर आधारित रहता है।

कालान्तर में यह ज्ञात हुआ कि एक औपचारिक वैधानिक का सुचारू कार्य एक व्यवस्थित प्रशासकीय व्यवस्था पर निर्भर

ऐसी स्थिति में कानून और व्यवस्था की स्थापना के लिए नौकरशाही की रूप-रचना की गई और लोक प्रशासन का विकास किया गया। उपनिवेशवादी काल के दौरान विकास की धारणा का अर्थ प्रशासनिक संस्थाओं के परिचय से लगाया जाता था। उस काल की परम्पराएं अभी तक कायम हैं क्योंकि आज भी नवीन स्वतन्त्र देशों में यह समझा जाता है कि नौकरशाही को मजबूत करना राजनैतिक विकास का पहला काम है। राष्ट्रीय विकास के लिए जो विदेशी सहायता एवं तकनीकी सहयोग दिया जाता है उनमें से अधिकांश का सम्बन्ध लोक प्रशासन के कार्यों से रहता है। राजनैतिक विकास में एक राज्य की गैर सत्ताधारी संस्थाएं भी था जाती हैं।

(६) **बहुसंख्यक जन-समुदाय के योगदान के रूप में राजनैतिक विकास**—राजनैतिक विकास के अन्य पहलू का सम्बन्ध नागरिकों के योगदान और स्वामिभक्ति के नये मापदण्डों से है। पहले के कुछ उपनिवेशवादी देशों में राजनैतिक विकास का अर्थ उस राजनीतिक चेतना से लिया जाता था जिसके अनुसार वहां अधिकांश निवासी राजनीति में सक्रिय हो सके। उस दिशा में तो यह दृष्टिकोण इतना अधिक मान्य हो गया कि सार्वजनिक राजनीति के प्रदर्शनात्मक पहलू को अपने आप में एक लक्ष्य बना दिया गया। इन देशों के नेता और नागरिक यह समझने लगे कि वे बहुसंख्यक लोगों के राजनैतिक भावों के प्रदर्शनों की संख्या बढ़ा कर राष्ट्रीय विकास को आगे ले जा रहे हैं। कई बार एक देश जो कि व्यवस्थित एवं प्रभावशाली रूप से उन्नति कर रहा हो इसलिए असन्तुष्ट हो जाता था क्योंकि उसका प्रदर्शनकारी पड़ौसी उसे स्वयं के अधिक विकास का अनुभव करा देता है।

अधिकांश लोग यह मानते हैं कि राजनीतिक विकास में कुछ सीमा तक यह भी समन्वित है कि अधिक से अधिक लोग राजनीतिक कार्यों में भाग लें किन्तु इस प्रकार के भाग लेने की परिस्थितियों के बीच अन्तर किया जाना चाहिए। अधिक से अधिक लोगों को भाग लेने का अवसर प्रदान करने के लिए सार्वभौमिक मताधिकार एवं अन्य स्वतन्त्रतायें प्रदान की गई। यदि अधिक से अधिक लोग राजनीति में भाग लेते हैं तो यह निश्चय ही राजनीति के विकास का प्रतीक होगा किन्तु लोकप्रिय भावनाओं को सार्वजनिक व्यवस्था के साथ संतुलित करने की आवश्यकता है नहीं तो इसका भ्रष्टाचारपूर्ण प्रभाव होगा।

(७) **प्रजातन्त्र के निर्माण के रूप में राजनैतिक विकास**—इस दृष्टिकोण के अनुसार राजनैतिक विकास का अर्थ है प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं एवं व्यवहारों की स्थापना। अनेक लोग यह मानते हैं कि प्रजातन्त्र की रचना ही वास्तविक

अर्थ में राजनैतिक विकास है। कुछ अन्य लोग यह मानते है कि विकास का अर्थ किसी भी विचारधारा का विकास है। यह विचारधारा प्रजातन्त्र, साम्यवाद या सर्वाधिकारवाद आदि में से कुछ भी हो सकती है। इस प्रकार कुछ मूल्यों को शक्ति प्रदान करना विश्वास का प्रतीक माना जाता है। अनेक विचारकों ने इस दृष्टिकोण की आलोचना की है। उनका मत है कि विकास और प्रजातन्त्र मौलिक रूप से दो भिन्न वातें है। यह हो सकता है कि प्रजातंत्र को अपनाना विकास के लिए एक विघायी दायित्व बन जाए।

(८) **स्थायित्व और व्यवस्थित परिवर्तन के रूप में राजनैतिक विकास**—जो विचारक प्रजातन्त्र को तीव्र गति के राजनैतिक विकास के साथ विरोधपूर्ण मानते हैं उनके अनुसार विकास सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित है। उनके दृष्टिकोण का पहलू प्रायः राजनैतिक स्थायित्व की मान्यता पर आधारित है। यह राजनैतिक स्थायित्व उद्देश्यपूर्ण एवं व्यवस्थित परिवर्तन की क्षमता पर निर्भर करता है। जो स्थायित्व स्थिरता और यथा-स्थिति का स्वेच्छाचारी रूप से समर्थन करता है वह विकास नही कहला सकता। स्थायित्व का अर्थ विकास से तभी लिया जा सकता है जब वह आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति से सम्बन्धित हो और एक ऐसे वातावरण पर आधारित हो जिसमे कि अनिश्चिततायें कम से कम हों और सुरक्षित भविष्यवाणियों पर आधारित नियोजन सम्भव हो सके।

यह दृष्टिकोण भी कुछ सीमाओं से पूर्ण होना चाहिए। जिस समाज में राजनैतिक प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तनों को बुद्धिपूर्ण एवं उद्देश्यपूर्ण रूप से नियन्त्रित एवं निर्देशित कर सकती है केवल वही राजनैतिक विकास का अस्तित्व माना जा सकता है। यदि एक समाज में आर्थिक एवं सामाजिक शक्तियां वहा के लोगो के भाग्य को नियन्त्रित करें और राजनैतिक प्रक्रिया उसके सामने असहाय बन जाए तो इसे राजनैतिक विकास का प्रतीक नही माना जा सकता। व्यवस्था की स्थापना के लिए सामाजिक शक्तियों को नियंत्रण में रखना अनिवार्य होता है।

विकास से सम्बन्धित इस दृष्टिकोण की मुख्य समस्या यह है कि कितनी व्यवस्था आवश्यक या वाछनीय है और किस उद्देश्य के लिए परिवर्तन को निर्देशित किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक प्रश्न यह भी है कि स्थायित्व और परिवर्तन सम्भवतः मध्यम वर्ग के स्वप्न होते हैं। ये केवल उन समाजों द्वारा ही देखे जाते हैं जिनकी स्थिति कुछ अच्छी है। अधिकाश अविकसित देश इनको देखने में अक्षम है।

(९) **गति एवं शक्ति के रूप में राजनैतिक विकास**—इस धारणा के अनुसार किसी भी राजनैतिक व्यवस्था का मूल्यांकन उस स्तर या मात्रा के

आधार पर किया जाता है जिसमे कि यह व्यवस्थापूर्ण शक्ति को प्रयुक्त कर सकती है। कुछ व्यवस्थाएं, जो कि स्थायी भी हो सकती हैं और अस्थायी भी, ऐसी लगती हैं कि उनके पास बहुत कम शक्ति है तथा जिन लोगो के हाथ मे सत्ता पूर्ण निर्णय लेने की शक्ति है वे शक्ति हीन हैं और नीति सम्बन्धी लक्ष्यों की पहल करने की क्षमता उनमें नही है। दूसरे समाजों मे ये नीति-निर्माता पर्याप्त शक्ति रखते हैं और इस प्रकार समाज अनेक सामान्य लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। राज्य अपने साधन-स्रोतों की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता रखते है किन्तु उनके विकास का मापदण्ड वह मात्रा है जिसमें कि वे अपने प्रदत्त स्रोतों का अधिक से अधिक उपयोग कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण का अर्थ यह नहीं है कि इसने विकास को एक सत्तावादी रूप प्रदान कर दिया है किन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि सरकार में समाज से स्रोतों का दावा करने की क्षमता होनी चाहिए। स्रोतो को काम में लेने और उनको वांछनीय स्थान पर लगाने के लिए सरकार को लोकप्रिय समर्थन की आवश्यकता है। इसी अर्थ में प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्थाओ को दमनकारी सत्तावादी व्यवस्थाओं से अधिक कुशल माना जाता है। अनेक समाजों मे अधिक राजनैतिक विकास प्राप्त करने की समस्या मुख्य रूप से अधिक लोकप्रिय समर्थन प्राप्त करने से सम्बन्ध रखती है। यह इसलिए नही कि इस प्रकार का समर्थन एक प्रजातन्त्रात्मक मूल्य है वरन् इसलिए कि इस समर्थन के आधार पर शक्ति की अधिक मात्रा का प्रयोग किया जा सकता है।

राजनैतिक विकास का उपर्युक्त अर्थ लेने पर यह सम्भव हो जाता है कि विकास के उद्देश्य को तथा उसकी विशेषताओं को अलग-अलग किया जा सके। इन विशेषताओं में से अधिकाश को मापा जा सकता है।

(१०) सामाजिक परिवर्तन की बहुदिशायुक्त प्रक्रिया के एक पहलू के रूप में राजनैतिक विकास—राजनैतिक विकास सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तन के अन्य पहलुओं से भी किसी न किसी तरह घनिष्ट रूप से संबन्धित रहता है। जो विषय एक देश की शक्ति-सामर्थ्य को स्पष्ट करने के लिए उपयोगी है वह उस देश की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था को भी स्पष्ट कर सकता है। इस दृष्टि से यह तर्क दिया जाता है कि राजनैतिक विकास को विकास के अन्य रूप से पूर्णतः पृथक करने का प्रयास आवश्यक है। यह सच है कि एक सीमित अर्थ में राजनैतिक क्षेत्र शेष समाज से स्वायत्त होता है किंतु निरन्तर राजनैतिक विकास सामाजिक परिवर्तन की बहुदिशायुक्त प्रक्रिया के प्रसङ्ग में ही सम्भव है। इस दृष्टिकोण के अनुसार विकास के सभी रूप एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और विकास का अर्थ बहुत कुछ आधुनिकीकरण है। यह विकास ऐतिहासिक सन्दर्भ मे होता है जिस पर अन्य सामाजिक परिवर्तनों का

भी भारी प्रभाव होता है उदाहरण के लिए देश की अर्थव्यवस्था राजनीति एव सामाजिक व्यवस्था आदि एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं।

(११) राजनैतिक विकास के कुछ अन्य अर्थ—राजनैतिक विकास की अन्य सम्भव व्याख्यायें भी हैं, उदाहरण के लिए कुछ पूर्व उपनिवेश यह मानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे राष्ट्रीय आत्म सम्मान और गौरव का भी विकास होता है। विकसित समाजों मे सामान्य रूप से यह माना जाता है कि विकास का अर्थ राष्ट्रवाद के बाद के युग से है जिसमे राष्ट्रीय राज्य राजनैतिक जीवन की मूल्य इकाई नही रहेगे।

राजनैतिक विकास के इन विभिन्न अर्थों को देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रम हैं। राजनैतिक विकास से संबधित विभिन्न मतो का उल्लेख करने के बाद मि० पाई (Lucian W. Pye) ने इस शब्द की कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया है। इनमे पहली विशेपता समानता के प्रति सामान्य दृष्टिकोण है। राजनैतिक विकास से सम्बन्धित अधिकाश दृष्टिकोण बहुसख्यक जनता के योगदान को राजनीति में महत्वपूर्ण मानते है। यह योगदान या तो प्रजातन्त्रात्मक हो सकता है अथवा सर्वाधिकारवादी हो सकता है। किन्तु यहा मुख्य बात यह है कि प्रजा को सक्रिय नागरिक होना चाहिये। समानता का एक अर्थ यह भी है कि कानून सामान्य प्रकृति के होने चाहिए तथा वे सभी पर लागू हों और वे अपने व्यवहार में थोड़े बहुत अवैयक्तिक हों। समानता का एक अर्थ यह भी है कि राजनैतिक पदों पर की जाने वाली भरती मे कार्य सम्पन्नता को मापदण्ड माना जाए।

इसकी एक दूसरी विशेषता यह है कि राजनैतिक विकास से संबंधित अधिकाश धारणाओं में एक राजनैतिक व्यवस्था की क्षमता पर विचार किया गया है। एक अर्थ में यह क्षमता राजनैतिक व्यवस्था के परिणामो से संबंधित है। राजनैतिक व्यवस्था द्वारा शेप समाज और अर्थव्यवस्था को जितना प्रभावित किया जा सकता है वह उसकी क्षमता होती है। क्षमता सरकार के कार्य सम्पन्नता एव इस पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियों से सम्बन्ध रखती है। जो व्यवस्थायें विकसित मानी जाती हैं वे सामाजिक जीवन के एक व्यापक जीवन को छूती है और प्रभावित करती है। कम विकसित व्यवस्थायें इतना नही करती। इसके अतिरिक्त क्षमता का एक अर्थ सार्वजनिक नीतियों को क्रियान्विति में प्रभावशीलता और कार्यकुशलता भी है। विकसित व्यवस्थायें अन्य की अपेक्षा न केवल अधिक कार्य ही करती हैं वरन् वे उन कार्यों को जल्दी और अधिक पूर्ण रूप से करती हैं। इसके अतिरिक्त क्षमता प्रशासन

में बौद्धिकता से सम्बन्ध रखती है और नीति के प्रति एक धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण रखती है।

राजनैतिक विकास से सम्बन्धित उपर्युक्त विचारों की एक तीसरी विशेषता यह है कि इसमे विशेषीकरण और विभिन्नताओं को स्थान दिया गया है। यह विशेष रूप से संस्थाओं एवं उनके रूपों के विश्लेषण के सम्बन्ध मे सही है। राज्य के विभिन्न कार्यालय एवं अभिकरण अपने विशेष और सीमित कार्य सम्पन्न करते है। सरकार के क्षेत्र मे एक प्रकार से श्रम विभाजन किया जाता है। विभिन्नता स्थापित करते हुए अनेक जटिल संरचनाओं एव प्रक्रियाओं को मिला दिया जाता है। इस प्रकार विभिन्नताओं का यह अर्थ नहीं है कि राजनैतिक व्यवस्था के विभिन्न भागों को पृथक्-पृथक् कर दिया जाय किन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि अन्तिम एकीकरण प्राप्त करने के लिए विशेषीकरण किया जाय।

मि० पाई का मत है कि समानता, क्षमता और विभिन्नता की इन तीन दिशाओं को मान्यता देने का अर्थ यह नही होता कि ये तीनों परस्पर सरलता से आपस मे मिल जाती है। इसके विपरीत ऐतिहासिक रूप से प्रवृत्ति यह रही है कि समानता की मागों, क्षमता की आवश्यकताओं और अधिक विभिन्नता की प्रक्रियाओं के बीच पर्याप्त खिंचाव रहा है। अधिक समानता की स्थापना के दबाव द्वारा व्यवस्था की क्षमता को चुनौती दी जा सकती है। इसी प्रकार विभिन्नता, गुण और विशेषीकृत ज्ञान को महत्व देकर समानता को कम कर सकती है। कुल मिलाकर राजनैतिक विकास की समस्याए, राजनैतिक संस्कृति, सत्ताधारी रूप रचना और सामान्य राजनैतिक प्रक्रियाओं के चारों ओर चक्कर लगाती हैं।

राजनैतिक विकास की प्रकृति
(The Nature of Political Development)

राजनैतिक विकास की धारणा के सम्बन्ध मे सामाजिक विज्ञानों के विचारकों के बीच अभी तक कोई सहमति नही है। यह मानना गलत होगा कि राजनैतिक विकास या आधुनिकीकरण कोई ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज अपनी परम्परागत राजनैतिक व्यवस्था से प्रजातन्त्रात्मक तथा अन्य किसी व्यवस्था में परिवर्तित होता है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की मान्यता अनेक राज्यों के राजनैतिक अनुभवों को अनावश्यक मानकर बाहर रख देती है और हमे यह निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित करती है कि यूरोप के बाहर दुनियां के अधिकांश भागो में किसी प्रकार का राजनैतिक विकास नही हुआ। मि० ग्रैब्रील आलमण्ड (Gabriel Almond) ने राजनैतिक

व्यवस्था को समाज मे औचित्यपूर्ण व्यवस्था बनाने वाली या परिवर्तन लाने वाली व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया है। हम यह पाते हैं कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में राजनैतिक व्यवस्था परिवर्तित होती है, इसकी प्रकृति भी बदलती है और इसके कार्य भी। इस परिवर्तन में राज्य और समाज के बीच का सम्बन्ध स्वायत्त एवं स्वतन्त्र रहता है। राजनैतिक आधुनिकीकरण की गति कम से कम आंशिक रूप से स्वतन्त्र रहती है। राजनैतिक व्यवस्था ही एकमात्र समस्या सुलझाने वाली नहीं होती किन्तु फिर भी इस दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।

सामान्य अर्थ में राजनैतिक विकास को परिभाषित करते हुए अलफ्रेड डाइमन्ट (Alfred Dimont) ने इसे एक ऐसी प्रक्रिया बताया है जिसके द्वारा एक राजनैतिक व्यवस्था के नये प्रकार के लक्ष्यों और मांगों को लगातार सफल रूप में बड़ी सख्या मे प्राप्त करने की क्षमता रहती है। साथ ही यह नये प्रकार के सगठन भी बना सकती है। अपने इस सामान्य रूप में राजनैतिक विकास निश्चय ही अनेक मूल्य वाली प्रक्रिया है। इसके द्वारा अनेक मांगों और लक्ष्यों को एक ही साथ प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। विकासशील समाज केवल अनेक प्रकार की भौतिक चीजें ही नहीं चाहते किन्तु वे आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा, सम्मान और बहुत सी सामूहिक तथा व्यक्तिगत चीजें भी चाहते हैं।

राजनैतिक विकास के द्वारा जिन लक्ष्यों एवं मांगों को प्राप्त किया जाता है उनकी प्रकृति लचीली होती है। यह कहा जाता है कि प्रतीकों, संस्थाओं, लक्ष्यों एव मांगों की लोचशीलता आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का एक केन्द्रीय तत्व है। राजनैतिक विकास के लिए केन्द्रीयकरण भी आवश्यक होता है। विकासशील समाजों मे केन्द्रीयकरण के माध्यम से आधुनिकीकरण को आगे बढ़ाया जाता है क्योंकि उनमें अनेक समूहों, कबीलो और वंशों को साथ लेकर राजनैतिक विकास के लिए कुछ आवश्यक शर्तें बनाने का प्रयास किया जाता है। अपने सामान्य रूप मे राजनैतिक विकास की प्रक्रिया विशेष प्रकार की राजनैतिक संस्थाओं की रचना को आवश्यक नही मानती। राजनैतिक विकास की प्रक्रिया किसी समाज में अनेक परिस्थितियों में हो सकती है। इसके लक्ष्यों एवं आवश्यकताओं के बारे में कोई सहमति नही है।

राष्ट्रवाद और राजनैतिक विकास
(Nationalism and Political Development)

राजनैतिक विकास की गति को तेज करने में राष्ट्रवाद की भावना सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप से कार्य करती है। एशिया और अफ्रीका के लोग जिस गति से उठे हैं उसमे राष्ट्रवाद की भावना ने ही प्रेरक शक्ति का कार्य

मे बौद्धिकता से सम्बन्ध रखती है और नीति के प्रति एक धर्म कोण रखती है।

राजनैतिक विकास से सम्बन्धित उपर्युक्त विचारो विशेषता यह है कि इसमे विशेषीकरण और विभिन्नताओ गया है। यह विशेष रूप से संस्थाओ एव उनके रूपो के विश मे सही है। राज्य के विभिन्न कार्यालय एव अभिकरण सीमित कार्य सम्पन्न करते है। सरकार के क्षेत्र मे एक प्रका जन किया जाता है। विभिन्नता स्थापित करते हुए अनेक एव प्रक्रियाओं को मिला दिया जाता है। इस प्रकार वि अर्थ नही है कि राजनैतिक व्यवस्था के विभिन्न भागो को दिया जाय किन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि अन्तिम एकीकर लिए विशेषीकरण किया जाय।

मि० पाई का मत है कि समानता, क्षमता और तीन दिशाओ को मान्यता देने का अर्थ यह नही होता कि सरलता से आपस में मिल जाती हैं। इसके विपरीत प्रवृत्ति यह रही है कि समानता की मागों, क्षमता की अधिक विभिन्नता की प्रक्रियाओ के बीच पर्याप्त खिचाव समानता की स्थापना के दबाव द्वारा व्यवस्था की क्षमता सकती है। इसी प्रकार विभिन्नता, गुण और विशेषीकृ देकर समानता को कम कर सकती है। कुल मिलाकर रा समस्याए, राजनैतिक संस्कृति, सत्ताधारी रूप रचना और प्रक्रियाओं के चारों ओर चक्कर लगाती हैं।

राजनैतिक विकास की प्रकृति
(The Nature of Political Development)

राजनैतिक विकास की धारणा के सम्बन्ध मे विचारकों के बीच अभी तक कोई सहमति नही है। कि राजनैतिक विकास या आधुनिकीकरण कोई ऐसी समाज अपनी परम्परागत राजनैतिक व्यवस्था से किसी व्यवस्था मे परिवर्तित होता है। यह स्पष्ट है कि अनेक राज्यों के राजनैतिक अनुभवों को अनावश्यक देती है और हमे यह निष्कर्ष निकालने के लिए प्रे के बाहर दुनिया के अधिकांश भागों मे किसी प्रकार नही हुआ। मि० गैब्रील आमण्ड (Gabriel A

प्रकार की राजनैतिक संस्थाओं पर अपना प्रभाव रखता है, इसके द्वारा राजनैतिक विकास की दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया जाता है।

राष्ट्रवाद केवल एक प्रेरणा के रूप में महत्व रखता है। इसने विकास की मांगों से उत्पन्न विभिन्न समस्याओं एवं प्रश्नों के लिए कोई उत्तर नहीं दिया वरन् इसने अप्रत्यक्ष रूप से विकास के रूप में योगदान किया। इसका सबसे महत्वपूर्ण योगदान आत्मा के अदर्शनीय भाग में हुआ जिसमें कि इसने व्यक्ति के आत्म-सम्मान की रक्षा, नैतिक चरित्र का निर्माण और सामाजिक एकरूपता के प्रोत्साहन को बढ़ावा दिया। इसके अतिरिक्त जब कभी संघर्षपूर्ण मूल्य सामने आये अथवा विकल्प प्रस्तुत हुए तो इसने अपना कोई निर्णय नहीं दिया। इसने स्वतन्त्रता से मिली हुई समस्त शुभ वस्तुओं को प्रदान नहीं किया, इसके अतिरिक्त भावी प्रगति के लिए आवश्यक संस्थाएं भी इसके द्वारा स्थापित नहीं की गई। जब कभी व्यक्ति को यह निर्णय लेना होता है कि स्वतन्त्र उद्यम व्यवस्था को अपनाये या साम्यवाद को, उदार प्रजातन्त्र को अपनाये या केन्द्रीयकृत सत्तावाद को तो उसे राष्ट्रवाद के द्वारा कोई सहायता प्रदान नहीं की जायेगी। ये निर्णय मुख्य रूप से राष्ट्रवादी भूमियों के अतिरिक्त लिए जायेंगे। यहां तक कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी राष्ट्रवाद यह नहीं बता पाता कि एक देश सन्धि करे या झगड़ा करे अथवा उदासीन बना रहे। इसके अतिरिक्त यह खतरा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि राष्ट्रवाद विकास के लिए बाधा बन सकता है; क्योंकि इसके द्वारा विदेशी माल का बहिष्कार किया जायेगा और विदेशी कुशलता तथा पूंजी को बुरा बताया जायेगा।

असल में राष्ट्रवाद अपने आप में न बुरा है न भला, हम चाहें तो यह हमारे लक्ष्यों की ओर बढ़ने में पर्याप्त सहायता दे सकता है किन्तु इसके लिए इसका बुद्धिपूर्वक प्रयोग करना जरूरी है, यदि इसका प्रयोग अकुशल एवं अबुद्धिपूर्ण रूप से किया गया तो इसका योगदान भयंकर हो सकता है।

राजनैतिक विशिष्ट वर्ग[1] की धारणा
(The Concept of Political Elite)

समानता की स्थापना के लिए चाहे वैधानिक या संवैधानिक रूप में कितना ही प्रयास क्यों न कर लिया जाये किन्तु इस तथ्य को नहीं मिटाया जा सकता कि लोग शक्ति, प्रभाव, सत्ता, प्रतिनिधित्व का गुण तथा स्वतन्त्रता

---

1. अंग्रेजी शब्द Elite का यह अनुवाद पारिभाषिक शब्द संग्रह (अंग्रेजी–हिन्दी), केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, १९६२, पृष्ठ–४५४ के अनुसार किया गया है।

किया था। राष्ट्रवादी मांगों का विरोध करना कोई सरल कार्य नहीं होता। यद्यपि राष्ट्रवाद के अपने अवगुण भी हैं जिनके कारण इसको खतरनाक भ्रष्टाचार कहा जाता है अथवा औद्योगीकरण एवं प्रजातन्त्र का विकृत रूप कहा जाता है। कभी-कभी इसे हमारे आधुनिक पश्चिमी प्रजातन्त्र के प्रभाव का दुखदायी परिणाम भी माना जाता है। कुछ विचारकों का कहना है कि राष्ट्रवाद की भावना आवश्यक रूप से जीवन-स्तर को सुधारने में अधिक उपयोगी नहीं क्योंकि जो लोग इस भावना से प्रभावित होते हैं, वे प्रायः अपने संकीर्ण उद्देश्यों की प्राप्ति में संलग्न रहते हैं और इस बात की अधिक चिन्ता नहीं करते कि सामान्य कल्याण के कार्य क्या हैं और इनको प्राप्त करने के लिए किस प्रकार का प्रयास किया जाये? यह मत अधिकांश विद्वानों की मान्यता प्राप्त नहीं कर सका है।

सामान्य रूप से यह माना जाता है कि राष्ट्रवाद की वास्तविक मांग आधुनिकीकरण की ओर बढ़ना है और इसके लिए सामाजिक तथा आर्थिक विकास करना है। अच्छे जीवन-स्तर और आर्थिक विकास के साथ-साथ राष्ट्रवाद का राजनैतिक दावा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। जो व्यक्ति देशभक्ति के नाम पर बलिदान करने से मना कर देता है उसे राष्ट्र वादी भावनाओं से प्रभावित लोग अपने से बाहर कर देते हैं। राष्ट्रवाद की यह प्रसिद्ध कहावत है कि हम नरक की तरह रहते हुए भी स्वयं के द्वारा प्रशासित होना चाहेंगे और दूसरों के द्वारा प्रशासित होकर स्वर्गीय जीवन व्यतीत नहीं करेंगे। राष्ट्रवाद की व्यापक भावना धन, शक्ति और आधुनिकीकरण का मार्ग प्रशस्त करती है। इसके द्वारा एक नये आर्थिक युग का द्वार खोल दिया जाता है और उसके बाद राज्य को एक नयी शक्ति प्राप्त होती है। राष्ट्रवाद की भावना को स्वर्गीय प० जवाहरलाल नेहरू ने पर्याप्त प्राथमिकता देने को कहा था, इन्होंने इसे एक ऐसा युद्धघोष बताया जो कि प्रायः प्रत्येक एशिया-वासी के दिल को गर्मी देता है। अन्य दूसरी शक्ति या अन्य दूसरा कार्य जो कि सम्पन्न होना चाहता है उसे अपने आपको इस राष्ट्रवाद के रूप में परिभाषित होना चाहिये। एशिया में यदि कोई भी तर्क किसी भी विषय के सम्बन्ध में राष्ट्रवादी भावना के विरुद्ध दिया गया तो उसका विरोध होगा।

राष्ट्रवादी भावना का निषेधात्मक पहलू भी होता है जो कि दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध एक देश के निवासियों के मन में घृणा का भाव भरता है। किन्तु अपने विधेयात्मक रूप में यह अपने राष्ट्र के विकास की गति को सहारा देता है। राष्ट्रवाद की भावना के द्वारा वह नींव स्थापित की गई जिसके आधार पर समस्त समाज को बनाया जा सकता है। राष्ट्रवाद कुछ विशेष

की क्षमता आदि की दृष्टि से पर्याप्त विभिन्नताएं रखते हैं । राजनैतिक सिद्धान्त की समस्या यह जानती है कि इन अन्तरों के द्वारा किस सीमा तक समाज में एक विशिष्ट वर्ग की रचना की जाती है । यह वर्ग राजनैतिक दृष्टि से पर्याप्त महत्व रखता है । बहुत प्रारम्भ से ही सरकार के कार्यों के लिए विशेष रूप से विशेषज्ञ ऐसे लोगों की आवश्यकता रही है जिनमें विशेष क्षमता, सद्गुण एवं बुद्धिमानी हो । प्राय: समस्त मानव उपलब्धियां महान् व्यक्तियों के ही कार्य हैं । राज्य के कुछ लोग अपनी विशेष योग्यताओं के कारण शेष जनता पर प्रभाव रखते हैं । इन लोगों को राजनीति शास्त्र की भाषा में राजनैतिक विशिष्ट वर्ग (Elite) कहा जा सकता है । इस विशिष्ट वर्ग के सम्बन्ध में आधुनिक काल में पर्याप्त लिखा गया है किन्तु जो कुछ भी लिखा गया है उसमें एक मौलिक भूल यह रही है कि इनके द्वारा जो तर्क किया जाता है वह यह रहा कि लोगों को कार्य सम्पन्नता में योग्यताओं के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है । यह वर्ग विभाजन लोगों में सामूहिक भावना पैदा करता है और एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के लोगों के साथ मिलजुल कर तथा सहयोग पूर्ण रूप से कार्य करते हैं । विचारकों का कहना है कि केवल इन बातों के होने से ही व्यक्तियों का एक समूह राजनैतिक विशिष्ट वर्ग नहीं बन जाता, इसके लिए राजनैतिक वातावरण की व्याख्या भी करनी होगी जो कि प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग बनाता है । सी. जे. फ्रेड्रिक (C. J. Friedrich) के कथनानुसार "यह उन लोगों का एक समूह होना है जो कि राजनीति में अद्वितीय कार्य सम्पन्नता के द्वारा विशिष्ट होते हैं, जो एक विशेष समाज के शासन को अपने हाथों में प्रभावशाली रूप से एकाधिकृत कर लेते हैं और जिनमें समूह की एकता की भावना होती है जो समय-समय पर सहयोग के रूप में अभिव्यक्त होती है । एक राजनैतिक विशिष्ट वर्ग शक्ति और शासन प्राप्त करने की योग्यता में पर्याप्त आगे बढ़ जाता है ।"

कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि राजनैतिक विशिष्ट वर्ग को प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग (Ruling or Governing Elite) से भिन्न किया जाना चाहिए । फ्रेड्रिक आदि विचारक इस सुझाव को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनके मतानुसार उससे भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना है । इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति को राजनीति में श्रेष्ठ मानना भी सन्देहजनक है । जो व्यक्ति राजनीति में विशेषज्ञ है वह प्रशासन से सम्बन्ध नहीं रखेगा यह भी सन्देह की बात है । सम्भवतः यह सच है कि एक क्रान्तिकारी संकट और अवस्था के समय एक क्रान्तिकारी नेता राजनीति में बहुत श्रेष्ठ हो सकता है और फिर भी वह उस राजनैतिक व्यवस्था के प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग से असम्बन्धित रह सकता है जिसे कि वह और उसका आन्दोलन समाप्त

करने जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में राजनैतिक विशिष्ट वर्ग और प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग अलग-अलग हो गये किन्तु एक क्रान्तिकारी नेता अपने संगठन का प्रशासक होता है और वह उसे स्वेच्छाचारी रूप से प्रशासित करता है।

विशिष्ट वर्ग की हमारी धारणा किसी एक विशेष समूह या समाज के एक स्तर से सीमित नहीं है। यह किसी भी समूह पर लागू हो सकती है। राजनैतिक विशिष्ट वर्ग जो कि प्रशासन करता हुआ देखा जाता है उसे भी कई प्रकार से अलग-अलग कर सकते हैं जैसे राजनैतिक समाज के निर्माण की दृष्टि से उनको अधिकारी विशिष्ट वर्ग, क्रान्तिकारी विशिष्ट वर्ग आदि भागों में बांट सकते हैं।

विशिष्ट वर्ग की विचारधारा, राजनैतिक विशिष्ट वर्ग के सामूहिक पहलू पर विचार करने में असमर्थ रहती है। इस दृष्टि से उदाहरण के रूप में मि० पेरेटो (Yilfredo Pereto) और मोसका (Gaetano Mosca) का नाम लिया जा सकता है। मि० परेटो ने इस सिद्धान्त को एक व्यापक समाजशास्त्रीय आधार दिया है। दोनों विचारकों के मतों के बीच पर्याप्त विरोध है। पैरेटो का कहना है कि चोरों का भी एक विशिष्ट वर्ग होता है जिसमें कि वे सभी लोग होते हैं जो अपने काम को सफाई के साथ करने में माहिर होते हैं। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण शुद्ध रूप से सांख्यिकीय है और केवल ऐसे लोगों को इंगित करता है जिनमें कि कुछ विशेष योग्यताएं होती हैं तथा जो कानून के द्वारा सम्पन्न की जाती हैं, उसमें से सर्व श्रेष्ठ होती हैं। इस मत को हम कार्य सम्बन्धी (Functional) भी मान सकते हैं क्योंकि यह विशेष योग्यता को सम्पन्न किये जाने वाले कार्य के रूप में परिभाषित करता है। पैरेटो ने यह बताने का प्रयास नहीं किया है कि इस प्रकार का एक विशेष वर्ग एक समूह के रूप में कार्य सचालन करता है। इस प्रकार की आपत्ति डाक्टर, इन्जीनियर या वैज्ञानिकों के बारे में नहीं की जा सकती।

मि०. पैरेटो ने विशिष्ट वर्ग को शुद्ध रूप से सांख्यिकीय रूप में परिभाषित करने के बाद उसे दो वर्गों में विभाजित किया है। पहले वर्ग मे प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग आता है; इसमें उन लोगों को लिया जाता है जो कि सरकार में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपना महत्वपूर्ण योगदान रखते हैं। दूसरा वर्ग गैर-प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग है जिसमें कि शेष व्यक्तियों को लिया जाता है। इस विभाजन को अधिक सन्तोषजनक नहीं माना जाता। विभाजन में राजनैतिक और गैर-राजनैतिक विशिष्ट वर्ग के बीच अन्तर किया जाना चाहिए। गैर-राजनैतिक विशिष्ट वर्ग के सम्बन्ध मे एक कठिनाई यह भी है कि इसे राजनैतिक विश्लेषण की दृष्टि से आगे और विभाजित करना होगा।

गैर-राजनीतिक विशिष्ट वर्ग अनेक होते हैं, जैसे आर्थिक, सामाजिक, तकनीकी और सांस्कृतिक आदि। ये विशिष्ट वर्ग राजनीति के लिए उपयोगी होने की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता रखते हैं। अलग-अलग परिस्थितियों में इनका महत्व बदलता रहता है। उदाहरण के लिए युद्ध काल में तकनीकी विशिष्ट वर्ग का राजनैतिक महत्व शान्तिकाल की अपेक्षा बढ़ जाता है। समय की आवश्यकता तथा परिस्थितियों की भिन्नता विभिन्न प्रकार के विशिष्ट वर्ग के राजनैतिक महत्व को बदलती रहती है।

राजनैतिक और गैर-राजनैतिक विशिष्ट वर्ग के बीच विभाजन करने के सम्बन्ध में एक अन्य कठिनाई यह है कि सरकार के क्षेत्र में दो दिशाओं में विशिष्ट वर्ग की रचना अत्यन्त जटिल होती है। हम सर्वश्रेष्ठ लोगों के सहयोग पूर्ण समूह को प्रशासकीय कह सकते हैं। किसी विशिष्ट वर्ग को महत्वपूर्ण होने के लिए एक सगठित रूप में होना जरूरी है। यदि वे यहां-वहां बिखरे रहें तो अधिक प्रभावपूर्ण नहीं बन पायेंगे। उदाहरण के लिए प्लेटो का संरक्षक वर्ग यदि शेष समाज में जहां-तहां बिखरा रहता तो वह अपने कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता था। इस दृष्टि से विशिष्ट वर्ग को प्रभावपूर्ण होने के लिए परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होना चाहिए। प्लेटो ने इस सम्बन्ध को घनिष्ट बनाने के लिए यहां तक कहा कि सभी की सम्पत्ति समान होनी चाहिए तथा सभी की पत्नियां समान हों। उसी प्रकार से मार्क्स के सिद्धात का साम्यवादी विशिष्ट वर्ग भी एक सगठित दल है। लेनिन ने इसे साकार रूप प्रदान किया। पैरेटो ने भी जब यह कहा कि प्रत्येक जनभा एक विशिष्ट वर्ग द्वारा प्रशासित होती है जो कि उस जनसख्या का सगठित तत्व होता है तो उन्होंने इसी बात को स्वीकार किया था कि विशिष्ट वर्ग के लोगों के बीच रहने वाली घनिष्टता क्रमिक परिवर्तन की सम्भावनाओं को नहीं मिटा देती। सम्भवतः प्रत्येक प्रशासनिक विशिष्ट वर्ग में परिवर्तन हो सकते हैं। पैरेटो का मत था कि वर्ग सचार के कारण प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग हमेशा धीमी किन्तु निरन्तर गति का विषय होता है। विशिष्ट वर्ग में ऐसे नये लोगों को सम्मिलित किया जाता है जो कि अपना स्वयं का जीवन रखते हैं। इस प्रकार विशिष्ट वर्ग मे परिवर्तन नियमित रूप से गति के प्रतीक नहीं होते वरन् इन परिवर्तनों की तुलना एक ऐसे परिवर्तन से की जाती है जैसे कि जंगल का एक भाग अन्य प्रकार के वृक्षों के आने से धीरे-धीरे बदलता है। यह हो सकता है कि इस बदलाव में कुछ नियमितता हो अर्थात् कड़ी लकड़ी के स्थान पर नरम लकड़ी आये या नर्म के स्थान पर कड़ी आए किन्तु इस प्रकार का कोई आंकड़ा मि० पैरेटो ने नहीं सुझाया है। उन्होंने केवल कुछ व्यापक सामान्यीकरण दिये हैं, उदाहरण के लिए सचार की गति पर केवल पूर्णता के

साथ विचार नहीं किया जाना चाहिए किन्तु कुछ सामाजिक तत्वों की मांग और पूर्ति के सन्दर्भ में उन पर विचार किया जाना चाहिए। इसी प्रकार "समाज के उच्च वर्ग अर्थात् विशिष्ट वर्ग मे लोगो के कुछ ऐसे समूह होते हैं जिनको हमेशा परिभाषित नही किया जा सकता। इनको वर्ग तन्त्री (Aristocracies) कहा जाता है।" मि० पैरेटो ने राजनैतिक या प्रशासकीय वर्ग की घनिष्ठता को स्वीकार नही किया था। इसी कारण वे इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण दृष्टि नही रख पाये। उनका यह मत था कि प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग राजनैतिक तत्वों के विशेष का योग का परिणाम है जो कि इनके विकास को मर्यादित करते है। यदि इस बात को सच मान लिया जाए तो इस प्रकार के समूह की रचना कुछ विशेष परिस्थितियों का विषय बन जायेगी और वे कुछ समाजों मे प्राप्त हो सकेंगे और अन्य में नही।

पैरेटो तथा मोस्का दोनों ने ही यह मत प्रकट किया है कि ऐसे समूह प्रत्येक समाज में प्राप्त होते हैं। उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन में तर्क भी प्रस्तुत किये हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत तर्क एव प्रमाण दो कारणों से कम महत्व रखते हैं। प्रथम, इनको इतिहास से लिया गया है इसलिए इनके द्वारा केवल यह सिद्ध किया जाता है कि अतीतकालीन समाजों मे हमेशा विशिष्ट वर्ग होते थे। केवल ऐतिहासिक प्रमाण किसी भी वस्तु स्थिति का वास्तविक प्रमाण नही हो सकते। 'जो होता रहा है उसके आधार पर जो होता रहेगा' का निश्चित निष्कर्ष नही निकाल सकते। इतिहास के अनेक तथ्य भविष्य मे अपना अस्तित्व खो देते हैं। यदि विशिष्ट वर्ग को ऐसा होने से बचाना है तो यह जरूरी है कि उसके लिए भिन्न तर्क दिये जाए और मानव प्रकृति के सन्दर्भ मे दार्शनिक या सामान्य आधार प्रस्तुत किये जाएं। इन विचारकों ने ऐसा कोई तर्क या आधार प्रस्तुत नही किया है। दूसरे, एक कठिनाई यह है कि ऐतिहासिक प्रमाण अत्यन्त अपूर्ण होता है और वह केवल यही प्रदर्शित करता है कि इस प्रकार के विशिष्ट वर्ग हुआ करते थे और कुछ समाजों में उन्होंने वास्तव में प्रशासन किया। इस तथ्य की सत्यता पर कोई सन्देह नही करना चाहता। किन्तु यह प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग आत्म-नियुक्ति होता था, अन्य सदस्यों का अपने मे मिलाने का कार्य भी स्वय यही करता था। स्वय विशिष्ट वर्ग ने ही बुद्धि के कुछ मापदण्ड निर्धारित किये जिसके आधार पर विशेष व्यक्तियों का मूल्यांकन किया जा सकता था। आत्म-मूल्यांकन एक अत्यन्त कठिन कार्य है और अपूर्णताओं से युक्त व्यक्ति से इसकी कल्पना नही की जा सकती। प्लेटो ने गुणों के आधार पर विशिष्ट वर्ग को इगित किया था और मार्क्स ने वर्ग चेतना को प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग की विशेषता माना। किन्तु ये दोनों ही मान्यताएं अधिक उपयोगी नही रही क्योंकि प्लेटो द्वारा प्रतिपादित

आध्यात्मिक ऊंचाई तक पहुंचा हुआ व्यक्ति मिलना मुश्किल था और साम्यवादी देशों मे प्रशासकीय दल केवल चुनाव के समय ही वर्ग चेतना को प्रदर्शित करता है।

फ्रेडिक का मत है कि किस विशिष्ट वर्ग मे कौन व्यक्ति आता है इसे निर्धारित करने के लिए अनेक मापदण्ड हैं किन्तु इनके साथ कठिनाई यह है कि सरकार के क्षेत्र में कार्य सम्पन्नता को मापने के लिए सुगम रूप से प्राप्त कोई मापदण्ड नहीं है। यह बहुत आसान है कि हम तकनीकी कार्यों में लगे हुए व्यक्तियो को वर्गीकृत कर सकें उदाहरण के लिए वकील, डाक्टर, इन्जीनीयर, किसान आदि को स्पष्ट रूप से बताया जा सकता है। यद्यपि उनके सम्बन्ध में भी थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है तो भी तकनीकी मापदण्ड बन चुके है इसीलिए बुद्धिपूर्ण सहमति पर्याप्त की जा सकती है। इन मामलों में शुद्ध रूप से तकनीकी मापदण्ड काम में लाये जा सकते है क्योंकि प्राप्त किये जाने वाले मूल्य के सम्बन्ध में सहमति को पहले से ही निर्धारित किया जा सकता है। जब एक डाक्टर को बुलाया जाता है तो इसका अर्थ है कि हम इलाज कराना चाहते है। इसी प्रकार जब एक वकील की सहायता प्राप्त की जाती है तो हम अपने वैधानिक अधिकारों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होते हैं। यही बात अन्य तकनीकी विषयों के साथ भी सही है किन्तु इसे सरकार चलाने वाले या प्रशासन करने वाले लोगों के बारे में नही कहा जा सकता। प्लेटो ने प्रशासकों की तुलना डाक्टरो, जहाज के कप्तानों एवं चरवाहों से की है किन्तु उनका ऐसा करना उपयुक्त नहीं था। समाज मे बहुत सारे मूल्य होते हैं उनके कार्य की सम्पन्नता का मूल्याकन करना बहुत कठिन होता है। यहां हम कार्यों एव उद्देश्यों के सम्बन्ध में कोई उपयुक्ततापूर्ण मान्यता बना कर नहीं चल सकते।

प्रारम्भ में शक्ति को विशिष्ट वर्ग का एक विशेष लक्षण माना जाता था किन्तु हाल ही में शक्ति के स्थान पर अन्य प्रकार के मापदण्डों को प्रयुक्त किया जाने लगा है। ऐसा करना इसलिए आवश्यक समझा गया क्योंकि यदि विशिष्ट वर्ग की धारणा को शक्ति पर आश्रित मान लिया जाता तो प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं की सम्भावना ही समाप्त हो गई होती।

पहले विशिष्ट वर्ग को परिभाषित करते हुए यह कहा गया था कि इसमें वे लोग होते हैं जिनके हाथों में अधिकांश शक्ति होती है। शक्ति की मात्रा के आधार पर विशिष्ट वर्गों को विभाजित भी किया गया। कम शक्ति वाले वर्ग को मध्य विशिष्ट वर्ग (Mid-Elite) और बिल्कुल ही कम शक्ति वालों को बहुसंख्यक विशिष्ट वर्ग (Mass Elite) कहा गया। विशिष्ट वर्ग की यह

मान्यता पूर्ण रूप से सांख्यिकी पर आधारित थी। इसमें लोगों को उस शक्ति की मात्रा के आधार पर वर्गीकृत किया गया जो उनके पास थी। शक्ति की मात्रा को तय करना और उसके आधार पर कोई सूची तैयार करना अत्यन्त कठिन कार्य है। पैरेटो और मोसका ने विशिष्ट वर्ग से सम्बन्धित सांख्यिकी दृष्टिकोणों को ही अपनाया है। पैरेटो के कथनानुसार प्रत्येक जनता एक विशिष्ट वर्ग द्वारा प्रशासित होती है। यह जनसंख्या का चुना हुआ तत्व होता है। इस कथन का अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक जनता पर शासकों का शासन रहता है। मि० फ्रेड्रिक ने विशिष्ट वर्ग से सम्बन्धित सांख्यिकी धारणा के औचित्य को सन्देह की दृष्टि से देखा है। इनका कहना है कि इन दोनों लेखकों ने सामान्यीकरण किये है। उनके आधार पर यह सांख्यिकी मान्यता असत्य सिद्ध होती है। मोसका का कहना था कि शासन एक सम्पूर्ण वर्ग के द्वारा नहीं किया जाता है वरन् ये प्रशासक उस वर्ग से लिये जाते हैं और उसी के हित में शक्ति का प्रयोग करते है। यह विचार मार्क्स के विचारों से कुछ-कुछ मेल खाता हैं। मार्क्स ने माना था कि शासन की शक्ति का प्रयोग समर्थ वर्ग के द्वारा असमर्थ वर्ग के शोषण तथा दमन के लिए किया जाता है। साम्यवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) में यह स्पष्ट रूप में कहा गया है कि आज की राज्य-शक्ति केवल एक सीमित शक्ति है जो पूंजीवादी वर्ग के सामान्य कार्यों को सम्पन्न करती है। इससे स्पष्ट हुआ कि शोषण करने वाला वर्ग ही प्रशासक वर्ग होता है। मार्क्स के लिए वर्ग-चेतना सच्चे विशिष्ट वर्ग की प्रमुख विशेषता थी। इस प्रकार 'साम्यवादी' श्रमिक वर्ग के विशिष्ट वर्ग हैं। वर्गीय चेतना से युक्त तानाशाही केवल शक्तिवान व्यक्तियों का योग मात्र नही है। यह वर्ग जब सामूहिक भावना एवं प्रशासन पर एकाधिकार करने की कामना रखता है तभी इसमें राजनैतिक कार्य करने की योग्यता आती है।

१९वीं शताब्दी में कुछ विचारकों ने अपने समय की प्रतिक्रिया के रूप में विशिष्ट वर्ग से सम्बन्धित विशेष विचार प्रस्तुत किये। कार्लायल (Carlyle) और नीत्से (Nietzsche) ने नेता की पूजा और महामानव (Super Man) की मान्यताओं को स्वीकार किया। असल में, ये दोनों ही विचारक सक्रिय जीवन से दूर कोरे सन्यासी थे। इन्होंने जिस इतिहास को देखा वह केवल महान नेताओं का कार्य ही था किन्तु वास्तविक इतिहास की रचना इन महान व्यक्तियों के पीछे कार्य करने वालों के द्वारा की जाती है। कार्लायल और नीत्से ने अपने महान् नेताओं को समस्त इतिहास का आधार माना। ये नेता अत्यन्त महान् थे। इन्होंने इस संसार को यह रूप दिया, इसकी रचना की तथा सामान्य जनता को जो कुछ भी मिला वह सब उन्हीं के कारण

था। दोनों विचारकों ने माना कि इस प्रकार के व्यक्ति साधु सन्यासी या विद्वान पुरुष होते हैं, वे दार्शनिक होते है। कार्लायल का कहना था कि लोगों को आदेश देने वाला वह होता है जिसकी इच्छा के सामने हमारी इच्छायें अधीनस्थ होती हैं और अपने आप स्वामी-भक्ति पूर्ण रूप से झुक जाती हैं। वे ऐसा करने में अपना कल्याण समझते हैं। इन मान्यताओं के अनुसार महामानव में एक ही हीरो के समस्त गुण होते है। उसे चाहे कोई भी नाम दे दिया जाए किन्तु वह प्रशासन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्थाओं में इस प्रकार के हीरो को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति मे यह इच्छा होती है कि उसके कार्य निर्देशित रूप से सम्पन्न हो। असंख्य लोग यह आवश्यकता महसूस करते हैं कि उनको प्रदर्शन और निर्देशन प्रदान किये जाएं।

विशिष्ट वर्ग या प्रशासकीय वर्ग की इस धारणा ने प्रजातन्त्र के मूल्यों को पीछे छोड़ दिया। यही कारण है कि जब मूल्यों और हितों में बहुलवादी प्रभाव आया तो उसके परिणामस्वरूप सरकार का प्रजातन्त्रीकरण हो गया। इसके अनुसार एक प्रशासन के कार्यों का मूल्यांकन करना प्रशासितों के हाथ की बात हो गयी। ऐसी स्थिति में यह जरूरी हो गया कि प्रशासकों द्वारा ऐसी नीतियां अपनाई जावें जो विरोधी समूहों एवं उनके मूल्यों के बीच समझौता करा सकें। इस प्रकार बहुलवादी मूल्य एवं हित सार्वजनिक नीतियों में अभिव्यक्त होने लगे। दूसरी ओर, प्रशासकीय सेवाओं का व्यावसायिकरण हो गया। इस प्रकार नौकरशाही ने जन्म लिया। प्रारम्भिक विशिष्ट वर्ग के सिद्धांत ने जिस अन्तर्दृष्टि को संस्थागत बनाने का प्रयास नहीं किया था उसे अब बनाया गया और विशेषज्ञ व योग्य पुरुषों को राजनैतिक प्रशासकों के आधीन कर दिया गया। राजनैतिक प्रशासक ही नीति सम्बन्धी निर्णय लेते हैं और विशेषज्ञों द्वारा उनको सार्वजनिक हित में प्रशासित किया जाता है। अतीतकालीन समाजों में विशिष्ट वर्ग का योगदान अपनी विशेषता रखता है। प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग अनेक तरीके अपनाकर अपने आप को शक्ति में रखने का प्रयास करता है। ये तरीके शक्ति के कानूनों की व्यावहारिक अभिव्यक्ति हैं। विशिष्ट वर्ग से सम्बन्धित एक विस्तृत सिद्धांत शासन के विभिन्न रूपों से सम्बन्ध रखता है। शासन के विभिन्न रूपों में अराजकता के अन्तर्गत प्रशासन करने वाले विशिष्ट वर्ग को समाप्त ही कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त तानाशाही, राजतंत्र, कुलीनतन्त्र के तीन रूप और वंश परम्परागत राजतन्त्र, नौकरशाही शासन आदि में कुछ ऐसी व्यवस्थायें हैं जिनमें कि शासन चलाने वाला एक विशिष्ट वर्ग होता है। प्रशासन के विभिन्न रूपों में से कुछ में प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग का अस्तित्व रहता है। उदाहरण के लिए, वर्ग-

तन्त्रीय तानाशाही की संसदीय मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था मे सैनिक तानाशाही में, सर्वाधिकारवादी तानाशाही मे इसका अस्तित्व होता है। राजा और पोपशाही जैसी व्यवस्थाओ में यह वर्ग नहीं होता। ये व्यवस्थाएं एक विशेष प्रकार के विशेष वर्ग को अपना सकती है। यह हो सकता है कि इनके शासक अपने नागरिको में से ही कुछ विशेष योग्यता वाले लोगों को चुनकर शासन के कार्य सौंप दे। दरबारियो एव विभिन्न रत्नो की नियुक्ति कुछ इसी प्रकार के अभ्यास के प्रमाण हैं। प्रशासको का यह विशिष्ट वर्ग अस्थाई होता है। इसके अतिरिक्त पर्दे के पीछे भी कुछ लोग प्रभाव डालते रहते है और इस दृष्टि से हम उनको सरकारी विशिष्ट वर्ग (Goverment Elite) कह सकते हैं।

एक अन्य प्रकार का विशिष्ट वर्ग और भी होता है। यह राजनीति के क्षेत्र मे मूल्य-निर्माता विशिष्ट वर्ग होता है। मनुष्य के अब तक के इतिहास में मूल्यों का बनना और परिवर्तित होना चलता रहा है। मूल्यों की रचना अधिकतर उन क्रियाओ के सम्बन्ध मे रहती है जिन पर मूल्य लागू होते हैं; उदाहरण के लिए कला, संस्कृति आदि। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि शक्ति, न्याय, स्वतन्त्रता आदि राजनैतिक मूल्य भी बनाये जायेंगे और नवीन प्रयोगों द्वारा उनको नया रूप दिया जायेगा तथा बदला जायेगा। इस प्रक्रिया मे भाग लेने वाले लोगों को एक समूह के रूप में कार्य करने की आवश्यकता नही होनी। अन्य अनेक विशिष्ट वर्गों की भांति ये अलग रह कर कार्य कर सकते है अन्यथा व्यक्तिगत रूप से यह मूल्य-निर्माता विशिष्ट वर्ग प्रशासकीय या सरकारी विशिष्ट वर्ग का व्यापक रूप से अतिक्रमण करेगा।

प्रजातन्त्र में राजनीतिक विशिष्ट वर्ग के सदस्य मूल्य निर्माता विशिष्ट वर्ग के सही अर्थ की अभिव्यक्ति नही करते। अनेक कवि और विचारक भी मूल्य-निर्माता विशिष्ट वर्ग (Valueshaping Elite) का महत्वपूर्ण भाग हो सकते हैं तथा ये समाज व सरकार के कार्यों से पूर्णतः पृथक भी रह सकते हैं। जब हम यह जानने की चेष्टा करते हैं कि समाज मूल्य सम्बन्धी निर्णय, हित और विश्वास किसके द्वारा अपना रूप ग्रहण करते हैं तो यह वर्ग हमारे सामने आता है। जब कभी प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था जनमत को अपनी इच्छानुसार मोडना चाहती है तो उसे व्यापक सचार के साधनों का प्रयोग करते हुए इन मूल्य-निर्माताओ के विचारो, विश्वासों एवं मतों को अपने अधिकार में करना होता है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था मे प्राप्त बहुलवाद इस प्रकार के मूल्य-निर्माता विशिष्ट वर्ग के प्रभाव का प्रतीक है; साथ ही यह प्रजातन्त्रात्मक समाज में सरकारी विशिष्ट वर्ग के अभाव का भी द्योतक है।

हाल ही मे अनेक मूर्त आधार पर यह मत प्रकट किया गया है कि प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग से सम्बन्वित प्रमाणों की उचित रूप से परीक्षा नही की गयी है। एक प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग (Ruling Elite) एक नियंत्रण-कारी समूह होता है। यह आकार मे बहुमत से कम होता है। यह ऐसे अल्प-संख्यक व्यक्तियो से युक्त होता है जिनकी प्राथमिकताएं प्रमुख राजनैतिक मसलो पर विभिन्न मत होने पर महत्व प्राप्त करती है। प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग की इस प्रकार की परिभाषा को शक्ति के सन्दर्भ मे रखकर देखा जाता है तो सही नही उतरती। इसके दो कारण है—प्रथम, इसका अल्प में होने का मापदण्ड अपर्याप्त है और दूसरे यह सरकारी विशिष्ट वर्ग के निर्माता-समूह की प्रमुख विशेषता को प्राप्त करने मे असफल रहता है।

प्रजातन्त्र के अतिरिक्त व्यवस्थाओ मे भी सरकारी या प्रशासकीय विशिष्ट वर्गों का अस्तित्व रहता है। निर्णयों के ऊपर रहने वाले संघर्षों की जांच नही की जा सकती। केवल इसी आधार पर हम इन विशिष्ट वर्गों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर सकते।

विचारको ने अध्ययन के आधार पर एक छिपे हुए सरकारी विशिष्ट वर्ग की भी खोज की है। यह कहा जाता है कि जब एक समाज के प्रकट नेता प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग (Ruling Elite) नही बनाते तो इस सिद्धात को यह कहकर बताया जा सकता है कि प्रकट नेताओ के पीछे कुछ अप्रकट नेता होते हैं जो कि ऐसा करते है। ये अप्रकट नेता यद्यपि सामने आकर एक विशिष्ट वर्ग के रूप मे कार्य नही करते किंतु ये प्रशासन पर प्रभाव अवश्य डालते हैं। यदि कोई ऐसा प्रमाण मिल जाए कि एक अप्रकट समूह प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग का कार्य नही कर रहा है तो किसी अन्य समूह को अप्रकट समूह कह कर सिद्धान्त की रक्षा की जा सकती है। विशिष्ट वर्गों के अस्तित्व का प्रमाण यह होता है कि सम्बन्धित व्यक्तियो में अन्य की अपेक्षा अधिक शक्ति होनी चाहिए तथा उनमें कुछ गुण सामान्य होने चाहिए। यह प्रत्येक समाज मे होता है कि कुछ लोग अन्य की अपेक्षा अधिक शक्ति रखते है और उन शक्तिवान् लोगों मे भी कुछ ऐसे व्यक्ति होते है जिनमें कि कुछ गुण सामान्य होते हैं। इन गुणों के आधार पर ये अपनी शक्ति की रक्षा करते हैं। जब कभी भी यह देखें कि एक समूह के सदस्यो के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है और वे समूह के प्रति एकरूपता रखते हैं और समाज में एकाधिकार रखने वाली सरकारी शक्ति पर उनका कुछ प्रभाव है तो हम इस प्रकार के समूह को प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग कह सकते हैं। सोवियत संघ में अपरातिपकी (Apparatsctieti) को इस दृष्टि से विशिष्ट वर्ग कहा जा सकता है क्योंकि इसके सदस्यों द्वारा वे सभी गुण प्रकट किये जाते हैं जो कि एक सरकारी विशिष्ट वर्ग के गुण होते हैं। संयुक्त

राज्य अमेरिका के वित्तीय समाज की उच्च श्रेणियों को सरकारी विशिष्ट वर्ग का नाम नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उनको सरकारी शक्ति पर एकाधिकार प्राप्त नही होता। इसके अतिरिक्त नौकरशाही और सैनिक नेतृत्व में एकपन नहीं होता और न ही चेतना होनी है इसलिए वे विशिष्ट वर्ग नही कहला सकते।

अतीतकालीन समाजो मे उच्च वर्ग के लोगों को प्रशासकीय या सरकारी विशिष्ट वर्ग का रूप प्रदान कर दिया जाता था। इन लोगों मे अपनी कुछ विशेषताए होती थी जिनके आधार पर वे उच्च श्रेणी मे आते थे। कुछ लेखकों का तो यह दावा है कि अभी भी उच्च तबके लोग शासन करते है। मि० रोबेर्टो माईकेल्स (Roberto Michels) के कथनानुसार उच्च वर्ग ने वर्तमान समाज की पतवार अपने हाथ मे ले रखी है और इतिहास के रंगमंच से इसके समाप्त होने की स्वप्न मे भी आशा नही की जा सकती। यद्यपि उच्च वर्ग के लोग आज अपने आप को वर्ग-तंत्र के साथ नही मिलाते किंतु फिर भी इन्होंने धीरे-धीरे अपने आपको वस्तुस्थिति का स्वामी बना लिया है। यह विचार कुछ अतिशयोक्ति प्रतीत हो सकता है किंतु इस बात से अस्वीकार नही किया जा सकता कि वर्ग तंत्र आज भी कायम है। यद्यपि आज का वर्ग-तंत्र जन पर आधारित नही है। वह सरकारी सेवा का वर्ग-तंत्र है, धन का वर्ग-तंत्र है और ज्ञान का वर्ग-तन्त्र है। इन सब को एक साथ मिला देने के बाद एक प्रशासकीय वर्ग बन जाता है जिसको हम सरकारी सत्ता का स्वामी कह सकते है।

इतिहास के अध्ययन के आधार पर अनेक विचारक यह मानते है कि अतीतकालीन वर्गतन्त्रात्मक व्यापक व्यवस्था अमूर्तताओं मे विलीन हो गई। मि. पैरेटो ने बताया है कि इतिहास वर्गतन्त्र की श्मशान भूमि है। वर्ग तंत्रात्मक व्यवस्था ने समाज के प्रभावो से समय-समय अपने स्वरूप को ही परिवर्तित नही किया है वरन् इसने स्वय भी सामाजिक क्षेत्रों मे अनेक युद्धो मे विजय प्राप्त की है। अतीत का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि साहस, मस्तिष्क और रक्त की पवित्रता से युक्त उच्च वर्ग के लोगों ने समाज को बदलने में महत्वपूर्ण योगदान किया। यूनान की संस्कृति, इटली की पुनर्जागृति और राजतन्त्रात्मक यूरोप की उपलब्धिया मुख्य रूप से उन समाजो की सृष्टि हैं जिनमें श्रेष्ठ पुरुषो का विशिष्ट वर्ग शासन करता था। ग्रेट ब्रिटेन आदि देशों मे तो शासन व्यवस्था मे इन श्रेष्ठ पुरुषों को विशेष स्थान प्रदान किया हुआ था। इन देशों मे से अधिकाश ने बुद्धि और सर्वोच्च सद्गुणों के स्वाभाविक वर्गतन्त्र को मान्यता प्रदान की थी। राजनीति शास्त्र के आदि विचारक प्लेटो ने दार्शनिकों के हाथ में राजनैतिक शक्ति सौंपने का उपक्रम

किया। मि० हैरिंग्टन (Harington) ने संवैधानिक राजतन्त्र के प्रधान आश्रय के रूप में श्रेष्ठ वर्ग के आदर्श को प्रस्तुत किया। उनके कथनानुसार राज्य की रचना में, उसको प्रशासित करने में तथा उसकी सेवाओं का संचालन करने मे महान् वकीलो, सभी व्यवसायों के महान् व्यक्तियों तथा उच्च श्रेणी के बुद्धि वाले लोगो ने बहुत कुछ किया। इनका मत था कि जो लोग स्वयं अपने आपको उच्च वर्ग का सदस्य कहते है वे श्रेष्ठ नही है। इस प्रकार के लोग सरकार के लिए सबसे कम उपयुक्त होते है। इस प्रकार के लोग यदि सन्त महात्मा हो सकते है किन्तु वे असल मे सभी को सरकार के कार्यों से बाहर रखना चाहते है। उच्च वर्ग के लोगों में सद्गुणों का होना जरूरी है। इसके बिना उनके आचरण मे वे मूल्य एवं विश्वास नही आ सकते जिन पर कि समाज को आधारित होना चाहिए। सद्गुणों के अभाव मे उच्च वर्ग के लोग शक्ति के एकाधिकार का दावा नही कर सकते। आजकल इस वर्ग के लोगों की शक्ति का औचित्य सास्कृतिक रचनात्मकता पर भी आधारित माना जाता है। वरनर जेगर (Werner Jaeger) के मतानुसार सस्कृति सरल रूप मे एक राष्ट्र का वर्गतन्त्रात्मक आदर्श है। इसका अत्यन्त बौद्धिकीकरण कर दिया जाता है। श्रेष्ठ गुणों को एक राष्ट्र की सस्कृति के निर्माण का प्रधान आधार माना जाता है। मि० बर्क (Burke) ने यह माना था कि सज्जनता या महानता नागरिक व्यवस्था के लिए एक सुन्दर आभूषण है।

जो समाज उच्च सस्कृति से पूर्ण होता है उसमे कुलीन पुरुषों के द्वारा सास्कृतिक रचना से महत्वपूर्ण योगदान किया जाता है। इस समाज के अनेक लोग बड़े प्रभावशाली होते है। कुलीन पुरुषों मे से ही अधिकांश युद्ध के कुशल संचालक होते है, सरकारी कार्यों के जानकार नेता होते है और समाज को दिशा प्रदान करने मे वे प्रमुख व्यक्ति होते है। कुलीनता और तलवार के बीच बहुत समय तक संघर्ष रहा है और इसके परिणामस्वरूप एक नयी सतति पैदा हुई। १७ वी शताब्दी के अन्त मे मि० ला ब्रूएरे (La Bruyere) ने लिखा था—"कुलीन पुरुष यदि अपने प्रान्त में घर पर रहता है तो वह स्वतन्त्र रहेगा किन्तु उसका कोई प्रभाव नही होगा और यदि वह दरबार मे रहता है तो उसकी देखभाल की जायगी किन्तु वह एक दास के समान रहेगा।" कहने का अर्थ यह है कि इस काल तक राजनीति और प्रशासन मे कुलीनता का प्रभाव घट चुका था।

विशिष्ट वर्ग का सास्कृतिक निर्माण मे योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। कार्ल मानहीम (Karl Mannheim) के मतानुसार विशिष्ट वर्ग का यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। पैरेटो की तरह इन्होने राजनैतिक

क्रियाओं को अन्य सांस्कृतिक क्रियाओं के साथ एकरूप कर दिया है किन्तु फिर भी वे विशिष्ट वर्ग को कुछ रूपों में विभाजित करते हैं। उनके अनुसार विशेष वर्ग को राजनैतिक, संगठनकर्ता (Organiser), बौद्धिक (Intellectual), कलात्मक (Artistic), नैतिक एवं धार्मिक आदि विभिन्न रूपों में विभाजित किया जा सकता है। उन्होंने राजनैतिक और संगठनकर्त्ता विशिष्ट वर्गों को दूसरों के साथ एकीकरणकर्त्ता विशिष्ट वर्ग माना है और इस प्रकार के विशिष्ट वर्ग के विकास को समाज के वर्ग पहलू से सम्बन्धित किया है। मि० मानहीम ने यह स्वीकार किया है कि उनकी इस धारणा को एक मुक्त समाज में लागू करना कठिन है जहां पर कि केवल कार्य सम्पन्नता और उपलब्धियां ही महत्व रखती हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार के समाज में विशिष्ट वर्गों का परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से हो सकता है।

मानहीम का यह मत कुछ सही प्रतीत होता है कि विशिष्ट वर्ग द्वारा संस्कृति की रचना में विशेष कार्य किया जाता है किन्तु कथन की सत्यता केवल तभी सिद्ध होती है जबकि इस पद को हम गैर सरकारी अर्थ में लेते हैं। जब विशिष्ट वर्ग को सरकार से सम्बन्धित मान लिया जाता है तो इसका यह योगदान अधिक उल्लेखनीय नहीं रह जाता। अनेक विचारकों की यह मान्यता है सांस्कृतिक निर्माण का कार्य सरकारी विशिष्ट वर्ग द्वारा भी किया गया है। उदाहरण के लिए लाल चीन के लाल रक्षकों (Red Guards) का नाम लिया जा सकता है जो कि सांस्कृतिक क्रान्ति में रत है। यह बात चाहे तथ्य हो या केवल प्रचार किन्तु यह हमारे अध्ययन की दृष्टि से महत्व रखता है।

राजनैतिक विशिष्ट वर्ग और राजनैतिक विकास
(Political Elites and Political Development)

समाज के विशिष्ट वर्ग के हाथों में राजनैतिक शक्ति अकारण ही नहीं सौंपी जाती। यह ठीक है कि इस तथ्य को प्राप्त करने में इस वर्ग के लोगों की बुद्धिमता का विशेष योगदान होता है किन्तु फिर भी इसे बहुसंख्यक जन समुदाय द्वारा जो औचित्य प्रदान किया जाता है उसका आधार वे कार्य है जो कि इस वर्ग के लोग सम्पन्न करते हैं तथा वे उपयोगितायें है जो कि इस वर्ग द्वारा शेष लोगों को प्रदान की जाती है। विशिष्ट वर्ग सांस्कृतिक निर्माण, आर्थिक संरचना, सामाजिक सुधार एवं भौतिक प्रगति आदि विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण रूप से योगदान करता है। विशिष्ट वर्ग के लोगों का सम्मान और महत्व विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों में अधिक होता है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि विकसित देशों में विशिष्ट वर्ग और सामान्य जन

के बीच का अन्तर बहुत कम होता है और इसलिए बहुसंख्यक लोग विकास के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विशिष्ट वर्ग पर ही आश्रित नही रहना चाहते। दूसरी ओर, विकासशील देशों में अधिकांश जनता की भौतिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि क्षमताए अत्यन्त अल्प होती है। ऐसी स्थिति मे विशिष्ट वर्ग के ऊपर भारी उत्तरदायित्व आ जाता है। एशिया और अफ्रिका के नवोदित राज्यो मे विशिष्ट वर्ग के लोगो का व्यापक महत्व है।

मि० एडवर्ड शिल्स (Edward Shils) ने यह माना है कि बुद्धिजीवियो ने नये राज्यो के राजनैतिक विकास मे बहुत योगदान किया है। उनका कहना है कि अफ्रीका और एशिया के नये राज्यो का जीवन बहुत कुछ बुद्धिजीवियो का ही कार्य है। मि० शिल्स के शब्दो मे "समस्त मानव इतिहास मे किसी भी राज्य रचना मे बुद्धिजीवियों ने ऐसा योगदान नही किया जैसे कि वे वर्तमान शताब्दी की इन घटनाओ मे कर रहे हैं।" आज की परिस्थितियो मे यह कथन सार रखता है। अतीतकाल मे नये राज्यों की स्थापना भिन्न प्रकार से होती थी जैसे सैनिक विजय द्वारा, किसी वीर पुरुष के नेतृत्व मे एक सगठन द्वारा की गयी क्रान्ति से अथवा एक राजकुमार द्वारा शादी, सहमति और विजय के माध्यम से, धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाकर अथवा सैनिक क्रांति के माध्यम से। प्रजा से तो केवल यह कहा जाता था कि वह स्थित व्यवस्था को औचित्यपूर्ण मान ले। इसके लिए राजा के दैवीय अधिकारो का सिद्धान्त या ऐसी ही अन्य मान्यताएं प्रचलित की जाती थी। उस समय बुद्धिजीवी वर्ग का अधिक महत्व नही था। सार्वजनिक जीवन में बुद्धिजीवियों का महत्वपूर्ण योगदान आधुनिक युग की ही विशेषता है। आज की राजनीति एक क्रान्तिकारी राजनीति है और इसलिए इसमें बुद्धिजीवियो का महत्वपूर्ण स्थान है। आज जो अपने प्रशिक्षण के द्वारा बुद्धिजीवी नही है वे भी बुद्धिजीवी बनने के लिए बाध्य किये गये है क्योंकि आधुनिक क्रान्तिकारी राजनीति की प्रकृति विचारधारागत है। एशिया और अफ्रीका के नये राज्यो में इन बुद्धिजीवियो के महत्वपूर्ण योगदान के कुछ अन्य आधार भी है। पहली बात तो यह है कि यहा का बुद्धि वर्ग उन्ही मे से निकला है जो कि क्रान्तिकारी या गैर सवैधानिक राजनीति मे भाग ले रहे थे। स्वतन्त्रता से पूर्व इन राज्यो की राजनीति के सीमित क्षेत्र मे बुद्धिजीवियो की उल्लेखनीय स्थिति थी। वे राज्य के निर्माण एवं प्रशासन मे किसी अन्य को अपनी समता नही करने देना चाहते थे। असल में इन बुद्धिजीवियों पर ही उनके राष्ट्र के अस्तित्व का प्रश्न निर्भर था। उन्होंने चेतना और आत्मविश्वास के साथ उपनिवेशवादी शक्तियो को चुनौती दी और भौतिक नेतृत्व के अधीन विरोधी आंदोलनो को जन्म दिया।

मि० शिल्स के मतानुसार अविकसित देशों के बुद्धिजीवियों के राजनैतिक प्रभुत्व का एक कारण निषेधात्मक भी है और वह यह है कि इनके अतिरिक्त कोई था भी नही जो शक्ति को सम्भालता। अधिकाश उपनिवेशवादी देशों में विदेशियों को सत्ता छोड़ने से पहले ही राजवंशों का पतन प्रारम्भ हो चुका था और बाद में तो राष्ट्रवादी आन्दोलनों ने उनका रहा-सहा महत्व भी समाप्त कर दिया। विदेशी शासन के विरुद्ध लड़ने के लिए राष्ट्रवादियों के पास कोई सैनिक शक्ति नही थी, वे आर्थिक क्षेत्र में सत्ताधारियों से मुकाबला नही कर सकते थे और विरोध का अन्य कोई माध्यम भी उनके पास नही था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि यहा के लोग बुद्धिजीवियो के नेतृत्व में संगठित हो जाते। वैसे बुद्धिवादियों के राजनीति मे प्रवेश का यह एक कारण मात्र था किन्तु एक मात्र कारण नही था। यह सच है कि यहा के बुद्धिवादी लोग राजनीति में केवल इसलिए नहीं उतरे क्योंकि जनसंख्या के अन्य भाग अपने दायित्वो को नही निभा रहे थे वरन् वे इसलिए उतरे क्योंकि उनको आन्तिरिक रूप से एक आवाज ने पुकारा और बाहरी रूप से एक विधायी प्रेरणा ने उनको सहारा दिया। मि० शिल्स के शब्दों मे "अर्द्ध विकसित देशो में उपनिवेशवादी शासन के अधीन यदि किसी राजनीति का अस्तित्व था तो वह राजनीति बुद्धिजीवियो की राजनीति थी।" नये राज्यों मे बुद्धिजीवी लोग वे थे जो कि आधुनिक व्यापार या प्रशासन के तरीकों में घुलमिल नहीं गये थे वरन् जो कि किसी कालेज या विश्वविद्यालय में आधुनिक बौद्धिक संस्कृति को अपना चुके थे। आजकल की बौद्धिक संस्कृति की प्राप्ति पर्याप्त महत्व रखती है क्योंकि इसके माध्यम से ही स्वयं का आंशिक रूप से परिवर्तन सम्भव हुआ और मृत की सत्ता का जीवित की सत्ता के साथ सम्बन्ध बदला।

अर्ध-विकसित देशों मे बौद्धिक वर्ग के लोगो ने जिन व्यवसायो को अपनाया हुआ है, वे है—नागरिक सेवा, पत्रकारिता, कानून, अध्यापन, चिकित्सा आदि। ये कुछ ऐसे व्यवसाय है जिनमें बुद्धि-जीवी वर्ग के लोग पाए जाते हैं और जिनके लिए बुद्धिजीवी होने का प्रमाण पत्र या कुशलता का होना आवश्यक है। इन्जीनियरिंग या लेखा आदि से सम्बन्धित कुछ अन्य व्यवसाय भी है जिनको कुछ-कुछ बुद्धिजीवियों का समझा जाता है किन्तु असल में उन्हें पूर्ण रूप से बुद्धि-जीवी नहीं कहा जा सकता। अर्ध विकसित देशो मे बुद्धिजीवियों के व्यवसाय का जो रूप है वह विकसित देशों की अपेक्षा भिन्न है। अर्ध-विकसित देशों मे व्यवसाय का वितरण वहां के आर्थिक विकास के ऊपर निर्भर करता है। ये देश गरीब देश रहे हैं। इनमें मध्यम वर्ग का प्रकार से अभाव था। यहां ऐसे लेखकों और विद्वानों का अभाव

केवल अपने लेखन कार्य के आधार पर ही जीवकोपार्जन कर सके। इनमें तकनीकी बुद्धिजीवियों का बहुत छोटा सा वर्ग था। इनमें भौतिकशास्त्री, इतिहासकार, दार्शनिक आदि के वैज्ञानिक एवं माननीय सेवी वर्ग के उच्च स्तर का अभाव था जिसके द्वारा कि बौद्धिक वर्ग को संचालित किया जाता है और आधुनिक बौद्धिक दृष्टिकोण को प्रसारित किया जाता है। उपनिवेशवादी शासन के समय इन देशों में ये व्यवसाय प्रायः नहीं थे और स्वतन्त्रता के बाद भी ये शीघ्र ही विकसित न हो पाए। उपनिवेशवादी शासन के अधीन ये इसलिए नहीं थे क्योंकि गरीबी और औद्योगिक विकास के अभाव ने तकनीकी बुद्धिजीवियों की मांग पैदा ही नहीं होने दी, क्योंकि अशिक्षा ने साहित्यिक व्यक्तित्वों के उपज के बाजार को ही बंद कर दिया और आधुनिक बुद्धिजीवी की रचना में जो उच्च स्तर आवश्यक होते हैं उन्हें प्रदान करने में ये गरीब देश असमर्थ रहे।

उपनिवेशवादी शासन के अधीन अर्द्ध-विकसित देशों में वह प्रभावशील मांगें नहीं थीं जो आधुनिक बौद्धिक वर्ग को अपने विभिन्न रूप विकसित होने के लिए अवसर देती है। जो लोग बौद्धिक योग्यताएं प्राप्त कर लेते थे वे अपनी कुशलताओं को प्रदर्शित करने के लिए केवल कुछ ही विशेषताएं रखते थे। यद्यपि इन लोगों का आकर्षण उच्च नागरिक सेवाओं के प्रति रहता था किन्तु यहां उनके लिए अवसर कम थे क्योंकि इनका आकार कम था और इसके अतिरिक्त ये पद मुख्य रूप से विदेशियों द्वारा पहले से ही भरे हुए थे। जहां तक पत्रकारिता का सम्बन्ध है वह अशिक्षित देश में विकसित होने के बहुत कम अवसर रखती है तथा यह आमदनी का प्रमुख स्रोत नहीं बन सकती। उपनिवेशवादी शासन के आधीन पत्रकारिता बहुत कुछ एक गैर-लाभदायक राजनैतिक मिशन था न कि व्यापारिक रूप से कोई आकर्षक व्यय। मेडिकल व्यवसाय में अध्ययन का खर्चा इतना बैठता है कि उसे केवल कुछ ही लोग सहन कर सकते थे। कोई प्रभावशील मांग न होने के कारण तथा इन पदों पर पहले से ही विदेशियों के जमे होने के कारण स्वदेशी लोगों को कोई प्रेरणा नहीं मिल पाती थी। अध्यापन का कार्य नीचे के स्तर पर बुद्धिजीवियों के लिए अनाकर्षक था क्योंकि इसके लिए उनको दूर गावों में रहना होता था जहां पर कि वे अपने बड़े शहरों के प्रकाश से दूर और समस्त हितों से दूर जाकर बसते थे। इसके अतिरिक्त इस व्यवसाय में आय भी न के बराबर थी।

कानूनी व्यवसाय में बुद्धिजीवियों ने प्रवेश पाने का इरादा किया। उन्होंने कानून का अध्ययन करके कानूनी व्यवसाय का व्यवहार प्रारम्भ किया। यहां अध्ययन का समय कम और खर्चीला कम था और साथ ही इस पर कोई

जातीय प्रतिबन्ध नहीं थे, इसके अतिरिक्त कानून सेवाओं के लिए पर्याप्त प्रभावशील मांग भी थी। व्यवसाय के मन्द अवसरों ने कालेज और विश्वविद्यालय के अध्ययन को अनाकर्षक बना दिया। यदि कोई व्यक्ति मेहनत और त्याग करके बुद्धिजीवी का स्तर प्राप्त कर भी लेता था तो उसे या तो किसी सरकारी विभाग में अथवा किसी विदेशी व्यापारिक फर्म में केवल एक लिपिक का स्थान मिल पाता था। इन सब परिस्थितियों में वकालत का अध्ययन अधिक उपयुक्त माना जाता था। इस व्यवसाय में पर्याप्त रिक्त समय प्राप्त होता है और इस रिक्त समय का उपयोग युवक वकीलों ने राजनैतिक क्रियाओं में भाग लेकर किया। अर्द्ध-विकसित देशों के बुद्धिजीवी प्राय. उच्च स्तर के लोग होते थे। वे प्रमुखों, कुलीनों, जमीदारों, मन्त्रियों अथवा अन्य उच्च तबके के लोगों की सन्तान होते थे। किसी-किसी देश में ये लोग सम्पन्न व्यापारी वर्ग से आते थे। इस सामाजिक पृष्ठभूमि में रहने पर अर्द्ध-विकसित देशों के बुद्धिजीवी अपने कम आय के साथ भी अपने व्यवसाय को संचालित कर सकते थे। वकील बन जाने पर भी एक बुद्धिजीवी यह आशा नहीं कर सकता था कि उसे उपयुक्त आय प्राप्त हो सकेगी क्योंकि इस क्षेत्र में कुछ जमे हुए लोग होते थे और उनके आगे नये लोगों का व्यवसाय चल नहीं पाता था। ये असफल वकील राजनीति में सक्रिय होकर अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध करने में लग जाते थे।

अर्द्ध-विकसित देशों में विद्यार्थियों का एक अत्यन्त प्रभावशाली वर्ग था जो अपने आपको बुद्धिजीवी कहता था। विकसित देशों में विद्यार्थियों को पदेन बुद्धिजीवी नहीं माना जा[illegible]
ऐसा माना जाता था। इन देशों के [illegible]
के छात्रों को बुद्धिजीवी वर्ग का एक भा[illegible]
भी अपने आपको ऐसा ही मानते हैं। विद्यार्थियों को अपने देशवासियों का दोहरा समर्थन मिला। उनकी संख्या कम होने के कारण उन्हें समाज के आदरपूर्ण, सुरक्षित और अच्छी आय वाली स्थिति के योग्य माना गया। इसके अतिरिक्त उनमें विदेशी शासकों के प्रति शान्ति की भावना थी जिसने उनके प्रति वरिष्ठ लोगों के दिल में प्रशंसा और विश्वास उत्पन्न किया जो कि स्वयं राष्ट्रवादी भावना में ओतप्रोत थे। इन देशों में विद्यार्थियों की राजनैतिक सम्भावनाएं बहुत कुछ उनके क्रान्तिकारी विचारों की उपज थी। इनकी शिक्षा ने परतन्त्र में उनका रहना दूभर कर दिया था। वे समझने लगे कि उनके समस्त कष्टों का कारण विदेशी शासन है और इसलिए उसको समाप्त करना व्यावहारिक और नैतिक दोनों ही दृष्टियों से उपयुक्त है।

(2) अर्द्ध-विकसित देशों की एक विशेषता यह भी थी कि यहां के ब

बुद्धिजीवियों को राजनीति में भाग लेने को प्रेरित करने के लिए विभिन्न तत्वों ने योगदान किया। इनमें राष्ट्रवाद एक है। अर्ध-विकसित देशों के बुद्धिजीवियों में उपनिवेशवादी शक्तियों की नीतियों ने राष्ट्रवाद की भावना पैदा की। युग की परिस्थितियों में आधुनिक परिस्थिति, जिसे विदेशी संस्कृति कहा गया, अर्द्ध-विकसित देशों की संस्कृति के रूप को बदलने लगी। इसके परिणामस्वरूप उन देशों के संविधानिक राजनीतिज्ञों की प्रथम पीढ़ी, बहुत कुछ पश्चिमीकृत थी। उसके बाद पुरानी सन्तति के प्रति विरोध पैदा हुआ और बाद में अपनी प्राचीनता के गौरव की खोज की जाने लगी। युवक-वर्ग के लोग अपनी परम्परागत संस्कृति में महत्वपूर्ण तत्वों का अन्वेषण करने लगे। उनमें आत्म-सम्मान और आत्म-जागरूकता की भावना पैदा हुई।

आधुनिक बुद्धिजीवियों को पश्चिमी शक्तियों से असन्तोष मिला उसके कई आधार थे। इनमें पहला यह था कि यह शक्तियां उनको नागरिक सेवा में प्रवेश पाने या आगे बढ़ने से रोकती थीं। इसके अतिरिक्त इन बुद्धिजीवियों के मन में हमेशा एक बेइज्जती की भावना रहती थी क्योंकि विदेशी शासक और विदेशी व्यापारी हमेशा ऐसी नीतियां अपनाते थे जो स्वदेशियों के हित और सम्मान के विरुद्ध थीं। अर्द्ध-विकसित देशों के बुद्धिजीवियों का असन्तोष जीवन के सांस्कृतिक, बौद्धिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक और व्यक्तिगत आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त हो गया। इन सबके परिणामस्वरूप बुद्धिवर्ग के लोग राजनीति के अखाड़े में उतरे। पहले उन्होंने विचार किया कि संवैधानिक सुधार प्राप्त करके अपनी स्थिति को ठीक करने का प्रयास करें किन्तु जब विदेशी शक्तियों ने संवैधानिक सुधार के आन्दोलन को दबा दिया तो वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को अपना उद्देश्य बनाने लगे। अधिकांश राजनैतिकीकरण बुद्धिवादियों की यह मान्यता बन गई कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद अन्य बातें स्वतः ही मिल जायेंगी। राष्ट्रवाद इन लोगों की प्रेरणा का प्रमुख स्रोत रहा। राष्ट्रवादी भावनाओं एवं महत्वाकांक्षाओं ने इन बुद्धिवादियों की राजनीति को सहारा दिया, विदेशी भाषा ने प्रतिदिन के बुद्धिवादी जीवन में राष्ट्रवाद की शक्ति को सींचा। फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन करने के बाद ये लोग स्वतन्त्रता की भावना से ओतप्रोत हो गये। राष्ट्रवाद के अतिरिक्त समाजवादी विचारों ने यहां के बुद्धिवादियों के व्यवहार को पर्याप्त प्रभावित किया। समाजवादी विचार करिश्मावादी सत्ता के प्रति भावनाओं, सामान्य मानवीयता एवं देश की गरीबी के कारण पनपे। इसके अतिरिक्त शिक्षा और राष्ट्रवाद की भावना ने भी समाजवादी विचारों को सहारा दिया।

जीवी लोग प्रायः बेरोजगार थे। ये बेरोजगार और महत्वाकांक्षी विद्यार्थी स्वाभाविक रूप से विदेशी शासकों एवं संवैधानिक राजनीतिज्ञों के लिए चिन्ता के विषय थे। इन बेरोजगार बुद्धिजीवियों ने सरकार को उखाड़ने में अपना सब कुछ लगाने का संकल्प किया।

विद्यार्थियों में जितनी बेरोजगारी थी उससे अधिक अनुपयुक्त रोजगारी या असन्तोषजनक व्यवसाय था। थोड़े बहुत समय में ही प्रत्येक विद्यार्थी को वह पद ग्रहण करने के लिए मजबूर होना पड़ता था जिसे कि वह दिल से नहीं चाहता था और जो उसकी आकांक्षाओं के अनुकूल नहीं होता था।

अर्ध-विकसित देशों में बुद्धिजीवियों की जो स्थिति थी उसमें राजनैतिकरण (Politicization) होना अस्वाभाविक या आश्चर्य की बात नहीं थी। इन देशों में चलने वाले राजनैतिक आन्दोलनों की प्रगति कुछ ऐसी थी जिन्होंने करिश्मावादी व्यक्तित्व को राजनैतिक जीवन में महत्व प्रदान किया। जब इन देशों के बुद्धिजीवियों ने राजनीति में प्रविष्ट होने का विचार किया तो वे अपना सब कुछ छोड़ने को तैयार थे, इस प्रकार राजनीति इनके अस्तित्व के लिए सर्वेसर्वा बन गयी। जिन लोगों को अपने सरकारी पद के छूटने का डर नहीं था अथवा जिनको भौतिक या मनोवैज्ञानिक लाभों से वंचित होने का डर नहीं था उनका उच्च रूप से राजनैतिकीकरण (Politicisation) हो गया। अनेक विद्यार्थियों ने अपना कोई व्यवसाय अपनाने की दृष्टि से सोचा ही नहीं और वे सीधे ही आन्दोलनों में भर्ती हो गए और उन्होंने क्रांतिकारी राजनीति को अपना लिया। अर्ध-विकसित देशों में बौद्धिक वर्ग के लोगों का राजनीति में एक बड़ी मात्रा में उलझना एक अत्यन्त जटिल वातावरण का कारण बन गया। ये लोग सत्ता के पर्याप्त विरोध में रुचि लेते थे। इन्होंने शक्तिशाली परम्पराओं की शक्ति को भी चुनौती प्रदान की और इस चुनौती को सफलता के स्तर तक लाने के लिए राज्य की आवश्यकता को महसूस करने लगे। उनके मस्तिष्क में नये मूल्य और व्यवहार घूम रहे थे। वे परम्परागत मूल्यों को तोड़ कर उनके स्थान पर नये मूल्य स्थापित करना चाहते थे। इसके लिए वे राजनीति में प्रविष्ट हुए। राजनीति में बुद्धिवर्ग के लोगों के प्रविष्ट होने का एक अन्य कारण यह था कि ऐसा करने से बेरोजगार लोग कुछ समय के लिए अपने आपको कार्यरत समझने लगते थे और उनको अपना जीवन निरर्थक प्रतीत नहीं होने लगता था। इन देशों के करिश्मावादी नेतृत्व ने बुद्धिजीवियों के अन्दर ऐसा प्रभाव पैदा किया कि वे झुकते चले गये। अर्ध-विकसित देशों में नागरिकता की परम्परायें बहुत कमजोर थीं और इसलिए इनमें बुद्धिजीवी एवं गैर-बुद्धिजीवी दोनों ही पर्याप्त प्रभावित हुए।

बुद्धिजीवियों को राजनीति में भाग लेने को प्रेरित करने के लिए विभिन्न तत्वों ने योगदान किया। इसमें राष्ट्रवाद एक है। अर्द्ध-विकसित देशों के बुद्धिजीवियों में उपनिवेशवादी शक्तियों की नीतियों ने राष्ट्रवाद की भावना पैदा की। युग की परिस्थितियों में आधुनिक परिस्थिति, जिसे विदेशी संस्कृति कहा गया, अर्द्ध-विकसित देशों की संस्कृति के रूप को बदलने लगी। इसके परिणामस्वरूप उन देशों के संविधानिक राजनीतिज्ञों की प्रथम पीढ़ी, बहुत कुछ पश्चिमीकृत थी। उसके बाद पुरानी सन्तति के प्रति विरोध पैदा हुआ और बाद में अपनी प्राचीनता के गौरव की खोज की जाने लगी। युवक-वर्ग के लोग अपनी परम्परागत संस्कृति में महत्वपूर्ण तत्वों का अन्वेषण करने लगे। उनमें आत्म-सम्मान और आत्म-जागरूकता की भावना पैदा हुई।

आधुनिक बुद्धिजीवियों को पश्चिमी शक्तियों से असन्तोष मिला उसके कई आधार थे। इनमें पहला यह था कि यह शक्तियां उनको नागरिक सेवा में प्रवेश पाने या आगे बढ़ने से रोकती थी। इसके अतिरिक्त इन बुद्धिजीवियों के मन में हमेशा एक बेइज्जती की भावना रहती थी क्योंकि विदेशी-शासक और विदेशी व्यापारी हमेशा ऐसी नीतियां अपनाते थे जो स्वदेशियों के हित और सम्मान के विरुद्ध थी। अर्द्ध-विकसित देशों के बुद्धिजीवियों का असन्तोष जीवन के सांस्कृतिक, बौद्धिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक और व्यक्तिगत आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त हो गया। इन सबके परिणामस्वरूप बुद्धिवर्ग के लोग राजनीति के अखाड़े में उतरे। पहले उन्होंने विचार किया कि सवैधानिक सुधार प्राप्त करके अपनी स्थिति को ठीक करने का प्रयास करें किन्तु जब विदेशी शक्तियों ने संवैधानिक सुधार के आन्दोलन को दबा दिया तो वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को अपना उद्देश्य बनाने लगे। अधिकांश राजनैतिकीकरण बुद्धिवादियों की यह मान्यता बन गई कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद अन्य बातें स्वतः ही मिल जायेंगी। राष्ट्रवाद इन लोगों की प्रेरणा का प्रमुख स्रोत रहा। राष्ट्रवादी भावनाओं एवं महत्वाकांक्षाओं ने इन बुद्धिवादियों की राजनीति को सहारा दिया, विदेशी भाषा ने प्रतिदिन के बुद्धिवादी जीवन में राष्ट्रवाद की शक्ति को सींचा। फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन करने के बाद ये लोग स्वतन्त्रता की भावना से ओतप्रोत हो गये। राष्ट्रवाद के अतिरिक्त समाजवादी विचारों ने यहां के बुद्धिवादियों के व्यवहार को पर्याप्त प्रभावित किया। समाजवादी विचार करिश्मावादी सत्ता के प्रति भावनाओं, सामान्य मानवीयता एवं देश की गरीबी के कारण पनपे। इसके अतिरिक्त शिक्षा और राष्ट्रवाद की भावना ने भी समाजवादी विचारों को सहारा दिया।

अर्द्ध विकसित देशों के बुद्धिजीवी अपने आप में कुछ विशेषता रखते हैं। ये सामान्य रूप से सत्ता के प्रति स्वामीभक्त होते हैं। वे स्थित सत्ता के वितरण को सामाजिक और आर्थिक असमानता का कारण मानते हैं और सत्ता का नये रूप में वितरण करने का प्रयास करते हैं ताकि आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को दूर किया जा सके। अपने राज्य की स्थिति के प्रति उनका विरोध, वर्तमान सत्ता के प्रति अविश्वास एवं करिश्मावादी विकल्प के प्रति उन्हें विश्वास पैदा होता है। ये राष्ट्र का कल्याण करने की व्यापारियों की क्षमता में विश्वास नहीं करते थे। जो लोग धन की चाह में रत रहते हैं उनके चेतन या अचेतन मन में बहुत कम सहानुभूति रहती है। परम्परागत संस्कृतियों में से प्रायः किसी ने भी व्यक्तियों को उच्च स्थान प्रदान नहीं किया है। परम्परागत संस्कृति का विरोध करते हुए भी बुद्धिवादी लोग उन व्यापारियों को सम्मान प्रदान न कर सके जिनको प्राचीन संस्कृति ने कोई महत्व नहीं दिया था। जब बुद्धिजीवियों ने अपने देश की बढ़ती गरीबी का अनुभव किया तो उनमें समाजवादी विचार अंकुरित हुए।

विदेशी सत्ता की नीतियों से असन्तुष्ट रहते हुए इन देशों के बुद्धिजीवी वर्ग ने विरोध करने की अपनी एक आदत बना ली। पहले तो उन्होंने संवैधानिक सत्ता का विरोध किया, उसके बाद जब वे स्वतन्त्र हो गए तो उनका विरोध स्वयं की सरकार के प्रति हुआ। उनकी यह विरोध की भावना आन्दोलन, अवज्ञा या प्रतिनिधि संस्थाओं में असहयोगपूर्ण योगदान आदि विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई। जहां कहीं भी बुद्धिवर्ग को सत्ता के उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार का अवसर नहीं मिला वहीं वह विरोध बन गया। जब तक इस वर्ग को राजनैतिक शक्ति में योगदान का अवसर प्राप्त न हुआ तब तक उसकी एकमात्र नीति विरोध करना बनी रही।

अर्द्ध विकसित देशों में बुद्धिजीवियों की राजनीति विभिन्न स्तरों में हो कर निकली। मि० शिल्स (Shills) ने इसके तीन स्तरों का वर्णन किया है। इसका पहला स्तर संवैधानिक उदारवाद और नैतिक नवीनीकरण से युक्त था। संवैधानिक उदारवाद के युग में इन प्रदेशों की राजनीति वकीलों और पत्रकारों की राजनीति थी। ये लोग भलीभांति शिक्षित थे। उनमें से अधिकांश लोग राजधानी प्रदेश के देशों में पढ़े थे और इसलिए उन्होंने वहाँ की संस्कृति को अपना लिया था। ये लोग हमेशा क्रांतिकारी नहीं रहे और तत्कालीन भविष्य में कभी स्वतन्त्रता की आकांक्षा नहीं रखी। इस युग में इन लोगों की प्रमुख समस्या यह थी कि विदेशी शासकों ने उनके

देशवासियों को नागरिक सेवा में प्रविष्ट होने से रोक दिया था। इन लोगों की यह भी इच्छा थी कि व्यवस्थापिका संस्था मे उन जैसे लोगों के अधिक प्रतिनिधि होने चाहिए। इन कानून व्यवसाय के लोगों ने एक कुशल वक्ता की योग्यतायें विकसित की और अपने देश मे स्थित सत्ता के साथ विचार करने के लिए आत्मविश्वास पैदा किया। वकालत का व्यवसाय होने के कारण उनको राजनीति मे भाग लेने के लिये पर्याप्त अवसर भी मिला। उन्होने यथासंभव सार्वजनिक आन्दोलनों मे भाग लिया, सार्वजनिक सभायें की, पुस्तकें लिखी, पर्चे बटवाये और प्रेस के लिए लेख भेजे।

वकीलो के साथ-साथ पत्रकारो ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया। उनमे से अधिकाश पत्र उपनिवेशवादी देशो की भाषा मे थे किन्तु स्वदेशी भाषा मे भी कई एक थे। पत्रकारों मे से अधिकाश लोगों ने इस कार्य को अपना धन्धा नही बनाया था। ये प्रायः ऐसे वकील होते थे जिन्होंने अपना धन्धा छोड दिया था अथवा जो यह कार्य करने के साथ-साथ पत्रकारिता भी करते थे। इन पत्रकारो मे कुछ अध्यापक भी थे जो सरकारी सेवा की अभिलाषा रखते थे अथवा सरकारी सेवा में ही थे। इन पत्रकारो एव वकील राजनीतिज्ञो के कुछ अनुयायी भी हुआ करते थे जो प्रायः उन्ही की श्रेणी के और उन्ही के विचारों के होते थे। ये नेता और अनुयायी दोनों मिल कर समाज का एक छोटा सा भाग होते थे। केवल भारत ही एक ऐसा देश था जहा इनकी सख्या पर्याप्त थी। कम होते हुए भी इन लोगों ने अपने कार्यों से उन परम्पराओं की नीव डाली जो आज भी राजनीति मे बुद्धिजीवियों द्वारा अपनायी जाती है।

इस युग में बुद्धिवादियों ने एक अन्य राजनैतिक तरीका भी अपनाया और वह था नैतिक नवीनीकरण का। उपनिवेशवादी काल मे अर्ध विकसित देशों के राजनैतिक विकास में धार्मिक और नैतिक नवीनीकरण किये गये। जब इन देशो के लोग नवीन शिक्षा और पश्चिमी सम्पर्क के कारण अपनी संस्कृति और धर्म की दयनीय स्थिति से परिचित हुए तो इन्होने उसका नवीनीकरण करने की दिशा मे प्रयास प्रारम्भ किये। पवित्र धार्मिक पुस्तको को उठा कर नवीन परिवेश मे उनकी व्याख्या की गई। इन देशों के सास्कृतिक विकास का आन्दोलन आवश्यक रूप से और प्रत्यक्ष रूप से राजनीति से सम्बन्धित नही था। ये दोनों आन्दोलन पृथक-पृथक रूप से आगे बढ रहे थे यद्यपि उनके बीच आवश्यक सहयोग नही था किन्तु फिर भी थोडी पारस्परिक जागरुकता थी।

(2) इन देशों के राजनैतिक विकास का दूसरा स्तर वह था जब कि ये राजनीतिकीकृत राष्ट्रवाद की ओर बढ़े। इस परिवर्तन के साथ-साथ राजनैतिक क्रिया एवं श्रोताओं में भी पर्याप्त अन्तर आया। भारत वह प्रथम देश था जिसने इस आन्दोलन को क्रियान्वित किया। यहां की परम्परागत स्वदेशी संस्कृति पर्याप्त सम्पन्न और व्यापक थी इसलिये वह व्यवस्थित रूप में विकसित हो सकी। इस युग में आन्दोलनकर्ताओं ने अपने पूर्ववर्ती सुधारकों को विदेशी शासकों का सेवक बताया तथा इन्हें विदेशी संस्कृति में पूरी तरह रंगा हुआ और सरकार से पूर्णतः प्रभावित माना।

(3) बुद्धिवादी राजनीति का तीसरा स्तर वह था जिसमें बुद्धिवादी लोग एक सम्प्रभु राज्य में शक्ति-सम्पन्न बन गये। इस राज्य का शासन स्वदेशी विशिष्ट वर्ग द्वारा किया जाने लगा। इस स्तर पर आकर वे बुद्धिवादी बौद्धिक वर्ग से अलग हो गये जिन्होंने संघर्ष के फलों को पकाने में महत्वपूर्ण कार्य किया। बुद्धिवादी राजनीतिज्ञों के समूह में एक विभाजन पैदा हो गया। एक वर्ग ने शक्ति प्राप्त की और दूसरे वर्ग को बाहर रख दिया गया। जिन बुद्धिवादियों को राजनीति से अलग रखा गया था उन्हें अनुपयुक्त एवं बेकार का आलोचक बताया गया जो राष्ट्रीय हित की दृष्टि से नुकसानदायक थे। शक्ति-सम्पन्न बुद्धिजीवी लोग अब अपने आपको उस बुद्धिजीवी वर्ग को नहीं मानने लगे जिसका वे स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय मानते थे। पद की चुनौतियों एवं कार्य-भार ने उनके पर्याप्त समय को ले लिया। वे अपने दलीय नेताओं के साथ सरकारी यन्त्र के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने लगे जो अपने आप में बुद्धि वर्ग के लोग नहीं थे। बुद्धिजीवियों का दोहरापन उस समय और भी बढ़ गया जब विरोधी दल चुम्बक की तरह बुद्धिजीवियों को अपनी ओर आकर्षित करने लगे। जिन लोगों के हाथों में राजनैतिक शक्ति आई वे कभी राष्ट्रीय आन्दोलन के सक्रिय कार्यकर्ता थे और अपनी शिक्षा, व्यवसाय और स्थिति में पूरी तरह से बुद्धिजीवी थे किन्तु शक्ति प्राप्त करने के बाद इन्होंने बुद्धिजीवियों के विकास के लिये कोई भी कार्य नहीं किया। जो लोग अभी भी व्यवसाय और स्थिति की दृष्टि से अपने आपको बुद्धिजीवी वर्ग में रखते हैं उनकी आदत विरोधी दल में बैठने की बन गई है।

स्वतन्त्रता के अर्द्ध-विकसित देशों की राजनीति में बुद्धिवादियों का योगदान एक विशिष्ट रूप ग्रहण करने लगा। जो बुद्धिवादी शक्ति में आ गये उन्होंने अपनी विरोध करने की मनोवृत्ति को छोड़ दिया। पहले बुद्धिजीवी सत्ता से घृणा करते थे किन्तु जब उन्होंने इसे अपना लिया तो शीघ्र

ही इसके साथ एकरूप हो गये। अब इन्होंने राज्य और अपने आपको एक रूप बना लिया। स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष के दौरान वे यह अनुभव करते थे कि उनके द्वारा एक राष्ट्र का प्रतिनिधित्व किया जा रहा है और जो कोई भी उनका विरोध करता है वह राष्ट्रविरोधी तथा विदेशियों को अपनी आत्मा बेच चुका है। शक्ति में आने के बाद उन्होंने जब अपने आपको राज्य के साथ एकरूप कर लिया तो वे यह मान लेंगे कि जो कोई उनकी नीति से सहमत नहीं है वह राज्य का शत्रु है।

प्राकृतिक नये राज्य ने अपना जीवन इस वायदे के साथ प्रारम्भ किया कि वह देशवासियों को प्रतिनिधि सरकार और सार्वजनिक स्वतन्त्राएं प्रदान करेगा। सरकार की स्वदेशी परम्पराएं मे प्रजातन्त्रात्मक चाहे कितने भी रहे हों किन्तु इन देशों का नया सविधान इस बात का प्रमाण है कि इन नये राज्यों की स्थापना में इन बुद्धिजीवियो ने कितना योगदान दिया था। ये नवीन देश चाहे प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था को अपनायें अथवा कुलीनतन्त्र व्यवस्था को, इनके भविष्य के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बुद्धिजीवी लोग अपने स्वभाव से ही आलोचक होते हैं। प्रत्येक चीज मे भलाई और बुराई देखना बुद्धि का कार्य है और यही कारण है कि बुद्धिजीवी अधिकारी अपने आपको विरोधी दलों का सक्रिय सदस्य बना लेते है।

राजनीति शास्त्र की वर्णित सभी धारणायें कुछ तो उसका मूल आधार हैं तथा कुछ उसकी आधुनिक प्रवृत्तियों का परिचायक हैं। मानवीय व्यवहार के अध्ययन को अपनी रुचि का विषय बनाने के बाद राजनीति शास्त्र ने जो नये विकास किये उनमें इन धारणाओं का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। राजनीति शास्त्र का सन्तुलित एवं व्यापक अध्ययन करने के लिये इन समस्त धारणाओं को महत्व देना पर्याप्त उपयोगी एवं आवश्यक है।

भाग–५

प्रजातन्त्र एवं अन्य संस्थाएं

(DEMOCRACY AND OTHER INSTITUTIONS)

"प्रजातन्त्र जिस तरह राज्य का रूप हो सकता है, उसी तरह शासन का और समाज का भी और इससे आगे वह इन तीनों का मिश्रित रूप भी हो सकता है।"

—गिडिंग्ज

"वस्तुतः कोई भी सरकार कभी भी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं हुई है।"

—मैकाइवर

"मूल अधिकार व स्वतन्त्र न्यायपालिका हर संविधानवाद की सामान्य एवं अनिवार्य विशेषता है।"

—कार्टर तथा हर्ज

"प्रजातन्त्रात्मक यन्त्र के चालन में राजनैतिक दल तेल के तुल्य हैं।"

—ह्यूवर

१५
प्रजातन्त्र
(DEMOCRACY)

"प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था ही सम्पूर्ण प्रजातन्त्रवाद नहीं है। प्रजातन्त्रवाद के अनेक स्वरूप है—उन स्वरूपों में शासनतन्त्र भी है। यह स्वरूप बाद मे आता है। जब राजनीतिक संविधान में प्रजातन्त्रवाद स्थान प्राप्त कर लेता है तब उसका अर्थ यह है कि वह किसी अन्य स्थल में दीर्घकाल तक रहा है।"

—मैकान

वर्तमान काल मे प्रजातन्त्र का इतना प्रभाव है कि प्रत्येक राज्य अपने आपको किसी न किसी प्रकार से प्रजातन्त्रात्मक सिद्ध करना चाहता है। इसी प्रकार से प्रत्येक राजनीति शास्त्री भी अपने को प्रजातन्त्र का समर्थक सिद्ध करता है। यही कारण है कि प्रजातन्त्र की परिभाषा एवं अर्थ के सम्बन्ध में कोई सहमति नही हो सकी है। मि० जी० ओरवेल के कथनानुसार "प्रजातन्त्र शब्द की न केवल कोई सर्वमान्य परिभाषा ही नही है वरन् यदि ऐसा करने का प्रयास भी किया जाये तो उसका हर तरफ से विरोध किया जाता है। प्रत्येक प्रकार की सरकार के समर्थक यह दावा करते हैं कि उनकी सरकार प्रजातन्त्रात्मक है और यदि इस शब्द का कोई एक अर्थ निश्चित कर दिया गया तो वे इस शब्द का प्रयोग नही कर पायेंगे।"[1]

प्रजातन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
(The Meaning and Definition of Democracy)

'प्रजातन्त्र' का शाब्दिक अर्थ उसे परिभाषित करने की समस्या को हल्का बना देता है। साहित्यिक अर्थ मे प्रजातन्त्र का अर्थ होता है 'जनता

1. G. Orwell, Politics and the English Language, in Selected Essays, 1957. P. 149

की शक्ति' यह व्याख्या एक शब्द को शाब्दिक अर्थ प्रदान करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर पाती। इससे प्रजातन्त्र को परिभाषित करने की समस्या हल नहीं हो पाती। समस्या केवल यह नहीं है कि इस शब्द का क्या अर्थ है वरन् यह भी है कि शब्द के पीछे मूल धारणा क्या है ? जब हम मूल धारणा की खोज़ करने लगते है तो पाते हैं कि इसका शब्द से बहुत कम सम्बन्ध है। हमें ज्ञात होता है कि तथ्य और काम के बीच बहुत कम सम्बन्ध है यद्यपि प्रजातन्त्र शब्द का अर्थ कुछ-कुछ निश्चित सा है किन्तु यह वास्तविक अर्थ को समझने में बहुत कम सहायता कर पाता है। इस सम्बन्ध मे कुछ विचारकों का कहना है कि प्रजातन्त्र शब्द अपने अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अपर्याप्त है तो क्यों नहीं उसके स्थान पर किसी अन्य शब्द का प्रयोग किया जाये। राबर्ट ए. डहाल (Robert A. Dahl) ने प्रजातन्त्रों को पोलीआर्कीज (Polyarchies) का नाम प्रदान किया है।

यह तरीका भी कुछ अधिक लाभदायक नहीं है। प्रजातन्त्र शब्द का अपना एक निहित अर्थ है और किसी अन्य शब्द का प्रयोग करने मे भ्रम होने की सम्भावना रहती है। प्रजातन्त्र शब्द का केवल व्याख्या की दृष्टि से ही महत्व नहीं है वरन् इसका अपना एक प्रभाव भी है। इस दृष्टि से प्रजातन्त्र को परिभाषित करने की समस्या के दो पहलू है। एक ओर तो शब्द की व्याख्या की आवश्यकता है और दूसरी ओर उसके भविष्य का निर्णय करना है। दोनों पहलुओं द्वारा ही पूर्ण रूप से परिभाषा की जा सकेगी। प्रजातन्त्र की परिभाषा करते समय पहली बात तो यह ध्यान में रखनी चाहिये कि 'है' और 'होना चाहिये' के बीच अन्तर किया जाए। दूसरे, इस अन्तर को गलत न समझा जाये क्योंकि आदर्श और वास्तविकता एक दूसरे के साथ क्रय-विक्रय करते है। तीसरे, प्रजातन्त्र की व्याख्यात्मक और आदर्शात्मक परिभाषा के बीच भ्रम पैदा नहीं होना चाहिए। कोई भी प्रजातन्त्रात्मक आदर्श प्रजातन्त्रात्मक वास्तविकता को परिभाषित नहीं कर पाता। इसलिये वास्तविक प्रजातन्त्र कभी आदर्श प्रजातन्त्र न तो हो सकता है और न होता है।

परिभाषा की कठिनाई

प्रजातन्त्र की परिभाषा करना यद्यपि कठिन है फिर भी हम विभिन्न राजनैतिक व्यवस्थाओं को अधिक प्रजातन्त्रात्मक या कम प्रजातन्त्रात्मक कह कर पुकारते है। कुछ राज्यों के बारे मे कहा जाता है कि वहां प्रजातन्त्र नहीं है और कुछ के बारे में यह कहा जाता है कि वहां प्रजातन्त्र का सच्चा रूप है। इन दोनों के कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रजातन्त्र की कोई परिभाषा अवश्य होनी चाहिये। यदि प्रजातन्त्र की परिभाषा अवास्तविक रूप से कर दी गई तो इसके परिणामस्वरूप हमें सभी वास्तविक प्रजातन्त्रों को अस्वीकार

करना पड़ेगा। यदि प्रजातन्त्र को गलत रूप से परिभाषित कर दिया गया तो हो सकता है कि हम उस तत्व को अस्वीकार कर दें जिसे कि हम पहचान न पाये या उस तत्व को स्वीकार कर लें जिसे कि हम चाहते ही नही थे। कुछ विचारकों का कहना है कि परिभाषा भी करना कोई जरूरी नही होता, क्योंकि प्रजातन्त्रो का अस्तित्व उसके विचार को लोकप्रिय बनाने पर निर्भर करता है। इसकी एक मुख्य शर्त यह है कि प्रजातन्त्रात्मक व्यवहार का अध्ययन किया जाये। प्रजातन्त्र से सम्बन्धित गलत विचार उसके सचालन को गलत दिशा दे देते है।

भ्रमपूर्ण युग

प्रजातन्त्र की कोई निश्चित परिभाषा न होने के कारण कुछ विचारकों को यह कहना पड़ा कि हम भ्रमित प्रजातन्त्र के युग में रह रहे है। इसके लिए उत्तरदायी वैसे तो अनेक कारण हैं किन्तु जिनका उल्लेख किया जा सकता है उनमे प्रथम यह है कि किसी भी पद की इतनी विवादपूर्ण व्याख्यायें नहीं की गयी जितनी कि प्रजातन्त्र की की गई है। प्रजातन्त्र की तुलना कई बार उदारवाद और समाजवाद से की जाती है उस समय यह शब्द और भी भ्रमपूर्ण बन जाता है। प्रजातन्त्र के अर्थ के सम्बन्ध मे इलियट (Eliot) ने सन् १६०६ में लिखा था कि "प्रजातन्त्र शब्द की सामान्य लोकप्रियता को देख कर मुझे आश्चार्य होता है कि इसका कोई अर्थ भी होता है या नही क्योंकि इसके अनेक अर्थ होते है।" ईलियट के समय मे प्रजातन्त्र को विश्व के विभिन्न भागों में विरोध की दृष्टि से देखा जाता था किन्तु आज प्रजातन्त्र का कोई भी शत्रु नही है। सन् १६४६ मे यूनेस्को द्वारा किए गए एक अध्ययन में कहा गया कि "विश्व के इतिहास मे पहली बार कोई भी प्रजातन्त्र विरोधी सिद्धांत प्रतिपादित नही किया गया है। यद्यपि दूसरो के विरुद्ध प्रजातन्त्र विरोधी कार्य या दृष्टिकोण का दोष लगाया जाता है किन्तु व्यावहारिक राजनीतिज्ञ और राजनीतिक सिद्धांत शास्त्री जिन समस्याओं तथा सिद्धातो का प्रतिपादन करते है उनमें प्रजातन्त्रात्मक तत्वो पर पर्याप्त बल देते हैं।"

तथ्य यह है कि प्रजातन्त्र के नाम को इतना पवित्र बना दिया गया है कि कोई भी अपने आपको प्रजातन्त्र विरोधी कहने का साहस नहीं करता। इतने पर भी स्पष्ट रूप से कोई इसके अर्थ को नहीं समझ पाता। सन् १६४५ मे बी० डी० जावेनेल (B. D. Jouvenel) ने लिखा था कि "प्रजातन्त्र के बारे में विचार-विमर्श तथा इसके पक्ष तथा विपक्ष में दिए गए तर्क बौद्धिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं क्योंकि हम यह नही जानते कि हम किसके बारे में बात कर रहे हैं।" इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का समाधान यह है कि

प्रजातन्त्र उसी व्यवस्था को मान लीजिए जिसको कि प्रजातन्त्र कहा जाता है अर्थात् एक राजनैतिक व्यवस्था प्रजातन्त्र इसलिए है क्योंकि उसको प्रजातन्त्र कहा जाता है। इस दृष्टि से प्रजातन्त्र को उसी के नाम से समाप्त कर दिया जाएगा क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग किया जायेगा तो यह समझना सम्भव नहीं होगा कि इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है ?

वर्तमान समय में प्रजातन्त्र को जीवन के एक तरीके के रूप में प्रयुक्त किया गया है। आज केवल राजनैतिक प्रजातन्त्र का ही प्रचलन नहीं है वरन् तथाकथित आर्थिक प्रजातन्त्र और सामाजिक प्रजातन्त्र का भी प्रभाव है। इसमें राजनैतिक प्रजातन्त्र, प्रजातन्त्र के समस्त रूपों में कठिन है। यह अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में संचालित होता है। इसका इतिहास अत्यन्त पुराना है। राजनैतिक रूप से प्रजातन्त्र को करोड़ों लोगों की अनेक इच्छायें एक सत्ता में केन्द्रित करनी होती हैं। प्रजातन्त्र का आकार पर्याप्त बढ़ गया है और इसलिए उसके स्वरूप में भी परिवर्तन का होना आवश्यक तथा स्वाभाविक बन गया।

कुछ परिभाषायें

प्रजातन्त्र की परिभाषायें विचारकों ने अलग-अलग प्रकार से दी हैं। इस सम्बन्ध में कुछ एक लोकप्रिय परिभाषाओं का उल्लेख करना अनुपयुक्त न रहेगा। अब्राहम लिंकन ने प्रजातन्त्र को सरकार का ऐसा रूप माना जो कि "जनता का जनता के लिए और जनता के द्वारा होता है।" मि० सीले के कथनानुसार "प्रजातन्त्र सरकार का वह रूप है जिसमें कि प्रत्येक का योगदान होता है।" ब्राइस के कथनानुसार "हैरोडोटस के समय से ही जनतन्त्र का अर्थ उस शासन पद्धति से समझा जाता है जिसमें राज्य की प्रशासनिक शक्ति किसी विशेष वर्ग या वर्गों के हाथ में नहीं होती वरन् सम्पूर्ण समाज के हाथ में होती है।" गार्नर के कथनानुसार "जनतन्त्र सरकार का वह रूप है जिसकी रचना तथा प्रबन्ध इस सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है कि प्रत्येक वयस्क नागरिक को, जो कि किसी अपराध में दण्डित होने के कारण या किसी देश में निरक्षरता के कारण अयोग्य न समझा जाता हो, कम से कम उन व्यक्तियों के चुनाव करने की शक्ति प्राप्त होगी जिनके द्वारा वे कानून बनाये जाते हैं जो कि नागरिक को प्रशासित करते हैं। प्रत्येक नागरिक की एक निर्वाचक के रूप में आवाज बराबर की होगी।"

जो विभिन्न विचारधारायें अपने आप को प्रजातन्त्रात्मक कहती हैं उनका कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों के सम्बन्ध में मत एक नहीं है। वे इस सम्बन्ध

में अलग-अलग विचार प्रकट करते हैं कि सार्वजनिक नीतियां एक राजनैतिक व्यवस्था में किस प्रकार बनाई जाती है और किस प्रकार बनाई जानी चाहिए। कुछ के मतानुसार प्रजातन्त्र राजनीति के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक भी होता है।

प्राचीन काल से ही विचारकों ने प्रजातन्त्र को अर्थ प्रदान करने की चेष्टा की है। यूनानी काल में प्रजातन्त्र को जनता की सरकार माना जाता था। यह शासन करने का एक तरीका था। इसमें कौन शासन करता है तथा किसके द्वारा बाध्यकारी निर्णय लिए जाते हैं इस प्रश्न पर विचार किया जाता था। प्रजातन्त्र का दूसरा अर्थ इस बात की तकनीकी परिभाषा करके दिया गया। इस तकनीकी अर्थ का वास्तविक व्यवहार में बहुत कम महत्व रहा। प्रजातन्त्र शब्द को किसी ने ईसाई समाज माना, किसी ने इसे एक ऐसा समाज माना जिसमें सभी के लिए स्वतन्त्रता और न्याय रहता है। अन्य लोगों ने प्रजातन्त्र को व्यक्तिगत उद्यम या समाजवाद की आर्थिक व्यवस्था कहा। कुछ लोग प्रजातन्त्र को जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण कहते हैं जबकि अन्य लोग इसे जीवन का एक तरीका मानते हैं। इन सब के अर्थों में प्रजातन्त्र को सरकार के रूप या सार्वजनिक नीतियां तक पहुचने की प्रक्रिया कहा भी जा सकता है और नहीं भी। प्रजातत्र के विशेष और व्यक्तिगत अर्थ लिये जाते है, उनका कोई अन्त नही है। प्रजातन्त्र का अर्थ बताते समय कुछ लोग इसके साथ सच्चा या वास्तविक शब्दों का भी प्रयोग करते हैं इस दृष्टि से साम्यवादी लोग अपनी व्यवस्था को प्रायः सच्चा प्रजातन्त्र कहते हैं।

आधुनिक युग में प्रजातन्त्र की एक मुख्य परिभाषा मि० शुम्पीटर (Schumpeter) द्वारा दी गयी है। उनके शब्दों मे "प्रजातन्त्र एक राजनैतिक तरीका है अर्थात एक प्रकार का संस्थागत प्रबन्ध है जिसके द्वारा राजनैतिक, व्यवस्थापिका सम्बन्धी एवं प्रशासनिक निर्णयो तक पहुचा जा सकता है और इस प्रकार यह अपने आपमे एक लक्ष्य नही है, चाहे इसके द्वारा प्रदत्त ऐतिहासिक परिस्थितियों में कोई भी निर्णय लिया जाए।"

प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में प्रशासन जनता की स्वीकृति से चलता है इसमें शासक वर्ग सारे देश की जनता का एक बड़ा भाग होता है। वैसे जनता की स्वीकृति प्राप्त करना प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली के लिए पर्याप्त नहीं। प्लेटो ने माना था कि प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के लिए जनता की स्वीकृति को वास्तविक क्रियाशील और प्रभावशील होना चाहिए। जनता (People) का शासन कहा जाता है किन्तु जनता शब्द का अर्थ निश्चित और स्पष्ट नहीं है। आज जनता का अर्थ बहुसंख्यक लोगों से लगाया जाता है। ब्राइस ने योग्य नागरिकों के बहुमत की प्रबल इच्छा को प्रजातन्त्र

का आधार माना है। प्रजातन्त्र मे प्रत्येक व्यक्ति को उसका मत प्रकट करने की स्वतन्त्रता दी जाती है किन्तु यह निश्चित नहीं रहता कि उसके मत को मान्यता मिलेगी अथवा नहीं। प्रजातन्त्र में बहुमत को दो कारणों से महत्वपूर्ण माना जाता है। प्रथम तो यह कि अल्प संख्यकों की अपेक्षा उनका मत अधिक सही होने की सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त बहुमत की शक्ति अल्प मत की अपेक्षा हमेशा अधिक होती है। मैजिनी ने यह माना था कि प्रजातन्त्रात्मक शासन में सर्व श्रेष्ठ और सबसे अधिक बुद्धिमान लोगों का नेतृत्व रहता है, इसमें सब के द्वारा सबकी उन्नति की जाती है। प्रशासन की सफलता का मापदण्ड जन कल्याण को माना जाता है। मनुष्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास को पूरा-पूरा अवसर प्रदान करने की व्यवस्था ही शासन का श्रेष्ठ रूप समझी जाती है।

प्रजातन्त्र का अर्थ स्पष्ट करने वाले विचारकों मे से कुछ ने इस बात पर जोर दिया है कि लोकतन्त्रात्मक शासन केवल लोकतन्त्रात्मक समाज में ही फल-फूल सकता है। इस शासन व्यवस्था का उद्देश्य यह होता है कि सभी लोगों को न्याय प्राप्त हो और वे सुखी रह सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज में कोई एक विशेष वर्ग इतना शक्तिशाली न बन जाए कि वह दूसरे वर्गों के साथ अन्याय करे। स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्तों पर आधारित समाज मे ही न्याय और सुख प्राप्त हो सकता है। प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यक्ति को एक व्यक्ति के ही रूप मे देखता है। उसका मूल्यांकन उसके घर, परिवार, जाति, धर्म या अन्य किसी के आधार पर नही करता। बैंथम का कहना था कि "एक आदर्श समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को एक इकाई माना जायेगा, उसे एक से अधिक का सम्मान नही दिया जायेगा।"

प्रजातन्त्रात्मक शासन सर्व सम्मति के द्वारा संचालित नही होता उसमे लोगो के अलग-अलग विश्वास और विचार होते है। इन विचारों तथा विश्वासों के बीच संघर्ष होने के बाद ही वास्तविक सत्य प्रकट होता है। समानता के सिद्धान्त पर आधारित होने पर लोकतन्त्रात्मक समाज मे सभी व्यक्ति एक जैसे होते हैं तथा किसी भी व्यक्ति को विशेष अधिकार प्राप्त नही होता।

इस सम्पूर्ण विवरण के निष्कर्ष रूप मे प्रजातन्त्र को अब हम निम्न प्रकार प्रकट कर सकते है:—

शासनतन्त्र के स्वरूप में—प्रजातन्त्र का अभिप्राय जनता के शासन से माना जाता है अर्थात् यह वह शासन है जिसमें प्रत्येक नागरिक, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राजशक्ति के प्रयोग में हाथ बटाता है। यूनानियों ने प्रजातन्त्र

का अर्थ बहुमत के शासन से लिया था किन्तु आधुनिक दृष्टिकोण से संख्या कोई कसौटी नहीं है। आधुनिक लेखक तो इसी सिद्धान्त पर बल देते हैं कि वे सब व्यक्ति जो नागरिक बनने और नागरिक के कर्तव्य पालन करने के योग्य हैं, राज्य के निर्देशन में भागीदार होने चाहिए। वस्तुत. देश के प्रशासन में नागरिकों की इच्छा चले, यह मुख्य कसौटी है।

राज्य के स्वरूप में—प्रजातन्त्र का अभिप्राय यह लिया जाता है कि इसमे राज्य का सम्पूर्ण जन समुदाय सम्प्रभुता का अधिकारी होता है, वह राज्य के कार्यों पर अपना नियन्त्रण रखता है और राज्य की शासन-व्यवस्था के प्रकार या स्वरूप का निश्चय करता है।

समाज के स्वरूप में—प्रजातन्त्र का अर्थ यह है कि यह एक उच्च कोटि का सामाजिक आदर्श है और इस रूप मे यह समस्त व्यक्तियों को समान अधिकार प्रदान करता है। प्रजातन्त्रात्मक समाज मे नस्ल, रंग, धर्म-वंश, जाति, लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता। प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक समानता का उपभोग करता है और उसे शिक्षा प्राप्त करने, व्यक्तित्व को विकसित करने तथा अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए समान प्रयास करने आदि की पूर्ण सुविधा होती है। सामाजिक प्रजातन्त्र में समानता का तत्व प्रधान होता है और मानवीय समानता की विधि—समस्त अधिकारों, सामाजिक दशाओं तथा आर्थिक अवसरों के माध्यमो द्वारा पूरी की जाती है। इस दृष्टि से यह सम्भव है कि समाज के प्रजातान्त्रिक न होते हुए भी शासन-तन्त्र प्रजातान्त्रिक हो। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड, अमेरिका और भारत मे प्रजातान्त्रिक शासन-व्यवस्था अवश्य है किन्तु समाज के विभिन्न वर्गों में घोर आर्थिक एवं सामाजिक विषमता विद्यमान है। उच्च पदों की नियुक्ति तथा शिक्षा मे अवसर की समानता का बड़ा अभाव है। सामाजिक और आर्थिक शोषण की जड़ें आज भी गहरी हैं।

जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण के रूप में—प्रजातन्त्र से तात्पर्य यह लिया जाता है कि "प्रजातन्त्रवादी स्वभाव हो अर्थात् समन्वयता, सुविधा, सहिष्णुता, विरोधी दृष्टिकोण के प्रति आदर, एवं मानवीय-व्यक्ति के प्रति सम्मान-भाव" की आदत हो। इस सम्बन्ध मे स्वयं लेनिन तक का कथन था कि "प्रजातन्त्रवाद पूंजीपतियों के विरुद्ध अपनी मुक्ति का आन्दोलन करते हुए श्रमिकों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मुक्ति-संघर्ष के विराम के लिए प्रजातन्त्रवाद सर्वोत्तम वातावरण उत्पन्न कर देता है।"

एक आध्यात्मिक शक्ति, एक प्रज्ञा, एक धार्मिक सिद्धान्त के रूप मे भी प्रजातन्त्र को स्वीकार किया गया है। मैजनी (Mazzini) ने कहा था, "प्रजातन्त्रवादी आन्दोलन प्रधानतः धार्मिक विशेषता के लिए हुआ करते थे।"

कुमारी फॉलेट (Miss Follet) का कथन है कि "प्रजातन्त्रवाद एकता के सूत्र में पिरोने वाला तत्व है। प्रजातन्त्रवाद एक महान् आध्यात्मिक शक्ति है जो मानव-समूह से उत्पन्न होती है—यह व्यक्ति की अयोग्यता को अनेकता को एकता में विलीन करता है और सामुदायिक जीवन (Community life) को वास्तविक धर्म-सम्मत रूप प्रदान करता है।"

प्रजातन्त्र के अर्थ के सन्दर्भ में साम्यवादी दृष्टिकोण भी बड़ा उल्लेखनीय है। साम्यवादियों ने प्रजातन्त्र को नए अर्थों में ग्रहण किया है। वे प्रजातन्त्रात्मक शासन को आवश्यक नहीं मानते, किन्तु राज्य को अवश्य ही लोकतन्त्रात्मक बनाना चाहते हैं। उनकी दृष्टि से सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद (Dictatorship of the Proletariat) वाला समाजवादी राज्य ही लोकतन्त्रात्मक या प्रजातन्त्रात्मक राज्य है। वे पाश्चात्य देशों की उन प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्थाओं की खिल्ली उड़ाते हैं जिनमें समाज के विभिन्न वर्गों में न आर्थिक समानता है और न ही सामाजिक समानता। प्रजातन्त्र का प्राण कही जाने वाली अल्प-संख्यकों के प्रति सहानुभूति उनके विचार में एक दिखावट तथा धोखा है क्योंकि अल्प-संख्यकों को केवल कुछ अधिकार प्रदान करने से ही उनकी दरिद्रता समाप्त नहीं होती। कुछ वर्गों को आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त होने की सूरत में अल्प-संख्यकों को कोई न्याय नहीं मिल सकता। साम्यवादी व्यवस्था में वर्ग-शोषण नहीं होता। सभी मेहनतकश लोग होते है जिनमे बैर-भाव नही होता। पाश्चात्य आर्थिक विषमता साम्यवादी शासन में अनुपस्थित है।

लेकिन साम्यवादियों की उपरोक्त विचारधारा एक वाक्-चातुर्य से भरा कलापूर्ण छल है। वास्तव मे न तो साम्यवादी समाज ही प्रजातन्त्रात्मक है और न साम्यवादी राज्य ही। साम्यवादी व्यवस्था में विचार, भाषण एवं लेखन स्वतन्त्रता केवल किताबी है, व्यावहारिक नही। उसमें विरोधी विचार और विरोधी व्यक्ति दोनों ही को दफना दिया जाता है। एक दल और एक शासन (केवल साम्यवादी दल व शासन) के सभी साम्यवादी अपनी बात सुनाना अपना अधिकार मानते है किन्तु दूसरों की बात सुनना उन्हे नापसन्द है। उन्हें साम्यवाद की आलोचना हानिकारक लगती है। एक ही दल होने के कारण शासन में विभिन्न राज्यों को कोई स्थान नही है और सर्वसाधारण को देश की राजनीति व प्रशासन मे कोई भाग नही मिल पाता। वास्तविकता यही है कि साम्यवादी देशों मे सर्वहारा वर्ग न तो अपनी सरकारों को चुनते है और न उन्हे बर्खास्त ही कर सकते है। ऐसी स्थिति को प्रजातन्त्रात्मक नही कहा जा सकता।

प्रजातन्त्र के भेद
(Types of Democracy)

प्रजातन्त्र के प्रायः दो रूप माने जाते हैं—

(१) विशुद्ध या प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र
(Pure or Direct Democracy)

(२) प्रतिनिधियुक्त या अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र
(Representative or Indirect Democracy)

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र—जब लोग स्वय, प्रत्यक्ष रूप से सार्वजनिक विषयों में अपनी इच्छा प्रकट करें तो ऐसे शासन को प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र कहते हैं। यूनान के नगर, राज्यों का प्रजातन्त्र शुद्ध अथवा प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र था, सभी स्वतन्त्र व्यक्ति ग्राम सभाओं मे एकत्रित होते थे, विधियां बनाते और उन्हें कार्यान्वित करते, राजदूतों से मिलते और जूरियो की भांति काम करते थे। इस प्रकार के लोकतन्त्र का पुनर्जन्म मध्य युग में इटली के नगर-राज्यो मे हुआ था। स्विट्जरलैण्ड के फॉरिस्ट कैण्टनो (Forest Cantons) मे भी प्रत्यक्ष लोकतन्त्र था और आधुनिक समय तक बना हुआ है। १८वीं शताब्दी मे रूसो इस प्रकार के प्रबल समर्थक थे। वह अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिधि-मूलक लोकतन्त्र को बुरा मानते थे। पर आधुनिक परिस्थितियों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को बड़े पैमाने पर लागू करने के मार्ग की कठिनाइयों को वह महसूस करते थे। वह कहते थे कि शुद्ध लोकतन्त्र के लिए अनेक चीजों की एक साथ आवश्यकता है और इन चीजों का एक साथ होना कठिन है। ये आवश्यकतायें निम्नलिखित हैं—

(१) एक छोटा राज्य जिसके नागरिक आसानी से एक जगह एकत्रित हो सकें और जिसमें हर नागरिक दूसरे नागरिकों को आसानी से पहचान सकें।

(२) व्यवहार की एकदम सादगी,

(३) पद, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति में पर्याप्त समानता, और

(४) बहुत कम विलास या विलासहीनता।

शुद्ध या प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र एक ऐसा लक्ष्य है जो आधुनिक युग में प्राप्त नहीं किया जा सकता। कुछ आधुनिक राज्यों मे प्रचलित लोक-निर्देश (Referendum), लोक-आदेश (Initiative) और प्रत्यावर्तन (Recall) की प्रणालियां ही आजकल प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का निकटतम स्वरूप है, परन्तु ये उपाय सभी जगह उपयोग में नहीं लाए जा सकते। लोक-निर्णय वह विधि है जिसमें विधान मण्डल द्वारा पास किए गए कानूनों पर साधारण जनता से मत लिये जाते हैं। लोक-आदेश या प्रारम्भिक या निबन्ध-उपक्रम द्वारा जनता को प्रत्यक्ष

रूप में कानून बनाने का अधिकार मिलता है। प्रत्यावर्तन में जनता यदि चाहे तो अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को धारासभा से, उनकी अवधि समाप्त होने से पूर्व ही बुला सकती है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र आजकल के विशाल राष्ट्रीय राज्यों के लिए अव्यावहारिक है।

अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र—आजकल लगभग प्रत्येक देश में अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि मूलक प्रजातन्त्र का प्रचलन है। इसके अनुसार वास्तविक शासन जनता के हाथों से लेकर उनके प्रतिनिधियों के हाथों में सौंप दिया जाता है। राज्य की इच्छा का निर्माण सर्वसाधारण प्रत्यक्षतः नहीं करते बल्कि वे अपनी इच्छा अपने प्रतिनिधियों द्वारा व्यक्त करते हैं। प्रतिनिधियों का समय-समय पर निर्वाचन होता रहता है और सर्वसाधारण इन्हीं प्रतिनिधियों के द्वारा देश का प्रशासन करते हैं। इस प्रकार कानूनों का निर्माण जन-प्रतिनिधियों द्वारा होता है—प्रत्यक्षतः जनता द्वारा नहीं। प्रतिनिधि प्रजातन्त्र इस विचार पर आधारित है कि "जनता के सभी सदस्य राजधानी में स्वयं उपस्थित नहीं हो सकते किन्तु वे अपने प्रतिनिधियों द्वारा उपस्थित माने जा सकते हैं।" प्रतिनिधि प्रजातन्त्र में भी सत्ता आदि का स्रोत जनता में ही निवास करता है। इसके अन्तर्गत शासन और शासितों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है और दोनों के उद्देश्यों में एकरूपता बनी रहती है। इस तरह अधिकार और राजनीतिक स्वतन्त्रता में सामन्जस्य बना रहता है।

प्रजातन्त्र क्या नहीं है ?
(What the Democracy is not ?)

हम देख चुके है प्रजातन्त्र क्या है—इस सम्बन्ध में तो निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता क्योंकि इसके अनेकार्थक होने के कारण कोई भी एक बात कहना खतरे से खाली नहीं है। ऐसी स्थिति में यह देखना उपयोगी रहेगा कि प्रजातन्त्र क्या नहीं है। प्रजातन्त्र को परिभाषित करने के विकल्प के रूप मे वह क्या नहीं है का अध्ययन पर्याप्त उपयोगी है तथा उसमें जोखिम रहने की सम्भावनाएं कम हैं। प्रजातन्त्र को पूरी तरह स्पष्ट करने के लिए यदि इससे भिन्न विचार धाराओं अथवा व्यवस्थाओं से इसकी तुलना की जाय तो यह अधिक उपयुक्त होगा। प्रारम्भ मे प्रजातन्त्र के विरोधियों के रूप में आतताईतन्त्र (Tyranny), स्वेच्छाचारी तन्त्र (Despotism), एकतन्त्र (Autocracy), पूर्णतावाद (Absolutism), और तानाशाही (Dictatorship) आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। हाल ही में दो नये शब्द भी विकसित हुए हैं, ये हैं सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) और (Authoritarianism), इस प्रकार यदि प्रजातन्त्र विरोधि[illegible] करना है तो

हमें इन दोनों व्यवस्थाओं के स्वरूप की जानकारी करली होगी। जब हम प्रजातन्त्र को एकतंत्र से पृथक करते हैं तो हम आसानी से यह निर्धारित कर सकते है कि प्रजातन्त्र कहां समाप्त होता है। इसी प्रकार जब हम प्रजातन्त्र और सर्वाधिकारवाद की बात कहते है तो एक ऐसा क्षेत्र भी निर्धारित करते हैं जो कि किसी के अधिकार क्षेत्र में नहीं रहता।

सत्तावादी व्यवस्था व प्रजातन्त्र
(Authoritarianism and Democracy)

सत्तावादी व्यवस्था प्राय उसे कहा जाता है जो कि स्वतन्त्रता को कुचलती है। यह शब्द सत्ता (Authority) शब्द से लिया गया है। सत्ता शब्द का मूल अर्थ लेटिन शब्द के अनुसार तर्क करना है। इस प्रकार इसका प्रारम्भिक अर्थ यह था जो कि लोग सत्ता मे है वे विचार या कार्य में कुछ जोड़ते हैं, सहायता देते हैं या सहारा देते हैं।

आज सत्ता का मौलिक अर्थ प्राय: समाप्त हो चुका है। आज हम सत्ता के अन्तर्गत कार्य करने की क्षमता या शक्ति को समाहित करते हैं। यह एक प्रकार से कुछ बाध्यकारी तत्व रखती है। यह कहा जाता है कि राजनैलिक प्रक्रिया एक शक्ति की प्रक्रिया है किन्तु शक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। शक्ति ताकत के रूप में भी होती है और सत्ता के रूप में भी। एक शक्ति तो दमन करती है और दूसरी शक्ति के द्वारा कार्यों को सम्पन्न किया जाता है। सत्ता एक ऐसी शक्ति होती है जो कि समझाने-बुझाने, सम्मान और आत्म-गौरव पर निर्भर करती है। जब कभी सत्ता का नाम लिया जाता है तो एक ऐसे नेतृत्व का रूप उभर आता है जिसे निरन्तर समर्थन प्राप्त होता है। सत्ता और प्रजातन्त्र एक दूसरे के साथ इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं कि बिना सत्ता के सम्बन्ध मे बात किये प्रजातन्त्र के बारे में कुछ भी नही कहा जा सकता। किन्तु इसका अर्थ यह नही होता कि हम प्रजातन्त्र को एक सत्तावादी व्यवस्था कह सकते हैं। इन दोनो व्यवस्थाओ मे पर्याप्त भेद होता है। सत्तावादी राज्य की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें नागरिकों के कार्यों पर निकट का नियन्त्रण रहता है। इस नियन्त्रण मे भी कुछ प्रशंसनीय तत्व रहते हैं इसलिए कुछ विचारक सत्तावादी व्यवस्था को तानाशाही व्यवस्था कहना पसद नहीं करते हैं।

सत्तावादी राज्य अत्यधिक सत्ता का प्रयोग करता है किन्तु सत्ता का यह प्रयोग अत्यन्त प्रशंसनीय है। सत्ता को एक उचित आवश्यकता माना जाता है, क्योंकि उसके बिना कोई भी समाज नही चल सकता। सत्तावादी व्यवस्था को आतताई व्यवस्था कहना गलत होगा क्योंकि सच्ची सत्ता को

आततायी व्यवहार द्वारा समाप्त किया जाता है किन्तु दूसरी ओर सत्तावादी व्यक्तित्व एक स्वतन्त्र समाज के लिए आवश्यकता है।

इस व्याख्या से यह निष्कर्ष निकाला जाता है की सत्तावादी व्यवस्था को प्रजातन्त्र का सही प्रतिवाद नहीं माना जाता, क्योंकि ऐसा होने पर अनेक अनावश्यक समस्याएं और भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं। सत्ता की मान्यता का स्वतन्त्रता की मान्यता के साथ सम्बद्ध है। जिस प्रकार सच्ची सत्ता स्वतन्त्रता को मान्यता देती है उसी प्रकार सच्ची स्वतन्त्रता भी सत्ता को स्वीकार करती है। जो स्वतन्त्रता सत्ता को मान्यता नहीं देती वह स्वेच्छाचारी मान्यता है और जो सत्ता स्वतन्त्रता को नहीं पहचानती वह सत्तावादिता है। इस प्रकार सत्तावादिता स्वतन्त्रता उदारवाद के विरुद्ध है न कि प्रजातन्त्र के विरुद्ध।

सर्वाधिकारवादी व्यवस्था और प्रजातन्त्र
(The Totalitarianism and Democracy)

सर्वाधिकारवाद शब्द पूर्णता (Totality) से निकला है। इसके द्वारा ऐसा विचार अभिव्यक्त होता है जिसमे सारी चीजों को समाहित कर लिया जाता है। इस दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि प्रायः प्रत्येक आधुनिक राज्य की प्रकृति पूर्णता की ओर बढ रही है। इसके कई कारण हैं, उदाहरण के लिए जनसंख्या से सम्बन्धित दबाव, औद्योगिक समाज के सभी तत्वों की बढ़ती हुई पारस्परिक निर्भरता, तकनीकी प्रगति आदि-आदि। इन सब परिस्थितियों के कारण आधुनिक राज्यों का कानून उनको अधिक से अधिक पूर्णतावादी बनाता जा रहा है। प्रायः सभी आधुनिक राज्य इसी दिशा मे अग्रसर हो रहे हैं। प्रजातान्त्रिक राज्य भी इसका अपवाद नहीं है। यदि प्रजातन्त्रात्मक राज्य एक सर्वाधिकारवादी राज्य बन जाए तो कोई आश्चर्य नहीं होगा क्योंकि प्रजातन्त्र सभी की सरकार होती है और इसलिए इस सरकार को सभी लोगों के सम्पूर्ण जीवन पर नियन्त्रण रखने का अधिकार है। मि० जोवीनेल के मतानुसार "प्रजातन्त्रात्मक कल्पना नेताओं को सभी की सत्ता की ओर झुकती है।" यह सम्पूर्ण ही है जो कि इच्छा करता है और सम्पूर्ण के द्वारा ही क्रियायें की जाती हैं। इस सम्बन्ध में विचारकों का कहना है कि राजनैतिक शब्दकोश मे सर्वाधिकारवाद शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया गया था, वरन् इसका जो तकनीकी अर्थ था वह सत्तावाद या पूर्णतावाद का समानार्थक था।

विचारकों का कहना है कि पूर्णतावादी व्यवस्था केवल राजतन्त्र ही हो सकती थी, प्रजातन्त्र कभी भी पूर्णतावादी नहीं हो सकता। वह किसी अन्य अर्थ में पूर्णतावादी हो सकता है। पूर्णतावादी शक्ति प्रायः उसे कहा

जाता है जिसका पर्याप्त नष्टगत शक्ति के द्वारा विरोध नहीं किया जाता। इस प्रकार पूर्णतावाद शक्ति के केन्द्रीयकरण से सम्बन्धित है। एक समाज अपनी बहुलवादी रचना को जितना ही छोड़ता है और उसकी शक्तियां जितनी ही कमजोर होती हैं, उतनी ही अधिक वे परिस्थितियां आसानी से बन जाती हैं जो कि पूर्णतावाद को सम्भव बनायें।

इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जाता है कि जो राज्य समस्त शक्ति को अपने में केन्द्रित करता है वह एक ऐसा सम्भावित राज्य है जो कि सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग कर सकता है। प्रजातन्त्रात्मक राज्य में भी केन्द्रीय-करण होने पर पूर्णतावाद की सम्भावना बढ़ जाती है। इब्राहिम लिंकन ने प्रजातन्त्रात्मक केन्द्रीयकरण का नाम दिया था। पूर्ण शक्ति का दूसरा अर्थ उस शक्ति से लिया जाता है जो कि कानून द्वारा अनुशासित या सीमित नहीं होती। पूर्ण राज्य इस अर्थ में वह होता है जो कि गैर-सवैंधानिक है अर्थात जिस राज्य में शक्ति के अधिष्ठाता सवैंधानिक प्रतिबन्धों एवं अवरोधों द्वारा प्रतिबन्धित नहीं होते। एक प्रजातान्त्रिक राज्य भी इस अर्थ में पूर्णता-वादी हो सकता है। पूर्णतावाद का एक तीसरा सामान्य अर्थ और भी हो सकता है जो कि एक मानसिक स्वरूप को इंगित करता है। प्रजातन्त्र पूर्णतावादी हो सकता है इस बात की हर सम्भावना है किन्तु यदि वह नहीं होता तो इसका कारण उसकी अक्षमता नहीं वरन् वह सजगता है जो कि ऐसा न होने के लिए रखी जाती है। अनेक विचारकों ने इस बात पर जोर दिया है कि प्रजातन्त्र का सिद्धान्त अपने आप में ऐसा है जो कि आसानी से पूर्णतावाद की ओर झुक सकता है अथवा यह ऐसे स्थान पर छोड़ सकता है जिससे कि पूर्णतावाद की दिशा में प्रगति हो। प्रजातन्त्रात्मक औचित्य में शक्ति को वहीं तक सीमित किया जाता है जहां तक कि वह एकतन्त्रात्मक शक्ति न बन पाये। जब एकतन्त्रात्मक शक्ति की सम्भावनायें खत्म हो जाती हैं तो स्वयं लोकप्रिय सम्प्रभुता ही ऐसा रूप धारण कर लेती है जिसकी तुलना इसके पूर्व-शत्रु से की जा सके। जब प्रतिद्वन्दी शक्तियां समाप्त हो जाती हैं तो लोकप्रिय सम्प्रभुता असीमित शक्ति का स्रोत बन जाती है।

पूर्णतावाद और सर्वाधिकारवाद के अर्थ के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि ये दोनों कुछ ढीली-ढाली मान्यतायें हैं जिनको कि आसानी से नहीं समझा जा सकता। सर्वाधिकारवाद एक अस्पष्ट शब्द है जिसको स्पष्ट करना अधिक उपयोगी नहीं रहेगा। इन दोनों अपूर्ण मान्यताओं के आधार पर एक पूर्ण मान्यता उसी प्रकार नहीं बन सकती, जिस प्रकार कि दो लंगड़े व्यक्ति को मिला कर दो टांग वाला एक व्यक्ति नहीं बन सकता।

सर्वाधिकारवाद को पूर्णतावाद का समानार्थक नहीं कहा जा सकता। यह शब्द अनेकार्थक है। इसके किसी भी अर्थ से सहमत होना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि यह शब्द आधुनिक काल की उत्पत्ति है किन्तु फिर भी यह प्रश्न किया जाता है कि क्या इसे प्राचीन काल के राज्यों पर लागू किया जा सकता है। कई विचारक यह मानते हैं कि प्राचीन राजनीति सर्वाधिकारवादी थी, किन्तु उस समय की यह व्यवस्था कोई विचारगत आधार नहीं रखती थी। जब हम पुराने समय की व्यवस्था को सर्वाधिकारवाद कहते हैं तो यह भूल जाते हैं कि प्राचीन काल का पूर्ण शासन परम्पराओं और धर्म पर आधारित था जब कि आधुनिक दुनिया का सर्वाधिकारवाद अपने आपको धार्मिक, उदार एवं प्रजातन्त्रात्मक सभ्यता पर थोप रहा है। सर्वाधिकारवाद का विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग अर्थ किया है। ई० एच० कार (E. H. Carr) के कथनानुसार सर्वाधिकारवाद उस विश्वास को कहा जा सकता है जिसके अनुसार कोई भी सगठित समूह या संस्था सत्य के लिए विशेष पहुंच रखती है। इस परिभाषा की व्यापकता में सर्वाधिकारवाद को ऐसा अर्थ प्रदान किया गया जिसके कारण यह अर्थहीन बन गया। मि० फ्रेड्रिक (Friedrich) ने सर्वाधिकारवाद की पांच पूर्व आवश्यकताओं का उल्लेख किया है—एकाधिकृत विचारधारा, कुलीनतन्त्रद्वारा नियमित, बहुसंख्यक दल, हथियारों पर सरकार का एकाधिकार, सार्वजनिक प्रचार पर सरकार का एकाधिकार तथा एक आतंकवादी पुलिस व्यवस्था। फ्रेड्रिक द्वारा दी गयी सर्वाधिकार की विशेषताओं की यह सूची सर्वमान्य नहीं है। सर्वाधिकार के सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि यह राज्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज को कारावास में डाल देता है और व्यक्ति के अराजनैतिक जीवन पर भी राजनैतिक नियन्त्रण रखता है। इटली के मुसोलिनी ने जब यह कहा कि प्रत्येक चीज राज्य में है, राज्य से बाहर कोई भी चीज नहीं है और राज्य के विरुद्ध कोई चीज नहीं है, तो वह एक प्रकार से इसी सर्वाधिकार प्रकृति का उल्लेख कर रहा था। फ्रेन्ज न्यूमैन (Franz Newman) के कथनानुसार सर्वाधिकारवाद राज्य और समाज की रेखा को मिटा देता है और समाज का पूर्ण नैतिकीकरण कर देता है। यह कम या अधिक राजनैतिक शक्ति का प्रश्न नहीं है। पूर्णतावाद और सर्वाधिकारवाद के बीच का अन्तर मात्रा का ही नहीं अपितु गुण का है।

प्रजातन्त्र और एकतन्त्र
(Democracy & Autocracy)

प्रजातन्त्र की पूर्णतावाद, सर्वाधिकारवाद एवं सत्तावाद आदि की दृष्टि से बनायी गयी विभिन्न सीमाओं का अध्ययन करने के बाद एकतन्त्र द्वारा

स्थापित सीमाओं को अधिक सम्भावित स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है। एकतन्त्रात्मक व्यवस्था के विभिन्न रूप हो सकते हैं। आततायीतन्त्र, स्वेच्छाचारी शासन और पूर्णतावाद कुछ प्राचीनकालीन शब्द हैं। यह आज भी राजनैतिक शब्दावली में स्थित हैं। विचारकों ने इनके बीच के अन्तर को स्पष्ट रूप से उल्लेखित किया है। तानाशाही शब्द का प्रयोग आततायीतन्त्र के स्थान पर किया जाने लगा है। इस शब्द का प्रयोग इतना नवीन है कि अभी तक इसका स्पष्ट अर्थ नहीं दिया गया है। तानाशाही व्यवस्था के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान उतना नहीं है जितना कि पूर्व विचारकों का ज्ञान आततायीतंत्र के सम्बन्ध में था।

सर्वाधिकारवाद और सत्तावाद भी हमारी समस्या को नहीं सुलझा सकते। प्रजातन्त्र के विपरीत सत्तावाद का विरोध करते हुए हम प्रायः स्वतंत्रता और प्रजातन्त्र के विचारों के सम्बन्ध में भ्रम में पड़ जाते हैं तथा सत्ताविहीन प्रजातन्त्रात्मक आदर्शों को प्रस्तुत करने लगते हैं। जहां तक सर्वाधिकारवाद का सम्बन्ध है, उसके सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जे० बी० टालमैन (J. B. Talman) ने सर्वाधिकारवादी प्रजातन्त्र (Totalitarian Democracy) पद का प्रयोग किया है। यहां हमारा उद्देश्य इस बात का परीक्षण करना नहीं है कि टालमैन द्वारा प्रयुक्त यह शब्द उचित था या उसमें आन्तरिक रूप से विरोध थे। इससे यह तो प्रमाणित हो जाता है कि प्रजातंत्र और सर्वाधिकारवाद परस्पर विरोधी नहीं है। स्वयं प्रजातन्त्र भी एक कठिन और विवादपूर्ण मान्यता है।

जहां तक एकतन्त्र का सवाल है [illegible] आलोचना की जाती है कि उसकी जानकारी भी [illegible] कि तानाशाह की अथवा अन्य किसी भी आधुनिकतम [illegible] है। [illegible] अवश्य है कि एकतन्त्र अन्य मान्यताओं [illegible] मान्यता है कि यह सत्ताधारियों की रचना के तरीकों [illegible] है, तथा उनके [illegible] को सिद्ध करता है।

विचारकों ने प्रजातन्त्र [illegible] है। इस व्यवस्था में व्यक्तित्व [illegible] है। [illegible] कोई भी व्यक्ति अपने आदर्शों [illegible] साथ ही कोई व्यक्ति [illegible] एकतंत्रवादी व्यवस्था की [illegible] उस सहायता को [illegible] द्वारा ही प्रदान [illegible]

प्राप्त नहीं किया है तो उस व्यवस्था को प्रजातान्त्रिक नहीं कहा जा सकता। प्रजातंत्र में शक्ति बिखरी हुई रहती है, सीमित रहती है तथा नियंत्रित रहती है। इसका प्रयोग क्रम के अनुसार होता है। दूसरी ओर एकतंत्र में शक्ति केन्द्रित, अनियंत्रित, असीमित और व्यापक होती है। एकतन्त्रात्मक व्यवस्था प्रजातंत्रात्मक नही हो सकती और जो प्रजातंत्र नही है वह एक शब्द में एकतन्त्र है।

प्रजातन्त्र की विचारधाराएँ
(Political Theories of Democracy)

प्रजातंत्र का अर्थ एवं प्रकृति विधेयात्मक एवं निषेधात्मक दोनों ही रूपों में जानने के बाद हम प्रजातंत्र से सम्बन्धित उन विचारधाराओं का अध्ययन करना उपयुक्त समझते हैं जो कि वर्तमान समय में प्रतिपादित की गयी हैं। प्रजातंत्र से सम्बन्धित इन आधुनिक विचारधाराओं को हम तीन भागों में वर्गीकृत करके देखना चाहेंगे। प्रथम विचारधारा पश्चिमी विचारकों द्वारा प्रतिपादित एवं मुख्य रूप से पूंजीवादी देशों द्वारा अपनायी गयी है। दूसरी विचारधारा का प्रतिपादन एवं समर्थन साम्यवादी देशो द्वारा किया गया है तथा तीसरी विचारधारा का प्रतिपादन मि० जयप्रकाश नारायण आदि के द्वारा किया गया है। इनकी प्रथम विचारधारा व्यक्ति की राजनैतिक स्वतन्त्रता पर अधिक जोर देती है और सरकार के प्रजातन्त्रात्मक स्वरूप को अधिक महत्वपूर्ण मानती है जबकि दूसरी विचारधारा के अनुसार आर्थिक समस्या एक मूल रूप है और व्यक्ति के सभी अधिकार एवं स्वतन्त्रतायें उसके इसी अधिकार पर आधारित है। तीसरी विचारधारा कुछ अराजकतावादी विचारो से प्रभावित हुई है। यह दल-विहीन प्रजातन्त्र को अपना आदर्श मानती है।

A) प्रजातन्त्र की राजनैतिक विचारधारा
(Political Theory of Democracy)

प्रजातंत्र अपने लोकप्रिय अर्थ मे राजनैतिक व्यवस्था का एक रूप है। प्रजातंत्र के राजनैतिक स्वरूप को प्रारम्भ से ही मान्यता प्रदान की जा रही है। प्रारम्भ में प्रजातंत्र को केवल प्रशासनिक व्यवस्था का ही एक रूप माना जाता था और इस रूप में यह जानने की चेष्टा की जाती थी कि राजनैतिक शक्ति का प्रयोग कौन कर रहा है। एथेन्स में प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था की शक्तियां बहुमत के हाथों मे थी। उस समय के राज्य छोटे होते थे और इसलिए उनमें जनता का अधिकाश भाग प्रत्यक्ष रूप से प्रशासन के कार्यों में योगदान कर सकता था किन्तु आज के राज्यो का बड़ा आकार यह सम्भव नही रखता कि सामान्य जनता उसके प्रशासन में भाग ले सके। ग्लैडस्टन

(Gladstone) का कहना था कि किसी भी राष्ट्र की जनता ने स्वयं अपने ऊपर शासन नहीं किया। मानवीय जीवन की परिस्थितियों में केवल यही सम्भव था कि जनता अपने प्रशासक चुनती और कुछ अवसरों पर ही उनके कार्यों को प्रत्यक्ष रूप से देखती। मैकाइवर (MacIver) के कथनानुसार "प्रजातंत्र बहुत या अन्य किसी मत का प्रशासन करने का तरीका नहीं वरन् यह मुख्य रूप से इस बात को निर्धारित करने का तरीका है कि प्रशासक कौन होगा तथा यह किस उद्देश्य के लिए प्रशासन करेगा। जनता न तो शासन करती है और न कर सकती है वह तो सरकार को नियंत्रित करती है।"[1] इसका अपवाद कभी-कभी अवसरवश हो जाता है जब कि प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के कुछ तरीकों का प्रयोग किया जाता है।

प्रजातन्त्र को एक राजनीतिक व्यवस्था मानने पर यह सिद्ध हो जाता है कि इसमें कुछ ऐसी विशेषताएं होंगी जो कि उसे सार्वजनिक नीति निर्माण के अन्य तरीकों से अलग करें। इन विशेषताओं का अध्ययन करते समय मुख्य विशेषताओं और सामयिक विशेषताओं के बीच अन्तर करना चाहिए। प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था का घटनावश विभिन्नताओं मे संघात्मक-एकात्मक, अध्यक्षात्मक-संसदात्मक, एकसदनीय-द्विसदनीय, गणतन्त्रात्मक या राजतन्त्रात्मक आदि उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार से एक देश की आर्थिक दशा भी प्रजातंत्र की घटनावश विशेषता है। जिस राजनैतिक व्यवस्था को प्रजातंत्रात्मक कहा जाता है उसकी विशेषताओं के साथ ये उल्लेखित विशेषताएं आवश्यक रूप से सम्बन्धित नहीं होती।

आज जनता के शासन की वह व्यवस्था नहीं है जो कि एथेन्स में थी। आज के प्रजातान्त्रिक राज्यों में जनता को सरकार के कार्यों पर नियन्त्रण का अधिकार है। एक राजनैतिक व्यवस्था उतनी ही अधिक प्रजातान्त्रिक मानी जायेगी जितना अधिक कि उसके निर्णयकर्ता प्रभावशील, सार्वजनिक नियंत्रण के अधीन रहेंगे। इस प्रकार लोकप्रिय नियंत्रण प्रजातंत्र की एक मूल विशेषता है। इस लोकप्रिय नियंत्रण से सम्बन्धित कुछ अन्य विशेषताएं भी होती हैं जो कि प्रजातांत्रिक व्यवस्था मे पायी जाती हैं। यदि कोई एक विशेष व्यवस्था इन मापदण्डों में से अधिकांश को पूरा करें तो उसे प्रजातंत्रात्मक कहा जा सकता है। प्रजातंत्र की ये विशेषताएं अलग-अलग मात्राओं में पायी जाती हैं और इसलिए किसी भी व्यवस्था के केवल प्रजातन्त्रात्मक

1. R. M. MacIver, The Way of Government. 1947, p. 198.

स्वरूप को देखना ही जरूरी नहीं वरन् यह भी आवश्यक है कि वह व्यवस्था कितनी व्यावहारिक है।

प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के कुछ निर्धारित सिद्धान्त होते हैं। इनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(१) निर्णय लेने वालों एवं सार्वजनिक नीतियों पर नियन्त्रण रखने के अनेक तरीके हो सकते हैं। इनमें से कुछ को अप्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं में से भी अपनाया जा सकता है; उदाहरण के लिए एक पूर्ण शासक या कुलीनतन्त्रात्मक व्यवस्था की नीतियां, महल की घटना और दरबार की पक्षपातियों से प्रभावित हो सकती है। इसके अतिरिक्त करों आदि के सम्बन्ध में प्रजा की इच्छा क्या रहेगी इसके सम्बन्ध में भी कुछ अनुमान लगाये जा सकते हैं। कई एक उदार तानाशाह जनता की मांगों की ओर अपना कान रखते हैं और उनको पूरा करने का प्रयास करते हैं। तथ्य तो यह है कि लोकप्रिय प्रभाव आवश्यक होते हुए भी किसी राजनैतिक व्यवस्था को प्रजातन्त्रात्मक बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के लिए विभिन्न सिद्धान्तों में प्रथम सिद्धान्त नीति निर्माताओं पर रखा जाने वाला लोकप्रिय नियन्त्रण है। इस दृष्टि से आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्यों के नागरिकों को इन नीति निर्माताओं को चुनने की सुविधा दी जाती है। ये चुनाव निर्धारित समय के बाद होते रहते हैं। पहले प्रतिनिधियों को वंश परम्परा या भाग्य के आधार पर चुना जाता था किन्तु आजकल इसके अवशेष कुछ संस्थाओं में ही रह गये हैं। यहां तक कि सोवियत संघ की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में भी प्रतिनिधियों को चुनने की प्रणाली पर्याप्त महत्वपूर्ण मानी गई है। इस सम्बन्ध में कुछ एक बातों का ध्यान रखना जरूरी है—(i) कुल मिलाकर कोई भी प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था उन सिद्धान्तों के आधार पर संचालित नहीं होती जिनको कि चुनाव के समय मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित किया जाता है। राज्य की जनता प्रतिनिधियों के माध्यम से नीति पर अप्रत्यक्ष नियन्त्रण रखती है। आजकल राज्यों का रूप इतना बड़ा होता है कि मतदाताओं द्वारा केवल प्रतिनिधियों का चुनाव किया जाता है और नीतियां निर्धारित नहीं की जाती। इसलिये यह आलोचना कोई महत्व नहीं रखती कि मतदाता नीति सम्बन्धी निर्णय लेने में अयोग्य होते हैं। (ii) नीतियों पर मतदाताओं का नियन्त्रण सदैव बना रहता है तथा यह अनेक संस्थागत और उचित रूप ग्रहण कर सकता है। इस प्रभाव का क्षेत्र सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। यह अनेक रूप धारण कर सकता है और हित समूहों तथा दबाव समूहों के रूप में स्पष्ट होता है। लोकप्रिय प्रभाव के पीछे शक्ति काम करती है वह यह है कि इसके द्वारा चुनाव के समय प्रतिनिधि के भाग्य को प्रभावित

किया जा सकता है। (iii) आधुनिक चुनावों के माध्यम से रखा जाने वाला लोकप्रिय नियन्त्रण इस पुराने सिद्धान्त से अनुरूपता रखता है कि सत्ता का स्रोत जनता होती है। लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त ने ही लोकप्रिय चुनावों के लिये आधार प्रस्तुत किया है।

(२) दूसरे, प्रजातन्त्र का एक अन्य सिद्धान्त राजनैतिक समानता का है जिसको संस्थागत रूप प्रदान करते हुए मतदान के समय प्रत्येक वयस्क नागरिक को समानता प्रदान की जाती है। राजनैतिक समानता का सिद्धान्त जिस प्रकार आधुनिक प्रजातन्त्र में पाया जाता है, उसी प्रकार यह एथेन्स के प्रजातन्त्र में भी पाया जाता था। राजनैतिक समानता केवल मतदान की दृष्टि से नहीं वरन् अन्य क्षेत्रों में भी प्रभावित होती हैं। मतदान की समानता का सिद्धान्त तो प्रजातन्त्र की एक मात्र विशेषता है। आधुनिक प्रजातन्त्र में नागरिक के द्वारा निर्णयों पर प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण नहीं रखा जाता वरन् अप्रत्यक्ष रूप से रखा जाता है। निर्णय लेने वालों पर रखा गया नियन्त्रण प्रत्यक्ष होता है। आज राजनैतिक समानता के क्षेत्र में अनेक बातें सम्मिलित हो गई हैं जिनको देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि एथेन्स की प्रजातंत्र की तुलना में यह पर्याप्त विकसित है।

राजनैतिक समानता एक अत्यन्त जटिल चीज है। इसे अन्य सभी सामान्य सिद्धान्तों की भांति विभिन्न भागों में विभाजित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रत्येक वयस्क को केवल एक मत देने का अधिकार दिया जाये, लोकप्रिय नियन्त्रण को वयस्क नागरिकों के नियन्त्रण के रूप में परिभाषित किया जाये; एक व्यक्ति को केवल एक मत देने का अधिकार हो अर्थात् बहुलवादी मतदान नहीं होना चाहिए, प्रत्येक मत को समान रूप से गिना जाये, किसी मत को अधिक महत्व न दिया जाए, यदि प्रत्येक मत को बराबर गिनना है तो ऐसी स्थिति में निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या उनके लिए डाले गये मतों के अनुपात में होनी चाहिए। यदि हम द्वि-दलीय व्यवस्था को अपनायें तो प्रत्येक दल के निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधि की संख्या उन मतों की संख्या के अनुपात में होगी जो कि प्रत्येक दल को डाले गये हैं। इस दृष्टि से देखने पर यदि द्वि-दलीय व्यवस्था में एक दल को साठ प्रतिशत मत मिलते हैं तो उसे साठ प्रतिशत सीटें ही प्रदान की जायेंगी और दूसरे को चालीस प्रतिशत सीटें दी जायेंगी। यहां एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि अनेक प्रजातन्त्रों में राजनैतिक समता का यह पहलू पर्याप्त विभिन्नता रखता है।

मतदान की समानता होने पर भी इसे प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था की मुख्य विशेषता नहीं कहा जा सकता क्योंकि तानाशाही भी निर्वाचित हो

सकती है। मतदान की समानता को विश्वास और व्यवहार की दृष्टि में सोवियत संघ में मान्यता प्रदान की गई है। केवल मतदान ही लोकप्रिय नियन्त्रण की वास्तविकता का एकमात्र परिचायक नहीं है। शासनतन्त्र को इस प्रकार से मोड़ा जा सकता है कि इस प्रकार के नियन्त्रण को वह असम्भव बना दे।

(३) राजनैतिक प्रजातन्त्र का तीसरा सिद्धांत लोकप्रिय नियंत्रण की प्रभावशील अथवा राजनैतिक स्वतन्त्रताएं हैं। जब यह कहा जाता है कि मतदान प्रभावशील होना चाहिए तो इसका अर्थ यह होता है कि चयन की स्वतन्त्रता रहे तथा मतदाता बिना किसी दवाव या बाध्यता के अपने इस अधिकार का प्रयोग करे—इसके लिए मतदान का गुप्त होना आवश्यक है। खुले मतदान के परिणामों को कई राज्यों में देखने के बाद गुप्त मतदान का समर्थन किया जाता है। हम अपूर्ण लोगों की अपूर्ण दुनिया में रह रहे हैं और इसलिए यहां खुला मतदान न तो सम्भव है और न ही उपयोगी। गुप्त मत पत्र की शर्त मात्र ही स्वतंत्र चयन को निर्धारित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। सोवियत संघ में भी नागरिक मतदान करते समय पर्याप्त गोपनीयता रखी जाती है।

मतदान को प्रभावशील बनाने के लिए एक अन्य तरीका भी अपनाया जा सकता है। एक पद के लिए कम से कम दो उम्मीदवार खड़े हों और उस समय मतदाता अपनी स्वेच्छा से चयन करें। यह शर्त भी पर्याप्त नहीं है क्योंकि सोवियत संघ में इस शर्त को अपनाया गया है। वहा एक ही पद के लिए अनेक उम्मीदवारों को खड़ा कर दिया जाता है।

मतदाता को चयन की स्वतंत्रता देने के लिए यह भी जरूरी है कि उम्मीदवार केवल एक दल से खडे न हों, वे उस दल के बाहर से भी उम्मीदवार बन सकें। यह आज के प्रजातंत्रो की प्रमुख विशेषता है कि प्रत्येक प्रजातंत्रात्मक राज्य मे एक से अधिक राजनैतिक दलों का संगठन किया जाता है।

इस प्रकार लोकप्रिय नियंत्रण को प्रभावशाली बनाने के लिए विभिन्न राजनैतिक स्वतंत्रताओं की आवश्यकता होती है, इनमें भाषण की स्वतन्त्रता, संगठन बनाने की स्वतन्त्रता और सरकारी पद पर कार्य करने की स्वतंत्रताएं भी सम्मिलित हैं। ये राजनैतिक स्वतन्त्रताएं प्राचीन काल से ही प्रजातंत्र की विशेषताएं रही है किन्तु सोवियत संघ में इन स्वतन्त्रताओं का अभाव है। इन स्वतन्त्रताओं मे जो संगठन बनाने की स्वतन्त्रता दी जाती है वह विभिन्न सदस्यों, विभिन्न दृष्टिकोणों एव नीति सम्बन्धी विकल्पों से युक्त विभिन्न राजनैतिक दल बनाने के हेतु प्रयुक्त की जा सकती है। शुद्ध रूप से एवं सैद्धान्तिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि राजनैतिक दल जनतन्त्र मे होते हैं अथवा नही।

राजनैतिक दल प्रजातन्त्र के लिए इतना अधिक महत्वपूर्ण नही है क्योंकि वे सार्वजनिक नियन्त्रण के आवश्यक भाग नहीं हैं।

इन राजनैतिक स्वतन्त्रताओं का अस्तित्व किसी भी देश में प्रजातन्त्र के स्वरूप का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मापदण्ड है। इन समस्त स्वतन्त्रताओं को संक्षिप्त करके जिस एक ही शब्द में लिखा जा सकता है वह है विरोध करने की स्वतन्त्रता। मि०एच०बी० मेयो (H B. Meyo) के कथनानुसार "प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था का आधारभूत राजनैतिक स्वतन्त्रताएं, विरोध और दल है।"[1] जिस देश में ये नही होती उसे प्रजातंत्रात्मक बनाने का प्रत्येक दावा असत्य होता है।

(४) प्रजातंत्र का चौथा सिद्धांत यह है कि निर्णय बहुमत से लिये जाय। जब कभी प्रतिनिधि विभाजित होते है तो बहुमत का निर्णय मान्य होता है। प्रायः सभी व्यवस्थापिकाओं में निर्णय लेने का यह सामान्य नियम है। इस सिद्धांत का पूर्व वर्णित सिद्धांतों के साथ आवश्यक सम्बन्ध है। एक सामान्य धारणा के अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि निर्णय लेने वाले प्रतिनिधियो को समान मताधिकार के आधार पर चुना गया है तो प्रतिनिधियों का बहुमत मतदाताओं का बहुमत माना जायेगा। इन प्रतिनिधियों द्वारा लिये गये निर्णयों को वयस्क नागरिकों द्वारा लिया गया निर्णय कहा जायेगा। यही कारण है कि यह चौथा सिद्धांत कभी-कभी बहुमत के शासन के नाम से पुकारा जाता है। यदि इस सिद्धान्त को उचित मान लिया जाए तो दुनिया की सभी प्रजातंत्रात्मक सरकारें जनता से सत्ता प्राप्त करने का दावा कर सकती हैं। प्रतिनिधियों के बहुमत द्वारा निर्णय लिया जाने का सिद्धांत पर्याप्त विवादपूर्ण है। यह कहा जाता है कि निर्णय लेने वालो के बहुमत पर कुछ वैधानिक सीमाएं लगानी चाहिए। ऐसा करके ही हम उस व्यवस्था का अधिक से अधिक लाभ उठा सकते हैं। इसमें अबुद्धिपूर्ण बहुमत के निर्णय पर बुद्धि पूर्ण अल्प मत का निषेध अधिकार लग सकता है। इस प्रकार प्रजातंत्र एक आदर्श सरकार बन सकती है और ऐसी सरकार की खोज करना आवश्यक नही रह जाता जो कि बुद्धिपूर्ण शासन करने की शक्ति रखे और जिसे गलत रूप से शासन करने का कोई अधिकार न हो।

नीति-निर्माण की प्रक्रिया में कुछ निहित बातें होती हैं जिनको प्रतिनिधियों के खेल के नियम कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में पहला नियम तो यह है कि प्रतिनिधियों का बहुमत पूर्व वर्णित राजनैतिक स्वतन्त्रताओं की रूप रचना के अन्तर्गत ही नीति सम्बन्धी निर्णय लेगा। ये स्वतन्त्रताएं

1. H. B. Mayo: An Introduction to Democracy Theory 1960, P. 66.

प्रजातन्त्र की आवश्यक शर्त होती हैं। बहुमत द्वारा कभी-कभी, चाहे कितने भी निर्णय लिये जाएं किन्तु यह विरोधी दल, आलोचक और असहमति रखने वालों का मुंह बन्द नहीं कर सकते; चाहे वे व्यवस्थापिका में हों अथवा उसके बाहर। विरोधियों को कानून का पालन करने के लिए दबाया जा सकता है किन्तु उनकी राजनैतिक स्वतन्त्रताओं को समाप्त नहीं किया जा सकता। जब राजनैतिक स्वतन्त्रताएं और न्यायोचित विरोध समाप्त हो जाता है तो प्रजातन्त्र भी समाप्त हो जाता है। दूसरे, जब तक अल्पसंख्यक और उनके समर्थक लोग बहुमत में नहीं आ जाते उस समय तक वे विरोध करते हुए भी राज्य की आज्ञाओं का पालन करते हैं। यह सच है कि दिल से न चाहते हुए भी किसी कानून का पालन करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु फिर भी एक औपचारिक नियम के रूप में इसका महत्व है। तीसरे, जब विरोधी दल बहुमत प्राप्त कर ले और शक्ति में आ जाए तो उसे अपने अल्पसंख्यकों के प्रति वही व्यवहार करना चाहिए जो उसके साथ तब किया गया था जबकि वह अल्पमत में था। प्रत्येक अल्पवर्ग को पहले से इस बात पर सहमत होना चाहिए कि वह खेल के समान नियमों का पालन करेगा। समस्या केवल तभी पैदा होती है जबकि एक ऐसा अल्पसंख्यक दल अस्तित्व में आये जो कि राजनैतिक स्वतन्त्रताओं का प्रयोग प्रजातन्त्र को समाप्त करने के लिए करता है।

बहुमत के सिद्धांत का सफल रूप से संचालन होने के लिए पर्याप्त सामाजिक परिस्थितियां होना जरूरी है। ऊपर वर्णित समस्त नियम तो कम से कम होने ही चाहिए, क्योंकि इनके बिना व्यवस्थापिका में बहुमत एवं अल्पमत ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकते।

प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक व्यवस्था का ऊपर वर्णित खाका अत्यन्त सरल, औपचारिक और अमूर्त है। इसके प्रत्येक सिद्धांत को व्यावहारिक रूप में वर्णित किया जाता है। इसके द्वारा एक व्यावहारिक मापदण्ड प्रस्तुत किया जाता है जिसके आधार पर प्रजातन्त्रात्मक रूप को अप्रजातन्त्रात्मक व्यवस्थाओं से भिन्न किया जा सकता है और कम प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्थाओं को अन्य प्रजातंत्रात्मक व्यवस्थाओं से तुलना करके देखा जा सकता है।

प्रजातन्त्र का कोई भी मापदण्ड पूर्ण नहीं माना जा सकता। कुछ मापदण्ड दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रमुख होते हैं। इनके बीच केवल मात्रा का अन्तर है। इनमें से प्रत्येक सिद्धांत को नैतिक रूप में भी रखा जाता है। उदाहरण के लिये जब यह कहा जाता है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता प्रभावशील होनी चाहिए तो प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा के लिए एक नैतिक औचित्य प्राप्त होता है। यह सिद्धांत एक प्रकार से नैतिक विश्वास है। व्यावहारिक

एवं नैतिक दोनों दृष्टियों से देखने पर इन सिद्धांतों को प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक सिद्धांत के निर्माता के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है जो कि प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक व्यवस्था को स्पष्ट करते हैं तथा उसे न्यायोचित सिद्ध करते हैं।

उक्त विश्लेषण के आधार पर प्रजातन्त्र की जो परिभाषा की जा सकती है, वह एच बी मेयो के शब्दों में इस प्रकार है–"एक प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक व्यवस्था वह होती है जिसमें कि सार्वजनिक नीतियां बहुमत के आधार पर उन प्रतिनिधियों द्वारा बनायी जाती है जो कि सामयिक चुनावों के समय प्रभावशील, लोकप्रिय नियंत्रण के विषय होते है। ये चुनाव राजनैतिक समानता के आधार पर और राजनैतिक स्वतन्त्रता के आधीन सम्पन्न किये जाते हैं।"

(B) प्रजातन्त्र की मार्क्सवादी विचारधारा
(Marxist Theory of Democracy)

साम्यवादी विचारधारा के जनक कार्लमार्क्स ने स्वरूप, सगठन एवं लक्ष्यों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये है। वे प्रजातन्त्र के राजनैतिक विचारधारा को पूंजीवादियों की व्यवस्था कह कर ठुकराते हैं। उनके मतानुसार यह वास्तविक प्रजातन्त्र न होकर प्रजातन्त्र का केवल दिखावा मात्र है। मार्क्स का विश्वास था कि राजनैतिक क्रियायें आर्थिक आधार पर ही तय की जाती हैं। ये उस समाज का एक भाग होती है जो कि आर्थिक नींव पर स्थित होता है। प्रजातन्त्र भी इस सामान्य सिद्धांत से अछूता नही है। राजनैतिक प्रजातन्त्र वर्ग समाज की एक राजनैतिक संस्था है। यह और कुछ नहीं वरन् पूंजीपतिवर्ग की इच्छाओ एवं हितों की अभिव्यक्ति है। समाज मे आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्वपूर्ण वर्ग का होना सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का परिणाम है। जब तक समाज मे वर्ग-भेद रहेंगे तब तक प्रजातन्त्र मजदूरों के बहुमत का शासन नहीं बन सकता क्योंकि खुले या गुप्त रूप से सभी निर्णय पूंजीपति वर्ग द्वारा लिये जायेंगे जो कि अल्पसंख्यक है। निर्णय आर्थिक शक्ति के द्वारा ही किये जाते हैं, राजनैतिक स्तर पर तो उनको केवल मान्यता भर दे दी जाती है।

मार्क्सवाद का विश्वास है कि पूंजीवादी प्रजातन्त्र केवल धनवानों के लिए ही वास्तविक प्रजातन्त्र है। यह निर्धनो के लिए तो केवल छाया अथवा दिखावा ही है। इसे फासीवाद या गैर प्रजातन्त्र के अन्य पूंजीवादी रूपों मे श्रेष्ठ समझा जा सकता है क्योंकि इसके आधीन मार्क्सवादी दल सगठित किये जा सकते हैं। इस प्रकार मार्क्सवाद ने प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था एवं विचारधारा की पूरी आलोचना की किन्तु उसमें निहित विचारों को गलत नहीं बताया। असल में सिद्धान्त रूप में वे प्रजातन्त्र को मानने के लिए तैयार थे किन्तु जो सिद्धान्त राजनैतिक प्रजातन्त्र का आधार हैं वह उनकी आलोचना का विषय

था। पूंजीवादी समाज में व्यवहृत प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था मे बहुमत के हितों एवं इच्छाओं को संतुष्ट नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा किया जा सकता तो मार्क्स उसकी आलोचना न करते किंतु मार्क्स का तो यह विश्वास था कि पूंजीवाद अपनी प्रकृति के अनुसार बहुमत अर्थात् श्रमिक वर्ग के लिए कभी भी वास्तविक प्रजातन्त्र नही हो सकता। यही कारण है कि मार्क्सवादी दल हमेशा पूंजीवादी प्रजातन्त्र की आर्थिक एव राजनैतिक व्यवस्था को विनष्ट करने का भरसक प्रयास करते हैं।

मार्क्स तथा एन्जिल के लेखों मे प्रजातन्त्र की सराहना के लिए अनेक शब्द प्राप्त हो सकते हैं। व्यापक मताधिकार, स्वतन्त्र चुनाव, राजनैतिक स्वतन्त्रतायें आदि विचारों का उल्लेख किया गया है। मौलिक मार्क्सवादी मान्यता ने साम्यवादी दल को इसके सदस्यो के बहुमत के लिए एक सच्चा प्रजातन्त्र माना। बाद में लेनिन, स्टालिन आदि द्वारा की गई मार्क्सवाद की व्याख्याओं में दल का प्रजातन्त्रात्मक तत्व पीछे रह गया तथा उसका स्थान प्रजातन्त्रात्मक केन्द्रवाद (Democratic Centralism) ने ले लिया।

मार्क्सवादी विचारों के आधार पर रूस एवं चीन में जो प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्थायें अपनाई गई उनमे निश्चय ही प्रजातन्त्र की कुछ अपनी विशेषतायें हैं किंतु इनमे से कोई भी मूल विशेषता नही है। साम्यवादी व्यवस्था में व्यापक मताधिकार है किंतु वहां स्वतन्त्र चुनाव भी अन्य राजनैतिक स्वतन्त्राओं का अभाव है। मार्क्स ने जिस मजदूरों की तानाशाही को संक्रमणकाल के लिए आवश्यक माना था वह दल की एक स्थायी तानाशाही बन गई है। वर्ग-विहीन एव राज्यविहीन समाज के आदर्श को अपनाने के कारण मार्क्सवादी विचारधारा में कुछ आदर्श परम्परागत उदारवाद एव प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा के तत्व आ जाते हैं। आलोचकों का कहना है कि वर्गविहीन एवं राज्यविहीन समाज के स्वप्न के भ्रम को सोवियत संघ ने स्पष्ट कर दिया है।

लोकतन्त्र का आर्थिक रूप (The Economic form of Democracy)—लोकतन्त्र की मार्क्सवादी विचारधारा ने आर्थिक तत्व पर विशेष जोर दिया था। इसमें यह माना गया था कि राज्य वर्ग दमन एवं वर्ग संघर्ष का साधन है। ऐसी स्थिति में यह मान्यता भ्रामक थी कि कोई भी राजनैतिक व्यवस्था जनता की जनता के लिए अथवा जनता के द्वारा होती है। उत्पादन के साधनों पर जब तक व्यक्तिगत स्वामित्व रहता है तथा समस्त पूंजी केवल कुछ ही लोगों के हाथो में केन्द्रित रहती है उस समय तक 'जनता' शब्द कोई अर्थ नहीं रखता। यह तो केवल उसी समाज मे अर्थ रखता है जो कि वर्गविहीन होता है। पूंजीवादी समाज व्यवस्था में वर्ग-भेद रहता है। ऐसा होने पर

सरकारी यंत्र को शक्ति-सम्पन्न वर्ग द्वारा स्वयं के लाभ एवं अन्य वर्ग के शोषण के लिए प्रयुक्त किया जायेगा । इस प्रकार तथाकथित लोकतन्त्र बहु-संख्यक श्रमिक वर्ग के लिए तानाशाही बन जायेगा । यदि हम राजनैतिक शक्ति का प्रयोग बहुसंख्यक लोगों के हित में करना चाहते हैं तो इसके लिए पहले वर्गविहीन समाज की स्थापना करनी होगी । आर्थिक दृष्टि से समाज में समानता की स्थापना करके जनता के राजनैतिक अधिकारों को वास्तविकता प्रदान की जा सकती है । इस प्रकार मार्क्स ने जो प्रजातन्त्र की विचारधारा प्रस्तुत की उसमें राजनैतिक या सामाजिक की अपेक्षा आर्थिक पहलू पर विशेष जोर दिया गया । मार्क्स की प्रजातन्त्र सम्बन्धी मान्यताओं की कुछ एक मान्यताएं निम्न प्रकार हैं—

(१) राज्य एकवर्गीय संस्था है—मार्क्स का कहना था कि राज्य का अस्तित्व इसलिए है क्योंकि समाज दो वर्गों में बटा हुआ है । इन वर्गों में से जो भी सामर्थ्यवान और साधन-सम्पन्न होता है वह राज्य को अपने नियंत्रण में रखता है और उसके माध्यम से अन्य वर्ग पर नियंत्रण रखता है । मार्क्स ने ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख करते हुए अपने इस विचार को प्रमाणित करने का प्रयास किया । मानव इतिहास में जो परिवर्तन होते हैं, उनमें आर्थिक शक्तियों का पर्याप्त महत्व रहता है । आर्थिक कारण सामाजिक परिवर्तन के चालक सिद्धांत हैं । मार्क्स ने मानव इतिहास को प्रारम्भिक साम्यवाद-दासत्व का युग, सामन्तवादी युग, पूंजीवादी युग और समाजवादी युग में विभाजित किया है । इन युगों के समाज में आर्थिक दृष्टि से जो विभिन्न वर्ग बने उनमें पर्याप्त संघर्ष चलता रहा ।

मार्क्स ने माना कि राज्य की सहायता से शासक वर्ग अपनी इच्छाओं को शासित वर्ग पर थोपता रहता है । राज्य एक ऐसी संस्था है जिसके माध्यम से पूंजीपति वर्ग श्रमिकों के अतिरिक्त मूल्य को छीनने में सफल हो जाता है । राज्य की पुलिस, सेना और समस्त न्याय प्रणाली पूंजीपतियों के हितों की रक्षा के लिए प्रयुक्त की जाती है । राज्य के द्वारा राजद्रोह से सम्बन्धी कानून ऐसे बनाये जाते हैं जिनके फलस्वरूप श्रमिक लोग पूंजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह नहीं कर सकते हैं । राज्य द्वारा जो शिक्षा, धर्म एवं संस्कृति अपनाई जाती है उसमें भी पूंजीपतियों के हितों का ही विशेष ध्यान रखा जाता है । कुल मिलाकर मार्क्स ने यह माना कि राज्य वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति है । राज्य का अस्तित्व ही इस बात का प्रमाण है कि समाज विभिन्न वर्गों में बंटा हुआ है । पूंजीवादी राज्य अपने आपको चाहे कितना ही लोकतन्त्र कहे किन्तु श्रमजीवी वर्ग के हित में वह कभी भी नहीं हो सकता । लेनिन ने तो यह माना था कि संसद गप मारने वाली दुकान होती है और संसद के सदस्य

मुख्य रूप से पूंजीवाद के वकील है। राज्य वर्गीय संस्था होने के नाते सदैव दमनकारी नीति अपनाता है। वह अपने अस्तित्व के एक वर्ग के विशेष अधिकारों को मान्यता देता और वर्ग-भेद को बनाये रखता है। यह पूंजीवादी राज्य यातायात, संचार व्यवस्था आदि क्षेत्रों मे जन हित के लिए प्रतीत होने वाले जो भी कार्य करता है, उन सब का वास्तविक उद्देश्य श्रमिकों का दमन होता है। राज्य द्वारा मजदूरों की हड़तालों एवं अन्य विरोधी कार्यों को जब राज-द्रोह कह कर कुचला जाता है तो राज्य का यह दमनकारी स्वरूप सामने आता है।

(२) राजनैतिक प्रजातन्त्र एक धोखा है—मार्क्सवादियों के मतानुसार राजनैतिक लोकतन्त्र एक मृगमरीचिका है जो कि श्रमिकों को भुलावे में डालने के अतिरिक्त और कुछ भी नही करती। यह सच है कि इस व्यवस्था मे समस्त नागरिकों को विभिन्न राजनैतिक स्वतन्त्रतायें प्रदान की जाती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से इसमे सामयिक चुनाव होने हैं। प्रत्येक वयस्क नागरिक को मत देने का अधिकार होता है। वह उम्मीदवार भी बनने का हक रखता है। प्रत्येक नागरिक को सरकार के कार्यों की आलोचना करने और उसे विभिन्न सुझाव देने की स्वतन्त्रता रहती है। प्रत्येक व्यक्ति को एक नागरिक के रूप से भाषण देने, संगठन बनाने, प्रेस द्वारा विचार व्यक्त करने आदि की स्वतन्त्रतायें प्रदान की जाती हैं। देखने मे तो ऐसा लगता है कि राज्य द्वारा दी गई ये स्वतन्त्रताएं एवं अधिकार नागरिक के व्यक्तित्व के लिए पर्याप्त है, उसे इससे अधिक और क्या चाहिए। आर्थिक दृष्टि से भी प्रत्येक व्यक्ति को यह सुविधा दी जाती है कि वह कोई भी धन्धा रोजगार कर सके और सार्वजनिक कल्याण को ध्यान मे रखकर धन कमाने के लिए कोई भी साधन अपना सके। वह धन को अपनी इच्छा के अनुसार खर्च कर सकता है।

वास्तविक व्यवहार की दृष्टि से ये समान राजनैतिक स्वतन्त्रतायें एवं अधिकार महत्वहीन बन जाते हैं क्योंकि आर्थिक अभाव से ग्रस्त पीडित वर्ग उनका समुचित उपयोग नही कर पाते। मतदान का अधिकार उस गरीब और अशिक्षित मजदूर के लिए महत्वहीन है जिसे दोनों समय के खाने का प्रबन्ध करने में ही अपना सारा समय लगाना पड़ता है। वह न तो बुद्धिपूर्ण चयन कर सकता है और न ही धन लेकर अपने मताधिकार को बेचने के लोभ का संवरण कर सकता है। धन के अभाव मे प्रथम तो श्रमिक वर्ग का कोई भी सदस्य उम्मीदवार नहीं बनना चाहेगा। यदि उसने बनने का प्रयास भी किया तो धनी वर्ग उसे दबाने का प्रयास करेगा। यदि इतने पर भी वह नहीं माना तो उसे आर्थिक शक्ति के द्वारा दबा दिया जायेगा। उपयुक्त शिक्षा, बौद्धिक विकास, मानसिक सन्तुलन आदि के अभाव में हम सोच नही सकते

जब तक पूंजीवादी तत्व पूरी तरह से समाप्त न हो जाएं। क्रांति की सफलता के बाद प्रतिक्रियावादी शक्तियों के उभरने की प्रत्येक सम्भावना रहती है। यदि ये शक्तियां सफल हो गयी तो श्रमिकों के लिए अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण होगा। शक्ति का विरोध करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक है। मि० ट्राटस्की ने लिखा है कि 'एक क्रांतिकारी वर्ग जिसने हाथ में शस्त्र लेकर शक्ति प्राप्त की है, अपने हाथों में से शक्ति छीने जाने के समस्त प्रयत्नों का अवश्य ही राइफल हाथ में लेकर विरोध करेगा। जहां भी उसे सशस्त्र षडयन्त्र, हत्या के प्रयत्न अथवा विद्रोह का सामना करना पड़ेगा, वह शत्रुओं के सिरों पर निर्मम आघात करेगा।"

श्रमिकों की यह तानाशाही वर्गविहीन समाज की स्थापना से पूर्व की संक्रमणकालीन अवस्था है। मार्क्स का कहना था कि पूंजीवादी और साम्यवादी समाज के बीच एक के दूसरे में क्रांतिकारी परिवर्तन का काल रहता है। इसी के साथ-साथ एक राजनैतिक संक्रमण काल भी रहता है जिसमें राज्य और कुछ भी नहीं वरन् श्रमिक वर्ग की तानाशाही ही हो सकता है।

श्रमिक वर्ग की तानाशाही के अन्तर्गत राज्य में वर्ग विरोध को समाप्त करने के लिए हर सम्भव प्रयास किया जायेगा। यह तानाशाही अपने आप में कोई नयी चीज नहीं है क्योंकि जब तक उत्पादन के साधनों पर थोड़े से व्यक्तियों का अधिकार रहता है तब तक वे अपनी तानाशाही कायम रखते हैं। इन दोनों तानाशाही रूपों में श्रमिकों की तानाशाही अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि उनकी संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। श्रमिकों की तानाशाही केवल पूंजीपतियों अथवा प्रतिक्रियावादी तत्वों के लिए ही दमनकारी और स्वेच्छापूर्ण होगी किन्तु बहुसंख्यक मजदूरों के लिए यह एक अच्छा लोकतन्त्र होगा। इस लोकतन्त्र में दिये गये अधिकार, स्वतन्त्रताएं एवं सुविधाएं केवल दिखावा मात्र नहीं होंगी वरन् वे वास्तविक होंगी। इस सम्बन्ध में जार्ज सेबाइन (Sabine) ने लिखा है कि "वर्गविहीन समाज से भी अधिक महत्वपूर्ण चरण सर्वहारा वर्ग की तानाशाही थी जो कि मार्क्स और एंजिल्स के मतानुसार सर्वहारा वर्ग की क्रांति के तुरन्त बाद स्थापित हो जाती है। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही भी बुर्जुआ राज्य की तरह वर्ग-प्रभुत्व का एक साधन होगा। उसका यह कार्य होगा कि विस्थापित पूंजीवादी राज्य की नौकरशाही को नष्ट करे, उत्पादन के साधनों को सार्वजनिक सम्पत्ति से रूप में बदले और यदि पूंजीपति वर्ग द्वारा प्रतिक्रान्ति का कोई प्रयास किया जाए तो उसको दबा दे। सर्वहारावर्ग की यह तानाशाही कितने दिनों तक कायम रहेगी, इस बात को पूर्ण रूप से

कल्पना पर छोड़ दिया गया था। मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने इस पहलू को अधिक महत्व प्रदान नहीं किया था। उनका यह निष्कर्ष सही था कि वर्ग विहीन समाज की स्थापना एक दिन में नहीं हो जाती बल्कि इसके लिए संक्रमण काल की आवश्यकता है।

मार्क्सवादियों का यह विश्वास था कि संसदीय लोकतन्त्र की संस्थाओं का प्रयोग श्रमजीवी वर्ग अपने शोषकों तथा पीड़ितों के विरुद्ध संघर्ष में कर सकता है किन्तु ये संस्थाएं स्थापित होने वाली तानाशाही में कोई स्थान नहीं रखेगी। मार्क्स ने प्रजातन्त्रात्मक समाजवादियों (Democratic Socialists) की इस धारणा का खण्डन किया था कि वर्तमान राज्य पर अधिकार करके उसे एक सच्चा लोकतन्त्रात्मक राज्य बना दिया जाये। मार्क्स का उद्देश्य पूंजीवादी राज्य और उसकी संस्थाओं को पूर्ण रूप से नष्ट कर देना था। श्रमिकों के राज्य में श्रमजीवी दर्शन पर आधारित नये प्रकार की व्यवस्थापिका, न्यायपालिका, पुलिस और सेना आदि होगी। पूंजीवादी तरीके की संस्थायें मजदूरों के हित में कार्य नहीं कर सकती।

मार्क्सवादी विचारकों का क्रियान्वित रूप (The Implementation of Marxist Theory)—मार्क्स ने लोकतन्त्र के सम्बन्ध में जो विचार प्रतिपादित किये उनको विश्व के विभिन्न प्रमुख देशों में अपनाने का प्रयास किया गया। सोवियत रूस के उदाहरण को देखने के बाद इस विचारधारा का व्यावहारिक पक्ष भी स्पष्ट हो जाएगा। सोवियत रूस में अक्टूबर १९१७ की क्रांति के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग की तानाशाही (The Dictatorship of Proletariat) की स्थापना की गई। क्रान्ति की सफलता के तुरन्त बाद विरोधी शक्तियों को दबाने के लिये कार्य किया गया। दूसरी ओर देश में स्थायित्व लाने के लिए समाजवादी संविधान का मसविदा तैयार किया गया। सर्वप्रथम सन् १९१८ में रूसी समाजवादी संघीय सोवियत गणराज्य की स्थापना की गई जिसमें भूमि पर से व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर दिया गया। संविधान में कहा गया कि जो काम नहीं करेगा वह खाएगा भी नहीं। इसमें मताधिकार केवल श्रमिकों, कृषकों एवं सैनिकों को दिया गया। यह संविधान ६ वर्ष तक चला। इस काल में प्रशासन ने उन तत्वों के विरुद्ध संघर्ष किया जो कि नवीन व्यवस्था के शत्रु थे। धीरे-धीरे यह नवीन व्यवस्था जम गई और प्राचीन व्यवस्था के सर उठाने की सम्भावनायें खत्म हो गई। सन् १९२४ और १९३६ में सोवियत संघ के नये संविधान बने।

सोवियत संघ के संविधान की यह प्रमुख विशेषता बतायी जाती है कि उसके द्वारा एक समाजवादी लोकतन्त्र की स्थापना की गई, जिसमें उत्पादन

और वितरण के साधनों पर राज्य तथा समाज का स्वामित्व रहता है। वे उनका प्रयोग इस प्रकार करते हैं ताकि आर्थिक समानता पर आधारित एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना हो सके जिसमें न कोई शोषक थे और न कोई शोषित, न कोई पूंजीपति हो और न कोई मजदूर तथा सभी को कार्य करने के समान अवसर प्राप्त हो एवं सभी को जीवन की सुविधाओं की समानता उपलब्ध हो। सोवियत संघ का संविधान सामाजिक समानता को महत्व देता है और इसलिये वह उन बातों की चर्चा नहीं करता जिनके कारण लोकतन्त्र प्रायः सामाजिक असमानता का शिकार बन जाता है। इस संविधान में जनता की सम्प्रभुता (Sovereignty of the people) की चर्चा नहीं की गई है। साम्यवादी नेताओं का विश्वास है कि जनता की प्रभुता की आड में धनी लोगों द्वारा निर्धनों के मत खरीद लिये जाते हैं और इस प्रकार वे जनता की प्रभुता के स्थान पर स्वयं की प्रभुसत्ता स्थापित कर लेते हैं। रूसी संविधान में श्रमिकों और कृषकों (Workers and peasants) की सम्प्रभुता का उल्लेख किया गया है क्योंकि सच्ची समाजवादी व्यवस्था में प्रभुसत्ता का उन्हीं के हाथों में रहना जरूरी है।

सोवियत संघ सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व की बात नहीं करता क्योंकि इससे पूंजीवाद को प्रोत्साहन मिलता है। इस संविधान में उत्पादन के साधनों को स्वामित्व तथा वितरण की व्यवस्था का संचालन समाज द्वारा और समाज के हित में करने की बात कही गई है। कुल मिलाकर सोवियत संविधान एक ऐसे समाजवादी लोकतन्त्र की स्थापना करता है जिसमें व्यक्ति को सामाजिक समानता एवं वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त हो। इसमें राजनैतिक लोकतन्त्र की अनेक विशेषताओं को भी अपनाया गया है। संविधान की धारा १३७ सार्वजनिक मताधिकार की व्यवस्था करते हुये प्रत्येक नागरिक को एक मत देने का अधिकार और समस्त नागरिकों को निर्वाचन में समान रूप से भाग लेने का अधिकार प्रदान करती है। संविधान द्वारा नागरिकों को विचार, भाषण और अभिव्यक्ति एवं संगठन आदि का अधिकार भी प्रदान किया गया है। व्यावहारिक रूप में चाहे कुछ भी हो किन्तु वैधानिक दृष्टि से राजनैतिक लोकतन्त्र की स्थापना करने में सोवियत संविधान पीछे नहीं रहा।

सोवियत संघ ने अपने नागरिकों को अनेक मौलिक अधिकार प्रदान किये हैं। इन अधिकारों का रूप केवल राजनैतिक न होकर आर्थिक और सामाजिक भी है। यह माना गया है कि आर्थिक और सामाजिक अधिकारों के बिना राजनैतिक अधिकार मूल्यहीन होते हैं। सोवियत संविधान में नागरिक अधिकारों की अपेक्षा, सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों को प्रमुखता प्रदान की गई है। ये अपने हर नागरिक को काम करने का अधिकार,

आराम करने का अधिकार, सुरक्षा का अधिकार, नर तथा नारियों की समानता, धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता, नागरिक एवं राजनैतिक स्वतन्त्रताएं आदि प्रदान करता है। इनमे सबसे अधिक ध्यान उस अधिकार के ऊपर दिया जाता है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को काम करने का निश्चित अवसर प्राप्त हो सके। व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित रहे और भोजन, वस्त्र एवं निवास स्थान की चिन्ता न करते हुए अपने राजनैतिक अधिकारो का प्रयोग करें। यद्यपि व्यक्ति से सम्पत्ति एव उत्पादन के साधनों का स्वामित्व छीन लिया गया है किन्तु राज्य पर यह उत्तरदायित्व डाल दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त रोजगार दें, जिसके सहारे वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

सोवियत सविधान द्वारा दिये गये इन अधिकारों के साथ यह शर्त जुड़ी हुई है कि ये सर्वहारा वर्ग के हितों से न टकराये और उनसे देश की व्यवस्था को बल मिले। सोवियत सविधान के अधिकारों के साथ-साथ समाज और राज्य के प्रति नागरिको के कर्त्तव्यो का उल्लेख करना भी नही भूलता। इस सम्बन्ध में वी० कारपिन्सकी का कहना है कि "पूंजीवादी देशों की तरह सोवियत सविधान बिना अधिकारों के किसी पर कोई कर्त्तव्य नही लादता। अधिकार और कर्त्तव्य अविभाज्य है।"

सोवियत सविधान द्वारा दिये गए नागरिक अधिकारो की एक अन्य विशेषता यह है कि इनका न्यायिक पुनरावलोकन नहीं किया जा सकता। आलोचकों का कहना है कि सोवियत सघ में विचार, भाषा, अभिव्यक्ति का सगठन आदि की जो स्वतन्त्रताएं प्रदान की गई है वे समान रूप से सबके लिए नहीं हैं वरन् केवल साम्यवादी दल के सदस्यों के लिए हैं। साम्यवादी दल का अनुशासन यहा इतना कठोर है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी है और प्रजातन्त्र एक मजाक बन कर रह गया है। शासक गुट की नीति का कोई भी व्यक्तिगत रूप से विरोध नही कर सकता। असल में सोवियत सघ ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ शासक गुट की निर्धारित नीति पर चलने को माना है, उनके अनुसार व्यक्ति का वास्तविक कल्याण ऐसा करने में ही है।

सोवियत संघ में शासन प्रणाली जनतन्त्रात्मक केन्द्रवाद (Democratic Centralism) पर आधारित है। इसमे जनतन्त्र और केन्द्रवाद की दो विरोधी प्रवृतियों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया है। जनतन्त्रात्मक दृष्टि से नागरिकों को शासन के कार्य में भाग लेने का समुचित अवसर प्रदान किया जाता है। नागरिक विचार-विमर्श, वाद-विवाद,

आलोचना-प्रत्यालोचना करने का पूरा अधिकार रखते हैं। किन्तु रूस का जनतन्त्र यही पर रुक जाता है। वहा प्रत्येक प्रशासनिक अथवा दलीय अङ्ग अपने उच्च अङ्ग के अधीन रहता है । प्रत्येक अङ्ग को विचार-विमर्श करने और वाद-विवाद करने की स्वतन्त्रता केवल वहीं तक रहती है जहां तक कि उच्च अङ्ग के द्वारा उस पर प्रतिबन्ध नही लगाये जाते। निम्नस्तर के प्रत्येक अङ्ग को अपने उच्च स्तरीय अङ्ग की आज्ञा का पालन करना होता है और इस प्रकार सर्वोच्च राज्य शक्ति एक केन्द्रीय बिन्दु में जाकर निहित हो जाती है। जनतन्त्रात्मक केन्द्रवाद न केवल शासन और दल के सगठनों में ही पाया जाता है वरन् ट्रेड यूनियन और उत्पादक एवं उपभोक्ताओं के सगठन में भी मिलता है। साम्यवादी दल का संगठन भी इसी सिद्धांत पर आधारित है। उच्च अंग के आदेशों तथा इच्छाओं का विरोध निम्न स्तर के किसी भी अंग द्वारा नही किया जा सकता। आलोचकों ने इस व्यवस्था को निरंकुश एकात्मक एव केन्द्रित राज्य का प्रतीक माना है।

सोवियत प्रजातंत्र मे एक दलीय व्यवस्था को अपनाया गया है। सविधान केवल साम्यवादी दल को मान्यता प्रदान करता है। यद्यपि संविधान ने नागरिकों को संगठन बनाने का अधिकार दिया है और स्तालिन ने उसे संसार का सबसे अधिक प्रजातन्त्रात्मक संविधान कहा है, इतने पर भी वास्तविकता तो यह है कि साम्यवादी दल ही एक मात्र प्रमुख दल है जिसके हाथों मे सम्प्रभु शक्ति होती है। साम्यवादी दल का अनुशासन अत्यन्त कठोर है, उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं को एक उपहास का विषय बना लिया है। इस विशेषता को देखकर मि० आग तथा जिन्क (Ogg and Zink) ने यह माना है कि 'केवल स्वरूप को छोडकर हर प्रकार से सोवियत सघ मे दल ही सरकार है।" असल मे साम्यवादी तानाशाही ही साम्यवादी दल की तानाशाही है, इसके अतिरिक्त रूस एक सैनिक राज्य है जहां मार्शल लॉ के आधीन राज्य की सेवा करना अनिवार्य है। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रूस में व्यक्ति की स्वतन्त्रता और प्रजातंत्र कहा तक विद्यमान हैं। मार्क्सवादियों का विश्वास है कि विभिन्न राजनैतिक दल विभिन्न आर्थिक हितों के प्रतिनिधि होते हैं। सोवियत संघ मे कोई विरोधी आर्थिक वर्ग या प्रतिनिधि नही है अतः वहा विरोधी दलों की आवश्यकता नही है, केवल एक ही दल की आवश्यकता है जो कि सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व कर सके।

सोवियत संघ में प्रजातन्त्र का अस्तित्व एक विवादपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में सोवियत नेताओं का विचार है कि उनके देश में प्रजातन्त्र का सच्चा स्वरूप है। मि० टाऊस्टर के शब्दों में "सोवियत समाजवादी गण-राज्य संघ एक कठोर अधिनायक तंत्र है, यद्यपि उसके कुछ लक्षण स्पष्टतः

प्रजातंत्रीय हैं जो प्रजातांत्रिक केन्द्रवाद के सिद्धांत के अनुसार क्रियान्वित होते हैं।" स्तालिन ने सोवियत व्यवस्था को वास्तविक प्रजातंत्र माना था। साम्यवादी लोग अपनी व्यवस्था को लोगों का प्रजातंत्र (People's Democracy) कहते हैं जो कि पून्जीवादी प्रजातंत्र से भिन्न होती है। दूसरी ओर पश्चिमी विचारकों ने सोवियत व्यवस्था को अप्रजातांत्रिक अधिनायक तन्त्र, सर्वाधिकारवादी और निरंकुश आदि सज्ञाओं से सम्बोधित किया है। इनमें से एक का कहना है कि यदि रूसी प्रजातन्त्र को पूर्ण प्रजातन्त्र कहा जा सकता है तो बर्क (Burke) के इस कथन में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि पूर्ण प्रजातंत्र धरती पर सर्वाधिक लज्जाहीन वस्तु है। मि० ऑग के कथनानुसार "यदि सोवियत संघ में प्रजातत्र है तो वह साम्यवादी शक्ति के एकाधिकार में है।" मि० मुनरो के कथनानुसार "स्तालिन के सविधान ने बाह्य रूप से जनतत्र का निर्माण किया है किन्तु तथ्यत वहाँ जनतत्र नहीं है।" साम्यवादी लेखक तथा विचारक पश्चिमी विचारकों से विपरीत मत रखते है। उनके मतानुसार यह व्यवस्था किसी भी पून्जीवादी गणराज्य की अपेक्षा लाखों गुणा अधिक प्रजातान्त्रिक है। मैक्सिम गोर्की के कथनानुसार "रूसी प्रजातंत्र संसार में सबसे अधिक निश्चित प्रजातन्त्र है।" सिड्नी वेब की भांति कुछ पश्चिमी विचारक भी साम्यवादी व्यवस्था को प्रजातत्रात्मक मानते हैं।

जो विचारक सोवियत व्यवस्था को प्रजातत्रात्मक कहते है उनका यह तर्क है कि सोवियत जनता को सबसे अधिक जनतन्त्रात्मक स्वतंत्रतायें एवं अधिकार प्राप्त है। सविधान ने नागरिकों को कुछ निश्चित कर्त्तव्य सौंपे है। सोवियत रूस वर्ग विहीन समाज की स्थापना करके विभिन्न अधिकारो एवं स्वतन्त्रताओं को सच्चा अर्थ प्रदान करता है। यहां पर अल्प वर्ग के साथ समानता बरती गयी है। जो विचारक सोवियत संघ में प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था न होने की बात कहते हैं उनके विचार से सोवियत संघ द्वारा दी गयी स्वतंत्रतायें केवल दिखावा मात्र होती हैं। वह एक ही दल की तानाशाही है जो कि प्रजातत्र की अन्तरात्मा के विपरीत है। सोवियत संघ की व्यवस्थापिका नाम मात्र की है। अधिकांश निर्णय दलीय संगठन द्वारा लिये जाते है। सोवियत संघ में न्यायपालिका स्वतंत्र नहीं है तथा वह कार्यपालिका के हाथों और दल की इच्छा के सामने कठपुतली मात्र बन कर रह गयी है। सोवियत संघ में सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीयकरण है जो कि प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था के पूर्णतः विपरीत है।

(C) प्रजातत्र की सर्वोदयी विचारधारा
(The Sarvodayi Theory of Democracy)

प्रजातत्र के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों एवं लेखकों ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। भारत में प्रजातन्त्र की परम्परायें पर्याप्त गहरी थीं।

स्वतंत्रता ग्रान्दोलन के समय भारतीय राजनीतिज्ञों ने राज्य की शक्ति के सम्बन्ध में अपनी जो धारणायें बनाई उनको उन्होंने सैद्धान्तिक रूप देकर एक राजनैतिक दर्शन प्रस्तुत किया। इन विचारकों की धारणायें प्रजातन्त्रात्मक रंग में रंगी होते हुए भी कुछ अराजकतावाद की ओर झुकी हुई हैं। महात्मा गांधी, विनोबा भावे, जयप्रकाश नारायण आदि विभिन्न राजनीतिक विचारकों ने एक ऐसे समाज का चित्र प्रस्तुत किया जिसमें राज्य की जरूरत न हो, पुलिस और सेना की आवश्यकता न हो, जिसमें कोई राजनैतिक दल जरूरी न हो और जो सबके उत्थान की दिशा में समान रूप से सोच सकें। गांधीजी का कहना था कि "मेरे लिए राजनैतिक शक्ति एक लक्ष्य नहीं है किन्तु यह लोगों को जीवन के प्रत्येक विभाग में अपनी स्थितियों को श्रेष्ठ करने की क्षमता देने वाले साधनों में से एक है। राजनैतिक शक्ति का अर्थ होता है राष्ट्रीय प्रतिनिधियों के माध्यम से राष्ट्रीय जीवन को विनियमित करने की क्षमता। यदि राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाए कि वह अपने आप विनियमित होने लगे तो किसी प्रतिनिधि की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक होगा। वह अपने आपको इस प्रकार प्रशासित करेगा कि अपने पड़ौसियों के लिए बाधा न बन सके। इस आदर्श समाज में कोई राज्य नहीं रहेगा और इसलिए कोई राजनैतिक शक्ति नहीं होगी।"

(D) राज्यविहीन प्रजातन्त्र पर महात्मा गांधी
(Mahatma Gandhi on Stateless Democracy)

स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय और उसके बाद विभिन्न सार्वजनिक सभाओं, महत्वपूर्ण पत्रों, वक्तव्यों एवं समाचार पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से महात्मा गांधी ने राज्य से सम्बन्धित अपने विचार प्रकट किये। महात्मा गांधी ने जिस समाज को अपना आदर्श बनाया वह राज्य विहीन था। उन्होंने अपने इस राज्य विहीन समाज को अहिंसात्मक समाज के अनुरूप बना लिया। उनका कहना था कि "जहां लोगों पर कम से कम शासन किया जाता है वहां राज्य पूर्ण और अहिंसात्मक होता है। शुद्ध अराजकता का निकटतम मार्ग अहिंसा पर आधारित प्रजातन्त्र है।" महात्मा गांधी का यह विचार था कि राज्य दमनकारी सत्ता पर आधारित है जिसके लिए हिंसा की आवश्यकता होती है। अहिंसात्मक समाज में किसी राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रहती। महात्मा गांधी ने यह माना था कि पूर्ण अहिंसा पर आधारित आदर्श समाज तुरन्त ही सम्भव नहीं है क्योंकि यह कार्य सम्बन्धित व्यक्तियों की स्वेच्छा पर आधारित है। किसी को बाध्य करके उसे अहिंसात्मक नहीं बनाया जा सकता। किसी पर अहिंसा को लादना अपने आप में हिंसा है। इस आदर्श तक पहुँचने के

लिए व्यक्ति को अपना अहंकार समाप्त करना होगा और सक्रिय रूप से प्रयास करने होंगे। यदि पूर्ण अहिंसक राज्य तत्काल सम्भव नहीं है तो गांधीजी ने ऐसे राज्य की स्थापना का सुझाव दिया जिसमें अहिंसा का प्रभाव हो अर्थात् जो राज्य कम से कम शासन करे। कम शासन करने वाला राज्य तभी स्थापित हो सकता था जब कि देश में राजनैतिक स्वतन्त्रता हो। जब लोगों के हाथ में राजनैतिक शक्ति आ जाएगी तो उनके स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने के अवसर कम हो जायेंगे।

गांधीजी ने जो राज्य का विरोध किया उसका आधार कुछ नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक विचार थे। महात्मा गांधी ने यह माना था कि राज्य और राजनैतिक स्वामिभक्ति से ऊपर व्यक्ति को ईश्वर के प्रति और अपनी अन्तरात्मा के प्रति स्वामी भक्ति रखनी चाहिए। इस दृष्टि से कुछ लोग उनको व्यक्तिवादी विचारक कहते हैं क्योंकि उनके लिए व्यक्ति की अन्तरात्मा ही सर्वोपरि थी। उनकी प्रसिद्ध कहावत के अनुसार अन्तरात्मा के मामले में बहुमत के कानून का कोई स्थान नहीं है। साधारण न्यायालयों की आज्ञाकारिता के स्थान पर उन्होंने उस सबसे बड़े न्यायालय की आज्ञा का पालन करने को कहा जो कि दीन और दुनिया से ऊपर होती है। आत्मा की आज्ञा को मानने में यदि अपने प्यारे मित्र, परिवार और राज्य से पृथक होना पड़े तथा आंसू भी बहाने पड़े तो भी कुछ बुरा न होगा। समाज की इच्छा का अन्धे होकर पालन नहीं करना चाहिए। यदि व्यक्ति का दिल न कहे और उसकी अन्तरात्मा को स्वीकार न हो तो उसे कभी भी वह कार्य नहीं करना चाहिए। व्यक्ति की यह स्वतन्त्रता ही उसे स्वेच्छा से समाज सेवा की ओर प्रवृत्त कर सकती थी। यदि व्यक्ति से यह छीन ली जाए तो यह केवल यन्त्र मात्र बन जायेगा और समाज नष्ट हो जायेगा। यदि व्यक्ति अपनी इच्छा से ही समाज के प्रतिबन्धों को स्वीकार कर ले तो राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

महात्मा गांधी का विचार था कि राज्य नैतिकता की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। किसी के दबाव में आकर कोई काम करने को उन्होंने हमेशा बुरा कहा। कोई भी नैतिक कार्य राज्य के दबाव में आकर यान्त्रिक रूप से नहीं किया जाता, यह सचेत होकर स्वेच्छापूर्वक और कर्त्तव्य मानकर किया जाता है। राज्य शोषण को समाप्त करके यद्यपि समाज की कुछ सेवा करता है किन्तु उसके कार्य बढ़ जाने से मानवीय प्रगति की जड़ अर्थात् व्यक्तिगतता समाप्त हो जाती है इसीलिए राज्य के कार्यों और शक्ति की वृद्धि को सन्देह एवं भय की नजर से देखा गया।

गांधीजी द्वारा बहुमत के शासन की आलोचना की गयी। उनके अनुसार यह हिंसा का ही एक रूप था। इस सिद्धांत के अनुसार ५१ व्य

४६ व्यक्तियों पर शासन करते हैं जिनके व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं समझा जा सकता। जिस प्रकार बैन्थम ने अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख का सिद्धांत प्रतिपादित किया था उसी प्रकार महात्मा गांधी ने प्रत्येक और सबकी अधिक से अधिक प्रसन्नता और कल्याण का समर्थन किया। उन्होंने रस्किन (Ruskin) के सिद्धांत 'Unto the Last' को अपनी सर्वोदयवादी विचारधारा में सार्थकता प्रदान करने की चेष्टा की। उनकी दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य था और उनके अनुसार वह स्वराज्य निरर्थक होगा जिसमें कि व्यक्तियों को बहुमत के सामने अपना निर्णय समर्पित करना पड़े। यह बहुमत के प्रति दासता होगी। कोई भी बहुमत सजीव विश्वास की रचना नहीं करता। इसके अतिरिक्त बुद्धि का ठेका लोगों की संख्या ने नहीं ले रखा है। यह कोई ऐसी स्थूल चीज नहीं होती, जिसका भार संख्या के साथ बढ़े। उसके विपरीत यह हो सकता है कि एक व्यक्ति के बुद्धि का भार अन्य ६६ व्यक्तियों से अधिक हो।

महात्मा गांधी ने किसी संसदीय संस्था के सम्बन्ध में भी कोई अच्छा मत प्रकट नहीं किया। उन्होंने हिन्द स्वराज्य में ब्रिटिश संसद की तुलना एक पतित औरत एवं वेश्या से की है। इसके द्वारा कोई भी अच्छा कार्य अपनी इच्छा से नहीं किया जाता; यह हमेशा याचिकाओं एवं अन्य दबावों के माध्यम से कार्य करती है। इसे वैश्या इस दृष्टि से कहा गया क्योंकि इसका कोई वास्तविक स्वामी नहीं होता। यह बदलते हुए प्रधान मन्त्रियों के नियंत्रण में रहती है जो कि कल्याण की अपेक्षा हमेशा शक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसे उदाहरण हैं जबकि प्रधान मन्त्रियों ने ससद को केवल दल के लाभ के लिए ही कार्य करने को प्रेरित किया। जब पर्याप्त महत्व के प्रश्नों पर वाद-विवाद किया जाता है तो इसके सदस्य अपने आपको बहकाते हैं और धोखा देते हैं। कभी-कभी तो सदस्य उस समय तक बोलते जाते हैं जब तक कि सुनने वाले थककर सो न जाए। इस सब के अतिरिक्त इस बेकार की संस्था पर प्रति वर्ष देश का बहुत सारा धन खर्च होता है।

महात्मा गान्धी के दल व्यवस्था का भी समर्थन नहीं किया। उनका विचार था कि राजनीतिक दल उन लोगों को जन उपयोगी कार्य करने से रोक देते हैं जिनके हाथ में शक्ति है। यदि एक व्यक्ति समस्त लोगों का वास्तविक कल्याण चाहता है तो उसे किसी दल के साथ क्यों मिलना चाहिए। महात्मा गांधी का यह तर्क केवल बौद्धिक व्यायाम नहीं था। दल व्यवस्था के कार्यों की प्रकृति कुछ ऐसी होती है कि वे संकीर्ण हितों को राष्ट्रीय हितों से अधिक महत्व देते हैं। दलों के बीच पारस्परिक अविश्वास होता है व उनकी प्रेरणाएं अच्छी नहीं होती हैं।

चुनावों के प्रति भी महात्मा गांधी का कुछ अच्छा विचार नही था। चुनाव के सम्बन्ध मे लोग प्रसन्नतापूर्वक यह विश्वास करते है कि ऐसा करके ही स्वप्रशासन की स्थापना कर रहे है। किन्तु उनका यह विश्वास कभी पूर्ण नही हो पाता। इसके विपरीत चुनाव के द्वारा एक शोषणकारी वर्ग जन्म लेता है जिस के द्वारा व्यक्ति का नैतिक पतन कर दिया जाता है। महात्मा गांधी ने हिन्द स्वराज्य में एक बार लिखा था कि "सदस्यगण अपने राजनैतिक दल को बिना विचारे ही मत प्रदान करते है। उनका तथाकथित अनुशासन उनको ऐसा करने को बाध्य करता है। यदि अपवाद के रूप मे कोई व्यक्ति अपना स्वतन्त्र मत प्रदान कर दे तो उसको स्वधर्म त्यागी समझा जाता है।" इसके अतिरिक्त चुनावो में अत्यधिक व्यय किया जाता है। इसमें जो प्रचार होता है वह व्यक्ति को अनेक झूठी बातें बोलने को प्रेरित करता है। इसके द्वारा हरामखोरों और स्वार्थियों को पर्याप्त लाभ रहता है।

गान्धीजी का व्यवस्थापन में भी अधिक विश्वास नहीं था। उनका विचार था कि यदि हम यह मान लें कि केवल कानून पास करने से बुराइयों को दूर किया जा सकता है तो यह एक प्रकार से अपने आपको धोखा देना है। मूल बात तो यह है कि दिल को बदला जाए। यदि दिल बदले बिना व्यवस्थापन कर दिया तो वह महत्वहीन रहेगा। गांधीजी के कथनानुसार *"एक लोकप्रिय राज्य लोकमत से पहले ही कभी कार्य नहीं कर सकता। यदि* वह उसके विरुद्ध जाता है तो स्वय ही नष्ट हो जायेगा।" महात्मा गाधी ने संसदीय कार्य को राष्ट्रीय क्रियाओं के सबसे कम महत्वपूर्ण भाग के रूप मे लिया। उनके अनुसार सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय कार्य इसके बाहर ही किये जाते है। इसी दृष्टि से महात्मा गाधी ने अधिकार पत्र की उपयोगिता पर भी अधिक जोर नही दिया। यदि इन अधिकारो को अच्छी प्रकार से प्रशासित न किया जाए तो इनका बहुत थोड़ा महत्व रहेगा। जब तक व्यक्ति में मानवीयता और निडरता नहीं आती उस समय तक हमारे कोई भी अधिकार हमारी स्वतन्त्रताओं को नही बचा सकते हैं।

गांधीजी का कहना था कि कानून हमेशा आत्मरक्षा के लिए बनाये जाने चाहिए। यदि वे उन्नति या विकास को रोकते हैं तो वे बेकार हैं और उनको एक तरफ रख देना चाहिए। कोई भी मानवीय कानून स्थाई रूप से व्यक्ति के लिए बाध्यकारी नहीं हो सकता।

महात्मा गांधी ने जिस आदर्श समाज की तस्वीर हमारे सामने रखी उसकी सरकार के सम्बन्ध में उन्होंने अधिक विचार प्रकट नहीं किये। स्वय गांधीजी ने उस अहिंसात्मक समाज में सरकार की वास्तविक स्थिति को

वर्णित करने में अक्षमता दिखाई। इतने पर भी विभिन्न पुस्तकों एवं लेखों में उन्होंने जो विचार प्रकट किये, उनके आधार पर कुछ अनुमान लगाये जा सकते हैं। इस अनुमानों के सम्बन्ध में कठिनाई इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि महात्मा गांधी अपने विचार प्रकट करने में सदैव एकरूप नहीं रहते थे और प्रायः सुदूर भविष्य के लिए योजना बनाने के कार्य से दूर ही रहते थे। इस सम्बन्ध में गांधी जी के निकटतम शिष्य पण्डित नेहरू ने स्वयं कहा था कि "मैं उनके बारे में उद्देश्य में अपने मस्तिष्क में स्पष्ट नहीं हूं। मुझे संदेह है कि वे स्वयं भी स्पष्ट है या नहीं। वे यह कहते हैं कि मेरे लिए एक ही कदम पर्याप्त होगा और वे अधिक दूर के भविष्य के लिए कोई विचार नहीं बनाते।"

कठिनाइयों के बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि महात्मा गांधी का विश्वास एक पूर्ण अहिंसात्मक समाज में था। वे अहिंसात्मक राज्य की स्थापना को अपना प्रमुख आदर्श मानते थे और ये लक्ष्य प्राप्त हो उस समय तक के लिए जितना अधिक इस दिशा में प्रगति की जा सके उसी को पर्याप्त कहते थे। उनका अहिंसात्मक राज्य विकेन्द्रीकरण और सरलता की विशेषता से युक्त होगा। गांधीजी का यह राज्य सीमित सत्ता का प्रयोग करेगा। इस आदर्श समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक होगा, इसमें कोई सर्वोच्च नहीं होगा, कोई सत्ता नहीं होगी और कोई नेता नहीं होगा, यही स्वशासन की स्थिति होगी। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए स्वयं कानून होगा। उसकी अन्तरात्मा प्रत्येक कार्य एवं विचार के निर्णय की औचित्य होगी। नैतिक सत्ता को मान्य सम्प्रभु समझा जायेगा। हिंसा पर आधारित दमन पूरी तरह से समाप्त हो जायेगा। लोग स्वेच्छापूर्वक पूरा सहयोग करेंगे। यह अहिंसात्मक समाज पुलिस और कानूनी न्यायालय से रहित होगा, इनकी कोई आवश्यकता नहीं होगी।

गांधीजी के ये विचार उनकी मानव प्रकृति से सम्बन्धित धारणाओं पर निर्भर थे। उन्होंने माना था कि "कोई व्यक्ति स्वभाव से पापी नहीं होता। वैसे वास्तविक व्यवहार में हम यह पाते है कि व्यक्ति पापी और हिंसाप्रिय होते हैं किन्तु वे इस रूप में पैदा नहीं होते, उनको परिस्थितियों और विभिन्न अन्यायपूर्ण व्यवहारों द्वारा ऐसा बना दिया जाता है। मनुष्य के लिए अच्छा बनना बुरे बनने की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। यहां तक कि पापी लोगों में भी कभी-कभी आत्मा की आवाज गूंजती है। यदि इस आवाज को सहारा दिया जाए तो मनुष्य की परिस्थितिजन्य बुराई की कालिमा हट जायेगी और उसके स्थान पर सद्गुणों का उजाला चमकेगा; जो कि न केवल उसके वरन् सम्पूर्ण समाज के जीवन को प्रसन्नता से भर देगा।" गांधीजी का

विश्वास था कि "यदि अवसर दिया जाए तो प्रत्येक व्यक्ति मे आत्मविकास की पूरी सम्भावनाएं है। हृदय परिवर्तन के बाद जब व्यक्ति पाप कर्मों को छोड़ देगा तो न्याय की समस्या अपने आप ही सुलझ जायेगी। लोग कदाचित् ही पाप करेंगे। जहां अहिंसा का कानून सर्वोच्च होता है वहां कोई ईर्ष्या अनुचित महत्वाकांक्षा या अपराध नही होते।"

महात्मा गांधी के आदर्श समाज मे स्वतन्त्रता और समानता दोनों ही प्रजातन्त्र के आधारो का महत्वपूर्ण स्थान था। अन्तरात्मा की आवाज को मानने के लिए उन्होने व्यक्ति पर लगाये गये प्रत्येक प्रतिबन्ध का विरोध किया। उनके आदर्श समाज मे पूर्णत समानता रहेगी। प्रत्येक व्यक्ति ईमानदारी के साथ कमायेगा, मानसिक एवं बौद्धिक श्रम के बीच कोई अन्तर नही होगा। *गांधीजी के राम राज्य में समानता अन्तर्निहित थी।* उनके मतानुसार वर्तमान असमानताओं की स्थिति में कोई राम राज्य नही हो सकता, क्योंकि कुछ लोग धनी बन जाते है और अधिकाश लोगों को खाने को भी नहीं मिल पाता। गांधीजी ने एकाधिकार का विरोध किया क्योंकि इससे न केवल धन केन्द्रित हो जाता है वरन् विशेषाधिकार भी पनपते है। गांधीजी का आदर्श समाज सरलता के सिद्धान्तों पर आधारित था, जिसमें सदा रहन-सहन और उच्च विचार की कहावत को चरितार्थ किया जाना था। इस दृष्टि से महात्मा गांधी ने समस्त जटिलताओ का विरोध किया और सभ्यता की नवीनताओं को संदेह की नजर से देखा।

(E) विनोबा भावे की दार्शनिक विचारधारा
(Philosophic Theory of Vinoba Bhave)

विनोबा भावे महात्मा गान्धी के उन निकटतम शिष्यों में से है जो कि अपनी समस्त मानसिक एव बौद्धिक प्रक्रियाओं को गान्धी के रंग में रंगी हुई मानते हैं। सन् १९४२ में प्रकाशित स्वराज्य शास्त्र में उन्होने बताया कि समाज मे कुछ लोगों को अधिक महत्व दिया जाता है और शेष को कम महत्व दिया जाता है। राजनीति शास्त्र की समस्या ऐसे किसी साधन का पता लगाना है जिसके माध्यम सें ये बहुसंख्यक थोड़े बहुत समर्थ लोग अपने कार्यों का प्रबन्ध स्वयं ही कर सकें। प्रारम्भ में विनोबाजी राज्य के विरुद्ध नहीं थे किन्तु समय बीतने के साथ-साथ उनका राज्य के प्रति विरोध बढ़ता गया और अब वे राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानने लगे। राज्य व्यक्ति के लिए स्वाभाविक नहीं है वरन् समाज पर थोपी गई एक कृत्रिम चीज है। इस रूप में राज्य कुछ बुराइयों का कारण बनता है। पहली बात तो यह है कि राज्य बौद्धिक स्वतन्त्रता को समाप्त कर देता है। प्राचीन भारत में अध्ययन की पूरी स्वतंत्रता

थी। उपनिषदों के लेखक ऋषियों द्वारा किसी को भी पढ़ने के लिए बाध्य नहीं किया जाता था। किन्तु आज अध्ययन की प्रणाली एव विषय को राज्य के शिक्षा विभाग द्वारा निर्धारित किया जाता है। जैसी सरकार होती है वह उसी रूप में विद्यार्थियों के मस्तिष्क को रंग देती है। पहले ईश्वर के अतिरिक्त किसी की आज्ञा मानना गलत माना जाता था .किन्तु आज सरकार को ही ईश्वर बनाया जा चुका है।

गांधीजी की भांति विनोबा का भी यह विश्वास है कि राज्य द्वारा कोई अच्छाई नहीं की जा सकती है। यह न केवल अच्छा करने में ही असमर्थ है वरन् यह शक्तिधारियों को दूषित भी कर सकती है। शक्ति का पद जादू का सिंहासन है और जो भी कोई इस पर आता है वही इसके आधीन बन जाता है। विनोबाजी के कथनानुसार यदि वर्तमान सत्ताधारियों को हटा कर हम स्वयं शक्ति को अपने हाथ में ले लें तो हम भी ठीक वही काम करेंगे जो कि ये कर रहे हैं। शक्ति का पद ही ऐसा है। जो भी इस पर बैठता है उसी का दृष्टिकोण संकीर्ण हो जाता है। वह भयभीत होता है और अपनी रक्षा के लिए बड़ी सेना रखने लगता है।

दूसरे, राज्य सभी व्यक्तियों के भाग्य का विधाता बन जाता है। असल में शासन जनता का नहीं होता वरन् प्रधान मन्त्री तथा उनके साथियों का होता है। विनोबा भावे बहुमत के शासन को भी श्रेष्ठता प्रदान नहीं करते। बहुमत के शासन का लक्ष्य 'सभी का कल्याण' कभी नहीं हो सकता। इसका अर्थ बहुमत का कल्याण एवं अल्प सख्यकों के प्रति तानाशाही होता है। प्रशासन का रूप चाहे कुछ भी हो वह अपनी इच्छाओं को क्रियान्वित करने के लिए सदैव ही दमन और हिंसा का व्यवहार करता है। अतः विनोबाजी ने शासन-मुक्त समाज का उल्लेख किया।

तीसरे, विनोबा भावे ने राजनैतिक दलों का भी विरोध किया। वे इतिहास के अध्ययन, वर्तमान के अनुभव एव विचार-विमर्श के आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि हमारे देश में राजनैतिक दल न केवल कुछ कर नहीं पाते वरन् आगे चल कर खतरनाक भी साबित हो सकते हैं। दलों के द्वारा एक व्यक्ति को निस्वार्थ सेवा के मार्ग से हटा दिया जाता है। लोगों के बीच दरारें डाल दी जाती हैं। दो दलों के लोग केवल विभिन्नता ही नहीं रखते वरन् वे एक दूसरे से मिलना भी नहीं चाहते। ये दल व्यक्ति की स्वामि-भक्ति के क्षेत्र को संकीर्ण कर देते हैं। शक्ति प्राप्ति के लिए इनके द्वारा प्रत्येक साधन अपनाया जा सकता है। सिद्धान्तों की बात तो केवल दिखाने के लिए की जाती है। ये अपनी झूठी प्रशंसा करते हैं। विचारों की विभिन्नता अपने आप में बुरी नहीं होती। वह तो एक मानव समाज में भी होनी चाहिए

किन्तु इस अन्तर के आधार पर एक स्थाई संगठन बनाकर उसमें अनुशासन तथा प्रचार पर जोर देना सर्वथा अनुपयुक्त है। विनोबा मानवीय विभिन्नताओं के बीच संवाद की स्थापना करना चाहते थे किन्तु राजनैतिक दलों के रहते यह सम्भव नही।

यद्यपि विनोबा भावे ने दल प्रथा का विरोध किया था किन्तु फिर भी किसी न किसी प्रकार के दल जैसी संगठन की आवश्यकता से वे अपने आपको नही बचा सके थे। उन्होंने जिस शांति-सेना का समर्थन किया वह सच्चे अर्थों में कोई राजनैतिक दल नही था क्योंकि इसका उद्देश्य चुनाव लड़ना नहीं था। शांति-सेना में यह विशेषता संभवतः इसलिए नही थी क्योंकि सर्वोदयी अराजकतावादी विचारक अपने उद्देश्यों को राज्य के माध्यम से प्राप्त नहीं करना चाहते। वैसे प्रत्येक दल की भांति यह भी अपनी विचारधारा को फैलाने के लिए पर्याप्त प्रचार के साधन अपनाती है। इसका उद्देश्य राज्य-शक्ति की संस्था को समाप्त करना है और इस दिशा में प्रथम कदम के रूप में भूदान तथा ग्राम दान का उपदेश दिया गया। भूदान के कार्यकर्त्ताओं से यह आशा की जाती है कि वे ग्राम दान के लिए प्रचार करें। उनको गावों में स्त्री-पुरुष भेजने चाहियें और उनकी सक्रिय स्वीकृति एवं सहयोग प्राप्त करना चाहिए। शांति सेना की अहिंसा, भूदान और ग्रामदान से सबन्धित विचारधारा है और साथ ही इसमे कठोर अनुशासन भी रहता है। इस अनुशासन का उल्लंघन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को शांति सैनिक के रूप में मान्यता नही दी जा सकती।

विनोबा ने चुनावों को इसलिए अस्वीकार किया, क्योंकि ये समाज में विभाजन पैदा करते है तथा जनता की स्थिति मे यह कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही कर पाते। चुनाव की प्रक्रिया का विरोध कुछ सही प्रतीत नही होता क्योंकि यह जनतन्त्र की एक मुख्य विशेषता होती है। चुनाव-प्रणाली में यदि दोष हैं तो उनको सुधारने की आवश्यकता है समाप्त करने की नही। इस सम्बन्ध में बर्न्स (Burns) ने लिखा था कि "इस बात से कोई मना नही कर सकता कि वर्तमान प्रतिनिधि सभायें दोषपूर्ण है किन्तु यदि एक स्वचालित यंत्र ठीक प्रकार कार्य नहीं करता तो भी बैलगाड़ी की ओर पीछे दौड़ना, चाहे कितना ही ठीक क्यों न लगे, मूर्खतापूर्ण होगा।"

सर्वोदयी नेता व्यवस्थापन के विरुद्ध भी विचार प्रकट करते हैं। उनके मतानुसार आधुनिक व्यवस्थापन देहली से आने वाली आज्ञायें हैं जिनका पालन प्रत्येक कीमत पर किया जाना चाहिए। महात्मा गांधी की भांति विनोबा भावे भी दिल को बदले बिना किए गए व्यवस्थापन को निरर्थक मानते हैं।

आलोचकों का कहना है कि व्यवस्थापन इतनी महत्वहीन चीज नहीं होती। जब कभी व्यवस्थापन के साथ लोकप्रिय समर्थन नहीं होता, उस समय भी यह जनता को शिक्षित करता है और एक सही वातावरण की रचना में सहायता देता है। यद्यपि सामाजिक परम्पराओं के बिना अछूतों के उद्धार के लिए या बाल विवाह के विरुद्ध किए गए व्यवस्थापन का अधिक मूल्य नहीं होगा किन्तु फिर भी यह लोगों को विचार करने का और आलोचना करने का अवसर तो देगा। समाज-सुधारों के क्षेत्र में कानून द्वारा नेतृत्व किया जाता है। कानून के पीछे जो दमनकारी शक्ति होती है उसे विनोबा भावे ने गलत माना है किन्तु आलोचकों का कहना है कि यह हमेशा गलत नहीं होती। कभी-कभी दमन के द्वारा नुकसान की अपेक्षा अच्छाई अधिक की जाती है। सर्वोदयी अराजकतावादी रामराज्य की धारणा का भी आलोचकों ने करारे तरीके से स्वागत किया है। आदि एच० डॉक्टर (Adi. H. Doctor) के कथनानुसार "इनका रामराज्य गलत धारणाओं के आधार पर बना हुआ है, यह स्वाभाविक रूप से कार्य रूप में परिणित नहीं किया जा सकता और प्रत्येक व्यक्ति की अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहेगा।"

(F) कुछ अन्य विचारकों की धारणाएं
(Concepts of Some other Thinkers)

महात्मागांधी और विनोबा ने दार्शनिक अराजकतावाद का समर्थन किया। इनके अतिरिक्त भी कुछ विचारक हुए जिन्होंने इन सिद्धान्तों को आगे बढ़ाया, इनमें दादा धर्माधिकारी धीरेन्द्र मजूमदार और जयप्रकाश-नारायण आदि मुख्य हैं। इनमें दादा धर्माधिकारी ने विनोबा द्वारा की गई संसदीय सरकार की आलोचना का पूरा-पूरा समर्थन किया। उनके मतानुसार दल ईश्वर के आधुनिक अवतार है। यह अपने छोटे से छोटे कार्य के लिए भी स्वामीभक्ति और आज्ञाकारिता की मांग करते हैं। विभिन्न दलों द्वारा किये गये चुनाव नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। इन दलों द्वारा नैतिकता की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। राजनैतिक दल उनको मनोनीत करते हैं, जो कि चुनाव लड़ सकें और विजय प्राप्त कर सकें। प्रत्येक दल केवल एक योग्यता को महत्व देता है और वह दल की अनुशासनता को स्वीकार करता है। आजकल मत स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं दिये जाते,वे बेचे जाते है और जबरदस्ती लिए जाते हैं। दादा धर्माधिकारी के अनुसार कानून का क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है। यह कुछ अवैधानिक कार्यों को सफलतापूर्वक दण्ड देता है किन्तु अन्य क्षेत्रों में यह प्रभावहीन होता है। कानून के द्वारा अधिक

से अधिक एक व्यक्ति को बुराई करने से रोका जा सकता है किन्तु यह किसी को भी अच्छा कार्य करने को प्रेरित नही कर सकता । कानून का शासन समाज का विभाजन कर देता है। इसके द्वारा जिसका समर्थन किया जाता है वह प्रसन्न हो कर अनुचित कार्य करने के लिए प्रेरित होता है और कानून जिसके विरुद्ध निर्णय लेता है वह असन्तुष्ट हो कर अपराध करता है।

दादा की मान्यता के अनुसार पश्चिमी प्रजातन्त्र पूंजीवाद से पैदा हुआ। भू-स्वामियों ने प्रजातन्त्रात्मक राज्य की रचना की और जनता को चुप करने तथा जो उसके पास था उनको बनाए रखने का प्रयत्न किया। आज भी प्रजातन्त्र को इसलिए अपनाया जाता है ताकि पूंजीवादियों की रक्षा की जा सके। दादा के अनुसार संसदीय सरकार तीन बुराइयां पैदा करती है—शक्ति का दुरुपयोग, गुण्डागर्दी और भ्रष्टाचार। उनके मतानुसार पुलिस गुण्डो का एक गुट होता है जो कि कोई रचनात्मक कार्य नही करता। ये पुलिस वाले उसी तरह खराब होते है जिस प्रकार कि दूसरों के धन रखने वाले भू-स्वामी और बोहरे हुआ करते हैं।

जिस लोकनीति मे लोग अपना शासन स्वय करेगे, उसमे कोई पुलिस या भू-स्वामी नही होगा, कोई दण्ड नही होगा, और समस्त कानूनों के पीछे लोकमत तथा भावनाओ का दबाव होगा । ज्यों-ज्यों भौतिक दबाव कम होते जायेंगे और लोकमत का विश्वास बढता जायेगा, त्यों-त्यों राज्य की सम्प्रभुता समाप्त होती चली जाएगी । आज यदि पुलिस और दण्ड की आवश्यकता होती है तो वह केवल इसलिए कि वर्तमान व्यवस्थापन सामान्य स्वीकृति पर आधारित न हो कर बहुमत पर आधारित है। दादा के मतानुसार वे ही कानून पास किये जाने चाहियें जिनके पीछे ससद की सामान्य स्वीकृति हो । जब लोगों द्वारा इसे असभव बताया गया तो उन्होंने तर्क दिया कि पहले कोशिश करके देखी जाए और उसके बाद कुछ कहा जाए। दादा धर्माधिकारी ने राजनीति और लोकनीति के बीच विरोध प्रदर्शित किया। उनका कहना था कि राजनीति मे प्रशासन का प्रभाव होता है और लोकनीति में अनुशासन का प्रभाव होता है, राजनीति सम्प्रभुता पर जोर देती है और लोकनीति स्वतन्त्रता पर जोर देती है; राजनीति नियन्त्रण पर आधारित है और लोकनीति आत्म-नियन्त्रण पर। इस प्रकार जब राजनीति के स्थान पर लोकनीति कायम होगी तो शक्ति का स्थान स्वतन्त्रता, नियन्त्रण का स्थान आत्म-नियन्त्रण और प्रतिद्वन्दिता का स्थान कर्त्तव्यपालन द्वारा ले लिया जाएगा।

दादा ने एकता पर अधिक जोर दिया। वे विनोबा की भांति राज्य के अन्तिम विनाश के सम्बन्ध में कम रुचि लेते थे।

धीरेन्द्र मजूमदार उच्च स्तर के प्रशासन की बुराइयों से परेशान थे। उनके अनुसार वर्तमान प्रशासकीय ढाचे में एक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के अवसर बहुत कम है और इसलिये किसी अन्य मार्ग की खोज करनी होगी जो कि व्यवस्था बनाये रखते हुए स्वतन्त्र विकास के लिये अवसर प्रदान कर सके। जब एक राहगीर यह देखता है कि जिस मार्ग पर वह चल रहा है वह सकटपूर्ण है तथा अनेक बाधायें हैं तो वह उसे छोड़ कर अन्य राह की तलाश करता है। उसे अन्य राह मिले या न मिले किन्तु वह खतरनाक राह को तो छोड़ ही देता है। यही बात समाज के सम्बन्ध में भी लागू होती है। शासन मुक्त समाज से मि० मजूमदार का अर्थ प्रशासन से स्वतन्त्रता प्राप्त करना था।

समाज की प्रकृति के सम्बन्ध मे उनका कहना था कि इसकी सही प्रकृति का अनुमान अनुभव के प्रकाश मे लगाया जा सकता है। वर्तमान समाज हिंसात्मक संघर्ष पर आधारित है। इसको सहयोगपूर्ण बनाने के लिये प्रयास करना चाहिए। धन और शक्ति समाज मे पारस्परिक सघर्ष पैदा करते है इन्ही के कारण लोग अपने पड़ौसियो से प्रतिदिन लड़ते है, उद्योग और विकास के साथ-साथ सघर्ष बढ़ रहे है और शीघ्र ही समाज के अस्तित्व को भी खतरे मे डाल देंगे। व्यक्ति ने राज्य को आत्म रक्षा के लिये पैदा किया और इसीलिये उसे दण्ड की शक्ति दी। राज्य की सहायता से यद्यपि शांति स्थापित हो गई किन्तु यह शान्ति दण्ड पर आधारित थी। राज्य ने समाज को हिंसात्मक प्रकृति से दूर रखने के लिए कुछ नही किया। इसके विपरीत राज्य हिंसा का प्रयोग सगठित रूप मे करता है। जब मजूमदार से यह पूछा गया कि शासन मुक्त समाज में व्यवस्था किस प्रकार रहेगी तो उनका जवाब यह था कि शासन समाप्त हो जाने के बाद भी समाज का यह वर्तमान रूप चलता नही रहेगा। केवल शासन को समाप्त करना ही पर्याप्त नही है वरन् उन सभी कार्यों की जांच करनी होगी जो कि प्रशासन मे आवश्यक होते हैं। मजूमदार का कहना था कि पश्चिमी अराजकतावादी विचार राज्यों को समाप्त करना चाहते हैं किन्तु उन कारणों पर विचार नही करते जिन्होंने राज्य को जन्म दिया। इस अर्थ में अराजकतावाद, अव्यवस्था बन जाता है। पूर्ण रूप से शासन विहीन समाज एक आदर्श है और यह केवल तभी प्राप्त हो सकते हैं जब व्यक्ति नैतिकता के उच्च स्तर पर पहुंच जाये। वर्तमान स्थिति मे प्रशासन को रखना होगा किन्तु यह प्रशासन व्यक्ति के दैनिक जीवन को अधिक प्रभावित नही करेगा। प्रशासन केवल उतना ही जरूरी है जितना कि यह विभिन्न इकाइयों के बीच समायोजन कर सके। जिस प्रकार अनेक मोतियों का हार बनाने के लिये एक धागे की आवश्यकता है जो कि दिखाई

नहीं देता, उसी प्रकार विभिन्न सामाजिक इकाइयों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने ले लिए केवल इतनी शक्ति जरूरी होती है जो कि दिखाई न दे सके।

एक अन्य सर्वोदयी विचारक जयप्रकाशनारायण है जो इस दर्शन को स्वीकार करने के लिए समाजवादी दल को छोड़कर आये। जयप्रकाशनारायण मार्क्सवादियों के राज्यविहीन विचार से बहुत प्रभावित थे। किन्तु बाद में उन्होंने मार्क्सवादी विचारों का खण्डन किया क्योंकि वे उन्हें उनके लक्ष्य तक पहुंचाने में असमर्थ रहे। नारायण का विचार था कि मानवीय स्वतंत्रता पूर्ण रूप से केवल राज्यविहीन समाज में प्राप्त की जा सकती है। यद्यपि यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि राज्यशक्ति कभी पूरी तरह से समाप्त हो जायेगी। किन्तु फिर भी यह सामाजिक प्रयास का एक श्रेष्ठ लक्ष्य होगा कि राज्य की शक्ति, कार्य एवं क्षेत्रों को यथाशक्ति कम किया जा सके। राज्य के बिना काम चलाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में एक उच्च नैतिक चरित्र होना चाहिये। व्यक्ति में यह योग्यता हो कि वह बिना किसी बाहरी प्रतिबन्ध के अपने साथियों के साथ न्याय और सहयोग से रह सके। यदि यह गुण व्यक्ति में नहीं आ पाते तो भी इनको मानवीय विकास का आधार माना जायेगा।

मनुष्य में परिवर्तन हो सकता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उस सर्वशक्तिमान ईश्वर का एक भाग है किन्तु यह परिवर्तन आज की भौतिकवादी परिस्थितियों में सम्भव नहीं है। भौतिकवाद व्यक्ति को एक सच्चा व्यक्ति बनने से रोक देता है। अतः पहले भौतिकवादी दर्शन को समाप्त करना चाहिये। किन्तु ऐसा करने के लिए हिंसा की कोई आवश्यकता नहीं है। साधनों का प्रयोग करने में श्री नारायण ने महात्मा गांधी का अनुगमन किया। उनके अनुसार लोगों को उनके पुराने मूल्य तथा व्यवहार के तरीके छोड़ने के लिये प्रेरित करने के हेतु प्रयास करने होंगे। भूदान इन्हीं में से एक प्रयास है। इसके साथ-साथ अन्य कार्यक्रम भी चलने चाहिए जो लोगों को स्वमत्कार की दृष्टि से प्रशिक्षित कर सकें।

श्री नारायण का कहना था कि उपर्युक्त प्रजातन्त्र को प्रोत्साहित करने के लिए राज्य बहुत कम कार्य कर सकता है; क्योंकि यह मुख्य रूप से एक नैतिक रास्ता है। प्रजातन्त्र के लिये कुछ नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों की आवश्यकता है जो व्यक्ति में जन्म से ही पैदा नहीं होते वरन् प्रशिक्षण और व्यवहार से आते हैं। इन नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों की सूची में मि० नारायण ने सत्य का समर्थन, हिंसा का विरोध, स्वतन्त्रता का प्रेम और तानाशाही और दमन का विरोध, सहयोग की भावना, महान हित

के साथ स्वार्थ को समायोजित करने की तत्परता, उत्तरदायित्व सम्भालने के लिये तैयार रहना, दूसरों के मतों का आदर और सहनशीलता, मनुष्य की मौलिक समानता में विश्वास, मानवीय प्रकृति की प्रशिक्षणता में विश्वास आदि को सम्मिलित किया है। यदि ये गुण स्थित हों तो लोग स्वयं अपना शासन कर सकते हैं। व्यक्ति में इन गुणों का विकास करना राज्य की क्षमता के बाहर है। इन गुणों के अभाव में कागजी संविधान अथवा प्रतिबन्ध और सन्तुलन की विचारधारा व्यक्ति को कोई स्वतन्त्रता नहीं दे सकती।

मि० नारायण ने दलों को समाप्त करने की इच्छा प्रकट की क्योंकि ये इस प्रकार कार्य करते हैं जिससे प्रजातन्त्र का विकास रुक जाता है। लोकमत को व्यावहारिक रूप देने की अपेक्षा राजनैतिक दल उसे भ्रष्ट कर देते हैं। दल के द्वारा व्यक्ति के ऊपर कठोर नियन्त्रण रखा जाता है। यह अपने सदस्यों की इच्छा को विनियमित करता है। उनको यह बताया जाता है कि कब और किसके लिये वोट देना चाहिये किन्तु यह लोगों में शक्ति और पहलू को विकसित करने के लिये कुछ भी नहीं करता। जयप्रकाश नारायण के कथनानुसार आज का भारत प्रजातन्त्र नहीं है जहां पर कि लोग शासन करते हैं वरन् यह तो दलतन्त्र (Partycracy) है जहां पर कि धन, संगठन तथा प्रचार पर आधारित राजनैतिक दल लोगों पर शासन करता है। मि. नारायण का मत है कि संसद से लेकर ग्राम पंचायत तक वास्तविक प्रजातन्त्र का वातावरण बनाने के लिये तथा लोगों में नागरिकता की पूर्ण भावना पैदा करने के लिये प्रत्येक स्तर पर एक साथ सत्याग्रह चलाना चाहिए। राजनैतिक दलों के विरुद्ध किये गये सत्याग्रहों से ही लोग यह समझ पाएंगे कि वे सरकार के स्वामी हैं या उसके सेवक। अपने एक लेख में मि० नारायण ने यह सुझाव दिया है कि राजनैतिक दलों को स्वयं एक आत्म-निरोधक अध्यादेश (Self denying ordinance) पास करना चाहिये कि वे स्थानीय सत्ताओं के मामले में स्वयं को दूर रखें क्योंकि स्थानीय संस्थायें नीचे से ही उठनी चाहिये। वे जनता के विचारों, इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुकूल ही न हों वरन् उनके प्रत्यक्ष नियन्त्रण के आधीन भी हों।

साथ मिलेगें तो स्थानीय समाज बन जायेगा । इस समाज के बारे मे जयप्रकाश नारायण ने एक आदर्शवादी चित्र प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार एक सच्चे समाज मे साम्यवाद रहता है जहां सभी के हित एक जैसे होते है, विभिन्नता में भी एकता की भावना रहती है। जाति, वर्ग, धर्म और राजनीति लोगो को अलग-अलग बांट देने का कार्य करते है। आदर्श समाज में इन सभी को एकसाथ मिला दिया जावेगा और उनके हितो को एकरूप कर दिया जावेगा। जयप्रकाश नारायण का यह संदेह है कि राज्य कभी नष्ट हो जायेगा। उन्होने इस सम्बन्ध मे पर्याप्त वास्तविक दृष्टिकोण अपनाया है। उनके अनुसार सर्वोदय राजनीति का मुख्य उद्देश्य यह है कि शक्ति के समस्त केन्द्र नष्ट हो जाए। जितना अधिक इस नवीन राजनीति की ओर हम चलेंगे, उतना ही अधिक पुरानी राजनीति से दूर हटेंगे, और यही राज्य की समाप्ति का मार्ग होगा।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रजातन्त्र के सम्बन्ध मे विभिन्न विचार-धाराए प्रस्तुत की जाती है। इनमे से किसी ने प्रजातन्त्र के वास्तविक स्वरूप पर जोर दिया है और कोई उसके आर्थिक स्वरूप पर जोर देता है जबकि अन्य लोग उसकी सम्प्रभुता को ही समाप्त करना चाहते है। प्रजातन्त्र का मूल आधार स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की भावना है। विभिन्न विचार-धाराओं ने इन मुख्य आधारो को प्राप्त करने की दृष्टि से ही अपना मत प्रकट किया।

(G) अपाश्चात्य राजनैतिक प्रक्रियाएं (Non-western Political Processes)

यद्यपि विभिन्न राजनैतिक विचारधाराए एवं उनके अनुरूप व्यवहार को बहुत कुछ पश्चिम की देन समझा जाता है किन्तु इसका अर्थ यह नही होता कि इस क्षेत्र मे उसका एकाधिकार है। पश्चिमोत्तर संसार बहुत समय तक पराधीन रहा और इसलिए भौतिक प्रगति तथा विभिन्न सिद्धान्तों के विकास मे अधिक आगे नही बढ़ पाया। यहाँ जो कुछ भी सोचा और समझा गया उस पर पश्चिम की अमिट छाप रही क्योंकि इनके अधिकांश प्रदेश पर पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों का अधिकार था। समय के साथ-साथ ज्यों-ज्यों इस क्षेत्र के निवासियों मे चेतना उभरी त्यों-त्यों उनमें स्वतन्त्र चिन्तन का विकास हुआ। यह कहा जाता है कि पश्चिमी यूरोप में विचारधारा का युग सब से पहले पैदा हुआ किन्तु धीरे-धीरे यहा इसका क्षय होने लगा और विचारधारा की शक्तियां क्रमशः कम महत्वशील बनने लगी। इतिहास मे विभिन्न विचारधाराओं को तोड़ा-मरोड़ा गया तथा उनको एक-दूसरे के साथ

मिलने के लिए बाध्य किया गया। पश्चिमी यूरोप के प्रायः सभी औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील देशों का राजनैतिक जीवन दलों से प्रभावित है जो संवैधानिक प्रजातन्त्र में विश्वास करते हैं, जहां मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के द्वारा सम्पन्नता प्राप्त की गयी है। उदारवादी और समाजवादी तत्वों ने मिलकर यहा के जीवन को प्रभावित किया है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय में नाजीवादी और फासीवादी विचारधाराओं के उदय ने पूर्वी विचारधाराओं को बहुत कुछ पीछे धकेल दिया। धीरे-धीरे सैनिक राष्ट्रवाद समाप्त हुआ और उसके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विचार पर जोर दिया जाने लगा।

दुनिया के दूसरे भागों में इस विचारधारा के इतिहास की कहानी भिन्न रही। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के समय में विचारधारा का प्रवाह समाप्त होने की अपेक्षा प्रगति की ओर बढ़ा। चीन और पूर्वी यूरोप साम्यवादी बन गये। कोरिया और दक्षिण पूर्व एशिया के विभिन्न भागों में साम्यवादी दल इतना मजबूत हो गया कि इसने अनेक भागों पर अधिकार कर लिया। मध्य-पूर्व में मिस्र के राष्ट्रपति नासिर का अरबवाद सैनिक राष्ट्रवाद के रूप में सामने आया। उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों को प्रत्येक जगह चुनौती दी जाने लगी। राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के पुराने क्रांतिकारी सिद्धांत पर आधारित उपनिवेश विरोधी आन्दोलनों ने साम्राज्यवादी सरकारों को उखाड़ फेंका अथवा ऐसा करने की धमकी दी। इस प्रकार गैर-पश्चिमी संसार के लिए बीसवी शताब्दी राजनैतिक विचारों एवं व्यवहारों के प्रारम्भ का सन्देश लेकर आई। पश्चिमी जगत से इन विचारधाराओं के हटने और गैर-पश्चिमी देशों मे उनका प्रभाव बढ़ने के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण दिया जाता है कि औद्योगिक क्रांति ने जब वातावरण को बदल कर सामाजिक जीवन को अनेक चुनौतियां प्रदान की तो पुरानी आदतों एवं व्यवस्थाओं के साथ समायोजन करने के लिए नयी विचारधाराओं का उदय हुआ। किन्तु जब यहा के जन-जीवन में स्थायित्व आ गया तो विचारधारा का महत्व एवं प्रभाव भी घटने लगा। आज राजनैतिक विचारधारा औद्योगिक दृष्टि से अविकसित देशों मे पर्याप्त महत्व रखती है। यहां के देश विकास की दौड़ में पश्चिम को पकड़ने के लिए उतावले है।

अपाश्चात्य राजनैतिक प्रक्रियाओं मे हम उन व्यवहारों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन कर सकते हैं जो पूर्व के देशों द्वारा अपनायी गयी और जिनके माध्यम से वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास करते है। उन प्रक्रियाओं मे से कुछ प्रमुख का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(१) सत्याग्रह—सत्याग्रह एक राजनैतिक प्रक्रिया के रूप मे मुख्य रूप से महात्मा गांधी की देन है। पश्चिमी विचारक अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के

लिए मुख्य रूप से क्रांति, हिंसा और सैनिक शक्ति का सहारा लेने को कहते थे किन्तु महात्मा गांधी ने इन सब को ठुकराया। उनका विचार था कि अच्छे साध्यों के लिए अच्छे साधनों का होना जरूरी है। खराब साधनों से कभी भी अच्छे उद्देश्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। राजनीति के युद्ध-क्षेत्र में महात्मा गांधी ने जिस अहिंसा रूपी हथियार की खोज की, उसका आधार आध्यात्मिक था।

सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ सत्य पर आग्रह है। इसका मुख्य सिद्धांत यह है कि अन्त में सत्य की ही विजय होती है। इस मार्ग को अपनाने वाला व्यक्ति कभी झूठ नहीं बोलता। वह अपनी गतिविधियों को छिपाने का प्रयास नहीं करता तथा गलतियों को बिना किसी हिचक के स्वीकार कर लेता है। सत्य और अहिंसा, सत्याग्रह के दो मुख्य आधार हैं। महात्मा गांधी का कहना था कि कुछ लोगों का यह कथन कि यह निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलों का अस्त्र है और अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हिंसा तथा भौतिक शक्तियों का प्रयोग प्रायः उचित है यह मान्यता केवल भ्रम है। असल में, सत्याग्रह बलवानों का शस्त्र है और यह किसी भी रूप में हिंसा के प्रयोगों को अनुचित ठहराता है।

सत्याग्रह का अर्थ—सत्याग्रह एक आध्यात्मिक तरीका है जिसमें व्यक्ति अपने अत्याचारी के विरुद्ध किसी प्रकार का द्वेषभाव न रखते हुए अपनी अन्तरात्मा की आवाज का अनुसरण करता है। वह किसी भी स्थिति में सत्य के प्रतिपादन से पीछे नहीं हटता। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सत्याग्रह करने वालों के अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं। अपने सत्य पर कायम रहते हुए ही सुकरात ने मृत्यु स्वीकार की। प्रहलाद ने अपने पिता के अत्याचारों को सहा और मीराबाई ने जहर का प्याला पी लिया, ये सभी सत्याग्रही थे। किंतु राजनीति में सत्याग्रह का प्रारम्भ करने का श्रेय महात्मा गांधी को है। सत्याग्रह युद्ध से विपरीत प्रक्रिया है। मि० एन० के० बोस (N. K. Bose) के कथनानुसार "सत्याग्रह और युद्ध का मुख्य अन्तर इस बात में है कि जहां युद्ध का उद्देश्य दूसरों को शक्ति का प्रयोग करके जीतना है वहां सत्याग्रह का उद्देश्य दूसरों का हृदय परिवर्तन करना है। युद्ध में एक व्यक्ति द्वारा दूसरों को चोट पहुंचायी जाती है किन्तु सत्याग्रही स्वयं का त्याग करता है और कष्ट सहता है।" सत्याग्रही का यह विश्वास होता है कि जिन मनुष्यों के हाथों में शक्ति है उनको भी असहयोग के द्वारा शक्ति छोड़ने के लिए विवश किया जा सकता है। ऐसा वे केवल तभी कर सकते हैं जब कि सब कुछ त्यागने के लिए तैयार हों। गांधीजी यह मानते थे कि सत्याग्रह कभी असफल नहीं हो

सकता क्योंकि मानवीय जीवन को नियमित करने वाला प्रेम है और व्यक्ति को कभी भी इस हथियार से पराजित किया जा सकता है।

निश्चित है कि सत्याग्रही के विरोधी द्वारा उसे अनेक कष्ट दिए जायेंगे किन्तु उसका मुकाबला वह अपनी कष्ट सहने की शक्ति से करेगा। सत्याग्रही को अपनी आत्मा पर पूरा विश्वास होता है। वह आत्म-बल के सहारे कठिनाइयों को जीतने की हिम्मत करता है। गांधी का कहना था कि संघर्ष करते समय अगर कोई सत्याग्रही मर जाए तो भी उसका अन्त नहीं होता। कभी-कभी सत्याग्रही को अपने उद्देश्य की सफलता के लिए मृत्यु का वरण भी करना होता है। जब अत्याचारी व्यक्ति एक सत्याग्रही को अपने उद्देश्य के लिए मरते हुए देखता है तो उसके अन्तःकरण में जागृति आ जाती है।

सत्याग्रही व्यक्ति विचार और व्यवहार मे भेद नहीं करता। वह लोकानुशासन और आत्मानुशासन में बन्धा रहता है। अहिंसात्मक सत्याग्रह का मार्ग कोई सरल मार्ग नहीं है। इसकी दिशा में आगे बढने के लिए पर्याप्त प्रशिक्षण लेना जरूरी है। इस अहिंसात्मक युद्ध में भाग लेने से पहले जनता और जन-नेताओं को आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाना आवश्यक होता है। सत्याग्रह का मार्ग स्वयं प्रेरित होता है। इसे अपनाते समय विरोधी की अनुमति नहीं लेनी पड़ती। सत्याग्रह द्वारा आत्माओं के मिलन का प्रयास किया जाता है। इसके द्वारा अपराधी व्यक्ति के दिल पर प्रभाव पडता है। सत्याग्रह अपने आप में एक तकनीक है। उसके विभिन्न रूप हो सकते हैं। इनमें पहला है असहयोग आन्दोलन। गाधीजी का कहना था कि अत्याचार और शोषण का प्रभाव इसलिए था कि लोग अज्ञान के कारण अथवा भाग्य के कारण अत्याचार और शोषण में इच्छा या अनिच्छा से सहयोग देते है। यदि सभी लोग स्वेच्छा से किसी अन्यायपूर्ण प्रणाली के साथ असहयोग प्रारम्भ कर दें तो वह अपने आप ही समाप्त हो जायेगी। गाधीजी का कहना था कि शासितों की इच्छा और सहयोग के बिना स्वेच्छाकारी सरकार भी कायम नहीं रह सकती। प्रजा से सहयोग शासक द्वारा शक्ति का भय दिखा कर लिया जाता है। यदि लोग इस शक्ति से डरना बन्द कर दें तो स्वेच्छाचारी का प्रभाव समाप्त हो जायेगा। बुराई के साथ असहयोग करना स्वयं सत्याग्रही की आत्मा को शुद्ध करता है। सत्याग्रही द्वारा असहयोग आन्दोलन में हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार और धरना आदि अहिंसात्मक उपायों को काम में लिया जाता है। धरने में दबाव, धमकी, भूख-हड़ताल और पुतले जलाना आदि प्रक्रियाओं को नही अपनाना चाहिए।

सत्याग्रह की दूसरी तकनीक सविनय अवज्ञा (Civil disobedience) है। गांधीजी ने सविनय अवज्ञा को सर्वाधिकार प्रभावशाली और सशस्त्र क्रांति

का रक्तहीन रूप माना था। इसमें अनैतिक नियमों को तोड़ा जाता है और अहिंसात्मक ढंग से अत्याचारी का विरोध किया जाता है। गांधीजी का कहना था कि सविनय अवज्ञा कुछ सिद्धान्तों के आधार पर होनी चाहिए। इसके पीछे घृणा या शत्रुता का भाव नहीं होना चाहिए। यह एक शक्तिशाली और उग्र साधन था, इसलिए इसको सावधानीपूर्वक और कम से कम अपनाने की बात कही गयी। इस साधन का प्रयोग हर किसी व्यक्ति को नहीं करना चाहिए वरन् कुछ चुने हुए लोगों को ही करना चाहिए जो इन नियमों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी रखते हो।

सत्याग्रह का तीसरा साधन हिजरत है। इसका अर्थ एक स्थाई निवास स्थान से दूसरी जगह चले जाना है। जो लोग एक स्थान पर अत्यन्त दुख का अनुभव करते हैं, आत्म सम्मान के साथ नहीं रह सकते तथा जो अहिंसा-पूर्ण ढंग से अपनी रक्षा नहीं कर सकते उनको महात्मा गान्धी ने यह उपाय अपनाने को कहा।

सत्याग्रह का चौथा उपाय उपवास है। इसे महात्मा गांधी ने अग्निबाण कह कर पुकारा है। गांधीजी ने प्रारम्भ में उपवास का प्रयोग केवल अपनी आत्मा की शुद्धि और भूलों के प्रायश्चित के लिए किया था किन्तु बाद में वे इसे सार्वजनिक जीवन की शुद्धि के लिए अपनाने लगे।। उन्होंने उपवास को वैयक्तिक साधन की अपेक्षा सार्वजनिक साधन बना लिया। उनका विश्वास था कि उपवास जनता की आत्म शक्ति या मनोबल को बढ़ाता है, यह पिछली भूलों से सावधान करता है तथा अत्याचार एवं हिंसा का विरोध करता है। जब व्यक्ति के सारे उपाय निरर्थक हो जाएं तो उसे ईश्वर से सहायता प्राप्त करने के लिए उपवास करना चाहिए। उन्ही के शब्दों में "मानव प्रयास के रूप में मेरे सारे साधन समाप्त हो गए तब मैंने अपना सिर ईश्वर की गोद में रख दिया। ईश्वर ने मेरे लिए उपवास भेजा। उन्होंने स्वयं भी इस साधन को व्यवहार में प्रयुक्त किया था। सत्याग्रह का एक अन्य साधन हड़ताल (Strike) है। गांधीजी ने माना था कि हड़ताल अपने वैध कष्टों को दूर करने का श्रमिकों का एक साधन है। गांधीजी यह मानते थे कि वर्तमान पूंजीवादी समाज नष्ट हो जाए और उसके स्थान पर श्रमिक पूंजीपति समुदाय आ जाए। उनका विश्वास था कि समस्त उद्योग पूंजी और श्रम दोनों के सम्मिलित परिश्रम का परिणाम होने चाहिए। उन्होंने श्रमिकों को यह सलाह दी कि वे उद्योगों को अपना समझें और ऐसा समझकर ही अन्याय, अयोग्यता, बेईमानी और मालिकों की अदूरदर्शिता को दूर करें।

(२) प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद—समाजवाद के संबंध में पश्चिम भांति पूर्व में भी पर्याप्त विचार किया गया क्योंकि यहां इसके लिए

उपयुक्त वातावरण था । आर्थिक अन्याय, सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण एवं पूंजीवाद के अन्य दोषों से पीड़ित हो कर इस क्षेत्र में प्रायः सभी देश समाजवाद की ओर आकर्षित हुए । अपनी परिस्थितियों एवं सम्भावनाओं के अनुसार समाजवाद की स्थापना के लिए अलग-अलग साधन अपनाने का समर्थन किया गया। भारत ने प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद का मार्ग अपनाया । यहां के सत्ताधारी दल ने भुवनेश्वर अधिवेशन में प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद को अपना उद्देश्य बनाया । भारत समाजवाद की स्थापना करना चाहता है जिसके अनुसार वह आर्थिक असमानता को दूर करके हर व्यक्ति को उसकी प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अवसर प्रदान करता है किन्तु इन सबको करने के लिए वह हिंसात्मक तरीकों को नहीं अपनाएगा । सोवियत रूस की भांति यहां पूंजीपतियों की हत्या नहीं की जाएगी और मजदूर वर्ग कोई सशस्त्र क्रांति नहीं करेगा वरन् वाञ्छनीय परिवर्तन प्रजातन्त्रात्मक तरीके से शान्तिपूर्ण किया जायेगा । भारत में गान्धीवादी परम्परायें और यहां के इतिहास की प्रथायें थीं जिनके आधार पर हिन्सात्मक साधनों को अपनाना उपयुक्त नहीं समझा गया । यहां यह विश्वास किया जाता है कि गलत साधनों से अच्छे उद्देश्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता । क्रान्ति के द्वारा प्राप्त किया गया समाजवाद वह नहीं हो सकता जो सभी को न्याय, प्रसन्नता, सम्पन्नता एवं व्यक्तित्व के विकास के अवसर प्रदान कर सके । इसके अतिरिक्त क्रान्ति के परिणाम भी सन्दिग्ध होते हैं । हो सकता है कि समाजवाद की स्थापना के लिए की गई क्रान्ति मजदूरों को इतना अधिक दबा दे कि वे फिर कभी अपने अधिकारों को मांगने की हिम्मत न कर सकें । प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद राजनैतिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं को अत्यधिक महत्व देता है । इसका विश्वास है कि जिस व्यक्ति को ये प्रदान किये जाते हैं उसका अधिक समय तक शोषण नहीं किया जा सकता और धीरे-धीरे निश्चित तथा स्थाई रूप से वह समानता स्थापित हो जायेगी जो कि वांछनीय है ।

(३) दलविहीन प्रजातन्त्र—दलविहीन प्रजातन्त्र का विचार भी अपाश्चात्य राजनैतिक प्रक्रिया का एक भाग है । महात्मा गान्धी, विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण आदि सभी विचारकों ने यह माना था कि दलबन्दी की यह प्रथा लाभदायक नहीं है वरन् इसके अनेक दुष्परिणाम हैं । उदाहरण के लिए यह समाज में फूट डालती है और उनके बीच कृत्रिम रूप से विभाजन पैदा कर देती है । दल के द्वारा व्यक्ति को संकीर्ण हितों के प्रति स्वामीभक्त बना दिया जाता है । वह राष्ट्रीय एवं समाज के सामान्य हितों को दलीय हित के समान महत्व नहीं देता । दलीय राजनीति में व्यक्ति की

स्वतन्त्रता का पूर्ण रूप से हनन हो जाता है क्योंकि व्यक्ति जो कुछ भी निर्णय लेता है, सोचता है तथा कार्य करता है उसमें उसकी स्वयं की मर्जी नहीं चलती वरन् उसे अपने राजनैतिक दल की आज्ञाओं का बिना विरोध किए पालन करना होता है। इसके अतिरिक्त राजनैतिक दल लोक कल्याण के लिए प्रयास करने की अपेक्षा हमेशा शक्ति प्राप्त करने में लगे रहते हैं और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे कोई भी साधन अपनाने में पीछे नहीं रहते। ऐसी स्थिति में यह उपयुक्त माना गया कि राजनैतिक दल संगठित नहीं किए जायें और निर्दलीय प्रजातन्त्र का विकास किया जाए।

(४) पंचायती राज संस्थायें—प्रजातन्त्र की जड़ों को जन-जीवन की गहराई में आरोपित करने के लिए पंचायती राज संस्थाओं को अपनाना आवश्यक समझा गया है। भारत और नेपाल की भांति अनेक अपाश्चात्य देशों ने इन संस्थाओं को अपना कर अपने देश में प्रजातन्त्र की परम्पराओं को स्थाई रूप देना चाहा है। यह प्रयास किया जाता है कि इन संस्थाओं के माध्यम से स्थानीय लोग अपनी समस्याओं को मुख्य रूप से अपने ही प्रयासों द्वारा सुलझा सकें। इससे जन-जीवन में राजनैतिक चेतना आती है। वे अपने अधिकारों के प्रति सजग होते हैं और अपने उत्तरदायित्वों को निभाने के प्रति जागरूक बन जाते हैं। यदि ये संस्थायें न हों तो प्रजातन्त्र नाम मात्र का रह जाएगा और वास्तविक शक्ति का प्रयोग उन चुने हुए लोगों के द्वारा किया जावेगा जो सामान्य जनता के हितों के संबंध में अधिक चिंतित नहीं होते।

उपर्युक्त के अतिरिक्त और भी ऐसे राजनैतिक व्यवहार हैं जो प्रत्येक देश की अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के परिणाम हैं। अफ्रीका में आये दिन सरकार का बदलना, वहां राजनीति में सेना का महत्व, एशिया के विभिन्न देशों में साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव, विभिन्न देशों *द्वारा प्रजातन्त्र के अलग-अलग रूपों जैसे निर्देशित प्रजातन्त्र* (Guided Democracy) *एवं मूल प्रजातन्त्र* (Basic Democracy) आदि का अपनाया जाना, राजनीति में भाषावाद और क्षेत्रीयतावाद का तत्व, राजनैतिक भविष्य को निर्धारित करने में विद्यार्थियों का योगदान आदि विभिन्न बातें गैर पाश्चात्य संसार की राजनीति का अंग बन गयी हैं। यहां राजनीति को प्रभावित करने वाले दबाव समूह के रूप में शिव-सेना और लाल रक्षक तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसे संगठित समूह भी कार्य करते हैं। ये राजनैतिक प्रक्रियायें समय की आवश्यकतानुसार परिवर्तित होती रहती हैं।

उपयुक्त वातावरण था। आर्थिक अन्याय, सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण एवं पूंजीवाद के अन्य दोषों से पीड़ित हो कर इस क्षेत्र में प्रायः सभी देश समाजवाद की ओर आकर्षित हुए। अपनी परिस्थितियों एवं सम्भावनाओं के अनुसार समाजवाद की स्थापना के लिए अलग-अलग साधन अपनाने का समर्थन किया गया। भारत ने प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद का मार्ग अपनाया। यहां के सत्तावारी दल ने भुवनेश्वर अधिवेशन मे प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद को अपना उद्देश्य बनाया। भारत समाजवाद की स्थापना करना चाहता है जिसके अनुसार वह आर्थिक असमानता को दूर करके हर व्यक्ति को उसकी प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अवसर प्रदान करता है किन्तु इन सबको करने के लिए वह हिंसात्मक तरीकों को नहीं अपनाएगा। सोवियत रूस की भांति यहां पूंजीपतियों की हत्या नहीं की जाएगी और मजदूर वर्ग कोई सशस्त्र क्रांति नही करेगा वरन् वांछनीय परिवर्तन प्रजातन्त्रात्मक तरीके से शान्ति-पूर्ण किया जायेगा। भारत में गान्धीवादी परम्परायें और यहां के इतिहास की प्रथायें थीं जिनके आधार पर हिन्सात्मक साधनों को अपनाना उपयुक्त नहीं समझा गया। यहां यह विश्वास किया जाता है कि गलत साधनों से अच्छे उद्देश्यों को प्राप्त नही किया जा सकता। क्रान्ति के द्वारा प्राप्त किया गया समाजवाद वह नही हो सकता जो सभी को न्याय, प्रसन्नता, सम्पन्नता एवं व्यक्तित्व के विकास के अवसर प्रदान कर सके। इसके अतिरिक्त क्रान्ति के परिणाम भी सन्दिग्ध होते हैं। हो सकता है कि समाजवाद की स्थापना के लिए की गई क्रान्ति मजदूरों को इतना अधिक दबा दे कि वे फिर कभी अपने अधिकारों को मांगने की हिम्मत न कर सकें। प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद राजनैतिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं को अत्यधिक महत्व देता है। इसका विश्वास है कि जिस व्यक्ति को ये प्रदान किये जाते है उसका अधिक समय तक शोषण नही किया जा सकता और धीरे-धीरे निश्चित तथा स्थाई रूप से वह समानता स्थापित हो जायेगी जो कि वांछनीय है।

(३) दलविहीन प्रजातन्त्र—दलविहीन प्रजातन्त्र का विचार भी अपाश्चात्य राजनैतिक प्रक्रिया का एक भाग है। महात्मा गान्धी, विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण आदि सभी विचारकों ने यह माना था कि दलबन्दी की यह प्रथा लाभदायक नहीं है वरन् इसके अनेक दुष्परिणाम हैं। उदाहरण के लिए यह समाज में फूट डालती है और उनके बीच कृत्रिम रूप से विभाजन पैदा कर देती है। दल के द्वारा व्यक्ति को संकीर्ण हितों के प्रति स्वामीभक्त बना दिया जाता है। यह राष्ट्रीय एवं समाज के सामान्य हितों ो दलीय हित के समान महत्व नहीं देता। दलीय राजनीति में व्यक्ति की

स्वतन्त्रता का पूर्ण रूप से हनन हो जाता है क्योंकि व्यक्ति जो कुछ भी निर्णय लेता है, सोचता है तथा कार्य करता है उसमें उसकी स्वयं की मर्जी नही चलती वरन् उसे अपने राजनैनिक दल की आज्ञाओं का बिना विरोध किए पालन करना होता है। इसके अतिरिक्त राजनैतिक दल लोक कल्याण के लिए प्रयास करने की अपेक्षा हमेशा शक्ति प्राप्त करने में लगे रहते है और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे कोई भी साधन अपनाने में पीछे नही रहते। ऐसी स्थिति में यह उपयुक्त माना गया कि राजनैतिक दल सगठित नहीं किए जायें और निर्दलीय प्रजातन्त्र का विकास किया जाए।

(४) पंचायती राज संस्थायें—प्रजातन्त्र की जडो को जन-जीवन की गहराई में आरोपित करने के लिए पंचायती राज सस्थाओं को अपनाना आवश्यक समझा गया है। भारत और नेपाल की भाति अनेक अपाश्चात्य देशो ने इन संस्थाओं को अपना कर अपने देश में प्रजातन्त्र की परम्पराओं को स्थाई रूप देना चाहा है। यह प्रयास किया जाता है कि इन सस्थाओं के माध्यम से स्थानीय लोग अपनी समस्याओं को मुख्य रूप से अपने ही प्रयासो द्वारा सुलझा सकें। इससे जन-जीवन में राजनैतिक चेतना आती है। वे अपने अधिकारों के प्रति सजग होते हैं और अपने उत्तरदायित्वों को निभाने के प्रति जागरूक बन जाते हैं। यदि ये संस्थायें न हों तो प्रजातन्त्र नाम मात्र का रह जाएगा और वास्तविक शक्ति का प्रयोग उन चुने हुए लोगों के द्वारा किया जावेगा जो सामान्य जनता के हितो के संबध मे अधिक चिंतित नही होते।

उपर्युक्त के अतिरिक्त और भी ऐसे राजनैतिक व्यवहार है जो प्रत्येक देश की अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियो के परिणाम हैं। अफ्रीका में आये दिन सरकार का बदलना, वहा राजनीति में सेना का महत्व, एशिया के विभिन्न देशों में साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव, विभिन्न देशों द्वारा प्रजातन्त्र के अलग-अलग रूपो जैसे निर्देशित प्रजातन्त्र (Guided Democracy) एवं मूल प्रजातन्त्र (Basic Democracy) आदि का अपनाया जाना, राजनीति मे भाषावाद और क्षेत्रीयतावाद का तत्व, राजनैतिक भविष्य को निर्धारित करने मे विद्यार्थियों का योगदान आदि विभिन्न बातें गैर पाश्चात्य ससार की राजनीति का अंग बन गयी हैं। यहां राजनीति को प्रभावित करने वाले दबाव समूह के रूप में शिव-सेना और लाल रक्षक तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ जैसे सगठित समूह भी कार्य करते हैं। ये राजनैतिक प्रक्रियायें समय की आवश्यकतानुसार परिवर्तित होती रहती हैं।

प्रजातन्त्र के मूल्य
(The Values of Democracy)

जब प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक व्यवस्था के विभिन्न सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप दिया जाता है तो प्रजातन्त्र का जन्म होता है। इस व्यवस्था में नीतियां प्रतिनिधियों द्वारा बनाई जाती हैं। ये प्रतिनिधि बहुमत के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करते हैं। इन प्रतिनिधियों का चुनाव व्यस्क मताधिकार के आधार पर स्वतन्त्र मतदान द्वारा किया जाता है। सम्पूर्ण व्यवस्था राजनैतिक स्वतन्त्रताओं से पूर्ण होती हैं। लोकप्रिय सरकार पर निर्वाचकों का प्रभावशील नियन्त्रण रहता है। यहां एक बात ध्यान रखने की है कि किसी भी राजनैतिक व्यवस्था को उसके सिद्धातों के आधार पर न्यायोचित सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसके लिए सामाजिक कार्यों पर भी विचार किया जाना चाहिए। कोई भी संस्था उसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों के आधार पर जांची जाती है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था की उपयोगिता एवं महत्व को देखने के लिए यह जरूरी होता है कि उसके द्वारा किये गए लक्ष्यों का अध्ययन किया जाए। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के कुछ मूल्य होते हैं। इन मूल्यों के आधार पर उसे न्यायोचित ठहराया जा सकता है।

यह कहा जाता है कि प्रजातन्त्र अपने आप में एक साधन है और इसलिए उसे उचित या अनुचित नहीं कहा जा सकता। उसे अच्छे और बुरे दोनों ही उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। इस मत में आंशिक सत्यता है किन्तु मोन्टेस्क्यू (Montesquieu) का यह कथन भी गलत नहीं है कि प्रत्येक प्रकार की सरकार के अपने कुछ विशेष सिद्धान्त होते हैं। उदाहरण के लिए तानाशाही में भय, राजतन्त्र में सम्मान, गणतन्त्र में नागरिक सद्गुण या सार्वजनिक उत्साह आदि। गणतन्त्र के द्वारा नागरिक सद्गुणों को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था जनता के द्वारा और जनता के लिए होती है। इस प्रकार इसमें जनता को अधिक महत्व दिया जाता है। जनता के लिए जो कुछ भी किया जाता है उसे सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। सम्पूर्ण व्यवस्था जनता के हित के लिए ही संचालित की जाती है। उपयोगितावादियों ने अधिक से अधिक संख्या के अधिकतम सुख पर जोर दिया था। इसी प्रकार प्रजातन्त्रवादी राजनीतिज्ञ सभी लोगों की सेवा और कल्याण पर जोर देते हैं। प्रजातन्त्र ने जनता के कल्याण को इतना महत्व प्रदान कर दिया है कि अप्रजातन्त्रात्मक व्यवस्थाएं भी अपने आपको इसी उद्देश्य के लिए संचालित करती हैं। प्रत्येक तानाशाह और प्रत्येक साम्यवादी देश अपने आपको

जनता के कल्याण के लिए प्रयत्नशील मानता है। प्रजातन्त्रात्मक शासन विशेष रूप से जनता के लिए होता है। यह उसका एक मूल्य है।

प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के अन्य विशेष मूल्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में वे मूल्य आते हैं जो अलग-अलग सिद्धांतों पर आधारित है और दूसरे भाग मे सम्पूर्ण व्यवस्था के मूल्यों को लिया जाता है। मूल्यो के इन दोनों ही प्रकारों को पहचानना अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है, क्योंकि ऐसा करके ही प्रजातन्त्र के सच्चे स्वरूप को समझा जा सकता है। प्रजातन्त्र के इन मूल्यों में से प्रमुख का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(१) झगड़ों का शांतिपूर्ण एवं स्वेच्छाजनक समायोजन
(The Peaceful Voluntary Adjustment of Disputes)

किसी भी मानवीय समाज का जीवन हितों और मतों के लगातार संघर्ष की कहानी है। यह संघर्ष दबे रूप में भी हो सकता है और खुले रूप में भी। इतिहास का अध्ययन इस कथन की सत्यता को प्रमाणित करता है। प्रजातन्त्र की यह विशेषता है कि वह इन संघर्षों की राजनैतिक अभिव्यक्ति को न्यायोचित रूप देता है और राजनैतिक समझौते के माध्यम से उनका शांतिपूर्वक समायोजन करने का प्रयास करता है। इसमें यह प्रयास किया जाता है कि यथाशक्ति ताकत का प्रयोग कम से कम किया जाए। प्रजातन्त्र का काम झगड़ा करने वाले पक्षों के बीच समझौता कराना है। नागरिकों को विभिन्न स्वतन्त्रतायें प्रदान करके उन्हें यह अवसर दिया जाता है कि वे अपने विवादों के सम्बन्ध मे तर्क कर सकें, प्रदर्शन कर सकें तथा सगठित रूप से अपने पक्ष को मनवाने का प्रयत्न कर सकें। प्रजातन्त्रात्मक राजनीति की विचारधारा समाज के विभिन्न वर्गों के बीच संतुलन की स्थापना करती है। विचारकों द्वारा यह कहा जाता है कि यों तो राजनैतिक व्यवस्था अपने आपको ताकतपूर्ण समझौते के सिद्धात पर आश्रित नही करती। यहां तक कि तानाशाही व्यवस्था में भी विचारधारागत आधार का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। साथ ही एक तानाशाह अपनी नीतियों के लिए अनुकूल लोकमत बनाने का प्रयास करता है। तथ्य यह है कि तानाशाह को प्रायः अपने इस प्रयास मे सफलता मिलती है। इस दृष्टि से प्रजातन्त्र और तानाशाह के बीच मुख्य अन्तर यह है कि प्रजातन्त्र सिद्धांत रूप में राजनैतिक विरोध को दबाने के लिए वैधानिक शक्ति का प्रयोग नही करता किन्तु दूसरी ओर तानाशाही व्यवस्था अपनी नीतियों एवं कार्यों का विरोध करने वाले प्रत्येक वर्ग को दबाने के लिए वैधानिक दबाव का प्रयोग करती है। कहने का अर्थ यह है कि दबाव और

शक्ति का प्रयोग किसी भी राजनैतिक समाज से अलग नहीं किया जा सकता। मुख्य बात यह है कि प्रजातन्त्र में इनको एक अन्तिम उपाय के रूप में अपनाया जाता है।

प्रजातन्त्र झगड़ों के शान्तिपूर्ण समझौते को एक संस्थागत रूप प्रदान कर देता है। इसमें बन्दूकों का काम मतों से लिया जाता है और सरों को फोड़ने के बजाय गिना जाता है। विभिन्न राजनैतिक स्वतन्त्रता एवं व्यस्क मताधिकार होने के कारण राज्य का प्रत्येक नागरिक राजनीति में भाग ले सकता है। जो लोग झगड़ों को शान्तिपूर्वक सुलझाने में रुचि लेते हैं उनके लिए तो प्रजातन्त्र एक बहु मूल्य पुरस्कार है। किन्तु जो लोग शक्ति को प्राथमिकता देते हैं वे इस मूल्य को क्या, प्रजातन्त्र को ही कोई महत्व प्रदान नहीं करते। इस सम्बन्ध में मि० शुम्पीटर (Schumpeter) ने प्रजातन्त्र की जो परिभाषा की है वह उल्लेखनीय है। उनके कथनानुसार प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली राजनीतिक निर्णयों पर पहुचने का वह संस्थागत प्रबन्ध है जिसमें व्यक्ति जनता के मत के लिए प्रतिद्वन्दी संघर्ष करके निर्णय लेने की शक्ति प्राप्त करते है।

(२) शान्तिपूर्ण परिवर्तन की सम्भावना
(The Possibilities of Peaceful Change)

वर्तमानकालीन समाज के परिवर्तन की गति जितनी तीव्र है उतनी इसके अतीत काल में सम्भवतः कभी नहीं रही थी। सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ यदि विभिन्न संस्थागत परिवर्तन न किए जायें तो अव्यवस्था की सम्भावनायें रहती हैं। बदलती हुई परिस्थितियां नवीन आवश्यकताओं को जन्म देती है और इन आवश्यकताओं को पुरानी संस्थायें सफलतापूर्वक पूरा नहीं कर पाती। परिवर्तन की गति कुछ इस प्रकार की है कि जब सामाजिक संस्थाओं का रूप बदलता रहता है तो अनेक तकनीकी परिवर्तन आते है और जब तकनीकी परिवर्तन होते हैं तो सामाजिक संस्थाओं का रूप बदलना पड़ता है। प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक प्रणाली की कुछ विशेषतायें ऐसी होती हैं जो परिवर्तन के साथ शीघ्र ही राजनैतिक समायोजन कर लेती हैं। इन विशेषताओं में लोचशीलता, लोकमत और नेतृत्व के प्रभाव के लिए तथा विवाद के लिए अवसर आदि प्रमुख है। मि० फोस्टर (Foster) ने प्रजातन्त्र के दो विशेष गुण माने हैं–प्रथम, इसमें विभिन्नताओं को स्वीकार किया जाता है और दूसरे, यह आलोचनाओं की अनुमति देता है। ये दो विशेषतायें ही काफी हैं, तीसरी की कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में सामयिक चुनाओं के कारण नीति-निर्माता बदलते रहते हैं। आने वाले नीति-निर्माता समय की बदलती हुई परिस्थितियों

के अनुरूप मूल्य, दृष्टिकोण एवं प्राथमिकतायें रखते है और इसलिए बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार कानून मे किसी प्रकार का परिवर्तन करने मे उनको कोई परेशानी नही होती ।

परिवर्तन तो किसी अन्य राजनैतिक व्यवस्था मे भी हो सकता है किन्तु अन्तर यह है कि वहां उस परिवर्तन के शातिपूर्ण होने की सम्भावनायें बहुत कम रहती है । वहा तो शक्ति का प्रयोग एव क्राति के साधनो को ही प्रायः अपनाया जाता है । सम्भवत यही कारण है कि इन व्यवस्थाओं के समर्थक प्लैटो एव अरस्तु की भाति प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन को सन्देह की नजर से देखते है तथा उसे राजनैतिक परिणामो की दृष्टि से अनुपयुक्त मानते हैं । प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था परिवर्तन को प्रोत्साहन देती है । कभी-कभी एक देश मे परिवर्तन की गति इतनी तीव्र हो जाती है कि प्रजातन्त्रात्मक यन्त्र का काम चलाना मुश्किल पड जाता है । ऐसा प्राय उस देश मे होता है जहा सफल प्रजातन्त्र के लिए ऐतिहासिक परम्परायें या तो होती नही और होती है तो अत्यन्त कमजोर स्थिति में । इस स्थिति का मूल्य तानाशाही व्यवस्था को अपनाकर चुकाया जाता है ।

प्रजातन्त्र प्रगति का एक धीमा रास्ता है । आज की स्थिति मे कोई भी गरीब तथा अविकसित देश औद्योगीकरण के लिए अधिक प्रतीक्षा नही करना चाहता । यही कारण है कि इनमें से अधिकाश देश तानाशाही व्यवस्था को अपनाने मे अधिक रुचि लेते है । अप्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था द्वारा विकास की गति को तो तेज किया जा सकता है किन्तु बदलती हुई परिस्थितियो के अनुरूप यह अपने आपको समायोजित कर सकेगी, यह सदिग्ध है । यह गुण तो केवल प्रजातन्त्र मे ही प्राप्त होता है । चार्ल्स मेरियम का कहना था कि "सरकार की सबसे बड़ी समस्या बदलते हुए समय के साथ परम्पराओ को समायोजित करना है ।"

(३) प्रशासकों का व्यवस्थित रूप मे बदलते रहना
(The orderly Succession of Rulers)

प्रजातन्त्र से पूर्व राजनीति की यह एक मुख्य समस्या होती थी कि वर्तमान शासक का न्यायोचित उत्तराधिकारी शातिपूर्ण ढग से किस प्रकार खोजा जाये । हॉब्स ने यह माना था कि उत्तराधिकार की समस्या राजतन्त्रात्मक व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष है । प्रजातन्त्र ने इस समस्या का समाधान जिस रूप मे प्रस्तुत किया उस रूप में इसका कोई भी विकल्प प्रस्तुत नही कर सका । सामयिक रूप मे होने वाले चुनावो में जनता अपना मत प्रकट करती रहती है और यदि वह स्थित सरकार से असंतुष्ट हो तो उसे बदल कर

अपनी इच्छानुकूल सरकार कायम कर सकती है। ऐसा करने के लिए किसी प्रकार की क्रांति की आवश्यकता नहीं होगी। एक प्रसिद्ध राजनैतिक लेखक मि० कोकर के मतानुसार "एक विशेष प्रणाली के रूप में राजनैतिक प्रजातन्त्र को केवल एक ही शब्द में परिभाषित किया जा सकता है। यह है सरकार को चुनने और भंग करने की लोगों की एकता। किसी अन्य चीज को राजनैतिक प्रजातन्त्र कहना केवल शब्द को ही बुरा-भला कहना है।"[1]

(४) कम से कम दमन
(Minimum of Coercion)

प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था कम से कम दमनपूर्ण होती है। इसके द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों में अधिक से अधिक लोग भाग लेते है और इसलिए केवल कुछ ही लोगों की इच्छाओं को दबाया जाता है। राजनैतिक स्वतन्त्रताओं का उपयोग करते हुए ये कुछ लोग भी सरकार की इन नीतियों का विरोध करते रहते है। उनको राजनैतिक दृष्टि से समान माना जाता है। प्रजातन्त्र मे इच्छापूर्ण आज्ञापालन एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता को इतना अधिक महत्व दिया जाता है कि उसके विरुद्ध श्रेष्ठ एव लाभदायक निर्णय को भी लागू नही किया जाता। मि० लिण्डसे ने प्रजातन्त्र विरोधी विश्वास का उल्लेख करते हुए बताया है कि जिस चीज को अच्छी एवं सम्मानजनक माना जाता है किन्तु जिसे लोग असल में चाहते नही हैं, उसे मानने के लिए लोगों को बाध्य करने का प्रयास करना प्रजातन्त्रविरोधी व्यवहार का प्रतीक है।"[2] प्रजातन्त्र का अर्थ अनुशासन का अभाव नहीं है। इस व्यवस्था में भी पर्याप्त अनुशासन रहता है किन्तु यह अनुशासन दासतापूर्ण न हो कर सद्‌गुणो का अनुशासन होता है।

---

1. "Political democracy as a unique method may be defined in one proposition. The ability of people is to chose and dismiss a government. To call anything else political democracy is only to abuse words."—Cocker.
2. "To try to force people to embrace something that is believed to be good and glorious but which they do not actually want, even though they may be expected to like it when they experience its results is the very hall mark of antidemocratic belief."—A D. Lindsay, The Modern Democratic State.

(५) अनेकरूपता
(Diversity)

प्रजातन्त्र का एक अन्य मूल्य यह है कि इसमें विचारों, विश्वासो एव कार्यों की भिन्नता को पर्याप्त महत्व प्रदान किया जाता है। कुछ लोग इस भिन्नता या अनेकरूपता के महत्व तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में संदेह प्रकट करते है। विचारों एवं विश्वासो की अनेकरूपता अच्छे और बुरे दोनों ही परिणामों का कारण बन सकती है। निर्णय लेने की स्वतन्त्रता को गलत निर्णय लेने के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है। रस्किन (Ruskin) का विचार था कि "निर्णय की स्वतंत्रता ने जीवन एव शक्ति को नष्ट कर दिया है। इसलिए प्रजातन्त्र विध्वंसात्मक है। मानवीय स्वतन्त्रता की सम्भावनायें रचनात्मक होने के साथ-साथ विध्वंसात्मक भी हैं।"

अनेकरूपता मानव स्वभाव की विशेषता है। प्रजातन्त्र द्वारा उसके अस्तित्व को केवल स्वीकृति प्रदान की जाती है तथा विभिन्न मतों एव हितों को न्यायोचित बनाया जाता है। जब प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था मे नागरिकों को विचारों तथा विश्वासो की स्वतन्त्रता दी जाती है तो अनेकरूपता अपने-आप ही प्रकट होगी। अनेकरूपता को नैतिक विकास की आवश्यक शर्त माना जाता है तथा सत्य तक पहुँचने के लिए जरूरी समझा जाता है। एच बी. मेयो (H. B Mayo) के कथनानुसार "एक स्वतन्त्र समाज की स्थापना करने के कारण प्रजातन्त्र को अच्छा कहा जा सकता है क्योंकि इसकी स्वतंत्रतायें लोचशीलता देती है तथा चयन की व्यापक विभिन्नता देती है।"[1] प्रजातन्त्र की यह विशेषता केवल सैद्धान्तिक स्तर तक ही सीमित नही है वरन् यह व्यावहारिक रूप से भी महत्वपूर्ण है। इसका क्षेत्र राजनीति तक ही सीमित न रह कर अराजनैतिक सीमाओ मे भी पहुँचता है। यही कारण है कि प्रजातन्त्र को कभी-कभी जीवन-निर्वाह का एक तरीका भी कह दिया जाता है।

प्रजातन्त्र में प्राप्त स्वतन्त्रता को अच्छा कहा जा सकता है क्योंकि यह समाज एवं स्वयं के ज्ञान की अभिवृद्धि का आधार बनती है। इससे उत्पन्न सम्भावनाओं को अच्छे कारणों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। कभी-कभी इस अनेकरूपता के लिए प्रजातन्त्र को आलोचना का विषय बनाया

1. "By maintaining an open Society, democracy may then be called good because its freedom give flexibility and a wide variety of choice."

—H.B. Mayo, op. cit. p. 226.

जाता है क्योंकि जो लोग सत्य को खोज लेने का दावा करते हैं वे उसमें परिवर्तन नहीं चाहते। दूसरे कुछ लोग प्रजातन्त्र को राजनैतिक समानता के सिद्धान्त पर आलोचना का विषय बनाते है क्योंकि उनके मतानुसार यह स्वतन्त्रता एवं प्रगति को समाप्त कर देती है।

(६) न्याय की उपलब्धि
(Attainment of Justice)

प्रजातन्त्र की प्रशंसा इस आधार पर भी की जाती है कि यह न्याय की प्राप्ति का एक सुविधाजनक तरीका है। इस व्यवस्था में न्याय की स्थापना को कई प्रकार से सुगम बनाया जाता है। प्रथम, यह नागरिकों को अनेक स्वतन्त्रतायें प्रदान करती है तथा इन स्वतन्त्रताओं के निर्वाह के लिए अनेक प्रक्रिया सम्बन्धी सुरक्षायें प्रदान करती है। यह सच है कि प्रजातन्त्र भी अन्य व्यवस्थाओं की तरह अन्यायपूर्ण कानूनों की रचना कर सकता है; किन्तु वह इनका पालन कराने का भी पूरा हक नहीं रखता है क्योंकि उसने राजनैतिक स्वतन्त्रताएं एवं क्षतिपूर्ति के अवसर प्रदान कर रखे है। नागरिक इनका विरोध कर सकते है। तीसरे, जिस व्यवस्था मे स्वतन्त्रता का दमन किया जाता है तथा राजनैतिक सुरक्षायें प्रदान नही की जाती, वहा न्याय की स्थापना कठिन बन जाती है। प्रजातन्त्र मे सभी समूहों एवं हितो को प्रतिनिधित्व दिया जाता है। ये अपने प्रभाव से शक्ति को प्रभावित कर सकते हैं। यही कारण है कि निर्णय लेते समय उनके प्रभाव की कदाचित् ही अवहेलना की जाती है।

चौथे, प्रजातन्त्र में समस्त नागरिकों को राजनैतिक समानता सौपी जाती है और शक्ति-सम्पन्न लोगों को भी उनके पद से हटाया जा सकता है। ऐसा होने पर अन्यायपूर्ण व्यवहार की सम्भावनाये पर्याप्त घट जाती हैं। पाचवें, प्रजातन्त्र मे विरोधी हितों के दावों के बीच समायोजन कराया जाता है और इस प्रकार राजनैतिक समझौता प्राप्त किया जाता है। प्रजातन्त्र वर्गों के बीच उचित सम्बन्धो की स्थापना का प्रयास करता है। वैसे पूर्ण न्याय की स्थापना तो एक आदर्श है जो कि प्रजातन्त्रात्मक राजनीति की क्षमता के बाहर है। छठे, प्रजातन्त्र अपने व्यावहारिक रूप मे जनता के लिए सरकार है और इस प्रकार इसमें उन लोगों की संख्या बढ़ जाती है जिनको कि न्याय प्रदान किया जाता है। सातवें, बहुमत के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण प्रजातन्त्र का विश्वास जनता के अन्तिम न्याय मे है।

(७) विज्ञान का श्रेष्ठ प्रोत्साहक
(A Best Promoter of Sc

वर्तमान युग की रूप-रचना ... गई
राजनैतिक व्यवस्था एवं विचार-धारा को.

प्रजातन्त्र विरोधी व्यवस्थाओं में स्वतन्त्रता एव विचारो की अभिव्यक्ति का अभाव होने के कारण वैज्ञानिको को अपनी योग्यताओ को विकसित करने एवं प्रयुक्त करने का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त नही हो पाता। वे नियन्त्रित रूप मे वही सोचते है जो कि प्रशासन चाहता है, वही करते है जो कि शासक कहता है और वह सब चाहते हुए भी नही कर पाते जो कि प्रशासको की इच्छाओ के अनुकूल नही है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था विज्ञान की प्रगति में अनेक प्रकार से सहायक बनती है।

इस सम्बन्ध मे पहली बात तो यह है कि वैज्ञानिक प्रणाली एवं प्रजातन्त्र के अनेक नैतिक मूल्य एक जैसे होते है। दूसरे, प्रजातन्त्र और विज्ञान दोनों मानवीय प्रकृति को समान रूप से बुद्धिपूर्ण एव तर्कपूर्ण मानते है। तीसरे, विज्ञान एवं प्रजातन्त्र दोनों का सत्य से सम्बन्धित दृष्टिकोण प्राय एक जैसा ही होता है। दोनो ही पूर्ण सत्य के विचार को अस्वीकार करते है। दोनों का विश्वास है कि अभिव्यक्ति और प्रयोग सत्य तक पहुचने के सर्व-श्रेष्ठ साधन है। यद्यपि सत्य की वास्तविकता को कभी जाना नही जा सकता तो भी उस तक पहुचने के लिए कई तरीके अपनाये जा सकते है।

विज्ञान के अपने कुछ मूल्य होते है जिनको वह उस समाज मे ही प्राप्त कर सकता है जो कि उन मूल्यो को सम्मान प्रदान करता है। मि० मेयो के कथनानुसार—"वैज्ञानिक जिज्ञासा एक स्वतन्त्र समाज की माग करती है अर्थात् राजनैतिक स्वतन्त्रताओं एवं प्रजातन्त्र को आवश्यक मानती है।" प्रजातन्त्र एक ऐसी राजनैतिक व्यवस्था है जो कि प्रजातन्त्र के सबसे अधिक अनुकूल है। विज्ञान एवं प्रजातन्त्र के बीच भ्रातृ भाव इसलिए भी है कि दोनो के ही विवादपूर्ण प्रश्नो को जनता या लोकप्रिय निर्णय के द्वारा सुलझाया जाता है। स्वतन्त्रता विहीन समाज मे राजनैतिक सत्तायें विज्ञान को अपने हाथ मे रखने का प्रयास करती है।

प्रजातन्त्र एवं विज्ञान के पारस्परिक सहयोग पूर्ण सम्बन्धों के अतिरिक्त कुछ बातें ऐसी भी है जो कि दोनो को अलग करती है। प्रथम, प्रजातन्त्र की प्रेरणा एवं लक्ष्य भिन्न होते है। यह सत्य की खोज का प्रयास नही करती वरन् कुछ समय के लिए सही तथा स्वीकार्य राजनैतिक निर्णयो पर पहुंचने का प्रयास करती है। 'विज्ञान' सत्य की सेवा करता है जब कि प्रजातन्त्र जनता की सेवा करता है। दूसरे, विज्ञान मे सरकार जैसी कोई भी केन्द्रीय संस्था नहीं होती जो कि कुछ समय के लिए एक अन्तिम बात कह सके। राजनीति मे सरकार के द्वारा जो निर्णय लिये जाते है उनको लागू किया जाता है तथा न मानने वालों को दण्ड दिया जाता है। तीसरे, विज्ञान मे निर्णय निष्कर्षों के

द्वारा लिये जाते हैं किन्तु राजनीति में कोई ऐसी निष्पक्ष एवं योग्य सत्ता नहीं होती। प्रजातन्त्रात्मक राजनीति विशेष रूप से अवैज्ञानिक होती है क्योंकि राजनैतिक स्वतन्त्रताओं के नाम पर यह सभी प्रकार के मतों को मान्यता देती है।

(८) स्वतन्त्रतायें
(Freedoms)

प्रजातन्त्र अपने नागरिकों की राजनैतिक स्वतन्त्रताओं को पर्याप्त मूल्य देता है। इन स्वतन्त्रताओं को यह असीमित नहीं मानता। सामाजिक जीवन की परिस्थितियां एक व्यक्ति के कार्यों की स्वतन्त्रता पर अनेक प्रतिबन्ध लगाती हैं। कभी-कभी ये स्वतन्त्रतायें उन चीजों के साथ भी संघर्षपूर्ण बन जाती है जिनको व्यक्ति उच्च मूल्य प्रदान करते है। सरकार का यह एक मुख्य कार्य है कि इन स्वतन्त्रताओं के बीच समन्वय की स्थापना का कार्य करे। प्रायः सभी सरकारें इस कार्य को सम्पन्न करती है। प्रजातन्त्र का यह दावा है कि उसके द्वारा समन्वय कार्य इस प्रकार किया जाता है कि ये स्वतन्त्रतायें अधिक से अधिक हो सकें। स्वतन्त्रताओं के अधिक होने का अर्थ यह नहीं है कि कानून कम से कम बनाये जायेंगे। स्वतन्त्रताओं की रक्षा एवं प्रसार के लिए विभिन्न कानून आवश्यक भी हो सकते हैं।

राजनैतिक स्वतन्त्रतायें अपने आप में मूल्यवान हैं। इनके मूल्य का आधार यह नहीं है कि ये नागरिकों को राजनैतिक शक्ति प्रदान करते हैं अथवा सामाजिक कल्याण को प्रोत्साहन देते हैं।

प्रजातन्त्र पर पुर्नविचार
(Revision of Democracy)

सच बात यह है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से परम मूल्यवान तथा एक मात्र श्रेष्ठतम शासन प्रणाली होते हुए भी व्यावहारिक क्षेत्र (Practical Field) में प्रजातन्त्रीय सिद्धांत इतने अधिक सफल नहीं हुए हैं, तथा ब्रिटेन आदि कुछ देशों को छोड़ कर जहां-जहां भी व्यावहारिक राजनीति में उनका प्रयोग हुआ है, वहां-वहां ही उन्हें घोर असफलता मिली है और, उनकी लोकपूर्ण समाधि पर बड़े-बड़े विशाल सर्वसत्तावादी प्रासाद (Totalitarian Museums) खड़े दिखाई देते है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस तथा चीन जैसे दो विशाल देशों में परम लज्जा-जनक हार मिलने से प्रजातन्त्र की जड़ें कुछ खोखली दिखाई देती हैं और ऐसा मालूम होता है कि लाल झण्डे का यह हथोड़ा और हँसिया (Hammar and Sickle) इसे बिल्कुल निर्मूल बना कर छोड़ेगा। व्यावहारिक दृष्टि से प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था आधुनिक

अपूर्ण समाज में अव्यावहारिक (Impracticable) मानी जाती है और इसी कारण सर्वाधिकारवादी एक वर्ग (Totalitarian Group) उसे सैद्धातिक दृष्टि से भी अन्यायपूर्ण तथा अवान्छनीय सिद्ध करना चाहता है। यह वर्ग प्रजातन्त्र को बहुमत का अत्याचार (Tyranny of the Majority) मानता है, जिसके अन्तर्गत अल्पसंख्यक सही बात कहते हुए भी सदैव, नागरिकों का गलत प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार द्वारा उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते हैं। इन आलोचकों ने प्रजातन्त्र के अवगुणों की एक इतनी लम्बी-चौड़ी सूची बना डाली है कि उनके आधार पर तथा नित्य प्रति के सामान्य जन-जीवन में संसदीय प्रणाली के प्रति बढ़ते हुए असन्तोष को देख कर हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि आने वाली शताब्दियों में प्रजातन्त्र का भविष्य अधिक उज्जवल नहीं है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में सार्वजनिक समस्याओं के प्रति साधारण औसत आदमी की कठोर उदासीनता, अज्ञान तथा असमर्थता को देख कर एच० जी० वेल्स (H G. Wells) जैसे प्रगतिशील लेखक भी निराशावादी हो गये हैं और उनका भी मत है कि "आज का युग प्रजातन्त्र का युग न हो कर एक ऐसा युग है, जिसमें प्रजातन्त्र पर पुनर्विचार हो रहा है।" लोकतन्त्र के विरोधियों में वे लोग प्रमुख हैं जो सर्वोत्तम (Elite) द्वारा शासन के सिद्धात में विश्वास रखते हैं। उनका कहना है कि लोकतन्त्र की नींव एकदम गलत मान्यताओं या आदर्शों पर आधारित है। लोकतन्त्र यह मान लेता है कि सामान्य नागरिक राजनैतिक मसलों और उनकी जटिलताओं को समझता है तथा उसमें स्वयं अपना शासन करने की क्षमता है। "सर्वोत्तम द्वारा शासन" सिद्धात को मानने वालों का कहना है कि उक्त दोनों ही बातें गलत हैं और अधिकांशतः लोग राजनैतिक प्रश्नों को नहीं समझते और न ही स्वयं अपना शासन करने में समर्थ होते हैं। अतः उचित यही है कि शासन की बागडोर बुद्धिमान एवं समर्थ लोगों के हाथ में हो।

वस्तुतः यह निर्विवाद रूप से मान लेना भ्रामक ही होगा कि यदि लोकतन्त्र का वर्तमान ढर्रा चालू रहा तो वह हमारी सभी सामाजिक और राजनैतिक बुराइयों के लिए रामबाण सिद्ध होगा। लोकतन्त्र पर पुनर्विचार की आवश्यकता है और यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि यदि हम लोक-तन्त्र के उन दोषों को दूर नहीं करते जो अधिकाधिक रूप में सामने आते जा रहे हैं तो लोकतन्त्र को अवश्य ही अपना स्थान किसी अन्य शासन प्रणाली को देना होगा।

१६

अधिनायकवाद

(DICTATORSHIP)

"अधिनायकशाही शासन की दीन-हीन एवं भयभीत प्रजा जीवन
के उन उच्चत्तम नैतिक मूल्यों से गिर जाती है जिसका
सम्पूर्ण मानव समाज की जीवन प्रणाली से सम्बन्ध
होता है, क्योंकि उनकी महानता के खेल का आम
तिरस्कार किया जाता है।"

—फाइनर

अधिनायकवाद सरकार का कोई नया रूप नही है। प्रजातान्त्रिक रोम मे यह एक स्वीकृत व्यवस्था थी। वहा सरकार की अधिकार शक्ति सामान्यत दो प्रधानो मे निहित थी, जिन्हे कौसल (Consul) कहा जाता था। आवश्यकता पडने पर रोम निवासी इन कौसलो पर एक अधिनायक की नियुक्ति करते थे और संकट का सामना करने के लिए उसके हाथ मे सर्वोच्च शक्तिया सौंप देते थे। सकटकालीन अवस्था होने पर यह अधिनायकवादी व्यवस्था त्याग दी जाती थी।

स्पष्ट है कि अधिनायकवाद का यह रूप आधुनिक अधिनायकवाद की तरह नही था और इसे हम रूस, इटली, जर्मनी आदि देशो के आधुनिक अधिनायक पर लागू नही कर सकते। आधुनिक अधिनायक राष्ट्रीय संकट के समय शासन-सचालन के लिए किसी सीमित अवधि के लिए किन्ही कानूनी विधियों द्वारा नही चुने जाते, वरन् आकस्मिक राज्य क्रांति अथवा शक्ति के बल पर शासन-सत्ता हथिया लेते है और तब तक शक्ति मे बने रहते है जब तक बल प्रयोग उन्हे अधिनायक बनाये रखने मे सहायक हो सकता हो। वे अपने सिवा अन्य किसी अधिकार-शक्ति के प्रति उत्तरदायी नही होते। उन पर कोई वैधानिक नियन्त्रण नही होता। संविधान स्थगित हो जाता है और

प्राय: एक क्रान्तिकारी परिषद् बना दी जाती है जिसमें सेना के बड़े अधिकारी शामिल होते हैं और वे अधिनायक अथवा तानाशाह के नेतृत्व में देश का शासन चलाते हैं। इसीलिए प्राय: यह कहा जाता है कि अधिनायकवाद में राज्य की सम्पूर्ण अधिकार-शक्ति एक व्यक्ति में निहित होती है जो स्वयं मूर्तिमान राज्य होता है। हिटलर और मुसोलिनी के नेतृत्व में नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली में ऐसा ही अधिनायकवाद था। अधिनायकवाद को स्पष्ट करते हुए केबन ने लिखा है—

"अधिनायकवाद एक व्यक्ति की सरकार होती है जो अपना पद उत्तराधिकार में प्राप्त न करके अपनी शक्ति की स्थापना, बल या जन सम्मति द्वारा अथवा दोनों के मिश्रण द्वारा करता है। उसकी सम्प्रभुता निरंकुश होती है, अर्थात् सम्पूर्ण राजनीतिक शक्ति उसकी इच्छा से उत्पन्न होती है और अपने विस्तार में उसके अधिकार असीमित होते हैं। अपनी शक्ति का प्रयोग वह स्वेच्छाचारी तरीके से आज्ञा द्वारा करता है, कानून द्वारा नहीं। उसकी अवधि भी सीमित नहीं होती और न ही वह अन्य किसी शक्ति के प्रति उत्तरदायी होता है, क्योंकि इस प्रकार का नियन्त्रण उसकी निरंकुशता से मेल नहीं खाता।"

लेकिन इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्राय: आधुनिक अधिनायक व्यक्तिगत रूप से अधिनायक नहीं होता। यदि हमें कहीं कोई एकाकी सर्वोच्च शासक या अधिनायक मालूम देता है तो अप्रत्यक्ष रूप से उसकी शक्ति एक संयुक्त वर्ग के सक्रिय समर्थन पर निर्भर करती है। अधिनायक अपने इस समर्थक वर्ग के हित में शासन करता है और उससे भी अधिक उनके सहयोग का आकांक्षी होता है। हिटलर और मुसोलिनी के समय में जर्मनी और इटली में इसी प्रकार का अधिनायकवाद था। दोनों ही क्रमश: नाजी और फासिस्ट दलों के नेता थे और दोनों ही अपने दलों के लक्ष्यों का पालन करने के लिए अपने दलों में से अपने सचिव चुनते थे। हिटलर और मुसोलिनी तानाशाह थे पर उनकी वास्तविक तानाशाही उनके समर्थक वर्ग में निहित थी। यदि हम रूसी अधिनायकवाद को लें तो वह प्रत्यक्षत: एक दल का अधिनायकवाद है, यद्यपि रूस में भी देशवासियों पर प्राय: एक व्यक्ति की छाप बनी रही है। लेनिन और स्टालिन के प्रभाव को हम भूल नहीं सकते। फिर भी यह अवश्य है कि उनकी सर्वोच्चता अन्तिम रूप से अपने दल के प्रभावशाली समर्थन में निहित थी।

आधुनिक अधिनायकवाद का उत्कर्ष—अपने वर्तमान रूप में अधिनायकवाद का उदय प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप में हुआ। इटली में मुसोलिनी की, जर्मनी में हिटलर की, स्पेन में फ्रांको की और टर्की में कमालपाशा की

तानाशाही स्थापित हुई। रूस में भी साम्यवादी दल की तानाशाही आई, यद्यपि उसका स्वरूप, उसका लक्ष्य और उसका चरित्र अन्य देशों की तानाशाही से भिन्न था। रूस को छोड़कर उपरोक्त अन्य देशों में दक्षिणपन्थी अधिनायकतन्त्र था। रूस में वाम-पन्थी अधिनायकतन्त्र की स्थापना हुई जो आज भी विद्यमान है। द्वितीय महायुद्ध के बाद चीन, यूगोस्लाविया, बलगेरिया, रूमानिया, हंगरी, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, फिनलैण्ड आदि में भी साम्यवादी दल की तानाशाही स्थापित हुई। १९४७ के बाद बना पाकिस्तान भी अपने जन्म से ही सैनिक तानाशाही का शिकार होता रहा है।

प्रश्न उठता है कि इस आधुनिक अधिनायकवाद का उत्कर्ष क्योंकर हुआ? वस्तुतः इसे हम प्रथम महायुद्ध के बाद की उपज कह सकते हैं। इस महायुद्ध के दौरान ही प्रजातन्त्रीय देशों में भी युद्ध के सफल संचालन के नाम पर कार्यपालिका द्वारा सम्पूर्ण शक्तियां स्वयं ग्रहण कर ली गई और संसदों को पीछे ढकेल दिया गया। लोगों की स्वतन्त्रताओं और अधिकारों का कोई मूल्य नहीं रहा। इससे लोकतन्त्र को गहरा आघात लगा। दूसरे, लोगों के इस विश्वास को धक्का पहुंचा कि लोकतन्त्र और शांति समानार्थक हैं। तीसरे, युद्ध के बाद लोगों की बेहतर और सुखद विश्वास की आशा झूठी साबित हुई। युद्ध के बाद घोर आर्थिक पतन, बेकारी और ऋण समस्याओं ने जन-साधारण के मन में यह बात बैठा दी कि संसदीय शासन उनकी समस्याओं के हल की कुञ्जी नहीं है। चौथे, युद्ध के बाद आत्म-निर्णय के सिद्धांत के आधार पर जिन नवीन राज्यों की रचना हुई, उनमें संसदीय संस्थाओं के लिए संतोष-प्रद वातावरण की गुंजाइश नहीं थी। लोकतांत्रिक परम्पराओं की पृष्ठ-भूमि न होने से इन देशों में लोकतन्त्र अधिक न टिक सका। पांचवें, वर्साय की संधि ने जर्मनी में इस विचारधारा को प्रबल बना दिया कि केवल शक्तिशाली सरकार ही देश का एकीकरण कर सकती है। इस विचारधारा के विकास ने हिटलर जैसे तानाशाह का मार्ग प्रशस्त कर दिया। महायुद्ध के बाद इटली को पहले की गई लन्दन की गुप्त संधि के अनुसार जब नए प्रदेश नहीं मिले तो इटलीवासियों के मन में यह बात बैठ गई कि शक्तिशाली सरकार ही देश के सम्मान की रक्षा कर सकती है। लोगों की इन भावनाओं ने मुसोलिनी को राजनीतिक क्षितिज पर उभरने में सहायता दी। छठे, साम्यवादी क्रांति ने लोगों को आर्थिक समानता की ओर अग्रसर किया और रूसी जनता में समृद्धि तथा शक्ति की सरिता बहा दी। फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध के बाद अनेक देशों में साम्यवादी तानाशाही स्थापित हो गई। इस तरह आधुनिक अधिनायक-वाद का विभिन्न कारणों से उत्कर्ष हुआ।

अधिनायकवाद के लक्षण—अधिनायकवाद को हम हीगल के आदर्श राज्य का व्यावहारिक रूप कह सकते हैं। हीगल ने कहा था—"राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिरूप है और अधिनायकवाद भी राज्य को सर्व शक्तिमान, पूर्ण एवं दैवी मानते हुए सर्वाधिकारवादी राज्य के सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। आधुनिक अधिनायकवाद की दो प्रमुख सैद्धान्तिक विशेषताएं हैं—(१) यह शासितों और शासकों के बीच स्पष्ट वर्ग विभेद करता है एवं (२) यह राज्य और सरकार के बीच का भेद नष्ट करता है ताकि कोई सत्ता शासक दल से जवाब–तलब न कर सके। दूसरे शब्दों में शासक स्वयं राज्य का रूप धारण कर लेता है। राज्य और सरकार एक ही सत्ता बनकर सर्व शक्तिमान सत्ता बन जाती है। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र बचा नहीं रहता जो इस अधिनायकवाद के अन्तर्गत न आ जाता हो।

हिटलर और मुसोलिनी के लिए 'राज्य से बढ़कर कुछ नहीं था, राज्य से परे कुछ नहीं था और राज्य से अलग कुछ नहीं था।'

अधिनायकवाद औपनिवेशिक विस्तार की नीति का अनुसरण करता है। यह मानव जीवन का सरल और शुद्ध सैनिकीकरण है। इसकी मौलिक विशेषता इस बात में छिपी है कि सम्पूर्ण राष्ट्र को एक ही ढंग से सोचना चाहिए, एक ही ढंग से बोलना चाहिए और एक ही ढंग से कार्य करना चाहिए।

अधिनायकवाद लोकतन्त्र का घोर विरोधी होता है, जिस पर कोई संवैधानिक नियन्त्रण नहीं होता। साम्यवादी अधिनायकतंत्र में संविधान होता है, लेकिन एक तो एक मात्र दल के हाथ में सम्पूर्ण शक्ति होती है और दूसरे न्यायपालिका को संविधान की रक्षा का अधिकार नहीं होता। ऐसे राज्य में चाहे जनता विभिन्न दृष्टियों से प्रगति कर जाय किन्तु उसकी स्वतन्त्रता अवश्य नष्ट हो जाती है। वस्तुतः अधिनायकवाद के प्रत्येक रूप में जनता को प्रायः मौलिक अधिकारों और स्वतंत्रताओं से व्यवहारतः वंचित कर दिया जाता है। अधिकार जनता के हक नहीं समझे जाते बल्कि राज्य की देन समझे जाते हैं। अधिनायकवाद की दृष्टि से लोकतंत्र एक सड़ा हुआ मुर्दा है और संसद केवल बकवास की दुकानें हैं। साम्यवाद के मत में व्यक्तिगत स्वतंत्रता बुर्जुआ लोगों की धारणा है।

अधिनायकवादी अथवा तानाशाह अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत की परवाह न करते हुए अपनी स्वार्थता को सबसे ऊपर रखते हैं। अधिनायकवाद और शक्ति में सदा से विश्वास करता आया है और शक्ति के बल पर

राष्ट्रों को जीतकर या नीचा दिखाकर अपनी कीर्ति को बढ़ाने के मार्ग पर चलता रहा है।

अधिनायकवाद एक दल, एक नेता और एक कार्यक्रम में विश्वास करता है। यह जातिवाद का प्रबल पोषक है और धर्म के प्रति आस्थाहीन है। नाजी लोग कहा करते थे—"जर्मनी में जर्मनों के अतिरिक्त अन्य कोई मानव प्राणी नहीं रह सकता।" अधिनायकवादियों का राष्ट्रवाद आर्थिक राष्ट्रवाद के रूप में भी व्यक्त होता है। वे अपने राष्ट्र को आर्थिक रूप से पूर्ण आत्म-निर्भर बनाना चाहते है। अधिनायकवादी धर्म मे कोई आस्था नहीं रखते अथवा उसे राज्य के हाथ की कठपुतली बनाये रखते है।

अधिनायकवाद के गुण-दोष—अधिनायकवाद की जहां एक ओर बड़ी प्रशंसा की गई है वहा दूसरी ओर उसकी घोर आलोचना भी हुई है।

अधिनायकवाद के समर्थन मे कहा गया है कि यह ऐसे सुदृढ़ लोगों का शासन है जो हर बात पूरी करा लेते हैं। इस व्यवस्था में विचारों की विषमता को कोई स्थान न होने से शासन सुचारु रूप से चलता है और सभी कार्य द्रुत गति से होते हैं। युद्धकाल में तो अधिनायकवादी सरकार सर्वोत्तम रहती है क्योंकि इसमे सगठन फैला हुआ नहीं रहता और समस्त निश्चय, निर्णय तथा आदेश एक व्यक्ति पर अवलम्बित रहते है। अत न कार्य में शिथिलता आती है और न भेद खुलने का भय रहता है। अधिनायकवादी शासन विभिन्न दलों और विमियों को दबाकर देश में एक दल का शासन स्थापित करके राष्ट्रीय एकता स्थापित कर देता है। जनता एक ही दल के प्रति वफादार रहती है और दल बन्दी की बुराइया स्थान नही पाती। इस शासन में अपव्यय भी बहुत कम होता है क्योंकि लम्बी-चौडी शासन व्यवस्था की आवश्यकता नही रहती। यह शासन व्यवस्था राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने में बड़ी सहायक है। जर्मनी और इटली के उदाहरण हमारे सामने है। इतिहास साक्षी है कि "जिस समय अधिनायकों ने अपना जीवन आरम्भ किया, उस समय लगभग सभी महाद्वीपीय देशों की आर्थिक और राजनीतिक अवस्था पूर्णतया अशात थी। उन्होंने राष्ट्रीय पुनरोत्थान के वातावरण में कार्य आरम्भ किया और अपने देशवासियों मे समक्ष देशभक्ति, सहयोग और त्याग के उच्च आदर्श निरन्तर उपस्थित किये जिससे उनमें सेवा तथा राष्ट्रीय गुणों की भावनाओं का जागरण हुआ।" यह भी देखा गया है अधिनायकवादी देश में चतुर्दिक उन्नति बड़ी शीघ्र हो जाती है क्योंकि अकेला अधिनायक ही राष्ट्र के राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक जीवन के पुन-र्निर्माण के लिए विरोध और अव्यवस्थाओं के सब अंशो का निर्दयतापूर्वक सफाया कर सकता है।

अधिनायकवादी शासन गुणों की अपेक्षा दोषों का अधिक भण्डार है। इस शासन व्यवस्था में मौलिक अधिकारों तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं को कोई महत्व नहीं दिया जाता। तानाशाह की स्वेच्छाचारिता पर व्यक्ति की सब स्वतन्त्रताओं का उत्सर्ग हो जाता है। राज्य में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन होता है, मानवी व्यक्तित्व को दबाया जाता है, देश में हिंसा को प्रोत्साहित किया जाता है। विदेशों पर निर्मम आक्रमण किया जाता है, मानवी स्वभाव की नृशंस हत्या में विश्वास रखा जाता है और सभी लोगों का सैनिकीकरण कर दिया जाता है। सरकार की आलोचना मात्र को राजद्रोह कहा जाता है। अधिनायक निर्देश करता है और लोगों को उसे मानना पड़ता है, चाहे वह निदेश राष्ट्रीय हित में हो अथवा नहीं। इसे हम व्यक्ति की स्वत. प्रेरणा और राष्ट्रीय-हित-कामना की हत्या कह सकते हैं। अधिनायक हिटलर और मुसोलिनी द्वारा राष्ट्रीय शक्ति के अविवेकपूर्ण प्रयोग ने ही महायुद्ध को जन्म दिया और अपने देश के विनाश को आमंत्रित किया। वास्तव में अधिनायकवाद शांति के लिए एक अभिशाप है। यह वह सैनिक शासन है जो युद्ध और साम्राज्यवाद में विश्वास रखता है। अन्तर्राष्ट्रीयता इसके लिए धोखा मात्र है। एक अधिनायक साधनों के औचित्य पर कभी विचार नहीं करता। उसके शासन में इतनी निरंकुशता होती है कि यह कभी-कभी तो सीमातीत अत्याचार और अनाचार को जन्म देता है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि "अधिनायक तन्त्र अत्याचारियों का स्वर्ग है। ऐसा अधि-केन्द्रित राज्य एक जेल है और उसकी प्रजा ऐसी दिवारों के अन्दर बन्द है जो अदृश्य होते हुए भी वास्तविक है।"

इन्हीं सब कारणों से अधिनायकवादी शासन-व्यवस्था कभी दीर्घजीवी नहीं हो सकती। वह केवल तभी तक कायम रह सकती है जब तक जनता में राजनैतिक जागृति न हो अथवा देश पर किसी महान संकट का भय न हो। हम इस तथ्य को विस्मृत नहीं कर सकते कि राज्य का सुदृढ़ आधार बल प्रयोग न होकर शासितों की अनुमति एवं इच्छा होती है।

अधिनायक तन्त्र और प्रजातन्त्र

प्रायः यह प्रश्न उठता है कि तानाशाही एवं प्रजातन्त्रीय-इन दोनों सरकारों में कौनसी अधिक उपयुक्त है? दोनों शासन-प्रणालियों के तुलनात्मक विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रजातन्त्र-शासन तानाशाही की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है।

(१) प्रजातन्त्र सरकार में समानता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं व्यक्ति के मौलिक अधिकारों पर महत्व दिया जाता है। परन्तु तानाशाही सरकार में न तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ही व्यवस्था रहती है और न समानता के सिद्धान्त

का अनुसरण ही किया जाता है। इस प्रकार प्रजातन्त्र शासन में जहां व्यक्ति को अपने सर्वांगीण विकास का अवसर मिलता है वहां तानाशाही में उसकी विद्यमान मौलिक प्रवृत्तियां भी शिथिल हो जाती हैं और उसका विकास कुंठित हो जाता है।

(२) प्रजातन्त्र की इस उदार भावना की कि "राज्य व्यक्ति के कल्याण के लिए है," एक तानाशाह खिल्ली उड़ाता है। तानाशाही में राज्य सब कुछ है, व्यक्ति कुछ नहीं। व्यक्ति राज्य के वैभव और गौरव की वृद्धि का एक यन्त्र मात्र है। राज्य साध्य है, चरम लक्ष्य है, व्यक्ति साधन मात्र है। तानाशाही शासन या अधिनायकवाद समष्टि की बलिवेदी पर व्यक्ति को बलिदान कर देता है। व्यक्ति के निजत्व और नैतिक मूल्य का यह हनन करने वाला है।

(३) प्रजातन्त्र सरकार उत्तरदायी सरकार होती है जबकि तानाशाही सरकार अनुत्तरदायी। अतः प्रजातन्त्र में जहां अधिकांश न्याय मिलता है वहां तानाशाही में घोर अन्याय की सम्भावना रहती है। प्रजातन्त्र में निरंकुशता और अत्याचार नहीं पनप सकते तथा अवांछित तत्व को जनता निर्वाचन द्वारा हटा सकती है जबकि तानाशाही में स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत होती है। वहां पर पूरा राज्य एक स्वेच्छाचारी के सकेतों पर चलता है।

(४) प्रजातन्त्र के दूसरे सिद्धान्त 'समानता अथवा सम्यता' का भी अधिनायकवाद कट्टर शत्रु है। वह इस बात से इन्कार करता है कि समस्त मानव बराबर हैं और सबको बराबर-बराबर अधिकार मिलना चाहिए। अधिनायकवाद के अनुसार समाज की रचना शिखरोमुखी (Mierarchycal) है। व्यक्तियों में मानसिक, बौद्धिक, शारीरिक तथा नैतिक अन्तर स्पष्ट होते हैं तो फिर सबको बराबर अधिकार क्यों दिये जायें ? अधिनायकतन्त्र 'एक व्यक्ति एक मत' के आधार पर शासन की आधारशिला रखने को तैयार नहीं है। उसके अनुसार शासन की बागडोर केवल उन्ही व्यक्तियों के हाथों में रहनी चाहिए जिन्होंने अपने स्वार्थों को जीतकर अपने-आपको राज्य के लिए समर्पित कर दिया हो। स्पष्ट है, ऐसी धारणा मानव-मूल्य एवं व्यक्तित्व का तिरस्कार है।

(५) अधिनायकवाद एक सर्वभक्षी शासन प्रणाली है। इसकी शक्ति की परिधि में मनुष्य का समस्त व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन होता है। तानाशाह व्यक्ति और समाज के प्रत्येक पहलू पर नियन्त्रण करता है। प्रजातन्त्र में ऐसे निरंकुश नियन्त्रण नहीं होते।

(६) प्रजातन्त्र सरकार स्वयं सुधारक होती है। आलोचनाओं द्वारा सरकार को अपने दोषों और जनमत का पता लगता रहता है, फलतः उसमें सुधार होता रहता है और साथ ही जनमत का भय सरकार को अपने कर्तव्यों

के प्रति जागरूक रखता है। किन्तु तानाशाही सरकार मे तानाशाह की इच्छा ही आज्ञा होती है एवं उसके शब्द ही कानून होते हैं चाहे वे कितने ही अनीतिपूर्ण क्यों न हों।

(७) तानाशाही सरकार विश्व के लिए अभिशाप है क्योंकि वह युद्ध और साम्राज्यवाद की नीति का प्रबल पोषक है। इसके विपरीत प्रजातन्त्र सरकार मानवीय गुणों की पोषक और शान्ति तथा सह-अस्तित्व की समर्थक है।

(८) यद्यपि तानाशाही सरकार मे प्रजातन्त्र सरकार की अपेक्षा अधिक एकता होती है चूकि वहा एक दल, एक नेता और एक कार्यक्रम होता है किन्तु यह एकता अन्त मे राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध होती है। एक दल और एक नेता ऐसी निरंकुशता को जन्म देता है और राष्ट्र को अपनी इच्छानुसार ऐसे मार्ग पर ले जाता है जिसका अन्त बडा भयावह होता है। इसके विपरीत प्रजातन्त्र में विभिन्न दलों की उपस्थिति बडी लाभदायक होती है। इसके कारण देश में निरंकुश शासन नही हो पाता और एक दूसरे से भयभीत रहने के कारण प्रत्येक दल सतर्क रह कर सर्वाधिक जनप्रिय बनने का प्रयत्न करता है और जनकल्याण के अधिकाधिक काम करता है।

(९) तानाशाही में जहां केवल कुछ ही योग्य व्यक्तियो की सेवायें देश को प्राप्त होती है वहा प्रजातन्त्र सरकार मे देश को सभी योग्य व्यक्तियों की सेवायें प्राप्त हो जाती है।

(१०) यह कहा जाता है कि संगठन और अनुशासन की एकता के कारण तानाशाही सरकार प्रजातन्त्र सरकार की अपेक्षा युद्ध में अधिक अच्छी होती है परन्तु वास्तव मे ऐसा नही होता। युद्ध के समय या राष्ट्रीय संकट के समय समस्त दल मतभेदों को भुला देते है और संयुक्त रूप से संकट का सामना करते हैं। वे प्रजातन्त्रात्मक राज्य ही थे जिन्होंने जर्मनी और इटली जैसे प्रबल सैनिक शक्ति-सम्पन्न तानाशाही राज्यों को मिटा दिया।

इन सभी बातो पर विचार करने से यह सर्वथा तर्क-सम्मत और व्यवहार-सम्मत है कि प्रजातन्त्र शासन तानाशाही शासन की अपेक्षा बहुत अधिक श्रेष्ठ है। आज के प्रजातान्त्रिक युग में तानाशाही के लिए कोई स्थान नही होना चाहिये।

१७

संविधानवाद

(CONSTITUTIONALISM)

"संविधानवाद व्यवस्थित ढंग से परिवर्तन प्रस्तुत करने की एक जटिल व्यवस्था है।"

—कार्ल जे. फ्रेडरिक

अभिप्राय

संविधानवाद एक आधुनिक विचारधारा है। यह एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है, जिसका संचालन कानूनो और नियमो द्वारा होता है, व्यक्तियों द्वारा नहीं। संविधानवाद प्रजातन्त्र से ही मिलती-जुलती एक पद्धति है। यह शक्तियों के विभाजन का समर्थक है। सी फ्रेडरिक ने लिखा है— "शक्ति-विभाजन सभ्य शासन या सरकार का आधार है, और यही संविधानवाद का अभिप्राय है।"

संविधान का संक्षेप में अर्थ है–एक ऐसी राजनीतिक पद्धति जिसमें सरकारी शक्तियों के विभाजन का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वरूप निहित हो। दूसरे शब्दों मे, संविधानवाद कुछ अंशों मे प्रतिबन्धो और सतुलनो की पद्धति स्वीकार करता है। श्री के० सी० ह्वीयर ने संविधानवाद को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है—

"संवैधानिक शासन का अर्थ किसी संविधान के नियमो के अनुसार शासन चलाने से कुछ अधिक है। उसका अर्थ है निरकुश शासन के विपरीत नियमानुकूल शासन। उसका तात्पर्य केवल अधिकार का उपयोग करने वालों की इच्छा और क्षमता के अनुसार चलने वाला शासन नही, बल्कि संविधान के नियमों के अनुसार चलने वाला शासन है। इसलिए ऐसा होना सम्भव है कि किसी देश का शासन संविधान के नियमों के अनुकूल तो चलता है, पर वह संविधान ही ऐसा हो कि उससे केवल शासन की संस्थायें स्थापित होती हों और उन संस्थाओ को अपनी मनमानी करने की

स्वतन्त्रता हो। ऐसे शासन को किसी प्रकार भी सवैधानिक शासन कहना कठिन है। सविधानों की वास्तविक सार्थकता और उनके पीछे का मौलिक उद्देश्य यही है कि शासन की सीमायें बाधी जा सके और शासन चलाने वालों के ऊपर कानूनो तथा नियमो के मानने का बन्धन रहे।"

सविधानवाद यद्यपि प्रजातन्त्र से मिलती-जुलती पद्धति है, पर इसका यह आशय नही है कि सविधानवाद पूर्णत प्रजातन्त्रीय है या प्रजातन्त्र के समान (Identical with Democracy) है। वास्तव में संविधानवाद को प्रजातन्त्र के समान या उसके "तत्सम" नहीं माना जा सकता। साम्राज्यवादी जर्मनी शायद ही प्रजातन्त्र कहला सकता था, यद्यपि वहा सवैधानिक सरकार थी, क्योंकि शासन सत्ता का प्रयोग कानून के अनुसार होता था न कि निरकुशतापूर्वक या मनमाने ढग से। फिर भी यह अवश्य है कि लगभग सभी वर्तमान प्रजातन्त्रीय देशों मे संवैधानिक शासन है।

सविधानवाद का तात्पर्य उत्तरदायी सरकार (Responsible Government) से भी लिया जा सकता है। संविधानवाद का स्पष्ट अर्थ है–शक्ति का विभाजन। शक्ति का यह विभाजन सरकार के प्रजातन्त्रीय और राजतन्त्रीय दोनों ही रूपों मे पाया जाता है। किन्तु जो व्यवस्था पूर्णत प्रजातन्त्रीय है, वह सविधानवादी नही कहला सकती क्योंकि वहा पर शक्तियो का विभाजन नही होता। सी. एफ स्ट्रांग के दृष्टिकोण से सविधानवादी राज्य वह राज्य है जिसमें शासन की शक्तियो, शासितों के अधिकारो और इन दोनो के बीच सम्बन्धो का समायोजन किया जाता है।

आधुनिक सविधानवाद राष्ट्रवाद और प्रतिनिधि लोकतन्त्र के दोहरे आधार से विकसित हुआ है। इस सविधानवाद का मुख्य लक्ष्य शातिपूर्वक परिवर्तन या एक सुव्यवस्थित तथा अहिंसात्मक परिवर्तन प्रदान करना है। सविधानवाद के इस लक्ष्य का यह अर्थ नही है कि इसमें सभी परिवर्तन होने चाहियें। प्रत्येक समाज मे एव अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में कुछ न कुछ परिवर्तन तो हर समय ही होते रहते है और ये परिवर्तन कितने व किस ढग के हैं, यह एक विकट समस्या है। सविधानवाद हमे परिवर्तन की एक लचीली एव शातिदायक प्रक्रिया प्रदान करता है। फिर भी चूकि इन परिवर्तनों में कुछ हिंसात्मक भी रहे है, अतः यही कहना चाहिए कि संविधानवाद बहुत कुछ अंशों में यदि सफल हुआ है तो कुछ अंशो मे असफल भी।

स्पष्ट है कि सविधान किसी भी रूप मे स्थिर नही है प्रत्युत् सतत् गतिशील है। समय, स्थान और व्यक्तियों के अनुसार यह (सविधानवाद) बदलता रहता है। इसमें परिवर्तन सदैव होते रहते हैं, चाहे ये आगे की

तरफ हो, चाहे पीछे, और साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी परिवर्तन उन्नति के ही द्योतक हों। संविधानवाद व्यवस्थित ढंग से परिवर्तन का एक तरीका है और जब कभी संविधान में परिवर्तन होता है तभी संविधानवाद का महत्व सामने आता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि इसमें कुछ आदर्श, मान्यतायें और सिद्धान्त होते हैं।

संविधानवाद स्वतन्त्रता का रक्षक है, यह रक्षा न्यायालय के द्वारा करता है। कार्टर और हर्ज (Carter and Herz) के अनुसार—"मूल अधिकार व स्वतन्त्र न्यायपालिका हर संविधानवाद की सामान्य एवं अनिवार्य विशेषता है।"

संविधानवाद प्रजातन्त्रीय सरकार का भी एक तरीका है। प्रजातन्त्र के रूप में भिन्नता हो सकती है किन्तु प्रजातन्त्रीय शासन के लिए संविधानवाद की अनिवार्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता। पाश्चात्य विचारक राजनैतिक स्वतन्त्रता को अधिक महत्व देते हैं जबकि सोवियत विचारक सामाजिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता के पक्ष पर भी सोचते हैं।

संविधानवाद मूल रूप में राज्य के अधिनायकवाद एवं शक्ति के केन्द्रीयकरण के विरुद्ध है। राज्य की शक्तियों एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता में एकरूपता लाने का ही इसका सतत् उद्देश्य एवं प्रयत्न रहा है। कार्टर एवं हर्ज (Carter and Herz) के शब्दों में "संविधान केवल मात्र अधिनायकवाद-विहीन राज्य में ही सम्भव है। आधुनिक संविधानवाद का सर्वाधिक अनिवार्य तत्व शक्ति का विकेन्द्रीकरण है।"

संविधानवाद की विभिन्न मान्यतायें

आधुनिक संविधानवाद के बारे में तीन विचार मुख्य रूप से प्रचलित हैं—

(१) पाश्चात्य विचारधारा,
(२) सोवियत विचारधारा, एवं
(३) विकासशील देशों की विचारधारा।

संविधानवाद की पाश्चात्य व्याख्या—पाश्चात्य विचारकों ने संविधानवाद के बारे में दो तरह की व्याख्यायें दी हैं—

(१) मूल्य-मुक्त व्याख्या (Value-Free Interpretation)
(२) मूल्य-सहित व्याख्या (Value-Ridden Interpretation)

जब हम केवल मात्र सांविधानिक ढांचे का वर्णन करें और उसके साथ कोई मूल्य, आदर्श, मान्यतायें एवं सिद्धान्त न जोड़ें तो यह व्याख्या

'Value-Free Interpretation' कहलाती है। वास्तव में कोई भी संविधान मूल्य-रहित नही होता क्योकि कुछ-न-कुछ उपयोगिता एवं मूल्य हर सविधान मे समाविष्ट रहता है। किन्तु फिर भी संविधानवाद की ऐसी परिभाषा विचारकों द्वारा की गई है। जब हम राजनीतिक आदर्शों एवं उद्देश्यों को सामने रख कर सविधानवाद की व्याख्या करते हैं तो ऐसी व्याख्या 'Value-Ridden Interpretation' कहलाती है। इस व्याख्या के अनुसार यदि हम समानता, स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र आदि राजनैतिक आदर्शों के बारे मे विचार करें तभी ये बातें सविधानवाद की बातें होंगी।

पाश्चात्य विचारकों के अनुसार सविधानवाद के साध्य व साधन (Means & Ends) दोनो पहलू हैं। यदि इनमें से एक भी न हो तो हम संविधानवाद का सही रूप नहीं पा सकते।

साध्य के दृष्टिकोण से संविधानवाद के समक्ष तीन मुख्य उद्देश्य होते है—(१) स्वतन्त्रता, (२) प्रजातन्त्र और (३) राष्ट्र अथवा समुदाय का हित। लास्की (Laski) ने इसमे समानता का तत्व और जोड दिया। इस प्रकार चार मुख्य ध्येय सविधानवाद के समक्ष है।

साधन के दृष्टिकोण से संविधान मूल अधिकारो और स्वतन्त्रता की गारन्टी करता है तथा उनकी सुरक्षा करता है। यह शासन को निरंकुश एव केन्द्रित होने से रोकता है।

इस प्रकार सविधानवाद का सार तभी है जब साध्य एवं साधन दोनो पहलू पूरे हो।

आधुनिक संविधानवाद की दृष्टि से वास्तव में किसी देश का कोई सविधान है या नहीं—यह निर्णय करने के लिए हमे समझ लेना चाहिए [illegible] वर्तमान में संविधान शब्द दो अर्थों मे प्रयुक्त होता है। एक अर्थ में तो [illegible] एक लेख्य (Document) का बोध होता है जिसको देश के [illegible] एक समय मे तथा एक स्थान पर बैठ कर निर्मित [illegible] शासन के मूल सिद्धांतों को निर्णयात्मक रूप से निश्चित [illegible] फ्रान्स, अमेरिका और भारत का संविधान है। दूसरे अर्थ में [illegible] सविधान से केवल किसी लेख्य का ही बोध न होकर [illegible] परिपाटियों व अभिसमयों का भी बोध होता है जो [illegible] या सर्वथा अलिखित होते है और जो [illegible] की विवेचना करते हैं।

संविधानवाद की [illegible] को हम एक प्रकार से [illegible]

संविधानवाद का विचार समाजवाद के इर्द-गिर्द घूमता दिखाई देता है और संविधान के द्वारा हम यह देख सकते है कि देश कितना समाजवादी हो गया है ।

सोवियत विचारधारा के अनुसार समाजवाद की दिशा में देश ने जो प्रगति की है, उसका प्रतिबिम्ब ही संविधान है । अत संविधान में समाजवादी संघर्ष और उपलब्धियों की झलक होनी चाहिए ।

संविधानवाद के सोवियत दृष्टिकोण से संविधान मे केवल पूर्वकालीन वर्णन और वर्तमान ब्योरा ही नही मिलता, बल्कि आगे क्या करना है, इसकी दिशा भी इङ्गित होती है । नियमों के आधार पर मार्ग बताया जाता है जिस पर चलकर ही समाजवादी देश उन्नति कर सकता है ।

सोवियत विचार के अनुसार, 'संविधान कोई स्थिर वस्तु नही है । यह परिवर्तनशील है । संविधानवाद स्थिरता का नही अपितु परिवर्तनशीलता और गतिशीलता का द्योतक है । उन्नति की दिशा मे महत्वपूर्ण सीढ़िया चढ़ लेने पर ही संविधान का निर्माण होता है ।'

उल्लेखनीय है कि संसार के अन्य सभी देशो मे संविधान ही किसी देश की सर्वोच्च निधि मानी जाती है । लेकिन सोवियत रूस में ऐसा नही है । सोवियत मान्यता इस परम्परागत मान्यता के विपरीत है । विशिन्स्की ने कहा है कि 'सोवियत रूस मे सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व हो चुका है और इस सर्वहारा वर्ग अथवा श्रमिकों के सर्वाधिकारवादी राज्य पर संविधियां(Statutes) भी कोई मर्यादायें नही लगा सकती ।' इसका स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद का नियन्त्रण संविधान के उपबन्धों के अनुसार नही होता, वरन् अधिनायकवाद ही इस बात का निर्णय करता है कि उसकी नैतिक और वैधिक किस प्रकार हो तथा उक्त व्यवस्था मे संविधान को शीर्ष स्थानीय महत्ता प्रदान की जाए या नही ।

संविधानवाद की उपरोक्त विचारधारा और संविधानवाद की पाश्चात्य विचारधारा मे यदि तुलना की जाए तो हमे दोनों मे निम्नलिखित स्पष्ट अंतर दिखाई देते हैं—

(१) पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार संविधानवाद के साध्य व साधन दोनों पहलू हैं । उसके कुछ आदर्श भी हैं जो उनका पूरा करने के लिए यह एक साधन के रूप मे भी है । किन्तु इसके विपरीत सोवियत विचारधारा के अनुसार संविधान एक साधन है । वह अपने आप में साध्य नही है । पाश्चात्य विचारक संविधान को एक पवित्र वस्तु मानते हैं । जब एक बार उसका निर्माण हो जाता है तो उसमे सामान्यतया परिवर्तन की बहुत कम गुंजाइश रहती है यद्यपि अनिवार्य परिस्थितियों में वांछित संशोधन करने पड़ जाते हैं । सोवियत

धारणा यह है कि संविधान अपने आप मे कोई पवित्र वस्तु नही है, जब कभी कोई समाजवादी देश कोई महत्वपूर्ण उन्नति कर लेते है तो नवीन सविधान का सृजन होता है। सोवियत रूस के १६१८-१६२४ एव १६३६ के सावधानो से यह स्पष्ट है ।

किन्तु पाश्चात्य और सोवियत सविधानवाद मे समानता के बिन्दु भी हैं। परिवर्तनशीलता के सिद्धात को दोनों ही विचारक मानते है, चाहे इस परिवर्तनशीलता की मात्रा में अन्तर क्यो न हो। दोनों ही विचारको के अनुसार सविधान पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है।

विकासशील देशों में संविधानवाद

विकासशील देशों मे सविधानवाद की कोई विशिष्ट पहिचान बताना कठिन व अनिश्चित है क्योंकि देश और इनके सविधान प्रक्रिया के गर्भ में हैं। फिर भी इन देशो मे सविधानवाद के निम्नलिखित दो पहलू स्पष्ट रूप से दिखाई देते है।

(१) इनमे मिश्रित सविधानवाद होता है। कुछ देश पाश्चात्य व सोवियत विचारधाराओं का मिलाने का प्रयत्न कर रहे है। वह स्वतन्त्रता, समानता एव समाजवाद की योजना सहित लाने को प्रयत्नशील है। इस दृष्टि से भारत का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

(२) अनेक विकासशील देश अनुभव करते है कि पाश्चात्य सविधान-वाद उनके अनुरूप नही है। इस बारे मे पाश्चात्य लोगों का कहना है कि ये विकासशील देश स्वतन्त्रता एवं समानता के विचार को नही समझते है। यही कारण है कि ये पाश्चात्य सविधानवाद को नही अपना रहे हैं। पाश्चात्य नेता यह स्वीकार करते है कि विकासशील देशो के सामने कुछ ऐसी समस्यायें है जिनका कोई हल पाश्चात्य सविधानवाद के पास नही है, अत. उन्हें अपना सविधान स्वयं बनाना चाहिए।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि विकासशील और विकसित दोनों देशों के संविधानवाद की पृष्ठभूमि मे उनकी अपनी-अपनी समस्यायें काम कर रही हैं। किन्तु यह अवश्य सत्य है कि दोनों ही संविधान के 'Value Ridden Interpretation' मे विश्वास रखते हैं।

संविधानवाद का भविष्य

राजनैतिक संविधानवाद पर द्वितीय विश्व युद्ध का जो जटिल एव भयावह प्रभाव पड़ा, इसके फलस्वरूप आज विश्व के सम्मुख निम्नांकित तीन राजनैतिक विचारधारायें उपस्थित हैं—

(1) पाश्चात्य परम्परागत लोकतन्त्रवाद—इसका समर्थन प्रमुखतः ब्रिटिश एवं अमरीकी राष्ट्रमण्डलों द्वारा किया जाता है, यद्यपि युद्ध में घोर

शासन का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि विभिन्न रूपों में निरंकुशवाद की शक्ति कितनी है। जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे सांविधानिक शासन पीछे हटता जाता है। २०वीं शताब्दी के मध्य में संसार का दो तिहाई आबादी के ऊपर किसी न किसी प्रकार का निरंकुश शासन मौजूद है।"

(३) आधुनिक युग में सांविधानिक शासन के सामने कठिनतम समस्या यही है कि अपने शत्रुओं से बातचीत होते जीवित कैसे रहा जाए। युद्ध अथवा किसी संकट के अवसर पर सांविधानिक शासन को प्रायः इसीलिए सीमित या स्थगित कर दिया जाता है कि देश स्वाधीनतापूर्वक जीवित रह सके और संकट समाप्त हो जाने पर फिर से सांविधानिक शासन स्थापित हो सके। सांविधानिक शासन का प्रकार इस उद्देश्य के लिए स्थगित किया जाना सिद्धांततः कोई बुरा नहीं है, लेकिन व्यवहार में सदैव यह डर रहता है कि जिन लोगों को यह सर्वोपरि अधिकार सौंपा जाए, हो सकता है कि वे बाद में छोड़ने को राजी न हों।

(४) सांविधानिक शासन के समक्ष एक बड़ी समस्या यह है कि कुछ लोग सांविधानिक शासन को उलटना चाहते हैं और उसके विरुद्ध अपना आंदोलन चलाने के लिए उसी को (सांविधानिक शासन की ही) दी हुई सुविधाओं व स्वतन्त्रता का उपयोग करते हैं। अतः समस्या यह उठती है कि क्या यह सांविधानिक शासन के अनुकूल होगा कि उसके विरुद्ध कार्य करने वालों का दमन किया जाए। श्री व्हीयर का कहना है कि "निश्चय ही यह सांविधानिक शासन के अनुकूल नहीं हो सकता कि जो उसके विरुद्ध है उनको भी वह सहन करे अथवा प्रोत्साहित करे। यह बहुत सम्भव है कि कुछ परिस्थितियों में सांविधानिक सरकार के विरोधियों को अपने विरोध को प्रकट करने की पूरी छूट दी जाए। तो भी यह हमेशा मानना पड़ेगा कि सांविधानिक सरकार के समर्थकों के सामने उद्देश्य अपने विरोधियों को परास्त करना ही रहेगा और यह सम्भव है कि यदि सांविधानिक शासन की रक्षा करनी है तो विरोधियों की स्वाधीनता का अपहरण जरूरी हो जाए।"

(५) आज सांविधानिक शासन अथवा संविधानवाद को समाजवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीय या विश्व व्यवस्था—इन दो मसलों का विशेष रूप से सामना करना पड़ रहा है। यद्यपि अनेक व्यक्तियों के मस्तिष्क में अन्तर्राष्ट्रीयवाद और समाजवाद परस्पर जुड़े हुए हैं, किन्तु दोनों मसले स्वभावतः परस्पर भिन्न हैं। समाजवाद में योजना निहित है और योजना अन्तर्राष्ट्रीयवाद की प्रगति को रोकती है क्योंकि योजना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपेक्षाकृत अधिक पेचीदी होती है। वर्तमान काल में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि प्रजातांत्रिक संविधानवाद के समर्थक भी इन बातों के सापेक्षिक महत्व पर एकमत नहीं हैं। सौभाग्यवश

युद्ध के बाद पश्चिमी योरोप के राष्ट्रों को जो कष्ट सहने पड़े, उनके कारण यह पहले के समान आकर्षक नहीं रह गया है।

(ii) विजयी सोवियत लोकतन्त्रवाद—यह समस्त पूर्वी योरोप और एशिया के एक विशाल भाग पर छाया हुआ है। दोनों भूखण्डों में स्थित राजनैतिक संस्थायें सोवियत लोकतन्त्रवाद से बड़ी गहरी प्रभावित हो गई हैं।

(iii) फासिस्टवाद और नाजीवाद के बदनाम सिद्धांत—ये सिद्धांत अपनी राख में से पुनः पैदा होने की धमकी दे रहे हैं। फासिस्टवादी और नाजीवादी विचारधारा के समर्थक कुछ व्यक्ति यह दावा करते हैं कि धनिक लोकतन्त्रवाद एवं साम्यवाद की शक्तियों के मध्य कुचले हुए लोगों को वे ही कष्टों से मुक्ति दिला सकते हैं।

उपरोक्त तीनों राजनैतिक विचारधाराए जनता के समर्थन का दावा करती है। इन परिस्थितियों मे राजनैतिक संविधानवाद को अपने आप को जीवित रहने योग्य सिद्ध करना ही चाहिए, अन्यथा संविधानिक राज्य खतरे में पड़ जायेगा। विश्व की प्रत्येक जनता का यह कर्तव्य है कि वह यह ध्यान रखे कि "राजनैतिक संविधानवाद का मूल प्रयोजन सभी स्थानों पर समान है, अर्थात् सामाजिक शांति और प्रगति सुनिश्चित करना, वैयक्तिक अधिकारों की सुरक्षा और राष्ट्रीय हित की प्राप्ति।"

यद्यपि सांविधानिक शासन के भविष्य के सम्बन्ध मे कोई निश्चित भविष्यवाणी करना बड़ा कठिन है तथापि यह बहुत कुछ बताया जा सकता है कि कौनसी शक्तियां सांविधानिक शासन के विरुद्ध है अथवा उसे कमजोर बना सकती है या विनिष्ट कर सकती है—

(१) सांविधानिक शासन की सबसे पहली विरोधी शक्ति या समस्या युद्ध है। युद्ध अथवा युद्ध की अफवाहों के समय हर सरकार पूरी-पूरी आजादी की मांग करती है, वह किसी बन्धन को नहीं मानना चाहती और जनता भी आजादी देने के लिए तैयार रहती है। स्पष्ट ही ऐसा शासन उस बन्धन युक्त शासन के विरुद्ध है जिसे हम सांविधानिक कहते हैं। युद्ध-काल मे सांविधानिक शासन पर दबाव पड़ता है और किसी न किसी हद तक वह दबाव उसे शिथिल कर देता है।

(२) सांविधानिक शासन की दूसरी विरोधी शक्ति निरंकुशतावाद है। के० सी० व्हीयर के कथनानुसार "निरंकुशवाद बहुत से रूपों और नामों मे प्रकट होता है उसे चाहे सर्वाधिकारवाद कहा जाए, चाहे मजदूर वर्ग का अधिनायकत्व, फासीज्म या नात्सीवाद चाहे उसे किसी संविधान में ही प्रतिष्ठित कर लिया जाए, पर सांविधानिक शासन से उसका मेल नहीं हो सकता क्योंकि वह बन्धनहीन और सर्वोपरि होने का दावा करता है। इसलिए सांविधानिक

शासन का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि विभिन्न रूपों में निरंकुशवाद की शक्ति कितनी है। जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे सांविधानिक शासन पीछे हटता जाता है। २०वीं शताब्दी के मध्य में संसार का दो तिहाई आबादी के ऊपर किसी न किसी प्रकार का निरंकुश शासन मौजूद है।"

(३) आधुनिक युग में सांविधानिक शासन के सामने कठिनतम समस्या यही है कि अपने शत्रुओं से बातचीत होते जीवित कैसे रहा जाए। युद्ध अथवा किसी संकट के अवसर पर सांविधानिक शासन को प्राय इसीलिए सीमित या स्थगित कर दिया जाता है कि देश स्वाधीनतापूर्वक जीवित रह सके और संकट समाप्त हो जाने पर फिर से सांविधानिक शासन स्थापित हो सके। सांविधानिक शासन का प्रकार इस उद्देश्य के लिए स्थगित किया जाना सिद्धांततः कोई बुरा नहीं है, लेकिन व्यवहार में सदैव यह डर रहता है कि जिन लोगों को यह सर्वोपरि अधिकार सौंपा जाए, हो सकता है कि वे बाद में छोड़ने को राजी न हों।

(४) सांविधानिक शासन के समक्ष एक बड़ी समस्या यह है कि कुछ लोग सांविधानिक शासन को उलटना चाहते हैं और उसके विरुद्ध अपना आंदोलन चलाने के लिए उसी की (सांविधानिक शासन की ही) दी हुई सुविधाओं व स्वतन्त्रता का उपयोग करते हैं। अतः समस्या यह उठती है कि क्या यह सांविधानिक शासन के अनुकूल होगा कि उसके विरुद्ध कार्य करने वालों का दमन किया जाए। श्री व्हीयर का कहना है कि "निश्चय ही यह सांविधानिक शासन के अनुकूल नहीं हो सकता कि जो उसके विरुद्ध है उनको भी वह सहन करे अथवा प्रोत्साहित करे। यह बहुत सम्भव है कि कुछ परिस्थितियों में सांविधानिक सरकार के विरोधियों को अपने विरोध को प्रकट करने की पूरी छूट दी जाए। तो भी यह हमेशा मानना पड़ेगा कि सांविधानिक सरकार के समर्थकों के सामने उद्देश्य अपने विरोधियों को परास्त करना ही रहेगा और यह सम्भव है कि यदि सांविधानिक शासन की रक्षा करनी है तो विरोधियों की स्वाधीनता का अपहरण जरूरी हो जाए।"

(५) आज सांविधानिक शासन अथवा संविधानवाद को समाजवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीय या विश्व व्यवस्था—इन दो मसलों का विशेष रूप से सामना करना पड़ रहा है। यद्यपि अनेक व्यक्तियों के मस्तिष्क में अन्तर्राष्ट्रीयवाद और समाजवाद परस्पर जुड़े हुए हैं, किन्तु दोनों मसले स्वभावतः परस्पर भिन्न हैं। समाजवाद में योजना निहित है और योजना अन्तर्राष्ट्रीयवाद की प्रगति को रोकती है क्योंकि योजना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपेक्षाकृत अधिक पेचीदी होती है। वर्तमान काल में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि प्रजातांत्रिक संविधानवाद के समर्थक भी इन बातों के सापेक्षिक महत्व पर एकमत नहीं हैं। सौभाग्यवश

यह समस्या स्वतः ही हल हो रही है, क्योंकि विगत लगभग ३० वर्षों का इतिहास यह निसंदिग्ध रूप से स्पष्ट कर चुका है कि सांविधानिक प्रजातन्त्र प्रभावशाली रूप से राष्ट्रीय स्तर पर कार्य नहीं कर सकता। संविधानवाद का एक अन्तर्राष्ट्रीय नमूना विश्व के उस समस्त भाग के लिए बनता जा रहा है जिसका शासन प्रजातान्त्रिक रूप से होता है। राष्ट्रसंघ ने, अपनी कमियों के बावजूद भी विश्व स्तर पर संविधानवाद के प्रसार की दिशा में एक निर्णायक प्रयत्न किया था और आज संयुक्त राष्ट्र संघ इसी दिशा में और भी दृढ़ता से अग्रसर है। विश्व की जनता का कल्याण इसी में है कि संविधानवाद का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकास हो और इसका निरन्तर प्रसार होता जाए।

१८

दल–व्यवस्था, जनमत एवं सामुदायिकतावाद

(PARTY-SYSTEM, PUBLIC OPINION AND COMMUNITARIANISM)

"प्रजातन्त्रीय यन्त्र के चालन में राजनीतिक दल तेल के तुल्य हैं।"

—ह्यूबर

राजनीतिक दल और जनमत का आज के प्रजातन्त्रीय युग में जो महत्व एवं योगदान है वह स्फटिक-शिला की भांति स्पष्ट है। राजनीतिक दलीय धारणा के विपरीत समाज को एक अविच्छिन्न इकाई मानने वाले लोगों अथवा सामुदायिकतावादियों (Communitarians) के अपने विशिष्ट विचार हैं जो इस व्यवस्था को कतिपय आधारों पर ठीक नहीं समझते। हम प्रस्तुत अध्याय में दल-व्यवस्था, जनमत और सामुदायिकतावाद—इन तीनों की ही क्रमशः विवेचना करेंगे।

दल-व्यवस्था
(Party-System)

स्वतन्त्र राजनीतिक दल राजनीति के एक पहलू का प्रतिनिधित्व करता है। जन-नीतियों को निर्धारित करने और उन्हें लागू करने की प्रक्रिया (Process) के रूप में राजनीति में उन सभी बातों का समावेश होता है जो जनता की राजनीतिक विचारधाराओं को बनाने में सहयोग देते हैं। शिक्षक, पादरी, गृह-स्वामिनियां, विशेषतः समुदाय श्रमिक संगठन, विज्ञापन अभिकरण, वाणिज्य महा मंडल और अनेक व्यक्तिगत एवं निजी समुदाय आदि मिलकर जनता की विचारधाराओं को प्रभावित करते हैं जो कभी जनमत (Pub. Opinion) में परिवर्तित हो सकती हैं। राजनीतिक दल कभी तक तो विचारधाराओं के प्रादुर्भाव में सहायक हुआ है तथा अभी तात्कालीन

सहारा मात्र लेता है। बिना ऐसे दलों के प्रजातन्त्र में अव्यवस्थित मतों को सरकारी नीति मे साधारणतया सफलतापूर्वक बदल सकना सम्भव नही है। संक्षेप में कहना चाहिये कि राजनीति में राजनीतिक दलों का होना आवश्यक है, पर राजनीतिक प्रक्रिया (Political Process) पर किसी एक दल का एकाधिकार होना अनिवार्य नहीं।

राजनीतिक दल का अभिप्राय व आधार
(Meaning and Basis of Political Parties)

प्रजातन्त्र और अधिनायकवादी राज्यों में प्रचलित राजनीतिक दलो मे पाई जाने वाली विषमता के कारण कोई एक परिभाषा उनके पर्याप्त अर्थ को प्रकट नही कर सकती। प्रो० न्यूमैन (Newmann) ने इस मत को भी, कि अधिनायकवादी राज्यो में राजनीतिक दल पाये जाते हैं, चुनौती दी है। उनके अनुसार ऐसे दल शासक वर्ग के हाथो में सामूहिक स्वीकृति को व्यवस्थित करने का एक साधन मात्र हैं, न कि जन-इच्छाओं को सरकारी नीति में बदलने का। अतः प्रो० न्यूमैन के शब्दो में—

"राजनीतिक दल एक स्वतन्त्र समाज मे नागरिकों के उस व्यवस्थित समुदाय को कहते है जो शासनतन्त्र को नियन्त्रित करना चाहते हों और उसके लिये जन-सहमति मे भाग लेकर अपने कुछ सदस्यों को सरकारी पदों पर भेजने का प्रयास करते हों।"

एडमण्ड बर्क (Edmund Burke) ने लिखा है कि—"राजनीतिक दल ऐसे लोगों की संस्था है, जो कुछ विशेष सिद्धान्तों पर जिनमें सब की सहमति होती है अपने संयुक्त प्रयत्नों द्वारा एक साथ मिल कर राष्ट्रीय हितों को उन्नत करते है। दूरदर्शी दार्शनिक का यह काम है कि वह सरकार के उचित लक्ष्यों को निश्चित करे। राजनीतिज्ञों का जो कार्यरत दार्शनिक है, यह कर्त्तव्य है कि वे उन लक्ष्यों की प्राप्ति के साधनो की तलाश करे और उनको कार्यान्वित करे। अतः प्रत्येक मानवीय सम्बन्ध इस बात में अपना पहला कर्त्तव्य समझेगा कि वह ऐसे आदमियों को जो उनके मतों का समर्थन करते हैं, ऐसी स्थिति में रखने के लिये प्रत्येक न्यायोचित तरीके अपनायेगा ताकि वे अपनी सामान्य योजनाओं को कार्यान्वित कर सकें।"

राजनीतिक दलों की न्यूमैन, बर्क एवम् अन्य विद्वानों ने जो परिभाषायें दी हैं, उनका विश्लेषण करने से निष्कर्ष यह निकलता है कि राजनीतिक दलों का निर्माण मानव स्वभाव की दो विशेषताओं—मतैक्य और संगठन—पर आधारित होता है। वे व्यक्ति जिनमें एकता की भावना होती है, जिनमें एक राजनीतिक ध्येय पर मतैक्य होता है, जो सुसंगठित होते हैं, दल कहलाते

है। यद्यपि यह कहावत सच है कि जितने व्यक्ति होते हैं उतने ही मत होते हैं, तथापि इसी मतभेद के फलस्वरूप जो मत प्रकट होता है वही दल का मत होता है। अन्य शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि मतभेदों के होते हुए भी जिस माध्यम से व्यक्ति संगठित होकर ध्येय-विशेष की पूर्ति के लिए एक होकर कार्य करते हैं, वह दल का मत होता है, उनमें उस मत को मानने वाले लोगों का ही दल होता है।

यह एक तथ्य है कि कोई भी स्वतन्त्र और बडा देश वर्तमान परिस्थितियों में राजनीतिक दलों के बिना नही रह सकता। दल प्रणाली समाप्त करने से व्यक्ति की स्वाधीनता खत्म हो जाती है। अत व्यक्ति की स्वाधीनता दल प्रणाली की माग करती है। दल-व्यवस्था का प्रमुख आधार यह है कि सब विचारशील व्यक्ति प्रायः इस बात पर एक मत नही होते कि श्रेष्ठ राजनीतिक जीवन क्या है ? राजनीतिक उद्देश्यों और राजनीतिक साधनों के विषय में मतभेद होता है। इन्ही मतभेदो के आधार पर दलो का निर्माण होता है। जो राजनीतिक दल अपने कार्यक्रम में ऐसे राजनीतिक उद्देश्यों और साधनों को सम्मिलित करता है कि बहुमत उनके पक्ष मे हो जाए, वही दल देश का शासन सम्हालता है। अन्य अल्पसंख्यक दल विपक्ष का कार्य करते है। किन्तु विपक्ष का विरोध ध्वंसात्मक न होकर सदैव रचनात्मक होना वांछनीय है।

यह स्मरणीय है कि सभी राजनीतिक दलों को कानून के अन्तर्गत राजकीय मान्यता प्राप्त नही होती और वे आवश्यक रूप से सरकार के अंग भी नही बनते। फिर भी लोकतन्त्रात्मक राज्य मे प्रशासनिक क्रियाओं पर उनका निश्चित प्रभाव पड़ता है और लोकतन्त्रात्मक शासन के सफल सचालन के लिये उनका होना अनिवार्य है।

राजनीतिक दलो की उत्पत्ति का कोई एक नहीं, वरन् अनेक आधार हैं। अनेक व्यक्ति धार्मिक आधार पर राजनीतिक दल बना लेते हैं। ऐसे दलो का लक्ष्य अपने धर्म के अनुयायियों के हितों की रक्षा करना होता है। भारत में मुस्लिम लीग, अकाली दल, फ्रांस में दक्षिण पन्थी दल तथा वामपंथी चर्च विरोधी दल, ऐसे धार्मिक दलों के उदाहरण कहे जा सकते हैं। कुछ व्यक्ति अपनी विचारधाराओ के कारण किसी एक दल के सदस्य हैं तो कुछ व्यक्ति पद प्राप्ति के लिये दूसरे दल के सदस्य बनते हैं। कई लोग क्षेत्रीय भावनाओं के कारण विभिन्न दलों के सदस्य बनते हैं। उदाहरणार्थ अमेरिका में दक्षिणी प्रदेश का रहने वाला डेमोक्रेट और उत्तरी प्रदेश का रहने वाला रिपब्लिकन होता है। दल बनाने के जातीय कारण भी हो सकते हैं, जैसे भारत में अखिल भारतीय परिगणित जाति संघ का उल्लेख किया जा ..

है। दक्षिण अफ्रीका और दक्षिण रोडेशिया में भी यही स्थिति है। वहां काले और गोरे का भेद प्रचलित है और दोनों ने भिन्न-भिन्न हितों की रक्षा करने के लिये विभिन्न संगठन बना रखे हैं। राजनीतिक उद्देश्यों और राजनीतिक साधनों के विषय में पाये जाने वाले मतभेदों के आधार पर भी दलों का निर्माण हो जाता है। आधुनिक युग में राजनीतिक दलों का मुख्य आधार आर्थिक हो गया है। प्रो० लास्की के अनुसार दल का मुख्य कार्यक्षेत्र आर्थिक ही है। भारत में कांग्रेस दल प्रजातान्त्रिक समाज की स्थापना को और स्वतन्त्र दल निजी संस्थानों की प्रगति को अपना उद्देश्य मानता है। ब्रिटेन में श्रमिक दल पिछड़े वर्ग के उत्थान के लिए प्रयत्न करता है तो अनुदारवादी दल उच्च वर्ग के विचारों का पोषक है। साम्यवाद का दर्शन तो मुख्यतः आर्थिक है ही।

राजनीतिक दल और गुट में अन्तर

राजनीतिक दल और गुट एक नहीं है, जैसा कि कुछ व्यक्ति मान लेते हैं। जब राजनीतिक दल अपने कार्यकलापों को वर्गीय उद्देश्यों एवम् स्वार्थपूर्ण लक्ष्यों की ओर सचालित करते हैं, तो वे अवश्य गुट का रूप धारण कर लेते हैं। एक गुट उन मनुष्यों का ढीला-ढाला सयुक्त समूह कहा जा सकता है जो राष्ट्रीय हितों के विपरीत निजी वर्गीय स्वार्थों की प्राप्ति के लिए सम्मिलित है। राजनीतिक दल हमेशा राष्ट्रीय हित के लिए कार्य करते है और वैधानिक प्रयत्नो द्वारा राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं। गुटो का उद्देश्य भी समान होता है, लेकिन लक्ष्य की पूर्ति मे वे बल-प्रयोग, सघर्ष, गुंडागर्दी आदि साधनो को मुक्त रूप से अपना सकते हैं। राजनीतिक दल और गुट का अन्तर इन शब्दों में बड़ी सुन्दरता से स्पष्ट होती है— "राजनीतिक दलो की कार्य-प्रणाली सिरों को गिनना है और गुटो की कार्य-प्रणाली सिरों को तोड़ना है।" संक्षेप में, राजनीतिक दल प्रश्नों का हल मतों द्वारा करते हैं और गुट शक्ति द्वारा।

राजनीतिक दल और दबाव समूह में अन्तर

राजनीतिक दलों को भली प्रकार समझने के लिये दबाव समूहों (Pressure Groups) से भी इनका अन्तर देख लेना चाहिये। एक राजनीतिक दल सामान्यतः दबाव समूह की अपेक्षा एक ऐसा अधिक बड़ा सगठन होता है जो लाखो मतदाताओं के सक्रिय समर्थन की प्राप्ति का उद्देश्य रखता है। परिणाम-स्वरूप, राजनीतिक दल का कार्यक्रम भी बड़ा विस्तृत होता है और उसे विविध समस्याओं से जूझना पड़ता है। किन्तु इसके विपरीत दबाव समूह व्यक्तियो का एक छोटा संगठन होता है और केवल वे अल्प-संख्यक व्यक्ति ही इसका समर्थन करते है जिनके परस्पर सामान्य हित होते हैं। अतः दबाव

समूह का प्रभाव भी राजनीतिक दल की अपेक्षा संकुचित दायरे में होता है और उसका कार्यक्रम भी सीमित हो कर कुछ निश्चित हितों की प्राप्ति तक ही निर्दिष्ट होता है। दल और दबाव समूह मे दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि राजनीतिक दल प्रधानत: शासन के संचालन और नियंत्रण के उद्देश्य से प्रेरित होते हैं और इसलिये निर्वाचन लड़कर विजय की अपेक्षा रखते है। इसके विपरीत दबाव समूह केवल अपने सामान्य हितो से सम्बन्धित सार्वजनिक नीति को अपने अनुरूप करवाने मे ही रुचि रखते हैं। ये राजनीतिक दलों के समान निर्वाचन के लिए अपने प्रतिनिधि खडे नही करते, अपितु अपने एजेन्टों को प्रशासकीय और विधायी अधिकारियो पर इस दृष्टि से दबाव डालने को प्रेरित करते हैं कि वे अमुक नीति या कानून को बनाते-बिगाड़ते या सशोधित करते समय दबाव-समूह के हितो को पूरी तरह निगाह में रखें।

राजनीतिक दलों का प्रजातांत्रिक महत्त्व
(Importance of Political Parties in Democracy)

राजनीतिक दल प्रजातन्त्र की आधारशिला है। उन्हें प्रजातंत्र का प्राण (Life-blood of Democracy) तथा सरकार का चौथा अंग (Fourth organ of the Government) कहा गया है। हूवर के अनुसार "प्रजातंत्रीय यन्त्र के चालन में राजनीतिक दल तेल के तुल्य है।" मुनरो ने लिखा है कि 'प्रजातन्त्रात्मक शासन दलीय शासन का ही दूसरा नाम है। विश्व के इतिहास मे कभी भी ऐसी स्वतन्त्र सरकार नही रही है जिसमें राजनीतिक दल का अस्तित्व न हो।"

प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्र (Representative Democracy) के विकास ने राजनीतिक दलों को अनिवार्य बना दिया है। राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों को निर्वाचन मे खड़ा करके जनता को यह मौका देते हैं कि वे अपने योग्य प्रतिनिधियो का चुनाव करें। चुनाव के दिनों में दल मतदाताओं में राजनीतिक जागृति पैदा करते हैं और इस तरह राष्ट्र को राजनीतिक दृष्टि से जीवत रखते हैं। राजनीतिक दल संसदीय और अध्यक्षात्मक दोनों ही सरकारों के लिये आवश्यक हैं। इनके न होने से विधान-मंडलों में निर्दलीय उम्मीदवार चुने जाएंगे, उनमे कोई संगठन व अनुशासन नही रहेगा और न ही किसी नीति अथवा कार्यक्रम से वे बन्धे होंगे। राज्य के मुखिया को संसदीय शासन के मंत्रि-मंडल निर्माण में अत्यधिक कठिनाई होगी और मन्त्रिमंडल को विधान मंडल का सहयोग प्राप्त नही होगा। अध्यक्षात्मक सरकार में इसी तरह की कठिनाई उत्पन्न होगी और राष्ट्रपति को अपने दल के अभाव मे विधान मंडल का सहयोग नही मिलेगा। राजनीतिक दलों के

इस महत्व को देखते हुए ही इन्हें अदृश्य सरकार (Invisible Government) कहा गया है ।

आधुनिक दल प्रजातन्त्र मे शिक्षा के साधन है । वे जनता को सार्वजनिक प्रश्नो और समस्याओ के प्रति जागरूक करने की शिक्षा देते हैं और उसके समक्ष प्रत्येक समस्या के विभिन्न और विरोधी पहलुओं को रखते है । राजनीतिक दलों के माध्यम से जनता को राजनीतिक समस्याओं का ज्ञान होता है और उसमे राजनीतिक चेतना आती है । विरोधी दलों का अस्तित्व इस दृष्टि से बड़ा महत्व रखता है कि सत्तारूढ़ दल की विफलता के बाद सत्ता को सम्हालने के लिए वे आगे बढ़ जाते हैं । विपक्षी दल सरकार की नीतियों की छिछालेदारी करके उसे स्वेच्छाचारी बनने से रोकते है । विरोधी दल जनता के सामने सरकार का विकल्प प्रस्तुत करते हैं । प्रजातन्त्रात्मक देश का राजनीतिक जीवन वस्तुतः बहुत कुछ वहां की दलीय व्यवस्था का ही इतिहास होता है । आइवर जेनिंग्स ने लिखा है—"यदि हम ब्रिटिश संविधान पर यथार्थवादी सर्वेक्षण करने बैठें तो दलो से प्रारम्भ करेंगे, दलों के साथ ही समाप्त करेंगे और मध्य मे भी दलों की विशद व्याख्या करते रहेंगे ।"

राजनीतिक दल विभिन्न स्वार्थों और हितों का प्रतिनिधित्व करते है । जनता इन्ही के माध्यम से अपनी कठिनाइयों को सरकार तक पहुंचाती है । इस तरह ये सरकार और जनता के बीच कडी का काम करते है । शासन पर नियंत्रण को व्यावहारिक रूप देने का सर्वोत्तम माध्यम राजनीतिक दल ही है । शक्ति-पृथक्करण पर आधारित शासन प्रणाली में ये दल शासन के विभिन्न अंगो मे सामन्जस्यता, सहयोग और एकता उत्पन्न करते है । राजनीतिक दल इतने महत्वपूर्ण है कि यह कहना किंचित मात्र भी अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि 'विधान मंडल और कार्यपालिका, सरकार और संसद केवल सांविधानिक आवरण हैं, वास्तव में शक्ति का उपभोग दल करते है ।'

प्रजातन्त्र की सफलता की एक प्रमुख शर्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा है जिसकी पूर्ति का मुख्य साधन राजनीतिक दल ही है । यह सरकार की स्वेच्छाचारी शक्तियो पर जन हित के लिए अंकुश लगाने में सक्षम हैं । विरोधी राजनीतिक दल शासक दल को नियन्त्रित करके देश को एक दल की निरंकुशता से बचाते हैं । प्रो० लास्की के कथनानुसार 'राजनीतिक दल देश में नौकरशाही से हमारी रक्षा करने के सर्वोत्तम साधन है ।'

कुछ विचारकों का मत है कि राजनीतिक दल प्रजातंत्र के लिए अभिशाप हैं । इनके द्वारा प्रजातन्त्र मे अनेक बुराइयां उत्पन्न कर दी जाती हैं । ऐसे विचारकों में कुछ अतिवादी दलविहीन प्रजातन्त्र (Partyless demo-

cracy) का समर्थन करते हैं। पर राजनीतिक दलों के महत्व की इस तरह उपेक्षा करना बचकानापन है। राजनीतिक दल का अस्तित्व प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था में अपरिहार्य है। यद्यपि किसी भी मानवीय संस्था की भांति राजनीतिक दल व्यवस्था की भी अपनी कुछ कमजोरियां है, तथापि इन कमजोरियों की तुलना में इनसे प्राप्त होने वाले लाभ कई गुना अधिक है और यही कारण है कि विश्व के प्राय सभी देशों में दलीय व्यवस्था किसी न किसी रूप में शासन का आधार है। दलीय व्यवस्था का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लाभ यह है कि कई बार राजनीतिक दल संविधान की कठोरता को कम करके उसे लचीला बना देता है। उदाहरण के लिए, अमेरिका में दलीय व्यवस्था के कारण ही काग्रेस और राष्ट्रपति के बीच पर्याप्त सहयोग-पूर्ण सम्बन्धों का विकास हो सका। प्रो० ब्रोगन (Prof. Brogan) के शब्दों में "बिना दलगत व्यवस्था के अमेरिका के राष्ट्रपति जैसे किसी सम्पूर्ण राष्ट्र के महत्व के अधिकारी का निर्वाचन शायद असम्भव हो जाता और यह भी निश्चित है कि अमेरिका के सांविधानिक इतिहास में सबसे बड़ा गतिरोध अर्थात् गृह-युद्ध केवल उस समय हुआ जबकि वहां की दलगत व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी।"

अन्त में, किसी भी प्रकार की शासन व्यवस्था क्यों न हो, राजनीतिक दलों के अभाव में सरकार का सुगम संचालन नहीं हो सकता। दलों की इस महत्वपूर्ण स्थिति के बावजूद मार्क्सवादी विचारकों का कहना है कि साम्यवादी व्यवस्था में न तो राज्य रहेगा और न राजनीतिक दल ही। आज के सर्वोदय वादी दल-विहीन सरकार की चर्चा करते हैं। लेकिन ये विचारधारायें जिस आदर्श सामाजिक अवस्था की बात करते है, वह पूर्णतः काल्पनिक है। भविष्य में चाहे कुछ भी हो, कम-से-कम आधुनिक प्रजातन्त्र में राजनीतिक दल प्राण-वायु के समान है। फिर भी यह बात निश्चित है कि जहां द्वि-दलीय पद्धति तथा बहुदलीय पद्धति प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए उपयोगी है वहां एक-दलीय पद्धति सर्वथा अनुपयोगी है क्योंकि इसमें तानाशाही के उदय होने की निश्चित सम्भावना होती है। जहां-जहां भी एक-दलीय पद्धति रही है या है वहां विरोधी विचारों को पूर्णतः कुचल दिया जाता है और सरकार की तानाशाही स्थापित हो जाती है। हिटलर के समय जर्मनी में और मुसोलिनी के समय इटली में एक-दलीय पद्धति ही थी। आज चीन, सोवियत संघ, चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया, हंगरी, फिनलैण्ड आदि में भी एकदलीय पद्धति है और वहां जनता को सही अर्थों में कितनी स्वतन्त्रता प्राप्त है, यह कोई छिपी बात नहीं है।

एक-दलीय, द्वि-दलीय और बहु-दलीय प्रणाली
(One-party, Two-party, and Multi-party System)

आधुनिक विश्व में तीन तरह की दल पद्धतियां मुख्य रूप में पाई जाती है—एक दलीय, द्वि-दलीय और बहु-दलीय।

एक-दलीय प्रणाली (One-party-System)—एक-दलीय पद्धति का मुख्य आधार यह है कि नेतागण ही जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करें। एक दलीय देशों में केवल एक दल होता है और अन्य दल या तो कानूनन अवैध होते हैं या शक्ति द्वारा इनका दमन कर दिया जाता है। लोकतन्त्र की सफल क्रियान्विति के लिए एक से अधिक राजनैतिक दलों का होना अनिवार्य है। लेकिन जब निर्वाचकगण, संसद और मन्त्रिमण्डल सभी किसी दल के नियन्त्रण में आ जायें तो लोकतन्त्र के स्थान पर दलतन्त्र की स्थापना हो जाती है। "इस प्रकार एक दल, जो शासन का एक अंग है, स्वयं शासक का रूप धारण कर सकता है और वह अन्य राजनैतिक दलो को मैदान मे से हटा सकता है।"

एकदलीय प्रणाली के समर्थकों का कहना है कि एक से अधिक दलो के होने से जनता अलग-अलग समुदायों में विभाजित हो जाती है, राष्ट्र की शक्ति का ह्रास होता है एव सभी लोगों का राष्ट्र की प्रगति के लिए एक दिशा मे खीचना असम्भव हो जाता है। उनका कथन है कि केवल एक दल ही राष्ट्र के सर्वोच्च व सर्वोत्तम हितों का ध्यान रख सकता है, देश की आन्तरिक व्यवस्था व बाहरी आक्रमण से सरलता से रक्षा कर सकता है। एक दल के होने से जनता के मध्य गुटों का अन्त हो जाता है और एक ऐसी श्रेष्ठ राष्ट्रीय एकता की स्थापना होती है जो पहले कभी नहीं हो पायी थी। सोवियत रूस एवं चीन में साम्यवादियों द्वारा एकदलीय प्रथा के पक्ष मे ऐसे ही तर्क दिये जाते हैं।

अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि एकदलीय प्रणाली से अधिकांशतः राष्ट्रीय नीति का हित साधन नहीं होता। संसार फासिस्ट दल के इटली और नाजी दल के जर्मनी का पराभव देख चुका है। एकदलीय समर्थकों का यह कहना भी सत्य नहीं है कि एक दल से जनता के मध्य गुटों का अन्त हो जाता है और देश की फूट समाप्त होकर श्रेष्ठतम राष्ट्रीय एकता स्थापित होती है। सोवियत रूस में एक मात्र दल साम्यवादी दल है। सोवियत संविधान मे उल्लिखित है, "रूस मे केवल साम्यवादी दल ही एक ऐसा राजनीतिक संगठन है जो निर्वाचनों में भाग ले सकता है।" किन्तु ऐसे एक दलीय देश में भी फूट के गम्भीर अंकुर स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। एकदलीय

सरकार का राज्य सर्वाधिकारवादी ढग का होता है। दल की शक्ति से भय खाकर लोग अपनी स्वतन्त्र इच्छाओं का दमन करके अपना मुख बन्द रखना ही श्रेयस्कर समझते हैं। ऐसा न करने पर उन्हें कठोरतम दण्ड का भागी होना पड़ता है। यह स्थिति मानवीय स्वतन्त्रता और समानता के लिए घातक है।

यद्यपि एकदलीय प्रणाली के विपक्षियों की उक्त आलोचना मे काफी सत्यता है, तो भी इससे इन्कार नही किया जा सकता कि एकदलीय व्यवस्था में देश की प्रगति दो या अधिक दलीय प्रथा वाले देशों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से होती है। रूस और चीन के उदाहरण हमारे सामने है।

द्विदलीय प्रणाली (Two Party System)—सच्चे जनतन्त्र के लिए एक से अधिक राजनैतिक दलों की आवश्यकता को लगभग सभी लोग स्वीकार करते हैं, किन्तु एक प्रजातन्त्रीय देश या राज्य मे राजनीतिक दल दो हों या दो से अधिक हों, इस विषय पर मत-वैभिन्य पाया जाता है। जिस देश में केवल दो ही राजनीतिक दल प्रधान होते है उसे द्वि-दल प्रणाली (Two Party or Bi-party System) वाला देश कहते है। ब्रिटेन और अमेरिका द्वि-दल प्रणाली के मुख्य उदाहरण हैं।

द्वि-दल प्रणाली का यह तात्पर्य नही है कि देशों मे दो के अतिरिक्त तीसरा दल उत्पन्न ही नही हो सकता। इसका तात्पर्य यही है कि द्वि-दलीय व्यवस्था वाले देशों मे प्रधान दल दो ही होते हैं और उन्ही के हाथों मे राज-नीतिक शक्ति आती जाती रहती है। अन्य दल नगण्य होते है और उनका वहा की राजनीति पर प्रभाव नही के बराबर होता है।

द्वि-दलीय प्रणाली के भी समर्थक और आलोचक दोनों ही है। दोनों ही ने अपने-अपने पक्ष मे तर्क प्रस्तुत किये हैं। समर्थकों का कहना है कि यह प्रणाली स्थाई शासन देती है। दो मे से एक दल का व्यवस्थापिका में स्पष्ट बहुमत होता है। सत्तारूढ़ दल सुरक्षित रहकर अपनी नीतियों और योजनाओं को दृढ़तापूर्वक कार्यान्वित कर पाता है। लास्की के शब्दों मे "द्वि-दलीय प्रणाली में सरकार को अवसर मिलता है कि वह अपनी नीति को कानून के रूप में ला सके।" इस प्रणाली का एक लाभ यह है कि सत्तारूढ़ दल शासन नीति को अपनी दलीय विचारधारा पर आधारित करता है, अतः शासन नीति की एकरसता बनी रहती है। द्विदलीय व्यवस्था मे मन्त्रीगण ऐसे अकेले दल से लिये जाते है जो विधान सभा में बहुमत के साथ आते है। "यह राजनीतिक समस्वरता उन्हें सुसगठित करती है और वे विरोधी दल एक जुट होकर समर्थ-विरोध कर पाने में सक्षम हो पाते है। दूसरी

व्यवस्था में संगठित विरोधी दल का अस्तित्व बना रहता है। विरोधी दल संगठित रूप में सरकार की गलत नीतियों का विरोध कर पाता है और सरकार की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति पर रोक लगाता है।" यह राजनीतिक समस्वरता ही मन्त्रियों को खिलाड़ियों की एक उत्तरदायित्वपूर्ण टीम बना देती है जो संगठित रूप में गिरती है और उठती है। द्वि-दल व्यवस्था का अन्य बड़ा लाभ मन्त्रिमण्डल के निर्माण में सरलता और निर्वाचक की सरलता है। बहुमत दल को सरकार बनाने का कार्य सौंपा जाता है और उसके किसी कारणवश हटने पर विरोधी दल सत्तारूढ़ हो जाता है। इस प्रणाली में निर्वाचन भी अपेक्षाकृत बड़ा सरल होता है क्योंकि निर्वाचकों के सम्मुख केवल दो प्रत्याशियों में से एक को चुनना होता है।

द्वि-दल प्रणाली के विपक्ष में भी बहुत कुछ कहा गया है। इसे मानव-स्वभाव का अस्वाभाविक विभाजन बताया गया है अर्थात् निर्वाचकों को दो विचारधाराओं में या दो प्रत्याशियों में से एक का चयन करना होता है जिससे छांट की गुंजाइश उनके सामने नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जिन्हें दोनों ही दलों की आस्था नहीं होती। वे किसी तीसरी ही विचार-धारा की खोज में रहते हैं। "ऐसे व्यक्तियों को विवश होकर या तो राज-नीतिक प्रतिद्वन्द्विता में तटस्थ रहना पड़ता है या छोटी बुराई को छांटना पड़ता है।" द्वि-दलीय प्रणाली का एक दोष यह है कि इसके अन्तर्गत यह सम्भावना बनी रहती है कि बहुसंख्यक दल निरंकुशतापूर्वक अल्पसंख्यकों के हितों की उपेक्षा करते हुए जनता पर शासन कर सकता है। उसकी मनोवृत्ति स्वेच्छाचारी बन सकती है। जो वह चाहता है, वही होता है। अतः व्यवस्थापिका का सम्मान कम हो जाता है। मन्त्रिमण्डल का व्यवस्थापिका पर बढ़ता हुआ आधिपत्य द्वि-दलीय व्यवस्था का एक गम्भीर दोष है। इस व्यवस्था में कुछ नेताओं का शासन स्थापित हो जाता है, दल के साधारण सदस्यों को अपने नेताओं की आलोचना करने का अवसर नहीं मिलता।

बहुदलीय प्रणाली (Multi-party System)—जहां दो दलों से अधिक दल होते हैं उसे बहुदलीय प्रणाली कहा जाता है। बहुदलीय पद्धति वाले देशों में प्रायः कार्यपालिका और व्यवस्थापिका पर अधिकार जमाने के लिये दो या दो से अधिक दलों का संयुक्त मोर्चा (Coalition) बनाया जाता है। ऐसी दशा में हर बात पर प्रत्येक दल सरकार के छोड़ने की धमकी दे सकता है जिससे सरकार का पतन हो सकता है। बहुदल प्रणाली में वस्तुतः गुटबन्दी होती है। जहां दलों की बहुत बड़ी संख्या हो, वहां उन्हें 'दल' का नाम देना झूठ मात्र है। वस्तुस्थिति यह है कि वह तो राजनीतिक 'समूह' है। जब समूहों की एक बड़ी संख्या होगी तो वहां ऐसे सुदृढ़ बहुमत वाला दल नहीं हो सकता जो स्थिर सरकार का निर्माण करने योग्य हो।

बहुदलीय प्रणाली के समर्थकों का कहना है कि इस पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न मतों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। रैम्जे म्यूर (Remsay Muir) के अनुसार एक राज्य में कम से कम तीन राजनीतिक दल अवश्य होने चाहिये क्योंकि मनुष्य की तीन मूल राजनीतिक प्रवृतियां होती हैं—दक्षिण पथी (Rightists),मध्यमार्गी (Centrists)और वाममार्गी (Leftists)। इस तरह बहुदलीय व्यवस्था के अनुसार किसी एक दल को निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन स्थापित करने की सुविधा नहीं मिलती। इस पद्धति से समझौते की प्रवृत्ति बढ़ती है क्योंकि यह सभी वर्ग तथा विचारधारा के लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। बहुदलीय प्रणाली में व्यवस्थापिका का सम्मान कम नहीं होता और न ही मंत्रिमण्डल की तानाशाही का भय रहता है। इसमें दलों के मिलने-जुलने के कारण सरकार को किसी भी समय बदला जा सकता है।

बहुदलीय प्रणाली के विपक्षियों का तर्क है कि संयुक्त सरकारें अस्थाई और दुर्बल होती है। "ऐसी सरकार उस जंजीर के समान होती हैं जिसमें कई गाठें व कड़ियां हों, पर एक दल की सरकार एक ठोस शिकंजे के समान होती है। बहुदलीय प्रणाली में बनी सरकारें इतनी अस्थाई होती है कि फ्रांस मे १८७१ से १६२६ तक ३८ सरकारें बनी जिनमें से २८ ऐसी थी जो साल भर के आस-पास ही टिक सकी। बहुदलीय-व्यवस्था का एक दोष यह है कि मतदाता भली प्रकार निश्चय नहीं कर पाते कि वे किस दल को मत दे, क्योंकि यह कुछ भी स्पष्ट नहीं होता कि कौन सा दल सरकार बनायेगा। इसके अतिरिक्त बहुत से दलों में सिद्धान्त और नीति सम्बन्धी गड़बड़ तथा अस्पष्टता का होना भी स्वाभाविक है। बहुदलीय व्यवस्था में मंत्रिमंडल का निर्माण प्रायः अनेक दलों के सदस्यों को मिलाकर किया जाता है, अतः किसी एक दल को निश्चित रूप से दोषी ठहराया जाना कठिन होता है। इस व्यवस्था में अनेक बार वैधानिक कठिनाइयां उपस्थित हो जाती है क्योंकि यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि व्यवस्थापिका में कौनसा दल बहुमत में है। अन्त मे बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत अनुशासनहीनता का प्रसार होता है। विभिन्न दलों के सदस्यों में खींचातानी चलती रहती है। प्रत्येक दल अपने स्वार्थों को विशेष महत्व देता है। इस तरह एक तरफ तो नैतिकता का ह्रास होता है और दूसरी तरफ देश के हितों की उपेक्षा होती है।

एक दलीय, द्वि-दलीय एवं बहुदलीय व्यवस्थाओं के विश्लेषण से द्वि-दलीय व्यवस्था ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होती है। डा० फाइनर के इस विचार से सहमत होना कठिन नहीं है कि—"जिस देश में द्विदलीय प्रणाली के लोग कर्त्तव्यपरायण और सुखी होंगे। हर स्थान पर दो

अच्छा होता है। जहा दो दलो मे संघर्ष रहता है, वहां गलतियां आसानी से पकड़ी जा सकती है, सार्वजनिक इच्छाओं का दमन कम हो जाता है और पूर्ण विनाश की सम्भावनायें भी कम हो जाती हैं।

अन्त में, यही कहना उपयुक्त होगा कि दलों की संख्या इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी शासन के सुचारु रूप से चलने की बात। मैकाइवर (Mac-Iver) ने ठीक ही लिखा है, "किसी भी दशा में, किसी भी प्रथा की लाभ-हानियां दोनों ही समाज की बुद्धि और संस्कृति से सम्बन्धित होते है। आवश्यक बात तो यह है कि सरकार जहा तक सम्भव हो, व्यापकतम मत पर आधारित हो और अपने दलीय चरित्र के रखते हुए भी सम्पूर्ण जनता की एकता बनाये रखे।"

राजनीतिक दलों के कार्य

लार्ड ब्राइस का कथन है कि "दल मतदाताओं के मस्तिष्क में विद्यमान अस्थायी विचारों को स्थिर करते है।" राजनीतिक दलों का मुख्य कार्य राजनीतिक प्रक्रिया (Political Process) का सुनियोजन करना है। राजनीतिक दल का मुख्य ध्येय कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है व उनका प्रचार प्लेटफार्म पर विभिन्न तरह के आश्वासन देकर अथवा यदि उन्हे शासन कार्य को चलाने का अवसर मिले तो उन्हें पूरा करना उनका उद्देश्य होता है। दल का कार्यक्रम नीति व उसको परिपूर्ण करने का सम्मिश्रण है जिसमें कुछ कार्यों का प्रचार करना व कुछ कार्यों का खण्डन करना भी आ जाता है। ब्रिटेन मे दलीय कार्यक्रम (Party programme) दल के राष्ट्रीय अधिवेशन मे अनेक प्रस्तावों द्वारा रखा जाता है, भारत मे भी विभिन्न दल अपना वार्षिक अधिवेशन करते हैं। स्विट्जरलैण्ड मे दल सुसंगठित नहीं हैं। वहा पर न तो कोई निश्चित कार्यक्रम होता है और न ही कोई आधारभूत सिद्धांत है तथा न ही अमेरिका जैसे दलीय बौस (Party Bosses) पाये जाते है। राजनीतिक दलों के विविध कार्यों में से कुछ महत्वपूर्ण कार्य इस प्रकार गिने जा सकते है—(i) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य, (ii) प्रतिनिधियों और चुनाव-क्षेत्रों के मध्य निरन्तर सम्बन्ध बनाये रखना, (iii) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग उत्पन्न करना, (iv) शासन की निरंकुशता पर रोक लगाना एवं (v) सरकार के स्थायित्व में योग देना।

राजनीतिक दलों के कार्यकलापों का वास्तविक महत्व इस बात में निहित है कि किसी देश की दलीय-व्यवस्था कितनी स्वस्थ है। दुर्भाग्यवश एशिया और अफ्रीका की दलीय-समस्यायें बड़ी विषम है। प्रो० नार्मन डी० पामर का यह निष्कर्ष बहुत कुछ ठीक है कि जापान, फिलिपाइन व इजराइल को छोड़कर पाश्चात्य तरीके से कोई भी प्रभावशाली दल प्रणाली

एशिया में अभी तक नहीं पनप पाई है। उनका मत है कि दलगत राजनीति का विचार ही एशियाई देशों को विदेशी सा लगता है और यह उनकी परम्पराओं व राजनैतिक विचारधाराओं से मेल नहीं खाता। वे दलों की ओर बहुत ही अभिन्न तरीके से देखते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि पाश्चात्य देशों में जहां पर दलगत राजनीति के उपयुक्त कार्य करने के लिए वातावरण है, वहां भी वह सफल नहीं हो पाई है तो फिर एशिया व अफ्रीका जैसे पिछड़े हुए महाद्वीपों में यह सब कैसे सम्भव हो सकता है। मुख्यत. जो भी राजनीतिक दल एशिया व अफ्रीका में पाये जाते है, वे स्वतन्त्रता आन्दोलनों की उपज है। प्रो० रिचार्ड पार्क (Richard L. Park) का मत है कि स्वतन्त्रता आन्दोलन दलगत राजनीति के प्रादुर्भाव के लिए उपयुक्त स्थल नहीं है। इन महाद्वीपीय राष्ट्रों में स्वस्थ दलगत पद्धति के निर्माण में इन दो दृष्टिकोणों के अतिरिक्त अन्य निम्नलिखित कारण भी उत्तरदायी हैं जैसे—(i) यहा धार्मिक विचारधाराओं व धर्म के बीच कोई ठोस दीवार नहीं है, अतः दलों का सही रूप सगठित नहीं हो पाता, (ii) विकासशील (Developing) राष्ट्रों में दलों के राष्ट्रव्यापी प्रभाव क्षेत्र नहीं है—जैसे भारत में कांग्रेस दल को छोड़कर कोई भी दल राष्ट्रव्यापी नहीं है, (iii) भारत व अन्य देशों में राजनीतिक दलों का केन्द्रीय नेतृत्व नहीं है। इसलिए छोटे-मोटे दल कभी आपस में कोई एक सगठन बनाते हैं तो कभी उनसे विलग हो जाते है, (iv) आर्थिक समस्यायें दलों के जीवन-मरण का प्रश्न है, बहुत से दल धनी व्यक्तियों का चन्दा स्वीकार करते हैं व समय के साथ-साथ ये धनी व्यक्ति इन दलों पर अपना एकाधिकार कर लेते है, (v) साम्यवादी दल जैसे दलों का अन्तर्राष्ट्रीय सगठन होता है और वे अपने विचारों का प्रचार ही नहीं वरन् बाहर से दल के मुख्य कार्यालय से प्राप्त आदेशों के अनुसार कार्य करते है इस दशा में वे कभी-कभी राष्ट्रीय हितों को कुचल देते है, (vii) प्रो० पामर के अनुसार भारत में कुछ ऐसे विशिष्ट व्यक्ति भी हैं जो दलगत राजनीति को अवांछनीय समझते हैं। जैसे जयप्रकाश नारायण दलविहीन प्रजातन्त्र (Partyless Democracy) का प्रतिपादन करते हैं। ऐसे विचार स्वस्थ दल पद्धति के विकास में बाधक है।

दल प्रणाली से लाभ और हानियां

राजनैतिक दलों के गुणों एवं दोषों पर वृहत साहित्य उपलब्ध है। इनकी हानियों और लाभों को बड़े विस्तार के साथ बताया गया है। यहा हम उन्हें सार रूप में प्रस्तुत करेंगे—

दल प्रणाली के गुण (Merits of Party System)—दल प्रणाली के समर्थकों के अनुसार यह मनुष्य के लिए एक स्वा[illegible]

जनता को सरकार पर नियंत्रण लगाने का अवसर मिलता है। एक स्वीकृत विरोधी दल का स्थायी अस्तित्व, जिसके पास पर्याप्त लोकमत पर आधारित कोई योजना हो, स्वेच्छाचारी राजा के अत्याचार के विरुद्ध ही नहीं, किसी व्यावहारिक राजनैतिक बहुमत के अत्याचार के विरुद्ध भी एक ढाल का काम करती है।"

(६) राजनैतिक दल सत्ता विद्रोह से भी देश को बचाते हैं, क्योंकि सरकार के विरुद्ध जनता में अविश्वास फैलने पर स्वयं दूसरी सरकार बनाने को तैयार रहता है। इस तरह आवश्यकतानुसार शासन की परिवर्तनशीलता को दलबन्दी बनाये रखती है।

(७) राजनैतिक दल नागरिक उत्साह की वृद्धि करते है और इस जनतन्त्रीय भावना को उद्बुद्ध करते है कि जागरण ही लोकतन्त्र का मूल्य है।

(८) व्यवस्थापिका के बहुमत के राजनैतिक दल से सरकार और जनता के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है। इस तरह ये सरकार को वास्तव में प्रतिनिधि सरकार बनाते हैं।

(९) राजनैतिक दल सरकार के विभिन्न अंगों की कार्य-प्रणाली में समन्वय पैदा करते हैं। अध्यक्षात्मक शासन में ये कार्यकारिणी और विधान-मण्डल के मध्य मेल बनाये रखने की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है।

(१०) दल प्रणाली अनुशासन पर आधारित होती है, अतः उससे जनता में भी अनुशासनशीलता आती है। व्यवस्थापिका का सामूहिक जीवन एवं दलीय अनुशासन वैयक्तिक प्रवृत्तियों को दबा कर सार्वजनिक हित के लिए बलिदान करने की भावना जागृत करता है।

दल प्रणाली के अवगुण—ब्राइस, मिल, हेनरीमेन जैसे विद्वान राजनैतिक लेखकों ने दल-प्रणाली में अनेक दोष बताये है। दल प्रणाली के बहुचर्चित दोषों को हम निम्नांकित रूप में प्रकट कर सकते है—

(१) दल विभाजन मानव-स्वभाव का परिणाम नहीं है अपितु दल तो उस जनता में "एक ऐसा विनाशक कृत्रिम समझौता स्थापित करते है जो एक ही जैसे राजनैतिक विचारों की कल्पना करती है। इसी भांति विरोधियों के साथ उनकी असहमति भी समान रूप से कृत्रिम है।" लीकॉक के अनुसार "प्रत्येक पक्ष स्वेच्छापूर्वक असहमति और विरोध की दशा में रहता है, एवं साथ ही व्यक्तिगत निर्णय दल-सांचे के संकीर्ण रूप में ढला होता है।" कृत्रिम असहमति के कारण जनता विभिन्न विरोधी समूहों में विभक्त हो जाती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि लोग एक दूसरे के

राजनैतिक दृष्टिकोण से दल प्रणाली जनतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र का मूल है, क्योंकि उस लोकमत के निर्माण में दल प्रणाली बड़ी सहायक होती है जिस पर जनतन्त्र चलता है। दल प्रणाली के अभाव में जनतन्त्रीय शासन नहीं चल सकता और न ही उत्तरदायी सरकार का स्वप्न साकार हो सकता है। इस दृष्टि से दल प्रणाली में प्रमुख गुण निम्नलिखित पाये जाते है—

(१) दल जनता की इच्छा को संगठित करते है और संगठित इच्छा उत्तरदायी सरकार को बनाने मे सहायक होती है। मैकाइवर के अनुसार "दल प्रणाली के बिना राज्य में न तो लोच होती है और न ही सच्चा आत्म-निश्चय।" अस्तव्यस्त जन-जीवन को सगठित कर एक चेतना का निर्माण करके नागरिको को भी जनतन्त्र के योग्य बनाना दल प्रणाली के अन्तर्गत ही सम्भव है।

(२) दल प्रणाली के कारण सरकार को दृढ़ता और शक्ति मिलती है तथा दलीय सदस्यो मे प्रशासकीय नीति के बारे में एकता होती है। दल प्रणाली "एकता मे शक्ति" के सिद्धांत को प्रकट करती है।

(३) दल प्रणाली विशेष रूप से ऐसा यन्त्र है जिससे वर्ग राज्य का राष्ट्र राज्य मे रूपान्तर किया गया है। दलीय शासन वर्ग शासन के विपरीत है। इसका प्रारम्भ शक्ति-सम्पन्न वर्ग के निहित हितों और अटूट अधिकारों के विरोध रूप में हुआ है। दल-शासन में शक्ति-परिवर्तन का समावेश होता है। यह उत्तराधिकार की एक ऐसी प्रणाली है जो प्रत्येक को अवसर प्रदान करती है।

(४) दल प्रणाली जनता की राजनैतिक शिक्षा का बड़ा उत्तम साधन है। राजनैतिक दल अपने प्रचार द्वारा लोकमत को शिक्षित बनाते है और जनता को उनके कार्यक्रम पर व उनकी नीति पर अपनी सम्मति प्रदान करने का अवसर देते है। ये जनता को सिखाते है कि छोटी-छोटी बातों को छोड़ कर मुख्य बातों के सम्बन्ध में एकमत होना श्रेष्ठ है। ब्राइस के शब्दों में — "दल राष्ट्र के मन को क्रियाशील रखते हैं, वे मतदान से पूर्व प्रत्येक दल मे वाद-विवाद का सूत्रपात कर देते हैं, जिससे निर्वाचन से पूर्व कोई न कोई मत बन जाता है, कुछ समस्याओं को वे सम्मुख लाते हैं, उनकी परिभाषा करते हैं, उन्हें ऐसे सूत्रों मे प्रकट करते है जिससे मनुष्य का मस्तिष्क कुछ बातों पर केन्द्रित हो जाता है और वे ध्यान को एकाग्र करते और आलोचना को निमन्त्रण देते है।"

(५) दलप्रणाली सत्तारूढ़ दल की तानाशाही और सरकार की निरंकुशता से नागरिकों की रक्षा करती है। लास्की के अनुसार "दलों के द्वारा

जनता को सरकार पर नियंत्रण लगाने का अवसर मिलता है । एक स्वीकृत विरोधी दल का स्थायी अस्तित्व, जिसके पास पर्याप्त लोकमत पर आधारित कोई योजना हो, स्वेच्छाचारी राजा के अत्याचार के विरुद्ध ही नहीं, किसी व्यावहारिक राजनैतिक बहुमत के अत्याचार के विरुद्ध भी एक ढाल का काम करती है ।"

(६) राजनैतिक दल सत्ता विद्रोह से भी देश को बचाते हैं, क्योंकि सरकार के विरुद्ध जनता में अविश्वास फैलने पर स्वयं दूसरी सरकार बनाने को तैयार रहता है। इस तरह आवश्यकतानुसार शासन की परिवर्तनशीलता को दलबन्दी बनाये रखती है।

(७) राजनैतिक दल नागरिक उत्साह की वृद्धि करते है और इस जनतन्त्रीय भावना को उद्‌बुद्ध करते है कि जागरण ही लोकतन्त्र का मूल्य है।

(८) व्यवस्थापिका के बहुमत के राजनैतिक दल से सरकार और जनता के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है । इस तरह वे सरकार को वास्तव में प्रतिनिधि सरकार बनाते हैं ।

(९) राजनैतिक दल सरकार के विभिन्न अंगों की कार्य-प्रणाली में समन्वय पैदा करते हैं । अध्यक्षात्मक शासन में ये कार्यकारिणी और विधान-मण्डल के मध्य मेल बनाये रखने की महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं ।

(१०) दल प्रणाली अनुशासन पर आधारित होती है, अत उससे जनता में भी अनुशासनशीलता आती है । व्यवस्थापिका का सामूहिक जीवन एवं दलीय अनुशासन वैयक्तिक प्रवृत्तियों को दबा कर सार्वजनिक हित के लिए बलिदान करने की भावना जागृत करता है ।

दल प्रणाली के अवगुण—ब्राइस, मिल, हेनरीमेन जैसे विद्वान राजनैतिक लेखकों ने दल-प्रणाली में अनेक दोष बताये हैं । दल प्रणाली के बहुचर्चित दोषों को हम निम्नांकित रूप में प्रकट कर सकते हैं—

(१) दल विभाजन मानव-स्वभाव का परिणाम नहीं है अपितु दल तो उस जनता में "एक ऐसा विलक्षण कृत्रिम समझौता स्थापित करते हैं जो एक ही जैसे राजनैतिक विचारों की कल्पना करती है । इसी भांति विरोधियों के साथ उनकी असहमति भी समान रूप से कृत्रिम है।" लीकॉक के अनुसार "प्रत्येक पक्ष स्वेच्छापूर्वक असहमति और विरोध की दशा में रहता है, एवं साथ ही व्यक्तिगत निर्णय दल-सांचे के संकीर्ण रूप में ढला होता है।" कृत्रिम असहमति के कारण जनता विभिन्न विरोधी समूहों में विभक्त हो जाती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि लोग एक दूसरे के

साथ नियमित और निरन्तर सघर्ष में लगे रहते हैं और समस्याओं का रूप राष्ट्रीय न होकर व्यक्तिगत अथवा दलगत हो जाता है। विरोधी दल विधान मण्डल मे अधिकतर ध्वसात्मक आलोचना मे अपना समय नष्ट करते हैं।

(२) राजनैतिक दल खोखलेपन और अश्रद्धा की वृद्धि करते हैं। ब्राइस ने अमरीका के दो प्रमुख दलों की उन दो खाली बोतलों से तुलना की है जिनमे जब तक उनका वह नाम है किसी भी प्रकार का द्रव भरा जा सकता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति राजनैतिक क्षेत्र मे पाखण्ड और खोखलापन पैदा करती है। दल प्रणाली कृत्रिम-एकता, छिछलेपन और बेईमानी को प्रोत्साहन देती है।

(३) दल प्रणाली मे व्यक्ति की वैयक्तिकता मिट जाती है। दलीय सदस्य होने के कारण उसे दल के उद्देश्यो, साधनो, कार्यक्रमों और दल की नीतियों व योजनाओ को अनिवार्य रूप से मानना पड़ता है, चाहे वह उनसे सहमत हो या असहमत। इस प्रकार दल प्रणाली के अन्तर्गत व्यक्ति उस वृहद मशीन के पुर्जे के समान है जिसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता।

(४) दलों के कारण राजनैतिक दु साहसियो को अधिक अवसर मिलते है। दलो की आन्तरिक गुटबन्दी में प्राय. योग्य और अति-उत्तम व्यक्ति माना पसन्द नही करते। परिणाम यह होता है कि अवांछित व्यक्तियो को प्रशासकीय सेवा का अवसर मिलता है जिसका वे अनुचित लाभ उठाते हैं।

(५) राष्ट्रीय दल स्थानीय संस्थाओं एव राजनीति पर प्रभाव डालते है जिसका परिणाम यह होता है कि स्थानीय सस्थाओं पर उनका सिक्का जम जाता है और स्थानीय जनता मे राष्ट्र के प्रति अश्रद्धा और अवहेलना की भावना पनपती है।

(६) दलीय-प्रणाली के कारण व्यवस्थापिका मे अनेक राजनीतिक दल हो जाते है। फलतः सरकार का स्थायित्व नहीं बना रह पाता। शासक दल को गद्दी छूटने का भय और विरोधी दल को शासन सत्ता हथियाने की लालसा बढ़ती रहती है।

(७) दल प्रणाली के कारण मतभेदों को सदैव प्रोत्साहन मिलता रहता है। विधान-मण्डल के साथ ही देश भी सामान्यतः दो या अधिक विरोधी पक्षो में विभक्त हो जाता है जो एक दूसरे से ईर्ष्या करते हैं। इस प्रकार दल प्रणाली के कारण सामाजिक संगठन के स्थान पर सामाजिक विघटन पनपता है। देशवासी अपने को एक अमुक पार्टी या गुट के सदस्य के रूप मे देखते हैं और व्यवहार करते हैं, न कि एक विशाल देश के उत्तरदायी के रूप मे।

(८) दल प्रथा के कारण बहुमत दल के सदस्यों में से ही कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद् चुनी जाती है। मन्त्रि-परिषद् द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रत्येक कानून का बहुमत दल के सदस्य पक्ष लेते हैं जबकि विरोधी दल प्रायः उसका विरोध करते है। अतः किसी भी कानून पर निष्पक्ष विचार विनिमय होना लगभग असम्भव सा हो जाता है। प्रत्येक दल कानून को अपने व्यक्तिगत हित की सीमा या साधन को दृष्टि से देखता है जिसका फल यह होता है कि उपयोगी एवं हितकारी कानूनों का निर्माण नहीं हो पाता।

यद्यपि दल प्रथा के दोष स्पष्ट और गम्भीर हैं किन्तु लोकतन्त्र के लिये यह अनिवार्य है। यदि दल प्रणाली को समाप्त किया जाना उचित ठहराया जावे तो प्रश्न यह उठता है कि दलीय सरकार के स्थान पर कौन सी सरकार कायम की जावे। लार्ड ब्राइस ने तर्कपूर्ण ढंग से इस सम्बन्ध में यही निष्कर्ष निकाला है कि दल आवश्यक रूप से होने चाहिए। उनका कहना है कि "अभी तक किसी ने भी यह सिद्ध नहीं किया कि सरकार दल प्रणाली के बिना किस प्रकार कार्य कर सकती है। गोल्डविन, स्मिथ, मेडिसन आदि विचारक भले ही दल प्रथा और दलीय सरकार के प्रति आवाज उठाते रहें, परन्तु सत्य यही है कि आधुनिक सरकार के कार्य ठीक-ठीक चलाने के लिये दल का समर्थन आवश्यक है। दल-प्रथा के अन्तर्गत ही सरकार सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है और वर्तमान प्रजातान्त्रिक परिस्थितियों में दलों का अधिकतम उपयोग सर्वथा वांछनीय है। दलबन्दी के दोष मिटाये जा सकते हैं। यदि कुछ दोष विद्यमान भी रहें तो हमें यही सोचना होगा कि लोकतन्त्र के फूल में ये कांटे के समान हैं जिन्हें हमें सहना ही पडेगा क्योंकि लोकतन्त्र की सफलता इसी पर निर्भर है।

दलीयप्रणाली की सफलता की शर्तें

दलीयप्रणाली के जो दोष हैं उन्हें कुछ क्रियात्मक उपचारों के द्वारा कम या दूर किया जा सकता है। ये उपचार आंशिक रूप में राजनैतिक और आंशिक रूप में शैक्षणिक व नैतिक हैं। दल-प्रणाली की सफलता के लिए जनता मे शिक्षा और देश-सेवा की भावना होनी चाहिए। जनता में उचित शिक्षा द्वारा यह भावना जागृत करनी चाहिए कि वे व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सार्वजनिक हितों को अधिक महत्व दें। दलों का संगठन राष्ट्रीयता के आधार पर होना चाहिए। साम्प्रदायिक और स्वार्थी दलो पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। सभी राजनैतिक दलों को सार्वजनिक हितों और राष्ट्रव्यापी योजनाओं में मिलकर कार्य करना चाहिए। राजनैतिक दलों के आधारों में मत-मतान्तरों का होना स्वाभाविक और आवश्यक है किन्तु उन सभी का मुख्य ध्येय राष्ट्रहित होना चाहिए।

राजनैतिक दलों की लम्बी-चौड़ी संख्या भी राष्ट्र के लिए घातक है। लेकिन साथ ही दलों की सरकार न होने का मतलब तानाशाही हो जाता है। रूस और चीन इसके उदाहरण हैं जहां एकमात्र दल की तानाशाही है। इंगलैण्ड में दो सबल राजनैतिक दल हैं, इसलिए ब्रिटिश सरकार सामान्यतया सबल होती है और उसके साथ सामान्यतया एक स्थाई बहुमत रहता है। 'उस सरकार को यह दृढ़ विश्वास रहता है कि उसके प्रस्ताव तब तक स्वीकृत होंगे जब तक वह अपने दल के बहुमत पर सफलता से निर्भर रह सकती है।' मिश्रित दलों की सरकारें भी आन्तरिक संगठन के अभाव में दुर्बल होती हैं। ऐसे राज्य में जहा सबल सरकार की आवश्यकता हो, द्विदल प्रथा ही अधिक सफल सिद्ध हो सकती है।

दल प्रणाली की हानियों को दूर करने अथवा उसकी सफलता में वृद्धि करने के बारे में सिजविक आदि ने जो सुझाव प्रस्तुत किए है, वे उल्लेखनीय हैं—

(१) उनका प्रथम सुझाव यह है कि यदि प्रधानीय या राष्ट्रपतीय रूप की सरकार के अधीन प्रधान का चुनाव विधानसभा के सदस्यों द्वारा हो और सहायक प्रबन्धक अधिकारी दल बन्धनों से स्वतन्त्र होकर कार्य करे तो सरकार पर दल का बहुत सा प्रभाव कम हो जायगा।

(२) मन्त्रिमण्डलात्मक प्रणाली में विधि-निर्माण का कार्य विधान-मण्डल पर ही न छोड़कर विशेषज्ञों की समितियों को देना चाहिए। मन्त्रि-मण्डलों मे ऐसे व्यक्तियों को भी लेना चाहिए जिनका किसी दल से सम्बन्ध न हो और जो अपनी योग्यता के बल पर ही शासकीय विभागों का कार्य चला सकने में सक्षम हों।

(३) एक ऐसी परम्परा या प्रथा को जन्म दिया जाना चाहिए कि मन्त्रियों को केवल इस आधार पर ही त्यागपत्र न देना पड़े कि उनके किसी प्रस्ताव को विधान मण्डल ने अस्वीकृत कर दिया है। उन्हें केवल तब ही पदत्याग करना चाहिए जब विधान मण्डल के प्रतिनिधि-भवन में उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर दिया जाय।

जनमत
(Public Opinion)

प्रजातन्त्र के विकास के साथ जनमत शब्द का अर्थ राजनीतिक विज्ञान की शब्दावली में गहन और विस्तृत होता जा रहा है। सच्चा प्रजातन्त्रात्मक शासन वही है जहा सरकारी नीति और नेतृत्व जनमत के अनुरूप और अनुकूल बनता व बिगड़ता रहता है। जनमत को किसी भी प्रजातन्त्रात्मक शासन की नाड़ी कहा जा सकता है, क्योंकि कोई भी शासन और विशेषकर प्रजातन्त्रीय

शासन जनमत की उपेक्षा करके अधिक समय तक टिक नहीं सकता। इतिहास साक्षी है कि जहां-जहा भी शासकों, सम्राटों, सरकारों और प्रधान मन्त्रियों ने जनमत से टक्कर लेने की कोशिश की है, वही क्रान्तियों का अध्याय लिखा गया है और श्रेष्ठ व कुशल प्रशासकों को भी शासन से बाहर निकलने के लिए विवश होना पड़ा है। यथार्थतः जागृत जनमत सरकार को नियन्त्रित करता है, अनुशासित बनाता है और उसे प्रतिनिधिपूर्ण तथा उत्तरदायित्वपूर्ण रहने के लिए विवश करता है। जनमत प्रशासन के कुशल प्रहरी का काम करता है। जनमत मे थोड़ासा भी परिवर्तन किसी भी देश के लिए, चाहे वह कितना भी शक्तिशाली हो, जीवन और मरण हो सकता है। डायसी ने लिखा है—"राजनीतिक सार्वभौमिकता जनमत में निहित होती है और यह कानूनी सार्वभौमिकता से ऊपर है।" सारांशतः जनमत ही वह धुरी है जिस पर प्रजातन्त्र राज्य घूमता है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बहुत कुछ इस जनमत पर ही निर्भर है। संसार के दो महान और शक्तिशाली गुट अमेरिका और रूस विश्व-जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए यत्नशील है। वस्तुतः जनमत ने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनो क्षेत्रो में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।

जनमत का अभिप्राय और उसके तत्व

जनमत शब्द दो शब्दो के मेल से बना है—जन (Public) एवं मत (Opinion)। इन दोनों शब्दों की कोई सर्वमान्य परिभाषा अभी तक नही दी जा सकी है। कुछ विद्वान जनमत मे तथ्यों का लेखा और सही बातों का अविकल वर्णन जोड़ना चाहते है तो कुछ लेखक मूल्यांकन के आधार पर बने हुए विश्वास को जनमत की संज्ञा देते हैं। विद्वानो ने जनमत को विभिन्न रूपों मे परिभाषित करने या समझने की चेष्टा की है।

लार्ड ब्राइस ने लिखा है—"समाज पर प्रभाव डालने वाले अथवा उसके हितों से सम्बन्धित प्रश्नों के विषय में मनुष्य की जो धारणायें होती है उन्ही के योग के अर्थ में साधारणतः जनमत शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस दृष्टि से जनमत सब प्रकार की भ्रान्त धारणाओं, विश्वासों, कल्पनाओं, विचारों और आकांक्षाओं का एक सम्मिश्रण है।" अपनी इस व्यवस्था में ब्राइस जनमत को एक अस्पष्ट और सम्मिश्रित सी जन-भावना जैसा मानता है। ऑग और रे ने भी माना है कि 'यह प्राय एक अदृश्य, अमूर्त और अस्पष्ट सी वस्तु है, किन्तु इसे फिर भी वास्तविक कहा जा सकता है चूंकि वह दैनिक सम्पर्क और अनुभवो से ऊपर जन साधारण के सामूहिक दृष्टिकोण तथा मिश्रित विचारों से जन्म लेता है।' लावेल ने समाज शास्त्रियों से भिन्न किन्तु राजनीतिक शास्त्र की दृष्टि से अधिक उपयुक्त परिभाषा देते हुए कि

है—"जनमत बनाने के लिए बहुमत काफी नहीं है और सर्व-सम्मति की आवश्यकता नहीं है, लेकिन राय ऐसी होनी चाहिए जिससे थोड़े अल्पसंख्यक वर्ग चाहे सहमत न हों, परन्तु फिर भी वे भय के कारण नहीं, बल्कि इसको देश के लिए हितकर समझ कर दृढ़ विश्वास के साथ स्वीकार करले और यदि लोकतन्त्रपूर्ण हो तो इस प्रकार की अल्प-संख्यकों को अनुमति अवश्य मिल जाती है।"

जनमत की परिभाषाओं से प्रकट है कि जनमत के अर्थ के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं हैं। फिर भी जनमत में कुछ निश्चित तत्व देखे जा सकते है, जो राजनीति शास्त्र की दृष्टि से निम्न है—

१. वास्तविक जनमत वह है जो किसी वर्ग अथवा कुछ व्यक्तियों का मत न होकर यथासम्भव जन-साधारण का मत न हो। यह वाछनीय है, अनिवार्य नहीं।
२. जनमत को सार्वजनिक हित की भावना से उत्प्रेरित होना चाहिए। जनमत का यही तत्व आज सबसे अधिक केन्द्रीय है।
३. स्वस्थ जनमत विवेकशील, निस्वार्थ और स्थायी होना चाहिए।
४. जनमत को नैतिकता और न्याय के आदर्शों पर आधारित होना चाहिए, अन्यथा यह स्वार्थी और भ्रष्ट हो सकता है।
५. जनमत प्रायः बहुमत द्वारा अभिव्यक्त होता है किन्तु उसमें अल्प-सख्यको के हितों की रक्षा भी उतना ही महत्वपूर्ण तत्व है जितना कि बहुमत के हितो का सम्भव है।

संक्षेप में जनमत सार्वजनिक हित की भावना पर आधारित एक ऐसा विवेकशील और नैतिक मत कहा जा सकता है जो अल्प-संख्यकों के हितों को ध्यान में रखते हुए किसी समाज में राजनीतिक प्रश्नो को सुलझाने के लिए बनता या बनाया जाता है।

जनमत का निर्माण तथा अभिव्यक्ति एवं आदर्श जनमत के लिए आवश्यक परिस्थितियां

जनमत का निर्माण स्वतः नही होता वरन् उसे व्यक्त करने के कुछ साधन हैं। सबसे अधिक महत्व मानव तत्व का है। सार्वजनिक मामलों में रुचि लेने वाले, राजनीति से उदासीन रहने वाले और सामान्य विवेक वाले तथा चतुर व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार जनमत के निर्माण और विकास में योग देते हैं। मानव तत्व के अतिरिक्त समाचार-पत्र, सार्वजनिक सभायें, राजनीतिक दल, रेडियो एवं सिनेमा, शिक्षण संस्थायें, व्यवस्थापिका सभायें, निर्वाचन, धार्मिक, सगठन अफवायें, सामाजिक-राजनीतिक तथा धार्मिक

साहित्य आदि ऐसे मुख्य साधन है जो जनमत के निर्माण में अथवा उसकी अभिव्यक्ति में विशेषतः सहायक होते हैं।

जनमत का स्वरूप आदर्श हो, इसके लिए आवश्यक है कि जनमत के निर्माण में आनेवाली बाधाओं का निराकरण किया जाय। जनमत अनेक व्यक्तियों, विचारों और परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया से जन्म लेता है। इन तीनों में जितना ताल-मेल होता है, जनमत उतना ही निखरता है। एक आदर्श जनमत के निर्माण के लिए, जरूरी है कि जो विचार सामने आयें, वे अधिक से अधिक हों। जो व्यक्ति उनका प्रचार और प्रसार करें, वे नैतिक और उच्च चरित्र के हों तथा जिन परिस्थितियों में ये विचार और व्यक्ति कार्य करें वे उन्हें अधिकतम स्वतन्त्रता और निर्भीकता के अवसर प्रदान कर सकें। अधिनायक तन्त्र में ये विचार नियन्त्रित होते हैं। व्यक्ति तानाशाह द्वारा खरीद लिये जाते हैं और परिस्थितियां भी इस तरह की बनायी जाती है कि विचार और व्यक्ति एक खास प्रकार के जनमत को ही जन्म देते है। इस तरह तानाशाही व्यवस्था मे आदर्श जनमत जैसी कोई चीज उत्पन्न नहीं हो सकती। प्रजातन्त्र मे यह सम्भव है कि कुछ परिस्थितियां ही सबसे बड़ी रुकावटें हैं, जिनमें से कुछ तो प्रजातन्त्र द्वारा धीरे-धीरे स्वयं दूर करदी जाती है और कुछ के लिए शासकीय व सामाजिक शक्तियों को प्रयत्न करने पड़ते है। स्वस्थ जनमत तभी बन सकता है जब निरक्षरता, अराजनीतिक अथवा अर्द्ध-राजनीतिक दल, अनुत्तरदायित्वपूर्ण समाचार-पत्र, निर्धनता, दूषित शिक्षा-प्रणाली, नागरिक उदासीनता और राजनीतिक चेतना के अभाव आदि बाधाओं को दूर किया जाय अर्थात् नकारात्मक परिस्थितियों को हटा कर सकारात्मक परिस्थितियां पैदा की जाय। सकारात्मक परिस्थितियां पैदा करने के लिए सार्वजनिक साक्षरता और शिक्षा को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया जाय। प्रेस की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता की रक्षा हो, न्यायपूर्ण आर्थिक परिस्थितियां पैदा की जायं, स्वस्थ एवं राष्ट्रीय राजनीतिक दलों का निर्माण हो, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हो, समाज का स्वस्थ संगठन हो जिसमे संकीर्णता और कुटिल भावनाओं को कोई महत्व नही दिया जाता हो, साम्प्रदायिकता का विष व्याप्त न हो और राष्ट्रीय आदर्शो की एकता स्थापित करने के प्रयत्न हो।

स्पष्ट है कि स्वस्थ लोकमत का निर्माण जनता के राष्ट्रीय चरित्र, समाचार-पत्रों के स्तर, राजनीतिक दलों के आदर्श हितों के सामन्जस्य, सामाजिक सुव्यवस्था तथा आदर्श आर्थिक परिस्थितियो पर निर्भर करता है। जिन देशों में ये पूर्व परिस्थितियां हैं वहां का लोकमत जनतन्त्र का सच्चा प्रहरी है किन्तु विकासशील देशो (Developing Countries) मे जहां तक

यह स्थिति अभी नहीं आयी है स्वस्थ लोकमत का निर्माण समस्या बना हुआ है। कुल मिलाकर जनमत को बनाने वाली वाह्य परिस्थितियां भी जनता और नेताओं पर निर्भर करती है और "लोकमत की प्रबुद्धता की मात्रा जनता की शिक्षा एवं वृद्धि के सामान्य स्तर तथा नेताओं और समुदायों की समझदारी और ईमानदारी की मात्रा के अनुपात मे बदलती रहती है।"[1]

जनमत वैधानिक राजसत्ता और अन्तिम राजसत्ता के बीच में समन्वय स्थापित करता है

आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्य की गम्भीर समस्या यह है कि यह कानूनी सत्ता और अन्तिम राजनैतिक सत्ता में उचित सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित करे। प्रजातान्त्रिक राज्यो मे यह कठिनाई नही थी क्योंकि उस समय चुनाव प्रत्यक्ष रूप से होता था। तब दोनो प्रकार की सत्ताओं मे विभिन्नता न थी, किन्तु आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यों में दोनों में भेद विद्यमान है। इसका एक मात्र कारण यह है कि अब चुनाव अप्रत्यक्ष है और जनता के मध्य में से कुछ ही व्यक्ति चुनकर प्रतिनिधि रूप में भेजे जाते हैं। कानूनी सत्ता सदैव एक निश्चित व्यक्ति या समूह में निहित होती है। जनता के भेजे हुए प्रतिनिधि व्यवस्थापिका मे जाकर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त करते हैं। कानून-निर्माण के क्षेत्र में कानूनी सत्ता की इच्छा अन्तिम और निरकुश होती है। पर इस कानूनी सत्ता से पृथक् राजनैतिक सत्ता है जो सगठित रहते है और कानून के रूप मे राज्य की इच्छा को व्यक्त नही कर सकते, पर इसके पास एक ऐसी शक्ति है जिसके सामने कानूनी सत्ता को घुटने टेकने पडते हैं। प्रजातन्त्र मे यह अन्तिम राजसत्ता अथवा राजनीतिक राजसत्ता जनता के हाथ में होती है। कानूनी रूप से कानूनी राजसत्ता की आज्ञा सर्वोपरि है और उसके द्वारा बनाये गये कानूनों का पालन हर एक के लिए आवश्यक है, लेकिन अन्तिम रूप से कानूनी राजसत्ता को स्वयं राजनीतिक राजसत्ता की इच्छा का पालन करना आवश्यक है और विरोध की स्थिति मे, अन्त मे राजनीतिक राजसत्ता की ही विजय होती है। सच्चे प्रजातन्त्र में अन्तिम रूप से स्वयं जनता शासक है। "यदि कानून कानूनी राजसत्ता का आदेश है तो जनमत राजनैतिक राजसत्ता का आदेश है।" चुनावों के समय मतदान करके तथा जुलूस, प्रदर्शन, अनशन आदि द्वारा जनता अपना मत प्रकट करके कानूनी राजसत्ता का पथ-प्रदर्शन करती है तथा "असंदिग्ध एवं स्पष्ट रूप से प्रकट किए हुए जनमत की अवहेलना करना सच्चे लोकतान्त्रिक शासन के लिए अधिक सम्भव नही है।" जनमत की अवहेलना करने वाली सरकार स्वतन्त्रता-पूर्वक शासन नहीं चला सकती और न अधिक समय तक बनी ही रह सकती है। उसके द्वारा बनाये गये सार्वजनिक कल्याण के लिए आवश्यक कानून भी

जनमत के झोकों में पड़ कर कब्र में सो जाते हैं। वास्तव मे कानूनी सत्ता और राजनीतिक सत्ता का संघर्ष नष्ट कर देने में ही जनता और जनतन्त्र का हित है और जनमत इन दोनों मे सामजस्य स्थापित करने की महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। विरोध तभी समाप्त हो सकता है जब या तो कानूनी सत्ता आधीनता स्वीकार करके राजनीतिक सत्ता के निर्णय को मान ले या कानूनी सत्ता का निर्वाचन द्वारा पुन निर्माण हो। इन दोनों कार्यों के लिए राजनैतिक मत या यों कहिये कि जनमत की आवश्यकता है। कानूनी सत्ता उसी दशा मे आधीनता स्वीकार करती है जब वह जनमत को अपने विरोध मे देखती है। मन्त्री अर्थात् कार्यकारिणी के सदस्य और व्यवस्थापक-गण ऐसी बातों को ध्यानपूर्वक देखते हैं और उसी के अनुसार अपनी नीति का निर्माण करते है। जनमत के कारण ही अनेक मन्त्रियों को अपने स्थान रिक्त करने पडते हैं, इतिहास इस बात का साक्षी है। राजनीतिक सत्ता अर्थात् निर्वाचक समह अपनी इच्छा को केवल निर्वाचन और उपनिर्वाचन के समय ही व्यक्त करता है। अन्य अवसरों पर वह अपनी आवाज और शक्ति को केवल सगठित जनमत द्वारा ही व्यक्त कर सकता है। "जनमत सदैव प्रयोजक और प्रबल होता है। दलबन्दी की विषमता कानूनी और राजनैतिक सत्ता के सामजस्य मे अड़चन उत्पन्न करती है। जनमत नागरिकों के विवेक और बुद्धि का आधार लेकर ही दलबन्दी की बुराइयां और स्वार्थों का अन्त करता है। यह अनेक प्रकार से कानूनी और राजनैतिक सत्ता में अनुरूपता स्थापित करता है जिसके बिना प्रजातन्त्र राज्य सचालन सुविधा-पूर्वक नहीं हो सकता। यह बात सही है कि लोकमत सरकार का पथ प्रदर्शक भी है और उसकी निरंकुशता और उच्छृंखलता के ऊपर एक भारी अंकुश भी है।"

प्रजातन्त्र में जनमत का महत्व

कानूनी सत्ता और राजनैतिक सत्ता मे सामजस्य स्थापित करने वाली शक्ति के रूप में प्रजातन्त्र में जनमत का महत्व हम ऊपर पढ़ चुके हैं। वास्तव मे जनमत प्रजातन्त्रीय शासन का अनिवार्य तत्व है। यह प्रजातन्त्रीय प्रशासन के कुशल प्रहरी का कार्य करता है। जनमत द्वारा ही सरकारें बनती और बिगड़ती है। सभी राजनैतिक दल जनमत या लोकमत को अपने पक्ष मे करने के लिए जीवन की बाजी लगाते हुए संघर्ष करते हैं। जनमत मे थोड़ा-सा भी परिवर्तन किसी भी दल के लिए जीवन और मरण हो सकता है, क्योंकि प्रजातन्त्र राज्य जनता की राय पर निर्भर करता है और चुनाव में कोई भी दल जनमत के थोड़े से परिवर्तन से भी जीत या हार सकता है।

प्रजातन्त्र-राज्य जनहित का दृष्टिकोण लेकर चलता है और उसके लिए यह आवश्यक है कि वह ठीक दशा में चले और वह ठीक प्रकार से चलता है जनमत की आलोचना के सहारे। जनमत ही सरकार के दोषों को सामने रखता है और उन्हें दूर करने की मांग करता है। जनमत सरकार के नियमों का इस उद्देश्य से निरीक्षण करता है जिससे वह नागरिकों के अधिकाधिक हित के लिए कार्य कर सके। प्रजातन्त्र सरकार मनमानी नहीं कर सकती। उसकी सफलता या असफलता की कसौटी जनमत ही है। जनमत ही उसे सचेत रखता है और बहुत कुछ अंश तक सरकार के कार्यों का पथ-प्रदर्शन करता है। स्वस्थ जनमत शासन को उन स्वार्थ तथा पद-लोलुप व्यक्ति के हाथों में जाने से रोकता है जो शासनयन्त्र का लाभ अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए उठाना चाहते हैं। इस प्रकार यह नागरिकों के अधिकारों व स्वतन्त्रता की रक्षा करता है इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन के विभिन्न संगठनों के कार्यों और आचारों को नियन्त्रित करने में भी बड़ा योग देता है। जनमत ही वह शक्ति है जो सार्वजनिक हितों की विरोधी शक्तियों को दबाता है। जनमत ही सरकार का निर्माता होता है। अतः सरकार कैसी है, यह भी जनमत की अच्छाई और बुराई पर निर्भर है। प्रसिद्ध विद्वान डायसी (Dicey) का कथन है कि "राजनैतिक सार्वभौमिकता जनमत में निहित होती है और यह कानूनी सार्वभौमिकता से ऊपर है।" इस प्रकार हम कह सकते है कि जनमत ही वह धुरी है जिस पर प्रजातन्त्रीय राज्य घूमता है।

केवल राष्ट्रीय जीवन में ही लोकमत का महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता वरन् इसका प्रभाव सारे विश्व पर पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा जनमत पर ही निर्भर है। ससार के दो–गुट अमेरिका और रूस-ससार के जनमत के पक्ष में करने के लिए भरसक यत्न कर रहे हैं। जनमत की अवहेलना कोई भी राज्य नहीं कर सकता। भारत के जनमत में जरा भी परिवर्तन आ जाना अमरीका तथा रूस के लिए बहुत महत्वपूर्ण बात हो सकती है।

इससे पता लगता है कि जनमत अथवा लोकमत ने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।

जनमत किस प्रकार मापा जाता है ?

जनमत प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रिया का आवश्यक एवं अविभाज्य अंग है। किन्तु इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि जनमत किस प्रकार राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करता है या जनता क्या चाहती है इस बात का पता अधिकारी वर्ग किस प्रकार लगाता है या जनमत किस प्रकार मापा जाता है; इस प्रकार के प्रश्नों द्वारा प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया के उस महत्वपूर्ण पहलू की ओर इशारा किया जाता है जो उन साधनों से सम्बन्धित है

जिनके द्वारा सरकार को उत्तरदायी बनाया जाता है। प्राय प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रश्न पर कुछ जनमत अवश्य होता है और प्रजातन्त्र राज्य के अधिकारियों को यह जानना जरूरी है कि यह जनमत क्या है तथा कितने लोगो द्वारा रखा गया है और इसका कितना प्रभाव है। इन सभी बातों की जानकारी करने के लिए प्राय' निम्नलिखित प्रकार के तरीके अपनाये जा सकते है—

(१) चुनावों के माध्यम से मापना—चुनावों अथवा मत-पत्रो द्वारा लोकमत को जानना एक परम्परागत व्यवहार है। जब चुनाव होते है तो विभिन्न दलों द्वारा अलग-अलग विचारधारायें एवं लक्ष्य जनता के सामने प्रस्तुत किये जाते है और यह आशा की जाती है कि जनता इन नीतियों मे से ही एक का समर्थन करेगी। एक दल की विजय का अर्थ यह है कि जनमत उसकी नीतियो एव रीतियों से सहमत है और वह यह चाहता है कि उन्ही को क्रियान्वित किया जाना चाहिए।

जनमत को मापने के इस तरीके की यद्यपि अपनी कमजोरिया हैं फिर भी राष्ट्रीय चुनावों एव नवीन समस्याओ के उदय के बीच पर्याप्त अवकाश रहता है। बहुत वर्षों तक जनमत को नही मापा जा सकता। वह अगले चुनावों मे मापा जायेगा।

(२) प्रेशर ग्रुपों द्वारा मापना—चुनावों के बीच अधिकारी वर्ग जनमत के बारे मे प्रेशर ग्रुपो द्वारा जानता है। जनमत को चुनाव के समय जानने की प्रमुख संस्थात्मक साधन यदि दल है तो चुनावों के बीच मे उसे प्रेशर ग्रुपों द्वारा जाना जाता है। इन ग्रुपों द्वारा कई साधनो द्वारा सूचना दी जाती है जैसे खबरो द्वारा, तार द्वारा, व्यक्तिगत परिचय द्वारा, कांग्रेस की समितियो के सामने गवाही देकर आदि। प्रेशर ग्रुपो के बारे में अधिकारियों के सामने एक बडी कठिनाई यह रहती है कि यह किस प्रकार जाना जाये कि इनके द्वारा कितने लोगों के विचारों को कितनी शक्ति के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। अत. वह दूसरे साधनों द्वारा भी जनमत को जानना चाहेगा।

(३) सीधे नागरिक सम्पर्क द्वारा मापना—व्यवस्थापक एवं प्रशासक समय-समय पर सीधे नागरिकों से मिलते है और तब जनमत को जानते हैं। प्रशासकों द्वारा राष्ट्रीय नीतियों के बारे में जनता को बताया जाता है तथा उनकी प्रतिक्रिया को जानने के प्रयास किये जाते है। अमेरिका कांग्रेस के सदस्य अपने घर वापिस जाते हैं और वहा प्रमुख गलियों में मतदाताओं से बातें करते हैं।

(४) आरम्भक (Initiative), लोक निर्णय (Referendum) प्रत्याह्वान (Recall) द्वारा मापना—इन साधनों के द्वारा जनमत के

का प्रयास किया जाता है। आरम्भक उस जगह के लिए एक औपचारिक साधन है जहाँ कि मतदाता स्वयं व्यवस्थापन करने में असमर्थ होते हैं। एक प्रस्तावित विधेयक अथवा सांविधानिक संशोधन मतदाताओं की एक निश्चित संख्या के हस्ताक्षर पाने के बाद जनता की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत कर दिया जाता है और उन मतदाताओं की स्वीकृति प्राप्त की जाती है जिन पर कि इसका प्रभाव पड़ने वाला है। लोक-निर्णय द्वारा एक विधेयक या संविधान के संशोधन को व्यवस्थापिका में मतदान के बाद निर्वाचकों की स्वीकृति के हेतु प्रस्तुत किया जाता है। प्रत्यावाहन द्वारा जनता एक अधिकारी को उसकी समय-सीमा से पूर्व ही उसके पद से हटा सकती है क्योंकि वह उसकी नीतियों से मतैक्य नहीं रखती।

(४) जनमत के सेमों द्वारा मापना—सेमे में प्रयास भी (Polling Devices) जनमत को मापने का एक अत्यन्त वैज्ञानिक तरीका है। प्रारम्भ में इन सेमों पर एक बड़ी संख्या में मतदाता रखे जाते थे, अतः मापने में अधिक निश्चितता रहती थी। किन्तु बाद के कई उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया कि निर्वाचकों की यह सामान्य सेमे बाजी (Mass Polling) अवैज्ञानिक है, अतः इसके स्थान पर जनमत को मापने के लिए व्यापारिक सेमों तथा विश्वविद्यालय केन्द्रों का उपयोग किया जाने लगा। ये सभी अपने अध्ययन के वैज्ञानिक परिणाम प्राप्त करने की बात कहते हैं तथा संख्या की अपेक्षा गुण की ओर अधिक ध्यान देते हैं। जाति, धर्म, रहने का स्थान, व्यावसायिक हित, आर्थिक स्तर आदि चीजों के भेद को ध्यान में रखते हुए जनसंख्या का एक ऐसा भाग अध्ययन के लिए चुना जाता है जो कि समस्त देश का प्रतिनिधित्व करता हो। आधुनिक पोल केवल चुनावों के परिणामों पर ही भविष्यवाणी नहीं करते वरन् चुनावों के मध्यकाल में कांग्रेस एवं अन्य सरकारी अभिकरणों के बीच रहने वाले मतभेदों का भी ध्यान रखते हैं। जनमत को मापने के बाद अधिकारी वर्ग यह जान लेता है कि जोर से बोलने वाला तथा अधिक धन खर्च करने वाला ही जनमत को अपने साथ नहीं रखता इसलिए लोगों के अधिक हित के लिए अधिकारियों को अधिक ध्यान देना होता है।

अनेक बार जनमत केवल ऊपरी रह जाता है। यदि व्यवस्थापक इसके अनुसार कार्य करने लगें तो वह अपने नीति-निर्माण के कार्य को सफलतापूर्वक पूरा नहीं कर पायेगा। इसका एक खतरा भी है कि जब जनमत को अधिकारी जान जायेंगे तो वे यह प्रयास करेंगे कि एक सामान्य नागरिक जो चाहता है वह उसे प्रदान किया जाये न कि एक उत्तरदायी नेतृत्व प्रदान किया जाये। फिर भी इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा

सकता कि जनमत को जानना प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है तथा इसके द्वारा अधिकारियों को अपना उत्तरदायित्व निभाने में आसानी रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जनमत का स्थान

जनमत का राष्ट्रीय क्षेत्र में ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी आधुनिक युग में विशेष महत्व है। कोई भी देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्धित किसी भी महत्वपूर्ण विषय का निर्णय लेते समय जनमत की अवहेलना नहीं कर सकता। आज के युग में मजदूर वर्ग सामाजिक विकास की एक मुख्य प्रेरक शक्ति है। मानव इतिहास में अब तक जिन वर्गों ने समाज की अध्यक्षता की है, उनमें यह वर्ग न केवल संख्या में सबसे अधिक हैं, वरन् यह प्रायः सभी दलित वर्गों का नेतृत्व करने की क्षमता रखता है। आज यह बहुमत जागृत हो चुका है और इसकी बढ़ती हुई शक्ति को मजबूत से मजबूत सत्ता भी रोक नहीं सकती। मार्क्स और लेनिन ने जिस मजदूर वर्ग को जगाया उसमें आज यह पहचानने की शक्ति बखूबी आ गई है कि उनका हित क्या है और उस हित की साधना वे किस प्रकार कर सकते हैं। राष्ट्रीय राजनीति में तो मजदूर वर्ग का गहन योगदान है ही, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी उनका प्रभाव बढ़ता जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उनके प्रभाव में यह एक नया विकास हुआ है कि विदेश नीतियों का भावनात्मीकरण हो गया है। आज युद्ध और शान्ति जैसे महत्वपूर्ण विषयों में जनता की रुचि बढ़ रही है। यह विदेश नीति के विभिन्न पहलुओं में पर्याप्त रुचि लेती है। अतः किसी भी देश की विदेश नीति को जन-इच्छाओं से प्रभावित होना पड़ता है। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जनमत अपना वह प्रभाव व्यक्त करता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

पुनश्च, आधुनिक युद्ध केवल पेशेवर सेनाओं के माध्यम से ही नहीं लड़ा जाता। इन युद्धों के संचालन के लिए आवश्यक व्यापक संख्या में जो सेना नियुक्त की जाती है वह मूल रूप में काम करने वाली जनता के कंधों पर बन्दूक रखकर ही चलती है। जनसंख्या का कार्य गृह स्तर पर भी बढ़ जाता है क्योंकि प्रत्येक सेना का भाग्य उनके श्रम एवं मनोबल (Morale) पर निर्भर करता है। यही कारण है कि युद्ध, शान्ति और विदेश नीति के बारे में बड़ी जनसंख्या के विचार एक महत्वपूर्ण तत्व बनते जा रहे हैं। ये एक देश की सैनिक सामर्थ्य का निश्चय करते हैं तथा सेना के मनोबल, अपने डिवीजन के गुण एवं गृह स्तर पर स्थायित्व आदि का निर्धारण करते हैं। यह कहा जाता है कि पिछले दो महायुद्धों के अनुभवों के बाद यह बात सामने आई है कि युद्धों एवं विदेश नीति के प्रति जनता का दृष्टिकोण केवल नैतिक तत्व ...

ही मर्यादित नही है। यह उस वर्ग के शासन को भी समाप्त कर सकता है जो युद्धरत है। यह शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक नवीन और प्रभावी शक्ति के रूप मे उदित हो रही है। इसके फलस्वरूप प्रजातन्त्रात्मक विदेश नीतियां बनने लगी हैं। इस दृष्टि से उपनिवेशों और आश्रित देशों मे राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य मोर्चे हैं और उनका भी अपने आप में पर्याप्त महत्व है।

यह माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे जन साधारण का जो महत्व बढ़ा है, वह कोई अवसर की ही बात नही है और न ही यह राजनीतिज्ञों अथवा कूटनीतिज्ञो के विषयगत गलत आकलन का ही परिणाम है। यह तो विषयगत ऐतिहासिक विकास का एक प्राकृतिक परिणाम है। यह एक सामाजिक वातावरण है जो मानवता की प्रगतिशील एवं शान्तिवादी शक्तियो का पक्ष लेता है। विदेश नीति पर जन साधारण का बढ़ता हुआ प्रभाव प्रतिक्रियावादी एवं आक्रमणकारी नीतियों तथा रूपों को सफल नही होने देता। यह आज की दुनियां की एक अद्वितीय उपलब्धि है। कोई भी देश इस उपलब्धि अथवा प्राप्ति को छोड़ना नही चाहेगा।

सामुदायिकतावाद
(Communitarianism)

ऐसे विचारको की कमी नही रही है जो राज्य को सम्पूर्ण साम्प्रदायिक जीवन का सम्प्रभुता सम्पन्न स्वामी मानने से इन्कार करते है। वे समाज को एक अविछिन्न इकाई मानते है। उनके अनुसार समाज समस्त मानवीय सम्बन्धों का केन्द्र है और राज्य व दलीय व्यवस्था अनावश्यक रूप से इन सामाजिक सम्बन्धो को विपाक्त और शिथिल बनाते है। वे वर्तमान राज्यों के कार्यों की बढती हुई प्रवृत्ति को शंका की दृष्टि से देखते है। वे राज्य को समाज के विभिन्न समुदायों के कार्यों में सामन्जस्य स्थापित करने का अधिकार नही देते। उनका विचार है कि समाज मे विरोध और विषमता के तत्वों को रोकने के लिए, लोगो में स्वावलम्बन की प्रवृत्ति जगाने के लिए और दलीय व्यवस्था के दोषो से बचने के लिए ऐसी सामाजिक संस्थाये होनी चाहिए जो समाज की एकता की रक्षा कर सके और व्यक्ति व समुदाय को अपने उचित क्षेत्र में रहने के लिए बाध्य कर सके। इस प्रकार की विचारधारा को विकसित करने वाले विद्वानो में हम यहा विशेष रूप से कोल और जयप्रकाश नारायण के मतों का उल्लेख करेंगे।

कोल, राज्य की सम्प्रभुता को अस्वीकार करते हुए भी, समाज की एकता सुरक्षित रखने की आवश्यकता को मान्यता प्रदान करता है। इस लक्ष्य के लिए उसने 'कम्यून प्रणाली' (Commune System) का आविष्कार किया है। उसने राज्य के स्थान पर एक ऐसी संस्था की कल्पना की स्थापना की है

जो उसके दर्शन मे 'कम्यून' (Commune) के नाम से प्रख्यात है। गिल्ड समाजवाद के प्रतिपादक कोल का विश्वास है कि गिल्ड समाज का एकीकरण करने वाली संस्था का सगठन राज्य के सगठन से आवश्यक रूप से भिन्न होना चाहिए। कोल का कहना है कि कम्यून का सगठन स्थानीय, क्षेत्रीय एव राष्ट्रीय तीनो धरातल पर होगा। कम्यूनो को राजस्व सम्बन्धी मामलो में महत्वपूर्ण एव व्यापक अधिकार होगे। विविध व्यावसायिक सघों के बीच सत्ता-विभाजन का कम्यूनो को अधिकार होगा। व्यावसायिक सघो के बीच नीति के विवादास्पद और जटिल मामलों का निर्णय कम्यून करेंगे। ऐसे सामाजिक मामलो की भी वे व्याख्या करेंगे जो किसी भी व्यावसायिक सत्ता के अन्तर्गत नहीं आते, उदाहरणार्थ युद्ध एव शान्ति की घोषणा तथा शस्त्र-बल का नियंत्रण, वैदेशिक सम्बन्धो का नियंत्रण, नगरों, कस्बों व प्रदेशो की सीमाओ का निर्धारण, व्यक्तिगत सम्बन्धों और निजी सम्पत्ति के सम्बन्धो का नियत्रण आदि। कम्यून को व्यक्तियों और व्यावसायिक संस्थाओ को अपने कानूनो और निर्णयों का पालन कराने के लिए बाध्य कर सकने की भी सत्ता होगी। व्यक्तियो के विरुद्ध दमन का प्रयोग फौजदारी की विधि के अनुसार किया जायेगा। समुदायो के प्रति दमन का प्रयोग आर्थिक बहिष्कार का रूप ग्रहण करेगा, लेकिन दमन का प्रयोग केवल अन्तिम अस्त्र के रूप मे ही किया जायेगा।

उल्लेखनीय है कि कोल ने चाहे राज्य की जगह अपने सामुदायिकता-वाद या कम्यून की स्थापना की हो, लेकिन कम्यून के कार्यों व अधिकारों से प्रकट है कि उसका कम्यून अप्रत्यक्ष रूप मे राज्य का ही स्वरूप है।

जयप्रकाश नारायण भी वर्तमान राज्य-व्यवस्था को इसके अत्यधिक केन्द्रीकृत चरित्र के कारण नापसन्द करते है। उनकी धारणा है कि राज्य स्वतन्त्र व्यक्तियो का समूह है, समुदायों का समुदाय नही। उनकी इच्छा है कि व्यक्तियों को समुदायों के रूप मे सगठित किया जाना चाहिए क्योंकि *समुदाय ही लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए सुदृढ आधार प्रदान कर सकते है।* जयप्रकाश बाबू की मान्यता है कि राज्य का ढाचा जिन राजनीतिक इकाईयों पर आधारित होना चाहिए वे ग्राम-समाज या समुदाय है, पृथक और बिखरे हुए मतदाता नही। आधुनिक समाज व लोकतन्त्र के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि "मनुष्य को मनुष्य के सम्पर्क में लाया जाय ताकि वे आपस में सार्थक, बुद्धिगम्य और नियंत्रणीय सम्बन्ध निभाते हुए साथ-साथ रह सकें। संक्षेप मे, समस्या मानव समाज की पुनर्रचना की है।" जयप्रकाश नारायण का विश्वास है कि राजनीतिक इकाईयों के रूप में ग्राम-समाजों का पुनर्निर्माण करके, उन्हें अधिकाधिक स्वशासन देकर और उनको विधान-मण्डलों व राष्ट्रीय

संसद के निर्माण का आधार बनाकर ही लोकतन्त्र के आधार को उपयोगी और व्यापक बनाया जा सकता है। केवल इसी तरीके से वर्तमान 'उल्टे पिरामिड को उसके व्यापक आधार पर खड़ा करना सम्भव है। श्री जयप्रकाश का कहना है कि हर स्थानीय निकाय के पास अपने कार्यों को करने के लिए पर्याप्त वित्तीय एवं अन्य साधन भी उन्हें चाहिए।

जयप्रकाश नारायण संसदीय प्रणाली में राजनीतिक दलों की भूमिका के कटु आलोचक है। उनकी मान्यता है कि राजनीतिक दलों के कारण आज 'सत्ता राजनीति' का बोल-बाला है। राजनीतिक दलों का उद्देश्य सामाजिक एकता को बनाये रखना नहीं बल्कि विच्छिन्न करना है और जनता की सेवा करने की अपेक्षा सत्ता पर अधिकार जमाकर अपने वर्गीय और दलीय हितों की पूर्ति करना है। जयप्रकाश नारायण के "सामुदायिकतावाद" अथवा ग्राम समाजों या पंचायती राज वाली व्यवस्था की सफलता इस बात पर निर्भर है कि राजनीतिक दल इससे कितना अलग रहते हैं और इसे अपने हाथ का खिलौना बनाने से कितना बाज आते हैं।

श्री जयप्रकाश की व्यवस्था मे जहा तक नगरो का सवाल है उन्हे सुगमतापूर्वक मोहल्लों मे बाटा जा सकता है और हर मोहल्ले को एक ग्राम समाज समझा जा सकता है। सम्पूर्ण नगर का प्रतिनिधित्व करने वाले विकास को जिला परिषद् के समान माना जा सकता है। जयप्रकाश नारायण ग्रामों को राजनीतिक रूप से ही स्वशासक नही बनाना चाहते बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी उन्हे आत्मनिर्भर बनाना चाहते है। इस प्रसङ्ग मे यह उल्लेख किया जा सकता है कि फ्रांस में स्थानीय प्रशासन की प्रत्येक छोटी-बड़ी इकाई को 'कम्यून' ही कहा जाता है।

भाग–६

अर्वाचीन राजनीतिक सिद्धांत में विचारणीय विषय और समस्याएं

(ISSUES AND PROBLEMS IN CONTEMPORARY POLITICAL THEORY)

"विचारधाराएं विचारों का ऐसा मिश्रण है जो क्रियाओं को स्थित व्यवस्था की रचना की ओर निर्देशित करते हैं।"

—लूई वर्थ

"किसी भी राजनीतिक सिद्धांत को न्यायोचित सिद्ध करना जीवन के उस तरीके की व्याख्या करना है जिसे सभी अथवा लगभग एक विशेष राज्य के सभी सदस्य एक विशेष समय में स्वीकार करते हैं। राजनैतिक सिद्धांत एक ही राज्य में भिन्न-भिन्न होते हैं क्योंकि लोग राज्य को भिन्न तरीकों से देखते हैं। ये भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाई देते हैं।"

—वेल्डन

१९

राजनीति और मूल्य समस्यायें

(POLITICS AND VALUE PROBLEMS)

मनुष्य की प्रत्येक क्रिया का संचालन उसके मूल्यों की व्यवस्था के सन्दर्भ में किया जाता है। व्यक्ति के विश्वास और मूल्य ही उसके समस्त राजनैतिक व्यवहार एवं संस्थाओं के संगठन को विशेष रूप प्रदान करते हैं। व्यक्ति के मूल्य यद्यपि अतीत की भूमि में पलते और बढ़ते हैं किन्तु समय की नवीन परिस्थितियां और वातावरण भी उनके रूप को सजाने और संवारने में उल्लेखनीय रूप से कार्य करता है। आज की शताब्दी में विज्ञान और तकनीकी आविष्कारों ने व्यक्ति के परिवेश और रहन-सहन में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिये हैं उनके कारण उसके मूल्यों की व्यवस्था भी बहुत कुछ बदल गयी है, नये मूल्यों में पुरातन राजनैतिक संस्थायें नहीं चल सकती।

इतिहासकार द्वारा जब किसी विशेष काल के प्रभावपूर्ण दृष्टिकोणों या भावनाओं की व्याख्या करने का प्रयास किया जाता है अथवा सामाजिक या राजनीतिक घटनाओं के लिए एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया जाता है तो वह पर्याप्त कठिनाई का अनुभव करता है। कभी-कभी इतिहास का इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाना चाहता है जो कि उस समय के लोगों का या लोगों ने अतीतकाल में अपनी समस्याओं की व्याख्या किस प्रकार की उसे जानना सामाजिक एवं राजनैतिक वास्तविकता: का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू है। इसका महत्व उतना ही है जितना कि सार्वजनिक अभिलेखों में दिये गये अभिलेखों का होता है। एक स्थिति में लोग तत्कालीन दृष्टिकोण या। मानसिक स्थिति से अस्त-व्यस्त हो सकते हैं किन्तु दूसरे समय और परिस्थितियों में लोगों द्वारा बिना कुछ कहे सहन किया जाता है अथवा विधायी सन्तोष के साथ स्वीकार किया जा सकता है। समस्त मानवीय मूल्य पूर्ण होने की सापेक्षिक होते हैं और उनको समय-समय पर भिन्न प्रकार से देखा ...

सापेक्षतावादी सिद्धान्त (Relativistic Doctrine) के द्वारा एक परिस्थिति में समाज के लोगों को अव्यवस्थित कर दिया जाता है जबकि दूसरी परिस्थिति में समाज के सदस्यों को नवीन ज्ञान प्रदान किया जाता है। जो लोग आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक या नैतिक किसी भी दमनकारी पूर्णतावाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं वे कभी-कभी सापेक्षितावादी बन जाते हैं ताकि परम्परा या यथास्थिति की सत्तावादी गाठों को ढीला कर सकें। हो सकता है कि ऐसा करके वे न्याय की पूर्णता स्थापित कर लें। कुछ क्रान्तिकारी लोग उस पूर्णता में स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकते हैं और यह सोच सकते हैं कि जिन नियमों और सत्ताओं ने पहले बन्दी बनाए रखा था, पहले कभी भी इनकी कोई आवश्यकता नहीं थी। वे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाज में व्यक्तिगत रुचियों एवं प्राथमिकताओं को स्वतन्त्रता के साथ रहने दिया जाए। जिस व्यवहार पर पहले सीमायें लगी हुई थी, उस पर से अब सत्तावादी प्रतिबन्धों को हटा दिया जाए। जब लोग यह सोचते हैं कि उनसे वे मूल्य छूटते जा रहे हैं जिनके बिना समाज के अस्तित्व को चुनौती मिल सकती है और अराजकता पैदा हो सकती है तो वे लोग सापेक्षतावादी बन जाते हैं और इस प्रकार यह आशा करते हैं कि लोग परिस्थितियों के अनुसार सहयोगपूर्ण रहेंगे।

एक समाज के मूल्य उसकी समस्याओं से व्यापक सम्बन्ध रखते हैं। एक प्रकार की समस्याएं कुछ मूल्यों को आवश्यक बना सकती हैं जबकि उनका परिवर्तन मूल्यों के महत्व को भी घटाने या बढ़ाने का कार्य कर सकता है। एक प्रकार की परिस्थितियों में जिन दृष्टिकोणों को स्वतन्त्रता के रक्षक के रूप में मूल्यवान समझा जाता है उन्हीं को बाद वाली पीढ़ी सामाजिक अस्तित्व के लिए एक गम्भीर खतरा मान सकती है।

व्यक्ति मूल्यों से सम्बन्धित बिना कुछ आधारभूत विश्वास के प्रभावपूर्ण रूप से नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त यदि वह सत्ता की आज्ञा का आवश्यक रूप से पालन नहीं करता तो उसकी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थायें कार्य नहीं कर सकती। यहां प्रश्न यह उठता है क्या व्यक्ति को अपने आपको पूर्ण (Absolute) से प्रभावित करना चाहिए जो कि वांछनीय उद्देश्यों के मूल्य की प्रावधिक स्वीकृति के विपरीत होता है। पूर्णतावादी (Absolutists) यह तर्क देते है कि व्यक्ति को कुछ निश्चित सितारों की आवश्यकता है जिनके द्वारा वह अपने जीवन को निर्देशित कर सकें। ये सितारे असल में वे मूल्य है जिनकी प्रकृति पूर्ण (Absolute), नित्य (Eternal) तथा अपरिवर्तनीय होती है। ये मुख्य रूप से उस अवस्था का भाग होते हैं। इनकी अवहेलना व्यक्ति केवल अपने विनाश का जोखिम उठाकर ही कर सकता है। दूसरी ओर, सापेक्षतावादी (Relativistics) हैं जो कि किसी नित्य

मूल्य को मानने से मना करते हैं। यद्यपि वे भी कभी-कभी यह दावा कर सकते है कि मूल्य वस्तुगत होते हैं क्योंकि एक विशेष परिस्थिति का ज्ञान बुद्धिपूर्ण मनुष्य को यह समझने के लिए प्रेरित करता है कि उस परिस्थिति के लिए मूल्य किस प्रकार महत्वपूर्ण है। सापेक्षतावादियों का कहना है कि मूल्यों की नित्यता के सम्बन्ध में कोई प्रमाण प्रस्तुत नही किया जा सकता। यदि मान लीजिए ऐसे मूल्यों का अस्तित्व भी है तो लोग निश्चित रूप से यह कभी नही जान सकेंगे कि वे वास्तव मे क्या हैं। मूल्यों की दार्शनिक समस्या यह नहीं है कि क्या व्यक्ति अपने मूल्यों को पूर्ण मानकर अच्छा या अधिक सुरक्षित अनुभव करता है या नहीं। समस्या यह है कि इस विश्वास को उपयुक्त ज्ञान का निर्माता किस प्रकार माना जाए।

मूल्यों से सम्बन्धित पूर्णतावादी दृष्टिकोण को न केवल यह बताने की आवश्यकता है कि मूल्य अपरिवर्तनीय है वरन् उसे यह भी प्रदर्शित करना होगा कि ये मूल्य कौन-कौन से हैं। जब तक उदाहरण सहित इन मूल्यों का उल्लेख नही किया जाता उस समय तक पूर्णतावादी दृष्टिकोण एक रिक्त दृष्टिकोण रहेगा और सम्भवतः एक पूर्णतावादी को यह कहना पड़ेगा कि "मुझे यह पता है कि कुछ पूर्ण मूल्य होते हैं किन्तु मैं उनको निश्चित रूप से नहीं बता सकता।"

कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों मे लोग इस बात की चिन्ता करना छोड़ देते हैं कि उनके मूल्य पूर्ण है कि नही फिर भी वे इस भावना के साथ सन्तोष-जनक रूप से रहने का प्रबन्ध कर लेते हैं कि उनके लक्ष्य उचित है। उनके प्रयास इन लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में सचालित होते है।

पूर्ण मूल्यों की अधिक चिन्ता न करने वाले इन विचारकों के दृष्टिकोण को मि. कैल्हान (Robert L. Calhoun) ने आधुनिकतावाद (Modernism) का नाम दिया है। इन्होंने अपने विश्लेषण मे उन परिस्थितियों के सम्बन्ध मे भी कुछ वक्तव्य दिये है जिनमें कि आधुनिकतावादी दृष्टिकोण रूप धारण करता है। ये हैं—नगर का जीवन, नये वर्ग का शक्ति मे आना, जीवन के सुधरे हुए भौतिक मापदण्ड और पृथक संस्कृतियों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध आदि आदि। इनका विश्वास है कि आधुनिकतावाद पहले के इस कम सहनशील विश्वास का परिणाम है कि इस पूर्व विश्वास के रचयिता दुनिया में अधिक आनन्द का उपभोग नहीं उठा सके। केवल कुछ लाभ उठाने वालो ने ही इसका लाभ उठाया। आधुनिकतावाद यद्यपि कभी-कभी आने वाली क्रान्तियों निर्माता भी बन जाता है किन्तु वह अपने आप में क्रान्तिकारी नही हो इसके द्वारा सहनशीलता और उदारता को मूल्य प्रदान किया जाता

विपरीत ईसाई धर्म या मार्क्सवाद जैसे विश्वास स्वभाव की दृष्टि से अधिक क्रान्तिकारी है।

बीसवीं शताब्दी में नैतिक मूल्यों के बारे में कोई सामान्य सहमति नहीं रह पाई है और इसके सम्बन्ध में अनेक विचारकों ने अपना मत प्रकट किया है। उनमें से कुछ का इस सिद्धान्त के बारे में सन्देह है कि नैतिक सापेक्षतावाद इस युग में प्रभावशील रहेगा या नहीं। उनकी दृष्टि से विचारवान व्यक्ति को पर्याप्त सावधानी के साथ देखना चाहिए। प्रो० स्टेस (W. T. Stace) ने बताया कि भावी इतिहासकार वर्तमान शताब्दी में निश्चित नैतिक आचार संहिता के आधार के अभाव के कारण पर्याप्त कठिनाई का अनुभव करेंगे क्योंकि व्यक्ति के मूल्यों के अनुसार ही अपने जीवन को सचालित करते हैं, वे परिवर्तन और सकट के समय इनका सहारा पाते हैं। इन्होंने उन दार्शनिकों की आलोचना की जो कि मूल नैतिक मसलों पर अनेक जबानों से बोलते हैं और इस प्रकार से वे नैतिक भ्रम में, और भी बौद्धिक भ्रम जोड़ देते हैं। मि० स्टेस ने सापेक्षितावादियों के सम्बन्ध में भी कहा है कि जो लोग विभिन्न प्रकार की सापेक्षता को महत्व देते हैं वे अपने ऊपर भारी उत्तरदायित्व डाल देते है, वे युग के पराजयवाद को अमूर्त रूप से रचकर मृत्यु का आवाहन करते हैं, वे इस प्रकार सभ्यता की नाड़ियों में जहर घोलते हैं। व्यवहारिक मामलों पर उनका प्रभाव निश्चय ही थोड़ा होगा किन्तु इसके लिए बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी और वे अपने सामान्य उत्तरदायित्व से बच नहीं पायेंगे। इन सापेक्षतावादियों द्वारा ज्वार को घटाने के लिए जो किया जा सकता था उसे करने में वे असफल रहे।

दूसरी ओर मौरिस गिन्सबर्ग (Morris Gingsberg) जैसे समाजशास्त्रियों ने यह बताया है कि किसी भी समय की सम्पूर्ण मानसिक स्थिति के लिए कोई सामान्य उपचार यद्यपि बताया तो आसानी से जाता है किन्तु उसे सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार के उपचार में प्रायः समाज के केवल कुछ तत्वों पर ही जोर दिया जाता है जबकि अन्य तत्वों की अवहेलना की जाती है। गिन्सबर्ग का यह तर्क था कि इस बात का कोई विश्वसनीय प्रमाण आसानी से नहीं दिया जा सकता कि अर्वाचीन नैतिक नियम कुल मिलाकर अपनी पूर्व सन्तति से बुरे हैं। कार्यात्मक रूप में नैतिकता से संबंधित एक समाज की धारणाएं बदलती रहती हैं। किसी विशेष कार्य में नैतिकता का पालन दूसरों की अपेक्षा अधिक किया जा सकता है। प्रो० स्टेस के विरुद्ध प्रो० गिन्सबर्ग ने यह बताया है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि इस प्रकार का सिद्धान्त उन लोगों के कार्यों की आचार संहिता को बदल देंगे जो, कि उनका उपदेश देते हैं क्योंकि दार्शनिक विश्लेषण एक बात है और यथार्थ

नैतिकता दूसरी बात है। इसके अतिरिक्त इस बात के और भी प्रमाण हैं कि इस प्रकार के सिद्धान्तों को अदार्शनिकों द्वारा व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है। वर्तमान काल मे जब कि नैतिक भूल-भुलैया की स्थिति है उसके कारणों में से एक प्रमुख कारण यह है कि धार्मिक नेता सफलतापूर्वक यह बताने में असमर्थ रहे कि उनके अनुयायी उनके द्वारा प्रशिक्षित नैतिक सिद्धान्तों का प्रयोग अत्यन्त जटिलतापूर्ण सामना करने के लिए किस प्रकार करें।

सापेक्षतावाद
(The Relativism)

सापेक्षतावाद के समर्थन मे विभिन्न प्रकार के तर्क दिये जाते है। इनमे कुछ तो तथ्यगत सामग्री पर आधारित है और अन्य तार्किक तथा दार्शनिक बातों पर आधारित है। तथ्यगत तर्क विभिन्न संस्कृतियों एव समाजो के नैतिक तथा अन्य प्रकार के मूल्यों की विभिन्नता पर आधारित होते है। प्रत्येक संस्कृति का अपने जीवन का तरीका होता है। वह आवश्यक रूप से दूसरी संस्कृति से नही मिलता। सास्कृतिक समूहों के द्वारा उनके मूल्यो को पर्याप्त भिन्न महत्व से पद सोपान के प्रबन्धित किया जाता है। यद्यपि विभिन्न संस्कृतियों के द्वारा एक मूल सास्कृतिक रूप प्रदान किया गया है जिसके द्वारा सम्बन्धित समाज की आवश्यकताए पूरी की जाती है, इतने पर भी उनके बीच अनेक प्रकार के विषयवस्तु सम्बन्धी ये अन्तर थे। एक देश की ही संस्कृति जब एक ऐतिहासिक काल से दूसरे ऐतिहासिक काल में प्रवेश पाती है तो अपने कुछ मूल्यों में उसे परिवर्तन करना होता है। डेविड राइजमेन (David Riesman) ने परिवर्तित अमेरिकी मूल्यो की समाजशास्त्रीय व्याख्या देकर यह तर्क दिया है कि वहा आज की अपेक्षा पहले स्वतन्त्र उद्यमों को अधिक मूल्य प्रदान किया जाता था।

एक व्यक्ति जो पूर्ण नैतिक मूल्यो के दावों के प्रति संशयवादी है वह अनेक प्रकार के तथ्यगत कारण देकर पूर्णता के विचार को अस्वीकार कर सकता है। वह ऐतिहासिक सापेक्षतावाद के प्रमाण के रूप में ऐतिहासिक अभिलेखों के प्रति ध्यान आकर्षित कर सकता है। संशयवादी के द्वारा समाजशास्त्रीय सापेक्षतावाद का तर्क भी दिया जाता है क्योंकि वह यह प्रदर्शित भी कर सकता है कि एक बहुलवादी समाज मे विभिन्न संस्कृतिया एव उप-संस्कृतिया वास्तव में आचरण की भिन्न भिन्न आचार संहिताओं को अभिव्यक्त करती हैं। संशयवादी के द्वारा मनोवैज्ञानिक सापेक्षतावादी सिद्धांत का तर्क भी दिया जा सकता है। इसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि

नैतिक मूल्यांकन व्यक्ति की प्राथमिकताओं एवं चयन पर आधारित होते हैं। समाज शास्त्रीय एवं सापेक्षतावाद के बीच अन्तर है। पहले के द्वारा एक व्यक्ति के मूल्यों को यह कह कर स्पष्ट किया जाता है कि वे उस समूह के मापदण्डों को अभिव्यक्ति करते है जिसको वह व्यक्ति प्रमुख रूप से स्वामीभक्ति प्रदान करता है। दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक सापेक्षतावादी यह तर्क दे सकता है कि एक समूह के मापदण्ड अनुभववादी होते है और वे आवश्यक रूप से उन लोगों की अभिव्यक्ति नहीं होते जिनके मूल्यांकन ऐतिहासिक और समाज-शास्त्रीय रूप से कुछ मौलिक प्रश्नों पर सहमतिपूर्ण होते हैं। एक समूह के सामूहिक या व्यक्तिगत आचरण के नियम अथवा मापदण्ड भविष्य मे उस समय भी बदल सकते हैं जबकि समूह और व्यक्ति निरन्तर रूप से इनके अनुसार व्यवहार करें-इसका अर्थ सम्भवतः यह हुआ कि एक व्यक्ति या समूह के मापदण्ड एक निश्चित समय के अनुसार ही तय किये जायेंगे। एक समय के मापदण्ड आवश्यक रूप से दूसरे समय पर मूल्यात्मक दावा नहीं कर सकते। इस प्रकार केवल वे ही कार्य और प्रेरक अच्छे या बुरे समझे जाएंगे जिनको एक व्यक्ति या समूह एक समय मे अच्छे या बुरे मानता है।

सापेक्षतावादी सिद्धात के समर्थन में अनेक दार्शनिक तर्क दिये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में डेविड ह्यूम का विचार था कि तथ्यों की व्याख्या नैतिक वक्तव्यों से पर्याप्त भिन्न होती है। दूसरे, अच्छे वाछनीय और सही आदि नैतिक मूल्यांकनों से युक्त मूल्यों पर जोर देने की प्रथा न तो सही है और न गलत है। इसका कोई समकालीन महत्व नहीं है। तीसरे, एक तर्क यह भी है कि नैतिक दबाव कोई दबाव ही नहीं होते वरन् ये तो केवल आदेश होते है जिनमें कुछ शक्ति रहती है। ये तीनों प्रकार के तर्क एक दूसरे का अतिक्रमण करते हैं और इस सामान्य दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते है कि कोई भी सार्वभौमिक रूप से विश्वसनीय प्रमाण नहीं दे सकता कि नैतिक वचन वस्तुगत या पूर्ण होते है। ह्यूम (Hume) के नैतिक दर्शन मे किसी ऐसी बौद्धिक नैतिकता की सम्भावना को अस्वीकार किया गया है जिसके सिद्धान्त सार्वभौमिक हो सकते हैं; उदाहरण के लिए यह कहना कि झूठ बोलना हमेशा गलत है और ईमानदारी हमेशा नैतिक रूप से सही है, सही नहीं होगा। ह्यूम का विचार था कि नैतिकता मनुष्य की कुछ भावनाओं की अभिव्यक्ति मात्र तथा कुछ अरुचियो का प्रतिनिधित्व करती है। नैतिकता न तो बुद्धि पर आधारित है और न ही उन उद्देश्यो के सम्बन्धों पर आधारित है जिनको वस्तुगत रूप से वर्णित किया जा सकता है और मापा जा सकता है। ह्यूम का यह स्पष्ट विचार है कि चाहिए से सम्बन्धित वक्तव्यों को 'है' से सम्बन्धित वक्तव्यों से निकालना तार्किक रूप से असम्भव है। दूसरे शब्दों

मे तथ्यो के आधार पर आदर्शो की रचना नही की जा सकती। इस प्रकार ह्यूम की यह स्पष्ट मान्यता थी कि नैतिक निर्णयों के आधार पर चीजो की वस्तुगत सम्पदा की व्याख्या नही की जा सकती और उनके मध्य स्थित सम्बन्धो को नहीं बताया जा सकता। नैतिक निर्णय में एक विशेष समूह या समाज के सदस्यों के मूल्यो या व्यक्तियों की इच्छाओं को ही अभिव्यक्त किया जा सकता है। मूल्य के सिद्धातो से सम्बन्धित विचारकों पर ह्यूम की मान्यताओ का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। ह्यूम के बाद पूर्णतावादियों या वस्तुगततावादियों के लिए यह बताना कठिन हो गया कि मूल्य सम्बन्धी निर्णय किस प्रकार सामान्य महत्व रख सकते हैं। यद्यपि ह्यूम के सिद्धान्तो से नैतिक सापेक्षतावाद के निष्कर्ष नही निकालने चाहिए किन्तु फिर भी ह्यूम ने जो स्थिति अपनाई उसके द्वारा सही या गलत रूप से विचारक पर्याप्त प्रभावित हुए और उन्होंने सापेक्षतावादी निष्कर्ष निकाले। स्वयं ह्यूम ने यह सोचा था कि राजनैतिक जीवन, जीवन के एक रहन-सहन के स्तर पर निर्भर करता है जिसमें परम्पराओ एवं रीति-रिवाजों द्वारा व्यवहार को निर्देशित एवं प्रभावित करने का कार्य किया जाता है। ये रीति-रिवाज आगे चलकर परम्पराएं बन जाती हैं। इनको व्यक्ति के द्वारा आनन्ददायक अस्तित्व के लिए निर्मित किया जाता है। किन्तु ये आवश्यक रूप से स्वेच्छाचारी नहीं होते। बर्क की भांति ह्यूम भी एक राजनैतिक रूढ़िवादी था। उसने व्यक्ति को सामाजिक और राजनैतिक सस्थाओ को शुद्ध बुद्धि के आधार पर न बदलने के लिए सावधान किया तथा उन्हें उनके प्रसन्नता उत्पन्न करने की उपयोगिता के प्रकाश मे देखने को कहा।

अस्तित्ववादी (Existentialist) लेखकों ने निर्णय को नैतिकता का मूल माना। वे इस बात मे संदेह करते है कि मनुष्य की इच्छा से स्वतन्त्र कोई मूल नैतिकता रह सकती है। उनका कहना था कि व्यक्ति को संसार में निर्णयों का जोखिम एवं उत्तरदायित्व स्वीकार करना चाहिए। इसके बिना नैतिक रूप से उद्देश्य विहीन है। अनेक विचारकों ने पर्याप्त विश्लेषणात्मक रूप में तार्किक विधेयात्मकवाद या तार्किक अनुभववाद की स्थितियों को अपनाया। इंगलैंड में मि० अय्यर (A. J. Ayer) और अमेरिका में मि० स्टीवेन्सन (C. J. Stevenson) ने इस दृष्टिकोण को पर्याप्त लोकप्रियता प्रदान की। इन्होने तार्किक विधेयात्मकवाद (Logical Positivism) को एक ऐसी दार्शनिक शक्ति बना दिया जो अनेक पाठकों तक पहुंच सकी। इन विचारको का यह दृष्टिकोण था कि अर्थपूर्ण वक्तव्य यदि महत्व रखना चाहते हैं तो वे सही होने चाहिए या गलत होने चाहिए।

कुछ तार्किक वक्तव्य तो ऐसे होते हैं जो केवल अपने रूप के कारण सही होते हैं। इन वक्तव्यों के द्वारा साधारण तथ्य की दुनिया के बारे में कुछ

भी नहीं कहा जा सकता इसलिए इनको विश्लेषणात्मक सत्य कहा गया। दूसरे प्रकार के वक्तव्य अनुभववादी या तथ्यपूर्ण होते हैं। उनकी सत्यता और असत्यता इस आधार पर तय की जाती है कि वे दुनियां की वास्तविक विशेषताओं को प्रमाणित करने में कितने सफल रहे। इन अनुभववादी रूप से अर्थपूर्ण वक्तव्यों को प्रायोगिक अथवा पर्यवेक्षण रूप से प्रमाणित किया जाना चाहिए। तार्किक सत्यों के उदाहरण अनेक हो सकते है जैसे—यदि राम विधुर है तो उसकी एक शादी हो चुकी है, यदि सभी मनुष्य मरणशील हैं और यदि राम भी एक मनुष्य है तो राम भी मरणशील होगा, लाल वस्तु एक रंगीन वस्तु होती है आदि-आदि। अनुभववादी वक्तव्यों के उदाहरण इस प्रकार होंगे—मनुष्य चन्द्रमा पर रहते है, सोहन एक अविवाहित, प्रजातन्त्रवादी और छः फुट लम्बा व्यक्ति है, तानाशाही व्यवस्था में व्यक्ति को स्वतंत्रता नही दी जाती आदि-आदि। अनुभववादी (*Empirical*) वक्तव्यों को तत्काल जांचना आवश्यक नहीं होता, किन्तु उनको अनुभववादी सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को वे परिस्थितिया जांचनी चाहिए, जिनके अधीन उनको प्रमाणित किया जा सकता है।

नीति शास्त्र और राजनीति शास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध पर्याप्त गहरा है। हम नैतिक आचरण के नियमों और राजनैतिक संस्थाओं का अनुभववादी ज्ञान उस समय रख सकेंगे, जबकि अनेक सामाजिक—वैज्ञानिक नियमित रूप से अध्ययन करके ऐसे प्रश्न पूछें जिनका प्रामाणिक उत्तर दिया जा सके। किसी वस्तु स्थिति के बारे में जो मूल्यांकन सम्बन्धी निर्णय दिये जाते हैं उनके सम्बन्ध में एक परेशानी पूर्ण प्रश्न यह उठता है कि इनकी सत्यता को किस प्रकार जांचा जाए क्योंकि भिन्न परिस्थितियों में पला हुआ व्यक्ति इनको कभी भी स्वीकार नही कर सकता। किसी भी चीज को देखने का हमारा तरीका हमारी परम्पराओं, रीति रिवाजों, विश्वासों आदि पर निर्भर करता है और इसलिए वह आवश्यक रूप से सार्वभौमिक नही हो सकता किन्तु पक्षपातपूर्ण और संस्कृति से प्रतिबन्धित होगा। नीति शास्त्र के एक स्कूल को मानने वाले विचारकों का विश्वास है कि मूल्यवादी नैतिक निर्णय न तो सच्चे होते हैं और न झूठे होते हैं और इस प्रकार ये असल में वक्तव्य ही नही होते किन्तु वे रुचि अथवा स्वीकृति की अभिव्यक्तियां होते है जिनको दूसरों के द्वारा चुनौती प्रदान की जा सकती है। संघर्ष के समय इनको साधारण वैज्ञानिक या सामान्य ज्ञान के साधनों द्वारा नहीं सुलझाया जाता। जो विचारक तार्किक विधेयात्मवाद के केन्द्रीय सिद्धान्तों से प्रभावित थे वे क्रान्तिकारी रूप से अज्ञानवादी (Non-Cognitivists) बन गये। प्रो० ब्रेख्त ने इस प्रभाव के विचारकों का नीति शास्त्र में क्या स्थान था, इसका वर्णन

किया है। उनके अनुसार नैतिक रूप से उपयुक्त कोई निर्णय नही होता और इस प्रकार नैतिक अभिव्यक्तियां स्वतन्त्र व वास्तविकता के सम्बन्ध में वक्तव्य नहीं हो सकते और न ही वे एक विशेष प्रकार की व्याख्या हो सकते है। नैतिक अभिव्यक्तिया साहित्यिक रूप से अर्थहीन होती हैं यद्यपि वे महत्वहीन नही होती। वे भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है इसलिए यद्यपि वे अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं किन्तु उनको सत्य या असत्य सिद्ध नही किया जा सकता। मि० अय्यर ने अपने आपको विषयगततावाद (Subjectivist) माना है। उनका कहना था कि यद्यपि उनके नीति शास्त्र के सिद्धान्त को विषयगततावाद (Subjectivist) कहा जा सकता है किन्तु यह परम्परागत विषयगत विचारधारा से अनेक महत्वपूर्ण दृष्टियो से भिन्न है। अय्यर की स्थिति यह थी कि उन्होंने अब नैतिक अभिव्यक्तियो को न तो भावनाओं की अभिव्यक्ति माना और न ही भावनाओं के सम्बन्ध मे आवश्यक रूप से कोई कथन माना, उनकी स्थिति यह थी कि मनुष्य मूल्य सम्बन्धी प्रश्नो के बारे मे कोई प्रश्न नही कर सकता।

अय्यर ने यह तर्क दिया है कि यद्यपि मनुष्य मूल्य सम्बन्धी प्रश्नो पर तर्क करते हुए दिखाई देते हैं किन्तु ये तर्क अन्तिम रूप से मूल्यों के सम्बन्ध मे नही होते वरन् ये तथ्यो के सम्बन्ध मे होते है; जो असहमतिया तर्क के विषय है वे नैतिक मूल्यो के बारे में नही हो सकती। वे विश्वासो के बारे में होंगी। ये विश्वास एक स्थिति के तथ्यो से सम्बन्धित होते है। जब हम किसी व्यक्ति के मूल्यों के आधार को बदलना चाहते है तो इसका अर्थ यह होगा कि हम तथ्यो के सम्बन्ध मे तर्क करना चाहते है। हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि उस व्यक्ति ने एक विशेष स्थिति मे कुछ विशेषताओं की किस प्रकार अवहेलना की। व्यक्ति की नैतिक भावनाओं की अभिव्यक्तियों, गल्तियों को देखने की अपेक्षा हम उसके कार्यो के प्रेरक और उसके परिणामों का अध्ययन करेंगे। जब तक व्यक्ति या समूहो द्वारा, जो नैतिक या राजनैतिक सघर्षो मे रत है, इन सघर्षो को तथ्यो के विचार के रूप मे परिवर्तित नही कर दिया जाता उस समय तक इस प्रकार की असहमतिया के लिए कोई समाधान नही हो सकता है। नैतिक असहमतिया लोगों की इच्छाओं और उद्देश्यों की अभिव्यक्तिया होती हैं और इस रूप में इनका विश्लेषण करने के लिए एक नैतिक दार्शनिक की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्री और अर्थ शास्त्री की आवश्यकता है।

यदि दो व्यक्ति एक मामले के तथ्यो पर सहमत नही है और जब वे सहमति को ओर आगे बढते हैं तो भी उनके नैतिक दृष्टिकोण अलग-अलग हो सकते है और कोई भी नैतिक तर्क इस सहमति को दूर नही करेगा।

अय्यर ने इस बात पर जोर दिया है कि हमारे जिस विरोधी की नैतिक परिस्थितियाँ हमसे भिन्न है वह किसी भी विषय के तथ्यों के सम्बन्ध में हमसे सहमत नही हो सकता है किन्तु फिर भी उनके नैतिक महत्व के सम्बन्ध में हमेशा असहमत बना रहेगा। नैतिक दृष्टिकोणों में असहमति रखने वाले दो व्यक्ति भिन्न-भिन्न मूल्यों की व्यवस्था पर आधारित रहते है और उनमें से कोई भी व्यक्ति दूसरे के सामने यह सिद्ध नहीं कर सकता कि मूल्यों की उसकी व्यवस्था उच्चतर है।

स्टीवेन्सन और अय्यर जैसे तार्किक सकारात्मकवादियों को नैतिक दृष्टि से सापेक्षतावादी कहा जाए अथवा नही यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है—इस प्रश्न का कोई आसान उत्तर सरलता के साथ नहीं दिया जा सकता। यह सब इस बात पर आधारित है कि हम सापेक्षतावाद का क्या अर्थ लेते है। यदि सापेक्षतावादी को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में परिभाषित किया जाता है जो कि नित्य मूल्यों (Eternal Value) के अस्तित्व में विश्वास नही करता है तो इन दोनों विचारकों को सापेक्षतावादी कहा जा सकता है। इसी प्रकार यदि सापेक्षतावाद का अर्थ उस दृष्टिकोण से लगाया जाए जिसके द्वारा कि यह मानने से इन्कार कर दिया जाता है कि अन्तिम नैतिक मापदण्ड सार्वभौमिक सिद्धि के विषय है और विभिन्न लोगों द्वारा उनको मान्यता दी जा सकती है तो भी यह विचारक सापेक्षतावादी है। दूसरी ओर यदि हम सापेक्षता का अर्थ एक ऐसे व्यक्ति से लेते हैं जो हमारे ज्ञान और हमारे नैतिक दृष्टिकोणों के बीच अनुभववादी सम्बन्ध को अस्वीकार करते है तो हम अय्यर और स्टीवेन्सन को सापेक्षतावादी नही कह सकते, क्योंकि इनके मतानुसार हम नैतिक झगड़ों को प्राय तथ्यों पर जोर देकर सुलझा सकते है। वे केवल तभी सापेक्षतावादी है जबकि सापेक्षतावाद एक ऐसा सिद्धान्त बन जाए जिसमें हमारे नैतिक निर्णय चीजों के स्वतन्त्र या वस्तुगत गुणों को प्रतिवेदित न कर सकें। निश्चय ही अय्यर और स्टीवेन्सन ने स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार किया है कि कोई विशेष या विशेषाधिकार पूर्ण मूल्य सम्बन्धी तथ्य होते हैं जिनको नैतिक व्यक्ति द्वारा खोजा जा सकता है।

इस प्रकार इस शताब्दी में ज्ञानवादियों (Cognitivist) की नीति शास्त्र और नैतिक सिद्धान्त में स्थिति ऐसी बन गई जिसका आलोचनात्मक विश्लेषण किया जाता है। अनेक विचारकों को इस बात में सन्देह होने लगा है कि मूल्य वस्तु और घटनाओं के वस्तुगत गुण है और इस प्रकार सही या गलत उचित या अनुचित व्याख्या के विषय हैं। यदि यही स्पष्ट नहीं है तो ऐसा कोई प्रमाण प्रस्तुत नही किया जा सकता जो मूल्यों को वस्तुगत

सिद्ध कर सके । जो लोग नैतिक निर्णयों को कुछ व्यक्तियों, समय अथवा स्थान के प्रति सापेक्षित नही मानते वे भी मूल्यो को वस्तुगत मानने को तैयार नहीं है ।

मूल्य सम्बन्धी निर्णयो को एक सम्भावित प्रकार के ज्ञान का प्रतिनिधि मानने के लिए एक व्यक्ति को पूर्णतावादियो की स्थिति अपनाने की आवश्यकता नही है । क्योंकि पूर्णतावादी ज्ञातव्य मूल्यों को नित्य या अटूट मानते है । इसके लिए केवल परिस्थितिगत वस्तुगतवाद की स्थिति को अपनाना ही पर्याप्त होगा । इस स्थिति को कभी-कभी वस्तुगत सापेक्षतावाद भी कह दिया जाता है । ऐसा कहने वाले यह मानते है कि विशेष परिस्थितियों में मूल्य वस्तुगत होते हैं और इन परिस्थितियो को वदला जा सकता है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि मूल्यो का वस्तुगत होना एक परिस्थिति से सम्बन्ध रखता है । ऐसे मूल्यो को समझने के लिए उस परिस्थिति को समझना होगा । इस प्रकार मूल्यों को प्रसङ्गवश जानने योग्य चीज बना दिया जायेगा । जब इस परिस्थिति को राजनीति मे लागू करते है तो इसका अर्थ होगा कि यदि व्यक्तियो के बीच मे किन्ही मसलो पर गम्भीर मतभेद पाया जाये तो उन परिस्थितियों की खोज की जानी चाहिए जिनमे वे असहमति रखते है । स्टीवेन्सन का मत था कि लोगो के भिन्न मूल्यांकन विश्वासो मे उनके मूल मतभेदो को अभिव्यक्त करते है । लोगो के बीच असहमति इस विषय पर भी हो सकती है कि कुछ नीतियां या प्रक्रियायें अपनाने पर तथ्य क्या होंगे । स्थितिवादी वस्तुगतवादी विचारक इस मत को अस्वीकार करते है क्योंकि इसमें स्थिति को महत्व प्रदान नही किया गया ।

सामाजिक और राजनैतिक मूल्यांकन
(Social and Political Appraisals)

प्रो० टी० डी० वेलडन (T D Weldon) ने इस मत का विरोध किया है कि राजनैतिक सन्देहवाद और विषयगततावाद इस अस्वीकृति से पैदा होते हैं कि राजनैतिक निर्णय उनके व्यक्तियों, घटनाओ एव सस्थाओ के सम्बन्ध मे राजनैतिक निर्णयो को कहावतपूर्ण सिद्धांतो से निकाला जा सकता है। राजनैतिक निर्णयों को ज्ञान की दृष्टि से पूर्ण न मानने का अर्थ यह नही होता कि वे स्वेच्छाचारी और वुद्धिविहीन होते है । जब हम विषयगतता शब्द का प्रयोग नैतिक या राजनैतिक सिद्धान्त शास्त्रियों के दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में करते हैं तो पाते हैं कि उन्होंने यह माना था कि जब तक व्यक्ति पूर्ण रूप से नही जान लेता है उस समय तक उसे नीति शास्त्र और राजनीति के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सकता । राजनीति शास्त्र मे ऐसे मापदण्डों की माग करना जो पूर्ण होने की दृष्टि से वस्तुगत हो, एक

मांग है, इसके लिए मापदण्ड मे उतनी ही निश्चितता होनी जरूरी है जितनी कि भौतिक उद्देश्यो को मापने के लिए जरूरी होती है। नैतिक और राजनैतिक निर्णय व्यक्तियो, नीतियो और सस्थाओ के मूल्याकन होते हैं और इसलिए न तो पूर्ण हो सकते हैं और न ही विषयगत ही किन्तु प्रायः अनुभववादी प्रमाणों पर आधारित होते है। वेल्डन का मत था कि राजनैतिक मूल्याकन प्रमाणो पर आश्रित किया जा सकता हैं यह बुरा और भला दोनो प्रकार का हो सकता है। इन मूल्याकनों को सही या गलत रूप मे प्रदर्शित करना अत्यन्त कठिन है।

जब हम यह कहते है कि कोई 'व्यक्ति कार्य के लिए योग्य है या एक विशेष नीति वाछनीय है या एक राजनैतिक सस्था ठीक प्रकार कार्य करती है तो हम एक प्रकार से ऐसा मूल्यांकन देते है जिसके सम्बन्ध मे तर्क भी दिया जा सकता है। बिना तर्क दिये हो यह कहना गलत होगा कि "मैं इस कार्य के लिये इस व्यक्ति को पसन्द करता हूं या इस नीति को पसन्द करता हू या इस सस्था को प्राथमिकता देता हू।" इसका अर्थ यह भी नहीं होता कि मूल्याकनकर्ता व्यक्तियो, नीतियों या संस्थाओं का वर्णन वस्तुगत रूप से ही करेगा। ये मूल्यांकन न तो गुणो की साहित्यिक व्याख्यायें होती हैं और न ही व्यक्तिगत प्राथमिकताओं की विषयगत अभिव्यक्तियां होती है। ये कुछ विशेष प्रकार के निर्णय होते हैं जो कि प्रसगवश लिये जाते है जो कारण एवं प्रमाणों पर आधारित होते है किन्तु असहमति की स्थिति मे ये असहमतिया पूर्ण रूप से प्रभावशाली नही होती।

उदाहरण के लिये यदि एक विशेष समाज के सामने यह प्रश्न है कि क्या सार्वजनिक धन के आधार पर निर्मित एक अस्पताल वहा वाछनीय है? इस प्रश्न के समाधान के लिए पहला जो कार्य करना होगा यह तथ्यो से सम्बन्धित है। यह देखना होगा कि यदि नागरिक चाहे तो क्या अस्पताल को बनवाया जा सकता है। नागरिकों की प्राथमिकताओं का सर्वेक्षण किया जायेगा। यदि अस्पताल बनवाने का निर्णय ले लिया गया तो हमारे सामने अनेक प्रश्न उठ खड़े होंगे। यह देखना पड़ेगा कि क्या करो की वर्तमान स्थिति इस निर्णय को साकार होने देगी अथवा नही। यदि धन कम है तो क्या कर लगाये जा सकते है? क्या पर्याप्त नर्स रखी जा सकती हैं? क्या सामग्री खरीदी जा सकती है? क्या अस्पताल का यह भवन अन्य नियोजित लक्ष्यों में हस्तक्षेप करेगा? इन विभिन्न प्रश्नों पर विचार करने के लिये विशेषज्ञ भी नियुक्त किये जा सकते हैं। ये विशेषज्ञ इस परिकल्पना के आधार पर कार्य करते हैं कि यदि नागरिक इस अस्पताल को चाहते हैं तो इसकी

अन्य शर्तें भी पूरी की जानी चाहिये किन्तु मान लीजिये यदि इस सम्बन्ध में नागरिक ही एक मत नही है—कुछ तो कहते है कि इस प्रकार का अस्पताल वांछनीय है जबकि दूसरे कहते है कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है तो क्या होगा। क्या इस विरोध को मिटाने के लिए बौद्धिक वर्ग सफलतापूर्वक कार्य कर सकते है। विचारको का मत है कि दोनों ही पक्ष अपने-अपने तर्क दे सकते है और इनमे एक पक्ष के तर्को को अधिक उल्लेखनीय माना जा सकता है, यद्यपि इस बात की गारंटी नही है कि ऐसा होगा और यदि होगा भी तो किस पक्ष की विजय होगी। यदि पक्ष और विपक्ष मे तर्क दिये जाने के बाद भी जनता का दृष्टिकोण स्पष्टतः विभाजित रहे तो कोई अन्य तरीका तलाश किया जायेगा। नागरिको के बीच का अन्तर कुछ इस प्रकार भी हो सकता है कि एक पक्ष के लोग किसी निर्णय पर पहुँचे और दूसरे नागरिक अपने मौलिक विश्वास के आधार पर मत बनाये।

तथ्यो एव मूल्यों को परस्पर सम्बन्धित मानने वाले बीसवी शताब्दी के अन्य दार्शनिक जान डीवे (John Devey) है। इनके सामाजिक और राजनैतिक दर्शन मे यह माना गया है कि कुछ परिस्थितियो मे बुद्धिमान व्यक्ति मूल्य सम्बन्धी समस्याओ को वैज्ञानिक ढंग से ले सकते हैं। डीवे का सुझाव है कि की गई घोषणाओ मे प्रसगवश कुछ प्रस्ताव भी आ सकते है और तभी वे स्पष्ट हो सकती है। उदाहरण के लिए 'सहायता' एक ऐसा शब्द है जो अपने आप में न सच्चा है और न झूठा है क्योकि वह स्वयं की ओर से कुछ भी स्पष्ट नहीं करता। इसका अर्थ समझने के लिए हमे उसकी परिस्थितियो पर विचार करना होगा। यदि पानी में तैरता हुआ व्यक्ति सहायता-सहायता चिल्लाये तो इसका अर्थ कुछ और होगा। यदि सड़क पर भिक्षा का पात्र लेकर कोई व्यक्ति इस शब्द का प्रयोग करते हुए आगे बढ़े तो इसका कुछ अन्य अर्थ होगा। डीवे का यह दृष्टिकोण था कि यद्यपि तथ्यगत एव मूल्यात्मक कथन तार्किक रूप से भिन्न दिखाई देते हैं किन्तु सत्य यह है कि वे प्रायः और सम्भवतः हमेशा सम्बन्धित रहते है। ऐसी स्थिति में मूल्य सम्बन्धी कथनो की वैज्ञानिक एव सामान्य ज्ञान के आधार पर जांच की जाती है। इस दृष्टिकोण से मानवीय ज्ञान सामाजिक और राजनैतिक मूल्यों को साकार करने का मुख्य साधन है। इसके द्वारा वास्तविक दुनियां के मूल्य सम्बन्धी सघर्षों को मिटाया जा सकता है। डीवे का यह कहना था कि कभी-कभी मूल्यो के क्षेत्रों मे प्रयोगवाद असफल भी हो जाता है। बुद्धि के आधार पर महान सामाजिक और राजनैतिक उलझनों को पर्याप्त रूप से नही सुलझाया जा सकता, किन्तु इसका अर्थ यह होगा कि उसे छोड़ दिया वे लिखते हैं कि "जब मूल्य के सिद्धान्त कार्यो को निर्देशित करने वाले

कुछ निष्कर्ष
(Some Conclusions)

राजनीति में मूल्यों की समस्या विद्वानों की पर्याप्त रुचि का विषय बन गई है। व्यक्ति के वास्तविक कार्यों पर मूल्यों के सापेक्षतावाद का प्रभाव रहता है। इसे जानना अधिक सरल नहीं है। मूल्यों की वस्तुगतता में विश्वास के लिए प्रो० जिन्क (Zink) ने प्रयोगवादी उत्तर दिया। आलोचकों के मतानुसार यह वस्तुगतता कभी भी चुनौती का शिकार बना दी जा सकती है। कई बार वस्तुगतता भी सामाजिक और राजनैतिक जीवन में अनेक महान् सङ्कटों का कारण बन जाती है। कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि वह जिस पक्ष का समर्थन कर रहा है वह पक्ष वस्तुगत रूप से सही और निश्चित है और दूसरे व्यक्ति का पक्ष गलत है। इस प्रकार केवल वस्तुगतता के आधार पर हम मूल्य सम्बन्धी मतभेदों को नहीं मिटा सकते। यहां यह प्रश्न उल्लेखनीय बन जाता है कि क्या मूल्य की समस्या से सम्बन्धित दार्शनिक विचार-विमर्श को व्यावहारिक जीवन में महत्व प्रदान किया जा सकता है ? वर्तमान संसार में राजनीति और नीति शास्त्र में सापेक्षतावादी दृष्टिकोण पर्याप्त व्यापक है। यह बात बहुत कुछ तथ्यगत महत्व रखती है। इतने पर भी इतिहासकार, समाजशास्त्री और सामाजिक आलोचक इस सम्बन्ध में मतभेद रख सकते हैं कि क्या ऐसे तथ्य पूर्ण विषय के लिए कोई विश्वसनीय उत्तर प्राप्त नहीं किया जा सकता है जब कि एक बुद्धिपूर्ण सन्देह की छाया से परे कोई भी प्रमाण स्थापित करना कठिन है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि सापेक्षतावादी दृष्टिकोण व्यापक है और इसके समर्थन में प्रमाण दिए जायं तो भी इस प्रश्न पर विचारकों का मतभेद होगा कि यह एक अच्छी बात है या कि बुरी। अनेक सामाजिक और राजनैतिक विचारक यह तर्क देते हैं कि सापेक्षतावादी दृष्टिकोण अवांछनीय और कभी-कभी भयानक परिणाम उत्पन्न करता है। दूसरे विचारक ऐसा होना आवश्यक नहीं मानते। वे मानते हैं कि नैतिक और राजनैतिक सापेक्षतावाद इस शताब्दी में प्रभावशील है। एक अर्वाचीन दार्शनिक का तथ्यपूर्ण मसलों पर ऐतिहासिक निर्णय सत्य माना जायेगा। यदि किसी पाठक को इस शताब्दी में मूल्यों के स्तर का महत्व बताना है तो कहानी के रूप में एक प्रभावशील तर्क प्रदान करना होगा। राजनैतिक तथ्यों का सही रूप समझने के लिए यह समझना जरूरी होता है कि उनके पीछे कौन से मूल्य कार्य कर रहे हैं। उपर्युक्त मूल्यों के अभाव में किसी भी तथ्य का अध्ययन तो किया जा सकता है किन्तु उसकी व्यापक रूप से जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती। राजनैतिक सहमति के लिए अन्तिम मूल्यों के सम्बन्ध में सहमति का होना परम आवश्यक है। जब तक एक समाज के कुछ सामान्य मूल्य नहीं होते उस समय तक उसके अस्तित्व के लिए लगातार खतरा बना रहता है।

में विचारों एवं विश्वासों की रचना करने के लिए कोई बौद्धिक सहायता प्रदान न करे तो दूरी को अन्य साधनों के द्वारा भरा जाना चाहिए। यदि बुद्धिवादी तरीके का अभाव है, तो दुराग्रह तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव, स्वहित और वर्गहित, परम्परागत रीति रिवाज एवं आकस्मिक ऐतिहासिक संस्थाओं आदि का अभाव तो नहीं होता और इसलिये ये सब बुद्धि का स्थान ले सकती है।"

अनेक विद्वान तथ्यों एवं मूल्यों के बीच स्पष्ट अन्तर बताते हैं किन्तु जान डीवे ने इस मत को अस्वीकार किया है तथा माना है कि बुद्धि का कार्य निर्देशन करना है। डीवे यह मानते थे कि तथ्य और व्यक्ति जो चाहते हैं वह चीजों को वांछनीय सिद्ध करने के लिये अपर्याप्त होता है। अपने दार्शनिक आलोचकों के प्रति सजग होते हुए भी डीवे ने यह तर्क दिया कि मूल्य के सम्बन्ध में संगतिपूर्ण निर्णय हो सकते है,

प्रयोगवाद
(Experimentalism)

जॉन डीवे के दर्शन को सामाजिक और राजनैतिक कार्यों में प्रयोगवाद कहा जाता है। सम्भवतः डीवे ने एक समाज के जटिल मूल्यवाद से सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए वैज्ञानिक प्रणाली की उपयोगिता बताने में अत्यधिक जोर दिया है। डीवे ने साधन और साध्य के मध्य स्थित पूर्ण भेद का विरोध किया है किन्तु यह एक वास्तविक तथ्य है कि एक लक्ष्य तक किस प्रकार पहुंच जाय—यह जानना और उस उद्देश्य को न्यायोचित ठहराना दो अलग-अलग बातें हैं। प्रयोग प्राय. मर्यादित प्रसङ्ग में ही होते है। इसका एक भाग निर्धारित सिद्धांत होता है प्रत्येक बात पर एक साथ प्रश्न नहीं किया जाता। जब एक बार यह मान लिया जाता है कि कोई विशेष काम उपयुक्त है तो उस विशेष कार्य की प्रगति एवं प्राप्ति के लिए सचालित विभिन्न नीतियों के सम्बन्ध में प्रयोग किए जाते है किन्तु एक समाज यदि आंशिक सहमति नहीं रखता अर्थात् कुछ मूल्यों के साथ उसकी सहमति नहीं है तो किसी प्रकार का प्रयोगवाद इसके सदस्यों को यह नहीं बता सकता कि उपयुक्त क्या है।

जॉन डीवे का दर्शन उन मूल्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से उपयोगी है जिनके बारे में पहले से ही सहमति प्राप्त हो चुकी है। यह एक जानने योग्य बात है कि क्या विज्ञान व्यक्ति को वांछनीय मूल्यों की शिक्षा दे सकता है, यद्यपि यह उन मूल्यों की प्राप्ति में तो सहायता कर सकता है। मूल्यों को पहले समाज द्वारा स्वीकार किया जाय, केवल उसके बाद ही इनकी उपयोगिता का प्रश्न उठता है। यदि एक व्यक्ति मूल्यों के सम्बन्ध में अनभिज्ञ है और यह नहीं जानता कि किस मूल्य को प्राप्त किया जाए तो नैतिक प्रयोग का कोई अर्थ नहीं होगा।

कुछ निष्कर्ष
(Some Conclusions)

राजनीति मे मूल्यो की समस्या विद्वानो की पर्याप्त रुचि का विषय बन गई है। व्यक्ति के वास्तविक कार्यो पर मूल्यो के सापेक्षतावाद का प्रभाव रहता है। इसे जानना अधिक सरल नही है। मूल्यों की वस्तुगतता मे विश्वास के लिए प्रो० जिन्क (Zink) ने प्रयोगवादी उत्तर दिया। आलोचकों के मतानुसार यह वस्तुगतता कभी भी चुनौती का शिकार बना दी जा सकती है। कई बार वस्तुगतता भी सामाजिक और राजनैतिक जीवन में अनेक महान् सङ्कटो का कारण बन जाती है। कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि वह जिस पक्ष का समर्थन कर रहा है वह पक्ष वस्तुगत रूप से सही और निश्चित है और दूसरे व्यक्ति का पक्ष गलत है। इस प्रकार केवल वस्तुगतता के आधार पर हम मूल्य सम्बन्धी मतभेदों को नही मिटा सकते। यहा यह प्रश्न उल्लेखनीय बन जाता है कि क्या मूल्य की समस्या से सम्बन्धित दार्शनिक विचार-विमर्श को व्यावहारिक जीवन में महत्व प्रदान किया जा सकता है? वर्तमान संसार मे राजनीति और नीति शास्त्र मे सापेक्षतावादी दृष्टिकोण पर्याप्त व्यापक है। यह बात बहुत कुछ तथ्यगत महत्व रखती है। इतने पर भी इतिहासकार, समाजशास्त्री और सामाजिक आलोचक इस सम्बन्ध मे मतभेद रख सकते है कि क्या ऐसे तथ्य पूर्ण विषय के लिए कोई विश्वसनीय उत्तर प्राप्त नही किया जा सकता है जब कि एक बुद्धिपूर्ण सन्देह की छाया से परे कोई भी प्रमाण स्थापित करना कठिन है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि सापेक्षतावादी दृष्टिकोण व्यापक है और इसके समर्थन मे प्रमाण दिए जायं तो भी इस प्रश्न पर विचारकों का मतभेद होगा कि यह एक अच्छी बात है या कि बुरी। अनेक सामाजिक और राजनैतिक विचारक यह तर्क देते हैं कि सापेक्षतावादी दृष्टिकोण अवांछनीय और कभी-कभी भयानक परिणाम उत्पन्न करता है। दूसरे विचारक ऐसा होना आवश्यक नहीं मानते। वे मानते है कि नैतिक और राजनैतिक सापेक्षतावाद इस शताब्दी मे प्रभावशील है। एक अर्वाचीन दार्शनिक का तथ्यपूर्ण मसलों पर ऐतिहासिक निर्णय सत्य माना जायेगा। यदि किसी पाठक को इस शताब्दी मे मूल्यों के स्तर का महत्व बताना है तो कहानी के रूप में एक प्रभावशील तर्क प्रदान करना होगा। राजनैतिक तथ्यों का सही रूप समझने के लिए यह समझना जरूरी होना है कि उनके पीछे कौन से मूल्य कार्य कर रहे है। उपयुक्त मूल्यो के अभाव मे किसी भी तथ्य का अध्ययन तो किया जा सकता है किन्तु उसकी व्यापक रूप से जानकारी प्राप्त नही की जा सकती। राजनैतिक सहमति के लिए अन्तिम मूल्यो के सम्बन्ध मे सहमति का होना परम आवश्यक है। जब तक एक समाज के कुछ सामान्य मूल्य नही होते उस समय तक उसके अस्तित्व के लिए लगातार खतरा बना रहता है।

১০

राजनैतिक व्यक्ति केवल राजनैतिक ही नहीं होता; उसके जीवन के अन्य अनेक पहलू भी होते हैं और जब तक इन विभिन्न पहलुओं पर विचार-विमर्श नहीं किया जाएगा उस समय तक राजनैतिक व्यक्ति की सही तस्वीर हमारे सामने नहीं आ सकती। विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति के विश्वास उसकी विचारधारा की रचना करते हैं। वर्तमान समय में विचारधाराओं पर जो अत्यधिक जोर दिया जाने लगा है उससे यह अभिव्यक्त होता है कि मनुष्य के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि विशेष स्थान और समय में स्थित ऐतिहासिक तथा सामाजिक स्थितियों का व्यापक ज्ञान प्राप्त किया जाए। सम्भवतः सामाजिक विज्ञानों की लोकप्रियता बढ़ने के पीछे भी यही कारण रहा है कि इनके द्वारा व्यक्ति की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों को पर्याप्त महत्व दिया जाने लगा है। आज व्यक्तिवाद अतीत की कहानी बन गया है और उसके स्थान पर मानवीय व्यवहार का दृष्टिकोण प्रभावशील बनता जा रहा है।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि समाज के ज्ञान की खोज ने कभी-कभी दार्शनिक क्रियाओं को भी प्रभावित किया है। इसके प्रभाव स्वरूप निराधार कल्पनाओं और प्रमाणहीन विचारधाराओं द्वारा व्यावहारिक ज्ञान पर अधिक जोर डाला जाने लगा है। अनुभूतियों की अपेक्षा कार्य को अधिक केन्द्रीय माना जाने लगा है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक विज्ञान की सफलता ने विद्वानों को इसके लिए प्रेरित किया है कि वे सामाजिक वातावरण के अपने अध्ययन को वैज्ञानिक स्तर प्रदान करें और सामाजिक तथा राजनैतिक दर्शन के स्थान पर सामाजिक विज्ञान की स्थापना करें।

वर्तमान समय में राजनैतिक कार्यों का जो वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है, उसके द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि एक समूह के लोग अनेक मसलों पर किस प्रकार एक जैसा मत रख सकते है। समूह के विभिन्न लोगों का मत मिलकर एक तरीके की रचना करता है। ये मत विचारकों की एक शृंखला बनाते हैं जिनमें विचार एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। विचारों की ये शृंखलायें एक समूह के सदस्यों के कार्यों को प्रभावित करती है। विचारों के इस समूह को विद्वानों ने विचारधारा (Ideology) का नाम दिया है। "एक विचारधारा सोचने का मूर्त तरीका होता है और यह एक सामाजिक समूह को दूसरे से पृथक करता है।" प्रो० लुई वर्थ (Louis Wirth) ने विचारधाराओं को परिभाषित करते हुए बताया कि "ये विचारों के ऐसे मिश्रण होते हैं जो क्रिया की स्थित व्यवस्था की रचना की ओर निर्देशित करते है।"[1] कभी-कभी सामाजिक व्यवहारों में योगदान करने वाले लोग पूरी

1. Karl Mannheim, Ideology and Utopia, 1951, p. xxiii.

कि किस विचारधारा का वे अनुगमन करेंगे। यद्यपि यह निर्णय उनके द्वारा वस्तुगत रूप से नही लिया जाता और न ही निर्णय लेने के बाद वे अपने चयन को वस्तुगत एव सामान्य रूप से सर्वोच्च सिद्ध कर सकते है। यदि मूल्याकन अन्तिम रूप से स्थित विचारधाराओ की अभिव्यक्ति मात्र ही हैं तो उनके द्वारा प्रभावशील हितो का प्रतिनिधित्व किया जायेगा। विभिन्न रुचियों को बौद्धिक रूप से न्यायोचित ठहराने का विषय नही बनाया जा सकता। इस दृष्टि मे प्रजातन्त्र को बौद्धिक रूप मे साम्यवाद अथवा फासीवाद से सर्वोच्च नही ठहराया जा सकता। अध्ययन के आधार पर यह देखा जा सकता है कि प्रजातन्त्र साम्यवाद और फासीवाद के द्वारा सामाजिक या राजनैतिक जीवन को कुछ परिणामों को कैसे उत्पन्न किया जाता है। इन परिणामों को देखकर ही किसी व्यवस्था को अपनाया जायेगा।

विज्ञान के द्वारा मूल्यो के सम्बन्ध में तथ्यगत ज्ञान पैदा करने मे सहायता प्रदान की जा सकती है किन्तु न तो यह मूल्यों को बना सकता है और न ही मूल्यो को न्यायोचित ठहरा सकता है। यह दृष्टिकोण पूर्णतः दोष मुक्त नही है। आज का विद्यार्थी इस स्थिति मे है कि वह विभिन्न सस्कृतियो के ज्ञान की भाति रहन-सहन के विभिन्न तरीको का भी ज्ञान प्राप्त कर सके। प्रश्न यह उठता है कि केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना कितना उपयोगी रहेगा, क्योंकि जब तक हम ज्ञान किये गये रूपों की तुलनात्मक उपयोगिता का पता न लगा सके उस समय तक हमारा यह ज्ञान किस रूप मे उपयोगी हो सकता है? जीवन का कौनसा तरीका श्रेष्ठ है, इसे जानने की चेष्टा यदि हम वैज्ञानिक तरीके पर करेंगे तो पायेंगे कि इन सभी का स्तर समान है। विज्ञान के द्वारा प्रतिद्वन्द्विता पूर्ण जीवन के विभिन्न तरीको की बुद्धिपूर्ण तुलना करने में सहायता देने की अपेक्षा भ्रम उत्पन्न किया जायेगा क्योकि यह केवल व्यक्ति की उत्सुकता को जाग्रत कर सकता है। जब व्यक्ति यह देखेगा कि रहन-सहन के उसके तरीके के अतिरिक्त अन्य बहुत से ऐसे तरीके है जो कई अर्थों मे उससे विरोध भी रखते है तो वह निर्णय नही ले पायेगा कि कौन अधिक मूल्यवान है। इस प्रकार ज्ञान हमको विचारधारा को समझने मे अधिक सहायता नही करता।

इस मत के विपरीत कुछ अन्य आलोचक है जिनके मतानुसार ज्ञान और विचार परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, उनका कहना है कि स्वयं ज्ञान भी सामाजिक रूप से निर्धारित होता है। उनका यह कथन कोई निश्चित अर्थ नही रखता। इसका एक अर्थ तो यह हो सकता है कि जिन परिस्थितियों मे किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया जाता है वे स्वयं

तरह से यह सोचे बिना ही यह कार्य करते हैं कि उन्हें यह कार्य क्यों करना चाहिए। उनके कार्यों में जो मूल्य एवं लक्ष्य अभिव्यक्त होते है वे चारों ओर व्याप्त वायु की तरह सामाजिक वातावरण की रचना करते हैं। कार्ल मानहीम ने अधिकाश राजनैतिक प्रक्रियाओं की विचारधारागत प्रकृति को अभिव्यक्त करते हुए यह बताया है कि विचारधारा की मान्यता एक अनवेषण का प्रदर्शन करती है जो राजनैतिक संघर्ष से उत्पन्न होता है। यह संघर्ष वह है जिसमे शासन करने वाला समूह इतना स्वार्थी बन जाता है कि वह उन कुछ तथ्यों को नही देख पाता जो इसके शासन की क्षमता को महत्वहीन बना देते है।

विचारधारा और ज्ञान
(Ideology and Knowledge)

विचारधारा की रचना का आधार वस्तुस्थिति का ज्ञान होना है। कोई भी विचार चाहे वह सही हो अथवा न हो, उसका परिणाम महत्वपूर्ण हो सकता है। अनेक बार असत्य विचार भी लोगों के व्यवहार को इतना प्रभावित करता है कि उसे सत्य से भी अधिक मानना होगा। राजनीति और समाज का वैज्ञानिक अध्ययन किसी भी विश्वास की सत्यता एव असत्यता के प्रश्न को नही उठाता क्योंकि यह अध्ययन केवल उन्हीं विचारो पर केन्द्रित रहता है जो समह के कार्यों को प्रभावित करते हुए दिखाई देते है। वर्तमान समय में दर्शन के प्रति विश्वास घटा है किन्तु फिर भी अनेक विचारक यह मानते है कि मूल्यों के सम्बन्ध मे व्यक्ति के विचार विषयगत ज्ञान का क्षेत्र न तो बनाते है और न बना सकते है। ऐसी स्थिति मे मानवीय मूल्यों का मूल्यांकन-कर्ता कोई भी विज्ञान सम्भव नही है। केवल वही विज्ञान उपयोगी माना जाता है जो विभिन्न प्रकार के लोगो का वर्णन करता है और उनकी तुलना करता है ज्ञान और विचारधारा का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी भी प्रकार का ज्ञान केवल कुछ मूर्त सामाजिक प्रसगों में ही प्राप्त किया जा सकता है इसलिए यह मानना होगा कि मानवीय ज्ञान अपरिहार्य सामाजिक आधार रखता है।

विज्ञान के द्वारा व्यक्ति को यह बताया जा सकता है कि उसको किस मूल्य को सबसे अधिक प्यार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जब कभी राजनैतिक तथा सामाजिक मूल्यांकन किये जाते है तो उनमें हमेशा एक विचार-धारा अभिव्यक्त होती है अर्थात् उन पर वर्ग, जाति, धर्म, धन आदि का प्रभाव पड़ता है। कहने का अर्थ यह है कि मानवीय मूल्यों का सम्बन्ध कार्य करने की अनुमति से सम्बन्धित है। इसको स्थित विचारधारा के सन्दर्भ में ही न्यायोचित ठहराया जा सकता है। व्यक्ति कभी कभी स्वयं यह निर्णय लेते हैं

कि किस विचारधारा का वे अनुगमन करेंगे। यद्यपि यह निर्णय उनके द्वारा वस्तुगत रूप से नहीं लिया जाता और न ही निर्णय लेने के बाद वे अपने चयन को वस्तुगत एवं सामान्य रूप से सर्वोच्च सिद्ध कर सकते है। यदि मूल्यांकन अन्तिम रूप से स्थित विचारधाराओं की अभिव्यक्ति मात्र ही है तो उनके द्वारा प्रभावशील हितों का प्रतिनिधित्व किया जायेगा। विभिन्न रुचियों को बौद्धिक रूप मे न्यायोचित ठहराने का विषय नहीं बनाया जा सकता। इस दृष्टि से प्रजातन्त्र को बौद्धिक रूप मे साम्यवाद अथवा फासीवाद से सर्वोच्च नही ठहराया जा सकता। अध्ययन के आधार पर यह देखा जा सकता है कि प्रजातन्त्र साम्यवाद और फासीवाद के द्वारा सामाजिक या राजनैतिक जीवन को कुछ परिणामों को कैसे उत्पन्न किया जाता है। इन परिणामों को देखकर ही किसी व्यवस्था को अपनाया जायेगा।

विज्ञान के द्वारा मूल्यो के सम्बन्ध मे तथ्यगत ज्ञान पैदा करने में सहायता प्रदान की जा सकती है किन्तु न तो यह मूल्यों को बना सकता है और न ही मूल्यों को न्यायोचित ठहरा सकता है। यह दृष्टिकोण पूर्णतः दोष मुक्त नही है। आज का विद्यार्थी इस स्थिति मे है कि वह विभिन्न संस्कृतियों के ज्ञान की भांति रहन-सहन के विभिन्न तरीको का भी ज्ञान प्राप्त कर सके। प्रश्न यह उठता है कि केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना कितना उपयोगी रहेगा, क्योंकि जब तक हम ज्ञान किये गये रूपो की तुलनात्मक उपयोगिता का पता न लगा सके उस समय तक हमारा यह ज्ञान किस रूप मे उपयोगी हो सकता है? जीवन का कौनसा तरीका श्रेष्ठ है, इसे जानने की चेष्टा यदि हम वैज्ञानिक तरीके पर करेंगे तो पायेंगे कि इन सभी का स्तर समान है। विज्ञान के द्वारा प्रतिद्वन्दिता पूर्ण जीवन के विभिन्न तरीको की बुद्धिपूर्ण तुलना करने में सहायता देने की अपेक्षा भ्रम उत्पन्न किया जायेगा क्योंकि यह केवल व्यक्ति की उत्सुकता को जागृत कर सकता है। जब व्यक्ति यह देखेगा कि रहन-सहन के उसके तरीके के अतिरिक्त अन्य बहुत से ऐसे तरीके है जो कई अर्थों मे उसमे विरोध भी रखते हैं तो वह निर्णय नही ले पायेगा कि कौन अधिक मूल्यवान है। इस प्रकार ज्ञान हमको विचारधारा को समझने मे अधिक सहायता नही करता।

इस मत के विपरीत कुछ अन्य आलोचक हैं जिनके मतानुसार ज्ञान और विचार परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, उनका कहना है कि स्वयं ज्ञान भी सामाजिक रूप से निर्धारित होता है। उनका यह कथन कोई निश्चित अर्थ नहीं रखता। इसका एक अर्थ तो यह हो सकता है कि जिन परिस्थितियों में किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया जाता है वे स्वयं

सामाजिक और राजनैतिक होती है अथवा दूसरे कि प्रत्येक मानवीय ज्ञान एक विचारधारा का आधार रखता है अर्थात् नीति शास्त्र, दर्शन शास्त्र, राजनीति शास्त्र और सम्भवतः विज्ञान भी उन बातों पर आधारित है जो कि अपरिहार्य विकृतियों से स्वतन्त्र नहीं है। अनेक समाजशास्त्री ज्ञान के समाज शास्त्र (Sociology of Knowledge) का अध्ययन करते हैं । ज्ञान और विशेष सामाजिक परिस्थितियों के मध्य स्थित सम्बन्धों का अध्ययन करने वाले विचारकों का यह विश्वास है कि एक रुचि-विहीन संस्कृति से विहीन विज्ञान सम्भव है । इतने पर भी ये विचारक मूल्य के निर्णयों में सामाजिक तत्वों को महत्वपूर्ण मानते हैं। जब मूल्य निर्धारित होते हैं तो उन पर सामाजिक तत्वों का पर्याप्त प्रभाव पडता है। वे इस बात में सन्देह करते हैं कि एक शुभ सुन्दर और सत्य के सम्बन्ध में मतभेद अन्तिम रूप से विचारधारागत होता है जबकि विज्ञान में ये मतभेद विचारधारागत नहीं होते।

ज्ञान के समाजशास्त्री इस बात पर जोर देते है कि सामाजिक एवं ऐतिहासिक स्थितियों में तथा खोजे गये ज्ञान के प्रकार को प्रभावित करने वाले विशेष हितों के बीच अटूट सम्बन्ध रहता है। इन विचारकों ने यह प्रदर्शित किया है कि कुछ प्रकार का ज्ञान उस समय तक असम्भव होगा जब तक आवश्यक सामाजिक परिस्थितियां पैदा न की जाये। कुछ समाज शास्त्री यह सुझाव देते हैं कि यदि ज्ञान को उस सामाजिक वातावरण से अलग किया जाए जिसमें कि यह प्राप्त किया गया है तो यह एक बड़ी गलती होगी। ज्ञान के समाज शास्त्र के इस मत को कई विचारकों ने चुनौती दी है। चुनौती देने वाले विचारक यह उदाहरण देते हैं कि मान लीजिए एक विशेष परिस्थितियों में एक वैज्ञानिक कैंसर का इलाज ढूंढना है तो सामाजिक परिस्थिति किस प्रकार उसके ज्ञान व अन्वेषण की क्षमता को प्रभावित करेंगी। प्रायः यह देखा गया है कि ज्ञान बहुधा विरोध में पैदा होता है, विरोधी परिस्थितिया ज्ञान की प्रेरणायें होती है और कभी कभी तो अन्धविश्वासों एवं कुरीतियों का विरोध करते हुए अन्वेषक को अपनी जान भी देनी पड़ जाती है। सामाजिक वातावरण ज्ञान की गति को घटाने-बढाने में प्रभाव अवश्य डालता है किन्तु यह प्रभाव कितना महत्वपूर्ण होगा यह सम्बन्धित व्यक्ति की रुचि एवं क्षमताओं पर निर्भर करता है। इस बात को यदि हम दूसरे प्रकार से कहें तो सम्भवतः कुछ सफलता प्राप्त हो सकती है। इसके अनुसार यदि हम यह कहें कि हमारा उद्देश्य हमेशा और हर कहीं अबौद्धिक तत्वों से प्रभावित होता है इसलिए ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है तो उपयुक्त रहेगा। वैसे इस कथन को भी हम बिना शर्त के स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि विचारधारायें प्रायः वही अर्थ रखती हैं जो कि सम्बन्धित व्यक्ति द्वारा उसका अर्थ लगाया जाता है।

ऐसा करते समय वह पक्षपात पूर्ण दृष्टिकोण अपनाता है। एक गैर साम्यवादी के द्वारा साम्यवाद का वस्तुगत वर्णन कभी नहीं किया जा सकता। स्वयं साम्यवादी भी ऐसा करने में असमर्थ रहेगा। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वर्णन में अन्तिम रूप से छिपा हुआ मूल्यांकन कार्य करता है। ऐसी स्थिति में मानवीय व्यवहार का वर्णनात्मक विज्ञान भी असम्भव बन जायेगा।

१९वीं शताब्दी में अनेक विचारकों ने यह प्रयास किया था कि समाज का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाए और इस प्रकार सामाजिक और राजनैतिक कार्य तथा विचारों में जो विकृत विचारधारागत पहलू होते हैं, उनसे मुक्ति प्राप्त की जाए। इन विचारकों में आगस्ट काम्टे तथा कार्ल मार्क्स का नाम उल्लेखनीय है। मि० स्टानले टेलर (Stanley Taylor) का कहना है कि "निश्चय ही मार्क्स का विश्वास था कि मानवीय अध्ययनों का वस्तुगत ज्ञान सम्भव है किन्तु यह केवल तभी हो सकता है जबकि सामाजिक रचना का विकृत प्रभाव पड़ने से रुक जाए अर्थात् जब वर्ग युद्ध समाप्त हो जाए।"[1] एच. बी. एक्टन (H. B. Acton) ने भी यह माना है कि "मार्क्स तथा ऐंजिल्स ने विचारधाराओं को भ्रामक विचारों की व्यवस्था माना है किन्तु उनका ऐसा करना तभी सही हो सकता है जबकि वे किसी ऐसी चीज से तुलना करें जो कि भ्रामक और असत्य नहीं है।"[2] कार्ल मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने ऐसी चीज विचारों की उस व्यवस्था को माना है जो कि व्यक्ति, उसके धर्म और उसके समाज से सम्बन्ध रखती है—यह भ्रामक नहीं होती तथा यह विचारधारा नहीं होती। वास्तविक जीवन में जहां विचारों की प्रक्रिया समाप्त होती है वहीं वास्तविक और सकारात्मक विज्ञान प्रारम्भ होता है।

मार्क्स के विचारों ने सामाजिक ज्ञान की वस्तुगतता में जो प्रश्न उठाये उनका आधार विचार-धाराओं से सम्बन्धित उनका मत नहीं था वरन् ऐतिहासिक प्रक्रिया की भौतिकवादी और निर्धारणवादी धारणा थी। यदि मार्क्स का यह मत सही मान लिया जाए कि एक वस्तुगत सामाजिक ज्ञान सम्भव है तो इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति अपनी विशेष स्थिति को ऐतिहासिक व्यवस्था में उपयुक्त बैठा सकता है।

1. Stanley Taylor, Conception of Institutions and the Theory of Knowledge, Q. 56, P. 91.
2. H. B. Acton, The Elusion of the Epoch, 1955, Page 127-128.

पृष्ठभूमिगत विश्लेषण
(Background Analysis)

वर्तमान युग की विचारधारायें अपना एक लम्बा इतिहास और पृष्ठभूमि रखती है। १६वीं शताब्दी मे विभिन्न प्रकार की अनेक विचारधाराओं ने जन्म लिया। यही कारण है कि इस शताब्दी को विचारधारा का युग (The Age of Ideology) कहा जाता है। इस युग मे व्यक्ति ने अध्यात्म-शास्त्रीय वस्तुगतता और पूर्ण ज्ञान के दार्शनिक दावों को अस्वीकार कर दिया। वे विज्ञान की ओर मुड़े, इस प्रकार मनुष्य के ऐतिहासिक ज्ञान में गहरी क्रांति हुई। डारविन ने जीव शास्त्रीय विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके अन्य सामाजिक विचारकों को मानवीय समाजों और संस्थाओं के विकासवादी अध्ययन की ओर प्रेरित किया। इसके परिणामस्वरूप एक विरोधपूर्ण या असंगतिपूर्ण भौतिक आन्दोलन ने जन्म लिया जिसे कि सामाजिक डारविनवाद कहा जाता है। इसके आन्दोलन की एक रूढ़िवादी शाखा थी जिस ने स्थित संस्थाओं को इसलिए न्यायोचित माना क्योंकि इनका अस्तित्व ही इस बात का प्रतीक था। इसकी दूसरी शाखा क्रान्तिकारी थी जिसने कि स्थित संस्थाओं को बुरा-भला कहा, क्योंकि ये विकासवाद की वर्तमान प्रवृतियों के विपरीत चली जाती हैं। इस सम्बन्ध में बहुत कम सन्देह है कि समाज और इतिहास के ये विकासवादी दृष्टिकोण कुछ सीमा तक हीगल तथा रूसो के सावयवी दर्शनों से प्रभावित थे। यह मान्यता कि समाज अपने अपरिवर्तनीय नियमों के द्वारा विकसित होते हैं तथा प्रगति करते हैं, इतनी अधिक प्रभावपूर्ण रही कि बहुत कम लोग ही इसकी सत्यता के सम्बन्ध मे प्रश्न कर पाए तथा इसकी आलोचना कर सके। इस विकासवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति के उदाहरण विधेयात्मकवाद (Positivism) और व्यवहारवाद (Pragmatism) के रूप मे दिये जा सकते है। प्रथम का समर्थन ऑगस्ट कोम्टे द्वारा किया गया और दूसरे की व्याख्या अमेरिकी दार्शनिक आन्दोलन मे की गयी, जिसके अनुसार यह बताया गया कि सत्य किस प्रकार किये गये कार्यों का कार्य परिणाम है तथा किस प्रकार दर्शन अन्तिम रूप से संस्कृति और सभ्यता का आलोचक है न कि नित्य और पूर्ण सत्य का अन्वेषक है।

कोम्टे ने जो स्थिति अपनाई उसमें उन्होंने तीन सोपानों के कानून (The Law of the three stages) का प्रतिपादन किया। कोम्टे का मूल विचार यह था कि व्यक्ति जब वास्तविकता को समझने का प्रयत्न करते हैं तो उनको कुछ मौलिक ऐतिहासिक स्थितियों में होकर गुजरना होता है। प्रथम स्थिति मे वातावरण को धार्मिक रूप से स्पष्ट किया जाता है, उसके बाद बुद्धि पर आधारित अध्यात्म-शास्त्रीय सोपान आता है। इस प्रकार के प्रयास असफल हो जाते हैं क्योंकि इनके द्वारा 'कैसे' की अपेक्षा 'क्यों' का उत्तर

दिया जाता है। कोम्टे ने एक तीसरे सोपान में भी विश्वास प्रकट किया है वह विधेयात्मक विज्ञान (Positive Science) का है। इसके परिणामस्वरूप एक ऐसा वैज्ञानिक समाज सामने आता है जो कि सामाजिक अस्तित्व और विकास के कानूनों की पूर्ण खोज पर आधारित है। अपनी शताब्दी पर काम्टे का उल्लेखनीय प्रभाव रहा। उनके विचार यद्यपि आज अवहेलना के विषय बन गये हैं किन्तु फिर भी वे एक आशावादी तथा बौद्धिक प्रयास को अभिव्यक्त करते है जिसके द्वारा सामाजिक ज्ञान के प्रकाश में अबौद्धिक शक्तियों को ज्ञात किया जा सके। काम्टे के विधेयात्मक ज्ञान से सम्बन्धित तेख इतिहास और समाज की प्रकृति से सम्बन्धित दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित थे।

दूसरी ओर अमेरिकी व्यवहारवाद ने इस विचार को चुनौती दी कि किसी भी प्रकार का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ये विचारक मौलिक सामाजिक कानूनों के ज्ञान को भी असम्भव मानते हैं। जॉन डीवे ने संस्कृति का दर्शन प्रस्तुत करने का प्रयास किया जिसमें कि विकासवादी मान्यताओं ने केन्द्रीय रूप से योगदान किया है। उन्होंने मानवीय बुद्धि को कार्यात्मक माना, यह हमेशा चुने हुए प्रसंगों में कार्य करती है। यह प्रमुख रूप से समस्या सुलझाने वाली समस्या है न कि कोई अरुचिपूर्ण साधन है जिसके द्वारा नित्य सत्यों को विषयगत रूप से जाना जाता है। फलतः मि० डीवे ने उस तरीके पर विशेष जोर दिया जिसमें कि मानवीय ज्ञान एक विशेष स्थिति में सचालित होता है। इसके उद्देश्य हमेशा व्यावहारिक और चुने हुए होते है और हमेशा से ही शुद्ध रूप से सैद्धान्तिक या अरुचिकर नही होते। ये व्यावहारवादी विचारक चाहे संगतिपूर्ण रहे हों या न रहे हो किन्तु इन्होंने दार्शनिक के विरुद्ध एक वैज्ञानिक ज्ञान की सम्भावनाओं पर जोर दिया जो कि परिस्थितिगत प्रसगों में मनुष्यों और घटनाओं मे सम्बन्ध रखता है। मार्क्स एवं उनके अनुयायियों की भाँति इन व्यवहारवादियों ने सस्थाओं के प्रभावों को तोड़ने-मरोड़ने के लिए अतीतकालीन बौद्धिक त्रुटियों के प्रति दोषारोपण किया।

सामाजिक वातावरण के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने के बाद इन विकासवादी अनुसंधानों ने परम्परागत सस्थाओं एवं रीति-रिवाजों के सम्मान को पूरी तरह से भुला दिया। जॉन डीवे ने लोगों से कहा कि वे अतीत के मृत हाथों से बचने के लिए बुद्धि का प्रयोग करे। वे मूल्यों को भावी आकांक्षाओं के प्रकाश में लायें न कि अतीतकालीन परम्पराओं के दृष्टिकोण से। डीवे के दर्शन ने परम्पराओं को आश्रय-विहीन बनाया तथा आज की आवश्यकताओं एव निरन्तर मांगों के आलोचनात्मक निर्णयों के सामने उन्हें झुकने को कहा। अतीतकालीन दर्शन को भी उन्होंने ऐसा ही समझा। अतीत की प्रशसा उन्होंने कभी नही की किन्तु भावी कठिनाईयों के विरुद्ध

तैयार होने के लिए इसका मूल्यांकन किया। प्रोफेसर जे० एच० रेन्डल के मतानुसार "उनका दृष्टिकोण एक रसायन-शास्त्री या जीव-शास्त्री से थोड़ा ही अन्तर रखता है। ये सभी समान रूप से मनुष्य की बौद्धिक उपलब्धियों के इतिहास को एक भण्डागार मानते हैं अथवा एक चेतावनी मात्र समझते हैं किन्तु इसे एक पैतृक भवन नहीं मानते हैं जिसमें कि रहा जावे।"

कुछ आलोचकों ने अपने अध्ययन में यह बताया है कि मार्क्स की भांति जॉन डीवे सामाजिक विकास के प्रति निर्धारित दृष्टिकोण एवं विकासवादी प्रगति को निर्देशित करने एवं बदलने के योग्य बुद्धि के आलोचनात्मक व्यवहारवादी संस्करण के बीच सम्बन्ध नहीं रख पाये। समस्या यह है कि डीवे के लिए बुद्धि अपने आप में विकासवादी वास्तविकता के अन्तर्गत ही एक तत्व होती है। फलतः यह सम्भव ही था कि जॉन डीवे इन मार्गों के सम्बन्ध में संतुलित दृष्टिकोण न अपना पाते जिनमें कि स्थापित संस्थायें स्वयं ही एक विशेष प्रकार की आजमायी हुई बौद्धिकता का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये संस्थायें अपने समय की आवश्यकताओं एवं समस्याओं का परिणाम थी जिनको सुलझाने के लिए ये अस्तित्व में आयी। डीवे ने ऐतिहासिक रूप से विकसित संस्थाओं पर दोषारोपण किया है कि ये पर्याप्त दोषों एवं मानवीय अन्वेषण की स्रोत हैं।

बेकन (*Bacon*) का यह विचार था कि वस्तुगत ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन था क्योंकि पर्यवेक्षण की गई वस्तु की व्याख्या एवं पर्यवेक्षण में व्यक्तिगत एवं सामाजिक परिवेश की अनेक बातें लाद दी जाती हैं। भाषा, जाति, वर्ग, धर्म, आदि अनेक बातें पर्यवेक्षण कर्ता के निष्कर्षों पर उल्लेखनीय प्रभाव रखती हैं। ऐसी स्थिति में वस्तुगत अध्ययन के लिए मूल्यों से स्वतन्त्र लक्ष्य होना चाहिए। मानवीय ज्ञान से विकृतियों को हटाने के लिए नई तस्वीर उभर आती है जिसमें कि ज्ञान केवल तभी प्राप्त हो सकता है जबकि मानवीय इच्छायें, मूल्य एवं अभिलाषायें अध्ययन के आधीन विषयवस्तु से बाहर रहें।

ज्ञान के समाज-शास्त्रियों ने ज्ञान के एक भाग के रूप में मानवीय इच्छाओं एवं भावनाओं को पुनः महत्व प्रदान कर दिया। इनका कहना था कि प्रत्येक समाज में एक ऐसा विज्ञान रहता है जो कि अपने क्षितिज में अनेक मूल्यात्मक तत्व रखता है। कान्ट की मान्यता थी कि मानवीय ज्ञान धारणात्मक श्रेणियों के सीमित सैट को मानकर चलता है। इसके द्वारा मानवीय ज्ञान की सीमाओं के रूप में कार्य किया जाता है। कान्ट ने मूल्यों को इन श्रेणियों से पूरी तरह बाहर रखा था। समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण वाले भी मानवीय ज्ञान पर सीमायें लगाते हैं। कान्ट की मान्यता एवं उसके विश्वासों

के बीच मुख्यत दो अन्तर है। प्रथम, सामाजिक विचारधारा सभी लोगों के लिए सामान्य हो, यह जरूरी नही है। इसके अतिरिक्त यह इतिहास के कालो मे परिवर्तित हो सकती है। दूसरे, सामाजिक विचारधारा मे कुछ मूल्य सम्बन्धी निर्णय होते हैं जो कि समाज के सदस्यो द्वारा किये गए मूल्याकन के लिए आधार का काम करते है। ये मूल्य एक वर्तमान समाज द्वारा प्रदत्त होते हैं।

विचारधारा पर बेन्थम और मार्क्स (Bentham and Marx on Ideology)

जेरेमी बेन्थम ने अंग्रेजी सामाजिक विचार को पर्याप्त प्रभावित किया। जब कार्लमार्क्स इगलैण्ड मे रहे तथा वहा अध्ययन किया तो वे इन विचारो से प्रभावित हुए। इन दोनो विचारको के बीच अनेक अन्तर हैं किन्तु कुछ समानताये भी है। दोनो ने ही प्राकृतिक अधिकारो के दार्शनिक दावो को बड़ी ही हीन दृष्टि से देखा। इन दावो को मूर्खतापूर्ण माना जिन्होने वास्तविक स्थिति को बदतर बनाने का प्रयास किया है। दोनो ही विचारक एक प्रकार से समाज का उपयुक्त विज्ञान पाना चाहते है। दोनो ने ही उस दर्शन की आलोचना की जो कि अपने ही लिए अन्वेषण मे लगी रहती है। मार्क्स और बेन्थम दूसरी वस्तुओ मे पर्याप्त अन्तर रखते थे। बेन्थम एक ऐसा मापदण्ड चाहते थे जिसका प्रयोग करके व्यवस्थापक मानवीय कल्याण को प्रभावित करने वाले सामान्य कानूनो की रचना कर सकें। दूसरी ओर मार्क्स ने सामाजिक और आर्थिक अन्याय पर भी ध्यान दिया और इसके कारण उनको यूरोपीय देशो की पुलिस से नफरत हो गयी। उन्होने व्यवस्थापिका सभाओ को पूंजीवादी अनैतिक लक्ष्यो के लिए एक साधन माना जो कि पूरी तरह से प्रभावित रहती है।

बेन्थम द्वारा विचारधाराओं का कोई व्यवस्थित सिद्धात पैदा नही किया गया। उन्होने इस तथ्य को पहचाना कि व्यक्ति प्रायः अपने सच्चे उद्देश्यो को अपने आप से भी छिपाते है। बेन्थम ने आठ प्रकार के मानवीय प्रेरको का उल्लेख किया। उनके मतानुसार लोग प्राय ऐसे लक्ष्यो को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं जिनके लिए ये प्रेरक महत्वपूर्ण होते हैं। व्यक्ति के कार्यो की मूल प्रेरणा सुख की प्राप्ति और दुख से छुटकारा पाना है लेकिन इस लक्ष्य को प्राय. प्रत्येक व्यक्ति घोषित नही कर पाता है, वह इस तथ्य को दूसरों से छिपाता है और यहां तक कि वह अपने आपको भी धोखा देता है। बेन्थम द्वारा प्रतिपादित यह मत सिगमण्ड फ्राइड (Sigmund Freud) से मिलता-जुलता है जो स्वयं भी इस बात को मानते थे कि व्यक्ति मे सच्चे उद्देश्यों को अपने आप से छिपाने की क्षमता होती है। लोग प्रायः खाने

पीने जैसी भौतिक इच्छाओं से प्रेरित होकर अथवा शक्ति की इच्छा से, आत्मरक्षा की इच्छा से, आराम की इच्छा से अथवा अन्य ऐसी ही इच्छाओं से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। सभी व्यक्ति प्राय इन्ही लक्ष्यो से प्रेरित होकर कार्य करते है किन्तु दूसरो के सामने तथा अपने सामने कुछ अलग तर्क देकर अपने व्यवहार को उचित सिद्ध करना चाहते हैं। ये तर्क उस नैतिक आचार सहिता के अनुकूल होते है जिसे कि समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है।

बेन्थम ने अनेक उदाहरण देकर यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि व्यक्ति किस प्रकार अपने सच्चे प्रेरकों को सचेतन रूप या अचेतन रूप से छिपाने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिए उन्होंने बताया है कि लोग प्राय: परदे का प्रयोग करते है। यद्यपि वे काम वासना से उत्पन्न सुख के लिए प्रयत्नशील रहते हैं तो भी वे अपने व्यवहार के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि इसकी प्रेरणा बच्चो का प्यार, भोजन का आनन्द, सौन्दर्य का प्रेम, शक्ति प्राप्त करने की इच्छा आदि है। वे अपनी इन इच्छाओं को देश-प्रेम के झंडे के नीचे भी खड़ा कर सकते है। वैसे बेन्थम ने यह दावा नही किया था कि लोग हमेशा से ही अपने सच्चे उद्देश्यो को दूसरो से या अपने आप से हमेशा ही छुपाते है, उनका कहना तो इतना था कि प्राय. ऐसा होता है। उनका विचार था कि उपयोगिता के सिद्धात पर कार्य करने वाला व्यक्ति अपने व्यवहार पर स्वयं सीमाये लगा देता है। वह अपनी प्रसन्नता की वृद्धि के लिए पडौसी की प्रसन्नता को बढ़ाने का प्रयास करता है। इस प्रकार बेन्थम ने मानवीय कार्यों के प्रेरको का मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिवादी विश्लेषण किया।

बेन्थम के विपरीत मार्क्स ने मानवीय कार्यों के पीछे सामाजिक एवं आर्थिक वर्गों के प्रभाव को शक्तिशाली माना। उनका कहना था कि पूंजीवादी मूल्यों एव आर्थिक आधारों के द्वारा व्यक्ति के व्यवहार को मर्यादित किया जाता है। मार्क्स ने तर्क दिया कि पूंजीवादी समाज मानवीय अस्तित्व के प्राय: प्रत्येक क्षेत्र मे विकृत मूल्यांकनों को जन्म देता है। धर्म, नीति-शास्त्र, नैतिकता, कला, कानून और बौद्धिक जीवन का प्रत्येक क्षेत्र इससे प्रभावित होता है। मार्क्स का विश्वास था कि अपरिहार्य क्रांति होगी और इसके द्वारा न केवल भौतिक वस्तुओं का न्यायोचित आर्थिक वितरण हो जायेगा वरन् एक वर्ग विहीन समाज की रचना होगी जिसमे कि मानव इतिहास मे पहली बार एक निस्वार्थ तथा निष्पक्ष कला, विज्ञान तथा सामाजिक मूल्यांकन जन्म लेगा। वर्ग विहीन समाज का मार्क्स का विचार बहुत कुछ अराजकतावादियों से मिलता है। जब पून्जीवाद का स्थान साम्यवाद ने लेगा तो एक विचारधारा का स्थान दूसरी विचारधारा ने लेगी। विचारधारा (Ideology) के सम्बन्ध में

मार्क्स के विचारों को देखने के बाद हम यह जान सकते है कि इन्होने विचारधारा को मानवीय ज्ञान की विकृति एव सामाजिक दुराग्रहो का एक संग्रह माना है जो कि बुद्धिपूर्ण समाज में नही रहेगा, समाप्त हो जायेगा ।

मार्क्स के मतानुसार इंग्लैंड का उपयोगितावाद स्थापित आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित था और इस प्रकार वह एक विचारधारा की रचना करता था । इतने पर भी मार्क्स का यह विश्वास था कि उपयोगितावाद पर्याप्त रूप से व्यक्तिवादी नही था क्योंकि इसका उपयोगितावादी मापदण्ड जो कि सभी के सुख पर जोर देता था वह सभी व्यक्तियो को सुख की दृष्टि से समान देखता था इसलिए वह व्यक्तिवादी न होकर समाजवादी था । राजनीति को समझने के लिए मार्क्स का आर्थिक दृष्टिकोण एव सिद्धान्त को व्यवहार से अलग करने से उनका मना करना अनेक राजनैतिक परिणामो का कारण बना क्योंकि इसके द्वारा उन अनेक जटिल परिस्थितियों की वास्तविक आलोचना की गयी जो कि यूरोपीय सभ्यता के लिए नयी थी । मार्क्स की रचनाओ ने एक प्रभावशील समाज शास्त्र को जन्म दिया जिसने कि दुनिया के सभी सामाजिक प्रजातन्त्रात्मक एव साम्यवादी आन्दोलनो को प्रभावित किया । जो आलोचक मार्क्स के क्रान्तिकारी सुझावो को अस्वीकार करते है वे भी यह मानते हैं कि आर्थिक एव राजनैतिक समस्याओ के उपचारकर्त्ता के रूप मे मार्क्स का नाम कुछ प्रमुख लोगो के साथ आता है ।

मार्क्सवाद वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाओं की कठोर आलोचना करता है । हीगल और नीत्से की भांति मार्क्स ने लोगो को यह पहचानने के लिए प्रभावित किया कि बुराइया उनकी सामाजिक व्यवस्था मे होती हैं जिनकी प्राय. वे अवहेलना करते हैं । मार्क्स ने समस्त राजनैतिक क्रियाओ को आर्थिक रूप से निर्धारित रूप-रचना की एक विशेषता बताया । उनके मतानुसार राजनैतिक शक्ति दूसरे वर्ग का दमन करने के लिए एक वर्ग की संगठित शक्ति है ।

मार्क्स ने राज्य और राजनैतिक शक्ति के सम्बन्ध मे जो विचार प्रकट किए उनमे कुछ सैद्धान्तिक धारणाए केन्द्रीय स्थान रखती है । उनमे प्रथम यह है—कि मार्क्स का विश्वास था कि यदि हम निष्पक्ष होकर वैज्ञानिक अध्ययन करें तो यह पायेंगे कि उत्पादन के आर्थिक तत्वों और पूर्ण मूल्यों के सामाजिक विश्वासों के बीच नीव और मूल भवन के अंगा सम्बन्ध है । यदि वैज्ञानिक अपने आपको पूंजीवादी दृष्टि के प्रभावों से विकृत होने से बचा ले तभी वे इसे जान सकेंगे । दूसरे, मार्क्स ने यूरोपीय समाज मे प्रत्येक जगह वर्ग का प्रभाव पाया और देखा कि हर चीज को पूंजीवादी मूल्यांकनों ने घेरा हुआ है । इसके फलस्वरूप दर्शन, विज्ञान और धर्म के वस्तुगत अध्ययन की

तत्काल कोई सम्भावना नहीं रही है। तीसरे, वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था एक सगठित साधन के रूप में कार्य करती है जिसके द्वारा आर्थिक शक्ति से सम्पन्न वर्ग अपने विशेष अधिकारों की रक्षा करता है।

चौथे, मार्क्स का यह निष्कर्ष था कि मानवीय मूल्यों की विकृति इतनी व्यापक हो चुकी है कि पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध हिंसात्मक क्रान्ति करके ही सत्य मूल्यों को पुनः एक बार स्थापित किया जा सकता है। पांचवें, मार्क्स का विचार था कि अन्त में साम्यवाद की पूंजीवाद पर आवश्यक रूप से विजय होगी। इसके लिए वर्ग-युद्ध होगा। इस विजय के हेतु कठोर रूप से सगठित श्रमिकों की राजनैतिक दल की आवश्यकता होगी जो कि प्रक्रिया को तेज बनाने के लिए आवश्यक है। मि० डीनिन्गर (Deininger) का कहना है कि मार्क्स ने अपनी नाव को प्रभावशील विचारधाराओं के विपरीत हवा में आगे बढ़ाया। उन्होंने विचारधारा का विरोध किया क्योंकि यह पूंजीवादी अर्थशास्त्र पर आधारित स्थापित मत के दमनकारी भार का प्रतिनिधित्व करती है। विचारधारा की मान्यता के अपने विश्लेषण में मार्क्स ने उन विचारों के साथ सहमति प्रकट की जो कि विचारधाराओं को ऐसे प्रवाह के साथ जोड़ दिया जाता है जिन्हें यदि समाप्त न किया जाए तो वे वस्तुगत मानवीय ज्ञान को असम्भव बना देते है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे कि आंख में गिरा हुआ एक तिनका साफ देखने को असम्भव बना देता है। विचारधारा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति इस बात के प्रति जागरूक हो सकता है कि उसके कुछ विश्वास हैं किन्तु वह उन विश्वासों को रखने के वास्तविक कारणों के प्रति अचेत हो सकता है। इस प्रकार उसकी चेतना एक झूठी चेतना होगी। उसकी चेतना असत में एक विशेष सस्थागत चेतना के मूल्यों की अभिव्यक्ति होती है। वह समय और स्थान से प्रभावित होती है। वह व्यक्तिगत सामर्थ्यों एवं विश्वासों की आधार नहीं होती।

मार्क्स के मतानुसार विचारधारा के विचारक सिद्धान्त एव व्यवहार दोनों दृष्टियों से गलत होते है। उनके कार्य कोई सत्य बुद्धि नहीं रखते और जिन सिद्धान्तों का वह पालन करते है वे अन्तिम रूप से असगतिपूर्ण होते है। इसके अतिरिक्त असत्य चेतना एक ऐसा रोग है जो कि सम्पूर्ण सामाजिक शरीर को प्रभावित करता है न कि उस समाज के किसी एक अङ्ग अथवा कार्य को। यह एक प्रकार से सस्थागत बीमारी कही जा सकती है। सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था विकृत रहती है। कानून, नैतिकता, धर्म, कला, दर्शन आदि और यहां तक कि विज्ञान भी पूंजीवादी प्रभाव से विकृत होते हैं। व्यक्तियों को बचाने के लिए हमें सम्पूर्ण समाज की रूप-रचना बदलनी होगी। दिसने

वाली बुराइयां तो केवल लक्षण मात्र हैं। इनका कारण तो कुछ और ही होता है और इसलिए यदि लक्षणों का उपचार करना है तो कारणों का निवारण करना होगा।

मार्क्स द्वारा प्रस्तावित विचारधारा का यह विश्लेषण एक ऐसे समाज की सम्भावना को सामने लाता है जिसमें कोई विचारधारा नहीं होगी। ऐसा केवल तभी हो सकता है जब कि उत्पादन के उन आर्थिक सम्बन्धों को हटा दिया जाए जो कि पूंजीवादी समाज में प्रभावशील हैं। इस प्रकार मार्क्स ने अपने विश्लेषण द्वारा वर्तमान व्यवस्था को महत्वहीन बनाने का प्रयत्न किया।

विचारधारा पर फासीवाद
(Fascism on Ideology)

मार्क्स ने वर्ग-विहीन समाज के सम्बन्ध में विश्वास प्रकट करते हुए विचारधाराओं का जो विश्लेषण किया, उससे अनेक लोग प्रभावित नहीं हो सके। इसमें अनेक लोग पूर्ण रूप से तत्त्वापलापवादी बन गए और सोचने लगे कि कोई वस्तुगत सत्य होता ही नहीं है और सभी मानवीय विश्वास अन्तिम रूप से उन मूल्यांकनों के संग्रह को अभिव्यक्त करते हैं जिनको बुद्धिपूर्ण रूप से न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। यह साधारण रूप से शक्ति के तथ्यों को स्पष्ट करता है। मार्क्सवाद से प्रभावित हो कर लोगों ने विचारधारा का विश्लेषण स्वयं के उपयोग के लिए प्रारम्भ कर दिया। बीसवीं शताब्दी में फासीवाद, नाजीवाद और ऐसे ही अनेक सिद्धान्त मार्क्सवाद के कुप्रभाव के परिणाम थे। इन राजनैतिक सिद्धान्तों ने यह माना कि केवल शक्ति के आधार पर ही सत्य और सही का पता लगाया जा सकता है। फासीवादियों ने मानवीय कार्यों को नियन्त्रित करने के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग किया। उन्होंने अनेक झूठी कल्पनाओं और जातीय विचारों का प्रतिपादन करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास किया। इन्होंने आज्ञाकारिता की मांग की और पुलिस तथा कानूनी व्यवस्था के माध्यम से पूर्ण नियन्त्रण किया। इन्होंने सार्वभौमिक व्यक्ति के सामने झुकने के लिए एक विशेष राज्य के सत्तावादी लक्ष्यों का आदर करने के लिए लोगों को प्रभावित किया।

जार्ज ओरवेल ने अधिकांश फासीवादियों द्वारा समर्थित पूर्ण नियन्त्रण की डरावनी तस्वीर को चित्रित किया। इन्होंने अपने उपन्यास १९८४ (Nineteen Eighty Four) में साम्यवादी व्यवस्थाओं के फासीवादी पहलुओं की आलोचना की तथा अन्य गैर-साम्यवादी फासीवादियों को भी आलोचना का विषय बनाया, किन्तु संदेह नहीं कि साम्यवादी शासकों ने अपनी प्रजा पर पूर्ण नियन्त्रण रखने का प्रयास किया। डोनिंगर का कहना

है कि "फासीवाद और साम्यवाद के सिद्धान्तों के बीच का अन्तर केवल लक्ष्यों का अन्तर है न कि तकनीकों का।" साम्यवादी विचारकों के द्वारा उस सम्भावित भावी राज्य की कल्पना की जाती है जिसमें कि किसी प्रकार का दमन नहीं होगा। दूसरी ओर फासीवादी विचारकों का विश्वास है कि शक्ति और अबौद्धिकता हमेशा बुद्धि और विज्ञान को नियन्त्रण में रखेगी। फासीवादी व्यवहार का रूप किसी भी राजनैतिक व्यवस्था में अपनाया जा सकता है।

प्रो० पीटर विरेक (Peter Viereck) ने फासीवाद के मॉडल को जर्मन नाजीवाद और जर्मनी मस्तिष्क की अर्वाचीन प्रवृत्तियों के साथ मिलाया है। सन् १९४१ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'Meta-Politics' में उन्होंने फासीवाद को जर्मनी के लोगों के इतिहास की विशेषता बताया। इस दृष्टिकोण से नाजीवाद केन्द्रीय यूरोप की शताब्दियों की सांस्कृतिक एवं बौद्धिक प्रवृत्तियों के स्वाभाविक परिणाम का प्रतिनिधित्व करता है। इसको कुछ महान् क्रान्तियों का परिणाम माना गया। १९वीं शताब्दी का जर्मनी का प्रकृतिवाद और धार्मिक सुधार आन्दोलन आदि ने इसे प्रभावित किया। जर्मनी के नाजीवाद का मूल कारण आर्थिक परिस्थितियां न हो कर विचार और विश्वास थे। मि० विरेक के मतानुसार जर्मनी का कल्पनावाद दुनिया के अन्य देशों और सभ्यताओं से भिन्न था। अपनी पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि नाजीवाद, बुद्धिवाद, संस्कृतिवाद और ईसाईमत आदि की परम्पराओं के विरुद्ध था। इसने बुद्धि के विरुद्ध शक्ति का पक्ष लिया।

विरेक के विश्लेषण की एक समस्या यह थी कि इसमें बीसवीं शताब्दी के जर्मनी में तीव्रगति के आर्थिक संकट को उत्पन्न किया। आलोचकों का कहना है कि विरेक का दृष्टिकोण कुछ अधिक विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। विरेक के विचारों से ऐसा प्रतीत होता है कि नाजीवाद को जर्मनी के इतिहास की धाराओं में स्वाभाविक रूप से फिट बैठाया जा सकता है। विरेक ने सम्भवतः यह भी माना था कि राजनैतिक क्रियाओं में विचारों के द्वारा महत्वपूर्ण योगदान किया जाता है। वे अपनी इस विचारधारा में अतिशयोक्ति करते हैं कि विचारों एवं विश्वासों के द्वारा जनता के दृष्टिकोणों को एक रूप प्रदान करने में सहायता दी जाती है। किन्तु वे अपने आप ऐसी परिस्थितियां पैदा नहीं कर सकते जिनमें कि वे दृष्टिकोण उत्पन्न हों जो फासीवाद को जन्म देते हैं। इस प्रकार यद्यपि नाजीवाद, फासीवाद की एक जर्मन अभिव्यक्ति थी, किन्तु यह एक प्रकार से सार्वभौमिक वातावरण का परिणाम था जो कि विभिन्न परिस्थितियों में अन्य देशों में भी पैदा हो सकता है। जर्मनी की संस्कृति या इतिहास वहां के फासीवाद का

प्रमुख कारण नही माना जा सकता। नाजीवादी वातावरण को कही भी दोहराया जा सकता है। असल मे नाजीवादियो ने एक प्रकार से चुनौती दी जिसे वर्तमान शताब्दी के अन्य लोगों द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए। इसका दार्शनिक एव मूल्य सम्बन्धी दृष्टिकोण अन्य देशों मे भी अपनाया जा सकता है।

प्रजातन्त्र और विचारधारा
(Democracy and Ideology)

अर्वाचीन राजनीति की बौद्धिक समस्याओ का मार्क्सवादी समाधान उस दृष्टिकोण की स्वीकृति पर आधारित है जो कि इतिहास को निर्धारणशील मानता है, यह भौतिकवादी धारणा है। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रभावशील पूंजीवादी विचारधारा ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुसार साम्यवादी क्रान्ति को जन्म देगी और इस प्रकार एक वैज्ञानिक तथा अराजनैतिक समाज बनेगा जिसमे शुद्ध प्रशासन राजनीति का स्थान ग्रहण कर लेगा। इसके विपरीत फासीवाद की नाजी कल्पना ने ऐतिहासिक विकास की अन्तिम बौद्धिकता को अस्वीकार कर लिया तथा अपने आपको अबौद्धिकता एव काल्पनिक विश्वासों पर आश्रित किया। इसमे राजनीति को एक नेता की प्रभावशील शक्ति और उसके सगठित अनुयायियों के रूप मे परिणत कर दिया। ये दोनो ही विचार-धारायें न तो बौद्धिक दृष्टि से सही प्रतीत हुई और न ही व्यापक समर्थन प्राप्त कर सकी तो प्रश्न यह हुआ कि वैकल्पिक रूप से क्या अपनाया जाए।

वैकल्पिक रूप से राजनीति के प्रजातन्त्रात्मक दृष्टिकोण से रक्षा की गयी। इसके द्वारा विचारधारागत कठोरता के अतिशयवादी रूपो को कम किया जा सकता है और शक्ति को बौद्धिक प्रक्रियाओं के द्वारा सहयोगपूर्ण सामाजिक लक्ष्यों के लिए निर्देशित किया जा सकता है। इस वैकल्पिक तरीके मे विचार-विमर्श, समझाना-बुझाना और विरोधी दल की आवश्यकता आदि को महत्वपूर्ण पहलू माना गया। यहा प्रश्न यह उठता है कि एक समाज के सामान्य कार्य को प्राप्त करने के लिए एक विशेष तकनीक मानने पर क्या प्रजातन्त्र के लिए कुछ आवश्यक दार्शनिक दृष्टिकोण या विश्वासो की भी रचना करनी होगी। इस समस्या पर विचारकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये हैं। प्रो० वेल्डन के मतानुसार प्रजातन्त्र का कोई अध्यात्मशास्त्रीय आधार नही होता। इसमें राज्य को अन्य संस्थाओ की भांति एक सस्था कहा जाता है। इसका प्रशासन विभिन्न हित समूहों के बीच स्थित संघर्ष को दूर करने की एक प्रक्रिया होगी। दूसरी ओर अमेरिकी व्यवहारवादी जी. एच. मीड (G. H. Mead) का विचार था कि प्रजातन्त्र मे कम से कम थोड़े

बहुत दार्शनिक विचार उलझे रहते हैं। कठिनाई उस समय पैदा होती है जब हम इस तथ्य को समझ पाते हैं कि प्रजातंत्र शब्द के अनेक अर्थ हैं। कभी-कभी प्रजातन्त्र का अर्थ एक धर्म के समान होता है। यह समानता की मान्यता के प्रति एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण माना जाता है। इसका अर्थ एक विशेष सामाजिक जीवन का तरीका भी हो सकता है जिसमें केवल राजनैतिक सगठन और कार्य ही नहीं आते वरन् तरीकों एव नैतिकताओं में सहनशीलता एव विभिन्नता भी आती है। अन्तिम रूप में और संकीर्ण रूप से प्रजातन्त्र को सरकार का एक ऐसा रूप कहा जा सकता है जिसमें जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होती रहती है।

यह माना जाता है कि सम्भवतः वेल्डन का यह मत सही था कि एक अनुभववादी राजनीति के रूप में प्रजातन्त्र को देखने पर यह जरूरी नहीं होता कि उसमें आवश्यक दार्शनिक विश्वास रहेंगे। यद्यपि इसमें कुछ मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण व्यक्तियों एव राज्य के प्रति रखे जा सकते हैं। दूसरी ओर यदि प्रजातन्त्र को एक जीवन का तरीका मान लिया जाए और केवल सरकारी निकायों को राजनैतिक रचना मात्र न माना जाए तो मि० मीड का मत कुछ मान्य प्रतीत होगा। व्यवहारवादी इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि जीवन का प्रजातन्त्रात्मक तरीका परिवार, धर्म और लोगों के व्यावसायिक जीवन में कुछ विशेष प्रकार की संस्थाओं को जन्म देता है। प्रजातन्त्रात्मक समाज की यह एक मौलिक विशेषता है कि उसमें लोग विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहों में रहकर अपने सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं। महत्वपूर्ण समितियों में भाग लेकर लोग समूह के लक्ष्यों, नियमों एव प्रक्रियाओं को प्रभावित कर सकते हैं। समाज में अनगिनत सगठन होते हैं। इनमें सरकारी रूप से सगठित नगर राज्य और राष्ट्र की राजनैतिक सरकार करोड़ों लोगों की क्रियाओं की महत्वपूर्ण एक शक्तिशाली अभिव्यक्ति बन जाती है।

जब हम यह मानते हैं कि प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक व्यवस्था के लिए दार्शनिक मसलों पर पूर्ण सहमति की आवश्यकता नहीं है तो इसका अर्थ प्रायः इस बात से इन्कार करना है कि प्रजातन्त्र को अध्यात्म-शास्त्रीय सत्यों पर आधारित करना चाहिए। इस प्रकार के तर्कों को स्पष्ट करना हमेशा कोई सरल कार्य नहीं होता। प्रजातन्त्र के विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि राजनैतिक सफलता के लिए बौद्धिक एकरूपता आवश्यक नहीं है। यहां वास्तविकता के सम्बन्ध में अनेक व्यावहारिक हित और दृष्टिकोण हो सकते हैं। प्रजातन्त्रात्मक समाजों के लिए अधिकृत रूप से स्वीकृत कोई विचारधारा आवश्यक नहीं होती। प्रतिद्वन्द्विता पूर्ण हितों के दावों के बीच समझौता

कराने के लिए प्रजातन्त्र को किसी प्रकार की विचारधारा अपरिहार्य जान नहीं पडती। प्रजातन्त्रात्मक समाज मे शिक्षा प्रणाली सरकार की इच्छानुसार संचालित नही होती। इस प्रकार प्रजातन्त्र मे किसी भी एक धार्मिक या दार्शनिक विश्वास का सहारा लेकर व्यक्ति के व्यवहारो का मूल्यांकन या निर्धारण नही किया जाता।

यह कहा जाता है कि प्रजातन्त्र मे सार्वजनिक हितो को प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है किन्तु यह भी कुछ राजनैतिक विचारकों को संतुष्ट नही कर पाता। वे यह मानने के लिए तैयार नही है कि सार्वजनिक प्रमाणों के आधारों पर यह सिद्ध किया जा सके कि एक समय विशेष में विशेष सामान्य हित कायम है। सामान्य हित (Public Interest) एक प्रकार से सामान्य इच्छा (General will) के अध्यात्म-शास्त्रीय सिद्धान्त का ही रूप प्रतीत होता है। कुछ राजनैतिक विचारक प्रजातन्त्र को ऐसी प्रक्रिया मानते हैं जिसमें नेताओं तथा राजनैतिक दलों द्वारा महत्वपूर्ण मामलों पर एक निश्चित दृष्टिकोण अपनाया जाता है और वे अपनी भाषा की शक्ति तथा संगठनात्मक योग्यताओं के आधार पर मतदाताओं को यह समझाने का प्रयास करते है कि उन्हें क्या करना चाहिए। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रियाओं के द्वारा उन नेताओ को बढने का अवसर दिया जाता है जिनका दृष्टिकोण समाज की वर्तमान रूप-रचना में प्रभावशील बन जाता है। इस प्रकार नेताओं और दलों के द्वारा लोकमत को अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त उसे बनाया और निर्देशित भी किया जाता है। कभी कभी यह कहा जाता है कि लोकमत और कुछ नही है वरन् भिन्न भिन्न अनेक हितो का योग मात्र है। इस दृष्टिकोण के अनुसार लोकमत में सभी नागरिकों के थोडे बहुत हितों का समन्वित होना आवश्यक नहीं है वरन् बहुमत के हितो का समन्वित होना जरूरी है।

लोकहित (Public Interest) की मान्यता प्रजातंत्र के अर्थ को अधिक कुछ नहीं बताती। लोकमत का प्रजातंत्र के लिए महत्व है किन्तु केवल लोकमत ही प्रजातंत्र नही है। यह सच है कि किसी भी प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रिया में इस सहमति की आवश्यकता होती है कि कुछ सार्वजनिक हित दल, वर्ग, जाति और दृष्टिकोण आदि के संकीर्ण घेरों से परे कायम हैं। प्रजातंत्रात्मक प्रक्रिया का औचित्य आंशिक रूप से इस दृष्टिकोण पर आश्रित है कि इसके द्वारा उन मसलो को पृथक कर दिया जाता है जो कि नागरिकों के व्यापक हितों को प्रभावित करते है और उनके अनुसार नीतियों को क्रियान्वित करते हैं। इसका अर्थ यह नही होता कि व्यक्तिगत हित अपने लक्ष्यों की दृष्टि से प्रभाव डालने का कार्य कर सकें क्योंकि प्रजातंत्र मे विशेष हित समूहो को यह अवसर प्रदान किया जाता है कि वे व्यवस्थापन को प्रभावित कर सकें। ऐसी स्थिति में

लोकहित की मान्यता पर विचार करने का अर्थ होता है यह बताना कि प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रियाएं प्रायः (हमेशा नहीं) किस प्रकार संचालित की जाती हैं।

अनेक बार ऐसे भी अवसर आते हैं जब कि एक लोकहित की साधना राजनैतिक समझौते द्वारा नहीं की जाती। इस सम्बन्ध में कोई पूर्व निर्धारित नियम नहीं है जिसके आधार पर हम पहले से ही कोई निर्णय ले सकें। समझौता उस समय नहीं किया जाना चाहिए जब कि यह अनावश्यक है अथवा इसके द्वारा शान्ति भंग हो जायेगी या प्रगति का मार्ग रुक जायेगा। व्यावहारिक दृष्टि से कम से कम सिद्धान्त रूप में प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं के समर्थक धार्मिक या दार्शनिक दृष्टिकोण वाले उम्मीदवारों की अपेक्षा महत्वपूर्ण मसलों पर व्यक्ति के विचारों को महत्व देते हैं। मतदाता मत देते समय कभी भी उम्मीदवार के धार्मिक या दार्शनिक दृष्टिकोण पर ध्यान नहीं देते। वे यह नहीं देखते कि क्या वह उम्मीदवार एक दार्शनिक आदर्शवादी है अथवा भौतिकवादी है अथवा अनुभववादी है या प्लेटो का समर्थक है। मतदाता तो केवल यह देखना चाहते है कि वह उम्मीदवार जाति के मसलों पर क्या दृष्टिकोण रखता है, दवाओं के लिए सरकारी समर्थन पर उसका क्या विचार है, सार्वजनिक शिक्षा, कर्मचारियों के कल्याण, तथा अनेक प्रकार के मूर्त प्रश्नों पर क्या विचार रखता है। इसलिए यह जानना कोई महत्व नहीं रखता कि उम्मीदवार हिन्दू है या मुसलमान है, प्लेटो का समर्थक है या गान्धी का समर्थक है, बुद्ध की मान्यता देता है या महावीर को। केवल यह जानना ही उपयुक्त एवं पर्याप्त रहेगा कि मुख्य-मुख्य समस्यायें क्या है और उन पर विभिन्न राजनैतिक व्यक्तित्वों के क्या विचार हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रजातंत्रात्मक सरकार के लिए किसी एक विचारधारागत समर्थन की आवश्यकता नहीं है।

प्रो० मीड (G. H. Mead) का कहना था कि एक सच्चे प्रजातन्त्र को सामाजिक व्यवहारवाद (Social behaviourism) में विश्वास द्वारा बौद्धिक रूप से समर्थित होना चाहिए। मीड ने मानवीय मस्तिष्क की व्यक्तिवादी और अंशतः सामाजिक धारणा का विरोध किया। व्यक्तिवादी स्पष्टीकरण के समर्थक यह विश्वास करते हैं कि मनुष्य का मस्तिष्क तार्किक तथा जीव-शास्त्रीय रूप में किसी भी सामाजिक प्रक्रिया के लिए पहले से ही निर्धारित रहता है। व्यक्ति के मस्तिष्क को केवल सामाजिक वातावरण में ही शक्ति प्राप्त होती है। जो लोग आंशिक रूप से सामाजिक स्पष्टीकरण देते हैं उनके मतानुसार मस्तिष्क का एक अंश सामाजिक रचना से पूर्व का ही है। मीड़ ने यह तर्क दिया है कि व्यक्ति का मस्तिष्क और सामाजिक प्रक्रिया एक दूसरे पर

निर्भर रहते हैं क्योंकि एक के बिना दूसरा कायम नहीं रह सकता। प्रजातन्त्रात्मक समाज में नागरिकों को चयन के अनेक अवसर दिये जाते हैं और इस प्रकार उसके मस्तिष्क को सम्पन्न बनाया जाता है। जॉन डीवे के अनुयायी भी कभी-कभी व्यवहारवाद (Pragmatism) को प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के पर्याप्त अनुकूल मानते हैं। ये दोनों ही पूर्णतावादी दर्शनों को मानवीय सत्यों की वैज्ञानिक खोज के मार्ग की बाधा मानते हैं। सत्यों में से कोई भी पूर्ण नहीं होता, वे सभी पूर्णता की दिशा में प्रयत्नशील होते हैं। ऐसी स्थिति में उनके लिए मस्तिष्क एवं उद्देश्य की लोचशीलता जरूरी है। पैतृक रूप से प्राप्त दार्शनिक परम्परायें एवं मत व्यक्ति को अन्धा बनाकर वास्तविकता की ओर से उसकी आंखों को बन्द कर सकती हैं। वर्तमान की वास्तविकताओं को समझने के लिए राजनैतिक साधन अपनाना जरूरी है। इस दृष्टि से एक लेखक ने यह विचार प्रकट किया है कि अमरीकी व्यवहार-वाद (American Pragmatism) किसी प्रकार का दर्शन न रखने के दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है।

सम्भवतः ऐसे कुछ ही लोग हैं जो कि प्रजातंत्रात्मक राजनीति एवं दर्शन के बीच स्थित सम्बन्ध को अस्वीकार करते हैं। यहां दर्शन का अर्थ व्यक्तियों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में मूल्यात्मक निर्णयों के संग्रह से है। यह दर्शन का एक तकनीकी अर्थ है। प्रो० बारबू (Z. Barbu) के मतानुसार "प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक व्यवस्थाओं के समर्थक सामाजिक जीवन के सम्बन्ध से प्रायः ऐसा दृष्टिकोण प्रकट करते हैं जो कि सत्तावादियों के विरुद्ध है।" प्रजातन्त्र के समर्थक जिन धाराओं को मूल्य प्रदान करते हैं वे हैं व्यक्तिवादिता, आलोचनात्मक मस्तिष्क, तथ्यों के आधार पर वस्तुगतता, एक आन्तरिक मूल्य के रूप में अवकाश, व्यक्तिगत चरित्र की लोचशीलता, सहिष्णुता, संघर्ष के समय समझौता आदि-आदि। ये समस्त मूल्य वे हैं जो कि किसी भी कार्यकारी प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था के सुचारु सचालन के लिए जरूरी होते हैं।

इस प्रकार जॉन डीवे का दार्शनिक दृष्टिकोण सामाजिक जीवन की एक प्रजातंत्रात्मक धारणा का बौद्धिक आधार पर प्रतिनिधित्व करता है। डीवे ने बहुत पहले ही यह मान लिया था कि प्रजातन्त्र एक सामाजिक वातावरण है। यह एक जीवन का तरीका है। आज के औद्योगिक युग में पारस्परिक समस्याओं को सुलझाने के लिए लगातार नई संस्थाओं की रचना आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त व्यक्ति को एक सावयविक प्रसंग की आवश्यकता है जिसमें सभी समूह निर्णय लेने की उपयुक्त शक्ति के साथ कार्य कर सकें। व्यक्ति को कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस क्षेत्र में डीवे : दिया गया योगदान कोई विशेष नहीं, क्योंकि आजकल प्रायः सभी [illegible] इस प्रकार की समस्याओं को अपने अध्ययन का विषय बनाते हैं।

यह माना जाता है कि आधुनिक जीवन के एक व्यापक क्षेत्र में प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रियायें निरर्थक सिद्ध होती हैं और अनेक क्षेत्रों में हम यह मुश्किल से जान पाते हैं कि उनको किस प्रकार बनाया जाए और किस प्रकार जारी रखा जाए। आज का व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकता और न ही वह समूह की परिस्थितियों के बाहर अपनी सामर्थ्य को विकसित कर सकता है। पहले व्यक्ति को यह समझना होगा कि अन्य लोग क्या चाहते हैं। यदि वह दूसरों की इच्छाओं की अवहेलना करेगा तो लोग उसे कोई महत्व नहीं देंगे और यदि वह उनके सामने आसानी से झुक जायेगा तो उसकी स्वतंत्रता नहीं रह जायेगी। यह समस्या केवल संकीर्ण रूप से राजनैतिक समस्या ही नहीं है वरन् इसका रूप अत्यन्त व्यापक है। यह व्यापार, शिक्षा, श्रम एवं धार्मिक जीवन में ही इतना महत्व रखती है। इसके अतिरिक्त एक ऐसी संरचना की भी आवश्यकता है जो कि समूह में व्यक्ति को यन्त्र के संचालकों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान कर सके। आज के समय में भी यह प्रमुख समस्या है कि लोगों को किस प्रकार से उत्तरदायित्व पूर्ण रूप में सहयोगी बनने का प्रशिक्षण दिया जाए। अनेक विचारक यह मानते हैं कि सामूहिक कार्य के परिणामस्वरूप अनेक सम्भावित दोष पैदा हो सकते हैं। आज सामान्य नागरिक के जीवन का रूप इस बात पर निर्भर करता है कि प्रजातन्त्रात्मक निर्णय लेने की प्रक्रिया एवं नियन्त्रण के चक्र को सामान्य नागरिक तक पहुँचाया जा सके। जॉन डीवे ने किसी भी प्रकार के सत्तावाद का विरोध किया है किन्तु सत्ता का विरोध नहीं किया है।

डीवे स्वयं एक महान सामाजिक भेद के सिद्धांत को तोड़ने वाले विचारक थे। उन्होंने बुद्धि के नाम पर परम्परा का समर्थन किया। इस प्रक्रिया में एक खतरा था जिसे शायद डीवे पहचान न सके। उन्होंने प्राचीन रूढ़िवादिता का विरोध करने के लिए एक अन्य रूढ़िवादिता की आशा की। उन्होंने भविष्य के उद्देश्य के लिए इतिहास का लगातार प्रयोग करने के लिए कहा। एक संस्था का नगद मूल्य उसकी वह क्षमता थी जिसके द्वारा वह वर्तमान कठिनाइयों का सामना कर सके।

जॉन डीवे ने प्रजातन्त्रात्मक मूल्यों का जो व्यावहारिक आधार पर पक्ष लिया वह आज विचारधारा की दृष्टि से कितना महत्व रखता है—इस प्रश्न ने संसार को काफी परेशान किया है। इस सम्बन्ध में विचारकों के अलग-अलग मत हैं। डीवे का मूल विचार यह था कि राजनैतिक प्रजातन्त्र केवल तभी काम कर सकता है जब कि प्रजातन्त्रात्मक सामाजिक रचना द्वारा उसको सहारा दिया जाए। एक मूल्यवान साधन के रूप में प्रजातन्त्र केवल तभी कार्य कर

सकता है जबकि एक समाज के सदस्य इस बात पर सहमत हों कि वे न्यायोचित रूप से बनायी गयी प्राथमिकता की सूची के अनुसार क्या चाहते है तथा वे इस बात पर महमत हों कि वास्तविक संसार में उनकी वास्तविक स्थिति के लिए इनमें से कौनसी मांग सबसे अधिक महत्व रखती है। यदि नागरिक अपनी मांगों को वास्तविकता के अनुसार व्यवस्थित करना चाहें तो कुछ सहमति होना परम आवश्यक है। अन्य अनेक दार्शनिकों से भिन्न इस प्रश्न पर डीवे ने इस बात पर जोर दिया कि विज्ञान और मूल्यात्मक निर्णय अनुभववादी रूप से सम्बन्धित होते है। तथ्य यह है कि एक स्थिति का ज्ञान व्यक्ति को भली प्रकार यह कह सकता है कि उनको किस प्रकार आगे बढना चाहिए। डीवे ने मानवीय बुद्धि में गहरा विश्वास प्रकट किया, जिसके द्वारा तथ्यों और मूल्यों को सम्बन्धित किया जा सकता है। जॉन डीवे ने जिस प्रजातंत्रात्मक विश्वास की रक्षा की थी, उसके समर्थकों तथा आलोचकों की संख्या पर्याप्त है। मि० डीवे और मीड यह प्रतिपादित करते रहे कि प्रजातन्त्रात्मक राजनीति बिना विचारधारागत स्वीकृति के सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है। आज उनके इस विचार को प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा जाता है। यह एक व्यापक जिज्ञासा का विषय है कि इस मत को प्रकट करते समय वे सही थे अथवा नही थे।

विचारधारा और प्रजातन्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या कोई नयी समस्या नहीं है। १६ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हेनरी ऐडम्स प्रजातन्त्र के भविष्य के सम्बन्ध मे पर्याप्त चिन्तित थे। सन् १८८० मे प्रकाशित अपने गुमनाम उपन्यास प्रजातन्त्र (Democracy) मे इस प्रश्न पर उन्होंने केन्द्रीय रूप से विचार किया कि क्या प्रजातन्त्रीय सरकार भ्रष्टाचार के आम रूपों के बिना जीवित रह सकती है जो कि दुनियां में अन्य सरकारों के साथ संलग्न है। इस उपन्यास का मुख्य चरित्र श्रीमती लाइट फुट ली (Mrs Light Foot Lee) है। इसका प्रजातन्त्र में दृढ़ विश्वास है। इतने पर भी यह प्रत्येक तथ्य को सामने करके देखना चाहती है।

प्रजातन्त्रात्मक विश्वास के लिए सहारा देने हेतु एक आधार चाहिए। इसमे यह सम्भावना है कि शक्ति का एक भ्रष्ट प्रभाव पडे किन्तु फिर भी यह जरूरी नही।

विभिन्न कारणों से जिनमें दार्शनिक एवं ऐतिहासिक प्रमुख हैं, अनेक दार्शनिक विचारकों ने राजनैतिक तथा सामाजिक ज्ञान तथा कार्य मे वस्तुगतता में विश्वास नहीं किया है। अधिकांश विचारक यह मानते हैं कि मनुष्य के मूल्यों तथा उसके ज्ञान के क्षेत्र को सामाजिक परिवेश द्वारा पर्याप्त प्रभावित

किया जाता है। इतने पर भी जो लेखक व विचारक विचारधारागत समस्याओं के तार्किक पहलुओं को विश्लेषित करना चाहते हैं। उन्होंने मानवीय ज्ञान को निर्धारित करने वाले के रूप में सामाजिक परिस्थितियों को अस्वीकार किया है। यहां तक कि कार्ल मार्क्स ने भी विचारधारा को भावी विकृति का आधार माना है जिसे किसी प्रकार दूर किया जा सकता है। इस प्रकार विचारधारागत विश्लेषण में केन्द्रीय समस्या यह दिखाई देती है कि मानवीय ज्ञान को समूह के हितों द्वारा कितना रंग दिया जाता है। फासीवादियों ने विचारधारा को महत्व दिया और माना कि मानवीय ज्ञान सामूहिक हित से पर्याप्त प्रभावित किया जाता है।

दूसरी ओर प्रजातन्त्रात्मक विश्वास यह पहले से ही मान लेता है कि राजनीति में कुछ मात्रा में हितविहीन ज्ञान सम्भव है यद्यपि इसे प्राप्त करना कठिन है। कुछ सीमाओं में रहकर नागरिक प्रमाणों एवं प्रश्न के प्रकाश में अपने मस्तिष्क को बना सकते हैं। यदि यह विश्वास पूरी तरह से त्रुटिपूर्ण हो जाए तो यह प्रतीत होगा कि राजनीति शक्ति के रूप में विरोधी दावों के समायोजन से परे कभी नहीं पहुंच सकती। विचारधारागत विश्लेषण के उस तरीके में पर्याप्त परिवर्तन किया गया है जिसमें कि लोग शक्ति और राजनीति पर विचार करते हैं। विचारधाराओं को मान्यता देने वाले या उनके महत्व को अस्वीकार करने वाले लोग समान रूप से इस बात में विश्वास करते हैं कि राजनैतिक वातावरण के विश्लेषण के लिए कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए।

२१

राजनीति का विज्ञान और आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृति

(SCIENCE OF POLITICS AND NATURE OF MODERN POLITICAL THEORY)

विज्ञान के रूप में राजनीति और राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति-इन दोनों पर ही इस पुस्तक के प्रारम्भिक अध्यायों में प्रसगानुसार चर्चा की जा चुकी है। अतः प्रस्तुत अध्याय मे इन दोनों विषयों का आलोचनात्मक संक्षिप्त विश्लेषण ही प्रकट करना उपयुक्त होगा।

राजनीति का विज्ञान
(Science of Politics)

राजनीति (Politics) के साथ विज्ञान (Science) शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत आधुनिक है और राज्य-संस्था का अध्ययन अब 'राजनीति विज्ञान' (Political Science) शीर्षक के अन्तर्गत किया जाता है। एक विज्ञान के लिये राजनीति को ऐसा अनुभव-प्रधान अध्ययन (Empirical Study) होना चाहिए जो राजनीतिक तथ्यो और अनुभवों के अवलोकन पर आधारित हो। इस दृष्टिसे यह आवश्यक है कि राजनीतिक तथ्यों तक पहुँचे और उन्हें समझे। साथ ही वह गम्भीर राजनीतिक चरित्र का मार्ग प्रदर्शन करके उन तथ्यों का सम्मान करने में भी हमारी सहायता करे। यह सब प्रभावशाली रूप से तभी सम्भव है जब कि यह अवलोकन किये हुए तथ्यों (Observed Facts) से राजनीतिक व्यवहार के उचित नियमों को खोज निकाले। इसके अतिरिक्त यह भी जरूरी है कि वह उन उपायों अथवा तरीकों को अपनाये जो प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध हो चुके हैं। जब इन सब बातो और प्रणालियों का अस्तित्व राजनीति में उपलब्ध होगा तभी हम उसे 'विज्ञान' शब्द से भूषित कर सकेंगे और 'राजनीति का विज्ञान' (Science of Politics) जैसी शब्दावली का प्रयोग सार्थक हो सकेगा।

'राजनीति' के साथ 'विज्ञान' शब्द के प्रयोग का औचित्य हम क्रमशः ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण (Historical and Analytical Survey) के आधार पर भली प्रकार जांच सकते हैं—

ऐतिहासिक सर्वेक्षण
(Historical Survey)

'राजनीति के विज्ञान' (Science of Politics) के ऐतिहासिक सर्वेक्षण को हम महान् यूनानी दार्शनिक अरस्तु से प्रारम्भ कर सकते हैं। वास्तव में अरस्तु पहला राजनीतिक वैज्ञानिक था जिसने राजनीतिक तथ्यों के व्यवस्थित अवलोकन की परम्परा का सूत्रपात किया। आदर्श राज्य और उसके संस्थानों की रचना करने मे जहां प्लेटो ने कल्पना प्रधान पद्धति को अपनाया था वहां अरस्तु ने अपनी 'Politics' की रचना करने से पूर्व लगभग १५८ संविधानों का अध्ययन करके अपने विचारों को संसार के सामने रखा था। इस तरह उसने राजनीति के क्षेत्र मे एक वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया था। बार्कर के शब्दों में "उसकी प्रणाली का सार सम्बन्धित सामग्री के अवलोकन और पंजिकरण (Observation and Registration of all the relevant data) में निहित था।"

अरस्तू ही वह प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक था जिसने राजनीति शास्त्र को अन्य सामाजिक शास्त्रों से पृथक करके एक स्वतन्त्र शास्त्र अथवा विज्ञान का स्थान प्रदान किया। उसने इसके अध्ययन में उद्गमनात्मक पद्धति (Inductive Method) का प्रयोग किया न कि निगमन पद्धति (Deductive Method) का। इसके साथ ही उसने विश्लेषणात्मक पद्धति (Analytical Method) का भी प्रयोग किया। अरस्तू की विचार-पद्धति की विशेषता इस बात में निहित थी कि वह प्लेटो के समान कल्पनाशील न होकर पर्यवेक्षणशील या अवलोकनात्मक (Observational) थी। अरस्तू ने पहले कुछ तत्वों का अध्ययन किया था और फिर उन तथ्यो से अपना निष्कर्ष निकाला था। यदि हम अरस्तू की रचनाओं को पढ़ें तो ज्ञात होता है कि विभिन्न प्रकार के संविधानों, क्रांतियों के कारणों और समाधानों, प्रजातन्त्रों और कुलीनतन्त्रों के संगठनों आदि पर उसके विचार उल्लेखनीय रूप से यथार्थवादी और नैतिकता के प्रभाव से मुक्त है। सारांशतः हम कह सकते हैं कि अरस्तु ने राजनीति (Politics) को एक व्यावहारिक और पर्यवेक्षणात्मक विज्ञान (A Practical and Observational Science) का बाना पहनाया और इस प्रकार 'राजनीति के विज्ञान' (Science of Politics) का सामान्य ढांचा खड़ा किया।

यद्यपि अरस्तू ने एक राजनीतिक वैज्ञानिक की भूमिका निभाई, पर साथ ही वह दार्शनिक प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका। मूलतः एक दार्शनिक

होने के नाते 'एक राजनीतिक दार्शनिक' होना उसके लिये अस्वाभाविक नही था और इसलिए उसकी रचनाओं और चिन्तनधारा मे आदि से अन्त तक नैतिकता की छाप लगी रही।

अरस्तू द्वारा स्थापित परम्परा को वाद मे मैकियावली ने विकसित की। अरस्तू राजनीति के "नैतिक साध्यो" (Ethical ends) से प्रभावित था जबकि मैकियावली "व्यावहारिक राजनीति के साधनों" (Means of practical politics) से अनुशासित था। जहाँ अरस्तु ने अपने आप को मनुष्य की भलाई से सम्बन्धित रखा वहां मैकियावली राज्य के निर्माण (Creation of a State) से सम्बन्धित रहा। मैकियावली का मुख्य विचार इसी दिशा में रहा कि इस उद्देश्य को सर्वोत्तम रूप से किस तरह पूरा किया जाय। मैकियावली ने राजनीति को प्राचीन दार्शनिकता के प्रभुत्व से मुक्त किया। उसने वैज्ञानिक तटस्थता अपनाते हुए अपनी समकालीन परिस्थितियों और समस्याओं को परिश्रमपूर्वक समझाया और फिर अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन किया। इस तरह उसने अपनी राजनीतिक पद्धति मे अनुभववाद और इतिहासवाद का समन्वय किया। यह कहने मे कोई अत्युक्ति न होगी कि अरस्तू के बाद राजनीतिक गवेषणा के क्षेत्र मे इस पद्धति को अपनाने वाला वह प्रथम विचारक था।

मैकियावली ने नैतिकता को धर्म से पृथक कर दिया और "मानव व्यवहार के पथ-प्रदर्शन के रूप मे ईश्वरीय नियम" का बहिष्कार करते हुए राजनीति विज्ञान का आधार ही परिवर्तित कर दिया। राजनीति से नैतिकता को निकाल फैंकने पर "राजनीति का विज्ञान" (The Science of Politics) स्पष्ट रूप से निखर आया और इस प्रकार यथार्थ रूप मे मैकियावली ने प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक होने की प्रतिष्ठा प्राप्त की।

मैकियावली और अरस्तू के तरीके का उपयोग १६ वी शताब्दी के सामाजिक व राजनीतिक दार्शनिक जीन बोदाँ ने अपनी "Six Books of the Republic" में किया। यह रचना अधिकांशतः पर्यवेक्षण (Observation) पर आधारित थी और मैकियावली की भांति निरपेक्षता और वैज्ञानिकता लिये थी। बोदाँ ने सम्प्रभु और नागरिको के सम्बधों की विवेचना करते हुए सामाजिक, नैतिक और धार्मिक पहलुओ की उपेक्षा की। बोदाँ ने अतिशय व्यावहारिकता का परिचय देते हुए अपने आपको आदर्श राज्य (An Ideal State) की धारणा से पृथक रखा। उसने यह सकेत दिया कि एक राजनीतिक दार्शनिक तभी अपने दृष्टिकोण में लाभान्वित हो सकता है जब वह राजकीय मामलों और प्रशासन का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करे। स्पष्ट है कि बोदाँ ने राजनीतिक वैज्ञानिक और प्रशासन के आधुनिक युगीन बदले हुए सहयोग

को भांप लिया। वास्तव में यह सहयोग आज राजनीति को एक वास्तविक विज्ञान बनाने में महत्वपूर्ण तत्व या कारक बन गया है। दुर्भाग्यवश बोदां का वैज्ञानिक विश्लेषण नक्षत्रों और ज्योतिष आदि में उसके विश्वास के कारण दूषित हो गया।

१७ वी शताब्दी में टॉमस हाब्स गणितीय और भौतिक विज्ञानों की प्रगति से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने समाज में मनुष्य के अध्ययन के क्षेत्र में वैज्ञानिक सिद्धान्त लागू करने की चेष्टा की। अपने ग्रंथ 'Leviathan' में उसने राज्य के सिद्धान्त का निर्माण किया और ऐसा करते समय वह आध्यात्मिक सिद्धान्त से अप्रभावित रहा। उसने मानव-स्वभाव पर खुले मस्तिष्क से विचार किया और इस दिशा में वह मैकियावली के समान ही यथार्थवादी रहा। उसकी राज्य सम्बन्धी धारणा मानव-स्वभाव के उसके वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा ही अधिकांशतः निर्धारित हुई। हॉब्स यह संकेत देने में भी पीछे नहीं रहा कि उसकी रचना राजनीतिक व्यवहार (Political Practice) में लाभदायक मार्गदर्शक सिद्ध होगी। वास्तव में हॉब्स का यह महत्वपूर्ण अनुदान रहा कि उसने राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र में निरंकुशतावाद और धर्मनिरपेक्षतावाद के लिये एक वैज्ञानिक आधार तैयार किया तथा भौतिक विज्ञानों में प्रयुक्त होने वाली पद्धति को दर्शन और राजनीतिक चिन्तन का आधार देकर राजनीति को विज्ञान का स्वरूप दिया। हॉब्स ने "राजनीति के विज्ञान" को निश्चित रूप से आगे बढ़ाया।

१८ वी शताब्दी में मोण्टेस्क्यू ने पर्यवेक्षण और विस्तृत भ्रमण (Observation and extensive tour) द्वारा राजनीतिक तथ्यों का अध्ययन किया। अपनी पुस्तक 'The Spirit of the Laws' में उसने समकालीन कानूनों की सम्पूर्ण मानव-जीवन के प्रसंग में व्याख्या की। उसने अपने समय की वास्तविक राजनीतिक संस्थाओं का विस्तृत सर्वेक्षण करके 'राजनीति के विज्ञान' का निर्माण किया। संवैधानिक व्यवहारों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उसने राजनीतिक विश्लेषण को एक नई दिशा भी प्रदान की। इस रूप में वह, कोल के मतानुसार, प्रथम आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिक था। अनुभूतिमूलक (Empirical) दृष्टिकोण तथा पर्यवेक्षण पर आधारित वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति को अपना कर उसने 'राजनीति के विज्ञान' को अधिक स्पष्ट और विकसित किया।

१८ वी शताब्दी में ही अंग्रेज दार्शनिक डेविड ह्यूम ने अपने निबन्ध "That Politics may be reduced to Science" में बताया कि मानव इतिहास में सरकारों के पर्यवेक्षण द्वारा राजनीति के सार्वभौमिक सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं। उसने यह भी सिद्ध किया कि इस प्रकार के सिद्धान्त

ठोस और गम्भीर राजनीतिक आचरण के लिये उचित मार्ग-दर्शक बन सकते है।

राजनीति को एक वास्तविक विज्ञान बनाने के प्रयत्नों को १६ वी शताब्दी मे, भारी वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ, काफी बल मिला। १६ वी शताब्दी मे विज्ञान के चरण नये-नये क्षेत्र में आगे बढ़े और आधुनिक जीव विज्ञान, भू-गर्भ विज्ञान, मानव-शास्त्र आदि में वैज्ञानिकवाद के प्रयोग के मार्ग अधिक सुनिश्चित व स्पष्ट हो गये। सेंट साइमन, ऑगस्त काम्पटे, हरबर्ट स्पेन्सर, वॉल्टर बेजहॉट आदि ने सामाजिक व राजनीतिक घटनाओ के स्पष्ट विश्लेषण के लिये वैज्ञानिक तरीकों की महत्ता को प्रकट किया। काम्पटे ने अपना विश्वास व्यक्त किया कि मानव समस्याओं का भी उन्ही तरीकों से अध्ययन किया जा सकता है जो प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र मे उपयोगी सिद्ध हुए हैं। आगे चलकर प्राकृतिक विज्ञानो के प्रभाव ने तब एक नया मोड़ लिया जब लेविस ने राजनीति में वैज्ञानिक तरीको की उपयोगिता अधिक सुस्पष्ट कर दी। उसने राजनीतिक शब्दावलियों को यथार्थ अर्थ देने के गम्भीर प्रयत्न किये। उसका एक महत्वपूर्ण योगदान राजनीति के क्षेत्र मे भौतिक विज्ञान की पद्धति के सम्भावित प्रयोग की दिशा मे रहा। दूसरी ओर हरबर्ट स्पेन्सर ने, जीव विज्ञान और डार्विन के विकास-सिद्धान्त से प्रभावित होकर राज्य के सावयवी सिद्धान्त की वकालत की।

निष्कर्षतः अरस्तू से लेकर आधुनिक समय तक राजनीतिक तथ्यो के विश्लेषण और उनकी व्याख्या मे वैज्ञानिक पद्धतियों का काफी प्रयोग हुआ है और अब तो इस दिशा मे गणितीय तथा सांख्यिकीय विश्लेषण का भी प्रयोग होने लगा है। अर्वाचीन अनुभूति प्रधान दृष्टिकोण (Empirical approach) ने राजनीति को राजनीतिक कार्य अथवा गतिविधि (Political action) का एक साधन (Instrument) बना दिया है। यद्यपि ऐतिहासिक सर्वेक्षण से राजनीति की वैज्ञानिकता स्पष्ट होती है, तथापि अभी अनेक विचित्र कठिनाइयां ऐसी है जो 'राजनीति के विज्ञान' को संदेहास्पद बनाती हैं। हम विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण (Analytical Survey) द्वारा इन कठिनाइयों अथवा सन्देहों को दूर कर सकते है।

विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण
(Analytical Survey)

राजनीति के संदर्भ मे विज्ञान शब्द के प्रयोग पर प्रायः आपत्तियां की गयी हैं। इन आपत्तियों के मुख्य आधार ये हैं—

(१) विज्ञान वह विद्या है जो अपनी अध्ययन-वस्तु के व्यवहार के विषय में निश्चित और स्थिर सिद्धान्त निर्धारित कर सकती है। उदाहरणार्थ

भौतिक शास्त्र या रसायन शास्त्र के अध्ययन में हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि पदार्थ गर्म करने पर फैलते और ठण्डा करने पर सिकुड़ते हैं। भौतिक और रसायन शास्त्र के ये नियम अटल हैं। राजनीति के नियम न इतने अटल सत्य हैं और न हो सकते हैं।

(२) राजनीति में सर्वमान्य विषयों का अभाव है। यदि मिल जनतन्त्र को सर्वोत्कृष्ट सरकार मानता है तो फेनट उसे अयोग्यता का सिद्धान्त घोषित करता है। कुछ विद्वान द्विसदनीय प्रणाली को उपयोगी मानते हैं तो दूसरे उसे राज्य की प्रगति के लिये घातक बतलाते हैं।

(३) राजनीति का विषय बड़ा विशाल, जटिल और अनिश्चित है। अतः उसमें पर्यवेक्षण और परीक्षण सम्भव नहीं हो सकते। मानव-कार्यों की विशालता और जटिलता के कारण गवेषणा की विशुद्ध वैज्ञानिक विधियों को अपनाना भी राजनीति में पूरी तरह सम्भव नहीं है। डा० ब्रोगन के शब्दों में "स्थायी नियमों के अभाव में राजनीति को विज्ञान नहीं कहा जा सकता।"

(४) प्राकृतिक विज्ञान के प्रयोग के विषय निर्जीव होते हैं जो समान दशा में समान रूप से व्यवहार करते है। लेकिन राजनीति विज्ञान के प्रयोग के विषय मनुष्य है, जो सजीव है। प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी निजी विचारधाराओं, भावुकता, संवेदना आदि से निर्देशित होता है। एक ही मनुष्य समान परिस्थितियों में भी प्रायः विभिन्न रूप से व्यवहार करता है। मनुष्य की प्रतिक्रिया उसकी सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि पर बहुत कुछ निर्भर करती है। अतः इन दिशाओं में राजनीति प्राकृतिक विज्ञान की तरह नहीं हो सकती। मानव स्वभाव की परिवर्तनशीलता राजनीति की वैज्ञानिकता का निषेध करती है।

(५) शुद्ध माप-विज्ञान की सर्वप्रधान विशेषता है, लेकिन राजनीति में शुद्ध माप असंभव है। मनुष्यों के आवेग, उत्तेजना, भावना, अभिलाषा, क्रोध, प्रेम आदि राजनीति को प्रभावित करते है। ये सब तत्व अस्पष्ट और अदृश्य है जिन्हें समझना असम्भव है। हम ताप या गैस का दबाव ठीक-ठीक माप सकते है, पर किसी भावना या विचार के आवेश को नहीं माप सकते।

(६) राजनीति में निश्चित भविष्यवाणी करने की क्षमता नहीं है। राजनीति के निष्कर्ष और नियम प्राकृतिक विज्ञानों की तरह शुद्ध और शाश्वत नहीं हो सकते। विज्ञान में निश्चित नियमों की स्थापना की जा सकती है और उनके आधार पर किसी विषय के सम्बन्ध में निश्चित भविष्यवाणी हो सकती है; पर राजनीति में यह सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, भौतिक विज्ञान

यह भविष्यवाणी कर सकता है कि किस दिन और किस समय चन्द्रग्रहण और सूर्य ग्रहण लगेगा। परन्तु राजनीति-शास्त्र यह नही कह सकता कि किस निश्चित विचार का जनता पर क्या असर पड़ेगा अथवा किस समय आर्थिक असंतोष देश में क्रान्ति ला देगा।

(७) विज्ञान मे कार्य-कारण (Cause and Effect) का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ जल को एक निश्चित मात्रा में गर्म करने पर वह वाष्प मे बदल जायेगा और इसी तरह एक निश्चित मात्रा से अधिक शीत पहुंचने पर वह बर्फ का रूप ले लेगा। इन तथ्यो का कोई अपवाद नहीं हो सकता। लेकिन राजनीति में इस प्रकार का कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता। यह कहना कठिन है कि किस राजनीतिक घटना के पीछे क्या निश्चित कारण है, चूंकि प्रत्येक राजनीतिक घटना के एक नहीं वरन् अनेक पेचीदे कारण होते है। राजनीतिक क्षेत्र में एक से कारणों का एक ही परिणाम नही निकलता। किसी एक निश्चित नीति का एक-सा प्रभाव नही पडता। इस तरह विज्ञान की भांति राजनीति मे कार्य और कारण का सही सम्बन्ध स्थापित करना बड़ा दुष्कर और अनिश्चित है।

राजनीति के विज्ञान होने के विरुद्ध जो युक्तिया दी गई है, उनमे कुछ सत्य का अंश अवश्य है। यह इतना ही है कि जिस प्रकार रसायन-शास्त्र एक विज्ञान है, उस प्रकार के विज्ञान की श्रेणी मे शायद राजनीति शास्त्र कभी नही आ सकता। किन्तु केवल इसलिये हम राजनीति की वैज्ञानिकता से इन्कार नहीं कर सकते। राजनीति में प्राकृतिक विज्ञानों की सी निश्चितता न होने की कमी उस विषय (मानव) की प्रकृति के कारण है, जिससे उसका सम्बन्ध है। प्राकृतिक विज्ञानों के विषय ऐसे है, जिन पर अध्ययन-कर्ता का नियंत्रण पूर्ण रूप से या पर्याप्त रूप से रहता है और वह उन पर मनचाहे प्रयोग कर सकता है, जबकि राजनीति आदि सामाजिक शास्त्रों का विषय मनुष्य है जिस पर अध्ययन-कर्ता का कोई नियन्त्रण रह सकना लगभग असभव है। इसी कारण राजनीति शास्त्र अपनी अध्ययन पद्धतियों की उपयोगिता और निष्कर्षों की शुद्धता के सम्बन्ध मे प्राकृतिक विज्ञानो की समानता नही कर सकता। परन्तु उसका स्वरूप वैज्ञानिक ही है क्योंकि उसमें वैज्ञानिक पद्धतियो का प्रयोग समुचित रूप से किया जाता है और पर्याप्त रूप से शुद्ध अनेक निष्कर्ष भी निकाले जाते हैं।

"ज्ञान के भण्डार मे जो महान् वृद्धि हो चुकी है, उसे देखते हुए यह अस्वीकार करना असम्भव है कि राज्य से सम्बद्ध समस्त अनुभवों, अवस्थाओं और ज्ञान को राज्य-विज्ञान के अन्तर्गत लाया जा सकता है।"

राजनीति की इस वैज्ञानिकता को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियां पर्याप्त है—

(१) राजनीति मे पर्यवेक्षण सम्भव है। इसके द्वारा उन तथ्यों का पता लगाया जा सकता है जिन्हे वैज्ञानिक अर्थ में सत्य कहा जाता है। प्राचीन भारत मे विविध राज्यों का पर्यवेक्षण करके ही आचार्य चाणक्य इस परिणाम पर पहुंचे कि यदि दण्ड शक्ति का दुरुपयोग किया जाय, तो गृहस्थों की तो बात ही क्या, वानप्रस्थी और सन्यासी लोग भी क्रुद्ध हो जाते है और विद्रोह कर बैठते है। इसके विपरीत यदि दण्ड-शक्ति का प्रयोग ठीक प्रकार से किया जाय तो जनता मे सर्वत्र धर्म का राज्य रहता है।

(२) यद्यपि प्राकृतिक विज्ञान की भांति राजनीति में प्रयोग व परीक्षण सम्भव नही हैं और एक निश्चित समुदाय को प्रयोग के लिये प्रयोगशाला या परीक्षण की नली में नही रखा जा सकता, फिर भी वृहत् दृष्टिकोण से राजनीति मे नित्य प्रयोग हो रहे हैं। राज्य जब भी कोई नया कानून बनाता है अथवा किसी नई नीति का अनुसरण करता है या जब अन्य किसी प्रकार की शासन व्यवस्था को अपनाता है, तो वह एक प्रकार का राजनीतिक परीक्षण ही है। ब्रिटेन और भारत मे मन्त्री-परिषद प्रणाली है जब कि अमरीका में अध्यक्षात्मक प्रणाली। इन दोनों पद्धतियों का अवलोकन कर हम यह जान सकते है कि कौन सी शासन पद्धति, समय और परिस्थितियों के अनुसार अधिक उपयुक्त है। हिटलर और मुसोलिनी ने एक नये सिद्धान्त का परीक्षण किया, जिसे नाजीवाद व फासीवाद कहा जाता है। साम्यवाद का परीक्षण आज रूस, चीन आदि राज्यों में जारी है।

(३) यद्यपि राजनीति शास्त्र मे प्राकृतिक विज्ञान की भांति निश्चित भविष्यवाणी नही की जा सकती, पर यह तो मानना ही होगा कि इस शास्त्र से भी भविष्यवाणी करना सम्भव है। डा० फाइनर ने कहा है—"हम भविष्य की सम्भावनाओं के विषय मे तो अवश्य ही भविष्यवाणी कर सकते है, चाहे उसे हम पूर्ण निश्चय के साथ न भी कह सकें।" ब्राइस ने लिखा है कि—"भौतिक विज्ञान में भविष्यवाणी निश्चित होती है, राजनीति मे सम्भावना से अधिक नही।" लास्की ने इसका कारण बताते हुए कहा है कि "राजनीति शास्त्र के पास गणित के गुण नही है।""""हम प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हैं और अनुभव के आधार पर भविष्यवाणी कर सकते हैं। हमारी भविष्यवाणी इस बात से सीमित है कि तथ्य हमारे नियन्त्रण में नही है।"

पुनश्च, यह तथ्य स्मरणीय है कि अनेक प्राकृतिक विज्ञान भी अधिकांशतः सापेक्ष सत्य (Relative Truth) ही बताते हैं, पूर्ण सत्य

(Absolute Truth) नही। उदाहरणार्थ, ऋतु-विज्ञान को ही लीजिये। यह निश्चय सिद्धान्त की घोषणा नही करता वरन् सम्भावित सिद्धान्त ही निश्चित करता है। ऋतुओं के सम्बन्ध में इसके सिद्धान्त सर्वथा सत्य नही होते। अतः यदि राजनीति-शास्त्र के सिद्धान्त भी पूर्ण सत्य प्रमाणित नही होते हो और उनके बदलने की सम्भावना बनी रहती हो तो केवल इसी आधार पर उसे विज्ञान के पद से गिरा देना अनुचित है।

(४) विज्ञान को क्रमबद्ध ज्ञान माना जाता है और राजनीति भी एक क्रमबद्ध ज्ञान है। आज राजनीति ज्ञान की एक पृथक् शाखा है जिसका क्षेत्र निश्चित है, जिसके अधिकांश नियम स्थापित हो चुके है और जिसकी अनेक मौलिक बातों का अन्वेषण किया जा चुका है। इसकी सभी बातों को एक क्रम से सजोया जा सकता है और पढा जा सकता है। उदाहरण के लिए राजनीति-शास्त्र राज्य की उत्पत्ति, विकास, उसके फलस्वरूप आदि के बारे मे एक क्रमबद्ध ज्ञान प्रस्तुत करता है। अतः इस दृष्टि से भी राजनीति-शास्त्र की वैज्ञानिकता सिद्ध होती है।

(५) विज्ञान की तरह राजनीति से भी विधियों के सहारे एक निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। राजनीति का विद्यार्थी तथ्यों को एकत्र करता है। फिर वह कार्य-कारण का तारतम्य मिलाता है और तब सम्बन्धित सिद्धातो की खोज करके सामान्य निष्कर्ष निकालता है। राजनीति में ऐतिहासिक तथ्यों के संचय, राजनीतिक संस्थाओ के कार्यों के परीक्षण और वर्गीकरण आदि के द्वारा कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर पहुचा जा सकता है। इस तरह राजनीति में सामान्य सिद्धान्त और नियम प्रतिपादित किये जा सकते है। उदाहरणार्थ, इस सामान्य नियम की सत्यता से इन्कार नही किया जा सकता कि समुचित न्याय के लिए न्यायपालिका को कार्यपालिका से स्वतन्त्र रहना चाहिए अथवा प्रजातन्त्र की सफलता के लिए जनता को चेतनशील व शिक्षित होना चाहिए।

इन सब तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि राजनीति एक विज्ञान है, भले ही प्राकृतिक विज्ञानों की तरह वह पूर्ण न हो। इस प्रकार 'राजनीति के विज्ञान' (A science of Politics) का आज अस्तित्व है।

राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति के सम्बन्ध में पुस्तक के द्वितीय अध्याय मे काफी प्रकाश डाला जा चुका है अतः पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

EXERCISES

Part I and II

1. Describe the role played by theory in the development of political thought and institutions, and discuss, in particular, the contribution made by contemporary *political scientists in emphasizing the importance of* this role.

   राजनीतिक चिन्तन तथा सस्थाओ के विकास मे सिद्धान्त (Theory) का क्या स्थान है, यह स्पष्ट करते हुए विशेष रूप से यह समझाने का प्रयत्न कीजिए कि हमारे समकालीन राजनीति-शास्त्रियो का इसके महत्व को बढ़ाने मे क्या योग है ।

2. Discuss the nature and scope of Political Science according to traditionalist writers, and point out the major contribution made in their discussion by contemporary writers, particularly by Lasswell and Easton.

   राजनीति-शास्त्र की प्रकृति और क्षेत्र के सम्बन्ध मे परम्परावादी (Traditionalist) लेखको के विचारो का उल्लेख कीजिए, और यह बताइए कि इस सम्बन्ध मे अर्वाचीन लेखकों, विशेषकर लासवेल (Lasswell) और ईस्टन (Easton) की क्या विशेष देन रही है ?

3. What do you think of the attempts made in recent years to emphasize the 'scientific' character of political studies ? Discuss the advantages and limitations of this kind of approach.

   पिछले कुछ वर्षों में राजनीति-सम्बन्धी अध्ययनों में "वैज्ञानिक' पक्ष को दृढ़ बनाने के सम्बन्ध में जो प्रयत्न किए गए है उनके सम्बन्ध मे आपकी क्या राय है ? इस प्रकार के दृष्टिकोण के लाभ तथा उसकी मर्यादाएं दोनों स्पष्ट कीजिए ।

4. What do you understand by the 'neutrality of political analysis' ? Discuss, in this connection, the views of Robert Dahl.

   'राजनीतिक विश्लेषण की तटस्थता' से आपका क्या अभिप्राय है ? इस सम्बन्ध मे राबर्ट डाल (Robert Dahl) के विचारों का विशेष रूप से उल्लेख कीजिए ।

5. Discuss the Sociological approach to the study of Politics. How would you distinguish between Sociology of Politics and Political Sociology ?

राजनीतिक सिद्धान्त के प्रति समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिए। राजनीति-शास्त्र के समाज-विज्ञान (Sociology of Politics) और राजनीतिक समाज विज्ञान (Political Sociology) में आप क्या अन्तर समझते हैं ?

6. "Political Science is concerned with the function in society of control, with the acts that issue in control, with wills, and with the structures resulting from the control relationship of wills." —G.E G. Catlin.

Elucidate the above statement in the light of the definition of Political Science as given by Catlin.

"राजनीति-शास्त्र का सम्बन्ध समाज में नियन्त्रण की प्रक्रिया से है, कार्यों से है जो नियन्त्रण के फलस्वरूप सामने आते है, इच्छाओं से है, तथा संस्थाओं से है जो इच्छाओं के नियंत्रक सम्बन्धों का परिणाम है।" —कैटलीन

राजनीति-शास्त्र की कैटलीन द्वारा दी गई व्याख्या के संदर्भ में उक्त वक्तव्य की विवेचना कीजिये।

7. "By far the most interesting trend in contemporary political studies is the widespread determination to reduce politics to nonpolitical terms .. .. It would seem that politics is psychology, or it is sociology, that it is moral philosophy or theology .....that it is almost anything but politics." —Norman Jacobson

How far do you agree with the above comment ? What should in your opinion, be the relationship of Political Science with Psychology and Sociology ?

"समकालीन राजनीतिक अध्ययन में सबसे रोचक प्रवृत्ति है राजनीति को अ-राजनीतिक रूप देने का व्यापक और दृढ़ प्रयत्न.... मानो राजनीति मनोविज्ञान है, अथवा समाज शास्त्र है, वह नैतिक-दर्शन है अथवा धर्म-शास्त्र है...., अर्थात् राजनीति के अतिरिक्त वह सब कुछ है।" —नार्मन जैकबसन

उपर्युक्त विचार से आप कहां तक सहमत है ? आपके मत में राजनीति-शास्त्र का मनोविज्ञान-शास्त्र तथा समाज . . सम्बन्ध होना चाहिये ?

8. What is meant by "behaviouralist approach" in Political Science ? How do you distinguish it from the *traditionalist approach* ? Mention the major arguments advanced in favour of, as. well as against, each approach.

राजनीति-शास्त्र में 'व्यवहार-गत दृष्टिकोण' का क्या अर्थ है ? परंपरागत दृष्टिकोण और इसमे क्या भेद है ? प्रत्येक दृष्टिकोण के पक्ष तथा विपक्ष मे दिये गये प्रमुख तर्कों का उल्लेख कीजिए।

9. Describe, in outline, the major developments in *the field of political theory in the twentieth century* and discuss, in some details, the views of Harold Lasswell and Robert Dahl.

बीसवीं शताब्दी में राजनीति-सम्बन्धी सिद्धान्तों के क्षेत्र में होने वाले विकास की प्रमुख विधाओं का संक्षेप मे उल्लेख कीजिए, तथा कुछ विस्तार से, हैरल्ड लासवेल और राबर्ट डाल के विचारों का विश्लेषण कीजिए।

10. "Politics deals with human relationship of dominance and submission of the governors and the governed " (V O. Key). Discuss.

"........राजनीतिशास्त्र प्रभुत्व एवं अधीनस्थता तथा प्रशासक और प्रशासित के मानवीय सम्बन्धों पर विचार करता है।" (वी. ओ. की) विवेचना कीजिए।

11. "Political Science as an empirical discipline to the study of the shaping and sharing of power." (Harold D. Lasswell). Do you agree with the statement of Harold D. Lasswell ?

"एक अनुभववादी व्यवस्था के रूप मे राजनीतिशास्त्र शक्ति की रूप-रचना एवं उपभोग का अध्ययन है।" क्या आप हेराल्ड डी० लॉसवेल के उपरोक्त कथन से सहमत हैं ?

12. "Political Science is intimately related to all those science which deal with man in organised society". Expand the statement.

"राजनीतिशास्त्र उन सब शास्त्रों से सम्बन्धित है, जो सङ्गठित समाज में मनुष्यों से सम्बन्ध रखते हैं।" इस कथन का विस्तार कीजिए।

13. "A political system is any persistent of human relationship, that involves, to a significant extent, power, rule and authority." (Robert A. Dahl). In light of this statement discuss the nature of Political Science.

"राजनीतिक व्यवस्था, मानवीय सम्बन्धो का ऐसा कोई भी रूप है जिसमें कुछ मात्रा तक शक्ति, नियम और सत्ता रहते हैं।" इस कथन के प्रकाश मे राजनीति शास्त्र की प्रकृति की विवेचना कीजिए।

14. "Technology has modified our institutes, our economics, our politics, our ethics, our religion and it has compounded our problems of social livings." (Snyder Wilson). Explain.

"तकनीकी ने हमारी संस्थाओं, हमारे अर्थशास्त्र, हमारी राजनीति, हमारी नीति-शास्त्र तथा हमारे धर्म को परिवर्तित कर दिया है और इसने हमारी सामाजिक जीवन की समस्याओ को संयुक्त कर दिया है।" (स्नाइडर विलसन) व्याख्या कीजिए।

15. "The lines of politics are not like the lines of Mathematics. they are broad and deep as well as long. They admit of exceptions; they demand modification. No lines can be laid down for civil or political wisdom. They are a matter uncapable of exact definition." (Edmund Burke).

Discuss the above statement critically and make a correct statement of the nature of Political Science. Do you *regard it in exact sense ?*

"राजनीति शास्त्र की [illegible] [illegible] जैसी नहीं है वे विस्तृत, गहरी एवं लम्बी हैं। इनमें [illegible] भी होते है, इनमें परिवर्तन भी कर सकते हैं। नागरिक या राजनीतिक बुद्धि के लिए कोई निश्चित मार्ग निर्धारित नही किया जा सकता इसकी निश्चित परिभाषा भी नही की जा सकती।" (एडमण्ड बर्क)

उपर्युक्त कथन की [illegible] विवेचना कीजिए और [illegible] नीतिशास्त्र के स्वरूप को ठीक तरह समझाइये। [illegible] निश्चित विज्ञान मानते है ?

16. Discuss the decision-making approach [illegible] has developed it in the Study of politics [illegible] What are the major limitations of the [illegible] your point of view ?

राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन में स्नाइडर द्वारा विकसित निर्णय - निर्माण सम्बन्धी दृष्टिकोण की समीक्षा कीजिए तथा यह बताइए कि, आपके विचार में, इस दृष्टिकोण की प्रमुख कमियां क्या है ?

17. Describe briefly some of the new approaches developed by political scientists in the study of processes concerning political development in non-western societies and evaluate the contribution made in this field by Gabriel Almond and Lucian Pye.

नव-विकसित समाजों की राजनीति विकास सम्बन्धी प्रक्रियाओं के अध्ययन के सम्बन्ध में अपनाए गए कुछ नये दृष्टिकोणों का विवेचन कीजिए । इस क्षेत्र मे गेब्रियल आमंड तथा लूसियन पाई की देन का भी मूल्यांकन कीजिए ।

PART III

1. Indicate the fundamental ideas of the Idealistic theory of the state and add a short criticism.

   राज्य के आदर्शवादी सिद्धांत के प्रमुख विचारों का संक्षिप्त विवरण दीजिए और उसकी आलोचना भी कीजिए ।

2. What do you think of the preposition that individual freedom is achieved on in service of the state ?

   आपका इस सिद्धात के विषय मे क्या मत है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता केवल राज्य में ही प्राप्त हो सकती है ?

3. "The Idealistic theory of the state exalts the position and reduces the individual to the status of purely slavery, which is utterly mischievous and highly dangerous." Comment.

   "राज्य का आदर्शवादी सिद्धांत राज्य की स्थिति को अत्यधिक ऊंचा करता है और उसे निरंकुश बनाता है जो कि बहुत ही खराब और अत्यधिक खतरनाक है।" व्याख्या कीजिए ।

4. State briefly and examine the main features of the Idealistic theory as expounded by Green.

   ग्रीन द्वारा प्रतिपादित राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त को संक्षेप में बताइये और उसके मुख्य लक्षणों को जांचिए ।

5. "The state has no positive function of making members better, it has the negative moral function of removing the obstacles which prevent them from making themselves better." Comment.

"राज्य का यह विधानात्मक कार्य नही है कि वह अपने नागरिकों को अधिक अच्छा बनाये; उसका निषेधात्मक कार्य उन बाधाओं को दूर करना है जो उन्हे स्वय अपने आपको अधिक अच्छा बनाने से रोकती है।" व्याख्या कीजिए।

6. "The state is simply a policeman and its duty is neither more or less than to prevent robbery and murder and to enforce contracts." Discuss it.

"राज्य केवल एक पुलिसमैन है और उसका कार्य केवल डकैती तथा हत्याओं को रोकना एवं समझौतो को लागू करना है।" विवेचना कीजिए।

7. "The principal function of the state is to protect and restrain, not to foster and promote" Examine critically.

"राज्य के मुख्य कार्य रक्षात्मक और नियन्त्रणात्मक है, अभिव्यक्ति या पोषण नही।" आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

8. What are the main concepts of Modern Individualism ? How do they differ with the individualist thinking of 18th and 19th centuries

आधुनिक व्यक्तिवाद के प्रमुख विचार क्या है ? उनमें तथा १८वी व १९वी सदी के व्यक्तिवादी विचारों मे क्या अन्तर है ?

9. State and examine critically the Marxian theory of social development and determine the extent to which it has been outdated and outnoted by recent development.

मार्क्स के सामाजिक विकास सिद्धान्त की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये और निश्चित कीजिये कि आधुनिक विकास द्वारा किस सीमा तक पुरानी पड़ चुकी हैं ?

10. Give a critical estimate of Marxian theory Class Struggle, (b) Surplus Value,

मार्क्स के (अ) वर्ग-संघर्ष एवं (ब) अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्तों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।

11. "What I did new was to prove (i) that the existence of classes is only bound up with the particular historic phases in the development of production; (ii) that the class struggle necessarily leads to the dictatorship of the proletariat; (iii) that this dictatorship itself only constitutes the transition to the abolition of all *classes and to a classless society.*" *(Marx).* Do you agree with these three claims of Marx ? Give reasons in support of your answer.

"जो कुछ भी मैंने नया किया वह यह सिद्ध करना था कि (i) वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के विकास में होने वाले विशेष ऐतिहासिक पहलुओं से आबद्ध है, *(ii) वर्ग-संघर्ष आवश्यक रूप से श्रमिकों के अधिनायकत्व की ओर ले जाता है, (iii) यह अधिनायकत्व स्वयं केवल मात्र उस संक्रमणकालीन अवस्था की रचना करता है जिसमे सभी वर्गों की समाप्ति होगी और बाद मे एक वर्गहीन समाज की स्थापना होगी।" (मार्क्स) क्या आप मार्क्स के इन दावों से सहमत हैं ? अपने उत्तर के समर्थन में कारण बताइये।*

12. "Indeed, the divergence of interests within the ruling and the ruled classes goes so far that Marx's theory of classes must be considered as dangerous over simplification, even if we admit that the issue between the rich and the poor is always of fundamental importance." Discuss.

"शासन करने वाले वर्ग एवं शासित लोगों के हितों के मध्य मार्क्स के विचारो के अनुसार इतना अधिक अन्तर है, कि उसका वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत सामाजिक शांति के लिये अत्यधिक घातक सिद्ध हो सकता है यद्यपि धनिकों एवं निर्धनों के मध्य संघर्ष सदैव से ही एक मौलिक महत्व का सिद्धांत माना गया है।" विवेचना कीजिये।

13. What is the Marxian Theory of State ? Discuss briefly.

मार्क्स का राज्य के सम्बन्ध में क्या सिद्धान्त है ? संक्षेप मे विवेचना कीजिये।

14. "Capitalism produces its own grave-diggers." Discuss this theory of Marx and examine how according to Marx transformation from capitalism is brought about ?

"पूंजीवाद स्वयं अपनी कब्र खोदने वालों को जन्म देता है।" मार्क्स के इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए बतलाइये कि पूंजीवाद का वह किस प्रकार अन्त करना चाहता है।

15. "Marxism is out of date." Do you agree with this view ? Give reasons.

"मार्क्सवाद अब पुराना पड़ गया है अथवा प्रचलन से बाहर है।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं ? कारण बताइये।

16. "Leninism is the Marxism of the epoch of Imperialism." Discuss the essential principles of Marxism and show how Lenin has reinterpreted them.

'लेनिनवाद साम्राज्यवाद के युग का मार्क्सवाद है।' मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन कीजिये और बताइये कि लेनिन ने किस प्रकार उनका पुनः निर्वाचन किया है ?

17. "Fascism is simply the transference of the ideals of action, of leadership and of the team spirit for the realm of athletics to that of Politics." Is this a correct estimate of Fascism ?

"फासिज्म कर्म, नेतृत्व तथा मिलकर कार्य करने की भावना का खिलाड़ियों के क्षेत्र से राजनीतिक क्षेत्र में स्थानांतरण मात्र है।" क्या यह फासिज्म का सही मूल्यांकन है ?

18. Facism is often described as predominantly a movement of bourgeoistic resistance to socialist or liberal reforms on behalf of the common man." Do you agree with this view ?

"फासिज्म के विषय में प्रायः यह कहा जाता है कि वह समाजवादी सुधारों के प्रति विशेष रूप में जन साधारण की ओर से पूंजीपतियों के प्रतिरोध का आन्दोलन है।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं ?

19. Examine carefully the case for the organization of the state on Fascist lines,

यदि राज्य का संगठन फासिस्ट-पद्धति पर किया जाय तो कैसा हो ? सयुक्ति अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए ।

20. "Fascism is the antithesis of all that is democratic, liberal and socialistic." Explain the above.

"फासिस्टवाद, लोकतन्त्रवादी, उदारवादी तथा समाजवादी विचारों का प्रतिवाद है"—इसकी विवेचना करो ।

21. "Fascism is the antithesis of democracy." Elucidate.

"फासिज्म लोकतन्त्र का विरोधी है" स्पष्ट कीजिए ।

22. 'Nothing beyond the state, nothing against the state, every thing for the state is the central feature of Fascism.' Elucidate.

"राज्य के बाहर कुछ नहीं है, राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं है, प्रत्येक बात राज्य के लिए हो, यह फासिज्म का प्रधान तत्व है ।" स्पष्ट कीजिये ।

23. "Nationality, like religion, is subjective, statehood, is objective; nationality is psychological, statehood is political, nationality is a condition of mind, statehood is a condition of law, nationality is a spiritual possession, statehood is an enforceable obligation, nationality is a way of feeling, thinking and living, statehood is a condition in separable from all civilized ways of living."

In light of this statement of Zimmern, explain Nationalism and distinguish between State and Nation.

"राष्ट्रीयता का सम्बन्ध धर्म की भांति चेतना से है, राजत्व भौतिक है राष्ट्रीयता मनोवैज्ञानिक, राजत्व है राजनीतिक,राष्ट्रीयता मनःस्थिति है। राजत्व कानूनी स्थिति, राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक सम्पत्ति है, राजत्व एक अनिवार्य उत्तरदायित्व, राष्ट्रीयता एक भावना विचार तथा जीवन का मार्ग है राजत्व समस्त सभ्यतापूर्ण जीवनपूर्ति की एक अविच्छेद्य दशा ।"

जिम्मर्न के उपर्युक्त कथन के प्रकाश में राष्ट्रवाद की व्याख्या कीजिए और राष्ट्र तथा राज्य का अन्तर बताइये ।

24. On what grounds has the doctrine of political nationalism been criticized in recent times ? How far the criticism is justified ?

राजनीतिक राष्ट्रवाद के सिद्धात को आधुनिक समय में किन आधारों पर आलोचना की गई है ? क्या यह आलोचना उचित है ?

25. Mention some of the principal virtues and vice of nationalism. What form of national political structure do your suggest to reconcileit with Internationalism ?

राष्ट्रवाद के गुण व दोष बताइये। आप उसे अन्तर्राष्ट्रीयता के साथ समन्वित करने के लिए किस-किस प्रकार के संगठन का सुझाव देंगे ?

26. "Nationalism, when it becomes synonymous with the purest patriotism, will prove an unique blessing to humanity and to the world." Elucidate.

"जब राष्ट्रवाद शुद्ध देश-भक्ति का रूप धारण करता है तो वह मानवता तथा ससार के लिए अद्वितीय वरदान सिद्ध होता है।" व्याख्या कीजिए।

27. Examine the arguments far and against the principle of one nation one state.

"एक राष्ट्र एक राज्य" के पक्ष व विपक्ष मे तर्क दीजिए।

28. What are the factors obstructing the growth of Internationalism and the establishment of an effective world order ?

वे कौनसी बाते हैं जो कि अन्तर्राष्ट्रीयता की वृद्धि और एक प्रभावशाली विश्वतन्त्र की स्थापना मे बाधा उत्पन्न कर रही है ?

29. "The imperialist phase of capitalist development necessary involves war and an effective international order is in competible with it." Discuss.

"पूँजीवादी विकास की साम्राज्यवादी अवस्था का निश्चित अन्त युद्ध है और एक प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का उसके साथ निर्वाह नही हो सकता।" विवेचना कीजिए।

30. What do you understand by Internatic
Why has it become inevitable in the 20th ·

Enumerate in brief the impediments in the development of International outlook. Suggest ways and means to overcome them ?

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद से आप क्या समझते है ? वह २०वीं शताब्दी मे क्यों अवश्यंभावी है ? अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के विकास में मुख्य बाधाएँ कोन-कोन सी है और उन्हे मिटाने के लिए क्या-क्या किया जाना चाहिए ?

31. What are the basic principles of Gandhism? Does it wish to reduce the functions of the State to the minimum ?

गांधीवाद के प्रमुख सिद्धांत क्या है ? क्या गांधीवाद राज्य को कम से कम कार्य सोंपना चाहता है ?

32. Discuss the arguments in favour of decentralisation of the State. Do you think that political decentralisation would not be feasible or lasting without economic decentralisation ? Give a brief outline of the politically and economically decentralised State as conceived by Gandhiji ? Are there any political difficulties in realising it ?

राज्य के विकेन्द्रीकरण के पक्ष मे तर्कों की विवेचना कीजिए । क्या आप सोचते है कि राजनैतिक विकेन्द्रीकरण के बिना आर्थिक विकेन्द्रीकरण स्थायी तथा कर्मयोग्य नही बनेगा ? गांधी द्वारा कल्पित राजनैतिक तथा आर्थिक विकेन्द्रित राज्य की संक्षिप्त रूप-रेखा दीजिए । क्या उसको उपार्जित करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां हैं ?

33. How far would it be correct to regard Mahatma Gandhi as a political philosopher ? Discuss the value of his contribution to the political thinking of our times.

महात्मा गाधी को एक राजनैतिक दार्शनिक मानना कहां तक ठीक होगा ? हमारे वर्तमान काल की राजनीतिक विचारधारा को उनकी देन का मूल्यांकन कीजिए ।

34. "State is one of the means of enabling people to better their condition in every department of life."
"A nation that runs its affairs smoothly and effectively without much state interference is truly democratic.

Where such condition is absent the form of government is democratic only in name."

"It is a better to be violent if there is violence in our breasts than to put on the cloak of non-violence to cover importance."

Describe Gandhism fully the special reference to Gandhi's ideas found in the above Statements.

"राज्य मनुष्य जीवन के हर क्षेत्र में उसको उन्नत बनाने वाले साधनों में से एक है ।"

"एक राष्ट्र जो बिना राजकीय हस्तक्षेप के अपने कार्य सुगमता तथा प्रभावशाली ढङ्ग से करता है, वास्तव मे सच्चे रूप मे प्रजातन्त्रात्मक है। जहा ऐसी अवस्था नही है, वहां शासन प्रणाली केवल नाम मात्र के लिए प्रजातन्त्रीय है।"

"अगर हमारे हृदय मे हिंसा भरी है तो हिंसक होना इससे अधिक अच्छा है कि हम अपनी नपुसकता को ढकने के लिए अहिंसा का आवरण पहने।"

गाधीवाद का पूर्ण रूप से वर्णन कीजिए और उपरोक्त कथनो मे प्राप्त गाधीजी के विचारो का विशेष रूप से उल्लेख कीजिए।

35. "Gandhiji spiritualised Politics and liberalized religion." Comment.

"गाधी ने राजनीति को आध्यात्मिकता से और धर्म को उदारता से ओत-प्रोत किया।" विवेचना कीजिए।

36. Critically analyse the religious basis for the evolution of Gandhian Philosophy and Political Ideas.

गांधीजी के दर्शन तथा राजनीतिक विचार के विकास के धार्मिक आधार का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत कीजिए।

37. "I look upon an increase in the power of the state with the greatest fear."(Gandhi) Discuss (a) the grounds on which Gandhiji rejects the modern state and [illegible] conception of an ideal polity.

"मैं राज्य की शक्ति में वृद्धि को सबसे अधिक [illegible] देखता हूं" (गांधीजी) विवेचना कीजिए कि [illegible] जिन पर कि गांधीजी वर्तमान राज्य का [illegible] एक आदर्श [illegible] की उनकी धारणा [illegible]

38. "Supply brain to them (the Landlords and Capitalists) and remove the present terrible inequality between them and peasants and workers." Discuss Gandhiji's theory of property and trusteeship.

"भूमिपतियों और पूंजीपतियों को चेतना दो और कृषकों, श्रमिकों व उनके मध्य की वर्तमान भयानक असमानता को दूर करो।" गांधीजी के सम्पत्ति और ट्रस्टीशिप के सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

39. Describe the main features of the non-violent state as conceived by Mahatma Gandhi. Is the ideal of a non-violent state at all realisable ?

महात्मा गांधी के विचारानुसार एक अहिंसात्मक राज्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। क्या एक अहिंसात्मक राज्य की स्थापना व्यावहारिक रूप से सम्भव है ?

0. Do you agree with the view that Mahatma Gandhi's political philosophy *is nothing but pure* humanitarian philosophy ?

क्या आप इस मत से सहमत हैं कि महात्मा गांधी का राजनैतिक दर्शन कुछ नही केवल मानवता का दर्शन है।

1. Describe the essential characteristics of the *Gandhian view of the state. How are they related to* the existing conceptions of democracy and socialism ?

राज्य से सम्बन्धित गाधीवादी दृष्टिकोण के आवश्यक लक्षणों की व्याख्या कीजिए। वे वर्तमान लोकतन्त्र तथा समाजवाद के सिद्धांत से कहां तक सम्बन्धित है ?

PART IV

1. "Austin primarily endevoured to built up an exact juristic terminology and to present a clear outline of the organization of a government's legal power." (Sabine) Discuss.

"आस्टिन का मुख्य ध्येय न्यायशास्त्र सम्बन्धी ठीक-ठीक परिभाषा का निर्माण और सरकार के वैध अधिकारों के सङ्गठन की स्पष्ट रूपरेखा उपस्थित करना था।" (सेबाइन) विवेचना कीजिए।

2. "Sovereignity is obsolete." Do you agree with this statement ? Also discuss the characteristics of sovereignity.

"सम्प्रभुता का सिद्धांत अप्रचलित या लुप्त हो गया है।" क्या आप इस विचार से सहमत है ? सम्प्रभुता की मुख्य विशेषताओं का वर्णन भी कीजिए ।

3. Discuss the pluralistic criticism of the classical or monistic theory of sovereignty.

प्रभुसत्ता के एकत्ववादी सिद्धान्त की बहुलवादियों द्वारा की गई आलोचनाओं की व्याख्या कीजिए ।

4. "With the change in our social and economic order of society the conceptions of 'Liberty' and 'equality' also change."

Explain the views of economic independence and equality under the present conditions of life in the light of the above statement.

"हमारे समाज की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के साथ-साथ स्वतन्त्रता और समानता के दृष्टिकोणों में भी परिवर्तन होता है।"

इस कथन को ध्यान में रखते हुए वर्तमान दशाओं में आर्थिक स्वतन्त्रता और समानता के दृष्टिकोणों की व्याख्या कीजिए ।

5. "Civil liberty is not the absence of restraint but an opportunity for self-development." Discuss.

"नागरिक स्वतन्त्रता नियन्त्रण का अभाव नहीं है अपितु आत्म-विकास के लिए अवसर है।" विवेचना कीजिए ।

6. "Eternal vigilance is the price of liberty." Describe the safeguards and discuss the value of the theory of separation of powers in this connection

"स्वतन्त्रता का मूल्य निरन्तर सतर्कता है।" इस कथन के प्रकाश में स्वतन्त्रता की रक्षा के उपाय बताइए और इस सम्बन्ध में पृथक्करण के सिद्धान्त के मूल्य को आँकिए ।

7. "The passion of equality makes vain the freedom." (Lord Acton)

"Liberty and equality are not opposed to each other but supplementary to each-other."

With which of these views do you agree? Give reasons for your answer.

"समानता के साथ स्वतन्त्रता की आशा व्यर्थ है ।" (लार्ड एक्टन) ।

"स्वतन्त्रता और समानता के आदर्श परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक है ।" (लास्की)

आप इन दोनो दृष्टिकोणों मे से किससे सहमत है ? कारण सहित उत्तर दीजिए ।

8. "Authority is not the contradiction of freedom, but springs from it and is its polar contrary and complement." (Catlin.)

Define the concepts of authority and freedom as used by contemporary political scientists, and examine their relationship with each other.

"शासन स्वतन्त्रता का विरोधी नही है परन्तु उसीसे उत्पन्न होता है और एक विरोधी ध्रुव पर टिका होने हुए भी, उसका पूरक है ।" (कैटलीन)

स्वतन्त्रता तथा शासन का वह अर्थ बताइए जिसमें राजनीति-शास्त्र के आधुनिक विद्वान इन शब्दो का प्रयोग करते है तथा इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धो की विवेचना कीजिए ।

9. Discuss the relationship between power and influence, and the views of some of the leading political scientists on the subject.

शक्ति और प्रभाव के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए और इस विषय मे राजनीति-शास्त्र के कुछ प्रमुख विद्वानो के विचारो का उल्लेख कीजिए ।

10. Discuss the concept of power as developed by the following writers:—

(i) Morgenthau (ii) Merriam (iii) Lasswell (iv) Russell

शक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित लेखकों के विचारों की समीक्षा कीजिए—

(i) मोर्गेन्था (ii) मेरियम (iii) लासवेल (iv) रसेल ।

11. "Political culture, then refers to the patterns that can be inferred from the political behaviour of groups as well as the belief, guiding principles, purposes and the values that the individuals in a group, whatever its size, hold in common." (Heiuz Eulau)

In light of this statement define political culture. Also describe its characteristics, forms and scope.

"राजनैतिक संस्कृति उन रूपों की ओर इशारा करती है जिनका अनुमान समूहों के राजनीतिक व्यवहार से तथा एक समूह के व्यक्तियों के सामान्य विश्वासों, निर्देशक सिद्धान्तों, उद्देश्यों एवं मूल्यों से लगाया जा सकता है, चाहे उस समूह का आकार कुछ भी क्यों न हो।"
(हैन्ज यूला)

इस कथन के प्रकाश में राजनीतिक संस्कृति की परिभाषा दीजिए। साथ ही इसकी विशेषताओं, रूपों और क्षेत्र का भी वर्णन कीजिये।

12. Write a short essay on-(i) Political Elite, and (ii) Political Development.

इन पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए—

(i) राजनीतिक विशिष्ट वर्ग, एवं (ii) राजनीतिक विकास।

PART V and VI

1. "Above all demoracy is a difficult form of government, for the assumptions on which it rests, are difficult of fulfilment."

Define democracy. What are its advantages and disadvantages ?

"प्रमुख बात यह है कि प्रजातन्त्र एक कठिन शासन प्रणाली है क्योंकि यह जिन आधारों पर निर्भर है, वे मुश्किल से प्राप्त होते हैं।"

प्रजातन्त्र की परिभाषा दीजिए। इसके हानि-लाभ क्या हैं ?

2. What is dictatorship ? What are its merits and demerits ? Do you agree that dictatorship is no substitute for democracy ?

तानाशाही क्या है ? इसके गुण-दोष क्या है ? क्या आप इसमें सहमत हैं कि तानाशाही प्रजातन्त्र का अनुकल्प नहीं हो सकता ?

3. Examine the essential features of democracy. Is it true that democracy in the political sphere is impossible without democracy in the economic sphere ?

प्रजातन्त्र की प्रमुख विशेषताओ की समीक्षा कीजिए। क्या यह सच है कि आर्थिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र के अस्तित्व के बिना राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र असम्भव है ?

4. Analyse the concept of dictatorship and show that all consitutions contain some elements of dictatorsbip·

अधिनायकवाद का विश्लेषण कीजिए, और यह दिखाइये कि सभी संविधानों में अधिनायकवाद के कुछ तत्व विद्यमान रहते है।

5. "Division of power is the basis of civilized Government. It is what is meant by *constitutionalism.*" Discuss.

"सभ्य शासन का आधार शक्ति विभाजन है। संविधानवाद का यही अर्थ है।" विवेचना कीजिये।

6. "Constitutionalism very briefly means a system, a political system, which contains within-itself the principles of separation of governmental powers." Examine the truth of this statement.

"संविधानवाद का संक्षिप्त अर्थ है—एक पद्धति, एक ऐसी राजनीतिक पद्धति, जिसमे सरकारी शक्तियो के विभाजन का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक स्वरूप निहित हो।" इस कथन की सत्यता की परीक्षा कीजिये।

7. "The most ancient, the most persistent and the most lasting of the essentials of true constitutionalism still remains what it has been almost from the beginning, the limitation of government by law." Discuss the nature and essentials of constitutional government in the light of the above statement.

"सच्चे संविधानवाद का सर्वाधिक प्राचीन, सर्वाधिक आग्रहयुक्त और सर्वाधिक स्थायी तत्व आज भी वही है जो लगभग प्रारम्भ से ही रहा है और वह है—शासनतन्त्र (सरकार) का विधि या कानून द्वारा परिसीमित (सीमित किया जाना)।"

उपरोक्त कथन के प्रकाश में संविधानवाद की प्रकृति और उसके आवश्यक तत्वों की विवेचना कीजिये ।

8. "There are two issues which confront constitutionalism to-day, socialism and the international or world order." Discuss.

"समाजवाद और अन्तर्राष्ट्रीय या विश्व-व्यवस्था—ये दो बातें ऐसी हैं जिनका आज संविधानवाद को सामना करना पड़ रहा है ।" विवेचना कीजिये ।

9. "Political parties represent the social structure of a country." Discuss.

"राजनैतिक दल देश की सामाजिक संरचना का प्रतिनिधित्व करते है ।" विवेचना कीजिये ।

10. "Without the existence of organised parties the functioning of Parliamentary Government would be impossible."

"One party government is the very negation of democracy."

Elucidate.

"संगठित राजनैतिक दलों के बिना संसदात्मक सरकार का चलना असम्भव है ।"

"एक ही राजनैतिक दल के हाथ मे सरकार का आ जाना जनतन्त्र का एकदम निषेध है ।"

व्याख्या कीजिये ।

11. Define a political party. What are its functions ?

राजनैतिक दल की परिभाषा कीजिये । इसके कार्य क्या हैं ?

12. Define public opinion. Comment on the statement "The true function of public opinion is to effect proper relation between the legal and the ultimate political sovereignty."

जनमत की परिभाषा कीजिये । इस कथन की विवेचना कीजिये कि "वैधानिक राज सत्ता तथा अन्तिम राजनैतिक सत्ता के बीच समुचित सम्बन्ध स्थापित करना ही जनता का सच्चा कार्य है ।"

13. What are the main agencies which [illegible] formation of the public opinion in [illegible] Make a special reference to the part [illegible] political parties in [illegible]

वे प्रमुख साधन क्या है जो एक आधुनिक राज्य में जनमत के निर्माण में सहायक होते हैं ? जनमत के निर्माण में राजनैतिक दलों द्वारा अदा की जाने वाली भूमिका का विशेष रूप से उल्लेख कीजिये ।

14. What would be the approach of those who believe in Communitarianism towards Party System ? Do you agree with thier views, or would you regard Party System as an inevitable part of a parliamentary system of government ? Give arguments.

समाज को एक अविच्छिन्न इकाई मानने वाले लोगों (Communitarians) का राजनीतिक दल-व्यवस्था के प्रति क्या दृष्टिकोण है ? क्या आप उनके विचारों से सहमत हैं, अथवा राजनीतिक दल-व्यवस्था को संसदात्मक शासन-व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग मानते हैं ? अपने विचार के समर्थन में उपयुक्त तर्क प्रस्तुत कीजिए ।

15. What is logical positivism ? Discuss its influence on political science, particulary on the role of values. What role would you assign to values in the study and teaching of Political Science?

तार्किक स्वीकारवाद (Logical Positivism) क्या है ? इसका राजनीति-शास्त्र पर और विशेषकर मूल्यों (values) के महत्व पर, क्या प्रभाव पड़ा, यह स्पष्ट करते हुए राजनीति-शास्त्र के अध्ययन तथा शिक्षण में मूल्यों (values) के महत्व पर प्रकाश डालिए ।

16. What do you understand by 'Science of Politics' ? Explain fully.

आप 'राजनीति का विज्ञान' से क्या समझते हैं ? पूरी तरह व्याख्या कीजिये ।

17. "In the present state of knowledge, politics far from being a science is the most backward of all the arts." (Buckle). Discuss the above statement critically and make a correct statement of the nature and scope of political science.

"ज्ञान की वर्तमान दशा में राजनीति शास्त्र का विज्ञान होना तो दूर रहा, वह कलाओं में भी अधिकतम अविकसित कला है ।" (बकल) इस कथन पर आलोचनात्मक बहस कीजिए और राजनीति शास्त्र का स्वरूप तथा क्षेत्र ठीक तरह समझाइये ।

18. "Sensibly handled with a common sense attitude to the real value of life, political theory is both a concrete and a fruitful study." Discuss.

"यदि इसे सामाजिक जीवन के यथार्थ मूल्यों के प्रति सहज-बुद्धि के दृष्टिकोण से तथा उचित रीति से किया जाय, तो राजनीतिक सिद्धान्त का अध्ययन ठोस भी है और लाभप्रद भी।" विवेचना कीजिये।

19. Maitland once remarked, "When I see a good set of examination questions headed by the word 'Political Science', I regret not the questions but the title." Is this regret justified ? Examine the claim of Political Science to be regarded as a science.

मेटलैंड ने एक बार कहा, "जब मैं कुछ प्रश्नों का शीर्षक 'राजनीतिक विज्ञान' देखता हूं तो मुझे प्रश्नो पर इतना शोक नहीं होता है जितना कि शीर्षक पर।" क्या यह उसका अफसोस उचित है। राजनीति का विज्ञान होने का दावा (claim) सिद्ध करो।

SELECTED READINGS

1. Berlin I. : Does Political Theory Still Exist ? Philosophy, Politics and Society, Second Series, eds. P. Laslett and W. G Runciman. Oxford : Blackwell, 1962.
2. Cowling M. : The Nature and Limits of Social Science, London : Cambridge University Press, 1962.
3. Mabbott, J. D. : The State and the Citizen, London : Hutchinson, 1948.
4. Runciman, W.G : Social Science and Political Theory, London ; Cambridge University Press, 1963.
5. Sabine, G.A. : History of Political Theory. New York : Holt, 1950.
6. Strauss, L. : What is Political Philosophy and Other Studies. Glencoe III. : Free Press, 1959.
7. Weldon, T.D. : The Vocabulary of Politics, Chaps. I and II. Hammondsworth, Eng : Penguin, 1953.
8. Mill, J. : Utilitarianism, Liberty and Representative Government, Yew York : Everyman's Library, 1910.
9. Mothershead, JL. : Jr. Ethics : Modern Conceptions of the Principles of Right. New York : Holt, 1955.
10. Hart, H.L.A. : The Concept of Law. Oxford : Clarendon Press, 1961.
11. Weldon, T.D. : Political Principles, Philosophy, Politics and Society, first series, ed. P. Laslett, New York : Macmillan, 1956.
12. Brown, S. K. : Inalienable Rights, The Philosophical Review, Vol XLIV. 1955.
13. Cahn. (ed) : The Great Rights, New York : Macmillan, 1953.
14. Frankena, W. K. : Natural and Inalienable Rights, The Philosophical Review, Vol. XLIV, 1955,

15. Hart, H. L. A. : Are There Any Natural Rights ? The Philosophical Review, Vol. XLIV, 1955.
16. Macdonald, M. : Natural Rights, Proceedings of the Aristotelian Society, 1947-8, Reprinted in Philosophy, Politics and Society, First Series ed. P. Laslett. New York : Macmillan, 1956.
17. Ritchie; D. G. : Natural Rights; London : Macmillan, 1903.
18. Strauss L. : Natural Rights and History; Chicago : University of Chicago Press; 1953.
19. UNESCO; Human Rights : A symposium, New York : Columbia University Press, 1949.
20. Weldon T. D. : The Vocabulary of Politics. Hammondsworth, Eng. : Penguin; 1953.
21. Adorno, T. W. and others (ed.), The Authoritarian Personality, New York : Harper, 1950.
22. Arendt, H. : The Origins of Totalitarianism, New York : Harcourt, 1951.
23. Barnstedt E. K. : Dictatorship and Police Power (London Kegan Pall 1945.)
24. Bryn Jones D. : The Delemma of the Idealist (New-York : Macmillan, 1950).
25. Dewey J : The Public and Its Problems (New York : Jolt, 1927).
26. Friedrich C. (Ed) : Totalitarianism (Cambridge : Harvard University Press, 1952).
27. Lindberg J. : Foundations of Social Survival (NewYork Columbia University Press. 1953).
28. Mill J. S. : Essay on Liberty. ed. A. Castell (New York Appleton-Century-Crofts, 1947).
29. Rieff P. : The Theology of Politics : Reflections on Politics as the Burden of Our Time (Journal of Religion Vol. XXXII, No. 2. 1952).
30. Riesman D. : Some Observation on the Limits of Totalitarian Power. (Journal of Religion, Vol. XXXII. No. 2, 1952).
31. Russel B. : Power : A New Social Analysis (London : Allen & Unwin, 1938).

32. Rayan J. A. and Boland F. J. : *Catholic Princip'es of Politics : The State and the Church.* New York : Macmillan, 1952.
33. Santhyana G. : *Dominions and Powers* (New York : 1951).
34. Weldon T. D. : *Political Foundations* (The Vocabulary of Politics, Chap. IV, Hammondoworth, Eng. : Penguin, 1953).
35. Wild J. : *Human Freedom and Social Order* (Durham : Duke University Press, 1959).
36. Gough J. W. : *John Locke's Political Philosophy* (Oxford : Clarendon Press, 1950).
37. Green T. H. : Lectures on the Principles of Political Obligation (London : Longmans Green, 1955).
38. Hegel G. W. F. : Philosophy of Right. (Trans. T. M. Knox, Oxford; Clarendon Press, 1942).
39. Hobbes T. : De Cive or The Citizen (ed S. P. Lamprocht New York : Appleton-Century-Crofts, 1947).
40. Jones G. : A Critical Review of R. Niebuhr's Political Theology, Un-published essay.
41. Lasswell H.D. : Politics: Who Gets What, When, How? (New York : Meridian, 1958).
42. Lasswell H. D. and Kaplan, A Power and Society. (New Haven : Yale University Press, 1950).
43. Lenin V. : State and Revolution and Imperialism and Imperialisic War, Vols XXI and V in Collected Works of V. II Lenin (New York : International Publishers, 1932).
44. May H. B. : An Introduction to Democratic Theory. (New York : Oxford University Press, 1960).
45. Morganthau H. J. : Politics Among Nations : The Struggle for Power and Peace (New York : Knopf, 1948).
46. Patridge P. H. : Politics and Power (Philosophy, Vol. XXXVIII, No. 144, 1963).
47. Roes W. J. : The Theory of Sovereignty Restated; Philosophy, Politics and Society, First Series, ed. P. Laslett (New York Macmillan, 1956).
48. Rousseau J. J. : The Social Contract and Discourses (New York : Everyman's Library, 1947).

49. Strauss L. : Thoughts on Machiavelli. (Glencoe, Ill. : Free Press, 1958).
50. Trussman. J. : Obligation and the Body Politics (London Oxford University Press, 1960).
51. Weldon, T. D. : States and Morals (London : Murray, 1946).
52. Hart, H. L. A. : The Ascription of Responsibility and Rights, Proceeding of the Aristotelian Society. Suppl. Vol. 1948-49.
53. Hart, H. L. A. : Law, Liberty and Morality Stanford : Stanford University Press, 1963.
54. Hook, S. : Political Power and Personal Freedom, New York: Collier, 1962.
55. Oppenheim, F. : Dimensions of Freedom : An Analysis, New York : St. Martins, 1961.
56. Pears, D. P. (ed.) Freedom of the Will. New York St. Martin's, 1963
57. Polanyi, M. : The Logic of Liberty (London · Toutledge & Kegan Paul 1961.
58. Bentham, J. A. : Fragment on Government and Introduction to the principles of Morals and Legislation (Oxford : Blackwell 1948).
59. Mabbot, J. D. : Freewill and Punishment, Contemporary British philosophy, ed. H. D. Lewis, New York : Macmillan 1956.
60. Madden, E. H. : Psychoanalysis and Moral Judge ability, The Structure of scientific thought, ed. E. H. Madden (Boston ; Houghton, 1961).
61. Munitz, M. K. (ed.) : Free Will, Responsibility and Guilt, A Modern Introduction to Ethics. Sec. V. Glencoe III. Free Press, 1958.
62. Quinton A. M. : On Punishment. Philosophy, Politics and Society, First series, (ed.) P. Laslett. New York : Macmillan 1956.
63. Zilboorg, G. : The Psychology of the Criminal Act, New York : Hogarth, 1955.)
64. Beard, C. A. : That Noble Dream (American Historical Review, Vol. XLI, 1935.)
65. Backer, C. : Everyman His Own Historian, New York : Crofts, 1935.

66. Berlin, I : Historical Inevitability, London : Oxford University Press, 1954.
67. Butterfield, H., Christianity and History, London : Bell, 1954.
68. Collingwood, R. G., The Idea of History, London : Oxford University Press, 1946.
69. Dray, W. Laws and Explanation in History, London : *Oxford University Press, 1957.*
70. Dray, W. Philosophy of History, Englewood Cliffs, N.J. Prentice-Hall, 1964.
71. Fackenheim, E. L., Mataphysics and Historicity, Milwaukee; Marquettee University Press, 1961.
72. Gardiner, P. (ed.), Theories of History, Glenoe, III : *Free Press, 1959.*
73. Gardiner, P., The Nature of Historical Explanation, London : Oxford University Press, 1952.
74. Gardiner, P., "Mataphysics and History", The Nature of Metaphysics (ed.) D. F. Pears. London; Macmillan, 1957.
75. Lynd, R., Knowledge for what ? Princeton : Princeton University Press 1946.
76. MacIver, A.M. ' Historical Explanation,' Logic and Language, Second Series, ed. A Flew Oxford : Blackwell, 1953.
77. Mackeen, R., Freedom and History, New York Noonday Press, 1952.
78. Popper, K. R. The Open Society and Its Enemies, rev. ed. 2 vols. London : Routledge, 1952.
79. Popper, K. R., The Poverty of Historicism. London : Routledge 1957.
80. Randall, J. H., Jr., Nature and Historical Experience, New York : Columbia University Press 1958.
81. Renier G J. : History : Its Purpose and Method, Boston : Beacon, 1950.
82. Social Science Research Council, The Social Sciences in Historical Study, Bulletin 64, 1954
83. Social Science Research Council, Theory and Practice in History, A Report of the Committee on Historiography. Bulletin, 54, 1946.

84. Stern. F. (ed.) : The Varieties of History, New York : Meridian, 1956.
85. Walsh, W. H. : An Introduction to the Philosophy of History, London : Hutchinson, 1951.
86. Ayer, A. J. Language : Truth and Logic, London : Gollancz, 1936.
87. Brightman, E.S. : Personality and Religion, New York : Abingdon, 1934.
88 Cassirer, E : An Essay on Man, Garden City, N. Y. : Doubleday. 1953.
89 Dewey, J : Problems of Men. New York : Philosophical Library 1946.
90. Dewey, J : Theory of Valuation, International Encyclopedia of United Science, Vol. II, No. 4 Chicago : University of Chicago Press, 1939.
91: Emmet, D.. : Nature of Metaphysical Thinking, London: Macmillan, 1949.
92. Flew A. and MacIntyre : A New Essay in Philosophical Theology. London : SCM Press, 1955
93. Graham, A. C. : The Problem of Value. London : Hutchinson, 1961.
94. Hall, E.W. : What is Value :—An Essay in Philosophical Analysis, New York : Humanities Press, 1952.
95. Hare, R.M. : The Language of Morals, Oxford : Clarendon Press, 1952.
96. Hook, S. (Ed) : Psychoanalysis, Scientific Method and Philosophy, New York : Grove, 1960.
97. Perry, R. B. : Realms of Value, Cambridge : Harward University Press, 1954.
98. Reichenbach, M. : The Rise of Scientific Philosophy, Berkeley and Los Angles : University of Caifornia Press, 1951.
99. Sesonske, A Value and Obligation, Berkeley :University of California Press, 1957.
100. Stevenson, C. L. : Ethics and Language, New Haven : Yale University Press, 1944.
101. Aiken, H. D. (Ed.), The Age of Ideology, New York : Mentor, 1955.
102. Barbu, Z., Democracy and Dictatorship, New York : Grove, 1956.

103. Becker, C, Freedom and Responsibility in the American Way of life, New York : Knopf, 1945.
104. Cohen, C. (Ed.), Communism, Fascism, Democracy, New York : Random, 1962.
105. Dunham, B., Heroes and Herotics : A Social History of Dissent, New York : Knof, 1964.
106. Hofstadter, R., Social Darwinism in American Thought, rev. ed Boston : Beacon, 1955.
107. Jordan, Z. A., Philosophy and Ideology, Dordrecht, Holland : Reidol, 1963.
108. Kornhauser. W, The Politics of Mass Society, Glenoe, Ill. : Free Press, 1959.
109. Mannheim, K , Ideology and Utopia. trans. L. Wirth and E. Shils, New York : Harcourt, 1955.
110. Taylor, S., Conceptions of Institutions and the Theory of Knowledge, New York : Bookman Associates, 1956.
111. Thielicke,H. Nihilism, trans.J. W. Doberstein, London : Routledge, 1962.
112. Viereck, P., Meta-Politics : The Roots of the Nazi Mind, New York : Knof, 1941.
113. Austin. J. L. How to Do Things with Words, ed. J. O. Urmson, Oxford : Clarendon Press, 1962.
114. Ayer, A. J., Language, Truth and Logic, Rev. Ed. London, Gollanca, 1951.
115. Charlesworth, M.J., Philosophy and Linguistic Analysis Pittsburgh : Duquesne University Press, 1959.
116. Flew A (ed.), Logic and Language, First and Second Series, Oxford : Blackwell, 1951 and 1953.
117. Gellner, E, Words and Things, Boston : Beacon, 1950.
118. Hampshire, S., Thoughts and Action New York: Wiking, 1960.
119. Laslett, P., (Ed.) Philosophy, Politics and Society, First Series, New York : Macmillan, 1956.
120. Lazerowitz, M., The Structure of Metaphysics, London : Routledge, 1955.
121. Malcolm, N., Ludwing Wittgenstein : A Memoir, London : Oxford University Press, 1958
122. Malcolm, N., Ludwing Wittgenstein, Knowledge and Certainty : Essay and Lectures, Englewood Cliffs; N. J. : Prentice Hall; 1963.
123. Runciman W. G. and Laslett; P. (eds) Philosophy; Politics and Society, Second Series; Oxford : Blackwell; 1962.

124. Ryle G ; Dilemmas; London; Cambridge University Press; 1954.
125. Urmson; J. O.; Philosophical Analysis : Its Development Between Two World Wars; Oxford : Clarendon Press ; 1956.
126. Wisdom; J. Philosophy and Psycho-analysis; Oxford : Blackwell; 1957.
127. Wittgenstein; L.; Philosophical Investigations; trans. G. E. M. Anscombe. New York : Macmillan; 1953.
128. G. E. Merriam; Sy t matic Politics, Chicago : University of Chicago Press; 1954.
129. Ernest Barker; Reflections on Government [New York : Oxford University Press; 1964]
130. G. E G. Catlin ; The Science and Method of Politics (New York : Knopf. 1927).
131. Easton; The Political System; An Inquiry into the State of Political Science; New York : Knof; 1953.
132. Charles Hyneman; The Study of Politics; Urbana : University of Illinois Press; 1959.
133. Vernon Van Dyke; Political Science : A Philosophical Analysis (Stanford : Stanford University Press; 1960).
134. Carl J. Friedrich : Constitutional Government and Demo cracy (Boston : Ginn, 1941).
135. R. M. MacIver : The Web of Government (New York : Macmillan. 1947).
136. F. G. Wilson : The Elements of Modern Politics (New York : Mc Graw Hill, 1936)
137. Roy C. Macridis : The Study of Comparative Government, Garden City, N. Y. Doubleday, 1955.
138. Gabriel A. Almond and James S. Coleman : The Politics of the Developing Areas, Princeton: Princeton University Press, 1960.
139. David Easton : An Approach to the Analysis of Political System, World Politics, Vol 9(1956-57). pp. 383-400.
140. Abraham Kaplan : Power and Society (New Haven : Yale University Press, 1950)
141. Folix E. Oppenheim : Dimensions of Freedom (Newyork: St. Martin's Press, 1961)
142. Herbert Simon : Notes on the Observation and Measurement of Political Power., Journal of Politics, Vol. 15 No 4 (November, 1953). pp. 500—516.
143. James G. March : "An Introduction to the Theory and Measurement of Influence". American Political Science Review, Vol 49. No. 2 (June, 1955), pp. 431—451.
144. Robert A. Dahl : The Concept of Power, Behavioural Science, Vol 2, No. 3 (July, 1957) pp. 201—215.

145. John C. Harsanvi : Measurement of Social Power, Opportunity Cost, and the Theroy of Two Person Bargaining Games, Behavioral Science, Vol 7 No. 1 (January 1962)
146. Floyd Hunter : Community Power Structure (Chapel Hill University of North Carolina Press, 1953.)
147. C. Wright Mills : The Power Elite (New York : Oxford University Press, 1957)
148. Robert A Dahl : A Critique of the Ruling Elite Model. American Political Science Review. Vol. 52, No. 2 (June 1958). pp. 463—469.
149. Barrington Moore : Jr. Political Power and Social Theory Cambridge Mass : Harvard University Press, 1958.
150. Robert Lane : Political Life, Glencoe, III : The Free Press, 1959.
151. M. Brewster Smith, Jerome S. Bruner and Robert W. White, Opinions and Personality, New York : Willey, 1956.
152. Robert E. Lane : Political Ideology : Why the American Common Man Believes What He does, Glencoe, III. : The Free Press, 1962.
153. Almond and Coleman, The Politics of the Development Areas.
154. Lipsett., Political Man Part I, The Conditions of the Democratic Order.
155. Herbert J Stering : (ed) Essay on the Scientific Study of Politics New York : Holt, Rimehart and Winston. 1961.
156. Leo Strauss : Natural Right History (Chicago : University of Chicago Press), 1953.

